वर्ष : १२ :: जनवरी, १९४२ :: अंक : ४
हंस
सरस्वती प्रेस बनारस
।।)

[Approved by the Governments of the U. P., Behar, C. P., Kashmir and Bombay Presidency for use in Colleges, Schools and all other educational institutions]

अन्तर्प्रान्तीय साहित्यिक प्रगति का अग्रदूत

: सम्पादक :

श्रीपतराय

•

सलाहकारी सम्पादक-मण्डल

•

★ उर्दू—मौलाना अब्दुलहक़

★ मराठी—वि० स० खाण्डेकर

★ गुजराती—रा० वि० पाठक

★ उड़िया—कालिन्दीचरण पाणिग्राही

★ बँगला—श्रीनन्दगोपाल सेनगुप्त

★ पञ्जाबी—प्रो० मोहनसिंह

★ राजस्थानी—नरोत्तमदास स्वामी

★ कन्नड़—वी० अश्वत्थनारायणराव

निट्टूर श्रीनिवासराव

वार्षिक मूल्य ६) विदेश में १२ शिलिंग बर्मा के लिए ८)

अर्ध-वार्षिक मूल्य ३) „ ७½ „ „ ५)

एक अंक का आठ आना

वर्ष : १२ : : जनवरी, १९४२ : : अंक : ४

टिप्पणी

फ़ासिस्ट-विरोधी जनता का युद्ध और भारत

कुछ दिनों पहले ही भारतीय कम्युनिस्टों की नीति में परिवर्तन हुआ है और अब वे कहने लगे हैं कि यह युद्ध साम्राज्यवादी नहीं रहा बल्कि फ़ासिज़्म के विरुद्ध जनता का युद्ध बन गया है और हमें उसमें जनता का सक्रिय संगठित सहयोग देना चाहिये। कम्युनिस्टों की इस नई घोषणा के प्रति कांग्रेस समाजवादी दल ने विशेष रूप से दिलचस्पी दिखाई है। इधर कुछ दिनों से मैं यह देख रहा हूँ कि कांग्रेस समाजवादी दल के पास सिवा इसके और कोई काम नहीं रह गया है कि वह कम्युनिस्टों की हर बात को एक ग़लत अर्थ पहनाकर प्रचार करे। इस सिलसिले में कम्युनिस्टों को जिन अपशब्दों और विशेषणों से याद किया जाता है वे, यह स्वीकार करने पर भी कि दोनों दलों में राजनीतिक मतभेद और प्रतिद्वन्द्विता है, साधारण सौजन्य का अतिक्रमण करते दिखाई देते हैं। इससे न जनता का लाभ होता है न समस्याओं का सही समाधान ही उपस्थित हो पाता है। दलबन्दी का यह भी जोश क्या कि गालियाँ ही तर्क बन जायँ। और फिर एक ऐसे दल को जिसे किसी भी वैध तरीक़े से जनता के सम्मुख अपना मत प्रकट करने का सुभीता न हो; देशद्रोही, कमअक़्ल और कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के इशारों पर नाचनेवाली कठपुतली कहकर जनता को उसके मत से पूर्णत: परिचित होने के पहले ही भड़का देना एक आसान बात है। लेकिन, ऐसी भी प्रतिद्वन्द्विता क्या कि सत्य-असत्य, नैतिकता-अनैतिकता का भेद ही भुला दिया जाय। और फिर, जब यह प्रश्न दो प्रगतिशील राजनैतिक दलों का हो, जिनके ऊपर राष्ट्रीय समस्याओं के हल करने का दायित्व हो; तब, इस प्रकार की प्रवृत्ति और भी अवांछनीय, उच्छृङ्खल और स्वार्थपूर्ण लगती है। कम्युनिस्टों की नई नीति के बारे में जो कुछ लिखा गया है, वह ऐसी ही अवसरवादिता का प्रमाण है। केवल आचार्य नरेन्द्रदेव का वक्तव्य, जिसमें उन्होंने युद्ध के स्वरूप में कोई परिवर्तन हुआ है या नहीं इसकी जाँच की है, गम्भीर और विचारपूर्ण है। और मैं, यह मानकर कि वह कांग्रेस समाजवादी दल का मन्तव्य प्रकट करता है, कम्युनिस्टों और समाजवादियों की नीति पर विचार करूँगा।

आचार्य नरेन्द्रदेव ने अपने वक्तव्य में जो बातें कही हैं, वे संक्षेप में यह हैं—युद्ध का स्वरूप नहीं बदला है क्योंकि अमेरिका और ब्रिटेन अपने साम्राज्यवादी स्वार्थों के

लिए लड़ रहे हैं। और, यदि रूस और चीन इसमें सम्मिलित हैं तो केवल इसलिए कि उन्हें आक्रमणकारियों से अपनी आत्मरक्षा करनी है। कोई युद्ध जनता का युद्ध तभी कहलाता है, जब कि शासक-वर्ग के विरुद्ध जन-क्रान्ति हो, या शोषित-वर्ग साम्राज्यवादी युद्ध को गृहयुद्ध में परिणत करने का प्रयत्न करे। युद्ध में शासक वर्ग को यदि जनता का सहयोग मिल जाता है तो इससे वह जनता का युद्ध नहीं हो जाता, यदि ऐसा हो तो धुरी-राष्टों के पक्ष में भी कहा जा सकता कि वे जनता का युद्ध लड़ रहे हैं, क्योंकि अपने प्रचार से प्रभावित कर जनता का सहयोग उन्होंने भी पा लिया है। रूस पर जर्मनी के आक्रमण से ही यदि युद्ध का रूप बदल गया और वह साम्राज्यवादी नहीं रहा तो यह जानना आवश्यक है कि युद्ध के उद्देश्य क्या हैं? इस बारे में ब्रिटेन और अमेरिका अपने पहले उद्देश्य से कि, हिटलरवादी जर्मनी को हराना है, आगे नहीं बढ़े हैं। सच्चे अर्थ में छेड़े गये जनता के युद्ध में साम्राज्यवाद और फ़ासिज्म दोनों का विनाश होना चाहिए। आशंका तो इस बात की है कि युद्ध की प्रगति के साथ प्रजातंत्रवादी देश भी, धीरे-धीरे, फ़ासिज्म की ओर झुकते जायँगे। युद्ध के परिणाम पर विचार करते हुए नरेन्द्रदेवजी ने यह मानकर कि मित्रराष्ट्रों की विजय होगी, कहा है कि, यह सोचना कि शान्ति-स्थापन के समय रूस तथा चीन के मत का प्रभाव प्रबल रहेगा एक सुख-स्वप्न मात्र है। इसके विपरीत, आर्थिक कारणों से अमेरिका के मत का ही प्रभाव प्रबल रहेगा और रूस और चीन, ब्रिटेन और अमेरिका की गृह-समस्याओं में हस्तक्षेप न करने पायँगे। साम्राज्यवाद और फ़ासिज्म में जो गुणात्मक अन्तर है उसे देखते हुए कुछ लोग फिर भी सहायता देने के लिए कहेंगे। इसी अन्तर को देखते हुए कांग्रेस ने प्रजातन्त्रवादी राष्ट्रों को अवसर दिया कि वे अपनी साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का परित्याग कर दें तो कांग्रेस ब्रिटेन की सहायता करने के लिए तैयार है, लेकिन, फ़ासिज्म के विरुद्ध हमारी घृणा और प्रजातन्त्रवादी राष्ट्रों के प्रति हमारी सहानुभूति के बावजूद ब्रिटेन ने अपनी नीति में परिवर्तन नहीं किया इसलिए हम एक ऐसी स्थिति में हैं कि उनकी सहायता नहीं कर सकते। हम केवल फ़ासिज्म के सम्बन्ध में झूठी धारणाओं के विष से जनता को बचाने के लिए विचार-धारा सम्बन्धी प्रचार ही जारी रख सकते हैं।

आचार्य नरेन्द्रदेव के वक्तव्य का सारांश यह है कि यह युद्ध एक साम्राज्यवादी युद्ध है। और चूँकि साम्राज्यवादी युद्ध को गृह-युद्ध में परिणत करना असम्भव है क्योंकि आचार्यजी इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि या तो यह सिद्धान्त ही गलत है या लेनिन जैसा कोई प्रतिभा-सम्पन्न नेता ही उसे कार्यान्वित कर सकता है, और कदाचित, आचार्यजी इस सिद्धान्त की सत्यता की खोज-बीन करने के पूर्व ही इस नतीजे पर भी पहुँच चुके हैं कि उनके समाजवादी दल में लेनिन सरीखा कोई प्रतिभा-सम्पन्न नेता नहीं है अतः इस संक्रमण काल में इस युद्ध को जनता का युद्ध बनाने के लिए न जन-क्रान्ति की जा सकती है और न उसे गृह-युद्ध में परिणत किया जा सकता है, इसलिए यह एक साम्राज्यवादी युद्ध ही बना रहेगा और कांग्रेस समाजवादी पार्टी अपनी समाजवादी नीति पर ज़ोर न देकर कांग्रेस की नीति को ही पूरी तरह अपनाये रहेगी और एक तटस्थ दर्शक की तरह विचारधारा-सम्बन्धी प्रचार करने के अतिरिक्त वह कुछ और न करेगी, क्योंकि ब्रिटिश साम्राज्यवाद उसे कोई क्रियात्मक नीति बर्तने का अवसर ही नहीं दे रहा। कांग्रेस

की भी यही नीति है लेकिन एक समाजवादी पार्टी अपनी कार्य-क्षमताओं को साम्राज्यवाद के हाथ में सौंपकर यों दर्शक बनकर बैठ जाय, यह आश्चर्य में डालनेवाली बात है।

आचार्यजी के वक्तव्य से कुछ और भी आश्चर्यजनक निष्कर्ष निकलते हैं। और वे, केवल इस कारण, कि वे इस युद्ध को एक साम्राज्यवादी युद्ध मानते हैं। आचार्यजी या उनका दल कांग्रेस की ही तरह इस युद्ध को जनता का युद्ध बनाने की सामर्थ्य अपने अन्दर नहीं देखते अत: वक्तव्यों और प्रस्तावों द्वारा वे ब्रिटिश सरकार को अब भी अवसर देने के लिए तैयार हैं कि वह स्वयं भारत की स्वाधीनता की माँग को स्वीकार कर और केन्द्र में राष्ट्रीय सरकार बनाकर इस युद्ध को जनता के युद्ध के रूप में परिणत कर दे। कोई भी साम्राज्यवाद ऐसा कर सकता है, इसके विषय में मुझे विश्वास है, एक समाजवादी होने के नाते आचार्यजी को भी सन्देह नहीं होगा। यदि मजबूरी से आज साम्राज्यवाद को दुनिया की प्रगतिशील ताक़तों के साथ कन्धा मिलाकर लड़ना पड़ रहा है तो इसका अर्थ यह नहीं कि वह युद्ध को पूरी तरह जनता का युद्ध बना देगा। साम्राज्यवाद को इसमें कोई दिलचस्पी नहीं हो सकती। यह दिलचस्पी तो जनता की है। जनता ही साम्राज्यवाद के उन प्रतिबन्धों को, जिनके द्वारा वह किसी युद्ध को, जिसके ऊपर सारी प्रगतिशील मानवता का भविष्य निर्भर करता है, पूर्णरूप से जनता का युद्ध बनने से रोके रहता है, तोड़कर साम्राज्यवाद को मजबूर कर सकती है कि युद्ध जनता के युद्ध के रूप में परिणत हो जाय। आचार्यजी ने अपने वक्तव्य में जनता के युद्ध की जो परिभाषाएँ दी हैं, उनको दृष्टि में रखकर वे किस तरह साम्राज्यवाद से इस तरह की अपेक्षा कर सके, यह समझ में नहीं आता, क्योंकि आचार्यजी तो लिबरल नहीं समाजवादी हैं। अत: यह जानकर भी कि केवल माँगने भर से ब्रिटिश साम्राज्य हमारी माँग पूरी नहीं कर देगा, और चूँकि उसके युद्ध के प्रयत्नों में कोई बाधा न पहुँचे, कारण इस विश्वव्यापी युद्ध के परिणाम में कांग्रेस और समाजवादी दल की दिलचस्पी है कि फ़ासिज़्म के विरुद्ध प्रजातन्त्रवादी राष्ट्र ही विजयी हों, इसलिए राष्ट्रीय आज़ादी की लड़ाई के नाम पर चलनेवाला सांकेतिक सत्याग्रह भी बन्दकर, तटस्थ होकर बैठ रहना कि जब तक ब्रिटेन केन्द्र में राष्ट्रीय सरकार नहीं बनाता तब तक हम दर्शक ही बने रहेंगे; क्या इस बात को नहीं साबित करता कि इस युद्ध के परिणाम के अन्दर कांग्रेस और समाजवादी दल के नेताओं की दिलचस्पी भी मौखिक है और वे भी इस युद्ध को जनता के युद्ध के रूप में परिणत नहीं करना चाहते; सौदा पटाना मुख्य उद्देश्य है। नहीं पटता तो परिणाम की चिन्ता नहीं। अहिंसा के सिद्धान्त ने हमारी स्वरति इतनी बढ़ा दी है कि हम आक्रमणकारी के लिए घर-द्वार खोलकर भी विजय की कल्पना कर सकते हैं! लेकिन यह पूँजीपति-वर्ग की ही नीति हो सकती है; समाजवादियों की नहीं। आश्चर्य यह है कि उनके प्रचार के प्रभाव में आचार्यजी भी बह गये हैं।

हिन्दुस्तान पराधीन देश है। अत: राष्ट्रीय आज़ादी का प्रश्न तो उसके सामने है ही, लेकिन वह विश्व का एक अङ्ग भी है। इसलिए फ़ासिज़्म के विरुद्ध लड़नेवाली प्रजातंत्रवादी ताक़तों या शक्तियों की विजय के अन्दर उसे अपना हिस्सा भी लेना है और आज इन दोनों समस्याओं के अन्दर एक सामंजस्यपूर्ण नीति का विकास करना ही उसके आगे सबसे बड़ा प्रश्न है। कांग्रेस और कांग्रेस समाजवादी दल ने जो नीति इस समय

रखी है, उसकी त्रुटियाँ आचार्य नरेन्द्रदेव के वक्तव्य की जाँच करते समय हम देख चुके हैं। तटस्थता की नीति कोई सामंजस्य प्रस्तुत नहीं करती। रूस के युद्ध में आने से जो परिवर्तन हुआ है उसे स्वीकार न करने के कारण ही हमारी निष्क्रियता ज्यों की त्यों बनी है, यद्यपि सारी मानवता का भाग्य दाँव पर चढ़ गया है और उसकी हार और जीत के परिणाम से हम भी अछूते नहीं रहेंगे।

इसके विपरित कम्युनिस्टों ने एक दूसरी नीति-द्वारा राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय समस्याओं के बीच सामंजस्य पाने का प्रयत्न किया है। और इसके लिए भ्रमवश या अपनी स्वार्थपूर्ति के उद्देश्य से कोई राजनीतिक दल उनको रूस का पञ्चमांग या देशद्रोही क्यों न कहे, लेकिन मैं बहुत सोचने के पश्चात् इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि इस समय वही एक सही नीति है।

कम्युनिस्टों का कहना है कि जिस दिन से रूस पर जर्मनी ने आक्रमण किया है और ब्रिटेन और रूस एक खेमे में आ गये हैं, सारी परिस्थिति ही बदल गई है और यह एक फ़ासिस्ट-विरोधी जनता का युद्ध बन गया है। इस बात से सभी परिचित हैं कि ब्रिटेन गत तेईस वर्षों से सोवियत रूस के विरुद्ध युद्ध का षड़यंत्र रचता आया है और इसके लिए फ़ासिज़्म के साँप को दूध पिला-पिलाकर उसने ही मोटा बनाया है। और गत पाँच वर्षों की घटनाओं से यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि ब्रिटिश नीति के कारण ही एक के बाद दूसरा देश फ़ासिज़्म का शिकार बनता गया और उससे विश्व की प्रगतिशील शक्तियों को जबर्दस्त धक्का लगा। फ़ासिज़्म को विश्व पर छा जाने से रोकने के लिए सोवियत रूस ने सामूहिक सुरक्षा की नीति का प्रतिपादन किया था और फ़ासिज़्म के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बनाने के आन्दोलन ब्रिटेन और फ्रांस में इसीलिए हुए थे कि यह प्रजातंत्रवादी राष्ट्र अपनी वैमनस्य की नीति को छोड़कर रूस के साथ फ़ासिस्ट विरोधी जनता का मोर्चा बनाने को तैयार हो जायँ। दुनिया की कम्युनिस्ट पार्टियों ने तो इस नीति का समर्थन किया ही था; यहाँ के कांग्रेस समाजवादी दल ने भी उसे अपनाया था। लेकिन उस समय ब्रिटेन और फ्रांस की सरकारों ने अपनी नीति नहीं बदली और वे रूस के ख़िलाफ़ षड़यंत्र रचते ही रहे। परन्तु, यदि वे ऐसा न कर रूस के साथ फ़ासिस्ट-विरोधी संयुक्त मोर्चा बना लेते और उसके परिणाम-स्वरूप अगर धुरी-राष्ट्रों से युद्ध छिड़ जाता तो क्या कांग्रेस समाजवादी दल अपनी तत्कालीन नीति के अनुसार उसे फ़ासिस्ट विरोधी जनता का युद्ध न कहता? आज, परिस्थितियों के वश में पड़कर फ़ासिस्ट राष्ट्रों के विरुद्ध रूस और अन्य प्रजातंत्रवादी राष्ट्रों का संघटन हो गया है। और रूस-विरोधी साम्राज्यवाद और फ़ासिज़्म के बीच गहरी फूट पड़ गई है और इन राष्ट्रों को वैमनस्य की नीति त्यागकर रूस के साथ सहयोग करना पड़ रहा है। तो क्या इससे बहुत कुछ वही परिस्थितियाँ नहीं उत्पन्न हो गईं जिनका आवाहन कुछ वर्ष पूर्व समाजवादियों और कम्युनिस्टों ने किया था? कम से कम अन्तरराष्ट्रीय धरातल पर शक्तियों का संघटन तो फ़ासिज़्म और उसके विरुद्ध सोवियत जनता के साथ, विश्व के प्रजातन्त्रवादी राष्ट्रों और उनकी जनता के रूप में ही हुआ है, और यह एक महत्त्व-पूर्ण बात है। क्योंकि फ़ासिज़्म प्रगति का सबसे बड़ा शत्रु है और उसके नाश से विश्व की प्रगतिशील शक्तियों की ताक़त बढ़ेगी, इसमें किसी को सन्देह नहीं हो सकता। साम्राज्य-

वादी युद्ध मानने के कारण ही आचार्यजी ने ऐसा सन्देह किया है। अतः उन्होंने यह कल्पना की है कि शान्ति-स्थापन के समय रूस और चीन की आवाज़ मन्द पड़ जायगी। और ब्रिटेन और अमेरिका का ही बोलबाला रहेगा और दुनिया की जनता की शक्ति बढ़ेगी तो क्या, कम ही हो जायगी। क्योंकि रूस और चीन भी तब साम्राज्यवादी राष्ट्रों के आश्रित हो जायँगे। यदि ऐसा हुआ तो ब्रिटिश साम्राज्य और भी मज़बूत हो जायगा और फिर कांग्रेस या आचार्यजी का दल आज जिस निष्क्रियता की नीति को बर्त रहा है और मित्रराष्ट्रों के साथ सहानुभूति प्रकट कर रहा है वह एक निरर्थक चीज़ हो जाती है। न उससे आज जनता को शक्ति मिलती है और न युद्धोपरान्त ही। और एक मज़बूत साम्राज्यवाद हमारी आज़ादी की लड़ाई का और भी दृढ़तापूर्वक दमन कर सकेगा, इसकी सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं सो अलग। और फिर आश्चर्य इस बात पर है कि गत साम्राज्यवादी महायुद्ध में तो जनता की विशृङ्खलित शक्तियों ने रूस की क्रान्ति करके विश्व की जनता की शक्ति बढ़ा दी थी; आज जब कि उसके पास रूस की प्रचण्ड ताक़त और चीन और भारत के संगठित राष्ट्रीय आन्दोलन और अन्य देशों के मज़दूर आन्दोलन हैं तब भी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के विद्यार्थी, हमारे ये समाजवादी मित्र भविष्य के बारे में ऐसी निराश कल्पनाएँ करते हैं, जैसे मानो वे अभी तक इससे आगे नहीं बढ़ पाये कि 'इतिहास अपने को दुहराता है।' जनता के अन्दर उनके अविश्वास का कारण उनकी मौजूदा नीति है, जिससे वे जनता को साथ लेकर इस युद्ध के परिणाम के बनाने में भाग लेने से हिचकिचाते हैं। इसीलिए आचार्यजी का समाजवाद लेनिन-जैसे प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति की कल्पना के बिना सही सिद्धान्त भी नहीं रहता।

कम्युनिस्टों का कहना है कि चूँकि यह एक फ़ासिस्ट विरोधी जनता का युद्ध बन गया है इसलिए भारतीय जनता को भी उसमें अपना भरपूर सहयोग देना चाहिए। इससे अन्तर्राष्ट्रीय धरातल पर तो ज़ाहिर है, भारतीय जनता विश्व की प्रगतिशील शक्तियों के साथ सहयोग कर युद्ध के परिणाम पर अपना प्रभाव डाल ही सकेगी; लेकिन इस प्रश्न का हमारे लिए एक राष्ट्रीय पहलू भी है क्योंकि भारत परतन्त्र है। कम्युनिस्टों के बारे में इसी पहलू को लेकर मिथ्या प्रचार किया जा रहा है। किसी-किसी ने तो यहाँ तक कह दिया है कि वे रूस के हाथ भारत की स्वाधीनता भी बेचने को तैयार हैं। ऐसी अनर्गल बातों पर ध्यान न देकर मैं यह कहूँगा कि कम्युनिस्टों ने बहुत स्पष्ट शब्दों में अपनी नीति का खुलासा किया है। उनका कहना है कि इस युद्ध के प्रति विरोध, असहयोग या तटस्थता का भाव रखना भारतीय आज़ादी की लड़ाई के लिए हितकर नहीं है क्योंकि ब्रिटिश साम्राज्यवाद जिस तरह भारत के अन्दर युद्ध की तैयारी कर रहा है वह किसी भी आक्रमणकारी से अपनी आत्मरक्षा करने के लिए भी उपयुक्त नहीं है। और उसने जो रोड़े अटका रखे हैं उनके कारण भारतीय जनता स्वतंत्र रूप से अपने आप ज़ोरदार सहयोग नहीं दे पाती, क्योंकि ब्रिटिश सरकार इस युद्ध को साम्राज्यवादी ढङ्ग से चलाना चाहती है, ताकि युद्ध का परिणाम वही हो जिसकी परिकल्पना आचार्यजी ने की है। केवल भारत में ही नहीं बल्कि अन्य देशों में भी फ़ासिस्ट-विरोधी मोर्चे की साम्राज्यवादी सरकारें इस युद्ध के बारे में जनता के उद्देश्यों को पूरी तरह स्वीकार न कर अपने ही संकुचित वर्ग-स्वार्थों की पूर्ति करने में सचेष्ट हैं, और मज़दूर-वर्ग

के हितों का बलिदान कर ढेर का ढेर मुनाफ़ा कमाने की फ़िक्र में हैं। यहाँ तक कि वे रूस को पूरी मदद भी नहीं पहुँचाती। फ़ासिस्ट-विरोधी युद्ध में ये ढुलमलयक़ीन मित्र हैं, अतः केवल जनता ही अपनी संगठित शक्ति का विकास कर, अनवरत चौकसी बरत कर और स्वयं कृतित्व शक्ति का प्रदर्शन कर अपनी साम्राज्यवादी सरकारों को इस बात के लिए मजबूर कर सकती है कि युद्ध खूब ज़ोरों के साथ चलाया जाय, और जनता के उद्देश्य स्वीकार कर पूर्ण विजय पाने तक लड़ा जाय। इसलिए भारत में हमारी आज़ादी की लड़ाई बन्द नहीं हो जाती, जिस तरह कांग्रेस ने बन्द कर दी है, बल्कि यह लड़ाई तो और तीव्रता से चलाई जानी चाहिए। लेकिन आज़ादी की लड़ाई का तरीक़ा सत्याग्रह नहीं होगा, बल्कि युद्ध के लिए जनता की ताक़त इकट्ठी करने से ही आज़ादी के पथ पर बढ़ा जा सकता है।

आज़ादी की लड़ाई को आगे बढ़ाने का और कोई कार्यक्रम है भी नहीं और हम देख चुके हैं कि कांग्रेस या कांग्रेस समाजवादी दल की तटस्थता की नीति आज़ादी की लड़ाई को एक क़दम भी आगे नहीं बढ़ाती। इसके विपरीत विश्व की प्रगतिशील शक्तियों की विजय में यह नीति धक्का भी पहुँचाती है; यद्यपि मैं यह मानने को तैयार हूँ कि आचार्यजी या कांग्रेस के नेताओं को यह अभिप्रेत नहीं है। लेकिन उस नीति के परिणाम स्वरूप राष्ट्रीय शक्ति का ह्रास होता है, इसे एक यथार्थवादी राजनीतिज्ञ होने के नाते आचार्यजी को भी स्वीकार करना चाहिये। इस नीति के कारण राष्ट्रीय एकता छिन्न-भिन्न हो रही है और साम्प्रदायिक फूट की खाई चौड़ी होती जाती है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। लेकिन, यदि भारत पर आक्रमण हो गया और युद्ध उसके द्वार तक पहुँच भी चुका है तो उस समय भी भारत एक मूक दर्शक बना रह सकेगा, ऐसा विश्वास कर हमारे नेता अपने को ही धोखा दे रहे हैं। उस समय राष्ट्रीय मोर्चे के अन्दर ही फूट पड़ जा सकती है। क्योंकि जब जीवन-मरण का प्रश्न हो, उस समय जनता निष्क्रिय नहीं रह सकती, इस सम्भावना के प्रति हमारे नेताओं की बेख़बरी आश्चर्यजनक है। असंगठित जनता भयग्रस्त होकर प्रतिक्रियावादियों के नेतृत्व में जा सकती है और प्रतिक्रियावादियों को इस युद्ध के परिणाम में किस तरह की दिलचस्पी होगी इसका सहज में ही अनुमान लगाया जा सकता है। इसीलिए यह और भी आवश्यक हो जाता है कि युद्ध में भाग लेने के लिए जनता संगठित हो और सारी राष्ट्रीय शक्तियों के बीच इस प्रश्न पर पूरी एकता हो ताकि जनता अनचेते ही एक दिन पकड़ न जाय और युद्ध के परिणाम पर वह अपना जबर्दस्त प्रभाव डाल सके। यह तभी सम्भव है जब कि यह मान लिया जाय कि यह एक जनता का युद्ध है और ब्रिटिश सरकार इसे जनता का युद्ध नहीं बनने देना चाहती, केवल इसलिए कि उसे अपने साम्राज्यवादी स्वार्थों की रक्षा करनी है और वह अपनी ओर से युद्ध को साम्राज्यवादी ढंग से चलाकर शान्ति स्थापन के समय जनता की संगठित शक्तियों के प्रभाव से अपने को महफ़ूज़ बनाना चाहती है। इसलिए इस जनता के युद्ध को सच्चे अर्थों में जनता का युद्ध बनाना जिसमें भारत की जनता के समस्त राष्ट्रीय और प्रगतिशील संगठन जैसे राष्ट्रीय कांग्रेस, मुसलिम लीग, मजदूर और किसान सभाएँ और विद्यार्थी संघ संयुक्त रूप से जनता को संगठित करें और युद्ध की तैयारियाँ जनता के तरीके पर करने के लिए आन्दोलन करें। हम जानते हैं कि हमें गुलाम रखनेवाला साम्राज्यवाद कितना धृष्ट

और निरंकुश है और वह भारतीय जनता को इस युद्ध में अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ भाग लेने से रोक रहा है और वह अपनी ही आवश्यकताओं के अनुकूल युद्ध की तैयारियाँ कर रहा है, जिससे युद्ध का सारा भार जनता के कन्धों पर आ पड़ा है। अतः साम्राज्य-वाद की इस चाल को रोकने के लिए जनता का संगठित राष्ट्रीय मोर्चा बनाकर साम्राज्य-वाद को अपने आन्दोलन से युद्ध के अन्दर जनता के तरीके पर, जनता की पूरी सहायता स्वीकार करने के लिए मजबूर करना हमारा राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय कर्त्तव्य है। इसके लिए यह जरूरी है कि सरकार को जनता के संगठित युद्ध-समर्थक आन्दोलन द्वारा राष्ट्रीय माँगें मंजूर करने के लिए मजबूर कर दिया जाय। सभाओं, प्रदर्शनों और संगठन द्वारा यह आवाज़ पूरी शक्ति के साथ उठाई जाय कि भारत की आज़ादी की माँग स्वीकार की जाय। समस्त फ़ासिस्ट-विरोधी राजनैतिक बन्दियों को रिहा किया जाय। जनता के नागरिक अधि-कार मंज़ूर किये जायँ और बोलने, लिखने और संगठन करने पर जो युद्ध-कालीन प्रतिबन्ध लगे हैं, वे हटा लिये जायँ। केन्द्र में एक राष्ट्रीय सरकार क़ायम की जाय जिसको शासन करने और युद्ध को चलाने का पूरा अधिकार हो। युद्ध की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भारत में आवश्यक उद्योगों का तुरन्त निर्माण करने की पूरी सुविधा हो। मज़दूरों की दशा में सुधार हो और उनका हड़ताल करने का अधिकार मंज़ूर किया जाय। किसानों की माँगें पूरी की जायँ और चीज़ों के भावों पर नियन्त्रण कर अकाल-पीड़ित स्थानों पर किसानों के लगान में काफ़ी कमी की जाय। गरीबों के ऊपर जबरन किसी प्रकार के युद्ध-कर न लगाए जायँ क्योंकि जनता के युद्ध को जनता ही अपने स्वेच्छापूर्ण सहयोग से लड़ सकती है। और युद्ध का भार अमीरों पर ही ज़्यादा पड़ना चाहिए।

कम्युनिस्ट इन राष्ट्रीय माँगों के आधार पर संगठित जनता द्वारा युद्ध में सहयोग देने की बात सोचते हैं। वे यह नहीं कहते जैसा कि प्रचार किया जा रहा है कि युद्ध में सहायता देने के लिए भारतीय जनता को अपनी राष्ट्रीय आज़ादी की लड़ाई त्याग देनी चाहिए। लेकिन वे यह भी नहीं कहते कि जब तक ये सारी माँगें या इनमें से कुछ पूरी नहीं हो जातीं तब तक हम निष्क्रिय बने बैठे रहेंगे। न आज़ादी की लड़ाई लड़ेंगे न युद्ध में मदद करेंगे। वे इस युद्ध को पूरी तरह जनता का युद्ध भी बना देना चाहते हैं और साथ में जनता की राष्ट्रीय आज़ादी की लड़ाई को भी आगे बढ़ाना चाहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि युद्ध में जनता का उसके ही तरीके पर सहयोग देने के आन्दोलन के द्वारा ही युद्ध में मदद भी देते जायँगे और राष्ट्रीय आज़ादी की ताक़तों को भी इतना मज़बूत करते जायँगे कि ब्रिटिश सरकार पर इतना ज़ोरदार दबाव पड़े कि वह राष्ट्रीय माँग को अस्वीकृत न कर सके और जनता के इस युद्ध को जनता के ही तरीक़े पर चलाने के लिए मजबूर हो जाय। कुछ लोग कह सकते हैं कि यदि ब्रिटिश सरकार ने जनता की माँग नहीं मानी तो क्या होगा? क्या हम तब भी मदद देते जायँगे? निश्चय ही। और साथ में अपना आन्दोलन भी जारी रखेंगे। यह तर्क साधारणतया लोगों की समझ में जल्दी नहीं आयेगा क्योंकि राष्ट्रीय आज़ादी की लड़ाई चलाने का यह सहयोग-पूर्ण तरीक़ा एक अजीब-सी बात लगती है। हमारे संस्कार इसके विपरीत ही बने हैं। लेकिन, संस्कार चाहे जो हों ऐतिहासिक वास्तविकता ऐसी ही है और हमें इसे पूरी तरह समझ लेना चाहिये। कांग्रेस की मौजूदा नीति को यदि हम ध्यान में रखें तो यह बात साफ़ समझ में

आ जायगी। कांग्रेस ने राष्ट्रीय आज़ादी की लड़ाई स्थगित कर रखी है क्योंकि वह युद्ध की तैयारियों में ब्रिटेन को बाधा नहीं पहुँचाना चाहती। अतः अपने ढंग पर सरकार भारत से जितनी भी मदद ले रही है उससे कांग्रेस को कोई एतराज़ नहीं है और यदि ब्रिटेन कांग्रेस की माँग को स्वीकार नहीं करता तो भी कांग्रेस कोई अड़ंगा अटकाने का विचार नहीं रखती। इसके विपरीत कांग्रेस के अधिकांश हलकों से, जिसमें हमारे कांग्रेस समाजवादी भी सम्मिलित हैं, यह आवाज़ उठाई जाती है कि सरकार देश की आत्म-रक्षा के लिए काफ़ी प्रयत्न नहीं कर रही है। और उसे चाहिए कि वह हवाई हमले आदि से बचाव करने के लिए जनता की कमेटियाँ बनाये और जनता का सहयोग ले। ऐसी दशा में तटस्थता की नीति केवल एक आवरण मात्र रह जाती है। उसके पीछे साम्राज्यवादी युद्ध का विरोध करने की अपने को धोखा देनेवाली एक खोखली भावना ही है। और युद्ध की समाप्ति पर जनता इतने दिनों की निष्क्रियता और युद्ध-भार से जर्जर होकर कमज़ोर भी हो जायगी। लेकिन, कम्युनिस्टों की नीति के अनुसार यदि यह मान भी लिया जाय कि ब्रिटिश सरकार जनता की माँग पूरी नहीं करेगी; तो भी, न केवल आत्म-रक्षा के समय वह अधिक जागरूक और कर्मण्य रहेगी बल्कि युद्ध की समाप्ति के बाद उसकी ताक़त आज की अपेक्षा अधिक संगठित और मज़बूत रहेगी। उसकी शक्ति को कुचलना साम्राज्यवाद के लिए सरल कार्य न होगा। और, युद्ध के दौरान में अपने संगठित आन्दोलन से वह संसार की प्रगतिशील जनता की जो शक्ति बढ़ाएगी उससे साम्राज्यवादी राष्ट्रों के लिए यह असम्भव हो जायगा कि वे युद्धोपरान्त शान्ति-स्थापन के समय सोवियत रूस या जनता की आवाज़ की अवहेलना कर साम्राज्यवादी हितों की रक्षा के लिए किसी षड्यन्त्र को कामयाब कर सकें। विश्व की संगठित जनता ही किसी ऐसे भावी विश्वासघात को रोक सकती है और भारत की संगठित जनता युद्ध में सक्रिय सहयोग देकर ही युद्ध के परिणाम पर निश्चयात्मक प्रभाव डाल सकती है और उसके द्वारा अपनी भी आज़ादी हासिल कर सकती है। इस समय इतिहास के साथ आँखमिचौनी खेलना जनता के साथ विश्वासघात करना है। जनता की संगठित शक्ति ही इतिहास का निर्माण कर सकती है अतः कांग्रेस समाजवादियों और कांग्रेस नेताओं को यह स्वीकार कर कि यह महत्त्वपूर्ण बात नहीं है कि ब्रिटेन और अमेरिका के उद्देश्य क्या हैं, क्योंकि सोवियत रूस और विश्व की जनता के सहयोग से हम उनके साम्राज्यवादी उद्योगों को उलट देंगे और यह कि इस युद्ध में सोवियत रूस का होना एक सबसे बड़ी हक़ीक़त है अतः यह युद्ध फ़ासिस्ट-विरोधी जनता का युद्ध है भारत में भी इंगलैण्ड और अमेरिका की जनता की तरह इसे जनता के ढंग पर चलाने के लिए आन्दोलन करना चाहिए और संयुक्त रूप से अपना सहयोग देना चाहिए। यही आज़ादी का सही मार्ग है। अतः मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि कम्युनिस्टों के मन्तव्य को ग़लत समझने की चेष्टा की गई है। मेरा विश्वास है कि कोई भी विचारशील व्यक्ति ठंडे दिल से सोचने के बाद इसी परिणाम पर पहुँचेगा कि युद्ध के प्रति कम्युनिस्टों की नीति ही सही है।

शि० सि० चौ०।

*

पुराण और संस्कृति*

●

[स० ही० वात्स्यायन]

संसार के विभिन्न देशों की भाँति हमारे देश में भी जब-जब देश के शान्त अथवा परम्पराबद्ध सांस्कृतिक वातावरण में किसी बाहरी शक्ति के प्रवेश के कारण हलचल उत्पन्न हुई है, तब-तब देश के जीवन में एक नई सांस्कृतिक जागृति देखने में आई है। एक विशेष सीमा तक यह स्थापित अथवा प्रचलित सांस्कृतिक सम्पत्ति की रक्षा के प्रयत्न से उत्पन्न होनेवाली जागृति थी—क्योंकि बहुधा बाहरी शक्ति एक अधिक बलवान किन्तु कम विकसित संस्कृति के रूप में ही आती थी, जिसे आक्रमण करनेवाली जाति अपनी नई शक्ति अथवा विजय के दर्पोन्माद में बल-पूर्वक विजित जाति पर आरोपित करना चाहती थी। प्रागैतिहासिक काल में अनेक बार ऐसा हुआ होगा, ऐतिहासिक काल में भी इसके उदाहरण ढूँढ़ते देर न लगेगी। मध्ययुग तक में पश्चिमोत्तर दिशा से आक्रमण की जो अनेक लहरें आईं, उनके साथ ही, सदा ही एक अपेक्षाकृत कम विकसित और सांस्कृतिक जीवन परिपाटी भारत में प्रविष्ट हुई; और कभी-कभी तो आक्रमणकारियों में उनकी दुर्दम जीवन शक्ति के अतिरिक्त सांस्कृतिक पूँजी के नाम पर कुछ भी न रहा।

किन्तु यह मानना पड़ेगा कि इस सांस्कृतिक नवचेतन का कारण सदा यह आत्मरक्षामूलक प्रयत्न नहीं रहता रहा। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि यह नवचेतन केवल अपनी ही संस्कृति की ओर उन्मुख नहीं रहा; बल्कि दोनों पक्षों ने बड़े परिश्रम के साथ परस्पर विचारों और जीवन परिपाटियों का अध्ययन किया, और उससे भरपूर लाभ उठाया। हम क्षण भर विचार करें कि अकबर के दरबार के मुसलमान विद्वानों में से कितने हिन्दू रीति-नीति, आचार, धर्म, शास्त्र और पुराण के परिज्ञाता थे, और फिर देखें कि आज के कितने मुसलमान विद्वान् आधुनिक हिन्दू परिवृत्ति का उतना गहरा ज्ञान रखते हैं, तो हम आश्चर्य-चकित रह जाएँगे। कोई कह सकता है कि कम संस्कृत जाति का अधिक संस्कृत जाति के विचारों का अध्ययन करना स्वाभाविक ही है; क्योंकि इसके द्वारा वह उसकी विशालतर सांस्कृतिक निधि तक पहुँच सकती है, किन्तु एक तो बाहर से आनेवाली सब जातियों का सांस्कृतिक धरातल एक नहीं था, और यह कहना ठीक

* एक मुसलमान मित्र द्वारा लिखी गई 'हिन्दूदेवमाला' सम्बन्धी पुस्तक की प्रस्तावित भूमिका के कुछ अंश—लेखक

नहीं होगा जो नीचे थे उन्होंने अधिक ग्रहण किया और जो अधिक संस्कृत थे उन्होंने कम ; दूसरे वैसे भी यह युक्ति कितनी अपूर्ण है, इसका प्रमाण भारत में अंग्रेजों की पैठ के समय का अध्ययन करने से मिल सकता है। यह मानने का कोई कारण नहीं है कि उस समय भारत यूरोप की अपेक्षा कम संस्कृत था। किन्तु साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि अंग्रेज़ अथवा फ्रांसीसी भी न केवल असभ्य नहीं थे, बल्कि सभ्यता और संस्कृति के कई उत्कर्ष देख चुके थे, और उस समय भी सांस्कृतिक दृष्टि से हीन युग में से नहीं गुज़र रहे थे। इतना होने पर भी उन्होंने भारतीय जीवन और विचार परिपाटियों के प्रति जो उत्सुकता और ग्रहणशीलता दिखाई, वह उस उदारता और विवेकपूर्ण अध्ययनशीलता से किसी तरह कम नहीं थी, जो उन्होंने बदले में भारतीयों से पाई। निस्सन्देह विदेशियों में ऐसे लोगों की संख्या कम नहीं थी जिनके लिए सब कुछ—यहाँ तक कि अध्ययन और ज्ञानोपार्जन भी साम्राज्य अथवा अन्य प्रकार की स्वार्थसिद्धि का साधन मात्र था ; और भारतीयों में भी बहुतों के लिए विदेशी रहन-सहन और संस्कृति का परिचय एक स्थूल महत्वाकांक्षा अथवा एक प्रकार की snobbery का परिणाम था जो किसी भी संस्कृति के अत्यधिक विकास के बाद उतार के युग में अभिजातवर्ग में प्रकट होती है। पर हम ऐसे लोगों की बात नहीं करते। मेक्समूलर को साम्राज्य-वृद्धि का निमित्त मानना उतना ही मूर्खतापूर्ण होगा जितना बंगाल के ठाकुर (टैगोर) वंश के बारे में यह कहना कि उनका अध्ययन विदेशियों की दृष्टि में ऊँचा उठने की इच्छा का परिणाम था।

तब इस नवचेतन का कारण क्या रहा ? वास्तविक कारण यही रहा है कि पहले सम्पर्क अथवा संघर्ष के युग में दोनों पक्षों के परस्पर सम्बन्ध को नियमित करनेवाली कोई रूढ़िया नहीं रही, और इसलिए जहाँ-जहाँ यह सम्पर्क हुआ, घनिष्ठता के साथ हुआ। हमें तनिक भी सन्देह नहीं कि बीरबल, टोडरमल और खानखाना का पारस्परिक सम्बन्ध आज के पढ़े-लिखे हिन्दू और मुसलमान के सम्बन्ध से कहीं अधिक घनिष्ठ होता होगा, इसलिए नहीं कि वे एक ही बादशाह के दरबारी थे, वरन इसलिए कि उनके व्यवहार को सीमित करनेवाली जातीय, सामाजिक अथवा कथित धार्मिक रूढ़ियाँ अभी कड़ी नहीं हो पाई थीं, और शायद बनी भी नहीं थीं। उनका व्यवहार कौतूहल पर आश्रित था (भले ही उसकी आड़ में विरोध भी रहा हो), आज का व्यवहार मूलतः अनेक प्रकार के निषेधों पर आश्रित है (जब कि विरोध-भावना किसी तरह भी कम नहीं हुई है)।

सन् १८६४ में मूर की हिन्दू देवमाला के संशोधित संस्करण की भूमिका में उसके सम्पादक रेवेरेन्ड सिम्पसन ने लिखा था, 'भारत में यूरोपियनों का जीवन अब अधिकारगत, औचित्यानौचित्य विचार के रूढ़ियों में बँध गया है। अंग्रेजी पारिवारिक जीवन की रीतियाँ भारत में ले आई गई हैं, और उसके साथ-साथ एक पार्थक्य और दूरत्व की भावना भी आ गई है। हम अब शासक हो गये हैं, और सहचर नहीं रहे। कम्पनी के समय के लेन-देन, षड्यन्त्र और मार-काट के दिनों में यूरोपियन देशी स्वभाव को जितना निकट से देखते और जानते थे, उतना निकट से अब नहीं समझते। ब्राह्मण सेनापतियों के अधीन बड़ी-बड़ी सेनाओं के साथ घुल-मिल जानेवाला यूरोपियन लेफ्टिनेंट,

अथवा देशी राजाओं के दरबारों की देहरी पर बाट जोहनेवाला नौसिखिया कूटनीतिज्ञ, देशी स्वभाव, रीति-रस्म, और आचार-विचार का अन्तरंग देख सकता था, क्योंकि वह उसकी दृष्टि के आगे निःसंकोच खुला रहता था।' आवश्यक परिवर्तन के साथ यह कथन आज भारत के देशी और विदेशी सभी समाजों के पारम्परिक जीवन पर लागू होता है, क्योंकि आज सभी समाजों की पीठ पर रूढ़ि का भारी बोझ है।

ऐसी परिस्थिति में यह विशेष आवश्यक हो जाता है कि देश के विभिन्न अंगों को अलग-अलग लीकों में पड़कर विच्छिन्न हो जाने से बचाने के लिए कुछ प्रयत्न किया जाय। सदियों के साथ रहनेवाले समाज क्रमशः एक दूसरे से इतना परे हट जाएँ कि जब एक दूसरे की ओर देखें तब उनकी आँखों में सख्य का आलोक न हो, जिज्ञासा अथवा कौतूहल का आकर्षण भी न हो—केवल घनीभूत अपरिचय और उपेक्षा एक पत्थर की दीवार की तरह बीच में खड़ी हो जाए—यह किसी भी देश के लिए स्वयं एक भारी ट्रेजेडी है: और जब हम अन्य देशों के उदाहरण से देखते हैं, कि यह मौलिक ट्रेजेडी असंख्य महासंकटों की जननी है, तब ऐसे उद्योगों की तात्कालिक आवश्यकता समझ में आ जाती है। बहुत सम्भव है कि ऐसे उद्योग भी सन्देह और आशंका की दृष्टि से देखे जाएँ, किन्तु यह खतरा अपेक्षा में बहुत छोटा है।

[२]

किसी देश के सांस्कृतिक जीवन में देव गाथाओं अथवा पुराण गाथाओं का क्या स्थान होता है या होना चाहिए इस बारे में बहुत मतभेद हो सकता है और है। पिछली सदी से धार्मिक सुधारवाद की जो लहर चली उसके कारण बहुत-से लोग पुराणों को एक गर्हित वस्तु समझने लगे, और अब भी हिन्दुओं में ऐसे लोगों की संख्या कम नहीं है जो अपने बच्चों को पुराणों की छाया से उसी तरह बचाकर रखना चाहते हैं—जैसे किसी छूत के रोगी से! यहाँ तक कि रामायण और महाभारत भी वर्जित और अश्लील साहित्य की श्रेणी में रख दिये जाते हैं। आश्चर्य की बात यह है कि ऐसे घरों में भी ग्रीक अथवा रोमन पुराण गाथाएँ वर्जित नहीं समझी जातीं, वेदव्यास के अश्लील समझे जाने पर भी होमर पढ़ लिया जाता है—यद्यपि, जैसा कि मैक्समूलर ने कहा है, होमर का काव्य जिन अतिविकसित अथवा जर्जरित पुराण गाथाओं पर आश्रित है उन्हीं का शुद्ध मूलरूप वैदिक गाथाओं में मिलता है। वैदिक गाथाओं में आर्यों के उस सांस्कृतिक प्राग्जीवन का चित्र मिलता है जिसका विकृतरूप हमारे पुराणों में अथवा आर्यों की अन्य शाखाओं के पुराणों में पाया जाता है।

इस धार्मिक सुधारवाद को छोड़ भी दें, तो भी हम देखते हैं कि शिक्षित व्यक्तियों में प्रायः पुराणों के सम्बन्ध में एक अश्रद्धा और जुगुप्सा का भाव आ गया है। मानो वे उस पृष्ठभूमि के लिए लज्जित हैं, जिस पर उनका जीवन पनपा और विकसित हुआ है। यह दृष्टिकोण मेरी समझ में न केवल अवांच्छनीय है, बल्कि अहितकर भी है। इसलिए नहीं कि मैं पुराणों को धर्म का अंग मानता हूँ, बल्कि इसलिए कि बिना पुराणों के अध्ययन

के किसी भी देश के जीवन की सांस्कृतिक भित्ति तक नहीं पहुँचा जा सकता, और इसलिए उस जीवन के प्रति अपना दायित्व भी नहीं निभाया जा सकता। ग्रीक दार्शनिकों ने ग्रीक पुराणों का नया मूल्यांकन किया था तो वे प्रचलित धार्मिक रूढ़ियों की नैतिक, भौतिक अथवा ऐतिहासिक व्याख्या करने लगे थे। उन्होंने देखा था कि पुराणों द्वारा प्राचीनकाल के मनीषियों ने अन्धकारावृत जनता को रूपकों और संकेतों के सहारे शिक्षित करके एक सामाजिक सूत्र में बाँधने का प्रारम्भिक प्रयत्न किया था। यह भी उन्होंने समझा था कि पुराणों के चरित्र बहुधा प्राकृतिक क्रियाओं के काव्यमय मानवीकृत प्रतिचित्र थी, और पञ्चतत्त्वों ने ही देवरूप ग्रहण कर लिया था। यह भी वे देख सके थे कि कुछ देवता केवल महान योद्धाओं, राजाओं अथवा ऋषियों के अतिमानवी रूप हैं। इन सभी अवधारणाओं में सत्य का अंश है, और साथ ही जहाँ ये पुराण के धार्मिक महत्व को अस्वीकार करते हैं, वहाँ यह भी सिद्ध करते हैं कि परम सत्य की उपलब्धि के लिए किये गये इन प्रारम्भिक प्रयासों के लिए लज्जित होने का कोई कारण नहीं है। ग्रीक युग का अनेकीश्वरवाद लुप्त हो गया है, परन्तु ग्रीक पुराण की देन को यूरोप का प्रत्येक साहित्यिक आज भी कृतज्ञता-पूर्वक स्वीकार करता है।

आज के भारतीयों को तो उपर्युक्त दृष्टिकोण का औचित्य और भी आसानी से स्वीकार कर सकना चाहिये, क्योंकि आज वे पुरातत्व, नृतत्व (Anthropology), समाज-शास्त्र और मनोविज्ञान के नये आविष्कारों से भी लाभ उठा सकते हैं। उन्हें तो आसानी से वे समझ सकना चाहिए कि किसी भी देश के जीवन के गहनतम रहस्य तक पहुँचने के लिए उसका पुराण साहित्य ही सबसे अच्छी कुञ्जी है; कि उसी में समष्टिगत आदर्शों और जातिगत आकांक्षाओं में वे स्वप्नचित्र मिल सकते हैं, जिनका कि विभिन्न व्यक्ति अपनी-अपनी रुचि, दीक्षा, योग्यता और संस्कारों के आधार पर परिष्कार करते हैं। पुराण ही वह पहली सांस्कृतिक इकाई है जिसमें से जीवन की बहुरूपता प्रस्फुटित हुई है।

★

नया-पुराना

(एकांकी नाटक)

●

[उपेन्द्रनाथ 'अश्क']

स्थान—देवचन्द के मकान का एक कमरा
समय छ: साढ़े छ: बजे सुबह।

[जिस कमरे में पर्दा उठता है उसमें दायें-बायें दो दरवाज़े हैं, दाईं दीवार का दरवाज़ा काफ़ी परे है और मकान के बाहर दूसरे हिस्से को जाता है, बाईं दीवार का दरवाज़ा परे कोने में है और एक छोटी-सी कोठड़ी को जाता है, इस पर गहरे मूँगिया रंग का पर्दा है, जिसका रंग प्रात: के धुँधलके में स्याह दिखाई देता है।

सामने की दीवार में दो खिड़कियाँ हैं जिनके किवाड़ों में शीशे लगे हुए हैं। सूरज यद्यपि सामने के मकान के पीछे से निकल चुका है किन्तु खिड़कियों से उसकी रोशनी अभी कमरे में नहीं पहुँची। हाँ किसी-किसी किरण का प्रतिबिम्ब कभी-कभी शीशों में झिलमिला जाता है। यों कमरे में अपेक्षाकृत अँधेरा है।

दाईं ओर के दरवाज़े के साथ परे को अँगीठी है जिस पर कपड़ा बिछा हुआ है और उस पर शेविंग का सामान, क्रीम की शीशी, पौडर का डिब्बा—कहने का मतलब यह कि पुरुष-स्त्री दोनों के टायलेट का सामान रखा है। इस अँगीठी के परे एक अलमारी है जिसका एक पट खुला है और इसमें क़रीने से रखे हुए कपड़ों की तहें साफ़ दिखाई दे रही हैं। इस अलमारी के साथ एक खिड़की के पास आराम-कुर्सी रखी है।

बाईं दीवार में अन्दर कोठड़ी को जानेवाले दरवाज़े के इस तरफ़ एक अलमारी है जिसमें ताला पड़ा हुआ है।

कमरे के मध्य तिपाई और दो कुर्सियाँ पड़ी हैं जिन पर दो-एक कपड़े बेतरतीबी से रखे हुए हैं। सामने की दीवार में खूँटियाँ लगी हुई हैं।

पर्दा उठते समय कमरे में एक अव्यवस्था-सी दिखाई देती है। अँगीठी की चीज़ें भी क़रीने से सजी हुई नहीं हैं, खूँटियों के कपड़े योंही एक दूसरे पर टँगे हुए हैं और फ़र्श पर एक-दो कपड़े बेतरतीबी से पड़े दिखाई देते हैं।

खिड़की के पास एक व्यक्ति आराम-कुर्सी पर चुपचाप पड़ा है। चूँकि वह मौन,

अचल पड़ा है। और उस कोने में अपेक्षाकृत अँधेरा है इसलिए पहली बार देखने पर वह नज़र नहीं आता। और ध्यान से देखने पर मालूम होता है कि उसने पूरे कालर की कमीज़ और पतलून पहन रखी है और सिगरेट पी रहा है।

तिपाई के बाईं तरफ़ देवचन्द परेशान-सा बैठा है। ज़ाहिर है कि उसने अभी तक स्नान आदि नहीं किया। रविदत्त यद्यपि दुकान पर जाने के लिए बिल्कुल तैयार है किन्तु अभी तक उसने बाल नहीं बनाये शायद उनके मध्य अचानक आरम्भ हो जानेवाले कटु प्रसंग ने इस बात का अवसर नहीं दिया।]

रविदत्त—(एक हाथ में शीशा और दूसरे में कंघी थामे हुए) मैं कहता हूँ—दबा जाओ सब। फिर ऐसा अवसर हाथ न आएगा। (फिर बाल बनाने लगता है।)

देवचन्द—(आश्चर्य और क्रोध के साथ) रवि !

रविदत्त—(बाल बनाना छोड़कर) तुम तो पागल हो। पचास-साठ हज़ार के आभूषण ! कोई मामूली चीज़ नहीं। जीवन में ऐसे मौके बार-बार नहीं आते।

(फिर बाल बनाने लगता है।)

देवचन्द—लेकिन वह तो अमानत है।

(उठकर बेचैनी से घूमने लगता है।)

रविदत्त—(फिर बाल बनाना छोड़कर) अमानत है तो क्या हुआ ? इस समय तो वह सब तुम्हारे कब्ज़े में है और फिर कोई लिखत-पढ़त नहीं, रसीद-पर्चा नहीं, गवाह नहीं, शहादत नहीं ; मैं कहता—बस पी जाओ (हँसता है) कोई तुम्हें पूछनेवाला नहीं !

(फिर बाल बनाने लगता है।)

देवचन्द—लेकिन यह तो धोखा है—कपट !

(फिर घूमने लगता है।)

रविदत्त—(फिर बाल बनाना छोड़कर) दुनिया में कौन धोखा नहीं करता ? यह बड़े-बड़े साम्राज्य, बड़े-बड़े राष्ट्र ; बड़ी-बड़ी संस्थाएँ, बड़े-बड़े व्यापार—ये सब क्या धोखे और फ़रेब पर अवलम्बित नहीं ? बड़े-बड़े नेताओं और विजेताओं की सफलता और ख्याति की नींव क्या कपट और छल पर नहीं रखी गई ? क्या इस नारकीय स्कूल में रात-दिन झख-झख करते रहते हो, मेहनत करते हो, मरते हो, आँखें और दिमाग़ फोड़ते हो और इस सब परिश्रम के बदले में तुम पाते क्या हो ?—इज्ज़त और आराम की रोटी तो तुम्हें प्राप्त नहीं ! ठीक तरह से खा-पी भी तो नहीं सकते !—बस पी जाओ। दुनिया में धोखा वही है जो उसकी आँखों से छिपाया न जा सके।

(फिर कंघी बालों तक ले जाता है।)

देवचन्द—(हैरान है कि कौन-सी बात सच्ची है और कौन-सी झूठी) लेकिन मन की आँख आत्मा की आँख.....

(फिर कुर्सी पर बैठ जाता है)

रविदत्त—(फिर बाल बनाना छोड़कर) मन और आत्मा का खयाल रखनेवाले सदैव पिछली पंक्तियों में खड़े रहते हैं, निचली घाटियों में गिरे रहते हैं। आगे बढ़ना या ऊँचे उड़ना उनके भाग्य में नहीं।

देवचन्द—नहीं रविदत्त यह अमानत में ख़्यानत है !

रविदत्त—(हँसता है) अमानत में ख़्यानत ! तुम बिल्कुल भोले हो दोस्त। दुनिया में हर बड़ा छोटे का, हर सबल निर्बल का और हर ऊँचा नीचे का माल हथियाता रहता है। उसकी अमानत में ख़्यानत करता है।

देवचन्द—(अपने मन से लड़ते हुए) नहीं-नहीं मेरा स्कूल...

(उठकर फिर बेचैनी से घूमने लगता है)

रविदत्त—साठ हज़ार रुपयों से तुम ऐसे दस स्कूल चला सकते हो।

देवचन्द—(रुककर) मेरी बारह वर्ष के परिश्रम और दयानतदारी से हासिल की हुई प्रतिष्ठा...

रविदत्त—इस रुपये के बल पर सिर्फ़ दो वर्षों में तुम इससे कहीं अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकते हो।

देवदत्त—दयानतदारी...

रविदत्त—रुपये का दूसरा नाम दयानतदारी है। (हँसता है) विपिन्न की दयानतदारी भी बददयानती समझी जाती है।

देवचन्द (अनुनय के स्वर में) तुम मुझे बहकाओ नहीं रवि ! रानी-हार दे दो।

(रवि केवल हँसकर बाल बनाना शुरू कर देता है)

(रुककर) तुम नहीं जानते रवि लली की माँ ने मुझपर कितना विश्वास किया है ? आख़िर मेरी पोज़ीशन ही क्या है ? एक मामूली प्राइवेट स्कूल का प्रिंसिपल ! (हँसता है) जिसे तुम मैनेजर भी कह सकते हो और टीचर भी ! मेरे स्कूल में सौ-डेढ़-सौ लड़कियाँ पढ़ती हैं माना, लेकिन सौ-डेढ़-सौ लड़कियों को पढ़ानेवाले स्कूल टीचर पर कौन इतना भरोसा कर सकता है ? उसने किसी तरह के संकोच के बिना अपनी विपत्ति के समय अपने साठ हज़ार के गहने मेरे हवाले कर दिये। नहीं मैं उसके विश्वास को खोना नहीं चाहता।

(फिर बेचैनी से कमरे में घूमता है)

रविदत्त—(बाल आदि बनाकर शीशे और कंघी को तिपाई पर रखते हुए) उसने अपने सब गहने तुम्हारे हवाले करने में परले दर्जे की मूर्खता की और उन सबको फिर उसे वापस देकर इससे भी बड़ी मूर्खता का परिचय दोगे।

(अँगीठी से क्रीम लेकर मुँह पर मलता है)

देवचन्द—(उसके पास जाकर) तुमने जब रानी-हार माँगा था तो भी यही कहा था कि उससे पूछने की क्या आवश्यकता है, तुम जो गहना चाहो अपने काम में ला सकते हो। लेकिन तुम्हें याद होगा—मैंने उस समय भी यही उत्तर दिया था कि जिसकी अमानत है उसकी आज्ञा लिये बिना मैं इसे हाथ नहीं लगा सकता। पर उसका विश्वास तो देखो। उसने कहा—भाई साहब पूछने की क्या आवश्यकता थी, सब गहने तो आप ही के पास हैं जो चाहते उठाकर देते।

देवचन्द—(फिर उसके पास जाकर) यह सब क्यों हुआ? उसने मुझ पर क्यों इतना विश्वास कर लिया? तुम शायद नहीं समझ सकते। यह सब विश्वास, यह सब भरोसा, मैंने बारह साल की कठिन मेहनत से प्राप्त किया है। तो क्या तुम चाहते हो कि इतने परिश्रम से प्राप्त किये हुए विश्वास-धन को मैं लोलुपता के एक क्षण में नष्ट कर दूँ?

रविदत्त—(कोट पहनता हुआ हँसता है) अरे किसका विश्वास और किसका भरोसा! लली की मा सब गहने तुम्हें न देती तो और क्या करती? यदि उसके पास रहते, तो उसका व्यसनी पति अब तक उन्हें कब का ठिकाने लगा चुका होता। उसने तुम्हें दे दिये। तुम्हारे पास उनके बचने की सौ में से एक बिसवा तो आशा थी, उसके यहाँ तो इतनी भी न थी। कमल कहता है...

देवचन्द—(लगभग चीखकर) कमल, वह सिरफिरा लेखक! उसकी संगति ने तुम्हें इतना गिरा दिया है कि आज तुम बददयानती को खूबी समझने लगे हो। हरिकृष्ण की दुकान से मैंने उसे बीस रुपये की किताबें लेकर दीं। आज एक साल होने को आया है उसने एक पैसा तक नहीं दिया। दुकानदार के तगादों से नाक में दम आ गया तो मैंने कमल से उसका हिसाब चुकाने को कहा। हँसकर कहने लगा—इन पूँजी-पतियों के रुपये तो जरूर ही दबा लेने चाहिए। आखिर वे रुपये मुझे देने पड़े। धोखा, छल, कपट बददयानती, बदमाशी, जालसाजी हरेक के लिए वह अपने प्रगतिशील फ़लसफ़े से कोई न कोई दलील निकाल लेता है। उसके खयाल में मानव नीच, बदमाश, छली और कपटी के सिवा कुछ नहीं।

रविदत्त—(कपड़ों की अलमारी में रूमाल ढूँढते हुए) तुम्हारे भाग्य में असफल रहना लिखा है।

देवचन्द—बाह्य सफलता ही सब कुछ नहीं आन्तरिक सफलता भी कुछ चीज है। बाह्य शान्ति की अपेक्षा मैं आन्तरिक शान्ति को अधिक महत्व देता हूँ।

(कमरे में तेज़-तेज़ घूमता है।)

रविदत्त—(शीशे में देखकर गान्धी टोपी को सिर पर सजाता हुआ) यह कायरों का फ़लसफ़ा है।

देवचन्द—(पलट कर) फ़लसफ़ा छोड़ो! तुम यह बताओ, कि रानी-हार वापस दोगे या नहीं?

(रवि केवल हँसता है।)

देवचन्द—देखो, चार महीने तुम्हारी शादी को हो गये मैंने स्वयं इस बीच में तुम्हें कुछ नहीं कहा। लेकिन अमानत तो अमानत है अब जहाँ से उसे लिया है वहीं रख देना चाहिये।

(टोपी सिर पर सजाकर रवि केवल हँसता है।)

देवचन्द—(दुःख और क्षोभ के स्वर में) तो क्या तुम सचमुच रानी-हार नहीं दोगे ? देखो, इतनी देर से हम इस मकान में इकट्ठे रहते आ रहे हैं किसी दूसरे को यह भी नहीं मालूम हुआ कि हम सम्बन्धी नहीं केवल दोस्त हैं। सब हमें भाई-भाई समझते हैं। दुख में, सुख में, हम ने एक दूसरे का साथ दिया है। किसी तरह का झगड़ा, किसी तरह की लड़ाई हमारे इस सम्बन्ध को नहीं तोड़ सकी—तो क्या इस कम्बख्त रानी-हार को इस वर्षों की मित्रता के मध्य एक भयानक खाड़ी बन जाने दोगे ? (भरे हुए गले से) रवि ..रवि...!

[कमल प्रवेश करता है।]

कमल—क्या बात है ? किस बात पर बहस हो रही है ?

रविदत्त—अरे है क्या, इसके...

देवचन्द—(चीख़कर) रवि !

कमल—मैं पूछता हूँ तुम दुकान पर कब जाओगे ? मैं माँजी को वहाँ बैठा आया हूँ और दूसरे रोगी भी तो बैठे हैं वहाँ।

रविदत्त—(कोने से छड़ी उठाकर चलता हुआ) क्या हाल है उनका ? (घूमकर) देव तुम भी उठो, नहाओ, कपड़े पहनो, तुम्हारे स्कूल का समय हो गया है।

[रवि कमल के साथ चला जाता है और देवचन्द कुर्सी में धँस जाता है और मस्तक पर हाथ रखकर सोचने लगता है। प्रतिमा दाख़िल होती है।]

प्रतिमा—आप अभी तक बैठे हैं, स्कूल नहीं जाएँगे क्या ? और मैं नाश्ता लाने में देर कर दूँ तो आकाश सिर पर उठा लेते हो।

[देवचन्द दूसरा हाथ भी मस्तक पर रखकर और भी निमग्नता से सोचता है।]

प्रतिमा—चलिये नहाइये धोइये, खाना खाइये, माई को चाबियाँ भिजवाइये, ताकि समय पर स्कूल खुले।

[देवचन्द लम्बी साँस भरकर विवशता से पीछे को लेट जाता है। उसका सिर कुर्सी की पीठ पर और बाहें दोनों ओर बेचारगी की हालत में लटक जाते हैं। फिर कुछ क्षण बाद वह उठता है और उद्विग्नता से घूमने लगता है।]

प्रतिमा—आप इतने उदास और परेशान क्यों हैं ?

देवचन्द—मैं सोच रहा हूँ।

प्रतिमा—क्या सोच रहे हैं आप ?

देवचन्द—आज रवि ने मुझे एक बड़ी मुश्किल में डाल दिया है।

प्रतिमा—वैद्यजी ने ?

देवचन्द—हाँ वैद्यजी ने !

प्रतिमा—बात क्या हुई ?

देवचन्द—आज मैंने उसे हार वापस करने को कहा और वह टाल गया।

प्रतिमा—दे देंगे। कहीं ले तो जाएँगे नहीं। और चार दिन पहन लेने दीजिये भाभी को। अभी चार महीने भी नहीं बीते विवाह हुए। जरा माँगते शरमाते होंगे।

देवचन्द—(रुककर) तुम चार दिन कहती हो, मैं चार वर्ष भी पहनने की आज्ञा दे सकता हूँ यदि गहने मेरे हों। लेकिन वे तो धरोहर हैं। और फिर वह उन्हें वापस ही कब देना चाहता है। एक रानी-हार पर ही उसका दिल बेईमान हो गया। और फिर तुर्रा यह कि मुझे भी अमानत में ख्यानत करने की सलाह देता है। कहता है—सब कुछ चुपचाप दबा जाओ।

प्रतिमा—अमानत में ख्यानत कैसी ? वह सब कुछ तो आपका ही है।

देवचन्द—(चीखकर) प्रतिमा !

प्रतिमा—चीखिये नहीं। मेरी जबान से कोई नयी बात नहीं निकली और न आपके कानों ने ..

देवचन्द—तुम्हें शर्म नहीं आती ? अगर वे मेरे गहने होते तो मैं तुम्हें न देता ? तुम्हें याद होगा तुम बलदेव की शादी पर जा रही थीं, तुमने इशारा भी किया था, पर मैंने तुम्हें एक तीली तक को हाथ लगाने से मना कर दिया।

प्रतिमा—हाँ मैं आपकी कौन होती हूँ लेकिन याद है जब वैद्यजी ने माँगा था तो सबसे भारी गहना उठाकर दे दिया था।

देवचन्द—लली की माँ से पूछे बिना मैंने हाथ तक नहीं लगाया।

प्रतिमा—उस समय न पूछ सकते थे ?

देवचन्द—मैं किसी के विश्वास का अनुचित लाभ नहीं उठाना चाहता।

(फिर घूमने लगता है।)

प्रतिमा—ये बहाने रहने दीजिये।

(कुर्सी में धँस जाती है।)

देवचन्द—(मुड़कर चीखते हुए) मैं बहाने बनाता हूँ ? (फिर स्वर को धीमा करके) कई बार आदमी अपने मित्रों के लिए कुछ नहीं कह सकता, यद्यपि उसके लिए दूसरों की सिफ़ारिश करना आसान होता है।

(प्रतिमा ख़ामोश रहती है।)

और इसी लिए मैंने इनमें से किसी गहने को हाथ नहीं लगाया। तुम्हारे हाथों में एक चूड़ी नहीं रही, तुम्हारे कानों में एक आवेज़ा तक नहीं रहा, मैंने यह सब सहन कर लिया पर मैंने यह कभी सहन नहीं किया कि किसी मेले तमाशे वार-त्योहार पर तुम इन अमानत के गहनों में से एक ज़रा-सी तीली तक भी पहनो। तुम दयानतदारी का तात्पर्य ही नहीं समझतीं। तुम धर्म...

प्रतिमा—(उठकर) धर्म की दुहाई न दीजिये। मैं इस धर्मपरायणता को जानती हूँ। एक स्त्री अपने पचास-साठ हज़ार के गहने एक दूसरे पुरुष के हवाले कर देती है, उसके लिए जान तक कुर्बान कर देने को तैयार रहती है और वह उसकी रिश्तेदार नहीं, नातेदार नहीं, कुटुम्ब-क़बीले में से नहीं...

देवचन्द—(चीख़ता है) तुम क्या कहना चाहती हो ?

प्रतिमा—मैं जो कहना जाहती हूँ आप भली भाँति जानते हैं।

देवचन्द—यही न कि मैं बदमाश हूँ ; पापी हूँ ; दुराचारी हूँ ; लल्ली की मा से...प्रतिमा तुम बड़े तीखे घाव लगा रही हो (भर्राई हुई आवाज़ से) मेरा दिल तो पहले ही रवि की बातों ने छलनी कर दिया है।

प्रतिमा—(नर्म होकर) हो सकता है आप पापी न हों ; यह भी हो सकता है कि आपके दिल में कोई बुरा ख़याल न हो, पर मैं यह कभी नहीं मान सकती कि उसके दिल में भी कुछ नहीं। कोई नारी मन में किसी तरह का पाप रखे बिना किसी दूसरे पुरुष को इस तरह अपना सब कुछ सौंप सकती है मैं इस बात को कभी भी नहीं स्वीकार कर सकती।

(देवचन्द चुपचाप घूमता है)

और फिर वह पुरुष ही किसी सुकोमल भावना के बिना किस तरह इतनी भारी ज़िम्मेदारी अपने कन्धों पर ले सकता है ? धोखा हो सकता है ; चोरी हो सकती है ; चीज़ इधर से उधर हो सकती है ; (भेद भरे स्वर में) और अब तो मुझे और भी सन्देह है कि यह सब कुछ एक दिन होकर रहेगा। (फिर ऊँची आवाज़ में) हमारी बिसात ही क्या है ? हम आयु पर्यन्त भी कमाते रहें तो इन में से एक चीज़ की क़ीमत न दे सकें, और आप मानते ही नहीं...मैं इसे क्या समझूँ ?

देवचन्द—(घूमना छोड़कर) मैं सब गहने वापस कर दूँगा।

प्रतिमा—आप ..

देवचन्द—मैं आज ही सब कुछ वापस कर दूँगा। (असीम पीड़ा से) तुमने मुझे कभी नहीं समझा प्रतिमा, तुम सदैव मुझ पर झूठे अभियोग लगाती रही हो। अन-कहनी बातें कहती रही हो। तुमने कभी इस बात को महसूस करने की कोशिश नहीं की कि तुम्हारे सिवा मैंने किसी को तनिक-सा भी स्थान तो अपने हृदय में नहीं दिया। इतनी

लड़कियाँ मेरे यहाँ पढ़ती हैं, दिन-प्रति-दिन मेरे स्कूल की ख्याति बढ़ रही है, क्या तुम्हारा ख़याल है कि तनिक-सी मैली आँख भी इन लड़कियों की आँखों से बची रह सकती है ? किन्तु भटके हुए पक्षी की भाँति तुम्हारा सन्देह कभी इस डाल पर और कभी उस डाल पर बैठा करता है।

प्रतिमा—(पिघलकर) मैंने कभी अभियोग नहीं लगाया। मैं सदैव आपके हित की ही बात करती हूँ और आपने कई बार इस बात को स्वीकार किया है कि मेरी बातों से आपको लाभ हुआ है। आप ही सोचिये अब तो मैं घर पर रहती हूँ; खूब चौकसी रखती हूँ; कलकत्ते कुछ दिनों के लिए मैके चली जाऊँ और पीछे कोई चीज़ इधर-उधर हो जाए फिर क्या होगा ? आप लाख सच्चे हों, लाख दयानतदार हों, लेकिन कोई आपकी बात न मानेगा। जो बातें आपके ख्वाब-ख़याल में भी नहीं, वही सब आपको सुननी पड़ेंगी।

(देवचन्द बेचैनी से घूमता है।)

प्रतिमा—और फिर जिस व्यक्ति का दिल एक रानी-हार पर इतना बेईमान हो सकता है उससे और किस बात की आशा नहीं रखी जा सकती ?

देवचन्द—मैं आज ही सब गहने वापस कर दूँगा। अपनी विपत्ति के समय, अपने शराबी पति के डर से, उसने सब आभूषण मेरे पास अमानत रख दिये थे। 'लल्ली कल बड़ी हो जाएगी तो मैं उसकी शादी कैसे करूँगी,' उसने कहा था 'उस समय तक तो एक तीली भी न बचेगी!' और उसकी विनय और विपत्ति को देखकर मैंने यह बोझ अपने कंधों पर लेना स्वीकार कर लिया था। (ऊँची आवाज़ में) मैं आज ही सब कुछ वापस कर दूँगा (और भी ऊँची और भारी आवाज़ में) मेरी ओर से कोई सारे के सारे गहने उड़ाकर ले जाए; उसका शराबी पति उन्हें एक रात के जुए में गँवा दे; रण्डियों को खिला दे; शराब में उड़ा दे, (धीमी और भरी हुई आवाज़ में) मेरी ओर से लल्ली का विवाह न हो; वह निर्दोष भोली-भाली लड़की भिखमंगे के हाथ पड़ जाए—मेरी बला से, मुझे क्या ? मैं आज ही उसके सब गहने वापस कर दूँगा।

(एक-दो बार कमरे में चक्कर लगाता है।)

तुम मेरी मदद करना प्रतिमा।

प्रतिमा—मैं मदद करूँ ?

देवचन्द—देखो जब तक मैं वह रानी-हार उन गहनों में न रख दूँ, मैं वह गहने वापस नहीं कर सकता। तुम रानी-हार लेने में मेरी मदद करो, माँगे से यह न मिलेगा और मैं नहीं चाहता कि भाभी को इसका पता लगे...

प्रतिमा—(ठहाका मारकर हँस पड़ती है।) मैं कहती हूँ, इतने अभिनय की क्या ज़रूरत है ? आपने मुझे क्या बिल्कुल ही बच्ची समझ लिया है ? क्या मैं कुछ नहीं समझ सकती ? इतनी चिकनी-चुपड़ी बातें, यह ऐक्टिंग, सिर्फ़ इसीलिए न, कि मैं रानी-हार लेने में मदद दूँ और आप निश्चिन्त हो जाएँ और गहने ज्यों-के-त्यों...

देवचन्द—(भरे हुए गले से) प्रतिमा !

(प्रतिमा चुप रहती है ।)

अब मैं तुम्हें कैसे विश्वास दिलाऊँ ? मैं क़सम खाता हूँ कि मैं सब गहने आज ही वापस कर दूँगा। तुम चाहो तो लल्ली की मा से कभी बात तक न करूँगा। चाहो तो लल्ली का नाम स्कूल के रजिस्टर से ख़ारिज कर दूँगा। तुम एक वार यह रानी-हार लेने में मेरी मदद करो। मैं चाहता हूँ कि जिस तरह मैंने उसकी अमानत ली है उसी तरह उसे वापस कर दूँ, मैं तुम्हारी मिन्नत करता हूँ प्रतिमा !

प्रतिमा अच्छा अब उठो, नहाओ, खाना खाओ, कपड़े पहनो और स्कूल जाओ। आज तीज का त्योहार है। हम दर्बार साहिब जाना चाहती हैं। मैं इस सम्बन्ध में सोचूँगी। अब उठो, देखो भाभी तैयार हो चुकी हैं।

देवचन्द—ठीक ! (खुशी से हाथ मारकर) मुझे तरकीब सूझ गई है। सुनो यदि भाभी जाने को तैयार हुई हैं तो उन्होंने अवश्य ही सब गहने पहने होंगे। जब वे सब ट्रङ्क आदि बन्द कर चुकें तो तुम बहाने से उन्हें इधर ले आना और फिर अचानक उनसे कहना 'यह रानी-हार तुमने क्या पहन लिया, इतना कीमती वहाँ बड़ी भीड़ होती है, खवे से खवा छिलता है, इसको उतार जाओ न जाने कोई खींचकर ही ले जाय फिर हाथ मलती रह जाओगी।

प्रतिमा—अच्छा मैं यह भी करके देख लेती हूँ, अब आप उठें...

नौकरानी—(बाहर से) मास्टर जी चाबियाँ दीजिये, स्कूल...

देवचन्द—(प्रतिमा से) तुम मेरी चिन्ता न करो प्रतिमा, जैसे मैं कहता हूँ वैसे ही करो। मैं आज ही लल्ली की मा को उसकी अमानत लौटा दूँगा। (नौकरानी से) देखो माई तुम जल्दी जाओ, लल्ली की मा को बुला लाओ, कहना—जरूरी काम है बिल्कुल न रुकें जल्दी चली आएँ।

(नौकरानी जाने लगती है।)

ठहरो !

(रुपया निकाल कर फेंकता है।)

यह रुपया ले जाओ, ताँगे में आना और ज़रा भी देर न लगाना !

नौकरानी—जी, उसका घर कोई बहुत दूर तो नहीं, ताँगे की क्या आवश्यकता है ? पैदल...

देवचन्द—मैं जो कहता हूँ ताँगे में जाओ ! (फिर धीमी आवाज़ में प्रतिमा से) देखो मेरे नहाने-खाने की चिन्ता न करो, और यदि स्कूल भी ज़रा देर से खुल गया तो आफ़त न आ जाएगी, पर मैं ये सब गहने अभी इसी वक्त लौटा देना चाहता हूँ। देखो प्रतिमा ! परमात्मा के लिए मेरी मदद करो, भाभी तैयार हो गई होंगी। मैं उन्हें अच्छी

तरह जानता हूँ वे सब आभूषण पहने बिना न जाएँगी, और रानी-हार तो उन्हें सबसे अधिक प्रिय है। जाओ जल्दी तैयार होकर उन्हें ले आओ और फिर जैसे मैंने कहा है वैसे करो। चलो साड़ी बदलो...

प्रतिमा—आपका ध्यान किधर है आज ? अभी तो साड़ी बदली है।

देवचन्द—लेकिन यह...

प्रतिमा—मैं कोई नयी नवेली बहू नहीं। बस इन्हीं कपड़ों से चली जाऊँगी।

देवचन्द—तो चलो।

(दोनों जाते हैं पर देवचन्द फिर मुड़ आता है।)

(अपने आप) अलमारी को ताला लगा है, कम से कम उसे तो खोल जाऊँ ताकि ताला ढूँढ़ने के लिए उन्हें दूर न जाना पड़े।

[जल्दी-जल्दी जेब से चाबी निकाल कर ताला खोलता है। और फिर चाबी ताले में ही छोड़कर बाहर चला जाता है।
कुछ क्षण खामोशी।
जिसमें परे कुर्सी पर बैठे हुए अचल व्यक्ति के मुँह से सिगरेट के धुएँ के दायरे खिड़की की ओर जाते हुए दिखाई देते हैं।
फिर प्रतिमा भाभी को साथ लिये हुए आती है। भाभी एक सीधी-सादी मोटी गलगोथनी लड़की है मुखाकृति प्रसन्न किन्तु किसी तरह की भावना से शून्य, भड़कीले वस्त्रों में आवृत है, गहनों कपड़ों की मुहब्बत उसके चेहरे पर लिखी हुई दिखाई देती है।]

प्रतिमा—बस मैं ज़रा बालों में कंघी कर लूँ बिखर गये हैं।

(कुर्सी में बैठकर बालों में कंघी करती है।)

और तनिक ये चीज़ें करीने से रख जाऊँ वैद्यजी मालूम होता है इधर-उधर कर गये हैं (हँसती है) उनकी आदत कभी न सुधरेगी। (शीशा और कंघी तथा क्रीम आदि क़रीने से अँगीठी पर रखती है।) नहीं वे योंही शोर मचा देंगे। उन्हें तो तनिक-सी अव्यवस्था भी बुरी लगती है। (कुर्सियों पर बिखरे हुए कपड़े तरतीब के साथ खूँटियों पर टाँग कर) तो पाँवों में क्या पहन कर चलूँ ? (कपड़ोंवाली अलमारी के निचले खाने से एक दो जूतों के जोड़े निकालती है) गुरगाबी पहन जाऊँ ? (उसे उठाकर देखती है फिर उसे अलमारी में रख देती है) ना बाबा वहाँ तो नंगे पाँव चलना पड़ेगा कोई उठा कर ही ले जाय। और मेरी मानो तो तुम भी चप्पल ही पहनकर चलो। (और फिर जैसे उसने पहली बार ही अचानक देखा हो) अरे तुमने सब गहने पहन लिये। ना बहिन कम से कम यह रानी-हार तो रख जाओ। इतनी भीड़ होती है वहाँ, खवे से खवा छिलता है, कोई बदमाश...

भाभी—तुमने मुझे पहले क्यों न बता दिया। अब इतने ट्रंक कौन उठाये ?

प्रतिमा ट्रङ्क में रखने की क्या जरूरत है ? इस अलमारी में रख जाओ। ताला लगा कर चाबी साथ ले जाओ। घंटे-आध घंटे में तो हम वापस आ जाएँगे। मैं तो तुम्हारे ही हित की बात कर रही हूँ। कोई खींच कर ले गया तो हाथ मलती रह जाओगी।

देवचन्द- (बाहर से) जल्दी करो फिर वहाँ इतनी भीड़ हो जाएगी कि जाना भी कठिन हो जाएगा।

भाभी—(हार उतारकर प्रतिमा को देते हुए) लो करो बन्द इसे अलमारी में।

(प्रतिमा हार लेकर अलमारी में बन्द कर देती है।)

प्रतिमा—और मेरी मानो तो आवेज़े भी इसी में रख जाओ, भीड़ में इनके साथ कान भी खिंच आते हैं।

भाभी—ऐसा भी क्या अन्धेर है। आवेज़े तो मैं नहीं उतार सकती, मुझे बुझा बुझा रहना पसन्द नहीं।

[दोनों जाती हैं। देवचन्द धीरे-धीरे अन्दर प्रवेश करता है। प्रतिमा वापिस आती है।]

प्रतिमा- (धीमी आवाज़ में) रानी-हार इस अलमारी में बन्द है यह लो चाबी।

देवचन्द—चाबी की ज़रूरत नहीं, तुम भाग जाओ !

[प्रतिमा चली जाती है। देवचन्द कुछ क्षण तक खिड़की में जाकर बाहर की ओर देखता है। फिर वापस आता है दरवाज़ा लगा देता है। और फिर इधर-उधर कुछ ढूँढता है।]

(अपने आप) आज मुझे अपने घर में चोर बनना पड़ेगा।

(अन्दर कोठड़ी में जाकर हथौड़ी लाता है।)

(हथौड़ी को हाथ में उछालता हुआ) तुलसीदास ने कहा है : धीरज धर्म मित्र और नारी, आपद काल परखिये चारी।

(हथौड़ी से ताले को तोड़कर माला बाहर निकालता है और उसे हाथों में उछालता है।)

किन्तु दूसरा चरण बदल देना चाहिए। आजकल तो यों होना चाहिए : 'गरज पड़े तो परखिए चारी।'

[हँसता है और हथौड़ी को फिर अन्दर कमरे में फेंक देता है। बाहर दस्तक होती है। बढ़कर कुण्डी खोलता है।]

आइये, आइये !

(माई के साथ लली की मा प्रवेश करती है।)

(जेब से चाबी निकालकर नौकरानी को देते हुए) यह लो चाबी जाकर स्कूल खुलवाओ। अध्यापिकाओं से कहना कि मैं आज दोपहर तक न आ सकूँगा।

(माई चली जाती है।)

(लली की मा से) बैठिये !

लली की मा (बैठते हुए) मैं तो डर ही गई थी। क्या बात है ; आपने इतनी जल्दी बुला भेजा।

[देवचन्द अन्दर कोठड़ी में जाता है और कुछ क्षण बाद एक डिब्बा उठाकर लाता है और उसे लली की मा के सामने तिपाई पर रख देता है और उस पर माला टिका देता है।]

लली की मा—(हैरानी से) यह क्या ?

देवचन्द – आपकी अमानत !

लली की मा (और भी हैरानी से) लेकिन......

देवचन्द—आप इन्हें ले जाएँ।

लली की मा—लेकिन आपने वादा किया था कि आप लली की शादी तक इन्हें अपने पास रखेंगे।

देवचन्द—पर अब यह बात मुश्किल है।

(लली की मा चुप सोचती है।)

मैं प्रतिमा के तानों से तंग आ गया हूँ।

लली की मा—प्रतिमा तो पहले भी ताने देती थी।

देवचन्द—मुझे इनके चोरी हो जाने का डर है। नहीं, आप जिस तरह मुझे यह अमानत सौंप गई थीं उसी तरह ले जाइये।

लली की मा—चोरी तो मेरे यहाँ भी हो सकती है। कोई बाहर से न आए तो घरवाला ही डाका डाल सकता है।

देवचन्द—तुम नहीं समझीं लली की मा ! मुझे बाहर के चोर का भय नहीं, अन्दर के चोर का डर है।

लली की मा—यदि आपके चोरी हो जाएगी तो मैं समझूगी मेरे चोरी हो गई है।

देवचन्द—तुम बिल्कुल नहीं समझीं लली की मा। मुझे मन के चोर का डर है। मुझे स्वयं अपने आपसे भय है। आज तक मुझे अपने आप पर पूरा विश्वास था पर आज रवि की बातों ने उस विश्वास को तोड़ दिया है। तुम्हारे आभूषण दबाये भी जा सकते हैं यह मैंने कभी न सोचा था। किन्तु अब इस क्षण के बाद मैं कह नहीं सकता। मुझे मन का भरोसा नहीं।

[डिब्बा और रानी-हार उठाकर उसकी झोली में रख देता है। सहसा कुर्सी पर अचल बैठा रहनेवाला व्यक्ति हिलता है।]

अचल बैठा रहनेवाला व्यक्ति—बकवास

(उठकर कमरे के मध्य आ जाता है।)

बन्द करो। क्या इसी की प्रशंसा के पुल तुम सब बाँध रहे थे। मैं अब तक बड़ी कठिनाई से अपने आप को रोके बैठा रहा। पर अब यह सब बकवास बन्द करो। (असीम उपेक्षा से) सस्ती भावुकता, पुरानी जीर्ण-शीर्ण थीम, और दक़यानूसी ट्रीटमेंट। इसमें यथार्थता कहाँ है ? आज का युग यथार्थता का युग है और आज इसी के दृष्टिकोण से जीवन को देखा जाता है। क्यों गजेन्द्र क्या इसी की प्रशंसा तुम करते थे ?

[जिसे हम सिगरेट समझते थे वह सिगार है। उसी का धुआँ चक्कर खाता हुआ छत की ओर बढ़ता है।]

गजेन्द्र—पर यह तो सोलहो आने वास्तविक है। एक बिल्कुल सच्ची घटना से इस नाटक का कथानक लिया गया है।

अचल बैठा रहनेवाला व्यक्ति—तुम इसे यथार्थता कहते हो। कौन आज के ज़माने में साठ हज़ार की चीज़ वापस कर देगा ?

गजेन्द्र—पर मनीराम ही वह आदमी है।

अचल बैठा रहनेवाला व्यक्ति—(चीख़ कर) मनीराम मूर्ख है और आज का यथार्थवादी ऐसे मूर्खों का चरित्र चित्रण नहीं करता। वह अपवादों को छोड़कर आम आदमियों की बात करता है। वह आदर्श के पीछे नहीं भागता, यथार्थ के पीछे दौड़ता है। वह सौंदर्य को नहीं, वीभत्स को चित्रित करता है। वह यथार्थवादी है—घोर यथार्थ-वादी। यह नाटक नहीं चलेगा। कोई और चुनो और देखो इस बार मसौदा मुझे दिखा लेना।

(खट-खट पाँव रखता हुआ चला जाता है।)

गजेन्द्र—(चकित और किंकर्तव्यविमूढ़) यथार्थ...पर मैं कहता हूँ यह तो सर्वथा सत्य है। (लली की मा की ओर देखता हुआ) सोलहो आने सत्य। मनीलाल...

[पर्दा सहसा गिर पड़ता है।]

★

कहानीकार प्रेमचन्द

[गंगाप्रसाद मिश्र]

सन् १९१६ में प्रेमचन्दजी के हिन्दी में पदार्पण करने से हिन्दी कहानी को नया जीवन प्राप्त हुआ। हिन्दी-क्षेत्र में आने के पहले मुंशी प्रेमचन्द उर्दू में लिखते थे। उर्दू साहित्य के प्रमुख पत्रों में 'ज़माना' इत्यादि के धनपतराय और नवाबराय के नाम से लिखी हुई कहानियाँ पाठकों के मनोरंजन की एक विशेष सामग्री थीं। उर्दू साहित्य में प्रेमचन्दजी का एक विशेष स्थान था।

उर्दू भाषा का एक खास गुण है ओज और प्रवाह। ये दोनों चीजें प्रेमचन्दजी में शुरू से ही दिखाई पड़ती थीं। हाँ, यह बात अवश्य है कि जब तक वे हिन्दी भाषा को ठीक समझ और उस पर अपना अधिकार प्राप्त नहीं कर सके थे तब तक उनसे भूलें होती थीं। जिनमें भद्दी से भद्दी होने में भी कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जब कोई बच्चा एक भाषा सीखता है और उसमें गलतियाँ करता है तो हम लोग उस पर हँसते नहीं, इसे स्वाभाविक ही समझते हैं। इसी प्रकार प्रेमचन्दजी की इन प्राथमिक गलतियों को भी हमें समझना चाहिए क्योंकि भाषा पर अधिकार प्राप्त करने में जो गलतियाँ बच्चे अपनी छोटी कक्षाओं में करते हैं वही प्रेमचन्दजी ने अपने हिन्दी के प्रारम्भिक रचना-काल में कीं। वैसे वाक्यों की संगठनशीलता और प्रौढ़ता में प्रेमचन्दजी का चातुर्य और उनकी हिन्दी-उर्दू मिश्रित भाषा का प्रसाद गुण लोगों को प्रारम्भ से ही आकर्षक और प्रतिभा का द्योतक प्रतीत होता था।

आज भारतवर्ष एक शोषित देश है। उसकी आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं। शोषण आन्तरिक भी है और बाह्य भी। बाह्य शोषक हैं शासक वर्ग, विदेशी व्यापारी राज्य और आन्तरिक शोषक हैं राजा, महाराजा, ताल्लुकेदार, जमींदार, महाजन और सरकारी अफ़सर। इन सब शोषकों के लक्ष्य हैं मिडिल क्लास मध्यवर्ग दफ्तर के बाबू इत्यादि, किसान और मजदूर। अभी तक हमारे देश के साहित्य में उच्च श्रेणी के लोगों के चरित्र ही किसी नाटक अथवा आख्यान के पात्र होने योग्य समझे जाते थे। प्रेमचन्दजी ने अपनी लेखनी की सहानुभूति उक्त शोषित, दलित और पादाक्रांत वर्ग को दी। वे उस मूक जनता के लेखक बने जिसके पास संसार-संग्राम में लड़ने को न हथियार हैं न अख़बार। भारतवर्ष की जनसंख्या के मुख्य भाग इन किसान और मजदूरों के अशिक्षित हृदयों में संसार के प्रहार को झेलते हुए जो विचार उठते हैं, भावनाएँ आती हैं, आन्तरिक व्यथा

के जो अन्धड़ चलते हैं, आधुनिक काल के वैज्ञानिक युग में बुद्धिवाद और तर्क से बिलकुल अनभिज्ञ, भाग्य और दैवी इच्छा पर विश्वास करनेवाले ये किसान और मजदूर सांसारिक परिस्थितियों में ठोकरें खाते हुए बिना गिल्ला-शिकवा किये हुए चुपचाप कष्ट उठाते हुए अपना जीवन कैसे व्यतीत करते हैं इसका वास्तविक और स्वाभाविक चित्रण प्रेमचन्दजी के समान किसी भी लेखक का नहीं हो सका है।

इसके अलावा उन्होंने मध्यवर्ग का चित्रण अपनी रचनाओं में किया है। दफ्तरों के बाबू और बीस रुपये से लेकर सौ रुपये मासिक आय तक के लोग इसमें आते हैं। अपनी थोड़ी-सी आमदनी में इन बाबुओं को जिस प्रकार अपना भलमंसी का भ्रम बनाये रखना पड़ता है उसके बड़े कारुणिक चित्र प्रेमचन्दजी ने प्रस्तुत किये हैं। प्रेमचन्दजी की रचनाओं के पात्र मुख्यत: इन्हीं वर्गों से चुने गये हैं, पर ऐसा नहीं है कि अन्य वर्गों की ओर उनकी लेखनी की पहुँच न हो। निम्न श्रेणी में 'कफ़न' कहानी के चमारों से लेकर उच्चवर्ग में 'शतरंज के खिलाड़ी' के नवाब तक उनकी कहानी के पात्र हैं और तारीफ़ तो इस बात की है कि किसी भी वर्ग के व्यक्तियों के चित्रण में अस्वाभाविकता नहीं आने पाती। उनका रहन-सहन, बोली बातचीत और भाव सभी स्वाभाविक रूप में प्रगट किये गये हैं।

प्रेमचन्दजी की कहानियों को देखकर कुछ बातें हमें स्पष्ट देख पड़ती हैं। एक तो यह कि प्रेमचन्दजी ने कहानियाँ ऐसी जनता के लिए लिखी हैं जो कि मध्यवर्ग ही कही जा सकती है। यह मध्यवर्ग मस्तिष्क विकास के विचार से है। अर्थात उन्होंने कहानी लिखने वक्त हमेशा इस बात का ध्यान रखा कि वे घटनाओं का ऐसा चयन अपनी कहानियों में सदा रखें जिसके कारण उनके औसत दर्जे और दिमाग के पाठक का मन न ऊबने पावे। क्योंकि यह वर्ग अभी तक देवकीनन्दन खत्री, गोपालराम गहमरी, और किशोरीलाल गोस्वामी की घटनात्मक रचनाओं को पढ़ता आया था और इसका मस्तिष्क अभी इतना परिष्कृत न हो पाया था कि वह स्केच और रेखा-चित्रों की भावात्मकता और चित्रण की खूबी को समझ सके। प्रेमचन्दजी जनता के लेखक होना चाहते थे। इन कारणोंवश उनका ऐसा दृष्टिकोण होना स्वाभाविक ही था। उन्होंने अपनी लेखनी को औसत दर्जे की सूझ-बूझवाले पाठकों के लिए उठाया, चन्द चुनिन्दा विद्वानों और साहित्य के तत्ववेत्ताओं के लिए नहीं। इसके मायने यह नहीं हैं कि उनकी कहानियों में परिष्कृत मस्तिष्क के लिए कोई चारा नहीं है कोरी घटनात्मकता ही है। उनकी कहानियों में कला की दृष्टि से देखने पर भी पच्चीस कहानियाँ ऐसी आसानी से निकल आवेंगी जो संसार की किसी भी भाषा के गौरव को बढ़ा सकें। रुचि दिन पर दिन परिष्कृत होती जा रही है उसी प्रकार कहानी की परिभाषा में भी दिन पर दिन सुधार होते जा रहे हैं। आधुनिक कहानी में जो एक हेरपन की प्रधानता दी जा रही है घटनास्थल की अपरिवर्त्तनशीलता और बहुत थोड़े समय में ही कहानी की सारी घटनाओं के समाप्त हो जाने का गुण हम प्रेमचन्दजी की सभी कहानियों में न पावेंगे। उनकी अधिकतर कहानियों का कथानक बड़ा

और उपन्यास टाइप का होता है। अपनी बाद की रचनाओं में प्रेमचन्दजी इस एक तथ्यता का पूरा ख्याल रखते थे।

उर्दू के प्रसिद्ध पत्र 'बैरंगे ख़याल' के सम्पादक हकीम मुहम्मद यूसुफ हुसैन ने कौन कहानी कैसे लिखता है, इस सम्बन्ध में प्रश्न पूछे थे। इसका प्रेमचन्दजी ने जो उत्तर दिया था उससे हमें उनकी कहानियों की रचना और टेकनीक की विधि समझने में काफ़ी सहायता मिल सकती है।

'मेरे किस्से अक्सर किसी न किसी दृष्टान्त या अनुभव की नींव पर बने हुए होते हैं। उनमें मैं ड्रैमेटिक क्लाइमैक्स पैदा करने की कोशिश करता हूँ। सिर्फ किसी घटना का चित्रण करने के लिए कहानियाँ नहीं लिखता। मैं उसमें किसी मनोवैज्ञानिक समस्या के तथ्य का उद्घाटन करना चाहता हूँ। जब तक उसमें इस तरह की बुनियाद नहीं मिलती मेरी लेखनी नहीं उठती। जमीन तैयार होने पर मैं कैरेक्टरों की सृष्टि करता हूँ। कभी-कभी ऐतिहासिक स्टडी से भी प्लाट मिल जाते हैं, लेकिन कोई घटना बजाते खुद कहानी नहीं होती जब तक कि वह किसी मनोवैज्ञानिक तथ्य को प्रगट न करे।

'कोई घटना सिर्फ लच्छेदार और चुस्त भाषा लिखने से और कल्पना के आधार पर ही कहानी नहीं बनती। मैं उसमें क्लाइमैक्स लाजिमी समझता हूँ और वह भी मनोवैज्ञानिक। यह भी आवश्यक है कि कहानी की गठन इस तरह कायम की जाय कि क्लाइमैक्स करीब तक आ जाय।

'जब कोई ऐसा मौका आ जाता है जहाँ जरा तबीयत पर जोर डालकर साहित्यिक और कवित्वपूर्ण कैफियत पैदा की जा सकती है तो मैं उस अवसर से जरूर फायदा उठाने का प्रयत्न करता हूँ यही कैफियत अफसाने की जान है ..घटना और कैरेक्टर तो सब मुश्किल से मिलते हैं। इस समस्या के सुलझ जाने पर कहानी लिखने में देर नहीं लगती...

'कविता की तरह कहानी के भी और साहित्य के प्रत्येक विषय के लिए कुछ प्राकृतिक सम्बन्ध जरूरी है। प्रकृति आपसे आप प्लाट बनाती है, ड्रैमेटिक वातावरण तैयार करती है, अप्रकट रूप से सब कुछ होता रहता है।'

कहानी लिखने की इस थ्योरी को सिद्धान्त रूप से प्रेमचन्दजी ने अपने मस्तिष्क में रखा होगा। इसके मायने यह नहीं हैं कि यदि हम उनकी सभी कहानियों में इसी रचना-विधि की खोज करने लगें तो इस बात का अपवाद न मिलेगा।

'प्रेम-द्वादशी' की भूमिका में प्रेमचन्दजी ने आधुनिक कहानी और उसके भारतीय रूप पर संक्षेप में बहुत ही पते की बात कही है :—

'...वर्त्तमान आख्यायिका का मुख्य उद्देश्य साहित्यिक रसास्वादन कराना है और जो कहानी इस उद्देश्य से जितनी दूर जा गिरती है, उतनी ही दूषित समझी जाती है।

'लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वर्त्तमान गल्प-लेखक कोरी गल्पें लिखता है, जैसे बोस्ताने ख्याल या तिल्स्मे होशरुबा है। नहीं उसका उद्देश्य चाहे उपदेश करना न हो पर हर गल्प का आधार कोई न कोई दार्शनिक तत्व या सामाजिक विवेचना अवश्य होती है; ऐसी कहानी जिसमें जीवन के किसी अङ्ग पर प्रकाश न पड़ता हो, जो सामाजिक रूढ़ियों की तीव्र आलोचना न करती हो, जो मनुष्य में सद्भावना को दृढ़ न करे या जो कुतूहल का भाव न जाग्रत करे, कहानी नहीं है।

'यूरोप और भारतवर्ष की आत्मा में बहुत अन्तर है। यूरोप की दृष्टि सुन्दर पर पड़ती है, पर भारत की सत्य पर। सम्पन्न यूरोप मनोरंजन के लिए गल्प लिखे, लेकिन भारतवर्ष कभी इस आदर्श को स्वीकार नहीं कर सकता। नीति और धर्म हमारे जीवन के प्राण हैं। हम पराधीन हैं लेकिन हमारी सभ्यता पाश्चात्य सभ्यता से कहीं ऊँची है। यथार्थ पर निगाह रखनेवाला यूरोप हम आदर्शवादियों से जीवन संग्राम में बाजी क्यों न ले जाय, पर हम अपने परम्परागत संस्कारों का आधार नहीं त्याग सकते। साहित्य में भी हमें अपनी आत्मा की रक्षा करनी ही होगी। हमने उपन्यास और गल्प का कलेवर यूरोप से लिया है लेकिन हमें इसका प्रयत्न करना होगा कि उस कलेवर में भारतीय आत्मा सुरक्षित रहे।'

इस बात में कोई शक नहीं कि प्रेमचन्दजी ने इस प्रण का अपनी रचनाओं में पूर्ण रूप में निर्वाह किया। यथार्थवाद की वास्तविकता से आकृष्ट होकर अथवा अत्यधिक कलात्मकता के फेर में पड़कर उन्होंने कभी भारतीय भावनाओं और आदर्शों के विरुद्ध कुछ न लिखा। वे जनता के लेखक थे, भारतीय जनता के, जो सदा से आदर्शों की पूजा करती रही है, भारतवासियों की धर्मपरायणता आदि काल से अब तक प्रसिद्ध है; ऐसी जनता के लोकप्रिय लेखक होने के लिए उन्हें 'कला के लिए' वाला सिद्धान्त सामने रखकर लिखना ठीक न जँचा और यही कारण था कि उनकी सभी रचनाएँ उपयोगी कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं जिससे 'जीवन पथ' पर भटकनेवाले मानव को कुछ सहारा मिले।

जीवन और कहानी में जो सम्बन्ध है इस विषय में प्रेमचन्दजी ने 'मानसरोवर' की भूमिका में लिखा है :—

'वर्त्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है। उसमें कल्पना की मात्रा कम, अनुभूतियों की मात्रा अधिक होती है बल्कि अनुभूतियाँ ही रचनाशील भावना से अनुरंजित होकर कहानी बन जाती हैं, मगर यह समझना भूल होगी कि कहानी, जीवन का यथार्थ चित्र है। यथार्थ जीवन का चित्र तो मनुष्य स्वयं हो सकता है मगर कहानी के पात्रों के सुख-दुख से हम जितना प्रभावित होते हैं उतना यथार्थ जीवन से नहीं होते, जब तक वह निजत्व की परिधि में न आ जाय। कहानियों में पात्रों से हमें एक ही दो मिनट के परिचय में निजत्व हो जाता है। और हम उनके साथ रोने और हँसने लगते हैं। उनका हर्ष और विषाद हमारा अपना हर्ष और विषाद हो जाता है। बल्कि कहानी पढ़कर वह

लोग भी हँसने-रोते देखे जाते हैं, जिन पर साधारणतः सुख-दुख का कोई असर नहीं पड़ता। जिनकी आँखें श्मशान या कब्रिस्तान में भी सजल नहीं होतीं वह लोग भी उपन्यास के मर्मस्पर्शी स्थलों पर पहुँचकर रोने लगते हैं। शायद इसका यह कारण भी हो कि स्थूल प्राणी सूक्ष्म मन के उतने समीप नहीं पहुँच सकते जितने कि कथा के सूक्ष्म चरित्र के। कथा के चरित्रों और उनके बीच में जड़ता का पर्दा वह नहीं होता, जो एक मनुष्य के हृदय को दूसरे मनुष्य के हृदय से दूर रखता है और अगर हम यथार्थ को हूबहू खींचकर रख दें तो उसमें कला कहाँ है। कला केवल यथार्थ की नकल का नाम नहीं है। कला दीखती तो यथार्थ है, पर यथार्थ होती नहीं। उसकी खूबी यही है कि वह यथार्थ न होते हुए भी यथार्थ मालूम हो। उसका मापदंड ही जीवन के मापदंड से अलग है। जीवन में बहुधा हमारा अन्त उस समय हो जाता है जब वह वांछनीय नहीं होता। जीवन किसी का दायी नहीं है। उसके सुख-दुख, हानि-लाभ, जीवन-मरण में कोई सम्बन्ध ज्ञात नहीं होता। कम से कम मनुष्य के लिए वह अज्ञेय है, लेकिन कथा, साहित्य मनुष्य का रचा हुआ जगत है और परिमित होने के कारण सम्पूर्णतः हमारे सामने आ जाता है और जहाँ वह हमारी मानवी न्यायबुद्धि या अनुभूति का अतिक्रमण करता हुआ पाया जाता है हम उसे दंड देने के लिए तैयार हो जाते हैं। कथा में अगर किसी को सुख प्राप्त होता है, तो इसका कारण बताना होगा। यहाँ कोई चित्र मर नहीं सकता जब तक मानव न्याय बुद्धि उसकी मौत न माँगे। स्रष्टा को जनता की अदालत में अपनी हरएक कृति के लिए जवाब देना पड़ेगा। कला का रहस्य भ्रान्ति है पर वह भ्रान्ति जिस पर यथार्थ का आवरण पड़ा हो।'

इन उद्धरणों के पढ़ लेने पर हम कहानी के विषय में प्रेमचन्दजी के सिद्धान्तों को मोटी तौर से काफी समझ सकते हैं। अन्तिम उद्धरण में प्रेमचन्दजी ने कहानी की कला, कला और जीवन का सम्बन्ध, कला की परिभाषा और जीवन का विवेचन बड़े ही सुन्दर ढंग से किया है। जीवन में जिस प्रकार कोई घटना आकस्मिक रूप से हो सकती है उस प्रकार कहानी में नहीं हो सकती, हमें प्रत्येक घटना की कैफियत देनी पड़ती है, यदि हम किसी घटना विशेष की कैफियत ठीक नहीं पेश कर सकते तो वह कहानी अस्वाभाविक और असम्भव समझी जाती है।

प्रेमचन्दजी ने लगभग ३०० कहानियाँ लिखीं। यह कहानियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार और टाइप की हैं। ऐतिहासिक, रोमान्टिक कल्पना-प्रधान, सामाजिक, सुधार सम्बन्धी जैसे विधवा विवाह विषयक, घरेलू संघर्ष और बँटवारे की, नागरिक और ग्राम्य जीवन की, मुख्य-मुख्य वृत्तियों को चित्रित करनेवाली, आधुनिक शिक्षा प्राप्त और अंग्रेजी सभ्यता के रंग में रँगे हुए स्त्री-पुरुषों की कहानियाँ, व्यङ्गात्मक और राष्ट्रीय कहानियाँ।

प्रेमचन्दजी की ऐतिहासिक कहानियाँ, 'प्रसाद'जी के इतने प्राचीन काल की नहीं हैं। अधिकतर उनकी ऐतिहासिक कहानियाँ मुगल-कालीन हैं जिनमें हिन्दुत्व की भावना बड़ी ही जबरदस्त है। या तो वे मुगल विलासिता की द्योतक हैं जो कि इतने

शक्तिशाली साम्राज्य के पतन का मुख्य कारण साबित हुई अथवा राजपूती आनबान और शान को दिखलानेवाली जिसके कारण भारत का भूत, भविष्यत और वर्त्तमान सभी गौरवान्वित है, और रहेगा ; एक बात इन कहानियों के पढ़ने पर हम साफ़ पाते हैं कि प्रेमचन्दजी की भाषा इस मध्यकाल के योग्य ही जँचती है क्योंकि यदि प्रेमचन्दजी मौर्य-कालीन कहानियाँ लिखते और उनके उस समय के वे पात्र यदि हिन्दी-उर्दू मिश्रित भाषा बोलते तो पाठकों को खटकता अवश्य और फिर लाख भाव रखने पर भी वे कहानियाँ हमें अस्वाभाविकता के दोष से दूषित जान पड़तीं।

प्रेमचन्दजी की इन कहानियों में ऐतिहासिक बैकग्राउन्ड काफ़ी रहता है। लेकिन प्रसादजी की कहानियों की भाँति हम इनमें ऐतिहासिक तथ्यों के खोज की कमी पाते हैं। प्रेमचन्दजी की रुचि इस प्रकार की खोजों की ओर कुछ विशेष नहीं मालूम होती। इसके सिवाय यह भी बात है कि वे ऐसे काल की कहानियाँ लिखते हैं जो अब तक के भारतीय इतिहास का सबसे बड़ा प्रकाशित ज्ञात युग है। शायद इसी कारण हमें उनके पात्र और घटनाएँ उतनी विचित्र और नवीन नहीं मालूम होतीं जितनी प्रसादजी की कहानियों की। ये सब बातें होने पर भी वे अपने ऐतिहासिक ज्ञान का काफ़ी सदुपयोग करते हैं और अधिकतर ऐतिहासिक तथ्यों की ओर जाते हैं। घटनाओं के बड़े मनोरंजक चयन के साथ ही साथ उनकी इन कहानियों में भावों की भी कमी नहीं रहती। वे किसी न किसी तथ्य को लेकर चलती हैं और उस उद्देश्य के व्यक्त हो जाने के साथ ही उनका अन्त होता है।

उनकी ऐतिहासिक कहानियाँ यों तो बहुत-सी हैं और अधिकतर अच्छी ही हैं पर इनमें 'रानी सारंधा', 'राजा हरदौल', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'मर्यादा की वेदी', 'सती' 'वज्रपात', 'परीक्षा' और 'पाप का अग्निकुण्ड' प्रसिद्ध हैं। इनमें भी पहली तीन कहानियाँ तो वास्तव में कहानी साहित्य में अनमोल रत्न हैं। 'रानी सारन्धा' और 'राजा हरदौल' बुन्देलों की अमर गाथायें हैं जिन्हें पढ़कर मुर्दा दिल भी फड़क उठें। रानी सारन्धा जब कुँवारी थी तो एक बार रात को भाई के लड़ाई से भाग आने पर वह बिगड़ उठी और उसे धिक्कारा था। फलस्वरूप वह उसी समय फिर बाहर चला गया। इस पर सारन्धा की भाभी ने क्रोधित होकर कहा:—

'मर्यादा इतनी प्यारी है ?'

सारन्धा - हाँ।

शीतला—अपना पति होता तो हृदय में बिठला लेतीं।

सारन्धा—ना, छाती में छुरी चुभा देती।

शीतला ने ऐंठकर कहा—चोली में छिपाती फिरोगी, मेरी बात गिरह में बाँध लो।

सारन्धा—जिस दिन ऐसा होगा मैं भी अपना वचन पूरा कर दिखाऊँगी।

ऐसी थी वीर चम्पतराय की पत्नी, छत्रसाल के-से वीर पुत्र की प्रसविनी माता अपनी कौमार्य अवस्था में। इस मर्यादा की रक्षा के लिए ही उसने लाखों रुपये की निकासी की जागीर को पैरों से ठुकरा दिया, सिर्फ एक घोड़े के वास्ते। साथ ही बादशाह की कोपभाजन भी बनी, जिसके कारण बाकी जिन्दगी उसे और चम्पतराय को शान्ति से बैठने का मौका न मिला। यहाँ तक कि एक बार यह लोग किले में मुगलों द्वारा घेर लिये गये। किले के उन बीस हजार प्राणियों की रक्षा के लिए रानी ने अपना और चम्पतराय का निकल जाना ठीक समझा; पर चम्पतराय ने तभी जाना मंजूर किया जब उनके चले जाने के बाद किले के निवासियों के साथ कोई ज्यादती न हो। सारन्धा ने मुगलों से इस प्रतिज्ञा-पत्र के पाने के लिए छत्रसाल को मुगलों के मुँह में दे दिया और आप पति को लेकर निकल पड़ी, तब उसे बहुत पहले कही हुई अपनी भावज शीतला की बात याद आ गई। कुछ मुगल सिपाहियों ने इनकी डोली का पीछा किया। बीमार चम्पतराय लड़ने को खड़े हुए पर चक्कर खाकर गिर पड़े, तब चम्पतराय ने कहा:—

'प्रिये, तुमने कितने ही अवसरों पर मेरी आन निभाई है।'

'...ईश्वर ने चाहा तो मरते दम तक निबाहूँगी।'

रानी ने समझा राजा मुझे प्राण देने का संकेत कर रहे हैं।

'तुमने मेरी बात कभी भी नहीं टाली।'

सारन्धा—मरते दम तक न टालूँगी।

चम्पतराय—यह मेरी अन्तिम याचना है इसे अस्वीकार न करना।

सारन्धा ने तलवार निकालकर अपने वक्षस्थल पर रख ली और कहा, 'यह आपकी आज्ञा नहीं है, मेरी हार्दिक अभिलाषा है कि मरूँ तो यह मस्तक आपके पदकमलों में हो।'

चम्पतराय—तुमने मेरा मतलब नहीं समझा। क्या तुम मुझे शत्रुओं के हाथ में छोड़ जाओगी कि मैं बेड़ियाँ पहने हुए दिल्ली की गलियों में निन्दा का पात्र बनूँ?

रानी ने जिज्ञासा भरी दृष्टि से राजा को देखा। वह उनका मतलब न समझी।

राजा—मैं तुमसे एक बरदान माँगता हूँ।

रानी—सहर्ष माँगिये।

राजा—यह मेरी अन्तिम प्रार्थना है। जो कुछ कहूँगा करोगी?

रानी—सिर के बल करूँगी।

राजा—देखो तुमने बचन दिया है। इनकार न करना।

रानी—काँप कर, आपके कहने की देर है।

राजा—अपनी तलवार मेरी छाती में चुभा दो।

रानी के हृदय पर वज्रपात-सा हो गया। बोली, 'जीवननाथ...' इसके आगे वह कुछ और न बोल सकी, आँखों में नैराश्य छा गया।

राजा—मैं बेड़ियाँ पहनने के लिए जीवित नहीं रहना चाहता।

रानी—मुझसे यह कैसे होगा।

राजा का पाँचवाँ और अन्तिम सिपाही धरती पर गिर पड़ा। राजा ने झुँझला कर कहा, 'इसी जीवट पर आन निभाने का गर्व था?'

बादशाह के सिपाही राजा की तरफ लपके। राजा ने नैराश्य-पूर्ण भाव से रानी की ओर देखा। रानी क्षण भर अनिश्चित रूप से खड़ी रही। लेकिन संकट में हमारी निश्चयात्मक शक्ति बलवान हो जाती है। निकट था कि सिपाही राजा को पकड़ लें कि सारन्धा ने दामिनी की भाँति लपककर अपनी तलवार राजा के हृदय में चुभा दी।

प्रेम की नाव प्रेमसागर में डूब गई। राजा के हृदय से रुधिर की धारा निकल रही थी पर चेहरे पर शान्ति छाई हुई थी।

बादशाही सिपाही सारन्धा का यह साहस और धैर्य देखकर दंग रह गये। सरदार ने आगे बढ़कर कहा, 'रानी साहिबा, खुदा गवाह है, हम सब आपके गुलाम हैं। आपका जो हुक्म हो ब-सरो-चश्म बजा लावेंगे।'

सारन्धा ने कहा—अगर हमारे पुत्रों में से कोई जीवित हो तो ये दोनों लाशें उन्हें सौंप देना।

यह कहकर उसने वही तलवार अपने हृदय में चुभा ली। जब वह अचेत होकर धरती पर गिरी तो उसका सिर राजा चम्पतराय की छाती पर था।'

कितना जोश और वीरता से भरा हुआ कथानक है। मर्यादा के लिए सारन्धा ने जो कर दिखाया है वह किस स्त्री से हो सकता है। पति की छाती में तलवार चुभा दे कितनी अनहोनी-सी बात मालूम होती है वह सारन्धा ही कर सकती है। इस कहानी में प्रेमचन्दजी ने अपनी कुशल लेखनी से सारन्धा का जो अमर चित्र चित्रित किया है वह भारतीय गौरव की एक ही चीज है। सन् १९१७ के 'जैन हितैषी' में यह कहानी प्रकाशित हुई थी।

ऐतिहासिक कहानियों में प्रेमचन्दजी चरित्र चित्रण को प्रधानता देते हैं, कहीं-कहीं तो वह कथानक इत्यादि अन्य सब वस्तुओं से अधिक प्रधान हो जाता है। 'राजा हरदौल' भी ऐसी ही वीरता की गाथा है जिसमें वीर हरदौल अपनी भावज के सतीत्व को निष्कलंक सिद्ध करने के लिए अपने भाई का दिया हुआ विष का बीड़ा खा लेता है। 'शतरंज के खिलाड़ी' कहानी, प्रेमचन्दजी की दो ही चार कहानियों में से है पर उसकी इतनी अधिक ख्याति का कारण उसकी ऐतिहासिकता उतनी नहीं जितनी व्यंगात्मकता। मिरजा जी और मीर साहब विलासिता के रंग में ऐसे डुबे हुए हैं कि नवाब साहब को अँग्रेजी सेना पकड़ ले जाती है और उनका मन मैला तक नहीं होता। अपनी शतरंज

की बाजी से वे गर्दन तक नहीं उठाते। यही दोनों शतरंज के एक वजीर के पीछे लड़ बैठते हैं। अपने बादशाह के लिए जिनकी आँखों से एक बूँद आँसू न निकला उन्हीं दोनों प्राणियों ने शतरंज के वजीर की रक्षा में प्राण दे दिये। जब ऐसे-ऐसे राजकर्मचारी थे तो वाजिदअलीशाह का राज क्यों न एक कतरा खून बहे बिना छिन जाता। 'परीक्षा' और 'वज्रपात' नादिरशाह के समय की कहानियाँ हैं जो यह दिखलाती हैं कि नादिरशाह के कठोर हृदय में एक कोमल स्थान भी था। 'सती' भी बुन्देलखण्ड की एक रमणी की कहानी है जो अपने पति के शव के साथ सती न हुई थी वरन उसकी वीर आत्मा के साथ सती हुई थी और उसके युद्ध से भागे हुए कायर शरीर का उसने ज़रा भी मोह न किया था जो उसके सामने हाथ जोड़े हुए कहता था कि मैं जीवित हूँ तुम सती क्यों हो रही हो ?

प्रेमचन्दजी की ऐतिहासिक कहानियों में वातावरण बड़ा ही सुन्दर बँधता है। 'शतरंज के खिलाड़ी' का पहला पैराग्राफ़ इसका उदाहरण है। इसमें वाजिदअली शाह के समय के अधःपतन और विलासिता का खाका बड़ा ही सजीव है। वर्णन ऐसे जीते-जागते होते हैं कि एक बार वह समय जैसे वास्तव में ही आँखों के सामने आ जाता है। जैसे 'राजा हरदौल' के द्वन्द्व-युद्ध वर्णन अथवा 'व्रजपात' में नादिरशाह द्वारा कराये हुए कत्लेआम का रोमाञ्चकारी दृश्य।

प्रेमचन्दजी की दूसरी प्रकार की कहानियाँ कल्पना-प्रधान अथवा रोमाण्टिक हैं। इनमें प्रेमचन्दजी कवियों की भाँति कल्पना की उड़ान में सांसारिक तत्वों और सीमाओं के परे तक पहुँच जाते हैं। इन कहानियों में उनकी प्रतिभा प्रखरतम दिखलाई देती है। ऐसी कहानियों में अधिकतर वे जन-श्रुति का आश्रय लेते हैं। किसी ऐसी बात को जो आधुनिक विज्ञान और बीसवीं सदी के लोगों के विचार में अनहोनी एवं अस्वाभाविक बात है। अपनी ओर से कहते हुए वे जैसे झिझकते हैं पर उनकी इस प्रकार की रचनाओं को पढ़कर हम यह साफ़ समझ सकते हैं कि लेखक की इस प्रकार की बातों पर कितनी आस्था है। इन कहानियों में अधिकतर प्रेमचन्दजी पुनर्जन्म की बात कहते हैं अथवा उसी में कहानी का अन्त करते हैं। पुनर्जन्म में प्रेमचन्दजी को काफ़ी विश्वास था यह हम कायाकल्प उपन्यास में वर्णित रानी देवप्रिया के जीवन में देखते हैं जो युवती ही रहती है और उसके तीन जन्म हो जाते हैं। सामुद्रिक शास्त्र इत्यादि पर भी उन्हें विश्वास था, यह जैनेन्द्रजी ने 'हंस' के प्रेमचन्द स्मृति-अंक में अपने लेख 'प्रेमचन्द : मैंने क्या जाना पाया' में लिखा है। एक ऐसी ही घटना का हवाला देते हुए उन्होंने लिखा है : 'प्रेमचन्दजी के मन में यों मूलतत्व अर्थात् ईश्वर के सम्बन्ध में चाहे अनास्था ही हो, लेकिन मानव जाति द्वारा अर्जित वैज्ञानिक हेतुवाद पर और उसके परिणामों पर उनको पूर्ण आस्थायी असम्मान उनके मन में नहीं था। वह कुछ भी हो कट्टर नहीं थे। दूसरों के अनुभवों के प्रति उपेक्षा और सामुद्रिक-शास्त्रों में उनका यथाकिंचित विश्वास ये दोनों वृत्ति उनमें युगवत देखकर मेरे मन में कभी-कभी कुतूहल और जिज्ञासा भी हुई है। लेकिन मैंने जीवन में अब तक इन दोनों परस्पर विरोधात्मक

तत्वों को निभते देखा है। वह अत्यन्त सप्रश्न थे किन्तु तभी अत्यन्त श्रद्धालु भी थे। कई छोटी-छोटी बातों को ज्यों का त्यों मानते और पालते थे। कई बड़ी-बड़ी बातों में साहसी सुधारक थे।' सामुद्रिक-शास्त्र के विषय में जैनेन्द्रजी से उन्होंने कहा था: 'इतने लोग इतने काल से ईमानदारी के साथ इस ओर लगे रहे उनके परिणामों की मैं उपेक्षा करूँ।'...तिब्बत में आज भी ऐसी महान आत्माएँ हैं जो माया का रहस्य खोल सकती हैं।

प्रेमचन्दजी के इस प्रकार के आस्थापूर्ण हृदय से ऐसी अलौकिक रचनाओं का निकलना कुछ असम्भव न था। इस प्रकार की कहानियों में 'कामनातरु' का विशिष्ट स्थान है। इसमें प्रेम है और अलौकिक पुनर्जन्म जो कि प्रेम की शुद्धता और तीव्रता के कारण दो बिछुड़े प्रेमियों के मिलन में सहायक होता है। इन्द्रनाथ और चन्दा इस जीवन में इतना अधिक प्रेम होने पर भी परिस्थितिवश नहीं मिल पाते पर पुनर्जन्म होने पर पक्षियों के रूप में मिलते हैं।

'उसी स्निग्ध अमल चाँदनी में सहसा एक पक्षी आकर उस वृक्ष पर बैठा और डूबे हुए स्वर में गाने लगा। ऐसा जान पड़ा मानो वह वृक्ष सिर धुन रहा हो। वह नीरव रात्रि उस वेदनामय संगीत से हिल उठी। कुँवर का हृदय इस तरह ऐंठने लगा मानो वह फट जायेगा। उस स्वर में करुणा और वियोग के तीर से भरे हुए थे।'

इस जगह लेखक की कितनी अधिक सहानुभूति हम उस पक्षी से देखते हैं। आगे चलकर वही :—

'पक्षी का गाना बन्द हुआ, तो कुँवर को नींद आ गई। उन्हें स्वप्न में ऐसा जान पड़ा कि वही पक्षी उनके समीप आया। कुँवर ने ध्यान से देखा तो वह पक्षी न था, चन्दा थी, हाँ, प्रत्यक्ष चन्दा थी। कुँवर उस पक्षी से पूछता है, क्या मैं पक्षी नहीं हो सकता?

'चन्दा के मरने के कई महीने बाद वही चिड़िया इस पेड़ पर बोलती सुनाई दी...सब लोग कहते हैं कि यही वह चन्दा है। अब भी कुँवर के वियोग में विलाप कर रही है। मुझे ऐसा जान पड़ता है।'...किसान तम्बाकू पीकर सो गया। कुँवर कुछ देर तक खोया हुआ-सा खड़ा रहा, फिर धीरे से बोला, चन्दा क्या सचमुच तुम्हीं हो? मेरे पास क्यों नहीं आती?

एक क्षण में चिड़िया आकर उसके हाथ में बैठ गई। चन्द्रमा के प्रकाश में कुँवर ने चिड़िया को देखा। ऐसा जान पड़ा मानो उसकी आँखें खुल गई हों, मानो आँखों के सामने से कोई आवरण हट गया हो। पक्षी के रूप में भी चन्दा की मुखाकृति अंकित थी।

'दूसरे दिन किसान सोकर उठा, तो कुँवर की लाश पड़ी हुई थी।

'उसी झोपड़े में पक्षियों के एक जोड़े ने अपना घोंसला बनाया है। दोनों साथ साथ दाने चारे की खोज में जाते हैं, साथ-साथ आते हैं। रात को दोनों उसी वृक्ष की डाल पर बैठे दिखाई देते हैं! उनका सुरम्य संगीत रात की नीरवता में दूर तक सुनाई देता है। वन के जीव-जन्तु यह स्वर्गीय गान सुनकर मुग्ध हो जाते हैं।

'यह पक्षियों का जोड़ा कुँवर और चन्दा का जोड़ा है। इसमें किसी को सन्देह नहीं है।

'एक बार व्याध ने इन पक्षियों को फँसाना चाहा, पर गाँववालों ने उसे मार कर भगा दिया।' —'कामनातरु।'

इस कहानी में कई जगह अलौकिकता आ जाने पर लेखक 'ऐसा जान पड़ा' या 'मानो' का प्रयोग करके आधुनिक समालोचक की फटकार से बचना चाहता है पर अन्त में उसकी सहानुभूति इस मात्रा पर पहुँच जाती है कि वह ठीक सामने आ जाता है, अपने को छिपा नहीं पाता।

प्रेमचन्दजी की इस प्रकार की रचनाओं में एक कहानी और सुन्दर है। इसमें एक साँप एक लड़की से प्रेम करता हुआ दिखलाया जाता है, जब-जब इस लड़की का ब्याह होने को होता है, तो वही साँप वर को काट लेता है। कई बार ऐसा होता है, अन्तिम वर लड़की को बाहर ले जाकर उससे विवाह कर लेता है। एक दिन लौटने पर उसे वह साँप लड़की के पास बैठा दिखलाई देता है। वह पिस्तौल लाकर साँप को मार डालता है तब वह लड़की साँप की भाँति क्रोध दिखलाती है और अपने पति पर सिर को फन की तरह पटकती है। बाद में वह स्वस्थ होती है।

इस कहानी में भी इस प्रकार साँप का सब कुछ समझना और एक लड़की के जीवन में इस प्रकार प्रवेश कर जाना, एक अलौकिक चीज़ ही लगती है। 'मूठ' भी ऐसी ही जादू-टोने की एक मनोरञ्जक कहानी है।

इस प्रकार की कहानियाँ लेखक की मनोभावनाओं के साथ चलने पर ही अच्छी लग सकती है, तर्क बुद्धि द्वारा उनका रसास्वादन नहीं हो सकता। अधिकतर इन कहानियों में प्रेम की ही भित्त रहती है।

तीसरी प्रकार की कहानियाँ सामाजिक हैं। इनके दो विभाग हैं। एक नागरिक जीवन सम्बन्धी और दूसरी ग्रामीण जीवन का चित्र खींचनेवाली। प्रेमचन्दजी भारतीय सभ्यता और संस्कृति के उन्नायक हैं, अंग्रेजी ढंग और चाल-ढाल उन्हें नहीं रुचता। शहर के जिन लोगों ने साहबी ठाठ के फेर में आचार-विचार और धर्माचरण को तिलाञ्जलि दे दी है उनके साथ प्रेमचन्दजी की पटरी नहीं बैठती। इसके माने यह न समझ लिये जायँ कि वे रूढ़ियों के पोषक हैं। इनके विरुद्ध तो अपनी रचनाओं में उन्होंने सदा ही आवाज बुलन्द की है। वे समाज में सुधार चाहते हैं लेकिन उसी हद तक जहाँ तक वह किसी की नकल करने के लिए न किया जाय बल्कि जो देश की वास्तविक उन्नति के लिए हो। नगर के लोगों में प्रेमचन्दजी को वे ही लोग जँचते हैं और उनकी लेखनी की सहानुभूति पाते हैं जो बिलकुल साहब नहीं हो गये हैं और अपने गरीब हिन्दुस्तानी भाइयों को काला आदमी नहीं समझते बल्कि उनसे भी सहानुभूति रखते हैं।

नगर के लोगों में उनकी कहानियों के पात्र सभी श्रेणियों और स्थानों से चुने जाते हैं। बड़े घर के लोगों की सफाई करने और उनकी जूठन पर बसर करनेवाले मेहतर

से लेकर रईसों के पाखानों से भी बदतर कोठरियों में मृत से भी बदतर होकर जीवितों की संज्ञा पानेवाले मिलों के मजदूर, साहबों की घुड़कियों से परेशान दफ्तरों के बाबू, सच को झूठ और झूठ को सच बनानेवाले वकील, मरीजों के बल पर ही ऐश करनेवाले पर उनके समय पर अपने आमोद और प्रमोद का एक क्षण के लिए भी न छोड़नेवाले डाक्टर, गरीबों का रक्त चूसकर मोटे होनेवाले महाजन, मिल मालिक, रईस, लम्बी तन्खवाह पानेवाला हुक्काम, राजा-महाराजा, कभी घी घना, कभी मुट्ठी भर चना और कभी वह भी मना की होनी से बेजार, दस रोज भूखे और एक रोज लड्डू पर रहनेवाले ब्राह्मण सभी उनकी कहानियों में आते हैं और प्रशंसा की बात यह है कि प्रेमचन्दजी की लेखनी सबके प्राणों तक पहुँचती है, सबका वास्तविक चित्रण करती है, किसी की बोलचाल और रहन-सहन अस्वाभाविक नहीं मालूम होती। स्त्री पात्र भी इतने ही विस्तृत क्षेत्र से चुने गये हैं...बच्चों को दूध पिलानेवाली धाय, बबुआइनें, रानी-महारानी, नई फैशनवाली मेम साहब इत्यादि ऊपर बताये हुए सम्पूर्ण वर्ग की स्त्रियाँ सभी इन कहानियों में आती हैं।

इस प्रकार की कहानियाँ प्रेमचन्दजी की सबसे अधिक हैं, एक से एक बढ़कर गृहकलह सम्बन्धी कहानियाँ, बँटवारे व मुकदमों की कहानियाँ, मातृस्नेह की कहानियाँ, एक से एक सुन्दर हैं। दो पत्नी रखनेवाले पति पर प्रेमचन्दजी का क्रोध स्वभाव से ही उमड़ आता है। इसी प्रकार सौतेली माँ के अत्याचारों की कहानियाँ हैं जैसे 'गृह कलह।'

'गृहकलह' में कैसे-कैसे वाक्य बाण छोड़ जाते हैं, कमजोर, आश्रित पर कैसे अत्याचार किये जाते हैं इनका प्रेमचन्दजी बड़ा सुन्दर वर्णन करते हैं। सौतेली माँ का हृदय देखिये :—

'सत्यप्रकाश खुशी से फूला न समाता। मेरी नई अम्मा आवेंगी।...सत्यप्रकाश ने नई माता को देखा और मुग्ध हो गया। बच्चे भी रूप के उपासक होते हैं। एक लावण्यमयी मूर्ति आभूषणों से लदी सामने खड़ी थी। उसने दोनों हाथों से उसका आँचल पकड़ कर कहा...अम्मा।

'कितना अरुचिकर शब्द था, कितना लज्जायुक्त, कितना अप्रिय। वह ललना जो देवप्रिया नाम से सम्बोधित होती थी, उत्तरदायित्व, त्याग और क्षमा का सम्बोधन न सह सकी। अभी वह प्रेम और विलास का सुख स्वप्न देख रही थी, यौवनकाल की मन्द वायु-तरङ्गों में आन्दोलित हो रही थी, इस शब्द ने उसके स्वप्न को भंग कर दिया। कुछ रुष्ट होकर बोली—मुझे अम्मा मत कहो।

'सत्यप्रकाश ने विस्मित नेत्रों से देखा। उसका बालस्वप्न भंग हो गया। आँखें डबडबा आईं। नानी (नई) ने कहा, बेटी देखो लड़के का दिल छोटा हो गया। वह क्या जाने क्या कहना चाहिए। अम्मा कह दिया तो तुम्हें कौन-सी चोट लग गई ?

'देवप्रिया ने कहा मुझे अम्मा न कहे।'

इस जगह भोले भाले बच्चे की सरलता, नानी की यद्यपि वह भी सौतेली माँ

की माँ है, विशाल हृदयता और सौतेली माँ की कठोरता को लेखक कैसा चित्रित करता है। दूसरे स्थान पर जब माँ आई दूसरी तो बाप हुआ तीसरे का उदाहरण कितना सुन्दर स्वाभाविक है : सत्यप्रकाश चुपके से आया और बच्चे (सौतेले भाई) का ओढ़ना हटाकर उसे अनुरागमय नेत्रों से देखने लगा। उसका जी कितना चाहा कि उसे गोद में लेकर प्यार करूँ, पर डर के मारे उसने उसे उठाया नहीं, केवल कपोलों को चूमने लगा। इतने में देवप्रिया निकल आई। सत्यप्रकाश को चूमते देखकर आग हो गई। दूर ही से डाँटा, हट जाओ वहाँ से। -

सत्यप्रकाश दीन नेत्रों से माता को देखता हुआ बाहर निकल आया।

सन्ध्या के समय उसके पिता ने पूछा, तुम लल्ला को क्यों रुलाया करते हो ?

सत्य०—मैंने तो उसे कभी नहीं रुलाया। अम्मा खेलाने नहीं देती।

देव०—झूठ बोलते हो, आज तुमने बच्चे को चुटकी काटी।

सत्य०—जी नहीं, मैं तो उसकी चुम्मियाँ ले रहा था।

देव०—झूठ बोलता है।

देवप्रकाश को (पिता) क्रोध आ गया। लड़के को दो तीन तमाचे लगाये, पहली बार यह ताड़ना मिली, और निरपराध। इसने उसके जीवन की काया पलट कर दी।

नागरिक जीवन और समाज पर टिप्पणी करती हुई उन्होंने एक से एक सुन्दर कहानियाँ लिखी हैं। उनकी एक कहानी है 'मंत्र' उसके कथानक द्वारा उन्होंने आधुनिक और प्राचीन चिकित्सक की वृत्तियों में तुलना की है। किस प्रकार आधुनिक चिकित्सक पैसेवालों के चक्कर में हो गया है इस कारण बिना पैसेवालों की आवाज़ उसके कान तक नहीं पहुँचती। भारतीय चिकित्सक के कार्य में सेवा का पुट रखा गया था वह चाहे मरता ही क्यों न हो आर्त रोगी की पुकार पर दौड़ पड़ेगा। सामने की परसी थाली सरका देगा, आधुनिक डाक्टर अगर पैसेवाला मरीज़ न हो तो अपना आमोद-प्रमोद और खेल का समय उसे नहीं दे सकता चाहे वह जीवन की अंतिम साँसें ही क्यों न ले रहा हो। 'मंत्र' कहानी का कथानक यों है :—

डाक्टर चड्ढा के गोल्फ खेलने जाने के वक्त एक बुड्ढा अपने दम तोड़ते लड़के को लेकर आता है जो उसके जीवन का अन्तिम सहारा है परन्तु वे उसके लाख घिघियाने और पैर पर सिर रख देने पर भी नहीं पसीजते और खेलने चले जाते हैं, लड़के पर एक नज़र भी नहीं डालते।

उसी रात को लड़का बूढ़े माता-पिता को अनाथ करके चला जाता है।

डाक्टर साहब के इकलौते लड़के को साँपों को पालने का शौक है। एक रात को एक घटना-विशेष हो जाने पर एक जहरीला साँप उसे डस लेता है। डाक्टर साहब के यहाँ कोहराम मच जाता है, वे लड़के को नहीं बचा पाते झाड़ने-फूँकने वाले आते हैं

पर वे भी कुछ नहीं कर पाते। वही बुड्ढा भगत साँप झाड़ने में एकता था, यह खबर पाता है तो उस दिन की याद आती है जब डाक्टर चड्ढा ने उसके साथ कसाई का-सा व्यवहार किया था, सोचता है नहीं जाऊँगा। पर अपने धर्म को याद करके मन में द्वन्द्व मच जाता है। आज तक कभी उसने ऐसा नहीं किया। किसी को साँप काटे सुनकर वह रातों-रात चल पहुँचता है। आखिर धर्म की शैतान पर विजय होती है, वह जाता है और बुड्ढा लड़के को अच्छा कर देता है। जब डाक्टर उसे कुछ देने की सोचते हैं तो वह वहाँ से खिसक जाता है। डाक्टर उसे पहचान जाते हैं और पश्चात्ताप करते हुए उस दिन से अपनी नीति बदल देते हैं।

इस प्रकार प्रश्चात्ताप की प्रतिक्रिया भावना पर उन्होंने बहुत-सी कहानियाँ लिखी हैं। अक्सर लोग कोई एक सनक या भावना लिये हुए एक विशेष प्रकार से कार्य करते चले जाते हैं। इस बात की ज़रा-सी पर्वाह नहीं करते कि किसी को इससे दुख होगा या सुख, जीवन में एक ऐसी घटना हो जाती है कि उन्हें अपनी उस गलती का भान होता है और वे उसी क्षण से अपने जीवन का रुख बदल देते हैं। उनकी बहुत-सी ग्रामीण और नागरिक कहानियों की तह में मनोविज्ञान की यह सीधी-सी गुत्थी दिखलाई पड़ती है। 'शंखनाद' का रंगीला गुमान कमाने की बात सोचता ही नहीं, लाख कोई कहे उसके कान पर जूँ नहीं रैंगती पर एक रोज बच्चे के मिठाई के लिए मचलने पर जब उसकी स्त्री बच्चे को मार बैठती है तो उसके दिल पर चोट लगती है और वह उसी दिन से अपनी गतिविधि को बदलने का निश्चय कर लेता है।

'विचित्र होली' के सेठजी सदा से कांग्रेस के विरोधी हैं और अँग्रेजों के मित्र, पर एक रोज जिलाधीश के हंटर खाकर उसकी जीवनधारा का रुख बदल जाता है।

इसी प्रकार नागरिक जीवन में सुधार सम्बन्धी बहुत-सी कथाएँ हैं, कहीं विधवा-विवाह है तो कहीं वेश्या-उद्धार, कहीं भाई-भाई के झगड़े हैं तो कहीं अँग्रेजी तरीकों पर चलनेवालों की छीछालेदर। एक से एक सुन्दर रत्न इन कहानियों में हैं। प्रेमचन्दजी की तारीफ जीवन को समझने की है और उसमें परिवर्त्तन लाने के लिए परिस्थितियों का जुटाना वे बड़ा अच्छा जानते हैं, यह उनकी कहानियों की उत्कृष्टता का एक खास कारण है।

[शेष अगले अङ्क में]

*

ज्ञानदान

●

[यशपाल]

महर्षि दीर्घलोम प्रकृति से ही विरक्त थे। गृहस्थ-आश्रम में वे केवल थोड़े समय के लिए ही रह पाये। उस समय ऋषि-पत्नि ने एक कन्यारत्न प्रसव किया था। महर्षि भ्रम और मोह के बन्धनों को ज्ञान की अग्नि में भस्म कर वैराग्य साधना द्वारा मुक्ति पाने के लिए नर्मदा तीर पर आश्रम में आ बसे। पुत्री को साथ ले, ऋषिपत्नि भी उन्हीं के समीप एक पर्णकुटी में आ रहीं। भक्ति से ऋषिपति की सेवा कर, उनके ज्ञान के प्रकाश में, जीवन के दुरूह दुःख-माया के भँवर से वे मुक्ति पाने की आशा करने लगीं।

गृहस्थ के माया बन्धन के कीचड़ में आत्मा को सानकर फिर तपश्चर्या द्वारा मुक्ति की साधना करने की अपेक्षा उन्होंने कन्या को आरम्भ से ही तप और त्याग द्वारा मुक्ति के मार्ग की दीक्षा दी। वन्यलता-द्रुमों और तपोवन के पशु-पक्षियों के संग में पली हुई ब्रह्मचारिणी सिद्धि को शारीरिक और मानसिक वासना से कोई परिचय न था। महर्षि के आश्रम के नियमों के अनुसार आत्मा मुख्य और शरीर गौण था। ब्रह्मचारिणी सिद्धि अपने शारीरिक विकास से उन्मुख होकर आत्मा को पहचानने में ही तत्पर रहतीं।

ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए वे छब्बीस वर्ष की आयु तक पहुँच गईं। उनके शिर के लम्बे केशों ने अलंकार और प्रसादन के साधनों का स्पर्श कभी न किया। उपेक्षा से पीठ पर फेंके हुए उनके कचकेशों की शोभा थी केवल नर्मदा नदी के जल में स्नान करते समय उनमें उलझ गये अबरक के कण! उनके मस्तक पर प्रातः स्नान के चिह्न-स्वरूप नदी पुलिन के त्रिपुण्ड की खौर रेखा विद्यमान रहती। शरीर का बोझ बनते हुए उनके कठिन उरोज केले की छाल में पीठ पीछे बँधे रहते। कमर से नीचे का भाग मृगचर्म से ढँका रहता। ऋषि उपदेश के अनुसार शारीरिक आवश्यकताओं को आत्मा का शत्रु समझकर वे उनका दमन करती थीं। प्राणायाम द्वारा समाधि लगाकर मन और इच्छाओं को रोकना उनके लिए सुख था। सुख की अनुभूति की इच्छा को सदा पाप समझ, एक चिरन्तन सुख की कल्पना वह सदा करतीं। वह सुख था, सुख की इच्छा का न होना। वे ब्रह्मचारिणी थी; उनका जीवन था संयम!

महर्षि का आश्रम नर्मदा तट पर पर्वतों की गुफाओं से घिरी भूमि में था। गंगा, यमुना, गोदावरी और हिमालय तक के तपोवनों में महर्षि दीर्घलोम के अनासक्ति-योग की चर्चा थी। उनके यहाँ कर्मकाण्ड का महत्व था केवल वैराग्य साधना के लिए।

उनका उपदेश था : कर्मों और संस्कारों के बन्धनों में फँसी मनुष्य की आत्मा माया के आकर्षण से निर्बल होकर जीवन और मृत्यु के बन्धन में दुख पाती है। दुख से मुक्त होकर शाश्वत आनन्द की प्राप्ति का मार्ग है कर्म और संस्कार के बन्धनों से आत्मा को मुक्त करना। मनुष्य जीवन का उद्देश्य है आनन्द की प्राप्ति। आनन्द का अर्थ है मुक्ति!

महर्षि दीर्घलोम अनासक्ति के परम ध्येय में विश्वास करते थे। उनका उपदेश था ; संग से मोह उत्पन्न होता है, मोह से काम, काम से क्रोध और क्रोध से बुद्धि विभ्रम हो जाती है। बुद्धि विभ्रम ही सर्वनाश है। महर्षि परम ज्ञानी और वेदाग्दाता थे। अमरत्व का ज्ञान प्राप्त करने के लिए जिज्ञासु ब्रह्मचारियों का दल उनके चारों ओर बना रहता था। दूर-दूर से राजा और ऋषि अनासक्तियोग का उपदेश लेने वहाँ आते। चातुर्मास आने पर अनेक परिव्राजक संन्यासी भी आश्रम में आ टिकते।

चातुर्मास आरम्भ होने पर आश्रम में निवास करने के लिए आनेवाले परिव्राजक ऋषियों में ब्रह्मचारी नीड़क भी आये। ब्रह्मचारी नीड़क को यौवन से पूर्व ही ज्ञान लाभ हो गया था। सांसारिक मोह जाल में न फँसकर उन्होंने ब्रह्मचर्य से ही वैराग्य का मार्ग ग्रहण कर लिया। आयु अधिक न होने पर भी उनका ज्ञान और योग परिपक्व था। विषयों की निस्सारता के तत्व को ज्ञान-चक्षु द्वारा पहचानकर उन्होंने परम सत्य ब्रह्म का सान्निध्य प्राप्त कर लिया था। अनासक्ति और समाधि द्वारा मर्त्यलोक और ब्रह्मलोक में उनका समान अधिकार था। वे एक ही समाधि में तीन और चार दिन तक बैठे रहते। एक समय समाधि अवस्था में एक गौरैया ने उनकी जटा में नीड़-घोंसला बनाने का यत्न किया था, तब से उनका नाम 'नीड़क' पड़ गया और उनकी समाधि की शक्ति की महिमा दसों दिशाओं में फैल गई।

महर्षि दीर्घलोम ने ब्रह्मचारी नीड़क की अभ्यर्थना की और उनसे प्रार्थना की कि अपने अलौकिक ज्ञान की शक्ति द्वारा उन लोगों का अज्ञान दूर करें जो ज्ञान योग के नाम पर तर्क का आश्रय ले अपनी वासना को बुद्धि की पैंतराबाजी द्वारा तृप्त करने की चेष्टा करते हैं।

यज्ञ-कुण्ड में सुलगते हुए घृत, सुगन्धित समिधाओं और मूलों के पुनीत धूम से आश्रम का वातावरण सुवासित हो रहा था। बनैली मालती और पाटल के फूलों की सुगन्ध की लहरें बन प्रान्त से आकर उस सुगन्ध को अधिक रुचिकर बना रही थीं। आश्रम के विशाल वट वृक्ष के नीचे ऋषिवृन्द ब्रह्मचारी नीड़क का प्रवचन सुनने के लिए एकत्र हुए थे। कुछ वृद्ध तपस्विनियाँ और ऋषिपुत्री सिद्धि बाईं ओर बैठी हुई थीं।

ऋषियों की अभ्यर्थना में फैले हुए चारु की बलि का भोजन पाकर आश्रम निवासी मृग तृप्ति से किल्लोलें कर रहे थे और वृक्षों की टहनियों पर बैठे पक्षी अपने पंखों को चोंच से सहलाकर कलरव कर रहे थे। परन्तु ज्ञान-धनि ऋषि लोग इन सब सांसारिकताओं से विरक्त हो ब्रह्मचारी नीड़क द्वारा चिरन्तन अविनाशी सुख की प्राप्ति पर प्रवचन सुन रहे थे।

ब्रह्मचारी नीड़क का मुख-मण्डल जटाजूट और श्मश्रु दाढ़ी मूँछ से ढँका हुआ था। उनके मस्तक पर नर्मदा के पुलिन का खौरा त्रिपुण्ड शोभायमान था। उनके नेत्रों से सजीव उग्रता की ज्योति निकल रही थी ; उनमें साहस और आत्म-विश्वास था। उनके लोमपूर्ण विशाल वक्षस्थल से क्षीण कटि पर मूँज का यज्ञोपवीत लटक रहा था। तपस्या से क्षीण उनके उदर पर त्रिवलि पड़ रही थी। कटि से नीचे उनके शरीर का भाग मूँज के एक वस्त्र से ढँका था। पद्मासन की मुद्रा में बैठ वे चार घड़ी तक प्रवचन करते रहे। उन्होंने कहा—तर्क बुद्धि की शक्ति है और बुद्धि संस्कारों से आवेष्टित है। हमारी इच्छा और वासना हमारे तर्क का मार्ग निश्चित करती हैं। इसलिए तर्क प्रायः प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से वासना के मार्ग का प्रतिपादन करने लगता है...'

उन्होंने कहा—ब्रह्मज्ञान अनुभूति द्वारा ही प्राप्त होता है। अनुभूति ही प्रधान है। तर्क भी अनुभूति पर आश्रित है। सृष्टि की कारणभूत शक्ति, प्रत्यक्ष प्रकृति और मनुष्य की अनुभूति यह सब एक हैं। जिस प्रकार वायु के स्पर्श से जल की सतह पर उठनेवाले बुलबुले का अस्तित्व सत्व और सारहीन है, वह क्षण भंगुर है, वह वास्तव में महान जल-राशि का अंश मात्र है ; उसी प्रकार मनुष्य का जीवन संस्कारों के वायु के स्पर्श से ब्रह्म के अपार सागर में उठ जानेवाला बुलबुला मात्र है। जीवन का यह बुलबुला अमर नहीं हो सकता। अमर शाश्वत ब्रह्म ही है। संस्कार का आधार मनुष्य की कल्पना है। यह कल्पना सस्कार रूप वायु से जीवन का बुलबुला खड़ा कर देती है। यह बुलबुला ही अहम् का भाव है—दुःख का कारण है। आत्मा ब्रह्म का अंश है। शरीर ब्रह्म की क्रीड़ा प्रकृति का अंश है। इनके संयोग का अस्तित्व कुछ नहीं। हमारे दुःख और सुख की अनुभूति का कुछ सार नहीं। संस्कारों की वायु से विक्षिप्त जल का पुनः जल में मिल जाना ही आत्मा का ब्रह्म में मिल जाना है। यही निर्वाण है, मुक्ति है, परमपद है। क्षणिक सुख जब नष्ट होते हैं तब दुःख की अनुभूति पैदा होती है। इसलिए वास्तविक सुख क्षणिक सुख को छोड़ चिर सुख जीवन मुक्ति—की साधना में ही है। चिर सुख इच्छाओं को जीतने में है, जिसका मार्ग है समाधि। समाधि शरीर के व्यवधान को पारकर आत्मा से परमात्मा का संयोग कराने का साधन है। शरीर आत्मा का कारागार है। शरीर की सेवा इस कारागार को दृढ़ बनाना है। ज्ञानी व्यक्ति को शरीर की पुकार की चिन्ता न करनी चाहिये। शरीर की चिन्ताओं से मुक्ति पाना परम मुक्ति का मार्ग है।

अपने शब्दों का प्रभाव देखने के लिए ब्रह्मचारी नीड़क की दृष्टि श्रोतृवृन्द के चेहरों पर घूम जाती थी। कुछ समाधिस्थ होकर उपदेशामृत को मनस्थ कर रहे थे। कुछ की दृष्टि जिज्ञासु भाव से वक्ता के मुख की ओर लगी हुई थी।

ब्रह्मचारी नीड़क ने अपनी बाईं ओर देखा। आश्रम की तपस्विनियाँ उस ओर बैठी हुई थीं। यौवन ने उनके शरीर को व्यय करके छोड़ दिया था। जीवन से सुख की कोई आशा शेष न रहने पर जर्जर शरीर की गुफाओं से उनके उत्सुक नेत्र, ब्रह्मचारी के, सुख की सान्त्वना देनेवाले शब्दों को निगले जा रहे थे। उनकी रीढ़ झुक गई थी। बकरे के गले से लटकनेवाले थनों की भाँति, निश्प्रयोजन हो गये उनके स्तन पाल्थी मारे उनके

घुटनों को छू रहे थे। चूसकर फेंके हुए छिलकों के समान वे जीवन की निस्सारता की याद दिला रही थीं।

उन्हीं के बीच बैठी हुई थीं ब्रह्मचारिणी सिद्धि, सुरक्षित यौवन का रूप लिए जो तप की अग्नि में परिपक्व होकर प्रखर और दृढ़ था, बिखरी खाद के बीच उगे हुए सूरज-मुखी के फूल के समान। जटा का जूड़ा उनके सिर पर बँधा हुआ था। उनकी लम्बी पलकें मुँदी हुई थीं। कठोर जीवन के कारण त्वचा पर फैली शुष्कता को भेदकर यौवन का स्निग्ध लावण्य फूटा पड़ता था। उनके वक्षस्थल का उभार कदली की छाल में समेट कर मूँज की रस्सी से पीठ पीछे बँधा हुआ था। मेरुदण्ड को बिलकुल सीधाकर वे समाधि के आसन में बैठी हुई थीं। उनके सुगोल बाहु प्रात: स्नान के चिन्ह धारण किये पद्मासन की मुद्रा में रखे हुए थे। उनके निश्चल शरीर से जीवन की स्फूर्ति की किरणें फूट रही थीं।

ब्रह्मचारिणी सिद्धि की उपस्थिति का प्रभाव ब्रह्मचारी नीड़क पर पड़े बिना न रह सका। अपने प्रवचन में उन्होंने कहा: 'वैराग्य और समाधि के लिए उपयुक्त समय यौवन ही है!...' परन्तु वे थम गये और कुछ सोचकर वे बोले, 'जीवन में जिस समय भी मनुष्य आशक्ति को भ्रम समझ पाये और निवृत्ति से परम सुख का बोध उसे हो जाय, वैराग्य साधना के लिए वृद्धावस्था की प्रतीक्षा करना परम सुख की उपेक्षा करना है।'

उन्होंने कहा, 'वृद्धावस्था में जो निस्तेज इन्द्रियाँ सांसारिक सुख के स्थूल साधनों को प्राप्त करने में असमर्थ हो जाती हैं, वे निर्बल इन्द्रियाँ वायु से भी सूक्ष्म आत्मा को और जल के प्रवाह से भी अधिक प्रबल मनोविकार के वेग को किस प्रकार रोक सकेंगी? वे परम सुख के अत्यन्त सूक्ष्म साधन ज्ञान को किस प्रकार प्राप्त कर सकेंगी?' उस समय उनके कल्पना के नेत्रों के सन्मुख तपस्विनियों के जराजीर्ण, फल्गुमात्र अरुचिकर शरीर नाच रहे थे। उन्होंने कहा, 'वृद्धावस्था का वैराग्य वासना के सन्मुख इन्द्रियों की पराजय है परन्तु यौवन का वैराग्य वासना पर इन्द्रियों की विजय है।' इस समय यौवन का आत्म-विश्वास उनके विशाल वक्षस्थल में उमंग ले रहा था। उन्होंने कहा, 'जिस समय शरीर ओज और स्पन्दन की शक्ति से स्फूर्ति का प्रकाश फैलाता है वही समय वासना से युद्ध करने और ज्ञान उपार्जन तथा कठोर साधना का है।' उस समय उनके कल्पना नेत्रों के सम्मुख सबल श्वास की गति से स्पन्दित ब्रह्मचारिणी का वक्षस्थल था।

प्रवचन समाप्त होने पर ऋषि लोग मध्यान्ह में कन्दमूल का सेवन करने चले गये। परन्तु ब्रह्मचारी नीड़क अपने विचारों में उलझे नदी किनारे पगडण्डी पर चलते हुए नर्वदा तट पर जा, नदी की लहरों का प्रहार सहते हुए एक शिला खण्ड पर जा बैठे। क्षुधा की अनुभूति ने उन्हें स्मरण कराया, यह समय कन्दमूल के सेवन का है। शरीर की उस पुकार की उन्होंने चिन्ता न की। शरीर का कठोर दमन, उसकी पुकार की उपेक्षा ही तपस्या है। उसका एक अत्यन्त सजीव उदाहरण ब्रह्मचारिणी सिद्धि के रूप में उनके सन्मुख था। परन्तु युवती के ध्यान को वे मन में आने देना उचित नहीं समझते थे।

तट के जल की ओर उनकी दृष्टि थी। स्वच्छ जल में किलोल करती हुई मछ-

लियों की ओर देखते हुए और वासना का दमन करने वे दुख से मुक्ति पाने का उपाय सोचने लगे। परन्तु विचारों के क्रम में ब्रह्मचारिणी सिद्धि का समाधिस्थ रूप दिखाई पड़ जाता था, सीधे मेरुदण्ड के आधार पर मस्तक, नासिका, चिबुक, उरोजों की सन्धि और त्रिवलियों में छिपी नाभि सब एक सीधी रेखा में...और मृगचर्म से आवृत्त शरीर के अधोभाग के सन्मुख, संयतभाव से एक दूसरे पर रखी हुई पिण्डलियाँ और एक दूसरे पर रखी हुई हथेलियाँ।

इससे पूर्व भी नारी को उन्होंने देखा था। पलितअङ्ग तपस्विनियों और वस्त्रों से शरीर को लपेटकर राजमार्ग पर चलती हुई पाप और मोह में लिप्त आत्मा, नगर की स्त्रियों को, जिनकी ओर दृष्टिपात करने की इच्छा भी ब्रह्मचारी नीड़क के मन में न हुई थी। परन्तु ब्रह्मचारिणी सिद्धि का समाधिस्थ रूप अनेक बेर उनकी कल्पना की दृष्टि में सन्मुख आ खड़ा होता। उन्हें याद हो आया, ब्रह्मचारिणी अपने नेत्र मूँदे हुए थीं परन्तु अनेक श्रोतृवृन्द ब्रह्मचारी, ऋषि और तपस्विनियाँ एकटक उनकी ओर देख रही थीं। 'वे नेत्र क्यों मूँदे हुए थीं?' उनके मन में प्रश्न उठता था।

'प्रवचन को ध्यान-पूर्वक सुनने के लिए।' स्वयं उन्होंने उत्तर दिया। उसी क्षण विचार आया, सम्भवत: इसलिए कि वे उन्हें देखना नहीं चाहती थी। परन्तु वे उन्हें देखना क्यों नहीं चाहती थीं?...सिद्धि को उनसे क्या भय हो सकता था? स्वयं ही उन्होंने उत्तर दिया, समाधि के लिए वे भी तो नेत्र मूँद लेते हैं, उन्हें किस वस्तु से भय? उत्तर मिला—संसार के दु:खों से मुक्ति पाने के लिए वे नेत्र मूँदकर संसार से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लेते हैं। समाधिस्थ हो जाने के लिए वे शिला-खण्ड पर पद्मासन से बैठ गये। नेत्र मूँद लेने से पूर्व जल में किल्लोल करती हुई मछलियों की ओर देखकर उन्हें ध्यान आया, और यह मछलियाँ...? आकाश को भेदती हुई और नर्मदा की घाटी में गूँजती हुई एक तीखी चिल्लाहट सुनकर ब्रह्मचारी ने आँख उठाकर देखा। नदी पार संगमरमर की, धूप में चमकती हुई शुभ्र चट्टान के कगूरे पर एक चील अपने परों को फैला छाती को चट्टान पर चिपका, ऊपर उड़ते हुए पक्षी की ओर कातर भाव से चोंच उठा चीख रही थी। उसके ऊपर पर फड़फड़ाता हुआ पक्षी व्याकुलता भरी उड़ानें ले-लेकर हृदय से उठी चीखों से चिल्ला रहा था। एक अदृश्य बन्धन दोनों पक्षियों को परस्पर आकर्षित कर रहा था। इस दृश्य से ब्रह्मचारी नीड़क की रोम-राशि सिहर उठी। ध्यान कर उन्होंने सोचा, मन की कौन वृत्ति उन्हें विक्षिप्त कर रही है? उन्होंने निश्चय किया, मनोवेग को वश करने के लिए उन्हें ध्यानमग्न हो जाना चाहिये! परन्तु विचार उठा, क्यों?..सुख की प्राप्ति के लिए?. यह चील और यह मछलियाँ समाधिस्थ क्यों नहीं होते?...जन्म-मरण के बन्धन से, दु:ख से इन्हें भय क्यों नहीं लगता? इनके शरीर में स्थिर आत्मा को मुक्ति की इच्छा क्यों नहीं होती?

उनके विचार ने उत्तर दिया, भ्रम और अज्ञान के कारण यह दु:ख को दु:ख समझ नहीं पाते! इस तर्क ने उनके विचारों में खलबली मचा दी। प्रश्न उठा, दु:ख को

दुःख न समझना भ्रम और अज्ञान है या दुःख से सदा भयभीत हो उससे बचते रहने की चिन्ता करते रहना ज्ञान है ? और फिर प्रश्न उठा, इन जीवों के अज्ञान और भ्रम का कारण क्या है ? क्या यह वासना के दास हैं ? यदि वे वासना के दास हैं तो उनकी यह वासना उतनी ही स्वाभाविक और प्राकृतिक है जितना कि उनका शरीर, उनका अस्तित्व ! और इन जीवों का शरीर और अस्तित्व क्या उनकी अपनी इच्छा या वासना पर निर्भर है ? नहीं, वह तो ब्रह्म की माया या इच्छा है। ब्रह्म की माया और इच्छा के विरुद्ध वे कैसे जा सकते हैं...और, और क्या मनुष्य ही ज्ञानमय ब्रह्म की इच्छा के विरुद्ध जा सकता है ? और क्या उनकी तपस्या और ज्ञान उपार्जन का प्रयत्न और वासना को दमन करने की चेष्टा ब्रह्मशक्ति के कार्यक्रम के विरुद्ध नहीं ?

ब्रह्मचारी नीड़क समाधिस्थ न हो सके। वे सोचते चले गये—भय और पीड़ा इन पशु-पक्षियों के जीवन में भी आती है परन्तु उस दुःख और पीड़ा की आशंका और चिन्तन को ही जीवन का लक्ष्य बनाकर मुक्ति की चिन्ता वे नहीं करते रहते। वे सुख को सुख और दुःख को दुःख, जैसे वे जीवन में सम्मुख आते हैं, ग्रहण कर जीवन की यात्रा पूर्ण कर देते हैं। जीवन की यात्रा समाप्त हो जाने पर, उस मंजिल पर इन जीवों और मनुष्य की आत्मा में क्या कुछ अन्तर रह जायगा...?

सम्मुख शिला-खण्ड पर परों की फड़फड़ाहट औ चीत्कार सुनकर ब्रह्मचारी की दृष्टि उस ओर गई। चील का जोड़ा जन्म और जीवन की शृङ्खला के व्यापार को जारी रखने के प्रयत्न में लगा हुआ था। एक अद्भुत रोमांच की सिहरन से उद्वेग ब्रह्मचारी के शरीर में बल खाकर रह गया; प्रहार के सम्मुख लक्ष्य के हट जाने से जैसे व्यर्थता की व्याकुल अनुभूति होती है।

उन्हें स्मरण हुआ कि वे समाधिस्थ होने जा रहे थे परन्तु समाधि के लिए वह दृढ़ता और उत्साह शेष न रहा था। समाधि के प्रति विरक्ति के भाव ने उठकर कहा, सुख की ही खोज में समाधि द्वारा संसार और जीवन से पराङ्मुख होकर सुख की उपेक्षा करने की प्रवंचना ! वितृष्णा की एक मुस्कान से उनके होठों पर खड़े श्मश्रु के केश तनिक थिरक कर रह गये। उनकी ग्रीवा पराजय के से भाव में एक ओर झुक गई। एक साँस खींचकर उन्होंने कहा, जीवन के क्रम का विरोध जीवित रह कर !

विचारों की भूल-भुलैया में भूलकर ब्रह्मचारी नीड़क को क्षुधा और समय का कुछ ध्यान न रहा। सूर्य आकाश के मध्य से पश्चिम की ओर ढलता चला जा रहा था। ब्रह्मचारी नीड़क के मानव मस्तिष्क के अतिरिक्त विशाल प्रकृति का शेष व्यापार गति के प्रवाह में स्वाभाविक रूप से बहता चला जा रहा था।

नदी के जल में सहसा विलोड़न का शब्द सुन उन्होंने गर्दन को बाँई ओर घुमाकर देखा। एक स्थान पर जल की लहरें केन्द्राकार फैलती हुई कुछ दूर जाकर जल में विलीन हो रही थीं। समीप ही तट पर मृगचर्म और कमण्डल रखे हुए थे। 'कौन ?' और 'कैसे' यह प्रश्न मस्तिष्क में उठने से पहले ही फैलती हुई लहरों के वृत्त के मध्य से, फैले

हुए भीगे कृष्ण केशों से ढँका सिर जल के ऊपर उठा। दो हाथों ने उन फैले हुए केशों के बीच से चेहरे को बाहर किया। जल की वृत्ताकार लहरें नये सिरे से एक बार और फैलने लगीं। नीड़क ने देखा, वह आकृति ब्रह्मचारिणी सिद्धि की थी। ब्रह्मचारिणी के श्मश्रु-हीन मुख की कोमलता से ब्रह्मचारी के शरीर में बिजली-सी कौंद गई। कन्धों तक जल में खड़ी ब्रह्मचारिणी, डुबकी ले अपने शरीर का प्रक्षालन कर रही थीं। उनके अङ्गों के हिलने से नर्मदा का जल क्षुब्ध हो रहा था और उस दृश्य से, उसी मात्रा में ब्रह्मचारी के शरीर का रक्त।

ग्रीवा एक ओर झुकाये ब्रह्मचारी नीड़क उस ओर देखते रहे। स्नान कर ब्रह्मचारिणी सिद्धि तट की ओर चलीं। तट की ओर उठते हुए प्रत्येक पद से उनका शरीर क्रमशः जल के बाहर होता जाता था। ब्रह्मचारी नीड़क की दृष्टि निरंतर उसी ओर थी। विचारों के क्षोभ से उनके श्वास की गति तीव्र हो उठी। हृदय से उठकर जिह्वा पर आये उद्वेग को वे निगल जाने का प्रयत्न कर रहे थे।

अपने यौवन के धन की शत्रु, मनुष्य की दृष्टि, से सुरक्षित उस स्थान में, जल के आवरण से निकल ब्रह्मचारिणी अपने शरीर को दूसरे आवरणों में सुरक्षित करने लगीं। उन्होंने कटि पर मृगचर्म को मूँज की मेखला से बाँधा और उन्नत वर्तुल उरोजों को कदली वल्कल के वर्तुल में छिपा, मूँज की रस्सी से पीठ के पीछे बाँध दिया। मानो तप साधना के शत्रुओं को परास्त कर उन्होंने बन्दी बना दिया।

नदी जल से कमण्डल भर उन्होंने पश्चिम क्षितिज पर, अनेक रंग के मेघों से घिरे सूर्य देव का तर्पण किया। और वे आश्रम की ओर चलीं। उसी समय उन्होंने सुना—'ब्रह्मचारिणी !'

चौंककर उन्होंने अपने बाईं ओर देखा। लम्बे कदम भरते हुए ब्रह्मचारी नीड़क उनकी ओर आ रहे थे। ब्रह्मचारिणी ने नत शिर होकर प्रणाम किया और उसी समय, यह स्मरण कर उनका शरीर झन्ना उठा—उन्होंने जिस स्थान को मनुष्य की दृष्टि से निरापद समझा था...। जैसे हरी घास में छिपे साँप पर पैर पड़ जाने से शरीर झन्ना उठता है...शायद उससे भी भयंकर..।

ब्रह्मचारिणी सिर झुकाये आज्ञा की प्रतीक्षा कर रही थीं। ब्रह्मचारी की तीव्र दृष्टि ब्रह्मचारिणी की संकुचित, मूक, संयत मुद्रा की ओर थी। उनके मुख से शब्द निकल न पाते थे। तरल स्वर में उन्होंने पूछा, 'ब्रह्मचारिणी जीवन का उद्देश्य क्या है ?'

उत्तर मिला—जीवन के बन्धन से मुक्ति !

ब्रह्मचारिणी के मुख पर दृष्टि केन्द्रित कर उन्होंने पूछा—जीवन का प्रयोजन क्या स्वयं उसका अपना नाश करना ही है ?...और जीवन है क्या ब्रह्मचारिणी ?

कुछ क्षण मूक रहकर ब्रह्मचारिणी ने उत्तर दिया—महर्षि के प्रवचन में यह प्रसंग कभी नहीं आया। ज्ञाननिधि, आप इस प्रश्न का समाधान कीजिये।

हल्की मुस्कराहट से ब्रह्मचारी के श्मश्रु थिरक उठे परन्तु ब्रह्मचारिणी की दृष्टि नर्मदा के पुलिन पर थी। नीड़क बोले—शंका उत्पन्न करके उसका समाधान करना, दुख की कल्पना कर उससे निर्वाण का उपाय ढूँढना, क्या यही जीवन का उद्देश्य है ? ब्रह्मचारिणी, जीवन की प्रवृत्ति और गति ने क्या कभी तुम्हें स्वाभाविक मार्ग की ओर नहीं पुकारा ?

कुछ क्षण मूक रहकर ब्रह्मचारिणी ने उत्तर दिया—ज्ञान निधि, मेरा तप अपूर्ण है। मेरी आत्मा को अभी ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो पाया ?

आँख मूँदकर जिस ब्रह्म की खोज की जाती है ब्रह्मचारिणी उसके विषय में प्रश्न नहीं कर रहा हूँ। ब्रह्मचारी ने कहा—प्रत्यक्ष अनुभव में जो जीवन आता है, उसी की बात कह रहा हूँ।

प्रश्न का भाव ठीक से न समझकर, नेत्र झुकाये हुए ही ब्रह्मचारिणी ने निवेदन किया—ऋषिवर का तत्व मैं ग्रहण नहीं कर पायी ! जीवन क्या है ?

दीर्घ निश्वास लेकर ब्रह्मचारी ने उत्तर दिया—नर्मदा का बहता जा रहा प्रवाह उसका जीवन है। यदि प्रवाह की गति का अवरोध कर इसे उद्गम की ओर प्रवाहित करने की चेष्टा की जाय तो...यदि यह नदी प्रवाह को दुःख समझकर गति-निरोध द्वारा प्रवाह से मुक्ति प्राप्त करना चाहे ..?

ब्रह्मचारिणी सिद्धि ने अंजलिबद्ध करों से विनय की—ऐसा अगम ज्ञान केवल तपोपुंज भविष्य-द्रष्टा ऋषि लोगों को ही प्राप्त हो सकता है। ज्ञान-धन, मेरा आत्मा ज्ञान हीन और निर्बल है।

जीवन की इच्छा को ही तुम निर्बलता समझती हो शायद, ब्रह्मचारिणी ! उसे वासना का नाम दे, अपनी सम्पूर्ण शक्ति से जीवन का हनन करने का यत्नकर दुःख को सुख और सुख को दुःख मानने का यत्नकर तुम भूल जाना चाहती हो, जीवन क्या है ?

रक्त के वेग से ब्रह्मचारी के शरीर में अनुभव होनेवाली उत्तेजना का ज्ञान, सम्पर्क के अभाव में, ब्रह्मचारिणी के लिए सम्भव न था परन्तु ब्रह्मचारी के प्रातः प्रवचन के समय के स्थिर गम्भीर स्वर में और इस समय के स्वर के तरल-कम्पन में ब्रह्मचारिणी अन्तर अनुभव कर रही थीं। कारण समझे बिना ही एक मधुर मूढ़ता ब्रह्मचारिणी के मस्तिष्क में प्रवेश करती जा रही थी। बद्ध-अंजलि हो उन्होंने विनय की ज्ञानधन, ज्ञानदान दीजिये !

'ज्ञान ?' एक दीर्घ निश्वास ले ब्रह्मचारी नीड़क ने नदी पार के उत्तुङ्ग संगमरमर के शुभ्र शिला-खण्डों की ओर दृष्टि उठाई। चील की जोड़ी अपने जीवन की शक्ति को अपने शरीर में सीमित न रख सककर उसके लिए नवीन शरीर की रचना में व्यस्त थी। चरम सीमा पर पहुँचा हुआ उनके जीवन का उच्छ्वास तीव्र चीत्कार के रूप में नर्मदा तट

की उत्तुङ्ग शिलाओं से टकराकर जल पर गूँज रहा था। उस ओर संकेतकर ब्रह्मचारी ने कहा—उस ओर देखो ब्रह्मचारिणी !

ब्रह्मचारिणी ने दृष्टि उठाकर देखा। विषयान्ध शरीरों का ऐसा व्यापार उन्होंने पहले भी देखा था। ऐसे अवसर पर उस ओर से दृष्टि हटा प्राणायाम द्वारा मन और इन्द्रियों का निरोधकर मन को विकार के आक्रमण से बचाने का प्रयत्न उन्होंने किया था। परन्तु पूर्ण युवा ब्रह्मचारी की उपस्थिति में, उसके संकेत से उस दृश्य को देखकर उनका शरीर कंटकित हो उठा। उनके नेत्र झुक गये, मुख आरक्त हो गया।

ब्रह्मचारी नीड़क के श्वास का वेग तीव्रतर हो रहा था। उनके स्नायु वीणा के तने हुए तार की भाँति झनझना रहे थे। ब्रह्मचारिणी का शरीर उन्हें तीव्र वेग से आकर्पित कर रहा था। मूकभाव से उनके नेत्र झुककर मुख आरक्त हो जाना उन्हें असह्य हो रहा था।

एक पग समीप आकर, कम्पित स्वर में उन्होंने पूछा—ब्रह्मचारिणी क्या वह पाप और अनाचार है ? तो क्या जीवन भी पाप और अनाचार नहीं ?

नेत्र मूँदकर कम्पित स्वर में ब्रह्मचारिणी ने उत्तर दिया—तपोधन, ऋषियों के वचन के अनुसार यह अज्ञान के कारण वासना के पंक में फँसकर मुक्ति के मार्ग से च्युत हो जाना है, आत्मा को दुख के बन्धन में फँसा देना है। जीवन भ्रम और माया है।

'यह दुख का बन्धन है ब्रह्मचारिणी ?' एक पग और ब्रह्मचारिणी की ओर बढ़कर नीड़क ने प्रश्न किया। 'तुम्हारा विश्वास है, चील की यह जोड़ी इस समय जन्म-मृत्यु के माया-बन्धन को सन्मुख देख कातर हो चिल्ला रही है ?...या जीवन के उच्छ्वास की पूर्ति के आवेग में यह आत्म-विस्मृत हो रहे हैं...?'

ब्रह्मचारी नीड़क सिद्धि के बिल्कुल समीप खड़े थे। श्वास के वेग से उनके श्मश्रु के केश थिरक रहे थे। उनका ऊष्ण श्वास ब्रह्मचारिणी के मस्तक का स्पर्श कर जटा के केशों को चञ्चल कर रहा था।

'क्या यह जीवन माया और भ्रम है ब्रह्मचारिणी ?' उन्होंने पूछा, 'जिस सत्य की अनुभूति हम रोम-रोम से अनुभव कर रहे हैं, संसार में व्यापक ब्रह्म की वह शक्ति माया और भ्रम है और अपनी कल्पना में हम जिस विश्वास की सृष्टि कर पाते हैं, जिस विश्वास के लिए इन्द्रियों से प्राप्त होनेवाले ज्ञान की उपेक्षा कर हम अतृप्ति के कारण उत्पन्न दुख को सुख समझने की चेष्टा करते हैं, वह सत्य है ? ब्रह्मचारिणी, क्या तुम सत्य को मिथ्या और मिथ्या को सत्य मानने का यत्न नहीं कर रहीं ?' ब्रह्मचारी ने अपनी तर्जनी से संकेत कर पूछा, 'ब्रह्मचारिणी क्या तुम हृदय में जीवन की शक्ति को कामना के रूप में अनुभव नहीं कर रहीं ? क्या तुम हृदय में द्वन्द्व अनुभव नहीं कर रहीं ?'

ब्रह्मचारिणी ने झुके हुए अपने त्रस्त विशाल नेत्रों को क्षणभर के लिए उठाकर उत्तर दिया—अन्तरद्रष्टा ज्ञानी, आपका वचन सत्य है। मैं निर्बल आत्मा हूँ। इन्द्रियों का दमन मैं अभी तक नहीं कर पाई हूँ !

ब्रह्मचारी ने अपना हाथ सिद्धि के कन्धे पर रख दिया। उन्होंने अनुभव किया ब्रह्मचारिणी का शरीर लड़खड़ा गया। अपनी बाँह से उनकी पीठ को सहारा दे, दूसरे हाथ से उनका चिबुक ऊपर उठा ब्रह्मचारी ने कहा—सुन्दरी यह द्वन्द्व जीवन की माँग, ब्रह्म की शक्ति है।

ब्रह्मचारिणी के पैर इस प्रकार काँप उठे मानो वह गिर पड़ेंगी। कुछ हतप्रतिभ होकर ब्रह्मचारी ने प्रश्न किया—सुन्दरी मेरे कठोर शरीर के स्पर्श से तुम्हें असुख का अनुभव होता है ?

नहीं ब्रह्मचारी—काँपते हुए स्वर में सिद्धि ने उत्तर देने का यत्न किया—कुछ असह्यसा...कुछ अप्राप्य-सा...

सिद्धि के मुख से शब्द न निकल सके परन्तु उनका जटावेष्टित शिर ब्रह्मचारी के लोमपूर्ण वक्षस्थल पर टिक गया और नर्मदा के पुलिन से भरे सिद्धि के जटाजूट पर नीड़क के ओष्ठ आ टिके।

सहसा चौंककर सिद्धि अपने पैरों पर खड़ी हो गई। ज्ञानधन, उन्होंने कहा—अज्ञान का अन्धकार मुझे घेरे जा रहा है—ज्ञान-दान दीजिये !

कुछ हतोत्साह होकर ब्रह्मचारी ने उत्तर दिया—ज्ञान ?...ज्ञान चेतना का विकास है।...चेतना का द्वार इन्द्रियाँ हैं...वे अपना मार्ग प्रकृति से सीखती हैं। ब्रह्मचारिणी, प्रकृति का हनन और दमन अज्ञान है।

निर्बलता अनुभव कर ब्रह्मचारिणी ने आश्रय की खोज में अपने दोनों बाहु शरीर के बोझ सहित ब्रह्मचारी के कन्धे पर रख दिये।

कम्पित चरणों से नर्मदा के पुलिन पर दोहरे चरण-चिह्न अङ्कित करते हुए ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी नीरव नदी-तट की एकान्त शिलाओं की ओर चले जा रहे थे।

चाँद और तारे अपनी शीतल किरणों की उँगलियों से श्रावण के घने मेघों का पट हटाकर पृथ्वी पर होनेवाले सृष्टिक्रम के व्यापार को देख संतोष प्रकट कर रहे थे। ब्रह्म की शक्ति सृष्टि की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए प्राकृतिक शक्तियों का आयोजन कर रही थी।

श्रावण के घने मेघों से अविराम वृष्टि ब्राह्म-मुहुर्त से पूर्व ही आरम्भ हो गई थी। परन्तु यम-नियम का पालन करनेवाले ऋषि लोग प्रातः कर्म से निवृत्त हो आश्रम के विशाल बरगद के नीचे ज्ञान-चर्चा के लिए एकत्र थे। यज्ञ का पवित्र धूम, दिशा बदलती हुई वायु के प्रहारों के कारण महावृक्ष को चारों ओर से घेरकर स्थिर-सा हो रहा था।

पिछले दिन मध्याह्न से ब्रह्मचारी नीड़क की अनुपस्थिति और चौथे पहर नदी स्नान करने जाकर ब्रह्मचारिणी सिद्ध के न लौटने की चिन्ता सभी आश्रम-निवासियों को विक्षिप्त किये हुए थी। उसी प्रसंग में महर्षि दीर्घलोम ने कहा—

'वासना मनुष्य की सबसे बड़ी शत्रु है। वासना की अग्नि में मनुष्य का ज्ञान सूखी समिधाओं की भाँति भस्म हो जाता है...।'

उसी समय नर्मदा-तट की एक गुफा में नीड़क ने निद्रा समाप्त होने की अँगड़ाई ली। उनका शरीर हिलने से सिद्धि सचेत हो गई। नीड़क के पलक खुलने से पूर्व ही उपेक्षित मृगचर्म को शरीर पर खेंचते हुए उन्होंने गुफा द्वार से बाहर दृष्टि डाल कर कहा—ब्राह्म-मुहूर्त व्यतीत हुए विलम्ब हो गया जान पड़ता है ?

'हाँ !'—नीड़क ने उत्तर दिया—शायद समाधि का समय बीत गया। अपनी बाहों में सिद्धि की ग्रीवा को लेते हुए उन्होंने कहा, 'अनेक वर्ष पर्यन्त समाधि द्वारा परम सुख में तल्लीन और आत्म-विस्मृत हो संसार को भूल जाने की चेष्टा करके भी क्या कभी तुम इतनी आत्म-विस्मृत हो सकी थीं जितनी इस सम्पूर्ण रात्रि में ?'

सिद्धि के अधमुँदे नेत्रों में नेत्र गड़ाकर नीड़क ने मुस्कराते हुए पूछा।

आत्म तृप्ति में पुन: आत्म-विस्मृत होते हुए नीड़क की ग्रीवा का आलिंगन करते हुए सिद्धि ने उन्मीलित नेत्रों से उत्तर दिया—

'आर्य सत्य कहते हैं।'

★

भावी संस्कृति की रूप-रेखा

[इन्द्रदीप]

मानव-संस्कृति के जीवन में उपस्थित इस महान संकट-काल में भावी संस्कृति की बात करना कुछ असंगत-सा मालूम पड़ता है। पृथ्वी के एक बड़े हिस्से में मनुष्य मात्र के विकास और प्रगति का रास्ता बन्द हो चुका है और सदियों की संचित ज्ञान, विज्ञान एवं कला की निधि आज जान-बूझकर नष्ट की जा रही है। पिछले महायुद्ध और वर्त्तमान लड़ाई की दौड़ान में कितने ही पुस्तकालय, अस्पताल, कलाभवन और सुन्दर इमारतें धराशायी हो चुकी हैं और इनमें कुछ की क्षति-पूर्ति दूर भविष्य में भी नहीं हो सकेगी। दूसरी तरफ दुनिया में आज एक ऐसी राजनीतिक ताकत पैदा हो गई है जो साहित्य और कला, आचार और विज्ञान, रेडियो और सिनेमा—सभी पर अपना नियन्त्रण रखती है और सबों को अपनी प्रतिगामी राजनीति का दास बनाकर रखना चाहती है। आज मनुष्य सभ्यता, संस्कृति और प्रचुर सम्पत्ति का निर्माता होकर भी स्वतन्त्र नहीं है। वह स्वनिर्मित आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था का गुलाम है। स्वतन्त्र-चिन्तन का पुरस्कार आत्महत्या अथवा concentration camp है। अधिक से अधिक वह

Einstein की तरह प्राण बचाकर भाग सकता है। इस भयंकर सांस्कृतिक महामारी के फल-स्वरूप मनुष्य की प्रतिभा कुण्ठित हो रही है और उसकी क्रियात्मक शक्तियों का ह्रास आरम्भ हो गया है।

प्रत्येक चिन्तनशील व्यक्ति के सामने एक ही प्रश्न है। क्या संस्कृति को इस गहन दीपकान्त (blackout) की कालिमा से छुड़ाया जा सकता है ? क्या वर्त्तमान के इस तिमिराच्छन्न आकाश में कहीं भविष्य की प्रकाश-रेखा भी है ?

× × ×

संस्कृति का सीधा सम्बन्ध जीने की कला से है। किसी काल-विशेष में एक समाज जिस तरीके पर अपने सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन का आयोजन करता है और उसकी जो अभिव्यक्ति होती है उसका सामूहिक नाम संस्कृति है। इसके अन्दर वे सभी बातें आ जाती हैं जिनके द्वारा समाज अपने व्यक्तियों के जीवन की भावनाओं, आकांक्षाओं, दुखों और सुखों को प्राप्त करता है। ज़माने का साहित्य और विज्ञान, संगीत और नृत्य, मूर्त्त और चित्रकला, रहन-सहन और पोशाक, सामाजिक आचार और रीति-रिवाज—ये सभी चीज़ें मिलकर संस्कृति का ढाँचा, उसका शरीर बनाती हैं। इनके अध्ययन, विश्लेषण और आलोचना से ही हम किसी भी समाज की संस्कृति की सतह का अन्दाज लगा सकते हैं। लेकिन इतने ही से हम उस संस्कृति की आत्मा को नहीं पहचान सकते, उसकी तह तक नहीं पैठ सकते, उसके सन्देश को नहीं समझ सकते। उसकी आत्मा तो एक गहरी चीज़ है। उसका सम्बन्ध उस जमाने के सामाजिक आदर्श से है जो प्रत्येक व्यक्ति का पद-पद पर पथ-प्रदर्शन करता, उनके विचारों को अनुप्राणित करता, उनकी भावनाओं की रूप-रेखा निर्धारित करता है। सामाजिक आदर्श ही वह केन्द्र है जिसके चारों तरफ साहित्य, कला, सामाजिक आचार आदि की निधि खिंची जाती है। यह आदर्श सामाजिक जीवन की ही आत्मा है और उसके अंग-प्रत्यंग में इसकी झलक प्रत्यक्ष नजर आती है। यह आदर्श क्या है, उसकी अभिव्यक्ति कैसी हो—इन तमाम बातों पर उस देश की भौगोलिक स्थिति आबहवा, प्रकृति की संपन्नता, आदि का निर्णायक प्रभाव पड़ता है।

हिन्दुस्तान जैसे देश में—जहाँ जीवन की आवश्यकताएँ आसानी से पूरी की जा सकती हैं—मनुष्य की पहिली चिन्ता जीवन के उपकरणों को जुटाने की नहीं रहती। उसे विचारों के आकाश में उड़ने, जीवन और प्रकृति के सवालों पर गौर करने, ईश्वर और मोक्ष का ताना तनने का काफ़ी समय मिलता है। उसके जीवन का आदर्श भी उसी गम्भीर चिन्तन का फल होता है और अपना एक निश्चित दार्शनिक आधार रखता है। इस प्रकार हिन्दुस्तान की भौगोलिक संपन्नता ने यहाँ के निवासियों के जीवन को 'मोक्ष' के आधार पर स्थापित किया और इतिहास की लम्बी दौड़ान में इसी आदर्श की मृग-मरीचिका के पीछे यहाँ के निवासी दौड़ते रहे हैं। उनके साहित्य ने आदि में ही 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः' का गीत गाया और भक्ति तथा मोक्ष को ही कविता का चरम

आदर्श माना। इसकी अभिव्यक्ति भक्ति और ज्ञान, विराग और अनुराग, निर्गुण और श्रृंगार, सभी प्रकार की कविताओं से की गई। ललितकलाओं में भी प्रधानता ईश्वर के भिन्न-भिन्न स्वरूपों को दी जाती रही। दूसरा स्थान असंख्य देवी और देवताओं को मिला। मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि भारतीय साहित्य और कला में भक्ति और ईश्वर के सिवा दूसरा कुछ है ही नहीं। मैं तो सिर्फ यह कहना चाहता हूँ कि इन्हीं भावों की प्रधानता है, इन्हीं द्वारा निश्चित किये हुए दायरे में जीवन की अन्य साधारण भावनाएँ घूमती हैं। ये साधारण भावनाएँ मानव-जीवन की स्वाभाविक और मौलिक चेतनाएँ हैं जिन्हें अभिव्यक्ति पाने से किसी भी तरह रोका नहीं जा सकता। इस मोक्षमय वातावरण ने बाहरी आवरण—चन्दन, पूजा, यज्ञ, कीर्त्तन, पोशाक—सभी पर अपना गहरा असर डाला और सबों का एक विचित्र सामाजिक धार्मिक स्वरूप हमारी आँखों के आगे रक्खा। इस धर्म और मुक्ति-प्रधान सांस्कृतिक परम्परा का असर यह हुआ कि हिन्दुस्तानियों ने वस्तु-जगत की ओर ध्यान बहुत कम दिया। आर्थिक और राजनीतिक जीवन में एक हजार वर्षों से अधिक तक एक ही सतह पर अचल रहकर धीरे-धीरे उनका ह्रास आरम्भ हो गया और वस्तुवादी यूरोप के सम्पर्क में आने पर एक सौ वर्षों—प्लासी से गदर तक—के अन्दर ही हमारी गर्वित ऊँची संस्कृति, साहित्य-कला, विज्ञान, उद्योग, धन्धे और राजनीतिक स्वाधीनता—सभी खतम हो गये। हजारों वर्षों से मोक्ष के आधार पर पली संस्कृति के जीवन में १८५८ ईस्वी में एक गहरा दीपकान्त (blackout) आ उपस्थित हुआ।

यूरोप के देशों की संस्कृति को वहाँ की विचित्र भौगोलिक और सामाजिक परिस्थिति ने बिल्कुल दूसरा ही रंग दे दिया। ठण्ढे देशों में जीवन की आवश्यकताएँ अपेक्षाकृत अधिक होती हैं। लेकिन यूरोप की पथरीली तथा कम उर्वरा भूमि बराबर ही इन आवश्यकताओं की पूर्त्ति में पिछड़ती रही है। इस कारण वहाँ के निवासियों के सामने बराबर जीवन 'संघर्ष' के ही रूप में आया है और वहाँ मनुष्य की लगातार कोशिश यह रही है कि किस प्रकार वह अपनी परिस्थिति, जमीन, समुद्र और प्राकृतिक शक्तियों का मालिक बने। भौतिकवाद वहाँ के जीवन का मूल दर्शन, मूल आधार रहा है और सांसारिक सुख ही सामाजिक आदर्श। इस कारण वहाँ सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक संघर्ष अधिक तीव्र और स्थायी रहा है। शोषक और शोषितों का वैमनस्य, सामाजिक वर्गों का परस्पर विरोध और वर्ग-संघर्ष जहाँ एक तरफ यूरप की विशेषता रहे हैं, वहाँ दूसरी तरफ यूरप ने ही अभूतपूर्व वैज्ञानिक चमत्कार, अतुलनीय उत्पादन के उपकरण शोषण—दोहन का अन्त कर वर्गहीन समाज का सृजन, आदि की क्रियात्मक व्यवस्था मानव-समाज के सामने पेश की है। यूरोप की संस्कृति, उसके साहित्य, कला और विज्ञान पर इस आर्थिक संघर्ष की स्थायी और स्थिर छाप है और उसकी जीवन की क्रियाशीलता, कर्मण्यता, उत्साह और पौरुष इसी संघर्ष की देन है।

इन सभी संस्कृतियों की, चाहे वे यूरोप के देशों की हों अथवा एशिया के, एक विशेषता रही है जो उनकी पारस्परिक विभिन्नताओं के बीच समानता के धागे-सी दौड़ती नजर आती है। अब तक संस्कृति थोड़े लोगों की चीज रही है। किसी भी समाज का

बड़ा भाग अपने काल की संस्कृति का हकदार बनने में असमर्थ रहा है। जब से संस्कृति का विकास आरम्भ हुआ प्रत्येक समाज विभिन्न आर्थिक वर्गों में विभक्त रहा है। जो वर्ग सम्पत्ति और राजनीतिक शक्ति का मालिक रहा है उसके जीवन की आवश्यकताएँ अन्य वर्गों के श्रम के फल से पूरी होती आई हैं। इस प्रकार उसे अपने को सुसंस्कृत बनाने और कला, साहित्य, विज्ञान, आदि के क्षेत्र में ख्याति प्राप्त करने का अवसर मिला है। लेकिन जनता का बड़ा भाग दासता, गरीबी, अत्याचार और शोषण का शिकार बना रहा है। उसे दो दाने के लाले पड़े रहे, अङ्ग ढँकने को साबित वस्त्र तक नहीं मिले और उसके दुखद जीवन की छोटी-सी मंज़िल बेरोजगारी, बीमारी और अत्याचार को सहने तथा कभी-कभी उनसे लड़ने में ही तय हो गई। संस्कृत समाज से उसका सम्पर्क भी बड़ा ही दुखद रहा। संस्कृति का सन्देश उसे दुर्वृत करों और कठोर कोड़ों के रूप में मिला। यदि कवियों और चित्रकारों ने उसकी दयनीय अवस्था के साथ सहानुभूति दिखायी तो अपनी तूलिका अथवा लेखनी से उसका व्यङ्ग चित्र खींचा। ऐसे शोषित दलित वर्गों का इस शोषक संस्कृति के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं रहा और संसार की संस्कृति के वाद में भी वे नीरस, शुष्क और गँवार बने रहे।

संसार की भूत अथवा वर्त्तमान संस्कृति का एकांगीपन न केवल इस बात से ही सिद्ध होता है कि जनता का बड़ा भाग इसकी सूक्ष्मता और शालीनता से वञ्चित रहा, बल्कि इस बात से भी कि इस संस्कृति के अन्दर उस विशाल, शोषित, दलित जनता की अनुभूति, उसकी पीड़ाओं और आकांक्षाओं को कोई भी अभिव्यक्ति नहीं मिली। ऐसा होना स्वाभाविक भी था। हमारी संस्कृति के निर्माता समाज की ऊपरी सतह के लोग रहे हैं। उनकी वंश-परम्परा, उनका पारिवारिक और सामाजिक वातावरण, उनकी शिक्षा और संगति, सभी उस वर्ग-विशेष की विचित्रताओं, अन्धविश्वासों, पाखण्डों और मूर्खताओं की परिधि में ही सीमित रहे हैं। उन्होंने जीवन और विश्व को अपने वर्गीय दृष्टिकोण के रंगीन चश्मे से देखा, उनकी प्रतिभा और जिज्ञासा के आगे दुनिया का वही परिमित दृश्य नज़र आया जो उनकी अट्टालिकाओं की खिड़कियों के सामने था। इसलिए उनकी तूलिका और लेखनी ने विलासिता में शराबोर 'नायक' और 'नायिकाओं' के अश्लील बनावटी जीवन का ही चित्र खींचना सीखा। उनकी विकृत प्रतिभा ने नायक और नायिकाओं के सैकड़ों कल्पित भेद बना डाले और उनकी दृष्टि सदा देवलोक तथा अप्सराओं की कटीली झुरमुट में ही फँसी रही। लेकिन उन्होंने अपने चारों तरफ बहते हुए विशाल जन-समुदाय के स्वाभाविक जीवन-प्रवाह की तरफ़ नज़र तक न डाली। यदि किसी एक की दृष्टि इधर पड़ भी गई तो वह दुख-दारिद्र्य के करुण दृश्य को देख घबड़ा उठा और सहज कायरता से अभिभूत हो इस 'कोलाहल की अवनी' से दूर भागने के लिए चीख पड़ा। इन कलाकरों की व्यक्तिगत ईमानदारी की तरफ मेरा कोई संकेत नहीं है। उनकी वर्ग-परम्परा ने उनके दिमाग और दृष्टिकोण को ही इतना विकृत बना दिया कि उनसे दूसरी आशा ही नहीं की जा सकती।

एक दूसरी ग़लतफ़हमी को भी दूर कर देना आवश्यक मालूम होता है। इस

वर्ग-प्रधान समाज के अन्दर ही ऐसे विचारक उत्पन्न हुए हैं जिन्होंने दलितों के सुख-दुख का अध्ययन किया, उनकी ज्वाला-व्यथा को समझने की कोशिश की और उनकी अनुभूतियों को प्रगट करने का प्रयास किया। स्पष्टतः इनका कार्य्य अपने वर्ग-स्वार्थ के प्रतिकूल रहा। इसमें कोई आश्चर्य्य की बात नहीं। यह वर्ग-विरोध, यह वर्ग-प्रतिद्वन्द्विता, इतिहास की प्रगति की साधारण और स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। सामाजिक जीवन कभी स्थिर नहीं रहता। वह सदा विकास और प्रगति के पथ पर अग्रसर होता रहता है। यह प्रगति विचारों और स्वार्थों की परस्पर प्रतिद्वन्द्विता से ही उत्पन्न होती है। ऊपरी वर्ग द्वारा बनाये कला, विज्ञान, साहित्य और समाज-व्यवस्था के अन्दर से ही शोषण-दोहन के इस सारे व्यवसाय को पलट देनेवाली शक्ति पैदा होती है और दलित-वर्गों को ही अपना वाहक बनाती है। यह वर्गचेतना पहले उनमें इतर वर्गों के सदस्यों द्वारा ही भरी जाती है। ये महापुरुष इस कारण महान समझे जाते हैं कि वर्ग-विशेष के दकियानूसी दृष्टिकोण के बन्धन को तोड़कर वे विशाल मानवता के व्यापक हितों को अपनाते हैं और धीरे-धीरे उस नयी दुनिया का सजीव चित्र शोषित जनता के आगे रखते हैं जिसमें शोषण-दोहन का अन्त कर सामाजिक न्याय और वास्तविक शान्ति के आधार पर समाज का संगठन होगा, जिसमें सबको शारीरिक और मानसिक विकास का समान अवसर प्राप्त होगा, जिसमें एक को दूसरे का शोषण करने का कोई हक़ नहीं होगा और जिसमें वर्ण, जन्म, वर्ग-गत सारी नाजायज़ सुविधाएँ रद्द कर दी जायँगी। यह एक ऐसा समाज होगा जहाँ से भूख, अकाल, बेरोजगारी का अन्त हो जायगा और जहाँ हर बीसवें साल फासिस्टों और साम्राज्यवादियों के विश्वव्यापी शोषण—बाजार, कच्चा माल, उपनिवेश, मैन्डेट, प्रभाव क्षेत्र, आदि—को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए जनता को अपना खून न बहाना पड़ेगा। इस समाज की नयी अर्थनीति, नयी राजनीति, नयी व्यवस्था, नयी नैतिकता, नई सभ्यता और नयी संस्कृति होगी। यह दूसरी दुनिया होगी, मानव-इतिहास का दूसरा युग होगा। यहीं से मानव-इतिहास का सच्चा प्रारम्भ होगा।

यह नयी दुनियाँ कभी विचारकों का स्वप्न मात्र थी। उस समय इसकी रूप-रेखा भी स्पष्ट न थी। मार्क्स ने न केवल इस नूतन संसार का ढाँचा ही दुरुस्त किया, बल्कि उसकी अनिवार्यता का वैज्ञानिक विश्लेषण किया और उसकी प्राप्ति के लिए एक सकल व्यावहारिक कार्यक्रम बताया। आज यह नयी समाज-व्यवस्था पृथ्वी के एक-छठे भाग में कायम है और पिछले दो दर्जन वर्षों से इसने संसार की जनता के दशांश को शोषण-दोहन के सिलसिले से मुक्त कर रक्खा है। वहाँ इन वर्षों में, मानव-इतिहास में पहली बार, कमानेवालों के व्यक्तित्व को गौरव, सम्मान और सच्ची नागरिकता के आधार पर प्रतिष्ठित किया गया है और उनके अन्दर सुप्त असीम प्रतिभा को विकसित होने और फूलने-फलने का अवसर मिला है। वहाँ पर न केवल हरएक व्यक्ति को पढ़ने-लिखने, सभ्य और सुसंस्कृत बनने का अवसर दिया गया है, बल्कि प्रत्येक को अपनी शक्ति के अनुसार इस नयी सभ्यता और नयी संस्कृति के निर्माण और विकास में सक्रिय सहयोग देने के लिए उत्साहित किया जाता है। न केवल वहाँ पर मनुष्य मात्र के व्यक्तित्व

की प्रधानता स्वीकार की गई है, बल्कि हरएक राष्ट्र, सांस्कृतिक समुदाय, छोटे-छोटे नर समूह, पिछड़ी हुई जातियाँ—सबों के अलग-अलग और विशेष सामाजिक जीवन की आवश्यकता और उपयोगिता भी स्वीकृति हुई है। वहाँ यह माना जाता है कि किसी भी व्यक्ति अथवा समाज का विशेष व्यक्तित्व होता है जिसका सहज स्वाभाविक प्रकाशन ही उसके जीवन का लक्ष्य और आत्म-विकास का मार्ग होता है। प्रत्येक की प्रगति पूर्णता की तरफ होती है और इस पूर्णता की प्राप्ति अबाध अनियन्त्रित आत्म-प्रकाशन ही हो सकती है। साथ ही साथ, यह आत्म-प्रकाशन उस समाज की स्वाभाविक स्थिति, रिवाज, भाषा और परम्परा के ही बीच सर्वाधिक सुविधा और स्थिरता से हो सकता है। इस कारण इस नयी सभ्यता में प्रत्येक जाति को अपनी भाषा पढ़ने, अपना साहित्य विकसित करने, कला के अपने तरीके और स्टैंडर्ड निश्चित करने का पूर्ण अवसर दिया जाता है। जिन पिछड़ी जातियों के पास कोई अपनी लिपि नहीं थी, उनके लिए रोमन और लैटिन के आधार पर सोवियत भाषा-वैज्ञानिकों ने नयी-नयी लिपियों का आविष्कार किया है। इस आधार पर सोवियत सभ्यता हर एक को अपने विशेष सांस्कृतिक जीवन को विकसित करने और अपने समुदाय-विशेष के व्यक्तित्व की पूर्णता प्राप्त करने पर जोर देती है। फलस्वरूप आज जारशाही द्वारा सदियों तक शोषित और सतायी अर्द्ध-सभ्य जातियाँ भी शिक्षा, कला, विज्ञान, साहित्य के क्षेत्र में बहुत तेजी से अग्रसर हुई हैं और हरएक ने अपनी सामूहिक जातीय विशेषता को विभिन्न रूपों में साहित्य और कला द्वारा व्यक्त एवं मूर्त्त किया है। सोवियत सभ्यता ऊपर से लादी जानेवाली बुर्जुआ-संस्कृति और सभ्यता से बिल्कुल भिन्न है। वहाँ बहुलता, विशेषता और विभिन्नता में ही पूर्णता समझी जाती है और ऊँची से ऊँची संस्कृति और सभ्यता के निर्माण के लिए अबाध, अनियन्त्रित आत्म-प्रकाशन पर विश्वास किया जाता है। वह बिल्कुल दूसरी संस्कृति है, दूसरी सभ्यता है, दूसरी दुनिया है। वह आज के नहीं, कल के समाज की रूप-रेखा है।

यह नयी सभ्यता पुरानी दुनिया में नहीं पनप सकती, नहीं जी सकती, जिस प्रकार रेगिस्तान में धान का पौधा नहीं जी सकता। किसी भी युग की सभ्यता और संस्कृति, उसकी आर्थिक व्यवस्था—उत्पादन और वितरण के तरीकों और सम्बन्धों—के दायरे से बाहर नहीं जा सकती, उसकी ऊँचाई से ऊपर नहीं उठ सकती। इसलिए सोवियत-संसार ने एक नये ढाँचे पर समाज का निर्माण किया है। यहाँ सिर्फ इतना ही जान लेना पर्याप्त होगा कि जब तक साधारण जनता भूख, बीमारी, बेकारी, और आर्थिक अनिश्चय (insecurity) के भय से नहीं मुक्त होती, तब तक किसी भी जन-संस्कृति की बात करना ढकोसला मात्र है। उसी प्रकार जब तक उसे काफी अवकाश नहीं मिलता, उसकी प्रवृत्तियों और संस्कारों के परिष्कृत और परिमार्जित होने की बात बिल्कुल मखौल है। दो दर्जन वर्षों के इस छोटे से जीवन में सोवियत रूस ने आशातीत आर्थिक और औद्योगिक उन्नति की है। अपनी दो पंच-वार्षिक योजनाओं की सफलता के बाद अब वह अपनी जनता को एक सभ्य जीवन व्यतीत करने का आश्वासन दे सकता है। जहाँ दुनिया के अन्य देशों में जनसंख्या का दशांश तक बेकारी का शिकार बना रहा वहाँ

सोवियत सगर्व इस आर्थिक रोग का नाश कर देने का दावा करता रहा। दुनिया का यह पहला देश है जिसने सबके लिए एक निम्नतम आय की गारण्टी की है और जिसने साधारण कैदियों, अपराधियों तक के लिए मानसिक और सांस्कृतिक विकास के साधन उपस्थित किये हैं। दुनिया का यह पहला देश है जिसने बीस वर्षों में नब्बे प्रतिशत लोगों को साक्षर बनाया है और जनता का सांस्कृतिक विकास जिसके शासन की खास जिम्मेदारी है। उसने गाँव-गाँव तक को रेडियो, सिनेमा, थियेटर, समाचार-पत्र और वादा-विवाद के द्वारा शिक्षित और सुसंस्कृत बनाने की कोशिश की है और उसे इस नयी सभ्यता का सन्देश-वाहक तथा अधिष्ठाता होने का गर्व है। स्पेंगलर के इस पतनोन्मुख पूँजीवाद का सारा ढोंग, पाखण्ड और मिथ्या प्रचार सोवियत सभ्यता की विशाल और गौरवपूर्ण सफलता पर असत्य और विद्वेष का आवरण डालने में समर्थ नहीं हो सका और आज यह सभ्यता मानव-मात्र की आशाओं और आकांक्षाओं का केन्द्र और पथ-प्रदर्शक है।

इस नयी सभ्यता की अभूतपूर्व सफलता देख संसार का पूँजीवादी भाग घबड़ा उठा है। इसकी रोशनी ने बूढ़े पूँजीवाद के शोषण-दोहन, ढोंग-पाखण्ड, अन्याय-अत्याचार, भक्ति-व्यभिचार, और मजहब-मुनाफा—सभी का पर्दा फाश कर दिया है। इसलिए आज जब एक तरफ दुनिया की प्रगतिशील ताकतों की आँख इस नयी दुनिया की तरफ लगी हुई है, तो दूसरी तरफ इस पुराने संसार के सामन्त फासिस्ट और उनकी पंचम-सेना ने इस नयी सभ्यता और संस्कृति की भूमि पर नीच धोखापूर्ण आक्रमण किया है। प्रगति और संस्कृति के प्रेमी हर एक मनुष्य का विश्वास है कि इस बर्बर फासिज्म का सपरिवार उन्मूलन होगा और वह दिन दूर नहीं है जब सारी पृथ्वी पर नवयुग का सूर्य स्वतन्त्रता, शान्ति और प्रगति की शाश्वत किरणें बिखेर देगा।

[२]

हिन्दुस्तान का मामला तो बड़ा ही गड़बड़ है। हम न केवल पराधीन हैं, बल्कि हममें स्वाधीनता के प्रधान लक्षणों का ही अभाव बतलाया जाता है। हिन्दुस्तान में कोई एकता नहीं है, कभी थी भी नहीं। समूचे इतिहास को उलट कर देख जाइये, कभी इस देश में सांस्कृतिक अथवा राजनीतिक एकता नहीं नजर आयेगी। सदियों से बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों और सम्राटों की कोशिश इस देश को एक राज्य, एक राष्ट्र बनाने की रही है जरूर, लेकिन कोई भी इस प्रयास में पूर्णतः सफल नहीं हो सका। यह तो सिर्फ अँग्रेजी हुकूमत की सिफत है कि उसने अन्त में हिन्दुस्तान में राजनीतिक एकता स्थापित की और सच्ची सांस्कृतिक एकता के उत्पन्न होने और बढ़ने का अवसर प्रदान किया। यदि हिन्दुस्तान इस महान अवसर से लाभ नहीं उठा सका तो यह सिर्फ इसका दुर्भाग्य है!

आज स्थिति बहुत ही चिन्ताजनक है। इस देश के जीवन में फैला हुआ अविश्वास, असहिष्णुता, असहमति, घृणा, क्रोध और साम्प्रदायिक रक्तपात एक गहरी, चौड़ी, अँधेरी खाई-सा प्रगति का रास्ता रोके पड़ा है। इस भयंकर राजनीतिक विग्रह का

मूल कारण सांस्कृतिक बताया जाता है। हिन्दुस्तान में एक नहीं दो 'राष्ट्र' बसते हैं। उनका मजहब और आचार-विचार, भाषा और वेषभूषा, साहित्य और कला की परम्परा—पूरी संस्कृति और सभ्यता, एक दूसरे से भिन्न हैं। दोनों के सामाजिक आदर्श और दृष्टिकोण अलग-अलग हैं। इसलिए इस देश में इन दोनों 'राष्ट्रों' को पृथक, स्वतन्त्र, अनियन्त्रित केन्द्रीय राजशक्ति प्राप्त होनी चाहिये। हिन्दुस्तान के राजनीतिक जीवन के इस 'मौलिक सत्य' को प्रकाश में लाने के लिये कितने विद्वानों ने अपने को धन्यवाद का पात्र समझा है। कलकत्ते से लेकर बम्बई तक, लाहौर से मद्रास तक, शिमला से लन्दन तक इस माँग को दुहराया गया है। इसके उत्तर में एक दल कहता है कि हिन्दुस्तान में सिर्फ 'एक राष्ट्र' है और वह हिन्दुओं का है। मुसलमान तो सिर्फ एक जाति (community) हैं और उन्हें इस 'राष्ट्र' के हितों और इच्छाओं के खिलाफ आचरण करने का कोई 'हक़' नहीं है। इस देश का सबसे बड़ा राजनीतिक दल इस बात को स्थापित करने के लिए परीशान है कि हिन्दुस्तान में हिन्दुओं और मुसलमानों का मजहब के अलावा, अब एक दूसरे से अलग कोई अस्तित्व नहीं रह गया है। सदियों तक एक साथ रहने से उनकी सभ्यता और संस्कृति इस क़दर एक दूसरे से प्रभावित हुई है और हिल-मिल गयी है कि आज यहाँ पर सिर्फ एक 'हिन्दुस्तानी' संस्कृति है। हिन्दुओं और मुसलमानों के सम्पर्क से उनकी एक नयी भाषा, नयी वेष-भूषा, अदब-लिहाज का एक नया तरीका, सामाजिक आचार का एक नया स्टैन्डर्ड—यहाँ तक कि एक नयी सभ्यता उत्पन्न हो गई है। हिन्दुस्तान एक देश है, 'एक राष्ट्र' है और 'हिन्दुस्तानी' उसकी एक ज़बान है। वर्त्तमान असहमति और विग्रह, दंगे और रक्तपात, 'पाकिस्तान' और 'रामराज्य', देश में स्थित उस तीसरी ताक़त की देन हैं जिसका स्वार्थ इस देश के अनैक्य को चिरस्थायी बनाये रखने में है। सचमुच, इस सवाल पर बड़ा ही गड़बड़झाला मचा हुआ है। सत्य, असत्य और अर्द्ध-सत्य के मिश्रण से तरह-तरह की सस्ती, बाजारू अफ़वाहें हवा में तैरती फिरती हैं और 'धर्म' एवं 'संस्कृति की रक्षा' के नाम पर हमारे दैनिक जीवन में विष बो रही हैं।

आखिर हिन्दुस्तान एक राष्ट्र है अथवा दो? इसका निर्णय तो ऐतिहासिक सान्निध्य और विकास, भाषा, भौगोलिक एकता, जातीय समानता और सांस्कृतिक एकता की कसौटी पर जाँच करने से ही हो सकता है। इस निबन्ध का विषय इतना व्यापक नहीं है कि इन सभी बातों पर विश्लेषणात्मक विचार किया जाय। यहाँ हमारा विचार इस प्रश्न के सांस्कृतिक पहलू तक ही सीमित रहेगा। किन्तु हम करीब-करीब उसी परिणाम पर पहुँच जाते हैं जिस पर उपर्युक्त सभी बातों पर विचार करने से। हम आरम्भ में ही स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि हिन्दुस्तान में 'हिन्दू संस्कृति' अथवा 'मुस्लिम संस्कृति' नाम की कोई चीज़ नहीं है। संस्कृति कोई काशी का विश्वनाथ-मन्दिर अथवा आगरे का ताजमहल नहीं है जो एक बार बन जाने पर अपने उस निश्चित ढाँचे की परिधि में ही गिरफ्तार रहती है। संस्कृति तो जीने की कला और उसके उपकरणों का प्रतिबिम्ब मात्र है और जब-जब उसके इस आधार में परिवर्त्तन होता है,

तब-तब उसके ढाँचे और अन्तरतत्वों में भी हेर-फेर होते हैं। इसलिए प्रत्येक युग की अलग-अलग संस्कृति होती है जो उस समय की विशेषताओं, आदर्शों, विश्वासों और मूर्खताओं का प्रतिबिम्ब होती है। बौद्ध-धर्म के जीव की तरह संस्कृति नित मिटती और नयी बनती रहती है। यह सत्य है कि उसका एक आन्तरिक तारतम्य होता है जो कई युगों की संस्कृति के बीच मौलिक एकता के सूत्र के रूप में नजर आता है। फिर भी बहुत समय जाने पर उस अवधि के दोनों सिरों पर स्थित संस्कृतियों में साम्य सिर्फ कल्पना-गत रह जाता है। वैदिक, मौर्य्यकालीन, गुप्तकालीन अथवा आज-कल की तथाकथित हिन्दू-संस्कृति में एक दूसरे के साथ बहुत कम समानता है। भारतीय इतिहास की प्रगति एवं विकास के साथ यहाँ की संस्कृति भी निरन्तर अपना पुराना चोला छोड़ नया आवरण धारण करती रही है। परिवर्त्तन के प्रत्येक कदम पर संस्कृति के ऊपर बदली हुई परिस्थिति, नयी धार्मिक एवं सामाजिक भावनाओं, नयी जातियों का समागम, वाणिज्य-व्यवसाय के नये तरीकों और क्षेत्रों का गहरा असर पड़ा है। इसलिए हिन्दुस्तान में एक चिरन्तन 'हिन्दू-संस्कृति' की कल्पना ऐतिहासिक सत्य नहीं है।

उसी प्रकार 'मुस्लिम-संस्कृति' भी एक कोरी कल्पना है। थोड़ी देर के लिए हिन्दुस्तान के बाहर आप नज़र फेरें। इस्लाम के उत्पत्ति काल में जो संस्कृति उसके साथ सन्नद्ध हुई वह अरब के निवासियों की संस्कृति थी। लेकिन जब इस्लाम ईरान पहुँचा तो वहाँ उसका अरब से ऊँची संस्कृति से सम्पर्क हुआ, जो उससे सर्वथा भिन्न भी थी। अब इस्लाम ने ईरान की संस्कृति को अपनाया। इस्लाम के प्रचार से सम्बद्ध अन्य देशों की भी—तुर्किस्तान, मध्य एशिया, मिश्र, आदि—अपनी अलग-अलग संस्कृतियाँ थीं जिनके साथ वहाँ पहुँचने पर इस्लाम फिट करता गया। उन संस्कृतियों में भी इस्लाम के सम्पर्क के बाद परिवर्त्तन होते गये और उनका नया-नया रूप बनता गया। ऐसा होना स्वाभाविक ही था। लेकिन इन सभी देशों की संस्कृति, इस्लाम को धर्म के रूप में अपनाने के बाद से आज तक, एक दूसरे से भिन्न अपना निजी व्यक्तित्व बनाये रहा और कभी भी सारी मुस्लिम दुनिया की एक 'मुस्लिम-संस्कृति' नहीं बन सकी। हिन्दुस्तान में मुसलमानों के प्रथम आगमन के साथ जो संस्कृति आयी वह मध्य एशिया की अपेक्षा-कृत नीचे की सतह की चीज़ थी, इसलिए उसका गहरा असर हिन्दुस्तान की संस्कृतियों पर नहीं पड़ सका। मुगलों के समय में विशेष करके फ़ारस की संस्कृति आई जो काफी विकसित और समृद्ध थी। उसकी हिन्दुस्तान की संस्कृतियों से लेन-देन हुई जिसके फलस्वरूप इस देश के भिन्न हिस्सों की भिन्न संस्कृतियों का रूप बदला। लेकिन हिन्दुस्तान में भी इस्लाम 'मुस्लिम-संस्कृति' के नाम की कोई चीज़ नहीं उत्पन्न कर सका जो सिर्फ यहाँ की मुस्लिम जनता की आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति करती हो। जो चीज़ इतिहास की कोर्स की किताबों में 'मुस्लिम-संस्कृति' के नाम से वर्णित है, वह वास्तव में दिल्ली दरबार की संस्कृति है जिसका एक तरफ़ आस-पास की जनता और दूसरी तरफ भिन्न-भिन्न सूबों की संस्कृति से कोई खास सम्बन्ध नहीं है। यदि हम लोग संस्कृति पर बातचीत करते समय संस्कृति और मज़हब के अन्तर को आँखों के आगे रक्खे रहें तो

इस मामले की सारी गड़बड़ी दूर हो जाय। हिन्दुस्तान में हिन्दू और मुसलमानों का अलग-अलग खास मजहब है, संस्कृति नहीं।

हिन्दुस्तान में न तो कोई हिन्दू-संस्कृति है और न कोई मुस्लिम। एक व्यापक 'हिन्दुस्तानी संस्कृति' की धारणा भी सर्वथा निरपेक्ष नहीं है। बंगाल और पञ्जाब की संस्कृति में उतना ही अन्तर है जितना काश्मीर और हैदराबाद की। तामिल नाड और महाराष्ट्र की संस्कृति में उतना ही अन्तर है जितना विहार और महाराष्ट्र की। सच तो यह है कि हिन्दुस्तान में विकसित और कायम कई संस्कृतियाँ हैं जो इस विशाल प्रायद्वीप में बसनेवाले भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के व्यक्तित्व को प्रगट करती हैं। राष्ट्रों और संस्कृतियों के एक दूसरे से अलग करने का सिद्धान्त मजहब नहीं, राष्ट्रीयता (nationality) होनी चाहिये। एक तामिल ब्राह्मण और काश्मीरी ब्राह्मण में समान-राष्ट्रीयता का कोई लक्षण नहीं। दोनों की जाति, वेष-भूषा, रहन-सहन, ऐतिहासिक विकास, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था, भाषा, साहित्य और संस्कृति—एक दूसरे से उतनी ही भिन्न है जितनी एक इटालियन और अंग्रेज की। उसी तरह एक पंजाबी मुसलमान और बंगाली मुसलमान में मजहब, राजनीतिक गुलामी और मुस्लिम लीग की सदस्यता छोड़कर बाकी सब विभिन्नता ही विभिन्नता है। इन दोनों की जाति (race) दो हैं, भाषा और साहित्य दो हैं, इतिहास दो हैं, आचार और पोशाक दो हैं, सभ्यता और संस्कृति दो हैं। तो क्या सिर्फ मजहब एक होने से वे एक राष्ट्र के सदस्य कहे जा सकते हैं? यदि उन्हें 'पाकिस्तान' में रख दिया जाय तो क्या वे फिर उसके अन्दर 'पंजाबिस्तान' और 'बंगालिस्तान' की माँग नहीं पेश करेंगे? यदि मजहब ही राष्ट्रीयता का आधार है तब तो सारे यूरोप को एक ही राष्ट्र होना चाहिये और आज तक का उसका परस्पर राष्ट्रीय सङ्घर्ष इतिहास की भूल समझी जानी चाहिये।

हिन्दुस्तान में अगर राष्ट्रीयता के निर्धारण में मजहब को आधार न बनाया जाय तो यह सारी दिक्कत आसानी से दूर की जा सकती है। वास्तव में इस देश में न एक राष्ट्र है न दो। यहाँ तो 'अनेक राष्ट्र' हैं—कुछ छोटे कुछ बड़े, कुछ आगे कुछ पीछे। लेकिन सभी गुलाम हैं, सभी इस विशाल प्रायद्वीप के अन्दर स्थित हैं जिसके हिस्सों की भौगोलिक अवस्था एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न है। यहाँ के प्रत्येक प्रधान राष्ट्र का ऐतिहासिक विकास, साहित्य और कला की परम्परा में, सामाजिक जीवन, जलवायु और भौगोलिक स्थिति, भाषा, वेष-भूषा और आचार-व्यवहार, उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करते हैं। इतिहास की लम्बी दौड़ान में कई बार एक ही शासन के अन्दर दशाब्दियों और शताब्दियों तक एक साथ रहने से प्रत्येक राष्ट्र के ऊपर एक दूसरे के व्यक्तित्व का असर पड़ा है और इस कारण उनमें समानता के कुछ लक्षण भी दीख पड़ते हैं। परन्तु इन्हीं थोड़े लक्षणों के ऊपर हिन्दुस्तान को एक राष्ट्र कहना उतना ही गलत है जितना पश्चिमी यूरप को। भारतीय इतिहास के किसी भी विद्यार्थी से यह बात छिपी नहीं है कि जैसे ही इस समूचे प्रायद्वीप की राजनीतिक एकता स्थापित करनेवाले साम्राज्यों की शक्ति का ह्रास आरम्भ हुआ है वैसे ही हिन्दुस्तान की स्वाभाविक आन्तरिक

केन्द्र-विरोधी (centrifugal) प्रवृत्तियाँ प्रत्येक बड़े राष्ट्र के व्यक्तित्व को स्वतन्त्र रूप से स्थापित करने के लिए लड़ने लगी हैं और कई बार इस देश के टुकड़े कर डाले हैं। मुझे सिर्फ यह कहना है कि भारतीय इतिहास की इस मौलिक प्रवृत्ति की अवलहेना कर इस देश की राष्ट्रीयता का सवाल किसी स्थायी तरीके पर हल नहीं किया जा सकता। इतिहास की शक्तियाँ हमारे प्रत्येक राष्ट्रीय महल को ढहा देंगी, जब तक उन्हें स्वीकृति और प्रतिष्ठा नहीं मिलती।

यह बात मान लेने पर भी कि हिन्दुस्तान में अनेकों राष्ट्र और अनेकों संस्कृतियाँ हैं, हमारी सभी समस्याएँ हल नही होतीं। तुरत प्रश्न उठता है, ये कौन-कौन हैं और इनकी संख्या कितनी है ? दुर्भाग्यवश अभी तक इस विषय पर बहुत ही कम अध्ययन एवं अन्वेषण हो सका है और इस कारण उपर्युक्त प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया जा सकता। साधारण तौर से विचार करने पर कुछ राष्ट्रों का व्यक्तित्व साफ़ नजर आता है। दक्खिन भारत में तामिल, तेलगू, कनारी और मलयालम भाषाओं के बोलनेवाले चार भिन्न-भिन्न राष्ट्र हैं। पूरब में आसामी, बंगाली, उड़ीया और बिहारी बिल्कुल स्पष्ट हैं। पश्चिम तरफ, महाराष्ट्री राजपूत, गुजराती, सिन्धी, पंजाबी, सिक्ख और काश्मीरी उसी तरह अपना अलग और स्पष्ट व्यक्तित्व रखते हैं। बीच के हिस्से में कुछ दिक्कत है और इस पर अभी कोई एक राय नहीं दी जा सकी है। इनके सिवा बहुत से छोटे-छोटे जातीय समुदाय हैं जो शिक्षा, सभ्यता, संस्कृति के खयाल से अभी बहुत पीछे हैं और जिन्हें आज तक अपने व्यक्तित्व को विकसित एवं प्रकाशित करने का अवसर ही नहीं मिला। इस श्रेणी में संथाल, भील, कोल आदि जातियाँ हैं जिन्हें हिन्दुस्तान का आदिवासी कहा जाता है। इस देश के सांस्कृतिक पुनरोद्धार में इन पिछड़ी जातियों का सवाल काफ़ी महत्वपूर्ण होगा।

हिन्दुस्तान का भावी समाज आजकल से बिल्कुल भिन्न आधारों पर कायम होगा। वह दिन अब दूर नहीं है जब लोग हिन्दू और मुस्लिम-संस्कृति की बात पर हँसेंगे। हिन्दुस्तान की भावी समाज-व्यवस्था देश की बहु-राष्ट्रीयता के आधार पर बनेगी। इस विशाल भूमिखण्ड पर बसनेवाले प्रत्येक प्रधान राष्ट्र को अलग और स्वतन्त्र राजस्त्व (state existence) का अधिकार प्राप्त होगा। इसके अलावा, प्रत्येक सांस्कृतिक, भाषा-सम्बन्धी अथवा जातीय (racial) नर-समुदाय और प्रत्येक पिछड़ी जाति को विशेष सांस्कृतिक स्वराज्य प्राप्त होगा जिसके अन्दर वह अपनी भाषा का उत्थान कर सके, अपना साहित्य बना सके और उनके द्वारा सदियों का दलित अपना व्यक्तित्व विकसित और प्रकाशित कर सके। इस व्यवस्था के उपस्थित होने पर प्रत्येक राष्ट्र एकता और संघ-शासन की आवश्यकता महसूस करेगा और सबों की अनियन्त्रित सहमति के आधार पर वह राष्ट्रीय सन्धि होगी जो हिन्दुस्तान में संघ-व्यवस्था की स्थापना प्रत्येक राष्ट्र की समानता की बुनियाद पर करेगी।

*

'न खुदा ही मिले न विसा....'

●

[चन्द्रकिरण]

'Horse माने हाथी !' प्रोफ़ेसर तड़प उठे, किंग रीडर को एक झटके में द्वार के बाहर फेंकते हुए उन्होंने चीखकर कहा—राधा !

और राधा की सिट्टी गुम। घबराहट में उसके हाथ से दवात भी छूट पड़ी। सारी स्याही उसकी साड़ी पर बहती हुई फ़र्श पर बिखर पड़ी। वह पीपल के पत्ते की भाँति काँप गई।

'यही सीखा है तुमने इन पन्द्रह दिनों में तब तो तुम बहुत जल्द अंगरेज़ी पढ़ जाओगी। न जाने ईश्वर ने दुनियाँ भर का कूड़ा-कचरा तुम्हारे ही मस्तिष्क में भर दिया था, और फिर ख़ूब सहेज सँवार कर मेरे लिए ही तुम्हें कुमारी रख छोड़ा था।'—क्रोधा-तिरेक से उनके गले से और शब्द न निकल सके।

राधा का मन रो उठा। 'दुनिया भर का कूड़ा-कचरा!' ओ! कुछ कहने को उसके होंठ फड़क उठे। कुछ, कुछ भी; कोई कड़ी-सी बात, तड़पा देनेवाला व्यंग। परन्तु गले से आवाज न निकली। तीन मास से वह रात-दिन की यह अवहेलना, यह तिरिस्कार सह रही है; फिर भी प्रोफ़ेसर को उत्तर देने का साहस उसके सहज कोमल हृदय ने अपनी स्वभाविक दुर्बलता के कारण अभी तक बटोर नहीं पाया था। हारकर उसका आहत बेबस अभिमान आसुओं के रूप आँखों में उबल उठा। वह रो पड़ी।

नीली स्याही से पुती, बिखरे बालोंवाली, साधारण शिक्षिता; गेंहुए रंग की सरला युवती राधा के निष्प्रभ गालों पर बहतीं वे आसुओं की धारें प्रोफ़ेसर के विरक्तिमय क्रोध में घृताहुति का काम कर गईं।

मुँह फेरकर खूँटी से कोट उतारते हुए उन्होंने बड़ी बहिन शारदा को लक्ष्य करके कहा—मैंने कहा था जीजी से कि बुड्ढे तोते कहीं राम-राम रटते हैं? पहले तो आँखें बन्द करके मेरे गले यह ढोल बाँध दिया, और अब कमर कसके उसे सरस्वती बनाने की तैयारी की है।—पन्द्रह दिनों में कितनी भारी इंगलिश पढ़ ली है...वाह Horse माने हाथी !...'

राधा ने इस बार उत्तर दे ही तो दिया, साहस बटोर कर, मसलने पर तो चींटी भी काट लेती है। बोली—पन्द्रह दिनों का नाम तो गिना दिया, यह भी तो देख

लेने कि पढ़ने को कितनी देर का समय मिलता है। लल्ला की तबीयत होती है कभी बताते हैं नहीं तो नहीं। फिर मुझे घर के और काम नहीं हैं क्या ?...'

'किसने कहा था तुमसे कि यह तोता पालो ?' प्रोफ़ेसर ने बूट के फ़ीते बाँधते हुए रूखे स्वर में कहा—मैंने तो पहले ही दिन समझ लिया था कि मेरा जीवन नष्ट हो चुका है। मेरी आशा आकांक्षाएँ; मेरा सुख-दुखमय भावुक संसार सभी इस हिन्दू समाज की राक्षसी भूख ने समेट लिया है। जैसे-तैसे दिन काटने हैं सो तो कट ही रहे हैं...'भुन-भुनाते हुए प्रोफ़ेसर खट-खट करते सीढ़ियाँ उतर गये।

राधा एकटक ताकती रही...छलछलाये नेत्रों से।

× × ×

उसी सन्ध्या को उस कवि प्रोफ़ेसर ने भरे गले से, आँखों में तरलता का समुद्र उमड़ाकर, स्वर में करुणा भरी आद्रता लाकर, अपनी थर्ड इयर की छात्रा मिस दीप्ति से कहा—मिस मुकर्जी ! क्या बताऊँ कि मेरी कविता क्यों इतनी दुखपूर्ण होती है ? मेरी रचनाएँ क्यों निराशा के सागर में डुबकियाँ खाती हैं ? न पूछिये इस रहस्य को। मूक ही रहने दो मेरी आत्मा के इस रुदन को। इसी तरह रोती, तड़पती, उसाँसे छोड़ती मेरी यह क्षुद्र लेखनी एक दिन मुझ अभागे के साथ ही काल के अन्तराल में विलीन हो जायगी।'

दीप्ति सुनती रही। मन्त्र-मुग्ध-सी। इस अपने कवि प्रोफ़ेसर की भावुक गाथा। उन्हें रुकते देख उसने शीघ्रता से कहा—कहिये, कहिये ! प्रोफ़सर सा'ब ! रुकिये मत। कह डालने से भी तो व्यथा बहुत कुछ हल्की हो जाती है !' हल्की !

प्रोफ़ेसर ने एक आह खींचकर उत्तर दिया मेरी व्यथा तो ऐसी नहीं मिस दीप्ति ! जो कहने से हल्की हो जाय। वह तो पत्थर-सी निर्मम, धधकती भट्टी-सी ज्वालामई, और विधाता की भाग्य रेखा-सी ही अमिट है, मेरे जीवन में।...उफ ! कैसे-कैसे अरमान राख हो गये मेरे—' सतृष्ण दृष्टि से दीप्ति के खुले सिर की बिखरी वेणी को निहारते हुए प्रोफ़ेसर ने एक लम्बी साँस खींची। प्रोफ़ेसर की प्यास... अतृप्ति...कुछ भी तो दीप्ति से छिपी नहीं थी। मिस्टर 'बड़ौत' की यह मूक वेदना उसके सामने ही आकर क्यों साकार हो उठती है, इसे वह समझती है।...खूब अच्छी तरह। किन्तु; यह तो बड़ी 'कौमन' बात हो उठी है दीप्ति के जीवन में। कौलेज के इन तीन-चार वर्षों में वह जाने कितने सतृष्ण नेत्र, उत्कण्ठित हृदय और आमन्त्रित बाहु देख चुकी है। दो एक बार इन भूखी आँखों की माँग से वह डोल भी चुकी है। परन्तु, उन भूखी आँखों की वह सर्वग्रासी भूख; जब उसने देख लिया था कि एक को खाकर—पाकर सन्तुष्ट नहीं हो जाती; तब से यह सब—अतृप्ति का स्वांग, रोमांस का अभिनय उसके लिए बहुत ही हल्का—उपहास की छाया-सा ही हो उठा है। फिर भी अपने इन नये प्रोफ़ैसर से उसे बहुत सहानुभूति है। इनकी रचनाएँ उसने पहिले भी पढ़ी थीं; अब से कई वर्ष पूर्व ही। तभी से एक ऊँची धारणा उसे इनके प्रति थी। फिर अब जब से उसे यह ज्ञात हुआ था कि घरवालों के दबाव और जाति की संकीर्णता के कारण, प्रोफ़ैसर

को उनके मन लायक पत्नी नहीं मिली है ; तब से वह कुछ अधिक दयार्द्र हो उठी थी उनके प्रति। विशेष...शिष्टाचार...आदर-सत्कार ; यह तो बीसवीं सदी के क़लई किये जीवन की सबसे बड़ी देन है ही ; जिसे उसके बंगलापन के भावुक सौन्दर्यमय रहन-सहन ने और भी आकर्षक कर दिया था।

प्रोफ़ेसर की चुप्पी से कमरे की नीरवता जब बढ़ चली तो दीप्ति ने उसे तोड़ते हुए कहा—मैं आपकी कथा को कुछ समझती हूँ मिस्टर ज्योति ! किसी भी ओर से राधारानी आपके योग्य संगिनी नहीं ठहरतीं। न शिक्षा न सभ्यता और न भावुकता की ही, परन्तु अब क्या हो सकता है ? जो बात मिटाई नहीं जा सकती उसके लिए जीवन के शेष अंश को भी विषमय क्यों बनाना ?—कोशिश करिये तो मेरा ख्याल है वे वर्ष दो वर्ष में यथेष्ट संस्कृत हो जायँगी।'

'संस्कृत !' एक उपेक्षामयी मुस्कराहट होंठो पर बिखेर कर प्रोफ़ेसर बोले—परन्तु दो वर्ष तक ट्रेनिंग देने के लिए साहस और धैर्य कहाँ से लाऊँ मिस दीप्ति ! जिसके पास उठने-बैठने से, जिससे बात करने से मुझे खीज चढ़ती है, जिसके किसी कार्य में भी कला...संस्कृति की छाया का स्पर्श भी नहीं है उसे दो वर्ष तक सभ्यता का क-ख-ग पढ़ाने की हिम्मत कहाँ से लाऊँ ? वह भावुकता और छवि जो कवि के जीवन को स्पन्दित कर देती है, उसे छू तक नहीं गई...'

दीप्ति की सलाइयाँ चलाती हुई उँगलियों और कानों के डोलते हुए इयरिंगों में फँसकर प्रोफ़ेसर की वाणी मूक हो गई। विवाह से पहले, कल्पना-जगत की अपनी अपरूप प्रेयसी की रचना में ही प्रोफ़ेसर इतने मग्न रहते थे कि आसपास की सजीव नारी मूर्तियाँ एक चलती-फिरती पुतली से अधिक उन्हें जँचती न थीं, जिनसे केवल जी बहलाया जा सकता था, और यह खिलवाड़ की सामग्री उन्हें अपने आस-पास ही मिल भी जाती थीं, जिनसे मानसिक क्रीड़ा-भूमि पर ही खेलकर वे सन्तुष्ट हो जाते थे। किन्तु ;—उनकी उस काल्पनिक स्वर्ग-रूपसी प्रेयसी की परिणति जब राधा जैसी विशेषता रहित साधारण युवती में हो गई ; तब से विश्व की प्रत्येक युवती—जो ज़रा राधा से भी अधिक आकर्षक होती ; उन्हें स्पृहणीय जान पड़ती थी। पहले जब तक वे सोचते थे कि हाथ बढ़ाने पर मैं इस वाटिका के किसी भी पुष्प को तोड़कर अपने अंक में ले सकता हूँ तब तक एक उपेक्षा-सी थी उनके प्रति। लेकिन जब अनायास ही उनके हाथों में वह पलाश का फूल राधा थमा दिया गया तो उनकी अतृप्त आत्मा जो सदाचार के ऊपरी ढोंग से अठखेलियाँ कर रही थी अपनी प्रलयकारी क्षुधा लेकर इस विश्व में विचरने लगी, फिर ; दीप्ती-सी चंचल, हँसोड़ नव सभ्यता के स्वतंत्र विचारों सी सुघर प्रतिमूर्ति-सी युवती लिए मचल उठना तो स्वभाविक से भी अधिक सरल था।

क्लॉक ने किया टन-टन । दीप्ति ने सलाइयाँ रोककर एक अँगड़ाई ली फिर कहा नौ बज गये प्रोफ़ेसर सा'ब ! मिसेज बड़ोत प्रतीक्षा कर रही होंगी आपकी ; साथ ही मन ही मन पानी पी-पीकर मुझे कोस भी रही होंगी'...कहते-कहते दीप्ति हँस उठी

अपनी उजली दंत-पंक्तियों से प्रोफेसर के मन पर बिजलियाँ गिराकर उसने कहा—परन्तु... भोजन तो यहीं करना होगा आपको।

'उफ़ !' प्रोफ़ैसर ने कहा—यह भी कितनी मुसीबत है मिस दीप्ति ! चाहे रात के बारह बजे घर पहुँचूँ ; परन्तु वे महारानी घड़ी के पेन्डुल की तरह कमरे में चक्कर लगाती मिलती हैं। आधी रात तक भी उनका धन्धा नहीं निबटता फिर आधे घण्टे तक देर से आने के लिए स्पीच सुननी होगी, उनकी ; और उसके अन्त में शुरु होगी सिर दर्द की शिकायत। मानो एक कवि के जीवन में एक देहाती युवती के सुख-दुख से अधिक किसी वस्तु का अस्तित्व ही न हो', फिर कुछ रुककर जेब से एक कागज़ निकालते हुए कहा—

'सुनोगी ? मेरी नई रचना ? दोपहर ही लिखी है।'

'सुनाइये ! सुनाइये !' दीप्ति ने उत्कण्ठा से उत्तर दिया।

और प्रोफ़ेसर ने खाँसकर गला साफ़ करते हुए नाक के स्वर में पढ़ना शुरू किया—मैं विषाद की चिररेखा ! मैं मूर्तिमान अभिशाप...।

[३]

शारदा की आँख खुल गई। वह बहुत हल्की नींद सोती है। एक प्रकार से नींद न आने की बीमारी ही है उसे। जब लगातार सिसकियों की आवाज़ कानों में पड़ी तब लिहाफ़ से मुँह निकालकर देखा—राधा दीवार के सहारे पाटी पर सिर टिकाये सिसकियाँ ले रही थी। करुणा से दुख के साथ ही खीज से उसका मन भर उठा। कृत्रिम क्रोध से बोली— बहू ! सो क्यों नहीं जाती ? क्या आधी रात को रोना फैलाया है ?

राधा ने घबराकर आखें पोंछ लीं फिर सिर नीचा करके कहा—रोती तो नहीं बीबी !' और हल्के पाँवों से वह अपनी चारपाई पर आ लेटी।

'सोजा।'—ननद ने विषादपूर्ण स्वर में कहा—कब तक जागेगी ? ग्यारह तो बजने आ गये। जानती तो है तू ; वह 'दीपो' के गया है ; जल्दी नहीं लौटेगा।' फिर स्वर धीमा कर के शारदा बड़बड़ाई—जाने क्या जादू कर दिया है हरामजादी ने, ऐसी कोई सुन्दर भी नहीं है, जिसके पीछे यूँ दिवाना हो रहा है। मरदों की जात है। कुत्ते सी होती है ; बिना दो घर की जूठी हाँडी चाटे चैन नहीं पड़ती।'

और ननद की सहानुभूति पाकर बहू का दुख स्रोत भी उमड़ आया। कड़वे स्वर में बोली - मैं कहती हूँ बीबीजी ! बड़े कवि की दुम बने हैं। मानवता के प्रतिनिधि, करुणा के अवतार ! जो अपनी नारी के दुख-सुख, व्यथा-पीर को नहीं समझता वह विश्व के दुख-सुख पर लेखनी कैसे चलाता है ? जो हाँड-मांस की बनी जीती-जागती स्त्री को पत्थर के ढेले से अधिक नहीं समझता वह देश के कण-कण में अपने प्राणों का स्पंदन कैसे देखता है ? माना ; मैं कविता करना नहीं जानती ; गिटपिट करके उनके मित्रों से अँगरेज़ी नहीं बोल सकती ; सुन्दर भी नहीं हूँ...फिर भी हूँ मनुष्य ही। मामूली पढ़ना-लिखना भी जानती ही हूँ—घर-गृहस्थी सम्हालना भी आता ही है।...और प्रेम के वश

तो पशु भी हो जाते हैं। उनका थोड़ा-सा प्यार...ज़रा-सा उत्साहवर्धन मुझ में प्राण डाल सकता था—परन्तु वे तो कवि हैं। मेरी प्राणमयी सेवा का उनके आगे क्या मूल्य ? उन्हें तो चाहिए...तड़पने-बिलखनेवाली चलते हुए सौ बल खानेवाली ; चञ्चल मृगनैनी...'

बाहर से कुन्डी खटखटाने की आवाज़ आई। राधा अपने उमड़ते उच्छ्वास को होठों से दबाती हुई द्वार खोलने चली।

सहन की लाइट जलाकर राधा ने कुण्डी खोली। प्रोफ़ेसर थे। राधा को देखकर उनके माथे पर हल्का-सा बल आ गया। सिल्क की साड़ी में सुघरता से लिपटी हुई, खुले केशों में लाल रिबिन लगाये, नेल पालिश से लाल सुर्ख़ नाख़ूनोंवाली उगलियों द्वारा जल्दी-जल्दी सलाइयाँ चलाती हुई दीप्ति के स्थान पर ; रूखे बालों में मोटी-सी सिन्दूर रेखावाले, भर्राई आँखों के, सूखे से राधा के मुख को देखकर वे आकाश से उड़ते-उड़ते एक झटके में धरती पर आ रहे।

चुपचाप कमरे में जाकर कोट उतारा ; बूट उतारे और पलंग की ओर बढ़े ही थे कि राधा ने पूछा—खाना परोसूँ ?

'नहीं ; खा आया हूँ।'

'जिस दिन न खाना हो, पहले कह क्यों नहीं दिया करते।'—राधा ने भुनभुनाकर कहा—आधी रात तक चूल्हा लिये बैठे रहो...

कि प्रोफ़ेसर ने चिढ़े स्वर में उत्तर दिया—सभ्यता की मोटी-सी रूपरेखा भी जिसे ज्ञात नहीं उसे क्या कहूँ ! कोई भला आदमी भोजन के समय आग्रह करने लगे तो उसे कैसे 'न' की जाय ! वहाँ खाने के विचार से तो गया ही न था !'

वह भला आदमी कौन है, इसे राधा जानती थी।...भले आदमी के आग्रह का मूल्य है, और मेरे आधी रात तक चूल्हा लिये बैठे रहने का नहीं...उसने मन में सोचा।

फिर पति-पत्नि एक दूसरे से मुँह फेरकर सो रहे।

× × ×

और—मर्ज़ बढ़ता ही गया ज्यों-ज्यों दवा की।

साल से ऊपर निकल गया। राधा ने अपनी जान कड़ी-से-कड़ी चेष्टा करके सभ्यता का पाठ पढ़ा। जीतोड़ परिश्रम करके इस बीच में काम चलाऊ अंगरेज़ी भी सिखी। परन्तु दीप्ति की चकाचौंध से अन्धे प्रोफ़ेसर के मन राधा न चढ़ी। सो उस उपेक्षिता राधा का मन भी कठिन हो चला है, स्वामी की ओर से। कहाँ तक वह सहे, कितना सहे। सहने की भी कोई हद होती है। ऐसे कौन-से रूप के मन्ज़र हैं जो मेरी सूरत नहीं भाती। कौन-से सिंहासन पर बैठा दिया है मुझे ; जो हर घड़ी मुँह चढ़ाये रहते हैं।...धीरे-धीरे वह भी रूखी होती जा रही है, उसके मन की आद्रता भी सूख चली है—जो तीखापन बनकर अब प्रोफ़ेसर को चुमने भी लगी है। और प्रोफ़ेसर अब धीरे-धीरे अपने काल्पनिक दुख में राधा के इस स्वभाव को मिलाकर एकदम ही करुण नायकों के सिरताज बन गये हैं।...अपने दुख में वे डूब-उतरा रहे हैं कि उन्होंने कभी यह

नहीं सोचा—राधा अब उनसे चिढ़ी क्यों रहती है? वे तो अपनी ही आशा-निराशा को लेकर एकांकी बनाते, कविता रचते और उन्हें सबसे पहिले दीप्ति को सुनाकर—उसके मुख की एक हसरत भरी आह सुनकर धन्य हो जाते। उस आह के लिए ही मानो अब वे कवि रह गये थे। साधन ही साध्य हो गया था।

और दीप्ति; उसे प्रोफ़ेसर से सहानुभूति थी। इसी से उसे उन पर दया आती थी, उसकी वही दया और खुलापन; उन आँखों में कल्पना का चश्मा चढ़ाये प्रोफ़ेसर को पतंग की डोरी की भाँति नचाती रहती थी।

वे दीप्ति को समझते थे?—क्या?...

[४]

हाँपते-हाँपते प्रोफ़ेसर सीढ़ियाँ चढ़े; और फिर लम्बी साँसें छोड़ते हुए सोफे पर दराज़ हो गये।

'What is the matter? मिस्टर बड़ौत!' दीप्ति ने उन्हें इतना उत्तेजित देखकर जल्दी से पूछा। केशों में कंघी करना भी वह भूल गई।

'उफ़!' एक गहरी साँस खींचते हुए प्रोफ़ेसर ने कहा—दीप्ती! आज मैं मुक्त हो आया हूँ। मुक्त, स्वच्छंद...वही वर्ष भर पहिले का ज्योति। जानती हो कैसे? आज झगड़ा निबटा आया। एक साल से जिस नरक यातना को भोगते-भोगती मन-प्राण अकुला उठे थे उससे आज मुक्ति पा गया हूँ। दीप्ते! आज मैं सुखी हूँ। स्वच्छंद हूँ। अपनी मानसी प्रेयसी को—जिसने वर्ष भर से मेरे मन प्राणों को अपनी सुरभि की मादकता से अचेतन कर दिया था—अब जी भर कर अर्घ्य चढ़ाऊँगा..प्राणों के प्रीतम स्तर के निगूढ़तम प्रेम की धारा...

'मिस्टर बड़ौत!—दीप्ति प्रोफ़ेसर के इस मुखस्थ रचना प्रताप से घबरा गई।

'कहिये हुआ क्या? राधारानी से झड़प हो गई होगी? लेकिन वे बेचारी तो अब स्वयं ही आपसे डर कर दूर-दूर रहती हैं फिर झगड़े की नौबत कैसे आ गई?'

'झगड़ा!'...प्रोफ़ेसर कल्पना के लोक से पृथ्वी पर आ रहे। पूरे नेत्र खोल कर उन्होंने एक बार दीप्ति के स्वस्थ उभरे यौवन पर सतृष्ण दृष्टि डालते हुए कहा—दीपो! आज मैंने उससे सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। अब से वह मेरी कोई नहीं और मैं...

'ग़ज़ब!' दीप्ति का सिर चकरा गया। राधा का करुण सूखा निष्प्रभ मुख उसकी आँखों में फिर गया। अब क्या होगा बेचारी का?

'यह तो सरासर अन्याय है मिस्टर बड़ौत! आख़िर कुछ तो बेचारी का ख़याल रखते!'

'क्या ख्याल रखता दीप्ति! मैंने कोई अन्याय नहीं किया। मैं अशिक्षित गँवारिन के उपदेश और हस्तक्षेप नहीं सह सकता। वह मुझ पर अधिकार जमाना चाहती

थी। मेरी प्रतिभा का मूल्य वह क्या जानती थी दीपो! परन्तु यदि सौभाग्य से कोई ऐसा प्राणी मुझे मिल गया था तो उसे भी वह फूटी आँखों देख न सकती थी। मैंने आज उसे आखिरी बार कह दिया। तुम मेरी कोई नहीं। तुम्हारी जहाँ इच्छा हो चली जाओ, मेरा पीछा छोड़ दो। मैं तुमसे प्रेम नहीं करता। एक बार...हज़ार बार...और आज वह चली गई...सदा को यहाँ से।'

'कहाँ गई?' दीप्ति के मुख से निकला।

'मुझे नहीं मालूम। मैं नहीं जानता। टिकिट तो देहली तक लिया था...जायगी कहाँ...भाई के। मुल्ला की दौड़ मसजिद तक।'

दीप्ति स्तब्ध रह गई। प्रोफ़ैसर की इस क्षुद्रता पर। आज उनका वह रूप जो सभ्यता के आवरण से ढँका रहता था; नंगा होकर नाच रहा था। इतना ही मूल्य है इनकी दृष्टि में नारी का? अशिक्षता होने से क्या नारी नारी नहीं रहती? फिर राधा तो अशिक्षित भी नहीं थी। कवि...प्रोफ़ेसर...डाक्टर...कुली और मज़दूर...नारी का मूल्य सबकी दृष्टि में एक ही है।...

'दीप्ति! क्या सोचने लगीं? चलो क्लब चलें--प्रोफ़ैसर ने निकट भविष्य का एक सुनहरा संसार रचते हुए मादक स्वर में कहा—चलो न दीपो रानी!'...और दीप्ति की मुद्रा टेढ़ी हो गई। 'मिस्टर बड़ौत! तबीयत अच्छी नहीं है आज मेरी। थोड़ा आराम चाहती हूँ। आज मुआफ़ करें!'

'क्या! क्या सिर में दर्द है? लाओ अभी बाम लाता हूँ।'

'जी नहीं। धन्यवाद इस कृपा के लिए, थोड़ा सो लेने से सब ठीक हो जायगा अच्छा...नमस्ते।' खालिस नपे-तुले शिष्टाचार के शब्दों में कहकर दीप्ति कन्धा रखकर ऊपर चली गई।

[५]

दीप्ति ने विवाह कर लिया। किससे? प्रोफ़ैसर बड़ौत से नहीं; पटेशनाथ भट्टाचार्य से। निमन्त्रण आया था प्रोफ़ैसर को भी। परन्तु गये नहीं वह। कौन मुँह लेकर अपने अरमानों की चिता देखने जाते।

फिर स्वामी के साथ कलकत्ता जाते समय दीप्ति अपने प्रोफ़ैसर साहब की मिजाजपुर्सी कर गई थी।

प्रोफ़ैसर ने कौलेज से छुट्टी लेली। तीन महीने की। बीमार-से रहते थे। एक उदासी क्लान्ति की छाई रहती थी हरदम। होश भी ठिकाने आ गये थे अपने इस रोमांस के परिणाम पर। अब साहस नहीं होता था कि फिर किसी शमा के परवाने बनें। और इन उड़ती तितलियों से उन्हें घृणा भी हो गई थी...भय तो लगता ही था।

सूने घर में चुपचाप पड़े रहते। बहिन रूठ कर सुसराल चली गई थी, राधा

को निकालने के तीसरे ही दिन। नौकर के सिवाय पास कोई न था। अपनों के अभाव में अब उनका मूल्य—उन्हीं अशिक्षित गँवारिनों का मूल्य प्रोफ़ैसर को ज्ञात हो चला था।

बहिन को बुलाया था। उसने बीमार होने का बहाना लिख भेजा।

अब ?

सूने से जीवन में जहाँ प्रोफ़ैसर को चौबीसों घण्टे लिखने की छुट्टी थी, अब एक पंक्ति भी न खिंचती थी। जिसने उनके जीवन को मरु कर दिया था उसे उन्होंने स्वयं अपने से दूर कर दिया था। जिसके बिना वे अपने जीवन को शून्य समझने लगे थे वह स्वयं ही उन्हें छोड़ गई।

बुख़ार चढ़ा था प्रोफ़ेसर को। मधुआ रातों जागते तंग आ गया था। डरते-डरते उसने कहा—बाबूजी ! जब से बहूजी को निकाला; एक न एक मुसीबत आई रहती है।

पहले माँजी मरीं; फिर बीबीजी चली गईं। अब आप रोगी रहते हैं। वे तो लच्छमी थीं घर की।' फिर आँखें पोंछता बाहर चला गया।

प्रोफ़ैसर चुप रहे।

और दो दिन बाद मधुआ ने कहा—बाबूजी ! बहूजी को मनाय लाऊँ, हमारे जान तो !

प्रोफ़ैसर मुस्काये फिर कहा—उन्हें तो छोड़ दिया मधुआ। सात महीनों से ख़बर भी नहीं ली कहाँ हैं ?

'होंगी कहाँ बाबूजी। अपने घरे होंगी। न हो एक बार मैं देख आऊँ ?'

प्रोफ़ेसर सोच में पड़ गये। क्या कहें। फिर ठहर कर कहा—अच्छा हो आ।

उसी रात मधुआ देहली चला गया।

चौथे दिन लौटा तो मुँह धुँआ हो रहा था। चुप...गुम-सुम-सा आकर खड़ा हो गया।

'हो आया !'

'जी !'

'क्या उत्तर दिया ?' प्रोफ़ेसर ने पूछा। मधुआ ने धीरे-धीरे एक गुलाबी लिफ़ाफ़ा जेब से निकालकर सामने कर दिया—बहूजी ने दिया है ?

निमंत्रण-पत्र था विवाह का। ऊपर राधा ने घसीट में लिखा था - कल विवाह है मेरा कृपया सपरिवार दर्शन दीजिये।'

वह कल; कल बीत चुकी थी।

प्रोफ़ैसर ने लिहाफ़ में सिर दे लिया।

★

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' : कहानीकार

●

[शमशेरबहादुरसिंह]

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' पर मैं एक अर्से से लिखना चाहता रहा हूँ। क्यों ?

मैंने उपेन्द्रनाथ 'अश्क' को देखा नहीं। उनकी कहानियों और कतिपय पत्रों के बाहर नहीं। उनकी बहुमुखी साहित्यिक प्रवृत्तियों का मैंने सम्यक अध्ययन भी किसी थीसिस के लिए नहीं किया है। फिर क्यों यह इच्छा मेरे मन में रही है कि मैं 'अश्क' पर कभी कुछ लिखूँ ?

'अश्क' उन तीन-चार हिन्दी-साहित्यिकों में से हैं जिन पर मैं लिखना चाहता रहूँगा सदैव ; कुछ उनकी नौजवान प्रवृत्तियों के कारण, कुछ उनकी साहित्यिक ईमानदारी को मूल्यवान समझकर उसकी चर्चा करने के शौक़ से, और कुछ इस कारण कि—वे संसार के महानतम कलाकार नहीं हैं ; कि—उनकी खरी इन्सानियत का पहलू मेरी भावनाओं को कुछ अजीब तरह से छू गया है। उनका विकास मुझे अपने ही स्वप्न का एक हिस्सा लगता है, जिससे मुझे दिलचस्पी है।

उपेन्द्रनाथ को मैं अभी बहुत बड़ा कलाकार नहीं मानता। एक बहुत होशियार कलाकार मानता हूँ। जो शायद साहित्य में अपने रास्ते को बहुत समझ-बूझकर तय कर रहे हैं।

और उनमें एक स्वस्थ विकास मैं पाता हूँ। कला-कृति के बिखरे हुए तत्वों को अब वे अधिक सामंजस्य देने लगे हैं।

सिर्फ़ कहानियों से यहाँ बहस है। मेरे सामने उनका पहला संग्रह 'डाची' और दूसरा 'कोंपल' और कुछ अन्य कहानियाँ हैं। 'डाची' में 'डाची' ही एक पूर्ण कलाकृति है जो हृदय पर अमिट प्रभाव छोड़ जाती है ; यों और भी सफल कहानियाँ इस संग्रह में हैं—जैसे '३२४', 'लीडर', 'रिफ़ाक़त।'

किन्तु आज जो बातें हम कहानी में चाहते हैं- वे उसमें मौजूद हैं : यानी, ज़मीन पर रहनेवालों की बू हमको कहानी के शब्दों में आये, और फिर ज़मीन पर इन रहनेवालों की किस्मत उन्हें कहाँ ले जाती है—कौन-कौन ताक़तें हैं, उनके जीवन को पनपने नहीं देतीं, और उन ताक़तों का ज़ोर कितना है। इन चित्रों में व्यक्ति का सुख-दुख, उसकी भावनाएँ, मुख्य स्थान रखती हैं—कहानी उन्हीं को लेकर कहानी रहती है—लेकिन कहानी का असर उस सुख-दुख के मूल्यांकन में है ; और जितनी ही नज़दीकी

और गहराई, और साथ ही व्यापक किन्तु पुष्ट दृष्टिकोण से उसका अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है, उतना ही महत्वपूर्ण हमारे लिये कहानी के पात्र का सुख-दुख हो जाता है।

मगर 'डाची' के संग्रह के बाद उपेन्द्रनाथ ने एक व्यापक दृष्टिकोण से एक विशेष समस्या को सुलझाने की दिलचस्पी के अलावा उस समस्या को उसकी वास्तविक पृष्ठभूमि में रखने का प्रयत्न भी किया है; यानी हम कहानी-पात्रों को समझने के बाद उस संसार को भी कुछ अधिक सार्थक रूप से समझने लगते हैं जिसमें वे पात्र साँस लेते हैं।

और यह खूबी उपेन्द्रनाथ की कहानियों की खास खूबी हो उठती है 'कोंपल' संग्रह की अधिकांश तथा इधर की कहानियों में। जिस वातावरण का चित्रण लेखक प्रस्तुत करता है, उसकी छोटी-छोटी चीज़ों का ज़िक्र करके उसमें जान डाल देता है। और इन चीज़ों के वर्णन के लिए जो भाषा प्रयुक्त की गई है, वह न साहित्य का तकल्लुफ़ लिये हुए है और न लेखक की किसी अपनी शैली की एकरसता।

उपेन्द्रनाथ उन कलाकारों में हैं जो धीरे-धीरे अपना व्यक्तित्व विकसित करते हुए अन्त में एक व्यापक भूमि पर छा जाते हैं। उनके सम्पूर्ण विकास को समय की अपेक्षा होती है और अनुभव और अनुभूति के नाना भूमि-तलों की। उनकी कला की प्रौढ़ता आयु के साथ अपना असर लाती है। और वह असर गम्भीर होता है और गहन। विलक्षणता उसमें नहीं होती। क्योंकि अपरिचित-सा उसमें कुछ नहीं लगता—विकास के अतिरिक्त। और क्योंकि उस विकास की जड़ें भी हमें परिचित परम्परा में साफ़ दिखाई देती हैं, उपेन्द्रनाथ हमें अक्सर प्रेमचन्द की याद दिला देते हैं। हाँ, details पर वह अभी शायद उचित से कुछ अधिक ध्यान दे जाते हैं—और उनके वातावरण और परिस्थितियों के वर्णन-चित्र स्वयं एक कहानी तत्व अपने अन्दर जगा लेते हैं। जो कहानी के अन्दर छिपी एक कहानी का-सा मजा ज़रूर देता है, पर जो कहानी की सम्पूर्ण एकरसता को मिश्रित कर देता है। यह कहानीकार की कला की खूबी है कि यह रंगीनी पूरी तस्वीर को बेरंग नहीं होने देती। वहीं कहानी का कोर होता है। मसलन 'कांकड़ा का तेली' में धूल भरे रास्ते का सफ़र ही कहानी का कुल आधार है—जिसके बिना, उसका अंत (यानी हारे-माँदे बच्चों को, बुखार आ जाने की वजह से, पूरा रास्ता तय कर लेने के बाद फिर वापिस भेजने की मजबूरी) प्रभावकारी न हो पाता। 'चेतन की मा' में भी जो दरअसल एक उपन्यास का अंश है टूटे-फूटे घर का सजीव चित्रण लगता है, मानो कुल कहानी की आत्मा-सी अपने अन्दर छिपाये बैठा है। 'चेतन की मा' से कम सजीव वह खंडहर नहीं। वे दोनों एक ही चीज़ हैं। एक ही झाँकी के दो किवाड़ हैं।

एक और खास बात जो मैं अक्सर महसूस करता हूँ उपेन्द्रनाथ की कहानियों के बारे में—और वास्तव में 'अश्क' के पूरे कलात्मक दृष्टिकोण के बारे में, वह यह है कि इस शख्श की आँखें यथार्थ की दुनिया पर पूरी तरह खुली हुई हैं; 'खास बात' मैं इसे इसलिए कहता हूँ कि यह कहानीकार कवि की भावुकता भी अपने अन्दर काफ़ी रखता है,

मगर वह गुण कहानीकार को वास्तविक परिस्थितियों को सहानुभूति-पूर्वक समझने में सहायक होता है ; वह गुण कहानी-जगत की वास्तविकता को अक्षुण्ण रखते हुए उस वास्तविकता में छिपी मानव-हृदय की मसोस को प्रकट करता है। लगभग सभी कहानियों में देखिये, परिस्थितियों का, हीरो अथवा हीरोइन—बहुधा हीरोइन—के चारों ओर के वातावरण का मूर्त अमूक चित्रण और व्यक्ति की मानसिक कथा कहने के उपरान्त जब सहसा कहानी-सूत्र अन्त में काट दिया जाता है, तो हमारी भावनाएँ तड़पकर दर्द की एक करवट ले उठती हैं। 'कोंपल' में देखिये—गहनों की एक नवविवाहिता की दुनिया है, जिसमें उसका यौवन प्यासा दुख रहा है : बूढ़ा पति जब उसे विधवा बना जाता है, तो माँ उसके गहने लेने आई है—गहने, जिनकी शोभा उसके अङ्ग पर परमेश्वरी ब्राह्मण का लड़का निरख गया है, सराह गया है। और उन्हें अब वह अपने शरीर पर नहीं सजा सकती, आह ! और चुपचाप एक ट्रैजिक हीरोइन की तरह उन्हें वह पहनकर एक बार आइने में देखती है, अपना रूप, वह जवान विधवा। 'एक लम्बी साँस भरकर वह वहीं ट्रङ्क पर बैठ गई, और उसकी आँखों के सामने चार वर्ष पहले की एक घटना याद आ गई, जब परमेश्वरी ब्राह्मणी के हँसमुख लड़के ने उसकी कण्ठी का हुक बाँध दिया था। उसी दिन की तरह एक अजान-से सुख की झुरझुरी उसके तमाम शरीर में दौड़ गई।

'दूर कहीं मुसलमानों के मोहल्ले में मुर्ग ने अज़ान दी। सींकरी चौंककर उठी। सब गहने उतारकर उसने ट्रङ्क में बन्द किये। कपड़े तह लगाकर रखे और दबे पाँव ऊपर पहुँची। चाँद इस वक्त दाईं तरफ़ के ऊँचे मकान की ओट में चला गया था। सींकरी चुपचाप अपनी चारपाई पर जा लेटी।

'दूसरे दिन जब माँ वापिस जाने लगी और अन्दर ले जाकर उसने सींकरी से गहने माँगे तो उसने टाल दिया।'

दिल की यह मसोस लगभग सभी कहानियों में हमें मिलती है। किसी भी कहानी को आप ले लीजिये—लगभग सभी कहानियों में। और इससे एक बात का पता चलता है कि उपेन्द्रनाथ 'अश्क' अपूर्ण आकांक्षाओं के जीवन की दबी हुई 'हाय' की कहानी के कलाकार हैं। हास्य उनमें नहीं है। और यह उनकी एक बड़ी कमी है। जहाँ हास्य के उपयुक्त ज़मीन तैयार भी मिलती है, पर व्यंग—कटु व्यंग का समावेश हो जाता है—हास्य का नहीं। irony जो नाटक के प्रधान गुणों में से है को वह पैदा करते हैं। 'डाची'-संग्रह की अधिकांश कहानियों के किंचित परिहासोन्मुख लौट वास्तव में इसी irony पर अवलम्बित हैं—जैसे 'लीडर' और 'माया' में। हास्य रस एक कठिन रस है, और यह बहुत-सी पीड़ाओं का उत्पादक है, और शायद यह करुण से भी परे के लोक की विभूति है—पर जिसको यह संसार (अथवा 'ईश्वर') दे ! मैंने पहले कहा कि उपेन्द्रनाथ की प्रतिभा धीरे-धीरे एक विशाल वृक्ष की तरह बढ़नेवाली प्रतिभा है। जीवन के बहुत से गम्भीर रस (जिनमें—चाहे मानिये चाहे न मानिये—हास्य रस भी है) आगे-आगे आयेंगे ; यद्यपि अब तक जीवन में क्या-कुछ न आ चुका होगा।

और एक जरूरी पहलू जो हमें ध्यान में रख लेना है वह इस कहानीकार के कथा-जगत की विषमता का है यानी, यह कि यह विषमता व्यक्ति की भावनाओं की उसके चरित्र की है, जिन्हें घटनाओं ने पैदा किया है—यह संघर्ष बहुधा एक ही वर्ग में उत्पन्न विषम भावनाओं का संघर्ष है। इसमें विभिन्न वर्गों का संघर्ष अब अगर आने लगा है—तो वह काफ़ी बचाव रखते हुए।

यह बहस हमें प्रगतिशील साहित्य की व्याख्या करने को आमंत्रित करती है। उपेन्द्रनाथ 'कोंपल'-संग्रह की भूमिका में सही कहते हैं कि 'किसी कहानी का प्रगतिशील या प्रतिक्रियाशील होना लेखक के अपने दृष्टिकोण पर निर्भर करता है, जिसे सामने रखकर वह कहानी लिखता है, जो उसकी कहानी से निकाला जा सकता है।' यहाँ इतना और कह देना जरूरी है कि यह दृष्टिकोण लेखक का अपना होते हुए भी अगर वर्ग-संघर्ष-जानित्व उस सामाजिक गति-विधि का आधार लिये हुए है जिसमें हम आनेवाली वास्तविकता का (जो मौजूदा संघर्ष का नतीजा होगी) पात्रों तथा घटनाओं के चित्रण के अन्दर झलका सकते हैं—तभी वह दृष्टिकोण यथार्थ में प्रगतिशील दृष्टिकोण होगा। इस दृष्टिकोण में जो ऐतिहासिकता है वह वर्तमान की गति को पकड़कर भविष्य की रूपरेखा को कहानी के प्लाट में अप्रत्यक्ष रूप से बाँधती है; और भविष्य का यह संकेत, जिस ऐतिहासिक द्वन्द्व के तर्क को लेकर कथा का अन्त प्रस्तुत करता है मनुष्य के निरन्तर संघर्ष के सम्बल से अनुप्राणित और उसकी विजय के विश्वास में सुदृढ़ होता है।

घटनाओं के अन्त में हमारा जी अगर मसोसकर रह जाता है, और हमें कोई भी राह मुक्ति की, किसी ओर, एक हलके किरण-संकेत के रूप में भी, दिखाई नहीं देती—यानी पाठक को—तो वह कथानक कितना ही प्रभावकारी क्यों न हो, प्रगतिशील यथार्थ रूप में नहीं। घटनाओं का चित्रण वर्ग-संघर्ष को लेकर करने पर भी उसका अन्त अगर पाठक को एक नव-चेतना, एक नयी अन्तर्दृष्टि, अपने भविष्य के लिए, नहीं देता, तब वह कुल चित्रण नाटकीय महत्व ही रखता है—प्रगतिशील दृष्टिकोण से। और, मैं समझता हूँ आधुनिक कहानी का test इसी में है। उपेन्द्रनाथ अपने कथानकों में एक व्यापक दृष्टिकोण जिस प्रकार ला रहे हैं वह महत्व की चीज़ है; केवल उसमें वह भविष्य की reading—यह पुराने आदर्शवादी स्वप्न से भिन्न चीज़ है—अभी संजीव-रूप से कम कर रहे हैं। लेकिन उनकी प्रतिभा धीरे-धीरे अपनी शक्तियों को विधिवत् सम्यक उपयोग करती हुई कुछ उसी दिशा की ओर बढ़ रही है यह उनकी कहानियों से झलकने लगा है। पर निश्चिन्त रूप से अभी कहा नहीं जा सकता है कि वे युग-चेतनाओं के वाहक होना, एक व्यापकक्षेत्र पर, अपने लिए अभी समयोपयुक्त या समीचीन समझेंगे या कि जीवन की ट्रैजिडी और मानव-सम्बन्धों के 'शाश्वत' सम्बन्धों में छिपी विषमता की ही झाँकियों को आत्मिक तीखापन प्रदान करते चलेंगे।

★

हरामज़ादी

●

[मोहम्मद हुसैन अस्करी]

[अनु० शमशेरबहादुरसिंह]

दरवाज़े की धड़धड़ और 'किवाड़ खोलो !' की लगातार और ज़िद्दी चीखें उसके दिमाग़ में इस तरह गूँजीं, जैसे गहरे अँधेरे कुएँ में डोल के गिरने की दीर्घ कराहती हुई ध्वनि। उसकी स्वप्न से भरी और अर्ध-निमीलित आँखें आहिस्ता-आहिस्ता खुलीं, लेकिन दूसरे क्षण ही मुँह-अँधेरे के हलके-हलके उजाले में मिली हुई सुर्मे-जैसी स्याही उसके प्योटों में भरने लगी, और वह फिर बन्द हो गई। आँखों के परदे बोझिल कम्बलों की तरह नीचे लटक गये, और डलों को दबा-दबाकर सुलाने लगे। लेकिन कान आँखों का साहचर्य छोड़कर भिनभिना रहे थे, वह इस ऐन्द्रजालिक आक्रमणकर्ता के नये आघात के विरुद्ध अपने पट बन्द कर लेना चाहते थे—और फिर भी वह भिनभिना रहे थे।

भय और आशा का यह द्वन्द्व, जिसे नींद सम्भवतः शीघ्र ही अपने धारे में डुबा लेती, अधिक देर जारी न रहा। अब के तो दरवाजे की चूलें तक हिली जा रही थीं, और आवाज़ें - पुकारें — अधिक बेसब्र, बेचैन, भारी और भर्राए हुए गले से निकल रही थीं—'खोलो ! खोलो !' ये आवाज़ें पतली नोकदार तीलियों की तरह दिमाग़ में घुसकर नींद के परदों को छिन्न-भिन्न किये दे रही थीं। वह यह भी सुन रही थी कि पुकारनेवाला 'खोलो' 'खोलो' के क्षणों के बीच-बीच में धीरे-से अनपेक्षित इरादों का प्रकटीकरण भी कर देता था। यही नहीं, बल्कि कोई व्यक्ति उसे सड़क के ढीलों का प्रयोग करने का सुझाव दे रहा था...आख़िर उसने आँखें पूरी खोल ही दीं, और हाथों को चारपाई पर झटकते हुए कहा, 'नसीबन ! देखो तो कौन है ?'

यह उसके लिये कोई नयी बात न थी। जब से वह इस क़स्बे में मिड-वाइफ़ होकर आई थी, यह सब कुछ रोज़ होता था—यही चीखें, यही धड़धड़ाहट. कर्तव्य और सुखेच्छा का यही कटु द्वन्द्व, यही झल्लाहट और अन्त में परास्त होना, सब इसी तरह। उसे सुबह ही उठकर जाना पड़ता था और फिर उसका सारा दिन नवागन्तुकों को प्रतिरोध-भाव से चीख़ते-चिल्लाने, हाथ-पाँव फेंकने दुनिया में आते हुए देखने में, कुछ दिन के आये हुओं की उन्नति-प्रगति के मोआइने में, और आवागमन को दर्ज करने के लिये टाउन-एरिया के दफ्तर तक बार-बार दौड़ने में बीतता था। उसे दोपहर को खाना खाने और आराम करने का समय भी हज़ार खींच-तान के बाद मिलता था, और वह भी निश्चित न था, क्योंकि बच्चे जन्म लेने में अवसर और परिस्थिति का किंचित विचार नहीं करते। सुबह चार

बजे, दोपहर के बारा बजे, रात के दो बजे हर घंटा, हर घड़ी उसे अनागत की पुकार पर 'आ रही हूँ !' कहने के लिये तैयार रहना पड़ता था ; और बच्चे थे, कि ऐसी तेज़ी से चले आ रहे थे, जैसे पहाड़ी नदी में लुढ़कते हुए पत्थर। सन्तान-निग्रह की चर्चा दौलत-नगर को शहर से मिलानेवाली कच्ची और गढ़ोंवाली सड़क को पार न कर सकती थी, और अगर बहुत कठिनाई से वह रेंगती हुई वहाँ तक पहुँच भी जाती तो यह निश्चय था कि क़स्बेवाले उसे ज़रा भी विश्वासयोग्य न समझते, क्योंकि वे अच्छी तरह जानते थे कि बच्चे ईश्वर के आदेश से जन्म लेते हैं ; इसमें मनुष्य का क्या दख़ल। अठारह वर्ष के लड़के, छप्पन वर्ष के बुड्ढे, अल्हड़ लड़कियाँ, अधेड़ स्त्रियाँ : सबके सब आश्चर्यपूर्ण तत्परता और मनोयोग के साथ सड़कों की नालियों में खेलनेवाले बच्चों की संख्या में योग दिये जा रहे हैं, मानो वे राष्ट्रीय मस्तिष्क के लिये कारखानों में काम करनेवाले श्रमिक हैं और फिर वे विचारे करते भी क्या : वे तो भगवान के आदेश से विवश थे। तात्पर्य यह, कि बच्चे चले आ रहे थे : काले बच्चे, पीले बच्चे, पुरचे मुर्गे की तरह लाल बच्चे, और कभी-कभी गोरे बच्चे ; दुबले-मैले, हड्डियों के ढाँचे, या कोई-कोई मोटे-ताज़े बच्चे ; मुड़े हुए बालोंवाले, चपटी नाकवाले, छछूँदर की तरह गुलगुले, लकड़ी जैसे सख्त, हर रंग और हर प्रकार के बच्चे। एमिली ने अपनी दादी से सुना था कि उनके बचपन में एक मर्तबा पाव-पाव भर के मेंडक बरसे थे। वह कभी-कभी सोचा करती थी और उस समय उसे सहज हँसी भी आ जाती—कि ये बच्चे वही बरसनेवाले मेंडक हैं—पाव-पाव भर के पीले-पीले मेंडक !

और उसे इन्हीं पीले मेंडकों की वर्षा की हर बूँद को बरसते हुए देखने के लिये क़स्बे की टूटी-फूटी रोड़ों की सड़कों, तंग-अँधेरी सीली हुई गलियों, गर्द-गुबार, कूड़े-करकट के ढेरों, भूँकते हुए लाल-पीले कुत्तों और किसानों की गाड़ियों और बासवालियों से फँसे-ठँसे हुए बाज़ारों में सारा-सारा दिन घूमना पड़ता था। पतली-पतली सड़कों पर दोनों तरफ़ रेत का हाशिया ज़रूर बना हुआ था, और फिर नालियाँ तो ठीक बीचों-बीच बहती थीं, जिनकी स्याही किसी गँवारिन के बहे हुए काजल की तरह सड़क का काफ़ी भाग अधिकृत किये रखती थी। सफ़ाई के भंगी नालियों की गन्दगी समेट-समाट कर सड़क पर फैला देते थे, जिनसे अपनी साड़ी को बचाए रखने के लिए एमली को हलके-फुलके फिरोज़ी सैंडल के बजाय ऊँची एड़ी वाला काला जूता पहनना पड़ता था। यद्यपि इसी रूप में सड़क के उभरे हुए असंख्य कंकड़ उसके पैरों को डगमगा देते थे। रास्ते में गिल्ली-डंडा और कबड्डी खेलनेवाले लौंडों की उजबकता उसके कपड़ों पर हरबार अपना चिह्न छोड़ जाती थी, मगर ख़ैर यह शुक्र था कि वह हमेशा अपनी आँखें और दाँत सुरक्षित ले आती थी। और यहाँ की गर्मी ! उसे मालूम होता था कि वह निश्चय पसीनों में घुल-घुलकर समाप्त हो जायगी। इन नंगी सड़कों पर भी सूर्य इस तेज़ी से चमकता था कि उसके बदन पर चिंगारियाँ नाचने लगतीं और उसकी नीली फूलोंवाली छतरी केवल एक बोझ बन जाती। जब वह अपनी ऊँची एड़ियों पर लड़खड़ाती, सँभलती धूप में जलती-भुनती सड़कों पर से गुज़रती, तो उसे दूर से आल्हा गाने की आवाज़, ढोल की

खटखट, और पेड़ों के नीचे ताश की पार्टियों का ऊँचे और तीव्र अट्टहास, दोपहर की नींद हराम कर देनेवाली बोझल मक्खियों की भिनभिनाहट की तरह उबानेवाली मालूम होती, और वह चार महीने पहले छोड़े हुए शहर का विचार करने लगती, लेकिन शहर इस समय स्वप्नों का ऐसा रंगस्थल बन जाता जिसे सुबह उठकर हज़ारों प्रयत्नों के बावजूद स्मरण नहीं किया जा सकता, और जिसके मधुर आकर्षण का विश्वास दिनभर हृदय को बेचैन किये रखता। उसे कुछ रोशनी-सी मालूम होती—एक चमक, एक विस्तार, एक गहराई—कुछ हरियाली उसके सामने तैरती...और फिर वह उसी तपती हुई कंकड़ों, नालियों और रेतवाली सड़क पर लड़खड़ाती सँभलती चल रही होती, बिजली के पंखेवाले कमरे की कल्पना तक इस तपन और जलन को कम करने में उसकी सहायता न करती। लेकिन हाँ, जब कभी वह सौभाग्य से रात को काम से निश्चिन्त होती, और उसे अपने बिस्तर पर कुछ देर जागने का अवसर मिल जाता, तो उस समय शहर के जीवन के चित्र सिनेमा के चित्रपट के समान पूरी रोशनी और सफ़ाई के साथ उसकी दृष्टि के सामने गुज़रने लगते, और वह जिस तस्वीर को जितना देर चाहती ठहरा लेती। लेकिन जब वह इन चलचित्रों का आनन्द उठाने के बीच उन दृश्यों को याद करती जिनसे उसका हर समय सामना होता था, तो उसकी अन्यमनस्कता और निराशा धीरे-धीरे उसे घेर लेतीं, घर की दीवारें नैशान्धकार के साथ उस पर झुक पड़तीं, दिल भिचने लगता, साँस गर्म और कठिन हो जाता, और उसका सिर घिर्री खा-खा कर नींद की बेहोशी में डूब जाता, और वह स्वप्न में देखती कि वह फिर उसी पुराने शहर के अस्पताल में पहुँच गयी है, मगर उन दरवाज़ों तथा दीवारों से बजाय अपनापे के कुछ बेगानगी-सी टपकती है, और स्वयं उसके अङ्ग जमकर गतिहीन हो गये हैं, और कोई अज्ञात-भय उसके हृदय पर छाया हुआ है। वह सुबह तक यही स्वप्न तीन-चार मर्तबा देखती, और वास्तव में उसके लिए इन दो जीवनों का संतुलन होना भी चाहिये था ऐसे प्रभावों का पैदा करनेवाला। माना कि शहर में भी ऐसी सीली हुई टूटी-फूटी सड़कें, गर्द-गुबार, शरीर लड़के मौजूद थे, और वह उनकी स्थिति से अनजान न थी; लेकिन वह तो, हवा की चिड़ियों की तरह इन सबसे बेपरवा और सन्तुष्ट, ताँगे के गद्दों पर झूलती हुई उन महल्ले-टोलों से दसवें-पन्द्रहवें कभी निकल जाया करती थी। उसकी दुनियाँ तो इन इलाक़ों के ज़िले के सदर अस्पताल में थी। कितनी खुली हुई जगह थी वह; और वहाँ की हवा का आनन्द तो वह सारी उम्र न भूल सकेगी। अस्पताल के सामने तारकोल की चौड़ी सड़क थी, जिस पर दिन में दो मर्तबा झाड़ू दी जाती थी, और जो हमेशा शीशे की तरह चमका करती थी। जब वह शाम को अपनी सहेली डयना के साथ इस पर टहलने के लिये निकलती थी तो वह दूर-दूर तक फैले हुए खेतों और मैदानों पर से आनेवाली ठण्डी हवा के झोंके चेहरे और आँखों पर लग-लगकर दिमाग़ को हलका कर देते थे; उसकी साड़ी फरफराने लगती, माथे पर बालों की एक लड़ी तैरती, और उसकी रफ़्तार चञ्चल और तेज़ हो जाती। ऐसे समय बातें करना कितना सुखद और आनन्दमय होता था। गर्द गुबार का तो यहाँ नाम

भी न था। मई-जून के जक्कड़ भी अस्पताल की सफ़ेद और शीशेवाली इमारतों पर से सनसनाते हुए शहर की तरफ़ गुज़रते चले जाते थे; और बिजली के पंखे से ठंडे रहनेवाले कमरे में दोपहर की सख़्ती और उदासी अपनी छाया तक न डाल सकती थी। जब वह रोबीले ढंग से साड़ी का पल्ला सँभाले गुज़रती थी, तो अस्पताल के नौकर-चाकर चारों तरफ से उसे 'मेम साहब' 'मेम साहब' कहकर के सलाम करने लगते थे। यद्यपि यहाँ भी उसे सब मेम साहब ही कहते थे, सड़कों पर झाड़ू देनेवाले भंगी उसे आते देखकर थम जाते थे, बल्कि क़सबे के ज़मींदार तक उसे 'आप' कहकर सम्बोधन करते थे, मगर फिर भी यहाँ वह बात कहाँ उपलब्ध हो सकती थी। वह रोब, वह प्रभाव, वह प्रभुत्व। वहाँ तो उसका व्यक्तित्व अस्पताल का एक अपरिहार्य अंश था: उस सफ़ेद, ठंडी और गम्भीर इमारत और उसके अप्रत्यक्ष किन्तु अटल. विधानों और नियमों की एक जीवित मूर्ति। अस्पताल के नश्तर के सामने आने के बाद कोई व्यक्ति उसका प्रतिरोध नहीं कर सकता था। इसी प्रकार उम्र की सीमाओं में प्रवेश करनेवाली प्रत्येक वस्तु को उसकी इच्छा के वश होना पड़ता था। जब उसका रोगियों की जाँच का समय आता था, तो वार्ड में पहले से तैयारियाँ होने लगती थीं। वह दो रुपया रोज़ किराया देने वालियों तक को झिड़क देती थी, क्योंकि उसे अपने साफ़ कमरों में पान की पीक तक देखना सह्य नहीं था। वह बड़ी-बड़ी नाज़ुक मिज़ाजों को ज़रा सी बेपरवाही और नियमों के विरुद्ध जाने पर बे तरह डाँटती थी, और हमेशा सब से तुम कहकर बोलती थी, मगर यहाँ की औरतें तो बहुत ही मुँहफट थीं। वह इससे घबराती और डरती तो अवश्य थीं, किन्तु उसे ऐन मुँह पर जवाब देने से न चूकती थीं। थोड़े दिन तक उनपर अपना अधिकार जमाने का प्रयत्न करने के बाद अब वह थक चुकी थी, और उनकी बातों में अधिक दखल न देती थी। और सफ़ाई और सलीक़े की तो इन औरतों को हवा तक न लगी थी। ज़च्चा को गर्मी में भी तुरन्त एक कमरे में बन्द कर दिया जाता था, जिसमें जाड़ों के लिहाफ़, चावल, और दूसरी जिंसों के मटके, टूटी हुई चारपाइयाँ, बरतन, कोयलों का घड़ा, मूत और रूअड़ की गठरियाँ सब अल्लम-गल्लम भरे होते थे। और एक अँगीठी पर घुट्टी चढ़ा दी जाती थी। किसी-किसी जगह तो जल्दी-जल्दी कमरे में गोबरी होने लगती थी, जो पैरों से उखड़-उखड़कर फर्श को चलने के काबिल भी न रहने देती थी, और जिसकी सीलन अँगीठी की गर्मी से मिलकर साँस लेने में कठिनता पैदा करती थी। घर की सब औरतें—और वह कम-से-कम चार होती थीं—अपने बदबूदार कपड़ों समेत कमरे में घुस आती थीं, और घबराहट में सारे सामान को ऐसा उलट-पलट कर देती थीं कि जरा-सी कत्तर तक न मिलती थी। अन्दर की खुसर-पुसर, खड़ड़-पड़ड़, कराहों, 'या अल्ला!' 'या अल्ला!' और औरतों के बार-बार किवाड़ खोलकर अन्दर-बाहर आने-जाने से घर के बच्चे जाग जाते थे, और अपने आपको अम्मा के निकट न पाकर चिनचिनाना शुरू कर देते थे, और उनकी बड़ी बहनें चुमकार-चुमकार कर और थपक-थपक कर उन्हें सुलाने का प्रयत्न करती थीं: 'अरे चुप-चुप...देख, भैया आ रहा है!...सुबह को देखियो...मुन्ना-सा भैया!' मगर सुबह को मुन्ना-सा भैया देख सकने की उम्मीद उन्हें उस वक्त कोई तसक़ीन न दे सकती, और

उनकी रूँ-रूँ दहाड़ों के रूप में ऊँची होकर कमरे के हो-हल्ले में और योग दे देती। यह तो खैर जो कुछ था सो था, गन्दे बिस्तरों, लेप चढ़े हुए तकियों, पसीने में सड़े हुए कपड़ों और मुद्दतों से न धुले हुए बालों की बदबू से—जिसे गर्मी और भी दुगना किये देती थी, उसका जी उचटने लगता था। वह सारे समय प्रत्येक चीज़ से दामन बचाती हुई खड़ी-खड़ी फिरती थी। उस कमरे में एक घंटा बिताना मानो जहन्नुम की यातनाओं के लिये तैयारी करना था। यह माना कि स्वयं उसे कुछ नहीं करना पड़ता था, क्योंकि कसबे की औरतें अपने आपको नये-नये अंग्रेज़ी प्रयोगों के लिये पेश करने, और अपने आपको एक अपरिचित और किरिस्तानी मिडवाइफ़ के, जो अनदेखे और संदेहात्मक अस्त्रों से सज्जित थी, हाथों में देने के लिये कदापि प्रस्तुत न थीं; उन्हें तो कसबे की पुरानी दाई और फूटे हुए घड़े के ठीकरों पर ही विश्वास था। तथापि उनके मर्दों ने टाउन एरिया से डर कर उन्हें इस पर राज़ी कर लिया था कि वे कमरे में नई ईसाई मिडवाइफ़ की उपस्थिति सहन कर लें। इस प्रकार क्रियात्मक रूप में तो उसका काम बिलकुल कम हो गया था, लेकिन आख़िर ज़िम्मेदारी तो उसकी ही थी, और वह भी टाउन-एरिया कमेटी के सामने हर भलाई-बुराई के लिये उत्तरदायी थी। इस उत्तरदायित्व को पूरा करना हवाओं से लड़ना था। अक्सर नयी जच्चा लड़कियाँ इतनी चीखतीं चिल्लातीं और हाथ-पैर फेंकती थीं, कि उन्हें काबू में करना दूभर हो जाता था, या फिर कोई-कोई ऐसी सहम जाती थीं कि वे डर के मारे किंचिन्मात्र भी हिलती-डुलती न थीं। तीन-तीन चार-चार बच्चों की मायें तो और भी ज़्यादा आफ़त थीं, वे अपने अनुभवों के आगे इस साड़ी पहनकर बाहर घूमनेवाली ईसाई औरत के अनोखे आदेशों को कोई महत्व देने के लिये तैयार न थीं। वे अपनी आहों-कराहों के बीच में भी दाई को सलाह देने लगती थीं, और एमली को दाँतों से होंठ चबा-चबाकर मौन रह जाना पड़ता था, और दाई तो भला उसकी कहाँ सुननेवाली थी। उसे अपनी अधिक जानकारी और मिडवाइफ़ के अज्ञान का विश्वास तो खैर था ही, मगर उसकी उपस्थिति से अपनी आमदनी पर असर पड़ता देखकर उसने एमली की हर बात को काटना अपना कर्तव्य बना लिया था। यद्यपि एमली ने उसके तानों को पी जाने की आदत डाल ली थी, लेकिन उसका हृदय कोई पत्थर का थोड़ा ही था। दाई के रुख को देख-देखकर दूसरी औरतें भी दिलेर हो गयी थीं; उसकी ओर ध्यान दिये बिना वे पलंग को घेर लेती थीं, और वह सबसे पीछे छोड़ दी जाती थी। अब उसके लिये इसके सिवाय क्या रह जाता था कि वह झुँझला-झुँझलाकर पैर पटके और उन्हें पुकार-पुकारकर अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न करे। इन सब परीक्षाओं से निकलने के पश्चात उसे हर बार दर्ज करने के लिये टाउन-एरिया के दफ़्तर जाना पड़ता था। उसे देखकर बख़्शी जी की आँखें चमकने लगतीं और उनके पान में सने हुए काले दाँत किंचित हास्य का रूप लेकर उनकी छोटी दाढ़ी और बड़ी मूछों से बाहर निकल आते, और वह उसकी तरफ़ कुरसी खिसकाते हुए कहते: 'कहो मेमसाहब, लड़का कि लड़की?' मूछों के उन घने कठोर काले बालों की निकटता उसे घबरा देती और उसे ऐसा मालूम होने लगता, जैसे इन बालों में एकाएक बिजली

की लहर दौड़ जायगी और वह सीधे होकर उसके चेहरे से आ मिलेंगे। वह घृणा और भय से पीछे सिमट जाती, और बख़्शीजी से दृष्टि बचाती हुई शीघ्र से शीघ्र अपना कार्य समाप्त करने का प्रयत्न करती।

इन सारी कठिनाइयों को पार करती हुई वह बहुधा आठ-नौ बजे रात को थकी-हारी अपने घर पहुँचती थी। जब पैर कहीं-के-कहीं पड़ रहे हों, सर भन्नाया हुआ हो, जब शरीर का कोई भी भाग एक-दूसरे का साथ देने को तैयार न हो, तो भला भूख क्या ख़ाक लग सकती है। वह जूता खोलकर पैर से कोने में उछाल देती, और कपड़े इस तरह झुँझला-झुँझला कर उतारती कि दूसरे दिन नसीबन को उन्हें धोबी के यहाँ इस्तरी कराने ले जाना पड़ता। उलटा-सीधा खाना हलक़ के नीचे उतारकर वह बिस्तर पर गिर पड़ती। तकिये पर सर रखते ही दीवारें, पेड़, सारी दुनियाँ उसके चारों ओर द्रुत गति से घूमने लगते, भेजा धड़धड़ा कर खोपड़ी में से निकल भागने की कोशिश करता, सर तकिये में घुसा जाता, मगर तकिया उसे ऊपर उछालता मालूम होता, बाहें टूट-सी जातीं, हथेलियों में सीसा-सा भर जाता, और हाथ ऊपर न उठ सकते। इसी तरह टाँगें भी हरकत करने से इनकार कर देतीं, और कमर तो बिलकुल पत्थर ही बन जाती। वह अपने पुराने अस्पताल को याद करना चाहती, मगर वह किसी चीज़ को भी पूरी तरह याद न कर सकती? खिड़की का किवाड़, रोगियों की लोहे की चारपाई का पाया, मोटर के पहिये, नीम के पेड़ की चोटी, पान में सने हुए काले दाँत और घनी कड़ी मूँछें; ये सब बारी-बारी बिजली के लपके की तरह सामने आते और आँख झपकने में विलोप हो जाते; वह खिड़की के किवाड़ से एक कमरा सम्बद्ध करना चाहती, किन्तु, उसमें अधिक से अधिक एक चिटखनी की ही अभिवृद्धि कर सकती, बल्कि कभी-कभी लोहे की चारपाई का पाया तो एक खूँटे की तरह उसके दिमाग़ में गड़ जाता और प्रयत्न के बावजूद भी टस-से-मस न होता; नीम की चोटी को तना उपलब्ध न हो सकता...फिर नीम की हरी-हरी चोटी पर एक रेत के दुकूलवाली नाली बहने लगती, और खिड़की के शीशे पर पान में सने हुए काले दाँत, मुस्कराते और घने, कड़े बालोंवाली मूँछें उत्तेजना से हिलतीं...भिन्न-भिन्न शक्लें एक दूसरे से संघर्ष करतीं, और मस्तिष्क के एक सिरे से दूसरे सिरे तक लड़तीं, झगड़तीं, टकरातीं, रौंदतीं, दौड़तीं...काले नभ पर प्रकाशमान अनगिनत तारों के गुच्छे के गुच्छे भुनगों की तरह आँखों में घुस-घुसकर नाचने लगते, और जलती हुई आँखें कनपटियों की स्वप्नमयी भद-भद से धीरे-धीरे बन्द हो जातीं...सोने के बाद तो इन आकृतियों के और भी छोटे-छोटे टुकड़े हो जाते, जो बारी-बारी आते और उसके मस्तिष्क पर पूर्णतया छा जाना चाहते: इतने ही में एक दूसरा आ पहुँचता और पहलेवाले को धक्के दे-देकर बाहर निकाल देता, अभी यह कशमकश समाप्त भी न होती, कि एक तीसरा आ धमकता। इन सब का परस्पर प्रतिद्वन्द्व और सङ्घर्ष उसे बार-बार चौंका देता, और वह हलकी-सी कराह के साथ आँखें खोल देती...फिर आँखों में तारों के गुच्छे के गुच्छे भरने लगते...कहीं सुबह के निकट जाकर ये शकलें थकतीं, और एमिली नींद में बिलकुल बेहोश हो जाती...मगर उसकी नींद पूरी होने से पहले 'किवाड़ खोलो!' की लगातार और ज़िद्दी

चीखें उसके मस्तिष्क में आग्रहपूर्वक में गूँजतीं—वही चीखें, वही धड़धड़ाहट, कर्तव्य और विश्राम का वही कटु सङ्घर्ष, वही झल्लाहट और निराशा।

नसीबन बाहर से लौट आई थी, उसे शेख़ सफ़दरअली के यहाँ बुलाया गया था, और पुकारनेवाले ने बार-बार कहा था: 'जल्दी!—बुलाया है—जल्दी!' हरेक यही कहता हुआ आता है—जल्दी! आख़िर वह क्यों जल्दी करे? क्या वह उनकी नौकर है, या वह उसे कोई दौलत बाँट देते हैं? हुँह, जल्दी! वह न पहुँचेगी तो क्या सब मर जायेंगे? और फिर वे करेंगे ही क्या उसे बुलाकर?—कहती हैं चुड़ैलें; 'उसे पत्थर आता है! क्या ख़ाक आता है, कुछ नहीं आता' अच्छा फिर? बैठें अपने घर, कौन उनकी ख़ुशामद करने जाता है—कुछ नहीं आता—जैसे-जैसे डाक्टरी अस्त्र उसने देखे हैं इन लोगों के तो सपने में भी न आये होंगे, चमकदार, तेज़, हाथी दाँत के दस्तेवाले—और वह डाक्टर कार्टफील्ड के लेक्चर! वह कैसे नक़्शे दिखा-दिखाकर जिस्म के हिस्सों को समझाती थीं—कुछ नहीं आता! हुँह!

ग़मली के होंठों पर मुस्कराहट आ गई। पहले तो उसका जी चाहा कि कहलवा दे कि वह जल्दी नहीं आ सकती, वह बिलकुल नहीं आयेगी। मगर फिर उसे ख़याल आया, कि केवल मूर्ख ही तो हैं। उनके बकने से उसका बिगड़ता क्या है, और आख़िर ज़िम्मेदारी तो ख़ुद उसकी ही है। अस्तु उसने नसीबन से कहा: 'कह दो, कि चलो, मैं आ रही हूँ!' सन्तोष से उसने करवट ली, सर को तकिये पर ढीला छोड़ दिया, आँखें बन्द कर लीं, एक बाँह बिस्तर की ठंडी चादर पर फैला दी और हाथ चेहरे पर रख लिया। उसने चाहा कि मस्तिष्क को बिलकुल ख़ाली कर ले और स्थिर हो जाय। मगर उसके हृदय की खट-खट खट-खट कानों में बज रही थी, और थोड़ी-थोड़ी देर बाद एका-एक पत्थर-सा दिमाग़ में आकर लगता था 'जल्दी!'—जिससे उसके माथे और कनपटियों की नसें तन जाती थीं और टूटती हुई मालूम होने लगती थीं... उसे जल्दी जाना था—जल्दी ..और इसी बात के तो वह टाउन एरिया कमेटी से तीस रुपये मासिक पाती थी—जल्दी जाना था।...लेकिन आख़िर वह कर्तव्य पर स्वास्थ्य की तो बलि नहीं दे सकती थी। कल रात ही उसे बहुत देर हो गयी थी। वह मानव ही तो थी, न कि मशीन। अब वह अनुभव कर रही थी कि उसके सिर में पीड़ा हो रही है, कमर बैठी जाती है, कन्धे और टाँगें प्राणहीन हो गये हैं, ऐसी दशा में इतनी जल्दी उठ जाना बहुत हानिकर होगा, और विशेषकर इस क़सबे जैसी आब-हवा में, जहाँ उसका स्वास्थ्य दिन पर दिन गिरता जा रहा है। अभी पिछले महीने में उसे चार बार बुख़ार आ चुका था- और फिर वह वहाँ जाकर बना ही क्या लेगी, उन लोगों को ऐसी क्या विशेष आवश्यकता है उसका थोड़ा सा और सो लेना ही अच्छा होगा।

वह सो जाती, मगर उँगलियों के बीच में होकर सुबह की रोशनी आ रही थी, और उसकी आँखों को बन्द न होने देती थी। उसने हाथ आँखों पर खिसका लिया, और आँखें ख़ूब भींचकर बन्द कर लीं। अब उसे झपकियाँ आना शुरू हो गयीं, मगर हर दफ़ा 'दूध लो, दूध!'

'अबे ओ कल्लू लो—ए !' 'उठ ! हुठ ! अबे पढ़ने न जाने का ?' की चिल्लाहटों और नसीबन के लकड़ियाँ तोड़ने और देगचियाँ उठाने की आवाजों से वह चौंक पड़ती थी—सोने की कोशिश करते-करते उसकी आँखों में पानी भर आया, सर में दर्द होने लगा और माथा जलने लगा। वह हताश होकर सीधी लेट गयी, और आँखों पर दोनों बाहें रखलीं। अब उसके सब अङ्ग और भी अधिक बोझल और हिल सकने से मजबूर हो गये, और वह इन चिल्लाहटों, आवाजों, इन तलबियों के आदेशों—'जल्दी बुलाया है'—इस सुबह के उजाले, इस क़स्बे पर, दाँत पीसने लगी। वह चाहती थी कि कोई ऐसी चादर ओढ़ ले जो उसको इन चिल्लाहटों, आवाजों, इन तलबियों के आदेशों—'जल्दी बुलाया है'—इस सुबह के उजाले, इस क़स्बे, सबसे, छिपाले, जिसके नीचे इनमें से किसी की भी पहुँच न हो, जहाँ वह इन सबको—अपने आपको—भूल जाय,—अपने को खो दे...उसे अनुभव हुआ कि दो सुदृढ़ और दीर्घ परिचित बाँहें उसके शरीर का घेरा किये, उसे भींच रही हैं...सिर के दर्द को मानो किसी ने एकाएक जकड़ लिया...दो आँखें भी ज़रा कुछ दूर चमकीं, मुस्कराती हुई मालूम हुई, और उसने अपने आपको इन बाँहों के बन्धन में छोड़ दिया..जिस्म हवा की तरह हलका हो गया था, सिर हलके-हलके झकोले खाता लहरों पर बहा चला जा रहा था ; स्थिर शान्ति थी, नीरवता थी, और केवल हृदय के उल्लास से धड़कने की आवाज आ रही थी...दो बाहें उसके शरीर को भींच रही थीं...दो शक्तिशाली और दीर्घ-परिचित बाहें...

उसने डरते-डरते आँखें खोलीं। प्रभात के उजाले में चमक आ गयी थी। नसीबन ने चूल्हे पर देगची रखी ; बकरीवाला मोहल्ले से जाने के लिये बकरियाँ जमा कर रहा था, और कुएँ की गरारी ज़ोर-ज़ोर से चल रही थी। उसकी आँखें ऊपर उठीं और हवा में किसी वस्तु की खोज करने लगीं..दो बादामी छायाएँ उतरने लगीं, आँखों के परदे फड़के, और पलकें आहिस्ता-आहिस्ता एक दूसरे से मिल गयीं, गोया वह उन छायाओं को फँसा लेना चाहती हैं...छायाएँ कुछ दूर पर रुक गयीं, वे डगमगाईं और धुँधली होती-होती हवा में घुल गयीं...आँखें प्रभात के वर्णहीन आकाश को देख रही थीं, उसकी गर्दन ढलक गयी, और बाहें दोनों ओर गिर पड़ीं—दो दीर्घ-परिचित बाहें—मगर वह यहाँ कहाँ !

कुछ क्षण स्थिर पड़े रहने के बाद वह विलियम्स को याद करने लगी ; लम्बे-लम्बे पीछे उलटे हुए बाल, चौड़ा सीना, सुर्ख डोरोंवाली जल्द-जल्द फिरती हुई आँखें, मोटा-सा निचला होंठ, कान की लौ तक कटी हुई क़लमें, साँवले रंग पर मुँड़ी हुई दाढ़ी का गहरा चिह्न, आँखों के नीचे उभरी हुई हड्डियाँ, और सुदृढ़ बाहु . दिन में कितनी-कितनी मर्तबा। उसके बाहु उसे भींचते थे, और उनके बीच वह बिलकुल बेबस हो जाती थी, और कई दफ़ा तो झुँझला पड़ती थी, मगर इसके जवाब में उसका प्यार और बढ़ जाता था...और उसके दोनो गालों पर वे उष्ण और तरल चुम्बन...और दिन में कितनी-कितनी मर्तबा...उसके मुँह से शराब की तेज़ दुर्गन्ध तो अवश्य आती थी, मगर वह कैसे जोश से उसे अपने बाहुओं में उठा लेता था, और

पागलों की तरह उसके चेहरे, हाथों, गर्दन, वक्ष, सब पर चुम्बन बरसा देता था, और फिर अट्टहास करके हँसता था...'मेरी जान!..हा-हा-हा-हा !..एमीली !...प्यारी !..हा-हा-हा !'—और वह उसकी कैसी ख़बरगीरी रखता था, वह उससे अपने बाहुओं में पूछता : 'इस महीने में कैसी साड़ी लाओगी, मेरी जान ?...हैं ?...इस वक्ष पर तो लाल खिलेगी ! कहो, कैसी रही ? हा-हा हा-हा !' और वह उसे दोपहर में तो कभी न निकलने देता था अगर उसे ऐसे समय अस्पताल से बुलाया जाता, तो वह कहलवा देता कि मिसेज़ विलयमसन सो रही हैं—और वह उसके उठने से भी पहले चाय तैयार कराके अपने आप उसके निकट मेज़ पर ला रखता था—और वह उसे कितने प्यार से भींचता था—मगर वह यहाँ कहाँ ! अगर वह यहाँ होता तो वह उसे इतने सबेरे कहीं न जाने देता। वह यहाँ होता तो वह स्वयं कहीं न जाती, वह तो ऐसे किवाड़ पीट-पीटकर जगानेवाले का सर तोड़ देता –लेकिन वह यहाँ होता ?—वह उसके पास होता, तो वह स्वयं यहाँ क्यों होती !

लेकिन—कुछ दूसरी शक्लें उभरीं, अच्छा ही है कि वह उसके पास नहीं है—उसके बाल उलझे हुए और परीशान थे, और वह इसी तरह दाँतों से होंठ चबा रहा था मानों उनका कीमा करके रख देगा और उसने उसे कैसी निर्दयता से बेंत से पीटा था : 'ले, और लेगी ?...बड़ी बन के आयी है वहाँ से वह...' अगर मेम साहब शोर सुनकर न आ जातीं तो न मालूम अभी वह और कितना मारता—एमली अपनी बाहों पर निशान ढूँढने लगी—ऐसे ज़ालिम से तो छुटकारा ही अच्छा, कैसी रक्तवर्ण आँखें थीं, और अन्त में वह शराब कितनी पीने लगा था, मगर वह होता तो उसे इतने सवेरे कहीं न जाने देता। माना कि वह रोज़ा के साथ रात को बड़ी देर तक टहलता रहता था, लेकिन प्रकट में तो उसके साथ उसका बर्ताव वैसा ही रहा था। यदि वह स्वयं इतना न बिगड़ती, और उसे हर समय उठते-बैठते ताने न देती तो शायद बात यहाँ तक न पहुँचती। वह उसे कितने प्यार से भींचता था, लेकिन वह कैसे बरदाश्त कर सकती थी कि वह रोज़ा के साथ फिरा करे। रोज़ा, काला तवा-सी। मुँह पर हड्डियाँ निकली हुई, सूखी जैसे लकड़ी हो, और फ्राक पहनने का बड़ा शौक था आपको। बड़ी मेम साहब बनती थीं। चार अक्षर अंग्रेज़ी के आ गये थे तो ज़मीन पर पाँव न रखती थी मारे शेख़ी के, न जाने ऐसी क्या चीज़ लगी हुई थी उसमें, जो वह उस पर ऐसा लट्टू हो गया था। उसने व्यर्थ इतनी चिन्ता की, वह स्वयं उसे थककर छोड़ देता। वह उसे योंही चलने देती तो क्या था, मगर उसने कैसी निर्दयता से उसे मारा था। हाँ, अरे, एक दफ़ा मार ही लिया तो क्या हो गया। वह स्वयं भी तो शर्मिन्दा मालूम होता था, और उसके सामने न आता था। और अगर डायना उसे इतना न बहकाती तो वह शायद तलाक़ भी न लेती, बस वह अपना ज़रा मज़ा लेने को उसे उकसाती रही, यह अच्छी दोस्ती है। अब वह डायना से नहीं बोलेगी। अगर वह मिलेगी भी तो वह मुँह फेरकर दूसरी तरफ़ चल देगी, और जो डायना स्वयं उससे बोली तो वह साफ़ कह देगी कि धोखा देनेवालों से नहीं बोलना चाहती। डायना बिगड़ जाय तो बिगड़ा करे। अब तो वह शहर के अस्पताल से चली ही आई, अब कोई रोज़ का काम-काज तो है नहीं कि बोलना ही पड़े...

वह इसी तरह डायना की मक्कारी पर पेचताब खाती रहती, अगर नसीबन उसे न पुकारती : 'अजी मेम साहब, उठो, सूरज निकल आया।' वह हड़बड़ाकर उठ बैठी, और चारों तरफ़ देखा, अब तो वास्तव में उसे चलना चाहिये था। मगर फिर भी पलंग से उतरने से पहले उसने कई बार अँगड़ाइयाँ लीं और तकिये पर सर रगड़ा।

वह मुँह धो-धाकर चाय की प्रतीक्षा में फिर बिस्तर पर आ बैठी। नसीबन लकड़ियों को चूल्हे में ठीक करती हुई बोली : 'वह मुन्सियाइन कह रही थीं कि तुम्हारी मेम साहब तो ईद की चाँद हो गयीं ; कभी आ के भी नहीं झाँकतीं...अजी, हो भी आओ उनकी तरफ़, मेम साहब, किसी दिन ! बड़ा याद करें हैं तुम्हें।'

हो भी आऊँ उनकी तरफ़ ?— क्या करे वह जाकर ? मैले-कुचैले पलंगों पर बैठना पड़ता है, टूटे-टाटे यहाँ की औरतों से वह क्या बातें करे ? बस उन्हें तो यह क़िस्से सुनाए जाओ कि उसके बच्चा मरा हुआ पैदा हुआ, और उसको इतनी तकलीफ़ हुई, और उसको ऐसी बीमारी थी, वह कहाँ तक लाए क़िस्से सुनाने को। और कोई बात तो जैसी आती ही नहीं उन्हें।...और फिर ये लोग कितनी बदतमीज़ हैं। सड़े हुए कपड़े लेकर सिर पर चढ़ जाती हैं...उसे इन लोगों के हाथ का पान खाते हुए कितनी घिन आती है ; मगर मजबूर खाना ही पड़ता है...जब वह उनसे बातें करती है तो हलके-हलके मुस्कराती जाती हैं जैसे उसका मज़ाक़ उड़ा रही हों...और कनखियों से एक दूसरे को और सारे घर को देखती जाती हैं, मानो वह चोर है, और उनकी आँख बचते ही कोई चीज़ उड़ा देगी... यह, उससे सब औरतें झिझकती क्यों हैं ? क्या वह उनकी तरह औरत नहीं है ? या वह कोई हौआ है ? - अजीब बेवक़ूफ़ हैं ये औरतें भी ! और हाँ, जब वह उनके यहाँ जाती है तो उनके इशारे से जवान लड़कियाँ जल्दी-जल्दी भाग कर के कमरे में छिप जाती हैं। वे अन्दर से झाँक-झाँक कर उसे देखती हैं ; और अगर कहीं उसकी नज़र पड़ जाती है, तो फ़ौरन हट जाती हैं, और अन्दर से हँसने की आवाज़ आती है। और अगर उन्हें उसके सामने ही आना पड़ जाय, तो वे बदन चुराती हुई ऊपर से नीचे तक खूब दुपट्टा ताने हुए आती हैं, मानो उसकी दृष्टि उनमें से कुछ छुटा लेगी, या उसकी दृष्टि पड़ जाने से इनमें कोई गन्दगी घिर जायगी उनका यह व्यवहार उसे बिलकुल नापसन्द है। क्या उन्हें इस पर एतबार नहीं, और वे उस पर सन्देह करती हैं ? इससे तो उसके यहाँ न जाना ही अच्छा। बैठें अपनी लड़कियों को ले के, अपने घर में। और वो गन्दे बच्चे, मट्टी में सने, नाक बहती, आधे नंगे, पेट निकला हुआ। वे सामने आकर खड़े हो जाते हैं, और उसे ऐसा घूरकर देखते हैं मानो वह कोई नया पकड़ा हुआ अजीब और अद्भुत जानवर है, और जब वह उनसे बोलती है, तो वे सीधे बाहर भाग जाते हैं। जंगली हैं बिल्कुल, जानवर...बिलकुल—और यह खूब है कि उसके पहुँचते ही उनके यहाँ झाड़ू शुरू हो जाती है, मारे गर्द के साँस लेना मुश्किल हो जाता है। ज़रा विचार नहीं तन्दुरुस्ती का उन्हें। और कोई क्यों उनके यहाँ जाकर बीमारी मोल ले। और उनके मर्द, कितनी लज्जा आती है उसे इन व्यवहारों से। वे सदैव ड्योढ़ी में रास्ता घेरे बैठे रहते हैं, और जब तक वह बिलकुल निकट ही न पहुँच जाय, नहीं हटते—'अरे

हुक्का हटाओ, हुक्का हटाओ।' उठने-उठने इतनी देर लगा देते हैं कि वह घबरा जाती है—जान के करते होंगे ये ऐसी बातें, ताकि खड़ी रहे थोड़ी देर वह वहाँ—और जब वह अन्दर पहुँच जाती है तो उसे अट्टहास की आवाज़ आती है। अजीब बदतमीज़ हैं। अंग्रेजों के यहाँ कितनी इज़्ज़त होती है औरतों की वह बुड्ढे पादरी साहब जो आया करते थे, बहुत अच्छे आदमी थे बिचारे। हरेक से कोई न कोई बात अवश्य करते थे, बल्कि उसे तो वे पहचान गये थे—सब मिलकर जाया करते थे इतवार को गिरजे—वह स्वयं—डायना - केटी—मेरी—शीला—और हाँ, मरसी—मिसेज़ जेम्स का कितना मज़ाक़ उड़ाते थे सब मिलकर। सबके पीछे चलती थीं छतरी हाथ में लिये, हाँपती हुई। और उनमें था ही क्या, हड्डियों का ढाँच थीं बस और गिरजा से लौटते हुए तो और भी मज़ा आता था। सब चलते थे आपस में हँसते मज़ाक करते—उफ़्फ़ोह, शीला कितनी हँसोड़ थी, कैसे-कैसे मुँह बनाती थी। जब हँसने पर आती थी, तो रुकने का नाम न लेती थी—मगर यहाँ वे सब बातें कहाँ—अब तो वह जैसे आदमियों में रहती ही नहीं—और सचमुच, क्या आदमी हैं यहाँ वाले? प्रथम तो उसे इतना अवकाश ही कहाँ मिलता है, हर वक़्त पाँव में चक्कर रहता है—और फिर ऐसों से कोई क्या मिले—जैसे जानवर—न कोई बात करने को, न कोई ज़रा हँसने-बोलने को। बस, आओ और पड़ रहो। ले-दे के रह गयी नर्सीबन, तो उसे इसके अतिरिक्त कोई बात ही नहीं आती कि उसका बेटा भाग गया, उसकी अपने यहाँ से लड़ाई हो गयी, उसके यहाँ बरात बड़ी धूम-धाम से आई—उसे क्या इन सब बातों से; कुछ हुआ करे, उससे मतलब—या बहुत हुआ तो उसे झूठमूठ डराती रहेगी, चोरों के क़िस्से सुना-सुनाकर—एक दफ़ा उसने सुना था कि एक दूसरे क़सबे की मिडवाइफ़ को लोग कैसे बहका कर ले गये थे, और उसके साथ क्या बर्ताव किया था—बकती है; भला, कहीं यों भी हुआ है!—लेकिन अगर कहीं उसके साथ मगर नहीं, बेकार का डर है। जो यों हुआ करे तो लोग घर से निकलना छोड़ दें। भला दुनिया का काम कैसे चले—पागल है बुढ़िया, बहका दिया है किसी ने उसे—मगर ऐसी जगह का क्या एतबार। न मालूम क्या हो, क्या न हो। कोई साथ भी तो नहीं अगर वह मिडवाइफ़ न बनती तो अच्छा था। और वह तो स्वयं ही टीचर बनना चाहती थी, बल्कि पापा भी यही चाहते थे। मगर मामा किसी तरह राजी न हुईं—कितने दिन हो गये पापा को भी मरे हुए—बारह साल। कितना ज़माना गुज़र गया और मालूम होता है जैसे कल की बात हो—कितना प्यार करते थे वह उसे—रोज़ स्कूल पहुँचाने जाते थे साथ—क्लास में उसकी सीट मेज़ के पास थी—और वह अँग्रेज़ी के मास्टर साहब बड़े अच्छे आदमी थे बेचारे। चाहे वह काम करके न ले जाय मगर कभी कुछ नहीं कहते थे—और लड़के तो न। जाने उसे क्या समझते थे! सारे स्कूल में वह अकेली ही लड़की थी न। सब-के-सब मास्टर साहब की दृष्टि बचा-बचाकर उसकी तरफ़ देखते रहते थे—अरे, वह मोटा करमचन्द, भला वह भी तो उसकी तरफ़ देखता था जैसे वह बड़ा ख़ूबसूरत समझती है उसे, और हाँ वह अज़ीम!—बड़ा भोला था बेचारा। सूखा-सा ज़र्द, मगर आँखें बड़ी-बड़ी थीं उसकी। देखता तो वह भी रहता था

उसकी तरफ़, मगर जब कभी वह उसे देख लेती थी तो फ़ौरन शरमा कर दृष्टि नीची कर लेता था और रूमाल निकालकर मुँह पोंछने लगता था—और उस दिन वह दिल ही दिल में कितना हँसती थी। उस दिन वह इत्तिफ़ाक से जल्दी आ गई थी। बरामदे में दूसरी ओर से वह आ रहा था। जब वह निकट आया तो उसका चेहरा लाल हो गया, और घबरा-घबराकर चारों ओर देखने लगा। उसके निकट पहुँचकर वह रुक गया, और कुछ कहने-सा लगा, डरते-डरते अज़ीम ने उसका हाथ पकड़ लिया, और फिर जल्दी से छोड़ दिया। उसे घबराया हुआ देखकर वह स्वयं कितना परेशान हो गया था, और उसने बड़े गिड़-गिड़ाकर कहा था: 'कहियेगा नहीं!'—वह कितने दिन तक इस बात को याद करके हँसती रही थी। कितना सीधा था सचमुच वह—वह अभी स्कूल ही में होती, तो कितना मज़ा रहता—मगर, वह ज़माना तो अब गया। अब तो यहाँ अकेली, दुनिया से अलग पड़ी है। कोई बात तक करने को भी तो नहीं। किसी का पत्र भी तो नहीं आता। वह रोज़ डाकिये से पूछती है, कि उसका कोई पत्र तो नहीं। मगर रोज़ वही जवाब: 'नहीं!'—और जो आया भी तो बस वही लम्बे-लम्बे बदामी लिफ़ाफ़े, 'ऑन हिज़ मैजेस्टीज़ सर्विस', डिस्ट्रिक्ट हैल्थ आफ़िसर की हिदायतें। यों करो और वों करो। कोई उसकी माने भी जो वह यों करे। ख़ामख़ा की आफ़त—और फिर ख़त आये भी कहाँ से? अगर 'आंटी' ही दिल्ली से ख़त भेज दिया करें तो क्या नहीं, मगर वह तो बरसों भी ख़बर नहीं लेतीं। एक दफ़ा जाना चाहिये उसे दिल्ली—अच्छा शहर है, क्या चौड़ी सड़कें हैं, और सिनेमा कितने अधिक हैं—और वह वह तो ख़ैर है ही, मगर वह—

कायँ, कायँ, कायँ ने उसे चौंका दिया। धूप आधी दीवार तक उतर आई थी। कौआ ज़ोर-ज़ोर से चीख रहा था, और वह बिस्तर पर पैर नीचे लटकाये लेटी थी। उसे जल्दी जाना था। और उसने बेकार लेटे-लेटे इतनी देर लगा दी थी। वह नसीबन पर अपना गुस्सा उतारने लगी, कि उसने चाय क्यों नहीं लाकर रखी। मगर वह समझ रही थी, मेम साहब सो रही हैं, और वास्तव में उसने विचार किया, इससे तो वह इतनी देर सो ही लेती तो अच्छा था। बहरहाल, उसने नसीबन से जल्दी चाय लाने को कहा।

उसने दुबारा मुँह धोया, और उल्टी-सीधी चाय पीने के बाद वह कपड़े बदलने चली। ट्रंक खोलकर वह सोचने लगी कि कौन-सी साड़ी पहने—सफ़ेद, लाल किनारे-वाली मगर क्या रोज़-रोज़ एक ही रङ्ग—और फिर सफ़ेद साड़ी मैली कितनी जल्दी होती है। उसकी बहार तो बस एक दिन है। अगले दिन काम की नहीं रहती। नीली साड़ी नीचे से चमक रही थी—उसे ही क्यों न पहने? मगर उसे नीली साड़ी पहने देखकर तो लोग और भी बावले हो जायँगे। वह जिधर से निकलती है, सब के सब उसकी तरफ़ घूरने लगते हैं। उसे बड़ी बुरी मालूम होती है उनकी यह आदत—और इन ज़मीदारों को देखो। बड़े शरीफ़ बनते हैं! ख़ैर, यह तो जो कुछ है सो है, जब वह आगे बढ़ जाती है तो हँसते हैं, और तरह-तरह के आवाज़े कसते हैं—'कहो यार!'-'अबे मजीद, ज़रा लीजो!'—कोई खाँसने लगता है—क्या वह समझती नहीं—ज़रा शहर में करके

देखते ऐसी बातें। वह मजा चखा देती उन्हें—मगर यहाँ वह क्या करे, मजबूर हो जाती है—इसकी ही वजह से तो उसने रंगदार साड़ियाँ छोड़ दीं, और सफ़ेद पहनने लगी, मगर फिर भी नहीं मानते। अब अगर आज वह नीली साड़ी पहनकर जायगी, तो न मालूम क्या-क्या करेंगे—तो फिर सफ़ेद ही पहन ले—मगर रोज़-रोज़ सफ़ेद—और क्या वह कोई उनसे डरती है ? हँसते हैं तो हँसा करें। कोई उसे खा थोड़े ही लेंगे। भला क्या बिगाड़ सकते हैं वह उसका ?—अब वह फिर रंगदार साड़ियाँ पहना करेगी। देखें वह उसका क्या बनाते हैं—हँसेंगे तो जरूर—मगर इससे होता ही क्या है। आज वह जरूर नीली साड़ी पहनेगी।

नीली साड़ी पहनकर उसने बाल बनाने के लिए आइना सामने रखा। कम सोने से उसकी आँखें लाल और कुछ सूजी हुई सी थीं। वह हाथ में आइना उठाकर आँखों को ग़ौर से देखने लगी—मगर यह उसका रंग क्यों खराब होता चला जा रहा था ; और खाल भी खुरदरी हो चली थी—जब वह लड़की थी तो उसके चेहरे पर कैसी चमक थी—रंग साँवला था तो क्या, चमकदार तो था उसकी आंटी हमेशा मामा से कहा करती थी : 'तुम्हें बेटी अच्छी मिली है !'—मगर अब—

उसने आइना रख दिया, और अपने शरीर को ऊपर से नीचे तक ऐसे आश्चर्य से देखने लगी, जैसे मोर अपने पैरों को—उसकी बाहों का गोश्त लटक आया है, और ठोड़ी भी मोटी हो गई है। और हाथ अब कितने सख्त हैं। बाल भी सूखे-साखे, और हलके रह गये हैं - और तेज़ी तो उसमें बिलकुल नहीं रह गई है। पहले वह कितना-कितना दौड़ती-भागती थी, और थकती भी न थी। मगर अब तो थोड़ी ही देर में उसकी कमर टूटने लगती है।

उसने एक लम्बी-सी अँगड़ाई ली, और एक गहरा साँस लिया। बे-रौनक़ चेहरे और पुलपुले बाहुओं ने नीली साड़ी का रंग उड़ा दिया था। उसने बाल ऐसे अनमने होकर बनाये कि बहुत-स तो इधर-उधर उड़ते रह गये। बाल बन चुके थे, मगर वह बराबर आइने की ओर ताके जा रही थी, और उसका दिमाग़ सिमटकर आँखों के डेलों में आ गया था, जिनमें एक ही जगह ठहरे-ठहरे मिर्चें-सी लगने लगी थीं।

जब उसने आइना रखा, तो उसे मेज़ के कोने पर दीवार के निकट बायबिल रखी दिखी। यह बचपन में जन्मदिवस के अवसर पर उसके पापा ने उसे दी थी। मुद्दतों से उसने उसे खोला तक नहीं था, और वह गर्द से अटी पड़ी थी। इस पुस्तक ने उसे फिर पापा की याद दिला दी और वह उसे उठाने को विवश हो गई। पहले ही पृष्ठ पर उसका नाम लिखा था। यह स्वयं उसके ही हाथ का लिखा हुआ था, लेकिन अब उसकी रोशनाई बहुत फीकी पड़ चुकी थी। यह उसने पाँचवीं क्लास में लिखा था। यह देखकर उसे बड़ी हँसी आई, कि उस वक्त वह कैसे टेढ़े-टेढ़े हरूफ़ बनाया करती थी। उसे यह भी याद आया कि उस जमाने में उसके पास हरा क़लम था। उसका इरादा हुआ कि अबके जब

वह शहर जायगी तो एक हरा क़लम ज़रूर ख़रीदेगी। मगर फिर उसे ख़याल आया, कि आख़िर वह क़लम लेकर करे ही क्या ; अब उसे कौन-सा बड़ा लिखना-पढ़ना रहता है।

उसके पापा उसे बायबिल पढ़ने का कितना आदेश देते थे। उसे अपनी लापरवाही पर कुछ लज्जा-सी अनुभव हुई और वह बायबिल के पृष्ठ उलटने लगी—'पैदाइश' 'हरूज' पृष्ठ तेज़ी से उलटे जाने लगे—'इस्तसना'—'रूथ'—'हरमियाह'—'जसकूक़'—'मत्ती'—'लूका'—'रसूलों के कृत्य'—कहाँ से पढ़े—आदम—नूह—तूफ़ान—इब्राहीम—किश्ती—सलीब—मसीह यरूसू राजा आये—गिरजे का घंटा...सब मिलकर गिरजा जाते थे, हँसते मज़ाक़ करते—

आख़िर वह फ़ैसला न कर सकी कि कौन-सी जगह पढ़े, और फिर उसे जल्दी जाना था, इतना समय भी नहीं था, लेकिन उसने इरादा कर लिया, कि वह अब रोज़ सुबह को बायबिल पढ़ा करेगी—वर्ना कम से कम इतवार को तो अवश्य—लेकिन दुआ तो माँग ही लेना चाहिये—बहुत ही बुरी बात है। मामा कभी बिना दुआ माँगे नहीं सोने देती थीं—और फिर उसमें समय भी कुछ नहीं लगता—और लगे भी तो क्या है ; दुनिया के धन्धे तो होते ही रहते हैं—

उसने मस्तिष्क को स्थिर बनाना चाहा, और आँखें बन्द कर लीं। मगर बावजूद उसके आँखें फटफटाने के पहले तो उसकी मामा उसकी आँखों में घुस आईं, और फिर पापा, और उनके पीछे-पीछे गिरजे की सड़क, घंटा, और सब जो मिलकर गिरजे जाया करते थे, हँसते मज़ाक करते। उसने आँखें खोलकर सिर को इस तरह झटके दिये मानो वह इन सब को अपनी आँखों में से झाड़ रही है। आख़िर मस्तिष्क बिलकुल ख़ाली हो गया, और शान्त। सिर्फ़ कानों और सर में दिल के धड़कने की आवाज़ आ रही थी। उसने दुबारा आँखें बन्द कर लीं। दोनों हाथ जोड़ लिये, और दुआ को दुहराती चली गई : 'ए मेरे बाप, तू जो आस्मान पर है, तेरा नाम पाक माना जाय! तेरी बादशाहत आये। तेरी मर्ज़ी जैसी आस्मान पर पूरी होती है वैसे ही ज़मीन पर भी हो! हमारी रोज़ की रोटी आज हमें दे, और हमारे क़सूरों को माफ़ कर जैसे हम भी अपने क़सूरों को माफ़ करते हैं। अनन्त तक तेरी ही सत्ता हो! आमीन!'

आँखें खोलने पर उसने कुछ शान्ति-सी अनुभव की, और मुस्कराने की कोशिश करने लगी। उसने फिर आइने में झाँका, और चाहा कि किसी ख़ास चीज़ के लिए दुआ माँगे। लेकिन क्या चीज़?—कोई!—उसकी बदली शहर को हो जाय—मगर वहाँ उसे फिर विलियम्सन का सामना करना पड़ेगा। उससे तो यह क़सबा ही अच्छा—फिर और क्या?—वह एक कहानी थी कि एक परी ने एक आदमी से तीन इच्छाएँ पूरी करने का वादा किया था—फिर आख़िर क्या?

उसने बहुत बाज़ू मले, मगर कोई बात याद न आई। उसे देर हो रही थी, इसलिए उसने अपनी दुआओं और इच्छाओं को छोड़ दिया, और छतरी उठाकर चल पड़ी।

सड़क पर पहुँचकर उसको केवल मात्र शीघ्र पहुँचने का विचार घेरे हुए था।

सुबह की इस तमाम काहिली और सुस्ती के बाद उसे अंगों को हरकत देने में खुशी महसूस हो रही थी। सूरज की हल्की-सी गर्मी और चलने से उसका रक्त-प्रवाह तेज़ हो गया था, और वह सड़क की नाली, रेत, कंकरों, सबसे बेपरवाह अपना रास्ता तय करने में लगी हुई थी। अगर उसे कभी अपनी गति में कुछ सुस्ती मालूम होती तो वह और क़दम बढ़ाने की कोशिश करती। सड़क पर खेलनेवाले लड़के अभी तक न निकले थे, इसलिए उसे अपनी आँख-नाक की रक्षा की भी आवश्यकता न थी। जब वह दीवारों की छाया में से गुजरती थी तो उसके पैर और भी तेज़ उठने लगते थे।

वह शीघ्र ही बाजार में पहुँच गई। शेख़ सफ़दर अली का मकान अब थोड़ी ही दूर रह गया था, और उसे इत्मीनान-सा हो गया था कि ज्यादा देर नहीं हुई। वह चली जा रही थी कि एकाएक उसकी दृष्टि एक दूकानदार पर पड़ी, वह अपने सामनेवाले को आँख से इशारा कर रहा था—और मुस्करा रहा था, क्या यह उसे देखकर था? सम्भव है वे पहले से किसी बात पर हँस रहे हों, और उसे देर भी हो गई थी। वह आगे बढ़ी ही थी कि आवाज़ आई : 'आज तो आसमान नीला है भई...बड़े दिन में हुआ है ऐसा आज!'—उसने चाहा कि पलटकर छतरी रसीद करे उस बदतमीज़ के...चाहे कुछ हो आज वह खड़ी हो जाय और साफ़-साफ़ कह दे कि वह इन लोगों की बातें अच्छी तरह समझती है, और अब वह ज्यादा बरदाश्त नहीं कर सकती—आख़िर कहाँ तक?—पैर मन-मन भर के हो गये थे और टाँगें थरथरा रही थीं, जिससे वह कई दफ़े चलते-चलते डगमगा गई। मगर उन आँखों ने जो अब हर तरफ़ से उसकी ओर देख रही थीं, उसे रुकने न दिया। वह अपनी साड़ी में कुछ सिकुड़-सी गई। उसने पल्ला अच्छी तरह सीने पर खींच लिया और सर झुकाकर क़दमों को सड़क पर से उखाड़ने लगी...जब वह शेख़ सफ़दरअली के मकान पर पहुँची तो वे ड्योढ़ी में कुछ लोगों के साथ बैठे हुक्का पी रहे थे। उसे देखते ही वे खड़े हो गये, और ऐसे शिकायत के लहजे में, जैसे कि उसने कोई दुष्प्राप्य अवसर हाथ से निकल जाने दिया था जिस पर शेख़जी को उससे सहानुभूति थी, बोले : 'अल्लाह मेम साहब!...बड़ी ही देर कर दी तुमने तो।'

'जी...हाँ...जरा वो देर हो गई' कहती हुई वह ज़नाने की ओर बढ़ी। जब वह द्वार पर पहुँची तो उसने देखा कि क़सबे की पुरानी दायी बायें हाथ पर कपड़े उठाये और दाहिने हाथ में लोटा हिलाती आँगन से गुज़र रही है, यह कहती हुई : 'जरा देखो तो...अभी तक ना निकली घरवे से हरामजादी!'

★

पाँच कविताएँ

शिशिर की राका-निशा

●

['अज्ञेय']

वंचना है चाँदनी सित
झूठ वह आकाश का निरवधि गहन विस्तार
शिशिर की राका-निशा की शान्ति है निस्सार !
दूर वह सब शान्ति, वह सित भव्यता, वह।
शून्य के अवलेप का प्रस्तार—

इधर-केवल झलमलाते
चेतहर दुर्धर कुहासे की हलाहल स्निग्ध-मुट्ठी में
सिहरते-से, पंगु टुंडे
नग्न, बुच्चे, दईमारे पेड़ !

पास फिर, दो भग्न गुम्बद—
निविड़ता को भेदती चीत्कार सी मीनार—
बाँस की टूटी हुई टट्टी, लटकती
एक खम्भे से फटी-सी ओढ़नी की चिन्दियाँ दो चार !

निकटतर—धँसती हुई छत, आड़ में निर्वेद
मूत्र-सिंचित मृत्तिका के वृत्त में
तीन टाँगों पर खड़ा, नतग्रीव,
धैर्यधन गदहा।

निकटतम
रीढ़ बंकिम लिए, निश्चल किन्तु लोलुप
खड़ा वन्य बिलार—
पीछे, गोयठों के गन्धमय अम्बार !

गा गया सब राज-कवि, फिर राज-पथ पर खो गया।
गा गया चारण, शरण फिर शूर की आकर निरापद सो गया।
गा गया फिर भक्त ढुलमुल चाटुता से वासना को झलमलाकर,
गा गया अन्तिम प्रहर में वेदनाप्रिय, अलस, तन्द्रिल,
कल्पना का लाड़ला
कवि निपट भावावेश से निर्वेद !

किन्तु अब—निस्तब्ध !—संस्कृत
लोचनों का भाव-संकुल, व्यंजना का भीरु
फटा-सा अश्लील-सा विस्फार—
झूठ वह आकाश का निरवधि गहन विस्तार—
वंचना है चाँदनी सित,
शिशिर की राका-निशा की शान्ति है निस्सार !

★

लेकर सीधा नारा

[शमशेरबहादुर सिंह]

लेकर सीधा नारा
कौन पुकारा
अन्तिम आशाओं की सन्ध्याओं से ?
पलकें डूबी ही सी थीं,
पर अभी नहीं ;
कोई सुनता सा था मुझे—कहीं :
फिर किसने यह—सातों सागर के पार,
एकाकीपन से ही, मानो, हार,
एकाकी उठ मुझे पुकारा
कई बार ?
मैं समाज तो नहीं, न मैं कुल
जीवन ;
कण-समूह में हूँ मैं केवल
एक कण :
कौन सहारा—
मेरा कौन सहारा ?

★

चल चित्र

●

['अञ्चल']

मैं मौन पड़ा छत के ऊपर
अम्बर की बाँहों में निर्जीव लोथड़े-सी लटकी रजनी
है बन्द पवन तन खौल रहे यह कैसी दारुण उमस घनी
मैं सोच रहा कैसे बीतेंगे अमा निशा के चार प्रहर
हैं स्वेद कणों से काँप रहे तारे कुछ नभ के मस्तक पर
कितनी अशान्त यह गली जहाँ कटुता का कोलाहल अपार
मैं देख रहा कितना सूना यह मेरे गृह का अन्धकार
कुछ सन्ध्या से ही था खण्डित मेरी कुचली आत्मा का स्वर
मैं जाग रहा पर देख रहा काले कठोर सपने जी भर
मैं मौन पड़ा छत के ऊपर
घिर रहा निराशा को लेकर मेरे मानस का धुँधलापन
घिर रही कठिन चिन्ता लेकर यह मेरे दिल की महा जलन
बढ़ती है अंगों की जड़ता पर प्राणों की बेचैनी क्यों
हो स्तब्ध हवा भीतर आसार छिपे हों तूफानों के ज्यों
आगे कितना निश्चित भविष्य फिर भी कितना अनजाना-सा
पीछे खेतों में जो खोया वह बचपन अब बेगाना-सा
है खड़ा सामने मुँह खोले यह शेष जवानी का भूधर
हो एक नशा जो औरों को पर मुझको ज्वाला का सागर
मैं मौन पड़ा छत के ऊपर
यह गली हमारी यहाँ भरे कुलियों के छोटे-छोटे घर
दिन ढलने पंख कटे खग से आते जो मिल से श्रम-जर्जर
चढ़ चुकीं चिता पर जीने ही जिनकी कृश काली कायायें
ये मानव ! ये तो जीवन की कुत्सित कुरूप लघु छायायें
ये तो मानव के व्यंग-चित्र घर में जो कलह मुखर होते
गाली-गलौज हाथापाई सन्ध्या से ले सोते सोते
पर आज अधिक है हाय हाय है आज अधिक इनमें हलचल
प्रति क्षण बढ़ता जाता है नर-नारी कण्ठों का स्वर चञ्चल
मैं मौन पड़ा छत के ऊपर
है बात तनिक-सी किन्तु बढ़ेगी गई पुलिस में पहुँच अगर
मैकू ने अपनी गर्भवती दुल्हिन को मारा है जी-भर

अपराध यही था—जब मैकू कलवरिया से उन्मत्त पिये
कुछ रात गये घर में आते ही बुझा तेल के मन्द दिये
बोला मुनरी ! जल्दी तो आ है ताब नहीं मुझको दो पल
था नवाँ महीना काँप उठी मैकू के पशु बल से विह्वल
मैकू ने झपट गिरा उसको ज्यों ही कुछ करने की ठानी
फड़फड़ा निकल नीचे से वह आई बाहर भय से पानी
मैं मौन पड़ा छत के ऊपर

फिर सुनता रहा बराबर मैकू की वाणी की रौरवता
जीवन के गन्दे स्रोतों की दुर्गन्धि भरी उच्छृङ्खलता
आपे से बाहर हो मैकू मारे ही जाता था बढ़ बढ़
बेहोश पड़ी थी वह नारी मैकू फिर गया पेट पर चढ़
इस रौंद रौंद में टूट गई बेहोशी वह यों चिल्लाई
जैसे यन्त्रणाग्रस्त पागल कुत्ते की मौत निकट आई
तब मैकू का कुछ नशा घटा वह चला गया घर से बाहर
रह गई अकेली वह आधा शिशु बाहर था आधा अन्दर
मैं मौन पड़ा छत के ऊपर

अब सुस्त पड़ीं वे चीत्कारें पर प्रसव-वेदना तो जारी
अक्सर होता रहता ऐसा होती न मुझे पीड़ा भारी
पर सोच रहा मैं जन्म-जन्म का सत्य अर्थ क्या एक यही
पूँजी से श्रेणी का उद्‌भव जिसमें पशुता का रूप यही
है बन्द पवन जलता शरीर डोलता नहीं कोई पत्ता
धरती का हाहारव सुन क्या प्रतिशोध भरी नभ की सत्ता
है आधी रात अभी तो दूर सुबह के विहगों का मधु स्वर
आघातों की अगणित संख्या कहती कब तू सूखा निर्झर
मैं मौन पड़ा छत के ऊपर

सुन पड़ा कहाँ से यह सहसा नव-जात किसी शिशु का क्रन्दन
मैकू की पत्नी ने ही क्या जाया जीवित मुखरित लघु तन
मैं फिर संशय निधि में डूबा यह एक पहेली विकराली
कैसे जीवित रह गई उदर के भीतर शिशु तन की जाली
मैं उठकर छत पर टहल रहा किस प्रगति शिखा की यह माया
यह इतनी बड़ी सृष्टि मेरी उलझन की प्रतिबिम्बित छाया
पर इतना तो निश्चित ध्रुव-सा विश्वास यही कवि का सहचर
नव जीवन की चिर विजय रही है मृत्यु दमन उत्पीड़न पर
मैं मौन खड़ा छत के ऊपर

*

सोवियत रूस के प्रति

●

[शिवमंगलसिंह 'सुमन']

नवसंस्कृति के अग्रदूत हे !
पददलितों की आश,
एक तुम्हारी गति पर अटकी
मानवता की श्वास
युग-युग की शोषित जनता के
ओ नवस्वर्णिम भोर
लगी हुई हैं अगणित आँखें
आज तुम्हारी ओर
स्वस्थ साँस दो-चार ले सके
जिस साए में प्राण,
आज उसी की छाती पर
फिर मचा हुआ घमसान
इधर सँजोए थे मानव ने
सुख-समृद्धि के स्वप्न
उधर हो उठा क्षण में
बर्बरता का ताण्डव नग्न
यह संघर्ष विचारों का है
मानव केवल यन्त्र
निर्णय निहित रहेगा जीवन
मुक्त या कि परतंत्र
एक-एक कर याद आ रहे
वे अपूर्व बलिदान
देकर जिन्हें किया था तुमने
नव - जीवन निर्माण
पर अजेय है आज तुम्हारी
पहले से भी शक्ति
जिसमें मिली विश्व भर के
दलितों की चिर-अनुरक्ति

अडिग चरण, उन्नत मस्तक
क्या इनक़लाब की चाल
देख तुम्हारा साहस
दुश्मन, मौन, त्रस्त, बेहाल
उधर किराए के सैनिक हैं
ध्येय - हीन म्रियमाण
उन्हें सिखा तो दो
कैसे रक्खी जाती है आन
अच्छा हुआ परीक्षा आई
लेगी दुनिया जान
इन मज़दूर किसानों का
होता क्या महाप्रयाण
हँसिया और हथौड़ा अब तक
हुआ नहीं पामाल
यह पानी से नहीं ख़ून
से ही था झंडा लाल
लाल तुम्हारा झंडा वीरो
लाल तुम्हारी सैन्य
लाल तुम्हारा जीवन
तुमको क्या चिन्ता क्या दैन्य
एक रक्त की बूँद तुम्हारी
लाखों का विश्वास
कभी हुआ भी है या होगा
न्याय, सत्य का ह्रास
यह हिंसक भेड़िये उढ़ाने चले
सिंह का द्वार
क्षयरोगी साम्राज्यवाद का
शेष यही उपचार

अबकी सबक सीख ले दुनिया
फिर न उठाये आँख
यह वे, जिनकी मुई खाल से
लौह हुआ था राख
कोना-कोना दलित विश्व का
आज तुम्हारे साथ
विजय पताका लिये बढ़ेगा
दिये हाथ में हाथ

पग-पग पर देना ही होगा
मानवता का मोल
यह अन्तिम आहुति है
फिर हम मिल लेंगे जी खोल
तुम थे एक और बैरी थे
सौ-सौ सहित हुलास
बाल न बाँका हुआ
कहेगा यही सदा इतिहास

★

दो विहंगम

●

[मनोहर]

एक दिन, योंही, न जाने क्यों, विसुध बन
उड़ दिये अज्ञात दिशि में दो विहंगम!

बह चली शीतल नशीली वात,
नींद की माती पुतलियों में जगा नव प्रात,
राग रग-रग में रँगा-सा,
छा गया अनजान, अपने आप, नस-नस में नशा-सा,
चूम ऊषा का सुनहला गात सहसा
उड़ चले संग-संग गगन में दो विहंगम!

नियति का पढ़कर तभी भ्रू-भंग,
निमिष में मध्याह्न उठ बैठा—कराल भुजंग,
झुलस डाले नयन झुँझला,
फाड़कर मुख विहग-बालों का सुरीला गान निकला,
खो नयन, बेबस भटक, होकर अलग भी,
उड़, बढ़े तब अग्नि-पथ पर दो विहंगम!

साँझ पा, तब, रात का आदेश,
काल-बाला बनी फैला घने काले केश,
दृष्टि-पथ पर तम बिछाने,
अन्ध विहगों के दृगों को और भी अन्धा बनाने,
दूर होकर भी—युगों से साथ प्रतिपल,
उड़ रहे चिर-यामिनी में दो विहंगम!

★
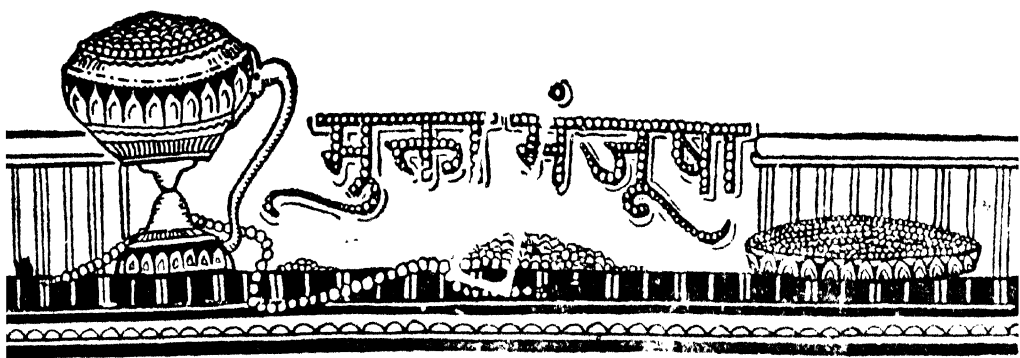
अंग्रेज़ी

'सोवियत यूनियन की मित्र-समिति' की संयुक्त-प्रान्तीय कमेटी की ओर से एक घोषणा-पत्र प्रकाशित हुआ है जिसमें सोवियत यूनियन की सांस्कृतिक कामयाबियों का उल्लेख कर उसे सहायता करने की अपील की गई है। फरवरी के प्रारम्भ में इस मित्र-समिति की एक प्रान्तीय कान्फ्रेन्स होगी और रूस को सहायता भेजने के प्रश्न पर विचार किया जायगा। पण्डित जवाहरलाल नेहरू उस कान्फ्रेन्स का उद्घाटन करेंगे। हमारा विश्वास है कि हंस के सजग पाठकों को इस समिति के कार्य में विशेष दिलचस्पी होगी। अतः हम इस घोषणा-पत्र के महत्वपूर्ण अंशों का अनुवाद दे रहे हैं—सं०

सोवियत यूनियन के मित्रों का घोषणा-पत्र

★ नाज़ी फौजों के हमले से सोवियत यूनियन की जनता जिस बहादुरी के साथ अपने देश की रक्षा कर रही है जब कि नाज़ियों के हाथ में सारे योरप के अपरिमित साधन और मनुष्य हैं, उससे समस्त संसार आश्चर्यचकित रह गया है और श्रद्धा से उसका सिर झुक गया है। अपने देश, अपनी स्वतन्त्रता और अपने विचारों की रक्षा के लिए रूस की जनता ने अपने जीवन, अपनी सम्पत्ति घर-द्वार और खेत, अपनी महान सफलताओं द्वारा निर्मित बाँध और पुल, मज़दूर किसानों के गृह और अपने सामूहिक लक्ष्य और श्रम के विशाल स्मारकों का बलिदान दे दिया है। भारत की जनता अपने राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक विचारों के बावजूद सोवियत यूनियन के प्रति अपने आदर भाव का प्रदर्शन कर रही है और अपनी शक्तिभर क्रियात्मक रूप से सहायता देकर अपनी सहानुभूति प्रगट करना चाहती है। चीन और स्पेन की यातनाओं ने भी भारतीय जनता के हृदय में ऐसा ही स्पदन पैदा किया था और धन और मेडिकल सहायता के रूप में उसकी सहानुभूति स्वतः उमड़ पड़ी थी। निश्चय ही वह सहायता स्वल्प थी लेकिन उससे भारत ने यह महसूस किया था कि वह विश्व का एक अंश है और दूसरे देशों ने भी इस भावना को स्वीकृति दी थी। सोवियत जनता को आज एक विराट पैमाने पर क्षति उठानी पड़ रही है और इस युद्ध की समस्याओं की पृष्ठ-भूमि एक बहुत ऊँचे स्तर की है अतः भारतवर्ष रूस को मदद देने से तभी हाथ खींच सकता है जब कि वह यह सोच ले कि अपने इतिहास के इन लम्बे वर्षों में वह जिन सिद्धान्तों के लिए खड़ा हुआ था, जिनकी रक्षा वह आज कर रहा है और भविष्य में जिनको वह पाना चाहता है अर्थात, मनुष्य-मात्र की एकता का सिद्धान्त, उसे ही वह छोड़ रहा है।

शान्ति की कला

★ लेकिन केवल सहानुभूति ही पर्याप्त नहीं है। उसका आधार ज्ञान पर टिका होना चाहिये। आज जब कि सोवियत की आत्म-रक्षा के प्रयत्न युद्ध की कला के लिए नये सबक़ दे रहे हैं, सब लोग उसकी शक्ति के रहस्य जानने को उत्सुक हैं। निश्चय ही इस रहस्य की कुञ्जी उस शान्ति की कला और विज्ञान के अन्दर निहित है जिसका विकास सोवियत ने गत बीस वर्षों में अनुभव और त्रुटियों के बीच जनता के सामूहिक हितों की प्रतिष्ठा के लिए किये गये अपने अविरत प्रयत्न द्वारा किया है। यह सच है कि भिन्न-भिन्न स्थितियों और विचारों के लोगों को यह प्रयोग हमेशा अच्छे नहीं लगे, तो भी उनमें अपनी सत्यता थी क्योंकि उनके मूल में प्रजा-तन्त्रात्मक वृत्तियाँ थीं और उन्हें कार्य रूप देने के तरीक़ों में एक सुदृढ़ निश्चय था। राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए युद्ध की जो कलाएँ उन्नत की गई वे भी दूसरे देशों के साथ शान्ति-पूर्ण व्यवहार बनाये रखने की व्यापक नीति के मुकाबले में गौण स्थान ही पाती रहीं। सोवियत सदैव राष्ट्रसंघ के सिद्धान्तों और सामूहिक सुरक्षा की नीति का ज़बर्दस्त समर्थक रहा है। उसने यह प्रस्ताव रखा था कि शान्ति क़ायम रखने का सबसे बड़ा हथियार पूर्ण और सार्वभौमिक निःशस्त्रीकरण है। उस समय राष्ट्रसंघ की बुनियाद राष्ट्रीय स्वार्थों की खींचा-तानी से लड़खड़ा रही थी। सोवियत की राय थी कि राष्ट्रीय सीमाओं के भीतर एक सच्चा प्रजातंत्रवाद ही अन्तर्राष्ट्रीय सौहार्द्र और सुरक्षा का प्रहरी हो सकता है। डाक्टर टैगोर और पण्डित जवाहरलाल नेहरू जैसे पक्षपातहीन द्रष्टाओं ने भी मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हुए स्वीकार किया है कि जिस रचनात्मक शान्ति और सच्चे प्रजातंत्र की भावना से सोवियत कार्यकर्ता और जनता दोनों कार्य कर रहे हैं उससे सदियों की निष्क्रियता की नींव हिल गई है और इससे मनुष्यों के कार्यों में उचित भाग लेने की नैतिक क्षमता के अन्दर उनका विश्वास दृढ़ हो गया है।

★ सामूहिक इच्छा के निर्देश पर वहाँ की जनता ने जो मुसीबतें झेली हैं उसका फल आज लगा है कि सोवियत एकता एक अभूतपूर्व वस्तु बन गयी है। बिना एक केन्द्रित आयोजित राष्ट्रीय और प्रजातंत्रवादी जीवन के जो कि शान्तिपूर्ण पुनर्निर्माण में संलग्न था सोवियत यूनियन में इतनी शक्ति न आती कि वह ज़बर्दस्ती अपने माथे मढ़े युद्ध की यातनाओं का सामना इतनी बहादुरी से करता।

पुनर्जागरण

★ सोवियत जनता के पुनर्जागरण की बड़ी-बड़ी घटनाओं के उल्लेख में भी अधिक समय लगेगा। तो भी कुछ असाधारण अंगों का उल्लेख अनावश्यक न होगा। सामाजिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक अनिश्चितता और उससे उत्पन्न मानवीय यातनाओं के रूप में बेकारी का जो अर्थ है उसका रूस में अन्त कर दिया गया है और सभी स्त्री और पुरुष कार्य करने के लिए स्वतन्त्र हैं और उनको उनकी योग्यता

और रुचि के अनुसार कार्य और शिक्षा दी जाती है। ग़रीबी नाम की चीज़ वहाँ अब है ही नहीं। सोवियत अर्थनीति किसी विशेष वर्ग की नहीं बल्कि सारे समाज और सारी जनता की आवश्यकताओं के उद्देश्य से कार्य करती है और केन्द्रीय अधिकारी जो कि जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं ध्यानपूर्वक राष्ट्रीय आवश्यकताओं की दृष्टि से उत्पादन की योजना बनाते हैं, और उससे चूँकि प्रत्येक मनुष्य को लाभ है इसलिए जनता उत्साह-पूर्वक उसमें अपना योग देती है तथा जो अधिक कुशल व्यक्ति हैं उनको सरकार की ओर से विशेष सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। जो लोग समाजवादी या मार्क्सवादी मान्यताओं को नहीं मानते उनको भी सोवियत योजनाओं का विराट् रूपक आकर्षित किये बिना नहीं रहता। तुलनात्मक दृष्टि से जो देश ग़रीब था, जिसके पार्थिव साधन अविकसित थे, जिसमें कृषि की प्रधानता थी, और जिसकी आर्थिक प्रणाली में इन कारणों से कोई सन्तुलन न था, जहाँ टेकनिकल विशेषयोग्यता प्राप्त लोगों का नितान्त अभाव था और यातायात और शिक्षा की सुविधाएँ नगण्य थीं, उससे विकास कर सोवियत यूनियन ने एक प्रचण्ड आर्थिक शक्ति बना ली है और हर विचार के व्यक्तियों को यह बात स्वीकार करनी पड़ी है। योरप में जर्मनी के पास जितने साधन हैं उससे रूस के पास कहीं ज्यादा साधन हैं। यह सब सुनिश्चित सामूहिक कार्य द्वारा ही सम्भव हो सका है।

★ इसके लिए भी सामूहिक चेतना से ही इच्छा-शक्ति उद्भूत हुई। प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा प्राप्त करने की समान सुविधाएँ दी जाती हैं। सत्रह वर्ष की अवस्था तक लड़कों और लड़कियों को शिक्षा मुफ्त दी जाती है। साहित्यिक और दस्तकारी के स्कूल देश के सुदूरतम प्रदेशों में बने हैं। मज़दूरों और किसानों के बच्चों के लिए विशेष संस्थाएँ बनी हैं। शिक्षा का माध्यम स्थानीय भाषायें हैं जिनकी विशेषताएँ इस प्रकार ध्यानपूर्वक सुरक्षित रखी जाती हैं और इससे उनके संयुक्त उद्देश्य को हानि नहीं पहुँचती। खोज के बड़े-बड़े विश्वविद्यालय जिनको सरकार की ओर से प्रचुर सहायता मिलती है—विचारधारा और कार्य के बीच की खाई को पाटते हैं और आज के जीवन की समस्याओं का हल करने से विमुख नहीं होते। सन् १९१४ में योरपियन रूस के ७२ प्रतिशत लोग अक्षर ज्ञान से रहित थे और एशिया के प्रान्तों में तो अशिक्षितों की संख्या ९९ प्रतिशत थी। सन् १९२० में १३ करोड़ जनता को शिक्षित बनाने का विशाल कार्य उठाया गया और एक अभूतपूर्व वेग के साथ तीन वर्षों में ही नौ वर्ष से ऊपर की जनसंख्या का ५१ प्रतिशत भाग साक्षर हो गया। आज ८१-२ प्रतिशत जनता सुशिक्षित है और लगभग चार करोड़ विद्यार्थी स्कूलों में पढ़ते हैं। हर तरह की शिक्षा नर्सरी से लेकर खोज तक, एक प्रकार से मुफ्त है। और जहाँ नहीं है वहाँ खर्च नाममात्र को है। और विद्यार्थी अपनी स्वेच्छा से जीविका उपार्जन भी कर सकते हैं।

स्त्रियाँ

★ सोवियत रूस ने यह अनुभव कर लिया है कि स्त्रियों को उचित संरक्षण और सुविधाएँ दिये बिना स्वतन्त्रता एकांगी ही रहती है। अब तक बालविवाह, सामाजिक निषेध, अज्ञानता और अन्धविश्वास स्त्रियों के जीवन के आभूषण बने हुए थे। किसी

क्षेत्र में काम करना शिक्षा पाना और साधारण सुख की सुविधाएँ पाना—उन्हें सुलभ न था और पुरुषों के साथ उनका सम्बन्ध एक शोषित का ही था। प्रसन्नता की बात है कि अब यह सब बदल गया है। और अब सोवियत नारी सोवियत पुरुष की घर और बाहर दोनों जगह एक कामरेड है।

★ उसकी श्रेणी से शांति और पुनर्निमाण के नेता उत्पन्न हुए हैं और इस आत्म-रक्षा के युद्ध में वह अपने पुरुष के साथ है। आज सोवियत नारी को इतना महान् आदर प्राप्त है कि बिना किसी विरोधाभास के यह कहा जा सकता है कि सोवियत राष्ट्र उसको अपनी मा के रूप में देखता है। मातृत्व की रक्षा का दायित्व सोवियत के सामने सबसे प्रमुख है। और संतानोत्पत्ति एक प्रकार से स्त्री का सार्वजनिक कर्तव्य समझा जाता है। मातृत्व की हर दशा में स्वास्थ्य की देख-रेख के लिए चिकित्सालय, प्रसूति-गृह, शिशुपालन-गृह आदि सर्वत्र बने हैं। मातृत्व और शिशु की रक्षा के लिए सारे देश में संस्थाएँ कायम हैं। असंख्य नर्सरी स्कूल हैं और इन सबने स्त्री के पारिवारिक और सामाजिक जीवन की स्थिति से उत्पन्न नारी के स्वाभिमान पर लगे सामंती प्रतिबंधों को तोड़ दिया है। सभी स्त्रियों को समान आर्थिक सुविधाएँ प्रदान कर सोवियत रूस ने वेश्यावृत्ति का आर्थिक मूल ही काट दिया है और इस प्रकार उसने आसानी से सामाजिक शरीर की इस प्राचीन बीमारी का ही उन्मूलन कर दिया है।

संस्कृति

★ यह स्वाभाविक है कि जब सोवियत जैसी एक सरकार सामाजिक हितों पर अपनी सारी शक्तियाँ लगाये तो एक नई उच्चकोटि की संस्कृति उत्पन्न हो जाय। प्रारम्भ के संघर्ष-पूर्ण काल के बाद सोवियत संस्कृति को पुरातन की श्रेष्ठ निधियों की ओर दृष्टि डालने और नूतन का निर्माण करने के लिए शक्ति जुटाने का अवकाश मिला।

★ पुराने साहित्य, संगीत, नाटक और अभिनय के श्रेष्ठ कलाकारों ने आधुनिक कलाओं में एक नई स्फूर्त्ति भर दी है और जब उन्हें पुरातन की ओर निर्देश करने का अवकाश मिला है, जैसी फिल्मों में, तो उन्होंने अपूर्व साहस के साथ साधारण मनुष्यों और साधारण उपादानों से महान् कृतियाँ बनाई हैं। ललित कलाओं और दस्तकारियों का भेद अच्छे और बुरे तक ही सीमित रह गया है। असंख्य प्रदर्शनियों, अजायबघरों, विशाल प्रथम कोटि के पुस्तकालयों जिनके विभाग गाँवों में भी खुले हैं। पुस्तिकाएँ, सस्ता प्रेस और रेडियो, लेन्टर्न-लेक्चर्स के फैले हुए जाल से जनता के द्वारों तक संस्कृति की प्रकाश रेखाएँ पहुँचाई जाती हैं। संस्कृति कुछ साधन-सम्पन्न व्यक्तियों की संपत्ति नहीं रही और न उनका नाम सुनकर जनता अब एक विमूढ़ की तरह आँखें ही फाड़ देती है। संस्कृति के मूलभूत तत्त्व बदलकर जनोन्मुखी हो गये हैं और वह एक समाजीकृत वस्तु की तरह प्रत्येक मनुष्य के हिस्से में आती है। और ज्ञान लोगों के जीवन की नित्य-प्रति की क्रियाओं से असंबद्ध नहीं रह गया। पहली पंचवर्षीय योजना के खत्म होने पर ही सोवियत में पुस्तकों का उत्पादन इंगलैण्ड, जर्मनी और जापान तीनों देशों से मिलकर अधिक हो गया था।

और अब तक के बेहद पिछड़े प्रदेशों में भी समाचारपत्र वहाँ की स्थानीय भाषाओं में सैकड़ों हजारों की प्रतियों का वितरण होता है और केवल मास्को में ही वहाँ के तीन प्रमुख अखबारों की बीस-बीस लाख प्रतियाँ प्रतिदिन खप जाती हैं।

राष्ट्रीय जातियाँ

★ सोवियत राज जनता की संस्कृति की कितनी देख-भाल रखता है इसका अनुमान हम इस तरह लगा सकते हैं कि उसके अंतर्गत जो प्रादेशिक सांस्कृतिक इकाइयाँ हैं जिनमें आपस में भाषा, रहन-सहन और सामाजिक परंपराओं की बुनियाद पर विभिन्नता है उनके प्रति सोवियत का दृष्टिकोण यह है कि एक ओर तो उनकी स्वायत्त सत्ता की रक्षा की जाती है। दूसरी ओर उनके अन्दर एक व्यापक समाज के नागरिक होने की भावना भी उत्पन्न की जाती है ताकि वे अकेले पड़कर संकुचित दृष्टि न बन जायें। इस प्रकार १४५ राष्ट्रीय जातियों और १४७ भाषाओं में अन्तर-विरोध और खींचा-तानी की प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं होने पाती। सोवियत सरकार ने अब तक की पिछड़ी जातियों को अपनी भौतिक स्थिति सुधारने के लिए जो सहायता दी है उससे वहाँ की जनता एक ठोस एकता का अनुभव करने लगी हैं जिसमें सभी जातियों की समान समस्याएँ हैं, समान विचार हैं और समान आचार। सोवियत रूस की आज सबसे बड़ी ताक़त उसकी राष्ट्रीय जातियाँ हैं।

★ और यह सब गत बीस वर्षों में हो गया है। उनके विरुद्ध अतुल शक्तियाँ थीं। लेकिन सामाजिक उद्देश्य से प्रेरित जनता के हितों की रक्षा में कुशल और किसी एक वर्ग के आर्थिक स्वार्थों की रुकावटों से वंचित उनकी अजेय इच्छा-शक्ति ने असंभव को संभव कर दिखाया है और यह वही सामूहिक इच्छा-शक्ति और प्रजातांत्रिक तरीक़ा है जिसने सोवियत की आत्मरक्षा की लड़ाई को इतना दुर्जेय बना दिया है।

★ इन बातों और उनकी व्याख्याओं को मानने के लिए यह जरूरी नहीं है कि कोई मार्क्सवादी ही हो। और न हमारी कान्फ्रेन्स का उद्देश्य एकांगी विचारों का ही प्रतिपादन है। लेकिन ऐसा महसूस किया जाता है कि इस देश में राजनीतिक विचार के बावजूद प्रत्येक व्यक्ति सोवियत यूनियन के प्रति मित्रता प्रदर्शित करनेवाले किसी भी संगठन के साथ सहयोग कर सकता है क्योंकि सोवियत यूनियन ने एक नये समज की नींव डाली है और आज वह बड़ी बहादुरी से नाज़ी आक्रमण और उसकी बर्बर हिंसा की फ़िलासफ़ी का मुक़ाबला कर रहा है, जिस फिलासफी के अनुसार जातिगत श्रेष्ठता काले लोगों की गुलामी को अक्षुण्ण रखने के भाव को प्रधानता दी जाती है और जिसकी विकृत संस्कृति हर मूल्यवान वस्तु के नाश के उपयोग ही में आती है। हम इस बात का अनुभव करते हैं कि हम अपनी सहानुभूति को किसी बड़े पैमाने पर कार्य-रूप में परिणत नहीं कर सकते लेकिन सोवियत शक्ति के रहस्यों का उद्घाटन तो किया ही जा सकता है और स्वतन्त्रता पाने के लिए जगे भारत की भावी भावनाओं और सोवियत की प्रगतिशील सभ्यता में समानता के अनेक सूत्र हैं जो एक दूसरे को आपस में बाँधते हैं।

★

नीरक्षीर

यामिनी (कविता संग्रह)—मूल्य १)। रचयिता श्री जयनाथ 'नलिन' : प्रकाशक, वाणी-मन्दिर, अस्पताल रोड, लाहौर। प्रथम संस्करण १९४१।

इस एक-सौ-दो पेज की पुस्तक में छियालिस कविताएँ हैं, जिनमें से बीस गीत ही गीत हैं। इसका कवर-पेज वैसा नहीं है जैसा 'अग्नि-गान' का। इसमें चाँदनी रात का एक साधारण चित्रण है! यह अवश्य है कि हिन्दी की अधिकांश प्रकाशित पुस्तकों से इसका कवर-पेज अच्छा ही है। यह अच्छाई इसमें है, कि पुस्तक का नाम तो अंकित हो जाता है, जैसा प्रायः हिन्दी की अन्य पुस्तकों में नहीं देखा जाता।

बहुत सोचने-विचारने के बाद यह मालूम होता है कि इसका नामकरण सम्भवतः 'यामिनी' इसलिए किया गया है कि इसमें प्रेम-पीड़ित हृदय का विफल-उल्लास है।

इन रचनाओं में 'नलिन'जी के प्रेमी-हृदय की अनुभूति का पता मिलता है! किन्तु उनकी अनुभूति अभी ऐसी नहीं है जिसे मँजे प्रेमी रसज्ञ की अनुभूति कह सकें! वह नये खिलाड़ी की दुर्बलताओं को लेकर व्यक्त हुई है: उसमें शीघ्र ही घबराकर चीख़ मारने की प्रवृत्ति है, और साधारण जन की असंयमता भी है। पर इससे तात्पर्य यह नहीं है कि आगे चलकर यह अनुभूति प्रौढ़ न हो सकेगी। इन अनुभूतियों का असंयम स्वयं इस बात का साक्षी है कि वे प्रौढ़-काल में पहुँचकर कमाल करेंगी।

'नलिन'जी का तरीक़ा वैसा ही है जैसा परम्परागत प्रेमी-कवि का वह अपनी कविताओं में पूर्व प्रचलित सामग्री का प्रयोग करते हैं, किसी नवीन सामग्री का नहीं। चम्पा की कली पत्र-सेज पर सोती है। किरणें अभिसार को आती हैं। पवन जगाता है। और भ्रमर रसास्वादन को पागल फिरता है। पायल की रुनझुन नशा भरती है। आदि-आदि।

मालूम होता है कि 'नलिन'जी का पुस्तक-अध्ययन अधिक होने के कारण उनका मस्तिष्क उन्हीं रूपकों एवं उपमाओं से भर गया है और उसमें वही शब्द-सम्बन्ध भी स्थापित हो गया है। यदि कवि का प्रकृति-निरीक्षण अच्छा होता और पर्यवेक्षण भी उपयुक्त होता तो वह अवश्य ही इन्हीं अनुभूतियों को व्यक्त करने में नयी जान डाल देते। ऐसी बात नहीं है।

प्रेम की सम्पूर्ण भावनाएँ जब ड्राइंग-रूम के कवि की वाणी से व्यक्त की जाती हैं तब वे फीकी, निस्सार और स्पन्दन-हीन होती हैं। फिर जिस प्रेम ने दूसरे के दिल के तार को संगीत की मादकता में नहीं डुबोया वह प्रेम ही कैसा। इसी से प्रेम को निरन्तर प्रगतिशील रखने के लिए यह आवश्यक है कि उसे नये तरीक़े से व्यक्त किया जाय। जहाँ ऐसा नहीं किया जाता वहाँ कवि को निष्फलता प्राप्त होती है और वह अच्छा से अच्छा शब्द-विन्यास का संगीत देकर भी मुग्ध नहीं कर पाता। 'नलिन' जी ने यथाशक्ति संगीत दिया है किन्तु इस पर भी वह हृदय के भीतर पैठ नहीं सके। ऊपर ही हवा में पर फड़फड़ा कर रह गये हैं। यदि वे कहीं अपनी नयी रस्म से प्रेम का प्याला भरकर पिलाते तो सम्भवतः हमें नशा ज़रूर आता। पर हम तो इस वक़्त इस धूप में वैसे ही ख़ुमार बिना बैठे हैं जैसे पहले थे। साग़र, साक़ी, और प्यालों के प्रयोग बेकार हैं।

जहाँ-तहाँ 'नलिन' जी की प्रतिभा इस पुस्तक में अनायास चमक पड़ी है। 'उत्सुक ज्वार', 'पलकों में बेहोशी की संध्या फूलें', 'पीड़ित पानी' आदि के प्रयोग सुन्दर और अर्थपूर्ण हैं। किन्तु यह प्रतिभा महादेवीजी के संगीत से प्रेरित-सी जान पड़ती है। बच्चनजी का भी स्पर्श कई एक जगह मिलता है। जब उमर पाकर यह प्रतिभा अपने रंग से रँगकर नाचे भी तब इसके अन्तर्ध्वनि से तन्मयता और मादकता बरसे भी। इसी आशा को लेकर मैं 'नलिन' जी से कहूँगा कि वे रचनाएँ लिखें, किन्तु अपनी ध्वनि में, और हिन्दी को एक नयी साहित्यिक देन दें।

—केदारनाथ अग्रवाल

● ● ●

संत साहित्य—लेखक भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' एम० ए०, प्रकाशक ग्रन्थमाला कार्यालय, बाँकीपुर ; मूल्य दो रुपये।

'माधव'जी की यह दूसरी कृति है इसके पूर्व वे 'मीरा की प्रेम-साधना' नामक पुस्तक की रचना कर काफ़ी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। प्रस्तुत पुस्तक में माधवजी ने निर्गुनिये सन्तों की आन्तरिक प्रेरणा, उनके हृदय में अहर्निश प्रवाहित होनेवाले प्राणवेग को अपनी भावुकता से पकड़ने का प्रयत्न किया है। भूमिका में 'साहित्य की प्रेरणा' नामक प्रसंग में लेखक ने साहित्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण को स्पष्ट करने की कोशिश की है। 'हमारा यह लघु-जीवन अपने अनन्त-पथ पर चलकर निरवगुण्ठन की प्रक्रिया में ही लगा रहता है। सब कुछ खोलना ही है। प्रत्येक पल, प्रत्येक पदार्थ में चिर हटाने की ही क्रिया हो रही है।' माधवजी ने बताया है कि इसी निरवगुण्ठन की प्रक्रिया से साहित्य को प्रेरणा मिलती है जिसका मधुर रूप हम सन्तों के साहित्य में देखते हैं। बातें पुरानी हैं, साहित्य के सम्बन्ध में ये बातें नई नहीं है पर 'निरवगुण्ठन की प्रक्रिया' के रूपक को सामने उपस्थित कर माधवजी ने अपने कथन में मार्मिकता-सी डाल दी है। सारी पुस्तक मानो एक भावुकता के प्रवाह से ओत-प्रोत है। पुस्तक को पढ़कर और प्रधानतः भावों की अभिव्यक्ति की शैली को देखकर सरदार पूर्णसिंहजी का स्मरण हो आता है। वर्णन की जो तल्लीनता, भाषा का, गद्य-काव्य की सीमा को छूता हुआ, जो प्रवाह सरदार पूर्णसिंहजी के 'आचरण की सभ्यता,' और 'नयनों की गंगा' आदि लेखों में मिलता है ठीक यही बात माधवजी में मिलती है। हाँ, यह बात अलग है कि आज के बुद्धिवादी युग में हम उस शैली को विशेष महत्त्व न दें पर उसकी भी अपनी विशेषता है, निजत्व है जिसके बल पर वह सदा कुछ मनुष्यों के गले का हार बनी ही रहेगी।

'संत साहित्य' ने एक बहुत बड़ा काम यह किया है कि उसमें 'प्रेम-लपेटे अटपटे' वाणीवाले संत जो हमारे लोक-जीवन में प्रवेश तो पा चुके थे पर जो एक तरह से neglected से थे मसलन मलूकदास, सहजो, बुल्ला साहेब इत्यादि के हृदय की झांकी की झाँकी एक साथ मिल जाती है। मेरा विश्वास है कि संत-हृदयों को इस पुस्तक से प्रयाप्त संतोष होगा और साहित्यिकों का ध्यान भी संतों के प्रति आकर्षित होगा।

हाँ, एक बात पुस्तक में अवश्य खटकती है। पुस्तक फुटकर लेखों का संग्रह मात्र प्रतीत होती है। संतों के जो conception है, मसलन आध्यात्मिक विवाह, नदी और समुद्र के मिलनवाला रूपक इत्यादि का किस तरह विकास और प्रसार हुआ और किन-किन संतों में ये ही भाव किस-किस रूप में आये हैं इसका विवेचन रहता तो पुस्तक का महत्त्व अधिक बढ़ जाता। नहीं तो, संतों की प्रधान-प्रधान विशेषताएँ, उनमें पाये जानेवाले मुख्य भाव के शास्त्रीय विवेचन ही प्रथम परिच्छेद में दिये रहते तो अच्छा होता। पर पुस्तक का महत्त्व उसमें क्या नहीं हैं, उसमें किन-किन बातों का अभाव है इस ओर से नहीं आँका जाता। देखा जाता है कि उसमें क्या कहा गया है और किस तरह कहा गया है। 'संत साहित्य' इस कसौटी पर खरा उतरता है। बातें मनन पूर्वक कही गई हैं और मनुष्य के ज्ञान-कोष की वृद्धि में भी काफी सहायक है। सूफी सम्प्रदाय के मुख्य सिद्धान्तों का इस पुस्तक से अच्छा ज्ञान हो जाता है। 'कबीर का हृदय', 'तुलसी की सुरति-योग' इत्यादि लेखों में लेखक ने काफी मौलिकता दिखलाई है।

पुस्तक कितनी ही दृष्टियों से उपादेय है। साधारण पाठकों को संतों के साहित्य से थोड़ा परिचय हो जायेगा। परिचय से लोगों की इस ओर दिलचस्पी बढ़ेगी और यह दिलचस्पी संत साहित्य सम्बन्धी और भी उच्चकोटि की पुस्तकों के प्रणयन में सहायक होगी।

—देवराज उपाध्याय

● ● ●

चौबोली—श्री सूर्यकरण पारीक स्मारक ग्रन्थमाला का प्रथम पुष्प ; सम्पादक—प्रो० कन्हैयालाल सहाय एम०, ए० साहित्यरत्न पं० पतराम गौड़ 'विशारद' एम० ए० भूमिका लेखक—श्री जैनेन्द्रकुमार। प्रकाशक—सस्ता-साहित्य मंडल, नई दिल्ली। पृष्ठ ७४, मूल्य आठ आना।

पुस्तक में राजस्थानी कथा साहित्य की चार विभिन्न विषयक बातों का सानुवाद संकलन है। अपने ढंग की पहली पुस्तक है। राजस्थानी साहित्य में वीरता और शौर्य के अतिरिक्त जीवन की विविधता भी है यह प्रस्तुत संकलन द्वारा सिद्ध होता है। कहानियाँ हैं—१. राणी चौबोली री बात, २. खीवा बीजै री बात, ३. राजा मानधाता री बात, ४. सूँरा अर सनवादी री बात। यह लोक गाथाएँ जनानुरञ्जन के कारण चारण और भाटों की जिह्वा पर जीवित हैं, इनको लोप होने से बचाना हिन्दी साहित्य के लिए हितकर है। इन प्राचीन कहानियों में आधुनिक कहानियों का बीज है। समाज व देशकाल का प्रतिबिम्ब स्पष्ट देखने को मिलता है। मध्य-युग की संस्कृति, सभ्यता व भाषा का परिचय प्राप्त होता है।

कहानियाँ घटना-प्रधान होने से मनोरञ्जन की उत्तम साधन और कलात्मक भी हैं। प्रथम कहानी चौबोली कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। असम्भव बातों से परी देश की कहानियाँ हो गई हैं, पर सभी रसों व विषयों का मेल है। दृश्य व घटना वर्णन की अपूर्वता के साथ नई-नई उपमाओं से साक्षात्कार होता है।

इस प्रकार की लोक-गाथाओं का उद्धार कर, राजस्थानी साहित्य को प्रकाश में लाना हिन्दी के लिए अति स्वास्थ्यप्रद होगा। प्रस्तुत पुस्तक में जैनेन्द्रजी की भूमिका है। सम्पादक द्वय का आमुख विशेष महत्त्व की वस्तु है। स्वर्गवासी सूर्यकरण पारीकजी की अन्यत्तम इच्छा को प्रो० कन्हैयालालजी व पं० पतरामजी गौड़ ने पूरा करने का सफल प्रयत्न किया है। इस स्मारक ग्रन्थमाला के अन्य पुष्पों का खुले हाथों स्वागत होगा।

छत्तीसगढ़ी लोक-गीतों का परिचय—लेखक—श्यामाचरण दुबे। प्रकाशक—ज्ञानमन्दिर छत्तीसगढ़ी। पृष्ठ ७८ मूल्य ।=)

छत्तीसगढ़ी भाषा, जिसे लरिया या खल्ताही भी कहते हैं, का कोई विशेष पुराना साहित्य नहीं है। इसके बोलनेवाले करीब ३३ लाख के है। यह हिन्दी की एक ग्रामीण बोली है। इस भाषा के लोकगीतों का परिचय लेखक ने दिया है। अधिकतर ग्राम गीतों के ही उदाहरण देकर, उनका हिन्दी अनुवाद दिया है। जाति विशेष व नाट्यात्मक १० गीतों का परिचय पुस्तक में है। अन्त में 'ढोला' नामक मूल गीत है, जिसका परिचय त्रुटि-पूर्ण है। 'ढोला' ग्रामीण तिलस्मी कथा नायक नहीं है। छत्तीसगढ़ी को 'ढोला' गीत राजस्थानी साहित्य की देन है। लेखक को अन्य प्रान्तों के गीतों का अध्ययन कर तुलनात्मक परिचय देना चाहिये। भूमिका में छत्तीसगढ़ी साहित्य का सर्वांग वर्णन नहीं है। सामान्य पाठक पुस्तक अन्त तक पढ़कर भी नहीं बता सकता कि छत्तीसगढ़ी भाषा क्या है या उसका प्रचलन कहाँ है।

प्रस्तुत परिचयात्मक पुस्तक अपने ढंग की पहली पुस्तक है, एक अभाव की पूर्ति करने के कारण लेखक का प्रयत्न स्तुत्य है।

—महावीरसिंह गहलौत।

● ● ●

'इज्जतराब' का टैगोर-अंक—'इज़तराब', बनारस से एक ऊँचे दर्जे का साहित्यिक मासिक लगभग दो साल से निकल रहा है। इसके 'निगराँ' हैं सुप्रसिद्ध उर्दू कवि 'जिगर' मुरादाबादी हैं, और सम्पादक मसऊदअख्तर 'जमाल', उर्दू के एक उदीयमान सुन्दर कवि।

हमें इसके पिछले कुछ अंकों को देखने का अवसर मिला है और इस समय हमारे सामने इसका विशेषांक 'टैगोर नम्बर' मौजूद है, जिसमें बहुत ज़िम्मेदारी के साथ इसके योग्य संचालक तथा सम्पादक ने इसके आदर्शों को ऊँचा रखा है।

टैगोर का ऋण हिन्दी पर जो कुछ है, उर्दू पर उससे बहुत कम नहीं। फिर भी टैगोर पर एक विशेषांक निकालने का—साहस तो दूर रहा, ख़याल भी, किसी विशिष्ट उर्दू पत्र को नहीं हुआ। यह 'इज़तराब' ही है, जिसने यह साहस दिखाया है, जो सर्वथा अभिनन्दनीय है।

यों टैगोर पर एक विशेषांक निकालना अच्छे से अच्छे बंगाली मासिक के लिए भी एक साहसपूर्ण कार्य होगा ; लेकिन उर्दू में तो यह एक अचिन्त्य-सी बात है ;—सबूत इसी अंक में प्रकाशित 'सीमाब' साहब का पत्र है। 'सीमाब' साहब उर्दू के एक प्रतिष्ठित कवि हैं। पर 'इज़तराब' का यह प्रयास उन्हें नहीं सुहाया !

प्रस्तुत अङ्क में चित्र यद्यपि नहीं के बराबर हैं—शुरू में राथन्स्टाइन के एक प्रसिद्ध स्केच की कापी है—तथापि रचनाओं का चयन बहुत होशियारी से किया गया है। उन कविताओं के अलावा जो महाकवि के निधन पर लिखी गई हैं, अथवा जो उनके कतिपय प्रसिद्ध गीतों का अनुवाद हैं—ठोस सामग्री में निम्नलिखित रचनायें उल्लेखनीय हैं : 'टैगोर कहानीकार की हैसियत से' (अब्दुर्रहमान नासिर), 'ललितकलाएँ और टैगोर' (सग़ीर अहमद) और 'शान्तिनिकेतन' (ज़ाहिद रिज़वी हैदराबादी)। महाकवि के सुविख्यात नाटक 'संन्यासी' का अत्यन्त सफल अविकल अनुवाद, जो शौकत हमीद और बहीउद्दीन अशरफ़ ने किया है, अनुवाद का आदर्श प्रस्तुत करता है। अन्य उल्लेखनीय अनूदित सामग्री में महाकवि का लेख 'भारतीय भाषाओं में शिक्षा देने की आवश्यकता' और 'बदनाम', एक लघु-कथा, हैं।

यह विशेषांक उर्दू विशेषांकों में अपने 'साहस' के नाते तो गौरवान्वित होगा ही, उर्दू जानेवाले हिन्दी पाठकों के लिए भी अपनी अनूदित सामग्री की विशिष्टता के लिए संग्रहणीय सिद्ध होगा। अनूदित कविताओं में भी जो सरसता 'बर्क़' 'मजाज़' 'जोश' आदि के पद्यों में देखने को मिलती है वह विश्वकवि के हिन्दी पद्यानुवादों में कम देखने को मिलेगी।

—शमशेरबहादुरसिंह

★

सामयिक

'हंस' का नये वर्ष का नया कार्य-क्रम

हिन्दी की प्रगतिशील विचार-धारा का सन् १९४१ में 'हंस' ने जिस दृढ़ता और सजगता के साथ नेतृत्व किया है, और, कविता, कहानी, एकांकी नाटक और आलोचना आदि का जिस नई दृष्टि, नई अभिव्यक्ति, नई रूप-योजना और नई वस्तु-योजना के अनुसार विकास कर, साहित्य को एक सुनिश्चित दिशा प्रदान की है, और, उसकी प्रेरणाओं को जनाभिमुख करने की चेष्टा की है; वह किसी भी पत्र के लिए गौरव की बात हो सकती है। एक विश्वव्यापी महायुद्ध द्वारा उत्पन्न की हुई परिस्थितियों के अन्दर साहित्य की प्रेरणाएँ शिथिल पड़ जानी स्वाभाविक हैं। लेकिन इस पृष्ठभूमि के होते भी 'हंस' इस बात के लिए सतत प्रयत्नशील रहा है कि इस संक्रमण काल में साहित्य और कला का ह्रास न हो, बल्कि इसके विपरीत उसका विश्वास रहा है कि इस युद्ध के पश्चात् संसार का पुनर्निर्माण करने का जो गुरुतर कार्य-भार जनता को उठाना है, उसके सांस्कृतिक और साहित्यिक पुनर्निर्माण की योजनाओं और संश्लिष्टताओं से हिन्दी-भाषी जनता पूर्वत: परिचित रहे, उसकी चेतना व्यापक और गहरी हो, और, साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति होने के कारण, इस पुनर्निर्माण के स्वरूप को गढ़ने में सजग रूप से योग दे। यह एक साधारण कार्य नहीं है और गतवर्ष 'हंस' ने जिस साहित्य को प्रोत्साहन दिया है, वह इस महान उद्देश्य की कहाँ तक पूर्ति करता है इसके बारे में उसे कोई भ्रम नहीं है। 'हंस' में प्रकाशित अनेक रचनाएँ इस दृष्टि से असफल रही हैं और पाठकों तथा आलोचकों को यह न सोच लेना चाहिए कि प्रगतिवादी साहित्य का वे श्रेष्ठ उदाहरण पेश करती हैं। हम केवल इतना कह सकते हैं कि वे प्रारम्भिक प्रयत्न हैं अत: उनसे पूर्णता की अपेक्षा रखना गलत होगा। जब किसी विचार-धारा को ऐसे संक्रमण-काल के अन्दर पुराने विश्वासों, पुराने सौन्दर्य-मूल्यों, पुरानी अभिव्यक्तियों, पुराने संस्कारों और पुरानी परम्पराओं के स्थान पर जीवन के प्रति एक नया ही दृष्टिकोण और नई ही अभिव्यक्ति का विकास करना हो तो उसका कार्य कितना दुष्कर हो जाता है, इसका अनुमान करना कठिन है। यह देखते हुए कि प्रगतिवाद के नाम पर जो साहित्य उत्पन्न हो रहा है उसमें बहुत कुछ कूड़ा-करकट भी है, हमें क्षुब्ध या हतोत्साह नहीं हो जाना चाहिए क्योंकि भविष्य के एक महान् साहित्य की यह प्रारम्भिक अभिव्यक्तियाँ हैं और गत वर्ष की रचनाओं से यह तो स्पष्ट हो ही जाना चाहिए कि प्रगतिशील लेखक और साहित्यकार अपने कार्य की गुरुता के प्रति अचेत नहीं है, और उनकी अभिव्यक्तियों में निरन्तर परिपक्वता और गहराई आती जाती है। और इस नये वर्ष में 'हंस' की यह कोशिश रहेगी कि वह प्रगतिवाद के नाम पर उत्पन्न हुए सारे साहित्य की जाँच करे और प्रगतिशील साहित्यकारों का मार्ग प्रदर्शन करे।

गत वर्ष 'हंस' ने हिन्दी के आधुनिक काव्य-साहित्य पर विशेष रूप से ध्यान दिया था और कविता-अंक के रूप में उसने काव्य के मूल्यांकन के अनेक पहलुओं पर अध्ययन प्रस्तुत किये थे। इस वर्ष उसने विश्व के महान् उपन्यासकारों के गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत करने का निश्चय किया है। प्रगतिशील दृष्टिकोण से अभी तक इन कलाकारों की कृतियों, उनकी कला की विशेषता, उनके जीवन-दर्शन, उनकी कला के सामाजिक आधार और प्रभाव का मूल्यांकन अभी हिन्दी में नहीं ही हुआ है, जिसके कारण हमारे तरुण लेखकों का ध्यान उनकी कला के ऐतिहासिक और सामाजिक महत्त्व की ओर न जाकर, उनके व्यक्तिगत महत्त्व की ओर आकर्षित हो जाता है और रुचि के आधार पर जिस तरह लेखक चाहे जिस किसी विदेशी उपन्यासकार की कला का, अनुकरण करने लगते हैं उससे यह स्पष्ट है कि वे समूचे उपन्यास या कहानी साहित्य को एक क्रमशः विकसित ऐतिहासिक-धारा के रूप में, जिसे निरन्तर परिवर्तित सामाजिक जीवन से वस्तु प्राप्त होती है, नहीं देखते और उनके दृष्टिकोण में अराजकता स्पष्ट है। अतः विक्टर ह्यूगो, टालस्टाय, बालज़क, दस्तोयेव्सकी, अनातोल फ्रांस, एमिल ज़ोला, मार्शल प्रूस्त, चार्ल्स डिकेन्स, डी० एच० लारेन्स, गोर्की, जेम्स ज्वाएस, रोम्या रोलाँ और शोलोखोव आदि महान् कलाकारों के प्रगतिशील अध्ययन इस वर्ष 'हंस' प्रस्तुत करेगा।

इसके अतिरिक्त हमें यह जानने की भी आवश्यकता है कि हिन्दी के उपन्यास साहित्य को प्रेमचन्द ने किस स्तर पर लाकर छोड़ा और उनके पश्चात् के कलाकारों ने उसे कौन-सी नई दिशाएँ दीं और उनकी सफलताएँ हिन्दी के उपन्यास साहित्य को कितना आगे बढ़ा लाई हैं और यह प्रगति कहाँ तक वांछनीय है और एक प्रगतिशील दृष्टिकोण से उनका क्या साहित्यक मूल्य है। इसके लिए प्रेमचन्द, जयशंकरप्रसाद, कौशिक, सुदर्शन, जैनेन्द्रकुमार, अज्ञेय, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, चतुरसेन शास्त्री, यशपाल, वृन्दावनलाल वर्मा, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', उषादेवी मित्रा, भगवतीचरण वर्मा, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' आदि कलाकारों की कृतियों का अध्ययन 'हंस' प्रस्तुत करेगा और हमें आशा है कि इन निष्पक्ष आलोचनाओं से हिन्दी के पाठकों और उपन्यासकारों को वस्तुस्थिति से परिचित होने का अवसर तो मिलेगा ही, हिन्दी के आलोचना-साहित्य की भी अभिवृद्धि होगी।

और हिन्दी साहित्य और साहित्यकारों के सामने जो साहित्यिक, राजनीतिक और व्यक्तिगत समस्याएँ हैं, उनका समाधान करने की चेष्टा में 'हंस' इस वर्ष गत वर्ष की अपेक्षा अधिक सतर्कता-पूर्वक संलग्न रहेगा; यह तो निश्चित है ही। गत वर्ष जिन लेखकों और विचारको का सहयोग उसे मिला है उसके लिए वह कृतज्ञ है और इस वर्ष भी उसे उनका पूर्ण सहयोग प्राप्त होगा और वह अपनी योजनाओं को सफल बनाकर साहित्य का सही मार्ग-प्रदर्शन कर सकेगा इसका उसे पूर्ण विश्वास है।

—शि० सिं० चौ०

*

'हंस' के फरवरी अङ्क की विषय-सूची

नोट:—विषय-सूची में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया जा सकता है।—सं०

कुछ पुस्तकें, जिन्हें आप अवश्य खरीदें

बरगद—छोटा-सा गाँव है। गाँव के छोर पर है बरगद। बरगद की घनी-ठण्डी छाया में थके मुसाफिर विश्राम लेते हैं। ग्वालिन अपने पति को दुपहरी का भोजन देने जाती है तो छनभर सिर का बोझ हलका करती है बरगद की छाया में। अगणित पक्षियों का रैन-बसेरा है बरगद की डालियों में। गाँव भर के बच्चे बरगद की लम्बी जटाएँ पकड़कर ही तो झूलते हैं। और खुद आपका थका मन भी तो आज उस बरगद की शीतल छाया के लिए लालायित हो उठा होगा। क्योंकि आपके बचपन और प्रथम यौवन के क्रीड़ा-कलापों का एक वही तो मौन-साक्षी है! तो 'बरगद' को अपने निकट पाने के लिए, उसकी शीतल छाया का मन-ही-मन मजा लूटने के लिये हमें चौदह आने भेज दीजिये। पत्र और पैसा मिलते ही चौथे दिन आप बरगद के पास होंगे।

आधी रात—मेवाड़ वीरों की भूमि कहा जाता है। सामन्त युग में वहाँ कई युद्ध हुए। चित्तौड़ वहाँ का ऐतिहासिक स्थान है। चित्तौड़ के एक राजा उदा का चरित्र इतिहासकारों के लिए एक जटिल मनोवैज्ञानिक समस्या है। उसके मनोभावों और मनोविकारों ने एक युग तक चित्तौड़ के राजकीय जीवन पर अपना प्रभाव डाला है। वहाँ के लोक जीवन पर उसके चरित्र और शासन का प्रभाव लेखक ने बड़े ही सफल ढंग से चित्रित किया है। व्यक्ति का जीवन समाज और राष्ट्र को किस तरह प्रभावित करता है यह जानने के लिए यह नाटक पढ़ना आवश्यक है। मूल्य १॥)

प्रेम की वेदी—प्रेम के लिए पुरुष क्या नहीं करता? प्रेम के लिए नारी क्या नहीं करती? प्रेम का नाम बूढ़ी नसों में गरम रक्त प्रवाहित करता है। लेकिन धर्म और समाज का झूठा बन्धन इस स्वाभाविक झुकाव में रोड़े अटकाता है। योगराज हिन्दू है। मिस जेनी क्रिस्तान। उनके बीच में एक संबंध स्थापित होता है। वह शरीर का नहीं आत्मा का पवित्र संबंध है। उसी आकर्षण में बहनेवाले दो प्राणी और हैं मिसेज़ गार्डन और मिस्टर विलियम। प्रेम का इतना उदात्त और भव्य चित्रण केवल स्व० प्रेमचन्दजी की लेखनी द्वारा ही संभव था। मूल्य केवल ।॥)

मेरा हक़—'हंस' पिक्चर्स का 'मेरा हक़' देखा? बाबूराव पेंढारकर, दामूअण्णा, मालवणकर और मीनाक्षी द्वारा अभिनीत 'मेरा हक़' का कथानक मालूम है? मराठी के यशस्वी उपन्यास लेखक श्री वि० स० खांडेकर अपने पात्रों द्वारा जीवन के बारे में क्या राय रखते हैं? क्या सचमुच ही जीवन एक विज्ञापन है? या जीवन एक युद्ध है? या जीवन एक जुआ है? या जीवन एक आराधना है? या जीवन एक उपन्यास है? मेरा हक़ क्या है? मेरा हक़ मुझे मिलना चाहिये या नहीं? केवल सवा रुपए में 'मेरा हक़' मिल सकता है। साथ में कई छाया चित्र।

विचित्र लाश—हिन्दी और अंगरेज़ी जासूसी उपन्यासों में मिस्टर राबर्ट ब्लेक का नाम सुप्रसिद्ध है। जासूसी उपन्यासों की अपनी विशेषता होती है। उनका घटना प्रवाह कुछ इतना रोचक होता है कि पाठक उसमें डूब सा जाता है। पद-पद पर उसकी उत्सुकता बढ़ती जाती है। घटनाओं की तीव्रता उसके मस्तिष्क में बिजली की तरह उत्तेजना पैदा कर देती है। विचित्र लाश इसी श्रेणी का एक जासूसी उपन्यास है। १०७ पृष्ठ मूल्य सात आने।

अनुभूति—हम जो कुछ अनुभव करते हैं उस क्रिया का नाम अनुभूति है। नाम भ्रामक नहीं है। लेखक जो कुछ अनुभव करता है उसे अपनी अनुभूति द्वारा कलात्मक रूप देता है। श्री बलदेवप्रसाद मिश्र ने जीवन में जो कुछ देखा, जाना और अनुभव किया उसे 'अनुभूति' नामक कहानी संग्रह में प्रकाशित किया है। यह लेखक का प्रथम कहानी संग्रह है। सभी कहानियाँ ऊँचे दर्जे की हैं। सवा रुपए मूल्य में यह संग्रह सर्व-साधारण द्वारा संग्रहणीय है।

सरस्वती-प्रेस, बनारस, इलाहाबाद, लखनऊ।

खोई हुई जवानी वापिस हो सकती है ?

आज कल विज्ञापन की अधिकता के कारण दुनियाँ वाले सच्चे विज्ञापन को भी घृणा की दृष्टि से देखते हैं। सोचने की बात है कि यदि विज्ञापन न किया जावे तो पब्लिक तक अपनी आवाज किस प्रकार पहुँचाई जा सकती। आज हम उन्हीं भाईयों को पूरा विश्वास दिलाते हैं कि मेरा उद्देश्य धन कमाना ही नहीं बल्कि सेवा और सच्चाई का विश्वास दिलाकर प्रत्येक घर और मनुष्य मात्र के हृदय में उच्च स्थान पाने की आशा रखता हूँ। यही कारण है कि भारत विख्यात वैद्य-रत्न सत्यदेव की औषधियाँ भारतवर्ष में ही नहीं देश विदेशों में प्रचलित हैं और वैद्य सम्मेलन कांग्रेस के लीडरों बड़े-बड़े डाक्टर वैद्य, हकीम व सेठ साहूकारों, रईसों तथा सरकारी आफीसरों व समाचार पत्रों ने भी उत्तमोत्तम होने के प्रकाश पत्र दिये हैं। अब भी आपने हमारे विज्ञापन पर विश्वास न किया तो इससे बढ़ कर कोई हमारे पास सबूत नहीं है विश्वास करो यदि फिर भी आपने इससे लाभ न उठाया तो आपकी यह बदकिस्मती है।

प्राय: देखा गया है कि मनुष्यों को शीघ्रपात की शिकायत हो जाती है और वे उसकी ज़रा भी परवाह नहीं करते परिणाम यह होता है कि उनकी स्त्रियों को अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोग अवश्य पैदा हो जाते हैं। यह ईश्वरीय प्राकृतिक नियम है कि इस नियम के अनुसार रति क्रिया में जो पुरुष अपनी स्त्री को प्रसन्न तथा सन्तुष्ट नहीं कर सकता वह अपनी स्त्री को अवश्य रोगी बना देता है बिना रोग दूर किये स्त्री प्रसङ्ग करना महान अज्ञानता है क्योंकि अधूरे सम्भोग से प्रदर मासिक धर्म की खराबी तथा दिल की धड़कन, हिस्टीरिया, उन्माद, कमर पीड़ा, सर पीड़ा आदि एक न एक रोग अवश्य ही उत्पन्न हो जाते हैं।

हमने शीघ्रपात की शिकायतवाले पुरुष व स्त्रियों की रोगी संख्या की अधिकता देखकर तथा पुरुषों के जवानी उनकी हालत सुनकर अथवा शीघ्रपतनवाले पुरुषों की अधिकता देख कर स्त्री पुरुषों के उपकारार्थ आयुर्वेद का मथन कर यह "जीवन प्रभा टानिक" औषधि तैयार की है इसको तैयार कर लेना साधारण बात नहीं है मकरध्वज सुवर्णवंग, कस्तूरी, प्रवाल आदि बहुमूल्य औषधियाँ तथा वन उपवन पर्वतों की जड़ी बूटियाँ जो बड़ी कठिनता प्राप्त होती हैं खोजकर बड़े परिश्रम से तैयार किया है। जो पुरुष निर्बल शक्तिहीन हैं कभी भी अपनी पत्नी को प्रसन्न नहीं कर सकते उनको सर्व सुख होते हुए भी दाम्पति के सच्चे सुखों से सर्वथा वंचित रहते हैं। यह एक प्रकार का जीवन नर्क है। इधर उनकी पत्नी उनको रात दिन ताने देती है और अपने पति से हताश हो जाती हैं उन लोगों से हमारा अनुरोध है कि इस "जीवनप्रभा टानिक को ४० दिन अवश्य सेवन कर सन्तान का सुख प्राप्त करें, इसको नित्य-प्रति सेवन करने से कामदेव की वृद्धि होकर जठराग्नि प्रदीप्त होती है, बल की वृद्धि होती है और कुसमय में आये हुए बुढ़ापे को दूर करता है स्त्री को प्रसन्न और संतुष्ट करता है दाम्पत्य जीवन सुखमय व्यतीत होता है। यह केवल क्षणिक आनन्द के लिए नहीं वरन् शीघ्रपात स्वप्नदोष प्रमेह डायबटीज (मधुमेह) पेशाब के आगे पीछे धातु का गिरना नपुंसकता खांसी श्वास क्षय वातरक्त आदि केवल ४० दिन के सेवन से ही समूल नष्ट हो जाते हैं यह जिस प्रकार पुरुषों के लिए लाभप्रद है उसी प्रकार स्त्रियों के भी सब प्रकार के प्रदर गर्भाशय के दोष गर्भपात से बचाना निर्बलता श्वास खांसी रज की क्षीणता अरुचि सुस्ती आदि दूर होकर हृष्ट पुष्ट बलवान् तेजवान् सुन्दर सन्तान उत्पन्न होती है। कीमत फी डिब्बा ४० दिन की खुराक का ५) पाँच रुपया डाकखर्च अलग।

मँगाने का पता—रूपबिलास कम्पनी नं० २२ धनकुट्टी कानपुर

प्रकाशि

बल्कि सं
व्यायाम
कारी हो

१. आ
२. व्या
३. सम
४. शा
५. नृत
६. स्वर
७. व्य
८. व्य
९. छु
दा
१०. व्य

यूं

पुराने
शीघ्र
विशेषां

"हंस-परिवार" विषयक सभी पूर्व सूचनाएँ इसके साथ रद्द की जाती हैं।

[१] भारतीय-पुस्तक-माला
- (क) कायाकल्प [भाग १-२-३]
- (ख) स्नेह-यज्ञ [भाग १-२]

[२] 'हंस' पुस्तकें
- (ग) मा [भाग १-२-३]
- (घ) गाड़ीवालों का कटरा [भाग १-२-३] (यामा का अनुवाद)
- (च) सात इनक़लाबी इतवार [भाग १-२-३]

[३] गल्प-संसार-माला
१० प्रमुख प्रान्तीय भाषाओं से १२-१५ सर्वश्रेष्ठ कहानियों का संग्रह।

[४] नवसृजन ग्रन्थावली
- (छ) शोभा ले: इन्द्र वसावड़ा
- (ज) संजीवनी ले: 'सोपान'
- (झ) प्रायश्चित [भाग १-२] ले : सोपान

[५] जागृत-महिला-साहित्य
- (ट) पिकनिक ; लेखिका—कमला देवी चौधरी
- (ठ) पिया ; लेखिका—उषादेवी मित्रा
- (ड) कौमुदी ; लेखिका—शिवरानी देवी

[६] 'हंस' मासिक के १२ अंक

[७] 'कहानी' मासिक के १२ अङ्क और एक भेंट-पुस्तक।

—

'हंस-परिवार'

की

योजना में मिलनेवाली पुस्तकें

चंदे तथा विवरण के लिए नीचे देखिये।

'हंस-परिवार' के सदस्य बनिये

इसके साथ हम जिन प्रवृत्तियों का संक्षिप्त विवरण दे रहे हैं उनका कुल मूल्य रु० ३४–८—० होता है। पर हम अपने बहुत से कृपालु ग्राहकों तथा विशेषतया सार्वजनिक संस्थाओं की सुविधा के लिए यह चाहते हैं कि इन प्रवृत्तियों को मात्र २५ रु० में दें। इसमें हमें आज की महँगी के ज़माने में कितनी हानि उठानी पड़ेगी यह हमारे दयालु सहायकगण समझ ही सकते हैं। यह संस्था तो सेवा के लिए ही खड़ी है। इन सात प्रवृत्तियों के ग्राहक बननेवाले को हम 'हंस-परिवार' का एक सदस्य मान लेंगे और उनकी सूची आदि भी समय-समय पर प्रकाशित करेंगे।

इस मूल्य में घर बैठे बारह महीने तक दो मासिक हर महीने मिलते रहेंगे और एक वर्ष में छोटी-बड़ी कुल मिलाकर ३१ पुस्तकें मिलेंगी जिनकी पृष्ठ-संख्या कुल जोड़कर ७०००, के लगभग होती है; अर्थात् पत्रिका के पृष्ठों और सामग्री को छोड़कर रु० ३) में ९००० पृष्ठ मिलते हैं। इससे सस्ती योजना भारत की किसी प्रान्तीय भाषा में तो क्या अंग्रेज़ी में भी नहीं है। यह योजना बेजोड़ है, निस्सन्देह।

इन पुस्तकों में विविधता कितनी है इसका परिचय नीचे लिखे परिचय से मिल जायगा :

[१] १२०० पृष्ठों में भारत की सभी प्रमुख भाषाओं के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों का अनुवाद

[२] १८०० पृष्ठों में संसार के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों का अनुवाद।

[३] २४००पृष्ठों में भारत की सभी प्रान्तीय भाषाओं से सुन्दरतम कहानियों का अनुवाद, जिसमें आप भारतीय साहित्य की सम्पूर्ण गतिविधि से परिचित हो जाते हैं।

[४] गुजराती साहित्य के सर्वश्रेष्ठ तीन उपन्यासों का अनुवाद, ९०० पृष्ठों में उपस्थित किया गया है।

[५] महिलाओं के लिए उन्हीं के दृष्टिकोण से लिखे उपन्यासों और कहानियों के तीन ग्रन्थ-रत्न। यह आपके परिवार में पत्नी तथा मा-बहन के लिए स्वास्थ्यकर मानसिक भोजन प्रदान करेंगे।

सरस्वती-प्रेस, बनारस, दिल्ली, लखनऊ, इलाहाबाद।

[Approved by the Governments of the U. P., Behar, C. P., Kashmir and Bombay Presidency for use in Colleges, Schools and all other educational institutions]

अन्तर्प्रान्तीय साहित्यिक प्रगति का अग्रदूत

: सम्पादक :

श्रीपतराय

•

सलाहकारी सम्पादक-मण्डल

•

★ उर्दू—मौलाना अब्दुलहक़

★ मराठी—वि० स० खाण्डेकर

★ गुजराती—रा० वि० पाठक

★ उड़िया—कालिन्दीचरण पाणिग्राही

★ बँगला—श्रीनन्दगोपाल सेनगुप्त

★ पञ्जाबी—प्रो० मोहनसिंह

★ राजस्थानी—नरोत्तमदास स्वामी

★ कन्नड़—बी० अश्वत्थनारायणराव
निट्टूर श्रीनिवासराव

वार्षिक मूल्य ६) विदेश में १२ शिलिंग बर्मा के लिए ७)
अर्द्ध-वार्षिक मूल्य ३) „ ६ „ „ ४)
एक अंक का आठ आना

वर्ष : १२ : : फरवरी, १९४२ : : अंक : ५

टिप्पणी—

युद्ध का स्वरूप क्यों बदल गया है ?

गत मास के 'हंस' में मैंने 'फासिस्ट-विरोधी जनता का युद्ध और भारत' पर एक टिप्पणी दी थी। उसमें आचार्य नरेन्द्रदेव के एक लेख का भी उल्लेख किया था। आचार्यजी ने २ फरवरी के 'संघर्ष' में उस टिप्पणी का उत्तर दिया है। आचार्यजी का लेख पढ़कर मुझे बेहद निराशा हुई। उनके लेख का स्वर कुछ ऐसा है कि उसमें गम्भीर चर्चा की आशा ही नहीं की जा सकती। उन्होंने स्थल-स्थल पर अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए मेरे नाम से कुछ ऐसे वाक्य पिरोये हैं जो मेरे कभी नहीं हो सकते और न मैं उतने नीचे स्तर पर उतरकर बात करना ही वांछनीय समझता हूँ। मेरा तो विचार है कि जब परिस्थिति इतनी जटिल हो तो उसे समझने की कोशिश करनी चाहिये न कि एक दूसरे का मखौल उड़ाने की भाषा में बात कर समस्यायों का सामना करने से बचने का कोई सीधा मार्ग ढूँढ़ना चाहिये। मिथ्या आरोप लगाने की प्रवृत्ति हमें एक क़दम भी आगे नहीं ले जाती। मैंने अपनी टिप्पणी में युद्ध के प्रति भारत की क्या नीति हो इस प्रश्न को कई पहलुओं से समझने की कोशिश की थी। आचार्यजी के लेख का ज़िक्र अगर उसमें आया था तो केवल इसलिए कि उन्होंने एक पहलू से इस प्रश्न पर अपने विचार प्रकट किये थे और उनकी जाँच करना जरूरी था। और यदि जाँच करने से वे गलत साबित हुए तो इसका अर्थ तो यह हुआ कि आचार्यजी अपने विचारों का और खुलासा करते और मेरे तर्कों की त्रुटियाँ समझाने की कोशिश करते। इसके बजाय उन्होंने एक आक्षेपकर्ता की भाषा में मेरे ऊपर कुछ ऐसी बातों का आरोप किया है जिनका दायित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। उन्होंने लिखा है, 'चौहानजी का तर्क विचित्र है, उनका तो यह कहना है कि कुछ न कुछ करना चाहिये; यदि कुछ अच्छा नहीं कर सकते तो कुछ बुरा ही करो। 'बेकार मबास, कुछ किया कर, कपड़े फाड़कर सिया कर।' मेरी टिप्पणी से आचार्यजी ने यह ध्वनि कैसे निकाली यह समझ में नहीं आता। अपने लेख के अन्त में उन्होंने युद्ध के प्रति अपना पुराना फतवा दुहराकर कहा है, 'युद्ध अब भी साम्राज्यवादी है। यह जनता का युद्ध नहीं है। इससे अलग रहने ही में कल्याण है।

हमारे कम्युनिस्ट भाई तो नये जन्म की तमन्ना में ख़ुदकशी करना चाहते हैं।' लेकिन उन्होंने मेरी टिप्पणी का हवाला देते हुए एक जगह यह भी लिखा है कि उसमें, 'युद्ध का स्वरूप किस प्रकार बदल गया इसके समझाने का प्रयत्न नहीं किया गया।' और दूसरी जगह उन्होंने यह प्रश्न भी किया है कि, 'फिर चौहानजी क्यों नहीं थोड़ा-सा कष्ट स्वीकार कर हमको यह समझाते कि किस प्रकार 'बिना शर्त' युद्ध में सहयोग देकर जनता अपने अभीष्ट को प्राप्त करेगी।' इन दोनों उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि आचार्यजी ने इन प्रश्नों पर विचार-विनिमय करने का द्वार बन्द नहीं कर दिया है। फिर युद्ध के स्वरूप के बारे में उन्होंने जो फतवा दिया है वह आश्चर्य में डालता है कि दोनों में से किस बात को माना जाय। फिर भी हमें इन प्रश्नों का उत्तर तो देना ही है। रूस या जर्मनी के आक्रमण से युद्ध का स्वरूप किस प्रकार बदल गया इसकी ओर मैंने पिछली टिप्पणी में थोड़े से तर्कों से ही संकेत किया था क्योंकि मेरा विचार था कि आचार्यजी और दूसरे समाजवादी अपने अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण को एक-दम भूल नहीं गये हैं। अत: एक विस्तृत विश्लेषण की मैंने आवश्यकता न समझी थी। लेकिन यह मेरी त्रुटि थी और आचार्यजी ने यह प्रश्न कर मुझे इस बात के प्रति सावधान कर दिया है कि कांग्रेस समाजवादी पार्टी अपने अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण को भुलाकर अपनी विचारधारा को राष्ट्रीय दायरे में बन्द कर चुकी है, अत: इस प्रश्न का ब्योरेवार विश्लेषण होना ज़रूरी है। इस प्रश्न को समझने के बाद ही दूसरा प्रश्न भी समझ में आ सकता है

श्रमजीवी-वर्ग की विचार-धारा और कार्य-प्रणाली ही कम्युनिस्टों और समाजवादियों की विचारधारा और कार्य-प्रणाली होती है। लेकिन श्रमजीवी-वर्ग की विचारधारा क्या केवल राष्ट्रीय दृष्टिकोण से ही बँधी रहती है? श्रमजीवी-वर्ग पूँजीवादी संसार के अन्दर सभी जगह गुलाम है, चाहे किसी देश की सरकार इङ्गलैण्ड या अमेरिका की तरह दिखावे के लिए प्रजातंत्रवादी हो, या भारत की तरह साम्राज्यवादी हो, या जर्मनी, इटली और जापान की तरह फ़ासिस्ट हो। अत: विश्व-पूँजीवाद या साम्राज्यवाद के विरुद्ध संसार के मज़दूर-वर्ग के स्वार्थ एक हैं, उसकी आज़ादी और लड़ाई के प्रश्न एक हैं। यह कहना आसान है, और पंडित जवाहरलाल नेहरू से लेकर हमारे समाजवादी मित्र, सभी अक्सर कहा करते हैं कि 'भारत विश्व का एक अंग है,' लेकिन वे इस वक्तव्य के पीछे छिपी हक़ीक़त को नहीं देख पाते कि अगर विश्व के पूँजीवाद को कमज़ोर करने के लिए अन्य देशों के मज़दूर अपने प्राणों की बाज़ी लगाते हैं तो उनकी लड़ाई हमारी लड़ाई भी हो जाती है। और केवल राष्ट्रीय प्रश्न उस लड़ाई में भाग लेने से हमें रोक नहीं सकते, क्योंकि यदि विश्व का पूँजीवाद कहीं भी कमज़ोर होता है तो उससे हमारी भी शक्ति बढ़ती है, और हमें अपनी आज़ादी की लड़ाई को और भी सफलता-पूर्वक चलाने में सहायता मिलती है। इसलिए युद्धों के प्रति अपना दृष्टिकोण निश्चित करते समय हमें मज़दूर-वर्ग की अन्तर्राष्ट्रीयता को भूल नहीं जाना है, उसे भुलाकर हम राष्ट्रीय पूँजीवाद के हाथ की कठपुतली से अधिक और कुछ नहीं रह जाते।

तो मज़दूर-वर्ग युद्धों के प्रति अपने अन्तर्राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुसार अपना दृष्टिकोण किस प्रकार निश्चित करता है? वह देखता है कि किसी भी युद्ध में भाग लेनेवाले वर्गों का स्वरूप क्या है और सरकारों के वर्ग-उद्देश्य क्या हैं। इस बात

की जाँच कर ही वह प्रत्येक न्यायपूर्ण युद्ध में सहयोग देता है, अर्थात् ऐसे युद्धों में जो बाह्य आक्रमण से जनता की रक्षा करने के लिए, या पूँजीवादी दासता से मुक्ति पाने के लिए या उपनिवेशों में साम्राज्यवादी पंजे से आज़ाद होने के लिए लड़े जाते हैं। इसके अतिरिक्त अन्यायपूर्ण युद्धों का वह विरोध करता है, अर्थात जो युद्ध साम्राज्यवादी हैं और दूसरे देशों को विजित कर गुलाम बनाने के उद्देश्य से लड़े जाते हैं। मज़दूर-वर्ग का सहयोग या विरोध केवल एक उद्देश्य को सामने रख कर होता है—विश्व-साम्राज्यवाद को कमज़ोर करना, और अपनी शक्ति बढ़ाना। विश्व का मज़दूर-वर्ग जितना आगे बढ़ता है, वह उसे अपनी विजय समझता है। हमारे देश का पूँजीपति-वर्ग भी विश्व के पूँजीवाद का एक अंग है, जिस तरह भारतीय मज़दूर-वर्ग विश्व के मज़दूर-वर्ग का एक अंग है। अत: राष्ट्रीय प्रश्नों को वह अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों के आगे प्रधानता नहीं दे सकता।

इसका यह अर्थ नहीं है कि वह अपनी आज़ादी की लड़ाई को त्याग देता है, बल्कि यह कि वह विश्व-पूँजीवाद के अन्दर अपने समूचे वर्ग के प्रधान शत्रु को अन्य शत्रुओं स अलग कर, यदि सम्भव हो तो उन्हें आपस में ही लड़ाकर, पहले खत्म करने की चेष्टा करता है और तब नई शक्ति से अपने दूसरे शत्रुओं से संघर्ष करता है। इसके लिए वह पूँजीवाद की आन्तरिक असंगतियों का फ़ायदा उठाकर उन पूँजीवादी राष्ट्रों से भी समझौते के लिए तैयार रहता है जो अपनी आवश्यकताओं से उस प्रधान शत्रु से लड़ने के लिए मजबूर हो जाते हैं। यह मज़दूर-वर्ग की अन्तर्राष्ट्रीयता का सिद्धान्त है।

मैंने अपनी पिछली टिप्पणी में इसी सिद्धान्त को ध्यान में रखकर लिखा था कि युद्ध में रूस का शामिल होना एक बड़ी हक़ीकत है और उससे युद्ध का स्वरूप ही बदल गया है। आचार्यजी ने इसका मखौल उड़ाने की कोशिश की। मुझे आश्चर्य हुआ कि वे रूस के प्रति अपना दृष्टिकोण भी सही नहीं बना पाये हैं—और मज़दूरवर्ग की अन्तर्राष्ट्रीयता को भुलाकर रूस के प्रति सही दृष्टिकोण बनाया भी नहीं जा सकता। क्या रूस एक राष्ट्र है, मात्र एक देश है जिस तरह ब्रिटेन और अमरिका हैं, अत: उसकी आत्म-रक्षा की लड़ाई से हमारा कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है? पंडित जवाहरलाल नेहरू और दूसरे नेता जो रूस के साथ सहानुभूति प्रकट करते हैं वे रूस को अन्य राष्ट्रों की तरह ही एक राष्ट्र मानते हैं। शायद आचार्यजी भी ऐसा ही मानते हैं। लेकिन सत्य क्या है? दुनिया के मज़दूरों के लिए रूस समाजवाद का गढ़ है—एक अकेला गढ़। नवम्बर की क्रान्ति की जड़ें मज़बूत कर वह गढ़ विश्व-पूँजीवाद के बीच खड़ा है। नवम्बर की क्रान्ति ने विश्व-पूँजीवाद की इस्पाती दीवार को एक स्थान पर तोड़कर एक विशाल दरार कर दी थी, और सोवियत् रूस ही वह दरार है। इस दरार को जोड़ने के लिए पूँजीवादी सरकारों ने पहले भी हस्तक्षेप किया था, और विश्व के मज़दूरों ने अपनी-अपनी सरकारों के इस कार्य का विरोध किया था—उस समय सोवियत् रूस की रक्षा करना पूँजीवादी देशों के मज़दूरों ने अपना कर्तव्य समझा था। तो आज चूँकि रूस के साथ दो पूँजीवादी सरकारें भी फ़ासिज़्म के खिलाफ़ लड़ रही हैं इसलिए क्या रूस की रक्षा करना दुनिया के मज़दूर-वर्ग का कर्तव्य नहीं रह जाता? कांग्रेस समाजवादी दल के अनेक नेताओं ने अक्सर शिकायत की है कि कम्युनिस्ट पार्टियाँ रूस की वैदेशिक नीति का समर्थन ही करती हैं, और अपनी राष्ट्रीय क्रान्ति की आवश्यकताओं को गौण स्थान देती रही हैं। ऐसे तर्क तभी

पेश किये जा सकते हैं जब रूस को अन्य राष्ट्रों की तरह एक राष्ट्र समझ लिया जाय। रूस यदि विश्व के मजदूर-वर्ग की कामयाबियों का प्रतीक है, तो उसकी रक्षा करना, उसकी शक्ति को मजबूत करना संसार के मजदूर-वर्ग का कर्तव्य है, क्योंकि ऐसा करने से ही वह विश्व के पूँजीवाद की दीवार में फूटी दरार की रक्षा कर सकता है और उसे और ज्यादा चौड़ा कर सकता है। रूस के खत्म होने पर या कमजोर होने पर विश्व के मजदूर-वर्ग की शक्ति कमजोर होती है, यह तो समाजवाद के साधारण विद्यार्थी के लिए भी सुबोध होना चाहिए। अतः गत महायुद्ध के पहले जो परिस्थितियाँ थीं वे इस युद्ध के पूर्व में इस हद तक बदल गईं कि संसार के मजदूर-वर्ग को युद्ध के प्रति अपना रुख निश्चित करते समय यह देखना जरूरी हो गया कि साम्राज्यवादी राष्ट्रों, वहाँ के वर्गों और पार्टियों का रुख सोवियत् रूस के प्रति क्या है।

इसी कारण मजदूर-वर्ग तत्काल के लिए उन सरकारों और वर्गों से भी सहयोग करने के लिए तैयार रहा जो सोवियत् रूस के साथ सहयोग करने को तैयार थीं। अन्तर्राष्ट्रीय धरातल पर प्रजातन्त्रवाद और फासिज्म में भेद इसी तथ्य को नजर में रखकर किया जा सकता था कि सोवियत् रूस की रक्षार्थ लड़ने की उम्मीद प्रजातन्त्रवाद से की जा सकती थी, ऐसी संभावनाएँ थीं, क्योंकि साम्राज्यवाद के कैम्प में भी तो परस्पर-विरोध प्रबल है। अतः मजदूरों के राष्ट्र पर आक्रमण करनेवाले और आक्रमण न करनेवाले साम्राज्यवादी राष्ट्रों में भेद करना जरूरी था। जब युद्ध जर्मनी और ब्रिटेन-फ्रान्स के साम्राज्यवाद के बीच ही सीमित था उस समय तक इस तरह का कोई भेद नहीं किया जा सकता था, और वह निश्चय ही एक साम्राज्यवादी युद्ध था। और उस समय कम्युनिस्टों ने चेम्बरलेन के स्थान पर जनता की सरकार की माँग की थी जो सोवियत् रूस के साथ मिलकर प्रजातन्त्र और शान्ति की स्थापना कर सकती। भारत में उन्होंने जन-क्रान्ति का नारा उठाया था। इङ्गलैण्ड में हिटलर से समझौता करने, और फिर मिलकर रूस पर संयुक्त आक्रमण करने की संभावनाएँ उस समय तक मौजूद थीं, अतः यह जरूरी था कि विश्व-साम्राज्यवाद के बीच युद्ध के कारण जो खाई बन गई थी वह पटने न पावे।

इस बात को तो आचार्यजी भी जानते हैं कि युद्ध छिड़ने के पूर्व सोवियत् रूस और संसार के मजदूर-वर्ग ने फ़ासिज्म के खिलाफ़ संयुक्त मोर्चा बनाने की क्या कोशिशें की थीं। यदि वे कोशिशें कामयाब हो जातीं और ब्रिटेन और फ्रान्स रूस के साथ मिलकर फासिज्म का नाश करने के लिए लड़ते तो युद्ध का स्वरूप वही न होता जो प्रारम्भिक काल में उसका स्वरूप था। उस समय वह वास्तव में प्रजातन्त्रवाद और शान्ति के लिए युद्ध होता, और विश्व के मजदूरों की सहानुभूति उसके साथ होती क्योंकि इस प्रकार अपने प्रधान शत्रु फासिज्म को विश्व के साम्राज्यवाद के कैम्प में अकेला कर उससे युद्ध होता और उसके नाश से संसार की प्रगतिशील शक्तियों की ताक़त मजबूत होती। लेकिन चेम्बरलेन और उसका गुट तो हिटलर को प्रोत्साहन देकर मजदूर-वर्ग के गढ़ सोवियत् रूस पर आक्रमण करने के लिए विश्व के साम्राज्यवाद का संगठन करना चाहता था, और सोवियत रूस के दामन को फाड़कर साम्राज्यवाद के आन्तरिक विरोध के घाव पर पट्टी बाँधना चाहता था। लेकिन रूस-जर्मन समझौते से यह घाव खुलकर बह निकला तो युद्ध साम्राज्यवादी ताकतों के बीच ठन गया। और फिर पूँजीवादी सरकारों और

फासिस्ट सरकारों में भेद करने की जरूरत न रही, क्योंकि दोनों ही उस समय अपने-अपने स्वार्थों के लिए लड़ रही थीं। प्रजातन्त्रवाद और स्वतन्त्रता का नारा इन स्वार्थों को ढाँपकर रखने का एक आवरण मात्र था।

अतः इस महायुद्ध के शुरू होने के समय यह परिस्थितियाँ थीं—

फासिज्म के खिलाफ जो प्रजातंत्रवादी मोर्चा तैयार हो रहा था, वह प्रतिक्रियावादी पूँजीपति-वर्ग की कोशिशों से टूट चुका था, लेकिन साथ ही सोवियत रूस पर फासिस्म के आक्रमण का उनका षड्यन्त्र भी नाकामयाब हो गया था। और यद्यपि चेम्बरलेन के होने के कारण सोवियत रूस पर आक्रमण करने के आधार पर फ़ासिज्म के साथ समझौते की गुंजाइश बाक़ी थी, लेकिन उसकी सम्भावनाएँ दिन-दिन कम होती जा रही थीं। फिनलैंड और बाल्टिक राष्ट्रों में हस्तक्षेप करने के कारण सोवियत रूस को साम्राज्यवादी प्रचार ने बदनाम कर विश्व की जनता से अलग-सा कर दिया था; और यद्यपि प्रतिक्रियावादी विश्व-साम्राज्यवाद का संयुक्त मोर्चा टूट गया था, लेकिन रूस पर अकेले नाज़ी आक्रमण की सम्भावनाएँ मौजूद थीं। इन परिस्थितियों में युद्ध शुरू हुआ था, और चूँकि वह साम्राज्यवादी युद्ध था, इस कारण उसका विरोध करना संसार के मज़दूर-वर्ग ने अपना कर्तव्य समझा।

लेकिन युद्ध की प्रगति के साथ जब एक के बाद दूसरा देश नाज़ी आक्रमणकारियों का शिकार होता गया, यहाँ तक फ्रांस ने भी घुटने टेक दिये, और योरप के महाद्वीप पर रूस के अतिरिक्त और कोई राष्ट्र न रहा तो ब्रिटिश साम्राज्यवाद के होश उड़ गये। पहले ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने रूस के साथ नाज़ी ख़तरे के खिलाफ़ कोई समझौता करना स्वीकार न किया था, लेकिन अब उसे अपने उसी वर्ग-शत्रु के साथ समझौते की बात चलानी पड़ी। रूस एक साम्राज्यवादी युद्ध में किसी भी साम्राज्यवादी शक्ति का साथ न दे सकता था, अतः जब तक रूस पर आक्रमण नहीं हो गया, वह अपनी तटस्थता की नीति पर दृढ़ बना रहा। लेकिन नाज़ी आक्रमण होने पर परिस्थिति पुनः बदल गई और साम्राज्यवाद और फ़ासिज्म में भेद करने की पुनः आवश्यकता पड़ गई, क्योंकि आक्रमण करके फ़ासिज्म विश्व के मज़दूर-वर्ग का पुनः प्रधान शत्रु बन गया। और ब्रिटेन और रूस में समझौते की संभावना पैदा हो गई। यद्यपि ब्रिटेन अपने साम्राज्यवाद की जरूरतों से प्रेरित होकर ही इस समझौते में शामिल हो रहा था, तो भी यह उसके साम्राज्यवाद की सबसे बड़ी हार भी थी। ब्रिटिश साम्राज्यवाद की एक पराजय तो उस समय हुई थी जब वह रूस पर आक्रमण करने के अपने षड्यंत्र को सफल न कर सका, दूसरी हार उसकी उस समय हुई जब उसे रूस के साथ समझौता करना पड़ा, अपने ही वर्ग के प्रबल शत्रु का नाश करने के लिए, और वह भी ऐसे समय में जब कि वह शत्रु रूस पर आक्रमण कर ब्रिटिश साम्राज्यवाद की पूर्व आकांक्षाओं की ही पूर्ति कर रहा था। अतः मेरा यह कहना कि रूस का युद्ध में खींच लिया जाना एक बड़ी हकीक़त है, बेमानी नहीं है।

अतः रूस पर आक्रमण होते समय परिस्थितियाँ इस प्रकार बदल गई थीं कि —

रूस योरप की ओर से जर्मनी से घिर गया था, और जर्मन फ़ासिज्म के पास

योरप के सभी देशों के औद्योगिक-साधन और सैनिक-शक्ति थी, दूसरे जर्मनी की शक्ति इतनी बढ़ गई थी कि वह ब्रिटिश साम्राज्यवाद के लिए ऐसा जबर्दस्त खतरा हो गया कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद को अपनी पराजय स्वीकार कर, या विश्व-साम्राज्यवाद के हितों का नाश कर सोवियत् रूस के साथ समझौता करना पड़ा। हेस को भेजकर हिटलर ने समझौते की जो कोशिश की थी वह भी नाकामयाब रही, क्योंकि एक तो चेम्बरलेन निकल चुका था, दूसरे साम्राज्यवादी कैम्प में विरोध की खाई इतनी चौड़ी हो चुकी थी, कि उसे पाटना संभव न था, और चर्चिल दृढ़ता-पूर्वक नाज़ी-साम्राज्यवाद को सिर उठाने से रोकना चाहता था। और तीसरे सोवियत् रूस, विश्व के मज़दूर-वर्ग के समाजवादी केन्द्र पर आक्रमण हुआ था, जिससे फ़ासिज़्म विश्व की प्रगतिशील मानवता का प्रधान शत्रु बन गया और उसका नाश विश्व की प्रगतिशील शक्तियों के सम्मुख प्रमुख कर्तव्य हो गया।

इस विश्लेषण के बाद यह स्पष्ट है कि क्यों यह युद्ध साम्राज्यवादी नहीं रहा, बल्कि जनता का युद्ध हो गया है। ब्रिटिश साम्राज्य और अमेरिका जो इस युद्ध में शामिल हैं, उनके उद्देश्य क्या हैं, यह ज्यादा महत्व की बात नहीं है, क्योंकि यह स्पष्ट बात है कि अपने साम्राज्यों की नींव ढहते देख कर ही उन्होंने रूस से समझौते की कड़ुई गोली खाई है, लेकिन महत्व की बात तो यह है कि वे विश्व-क्रान्ति के गढ़ सोवियत रूस के साथ हैं, और सोवियत रूस की विजय पर प्रगतिशील मानवता का भविष्य निर्भर करता है। अतः विश्व की जनता की इस युद्ध में दिलचस्पी है कि किसी भी परिस्थिति में समाजवादी क्रान्ति का यह आधार टूट न जाय, नवम्बर क्रान्ति की कामयाबियाँ नष्ट न हो जायँ। अतः यह युद्ध जनता का है। फ़ासिज़्म को नष्ट कर विश्व की जनता न केवल सोवियत् रूस को मज़बूत करेगी, बल्कि साम्राज्यवादी कैम्प में खाई पड़ने से जो दो दल बन गये हैं, उनमें से एक को, प्रधान शत्रु को नष्ट कर वह विश्व-साम्राज्यवाद को भी कमज़ोर करेगी, और यह साम्राज्यवाद की सबसे बड़ी पराजय होगी। अतः अपने राष्ट्रीय स्वार्थों के कारण ब्रिटेन और अमेरिका के साम्राज्यवादों के चाहे जो उद्देश्य हों, वे महत्व नहीं रखते, क्योंकि वे विश्व-साम्राज्यवाद को कमज़ोर होने से नहीं रोक सकते। विश्व के मज़दूर-वर्ग के सामने अगर इन उद्देश्यों का कोई भी महत्व हो सकता है तो वह यह कि ये स्वार्थ इतने प्रबल न हो जायँ कि रूस को पूरी सहायता न पहुँच सके और रूस इतना कमज़ोर हो जाय कि युद्धोपरान्त ये साम्राज्यवादी राष्ट्र अपनी स्थिति मज़बूत कर रूस की अवहेलना कर जायँ, यद्यपि इसकी सम्भावनाएँ कम हैं, क्योंकि कम से कम रूस के विरुद्ध वे युद्धोपरान्त भी किसी आक्रमण की तो कल्पना भी नहीं कर सकते, और इस प्रकार नाज़ी सत्ता को नष्ट करने के साथ-साथ उन्हें सोवियत् रूस को जीवित रहने देना होगा। अतः किसी भावी विश्वासघात को रोकने के कार्य का भार संसार की जनता पर है, जो इस युद्ध में अपनी स्वतंत्र सहायता देकर चर्चिल या रूज़वेल्ट की ढुलमुलयक़ीनी को रोक सकती है। अतः ब्रिटेन और अमेरिका सोवियत् रूस के साथ मिलकर प्रधान शत्रु फ़ासिज़्म के ख़िलाफ़ जो युद्ध लड़ रहे हैं उसे जीतने के लिए संसार की समूची जनता को सहयोग देना है, क्योंकि यह युद्ध विश्व-क्रान्ति के आधार की रक्षा के लिए हो रहा है। अतः यह जनता का युद्ध है, और यद्यपि भारत पराधीन है लेकिन विश्व-साम्राज्यवाद को कमज़ोर

करने के लिए विश्व के मजदूर-वर्ग का साथ देना उसका कर्तव्य है, इससे उसकी शक्ति भी बढ़ती है।

और यदि आचार्यजी की बात स्वीकार कर यह मान लिया जाय कि यह युद्ध साम्राज्यवादी है तो इसका स्वाभाविक परिणाम यह होना चाहिये कि मजदूर-वर्ग को ब्रिटेन और अमेरिका में गृह-युद्ध करना चाहिए और भारत में जनक्रान्ति। क्योंकि मजदूर-वर्ग की विचारधारा में तटस्थता की नीति कोई अर्थ नहीं रखती। इस गृह-युद्ध और जन-क्रांति का परिणाम होगा कि हिटलर की शक्ति बढ़ेगी और सोवियत रूस पर फासिज्म विजय पाता जायगा, और ब्रिटेन और अमेरिका में जो फासिज्म के मित्र हैं वे सिर उठाकर मजदूर-वर्ग को कुचलने की कोशिश करेंगे, और वहाँ भी फासिज्य कायम कर हिटलर के साथ समझौता कर रूस के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा बनाकर रूस पर चढ़ दौड़ेंगे। और इस प्रकार मृत चेम्बरलेन का स्वप्न पूरा हो जायगा—विश्व-क्रान्ति का आधार पामाल हो जायगा। और यदि आचार्यजी यह कहें कि हम यह नहीं कहते कि अमेरिका और ब्रिटेन के मजदूरों को युद्ध में सहायता नहीं करनी चाहिए, बल्कि यह कहते हैं कि भारत को सहायता नहीं करनी चाहिए, क्योंकि भारत परतन्त्र है, तो पहले तो किसी भी साम्राज्यवादी युद्ध में कहीं के मजदूरों से मदद देने की बात कहना मजदूर-वर्ग की विचारधारा के साथ विश्वासघात करना है, पर यदि इस बात को भुला भी दिया जाय तो ब्रिटिश मजदूर तो रूस की सहायता के लिए अस्त्र-शस्त्र बनाएँगे और भारत के मजदूर अपनी अन्तर्राष्ट्रीयता के अनुसार अस्त्र-शस्त्र की फैक्टरियों को डाइनेमाइट लगा कर उड़ाने की कोशिश करेंगे! क्या अच्छा दृश्य रहेगा?

लेकिन नहीं आचार्यजी कहते हैं कि इस समय हमें जनता का संगठन करना चाहिए और किसी भी दशा में सरकार की मदद नहीं करनी चाहिए, लेकिन जब युद्ध के बाद जन-क्रान्तियों का सिलसिला शुरू हो तो उस समय जनता प्रत्यक्ष रूप से युद्ध के निश्चयों में हस्तक्षेप करे। लेकिन यह एक विचित्र तर्क है और किसी भी समाजवादी सिद्धान्त से समझ में नहीं आता। सोवियत् रूस के अत्यन्त कमजोर हो जाने पर जन-क्रान्तियों की कठिनाइ बढ़ेगी या कम होगी, यह आचार्यजी ही बता सकते हैं; या उनका विचार है कि साम्राज्यवादी युद्ध होने के बावजूद ब्रिटेन और अमेरिका का साम्राज्यवाद सोवियत् रूस को मजबूत बनाये रखने की चेष्टा करेगा? समाजवादी पार्टी ने युद्ध का विरोध किया है लेकिन ऐसा विरोध समझ में नहीं आता जो युद्धोपरान्त जन-क्रान्तियों के शुरू होने पर अमली शकल अख्तियार करेगा और उस समय तक जन-क्रान्ति के प्रोग्राम को छोड़कर कांग्रेस यदि सौदा पटाने के लिए सत्याग्रह का रूपक रचेगी तो उसमें स्वामिभक्त विरोधियों की तरह शामिल भी होंगे, और यदि भारतीय पूँजीवाद सौदे की शर्तें पेश करेगा, तो अपना विरोध जाहिर कर खामोश हो रहेंगे ताकि वह साम्राज्यवाद से समझौता कर ले और साम्राज्यवाद के तरीके पर ही युद्ध में मदद करे, क्योंकि युद्ध तो अभी समाप्त नहीं हुआ, और जन-क्रान्तियों का सिलसिला भी शुरू नहीं हुआ! अतः समाजवादी पार्टी केवल जनता को सावधान करने के ऐलानों के अतिरिक्त और कर ही क्या सकती है? निश्चय ही यह मार्ग समझौते का है, और सौदा पटाने में

व्यक्त या अव्यक्त रूप से भारतीय पूँजीवाद को मदद देने का है, चाहे आचार्यजी मेरे इस कथन को निराधार मानें या मेरी जानकारी को अनभिज्ञता कहकर उस पर आश्चर्य करें।

यहीं पर आचार्यजी का दूसरा प्रश्न भी सामने आता है अर्थात बिना शर्त युद्ध में सहायता देने से भारतीय जनता अपने अभीष्ट को कैसे प्राप्त करेगी ? यदि इस प्रश्न से यह ध्वनि निकाली जाय तो अनुचित न होगा कि आचार्यजी शर्त के साथ सहयोग करना बिना शर्त के सहयोग से अधिक वांछनीय समझते हैं, और यदि कांग्रेस अपनी शर्तों को मंजूर करा सकेगी और युद्ध में मदद करेगी, तो आचार्यजी की समाजवादी पार्टी यद्यपि उसे ठीक न समझेगी, क्योंकि उनके लिए युद्ध उस समय भी साम्राज्यवादी ही बना रहेगा, लेकिन इतना अवश्य है कि वे इस स्थिति से समझौता कर खामोश हो रहेंगे, क्योंकि जन-क्रान्तियों का सिलसिला तो उस समय भी नहीं छिड़ा होगा। लेकिन शर्त के साथ सहयोग की नीति एक पूँजीवादी नारा है, यह मेरी पिछली टिप्पणी से भी साफ़ हो जाना चाहिए था। युद्ध में शर्त के साथ समझौते के कोई मानी नहीं होते। जब तक युद्ध साम्राज्यवादी था, भारतीय पूँजीवाद उस समय भी शर्त के साथ उसमें मदद देने को तैयार था, अर्थात् ब्रिटिश साम्राज्यवाद से समझौता करना चाहता था। उस समय कम्युनिस्टों ने इस नीति का विरोध किया था क्योंकि जनता साम्राज्यवादी युद्ध में किसी भी दशा में सहयोग नहीं कर सकती, वह तो जन-क्रान्ति द्वारा या युद्ध को गृह-युद्ध के रूप में परिणत कर विश्व-साम्राज्यवाद की शक्ति तोड़कर अपनी आजादी हासिल करती है ; लेकिन आज जब युद्ध जनता का युद्ध बन गया है, शर्त के साथ समझौते की नीति घातक है, क्योंकि यह साम्राज्यवाद के हाथ मजबूत करती है, ताकि वह युद्ध में जनता को स्वतंत्र रूप से भाग लेने से रोके रहे, और मजदूर-वर्ग के साथ विश्वासघात करती है, क्योंकि उसकी नीति राष्ट्रीय सीमाओं में बाँधकर उसकी अन्तर्राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधक होती है। अत. इस नीति का परित्याग आवश्यक है।

लेकिन बिना शर्त के सहयोग के यह अर्थ तो नहीं है कि हम ब्रिटिश साम्राज्यवाद से समझौता कर लेते हैं और उसके तरीके पर ही जनता के युद्ध में भाग लेना चाहते हैं। जनता के तरीके पर जन-युद्ध में भाग लेने से ही हम जनता की शक्ति मजबूत कर सकते हैं, और युद्धोपरान्त जन-क्रान्तियों का जो सिलसिला शुरू होगा, उसमें सक्रिय रूप से अपनी भूमिका खेल सकते हैं, और विश्व-साम्राज्यवाद के एक प्रबल अंग को नष्ट कर समाजवाद की शक्तियों को मजबूत कर सकते हैं।

अत: किसी को यह समझने में मुश्किल न होनी चाहिये कि युद्ध में सहयोग करने का तरीक़ा ही इस समय आजादी की लड़ाई को आगे बढ़ाने का एक मात्र तरीक़ा है।

अन्त में मैं आचार्यजी से प्रार्थना करूँगा कि वे दलबन्दी की दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार न करें, वरन् एक समाजवादी की हैसियत से यह समझाने की कोशिश करें कि राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं में बिना इस युद्ध को जनता का युद्ध स्वीकार किये, कोई सामंजस्य कैसे सम्भव हो सकता है ?

शि० सिं० चौ०।

*

ब्रह्मानन्द सहोदर

●

[रामविलास शर्मा]

संसार में ऐसे लोगों की कमी नहीं रही जो विषय चिन्तन द्वारा ब्रह्मानन्द प्राप्ति में विश्वास रखते हों। भारतवर्ष के अनेक विद्वान् अपनी आध्यात्मिकता पर गर्व कर पूर्व और पश्चिम की दो संस्कृतियों का उल्लेख करते हैं। वास्तव में यह आध्यात्मिकता पश्चिम के लिए अनहोनी नहीं है। प्लेटो ने सौन्दर्यवाद का सिद्धान्त चलाया था कि सुन्दर वस्तु का चिन्तन करने से हम एक अपार्थिव सौन्दर्य की ओर जाते हैं और इस प्रकार हमें सत्यं, शिवं, सुन्दरं का एक साथ ही दर्शन हो जाता है। यहाँ के साहित्य शास्त्र-निर्माताओं ने कहा कि यद्यपि साहित्य में विषय रहता है परन्तु जब उसका इसमें परिपाक होता है तो उसका आस्वाद अलौकिक होता है। इसलिए रस ब्रह्मानन्द सहोदर है। ब्रह्मानन्द से चाहे केवल मोक्ष मिले परन्तु ब्रह्मानन्द सहोदर से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, चारों सिद्ध हो जाते हैं। जैसा कि आचार्य भामह ने कहा है :—

> धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
> प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्य निबन्धनम्॥

पश्चिम में तो धर्म और काम का झगड़ा भी चला था, इस बात पर विवाद हुआ था कि साहित्य केवल आनन्द के लिए है अथवा शिक्षा के लिए भी, परन्तु भारतीय आचार्यों ने, भरत मुनि से लगाकर

> 'धर्मो धर्म प्रवृत्तानां कामः कामोपसेविनाम्'

के अनुसार, धर्म और काम में ऐसा कोई विशेष झगड़ा नहीं देखा।

संस्कृत के आचार्यों ने काव्य का प्रयोजन बताते हुए अर्थ और यश को कभी नहीं भुलाया, वरन् बहुधा उन्हें सामने ही रखा है। यदि ब्रह्मानन्द सहोदर से अर्थ और यश भी मिलता हो तो लौकिक और अलौकिक का यह आदर्श संयोग किसे न भायेगा? आचार्य दंडी के अनुसार साहित्य कामधेनु है जिसकी उचित सेवा से सभी मनोभिलाष पूर्ण होते हैं और वाणी के प्रसाद से ही 'लोक-यात्रा' संभव होती है (वाचामेवप्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते)। कवियों ने अपनी वाणी द्वारा पुराने राजाओं को अमर कर दिया है, नहीं तो कोई उनका नाम भी न जानता। दंडी की इस उक्ति से जो ध्वनि निकली वह इस शास्त्र के जाननेवाले के अनुसार इस प्रकार है :—

'According to him, the main purpose of a poem is to narrate and praise the life and deeds of the king, the Kavi being thus, generally, a court poet.' (J. Nobel—The Foundations of Indian Poetry).
आचार्य दंडी के अनुसार कविता का प्रधान लक्ष्य राजा के जीवन और उसके कृत्यों का वर्णन है और इसलिए, मोटे रूप में, कवि से एक दरबारी कवि का ही बोध होता है। रस अलंकार आदि का विवेचन करते समय इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है। अधिकांश आचार्यों का संबन्ध राजाओं से था ; इसी लिए उनके सिद्धांत में उस संस्कृति की छाप है।

आचार्य विल्हण ने इसी प्रकार कहा है कि जिस राजा के पास कवि नहीं होते, उसका क्या यश हो सकता है ; संसार में कितने राजा नहीं हो गये, परंतु उनका कोई नाम भी नहीं जानता।

इस प्रकार की उक्तियाँ हिन्दी के रीति-काल का स्मरण कराती हैं ; जिस वातावरण में इस साहित्य-शास्त्र की रचना हुई, वह बहुत कुछ रीति-काल जैसा ही था। इसी लिए काव्य से धन और यश प्राप्त होने की इतनी चर्चा है। इस वास्तविक लक्ष्य को ऊँचा करके दिखाने के लिए ब्रह्मानन्द का सहारा लिया गया। आचार्य मम्मट ने कहा है कि काव्य से यश और धन मिलता है, अमंगल दूर होता है, व्यवहार का ज्ञान होता है, आनंद मिलता है और मधुर शिक्षा जैसी कांता के शब्दों में होती है, प्राप्त होती है। कान्ता के समान मधुर उपदेश देने में काव्य वेद और पुराणों को भी पीछे छोड़ आता है। वेद-वाक्य प्रभु-सम्मित, आज्ञा के समान है ; पुराण-वाक्य सुहृद्-सम्मित, मित्र के अनुरोध के समान है। ये दोनों प्रकार के वाक्य अखरते हैं परंतु कान्ता-सम्मित वाक्य, रसपूर्ण काव्य में यह बात कहाँ ?

रसवाद के साथ विभावनुभाव आदि की एक सेना है जो रस परिपाक में सहायक होती है। इसमें पहले स्थायी भाव आते हैं, जैसे नायक-नायिका का परस्पर अनुराग एक स्थायी भाव है। प्रत्येक रस के साथ उसका स्थायी भाव होता है ; रसों में शृंगार प्रधान है और शृंगार का स्थायी भाव रति है। रति को जगाने के लिए नायक-नायिका का होना आवश्यक है ; वे आलंबन विभाव हैं ; पुष्पवाटिका, एकान्त स्थल, शीतलमन्द बयार आदि उद्दीपन विभाव हैं। स्थायी भाव जैसे रति का ज्ञान कराने के लिए कटाक्ष, हस्त संचालन आदि अनुभाव होते हैं। नायक-नायिका में मिलने की उत्कंठा आदि के भाव स्थायी भाव के सहायक होते हैं और व्यभिचारी या संचारी कहलाते हैं। इन सब विभावनुभावों आदि की विभिन्न आचार्यों ने संख्याएँ नियत की हैं, फिर भी इस गोरख-धन्धे के बाद रस-निष्पत्ति के समय स्थायी भाव की ही प्रधानता होती है। भरतमुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में कहा है:—

'तथा विभावनुभाव व्यभिचारि परिवृत: स्थायी भावो रसनाम लभते।'

स्थायी भाव ही रसनाम प्राप्त करता है अर्थात् स्थायी भाव जैसे रति का ही नाम

रस है। इसी रस अर्थात् रति का नाम ब्रह्मानन्द सहोदर है। यद्यपि साहित्य में शृंगार के साथ और रसों की भी गणना है तो भी जैसा कि भोजराज ने लिखा था, यह गणना अन्धपरम्परा के कारण है, रस वास्तव में शृंगार ही है। संस्कृत काव्य में जिस रस की प्रधानता है, वह शृंगार है ; शास्त्रकार रस की आध्यात्मिक व्याख्या के साथ जिस रस के आलम्बन आँखों के सामने देखते थे, वे शृङ्गार रस के नायक-नायिका ही थे।

यह रस किस प्रकार अलौकिक हो जाता है, इसकी व्याख्या भट्टनायक ने की है। दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रेम-व्यापार को 'भावना' एक साधारण व्यापार बना देती है, अर्थात् वह उनका व्यक्तिगत प्रेम न रहकर साधारण दाम्पत्य प्रेम हो जाता है। भावना के बाद 'भोग' की क्रिया आरम्भ होती है ; किसी विचित्र प्रकार से सत्वगुण का उद्रेक होता है और इस प्रकार प्रकाश रूप आनन्द का अनुभव होता है - 'सत्वोद्रेक प्रकाशानंद संविद्वि श्रांति'। इसी भोग से वह आनन्द प्राप्त होता है जो अलौकिक होता है। यह समग्र तर्क एक मिथ्या धारणा पर निर्भर है। किसी प्रकार के आनन्द को भी सत्वगुणी मान लिया गया है। इसलिये विषयचिंतन से भी जो आनन्द होगा वह सत्वगुणी और अलौकिक होगा। वास्तव में तमोगुण से उत्पन्न आनन्द मनुष्य को तमोगुण की ओर ही ले जायगा न कि सत्वगुण की ओर। यह बात ठीक है कि दर्शक या पाठक के भीतर एक साधारणीकरण नाम की क्रिया होती है ; उसके लिए दुष्यन्त और शकुन्तला ऐतिहासिक या पौराणिक पात्र नहीं रहते। अपने अनुभव के अनुसार वह उन्हें पहचानता है और उनके प्रति अपने भाव निश्चित करता है। रसिक पाठकों को शकुन्तला में अपनी प्रेयसी के ही दर्शन होते हैं अथवा वे शकुन्तला को अपनी एक काल्पनिक प्रेयसी बना लेते हैं। इस प्रकार साहित्य में विभिन्न प्रकृति के व्यक्ति विभिन्न प्रकार के भाव और विभिन्न कोटि का आनन्द पाते हैं। उन सब का रसानुभव—ब्रह्मानन्द सहोदर—अलग-अलग तरह का होता है। अभिनव गुप्त के अनुसार साधारणीकरण व्यंजना द्वारा होता है, न कि भावना द्वारा ; परन्तु महत्व की बात यह है कि साधारणीकरण के बाद दर्शकों और पाठकों का अपना-अपना भाव ग्रहण असाधारण रहता है।

साधारण रूप से हम देखते हैं कि जो मनुष्य जिन बातों को बहुत सोचा करता है, उन्हीं जैसी उसकी मनोवृत्ति और उसका चरित्र भी बनता है। गीता के अनुसार—

'ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।'

विषयों के चिन्तन से उनमें आसक्ति उत्पन्न होती है। यह जीवन का एक दृढ़ सत्य है। साहित्य में भी विषय-चिन्तन से विषयासक्ति उत्पन्न होगी, इस बात को वितण्डावाद से छिपाया नहीं जा सकता। साहित्य-शास्त्र की समस्या प्रधानतः यह है ; किस प्रकार का साहित्य हमारे चित्त पर किस प्रकार के संस्कार बनाता है ; ये संस्कार समाज के लिए शुभ हैं या अशुभ। कालिदास को पढ़ने के बाद हृदय पर कुछ संस्कार छूट जाते हैं जो धीरे-धीरे वैसे ही चिन्तन द्वारा दृढ़ होते हैं। अशुभ रचनाएँ ऐसे संस्कार बना सकती हैं जो समाज के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध हों। भारतीय इतिहास इस बात का साक्षी है। कालिदास हमारे कवि कुलगुरु हैं ! महाभारत और रामायण को भी काव्य सिद्ध करने के लिए

कहीं ध्वनि, कहीं अलंकार दिखा दिये जाते हैं। साहित्य से ब्रह्मानन्द सहोदर तो प्राप्त हुआ परन्तु शृङ्गार को छोड़ अन्य किसी रस से ब्रह्मानन्द सहोदर का विशेष सम्बन्ध न दिखाई दिया। शृंगार को ही रसराज की उपाधि क्यों मिली? साहित्य-शास्त्र की यह दूसरी समस्या है—एक साहित्यिक या कलाकार जिस अनुभव को दर्शक या पाठक तक पहुँचाता है, उसका चयन किन नियमों के अनुसार होता है? अनुभव करने को बहुत सी बातें हैं, परन्तु उनमें से कुछ को ही हम क्यों अनुभव कर पाते हैं? और जिन्हें अनुभव कर पाते हैं, उनमें से कुछ विशेष को ही क्यों अपने साहित्य में अपना सकते हैं? इस प्रश्न का कोई समुचित उत्तर संस्कृत साहित्य-शास्त्र में नहीं मिलता।

जैसी युग और समाज की मनोवृत्ति होती है, उसी से प्रभावित होकर या उसके विरोध में खड़े होकर कलाकार अपनी कृतियों को जन्म देता है। यह साहित्य-शास्त्री और कालिदास जैसे कवियों का युग था जब भारतवर्ष की दासता का शताब्दियों के लिए जन्म हो रहा था। उस समय उन महान् आचार्यों तथा कवियों ने जो संस्कार भारतीय जीवन में जमा दिये, वे आज भी निर्मूल नहीं हुए। जिस भावना धारा के ऊपर नायिका-भेद का विशाल भवन निर्मित हुआ, उसके ऊपर ब्रह्मानन्द सहोदर का आवरण डालकर जनता को धोखे में रखा गया। साहित्य-शास्त्रियों ने कहा, काव्य कुछ गुणीजनों के लिए है, उसके लिए अलङ्कार, ध्वनि, रस आदि का ज्ञान आवश्यक है; वह सब की समझ में नहीं आ सकता। जब कहा गया गया कि अलङ्कार, ध्वनि रस आदि का शृङ्गार रस से ही क्यों विशेष सम्बन्ध है, क्या इससे संस्कार उत्पन्न नहीं होते? तब उत्तर दिया गया कि साहित्य में, चर्वणी भावना, अथवा व्यञ्जना द्वारा एक अलौकिक आनन्द उत्पन्न होता है जो चित्त पर कोई संस्कार नहीं छोड़ता। परन्तु गीता में कहा गया था, विषयों के चिन्तन से उनमें आसक्ति उत्पन्न होती है; इस महान् मनोवैज्ञानिक तथ्य को साहित्य-शास्त्रियों ने उलट दिया। कहा, साहित्य में विषय-चिन्तन से ब्रह्मानन्द सहोदर प्राप्त होता है। यह प्रवञ्चना आज भी चली जाती है और अनेक आलोचक इस प्रश्न का सामना ही नहीं करना चाहते, कौन-सा साहित्य कैसे संस्कार बनाता है और वे समाज के लिए अच्छे हैं या बुरे। इसी ब्रह्मानन्द-परम्परा में आगे चलकर एक शास्त्रज्ञ ने कहा कि जो धर्म का उल्लंघन कर परकीया से प्रेम करता है, वही शृङ्गार के परमोत्कर्ष को जानता है (अत्रैव परमोत्कर्षः शृंगारस्य प्रतिष्ठितः)। इस सबकी पराकाष्ठा ब्रज भाषा के नायिका-भेद में हुई जिसके रस में डूबकर कवि रसातल पहुँच गये और अपने साथ देश को भी ले डूबे।

[क्रमशः]

★

हिन्दी-कविता में पेड़, पौधे, फूल, पशु, पक्षी *

[शिवदानसिंह चौहान]

पेड़, पौधे, फूल, पशु, पक्षी संसार की हर भाषा की कविता में मिलते हैं। और अक्सर स्वतन्त्र रूप से वर्णन के विषय भी बने हैं। यह सब प्रकृति के ऐसे अङ्ग हैं जिनसे मनुष्य का साहचर्य बहुत पुराना है। प्रकृति के जड़ और चेतन दोनों अङ्गों से मनुष्य का संघर्ष आदि काल से चला आ रहा है। इस संघर्ष के दौरान में मनुष्य ने प्रकृति के अनेक निगूढ़ रहस्यों को खोलकर, उसके नियमों को जानकर, उसके अनेक अङ्गों को विजित कर प्रकृति पर अपना क़ाबू ही नहीं बढ़ाया है बल्कि उसको अपने सामाजिक जीवन को उन्नत, समृद्ध और संश्लिष्ट बनाने में सहायक या साधन भी बनाया है। मनुष्य के पेचीदा और व्यापक सामाजिक जीवन की ज़रूरतें भी लम्बी-चौड़ी होती हैं। शुरू-शुरू में जब समाज की ज़रूरतें थोड़ी थीं, उस समय भी मनुष्य ने जहाँ एक ओर अपने रहने-बसने के लिए जंगल काटे, मैदान साफ़ कर खेत बोये, वहाँ दूसरी ओर पशुओं को क़ब्ज़े में कर पालतू भी बनाया, ताकि वे मनुष्य के श्रम का कुछ भार उठा सकें। यह काम प्रकृति के साथ मनुष्य के संघर्ष के अन्तर्गत ही आता है। जब तक प्रकृति के छोटे-मोटे रहस्य भी उसके लिए अज्ञेय थे, और अपने चारों ओर के वातावरण पर उसका अधिकार कमज़ोर था, तब तक वह, पेड़, पौधे, फूल, पशु, पक्षी की गतिविधि से भी भय खाता था और उनके प्रति श्रद्धालु था। इसी कारण प्रारम्भिक कविता में वृक्षों, वनों, पर्वतों और समुद्रों को उर्वरता और उत्पादन के देवताओं का निवास-स्थान, अनेक पशु-पक्षियों को उनका वाहन दिखाया गया है। इन देवताओं को रुष्ट न करने के लिए उनके निवास-स्थानों और वाहनों के प्रति भी श्रद्धा और भय का भाव दिखाया गया है। लेकिन ज्यों ज्यों सामाजिक जीवन का विकास होता गया और मनुष्य का सामाजिक ज्ञान बढ़ता गया, त्यों-त्यों प्रकृति के इन अङ्गों के प्रति श्रद्धामूलक भावना भी कम होती गई; और उसके स्थान पर सामाजिक जीवन को तरोताज़ा, समृद्ध और खुशहाल बनाने में सहायता देनेवाले प्रकृति के इन अङ्गों के प्रति मनुष्य में एक दूसरे ही भाव का उदय हुआ। वह उन्हें अब अपने सहचर और साथी के रूप में ग्रहण करने लगा और उनके साथ अपना मानवी रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता गया। इसी कारण मनुष्य को उनमें सौन्दर्य के दर्शन होते आये हैं। क्योंकि सौन्दर्य की भावना का जन्म मनुष्य

---

* आल इण्डिया रेडियो, दिल्ली के सौजन्य से प्राप्त।

और प्रकृति के संघर्ष से पैदा हुए समाज-सम्बन्धों और सामाजिक क्रियाशीलता की चेतना से होता है, और मनुष्य ने इस संघर्ष में अनेक पेड़, पौधे, फूल, पशु, पक्षियों की सहायता लेकर उन्हें अपने समाज-सम्बन्धों का अङ्ग बना लिया है। और अब मनुष्य के चौबीस घण्टे के जीवन का वातावरण इनके बिना सोचा भी नहीं जा सकता। गाँवों में तो मनुष्य का वातावरण इन ही से भरा रहता है। लेकिन बड़े-बड़े औद्योगिक नगरों में भी चाहे कृत्रिम रूप से ही सही, मनुष्य ने उन्हें एकत्र किया है। उपयोग के लिए या अपनी श्रम-क्लान्ति मिटाने और मनोरंजन के लिए। नगर के अजायबघर, बॉटैनिकल गार्डन सिर्फ इस बात का ही प्रदर्शन नहीं करते कि मनुष्य ने प्रकृति के किन-किन अंगों और प्राणियों को क़ाबू में कर लिया है या उसकी ऊपरी अव्यवस्था को मिटाकर वह उसे व्यवस्था भी दे सकता है, बल्कि वे इस बात को भी सूचित करते हैं कि उनके प्रति मनुष्य का सहज आकर्षण है। क्योंकि वे उसके सामाजिक जीवन में सहायक रहे हैं और नगर की चहारदीवारी के बाहर आज भी सहायक हैं। तो प्रकृति के इन अंगों के साथ मनुष्य का साहचर्य जितना पुराना है उतना ही उसके प्रति उसका रागात्मक भाव भी पुराना है। और सामाजिक सम्बन्धों के परिवर्तन के साथ-साथ चाहे वह भाव बदलता गया हो, जिससे संसार की कविता में उनके प्रति विविध भावों की अभिव्यक्ति हुई है, लेकिन यह एक सत्य है कि मनुष्य के वातावरण के वे एक आवश्यक अंग हैं और कोई भी कविता उनकी अवहेलना नहीं कर सकती।

यहाँ एक बात विचारणीय है। किसी भाषा की कविता किसी देश में ही होती है जहाँ पर उस भाषा के बोलनेवाले रहते हैं। और उस देश की भौगोलिक स्थिति के कारण जो पेड़, पौधे, फूल, पशु, पक्षी वहाँ पाये जाते हैं, उन्हीं का वर्णन वहाँ की कविता में मिलता है। इस तरह अलग-अलग देशों में कुछ विशेष पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, फल-फूल, वहाँ की विशेषता बन जाते हैं, क्योंकि उनके निवासियों का उनके साथ नित्यप्रति का साहचर्य रहता है। भारत वनस्पति और पशु-पक्षियों का आलय है, इसलिए यहाँ की कविता में अनेक विशेष पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों का वर्णन मिलता है। फ़ारसी की कविता को यदि अपनी बुलबुल पर नाज़ है और अंग्रेज़ी को अपनी नायटिंगेल, ककू और लार्क पर तो हिन्दी कविता की शुक-सारिका और कोकिला का कम गौरव नहीं।

हिन्दी भाषा आदि भाषा नहीं है। वह संस्कृत से पैदा हुई है। और संस्कृत यहाँ के आर्यों की भाषा उस समय से रही है, जब समाज का विकास अपने प्रारम्भिक काल में था। अतः संस्कृत की अनेक परम्पराएँ हिन्दी की प्रारम्भिक और मध्य-कालीन कविता में ज्यों की त्यों ग्रहण की गईं। और कुछ का प्रभाव तो आधुनिक कविता में भी मौजूद है।

संस्कृत के कवियों ने प्रकृति का विविध रूप से वर्णन किया है। संस्कृत के अनेक कवि प्रकृति के अनन्य पुजारी थे, वनों और उपवनों में रहकर वे प्रकृति की छटा देख

कर तल्लीन होते थे, इसलिए उन्होंने जो प्रकृति वर्णन किया है, उसमें सूक्ष्म निरीक्षण है। इस वर्णन में उन्होंने अपने अनुभव से देखे अनेक पशु-पक्षियों, और फूलों का वर्णन किया है। लेकिन जब भारतीय सामन्ती समाज स्थायित्व पा गया और नियम और क़ानूनों से समाज की हर गतिविधि को बाँधा गया तो पेड़, पौधे, फूल, पशु, पक्षी, जिनका वर्णन पहले के कवि स्वतंत्र रूप से कर चुके थे उनको उन्होंने नाम गिना-गिनाकर शृंगार के उद्दीपन की श्रेणी में रख दिया और बाक़ी अलंकार मात्र बना दिये। इससे वर्णन की परम्पराएँ बन गईं। जब हिन्दी कविता का जन्म हुआ तब उसमें भी रीति ग्रंथों की शास्त्रीय परम्परा के अनुकूल ही पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों का प्रयोग होने लगा। अपने अनुभव से जानकर वर्णन करना हिन्दी के कवियों ने ज़रूरी न समझा। दृश्यों का स्वतंत्र चित्रण होना तो बिल्कुल ही बन्द हो गया। यहाँ तक कि हिन्दी के प्रबन्ध काव्यों में भी वातावरण का चित्रण करने की जहाँ ज़रूरत पड़ी है वहाँ नाम गिनाकर ही काम चलाया गया है। अन्यथा संयोग या वियोग शृंगार के रूप में उनका प्रयोग हुआ है। जायसी के पद्मावत में यद्यपि कई स्थलों पर प्रकृति का वस्तु-वर्णन बड़ा भावपूर्ण हुआ है, लेकिन उन्होंने भी परम्पराओं का पालन करते हुए पेड़, पशु, पक्षियों के नाम गिनाये हैं और उनसे उद्दीपन का काम लिया है। लेकिन उन्होंने पद्मावत में इतने फल-फूलों, पेड़-पौधों, और पशु-पक्षियों का उल्लेख किया है कि उनका गिनना काफ़ी मुश्किल काम है। तुलसीदासजी ने भी यद्यपि परम्परा का पालन किया है लेकिन वे प्रकृति-चित्रण को एक आध्यात्मिक या नैतिक पुट दे देते थे। इसके अतिरिक्त जहाँ उन्होंने वातावरण का वर्णन किया है वहाँ उन्होंने पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों के अन्दर भी इस गुण की अवस्थिति की है कि वह राम या उनके भक्तों के कार्यव्यापारों के प्रति सहानुभूति रखते थे। जब राम बन को जाने लगे तो अयोध्या के हाथी, घोड़े, हिरन, पशु, पपीहा, मोर, कोयल, तोता, मैना, सारस, चकोर आदि जीव और लताएँ, पेड़ वियोग में विकल होकर चित्र की भाँति खड़े रह गये। पम्पा सरोवर का वर्णन और किष्किन्धाकांड के वर्षा और शरद् ऋतु के वर्णनों में उन्होंने उपमा द्वारा साधर्म्य स्थापित करते हुए कुछ नैतिक और धार्मिक विचारों का ही पिष्टपेषण किया है, प्रकृति का स्वतन्त्र वर्णन नहीं। इसी तरह उन्होंने सुन्दरता के प्रतीक उपमानों का भी मुक्तरूप से प्रयोग किया है।

लेकिन पहले की हिन्दी की मुक्तक-रचनाओं में तो वर्णन की परम्परा के साथ ऐसा खिलवाड़ किया गया कि रीतिकाल के जिस कवि को देखिये वही संयोग या वियोग शृङ्गार के उद्दीपन के लिए पेड़-पौधों, फूल, पशु, पक्षियों को हर्ष या विषाद की भूमिका देकर उनसे क़वायद करा रहा है, या नायक-नायिका के सौन्दर्य वर्णन में उपमान बनाकर उनकी झड़ी लगा रहा है। आधुनिक हिन्दी कविता में भी यह प्रवृत्ति एक-आध अंशों में अभी तक चली जा रही है। महादेवीजी के काव्य में इन चीज़ों का वर्णन ज़्यादातर विप्रलंभ शृङ्गार के उद्दीपन के रूप में ही होता है। पन्तजी या दो एक और कवियों में ही प्रकृति-निरीक्षण की प्रवृत्ति दिखाई पड़ी है। इस प्रकार प्रकृति के जो अंग सामाजिक जीवन के उपयोगी भाग थे वे अबतक की हिन्दी कविता में अलंकार बनकर या उसके

भावों के उद्दीपनमात्र बनकर आये। उनका स्वतन्त्र अस्तित्व जिसके कारण वे हमारे सहचर या सहयोगी हैं कविता में लेशमात्र को ही स्वीकार किया गया।

पहले कहा जा चुका है कि पेड़, फूल, पशु, पक्षियों के बारे में संस्कृत की कविता से ली गई परम्पराएँ ही हिन्दी की कविता में ग्रहण की गईं। यह परम्पराएँ क्या हैं और इनका आधार क्या है? कुछ का आधार पौराणिक है, कुछ का अन्ध-विश्वास, और कुछ का साधर्म्य। पौराणिक कवि-प्रसिद्धियों के अनुसार भिन्न-भिन्न पशु, भिन्न-भिन्न देवताओं के वाहन के रूप में स्वीकार किये गये हैं। जैसे अश्व राम और उनके भाइयों का, उच्चःश्रवा नाम का घोड़ा इन्द्र का, ऐरावत हाथी इन्द्र का, नान्दी शिव का, महिष यमराज का, श्वान भैरव का, मकर वरुण और कामदेव का, गरुड़ विष्णु का, मोर कार्तिकेय का, मूषक गणेश का वाहन है। रामायण, सूरसागर, महाभारत जैसे पौराणिक विषयों को लेकर चलनेवाले काव्य-ग्रन्थों में देवताओं के इन पशु-पक्षी वाहनों का उल्लेख प्रसंगानुसार होता आया है और उनके पौराणिक महत्व के अनुकूल ही उनके प्रति श्रद्धा भी दिखाई गई है। वृक्षों के बारे में कालिदास के मेघदूत और राजशेखर की काव्य-मीमांसा में अनेक कवि-प्रसिद्धियों का उल्लेख है जैसे कि सुन्दरियों के पदाघात से अशोक, आलिंगन से कुर्वक, मृदुहास से चम्पक, नृत्य से कर्णकार आदि कुसुमित हो जाते हैं। लेकिन हिन्दी की कविता ने इस परम्परा को ग्रहण नहीं किया क्योंकि जिन परिस्थितियों में हिन्दी की कविता का जन्म हुआ उनमें मानवीय प्रेमगाथाओं के लिए अवकाश न था। चातक, चकोर और चक्रवाक् पक्षियों के बारे में भी कवि-प्रसिद्धियाँ हैं। चातक केवल स्वाती बूँद ही पीता है चाहे जितनी घनघोर वर्षा हो, या नदी-तालाब भरे हों वह प्यासा ही बना रहता है और स्वाती बूँद के बिना पी-पी की रट लगाकर अपने प्राण गँवा देता है। चकोर को चाँदनी प्रिय है। वह उसी का पान करता है और जब चन्द्रमा नहीं रहता वह व्याकुल तड़पता रहता है। चक्रवाक् पक्षी का जोड़ा दिनभर तो साथ रहता है लेकिन रात को अलग हो जाता है। वियोग शृङ्गार के वर्णन में इन पक्षियों की उपमा देना हिन्दी कवियों की परम्परा रही है। और वे उद्दीपन के रूप में भी लाये गये हैं। जायसी, तुलसी, सूर से लेकर बाबू मैथिलीशरण गुप्त तक के काव्यों में इन पक्षियों का बहुलता से प्रयोग हुआ है।

फूलों के बारे में भी कुछ कवि-प्रसिद्धियाँ हैं। जैसे कुमुद दिन में विकसित नहीं होता, अर्थात् उसे चाँदनी ही प्रिय है या कमल दिन में ही खिलता है यानी उसे रात्रि प्रिय नहीं है, और सूर्य के आगमन से उसका हृदय खिल उठता है। नायक-नायिका के हर्ष-विषाद के वर्णन में कुमुद और कमल के इन गुणों की उपमाएँ यत्र-तत्र-सर्वत्र देखने को मिलती हैं।

अलंकारों के रूप में तो पुष्पों की खास तौर पर खूब खींचातानी हुई। स्त्री-शरीर के विभिन्न अंगों के उपमेय ढूँढ़ने में कवियों और आचार्यों ने बड़े सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय दिया है। यह उपमेय स्त्री-शरीर के अपेक्षित गुणों से साधर्म्य रखनेवाले फल-फूल

हैं। जायसी, सूर और तुलसी में तो इनका प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ ही है लेकिन रीति-कालीन कविता में तो उनकी झड़ी लगायी गई है। जहाँ स्त्री के रंग की जरूरत पड़ी वहाँ चम्पा और केतकी, मुखमंडल के लिए कमल, नेत्रों के लिए नील कमल, खंजन और चकोर, अधरों के लिए बन्धूक पुष्प, दाँतों के लिए कुन्दकली, बाँहों के लिए मृणालनाल, हाथों के लिए पद्म, विद्रुम, वक्षों के लिए कमल, चक्रवाक, उरू के लिए कदली-स्तम्भ, चरणों के लिए कमल आदि उपमाएँ पेश कर दीं। इनमें से बहुत से उपमान पुरुषों के सौन्दर्य-वर्णन में भी आते हैं। हिन्दी कविता में कमल के फूल का सबसे अधिक महत्व है। शरीर के हर अंग की उपमा उससे दी गई है; ऐसे स्थल भी मिलते हैं जहाँ एक ही पंक्ति में उससे चार-चार उपमानों की क़वायद कराई है, जैसे 'नव कंजलोचन कंजमुख करकंज पद कंजारुणम्।'

हिन्दी के प्रबन्ध-काव्यों में पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों और फूलों का एक और परम्परा के अन्तर्गत वर्णन हुआ है, और वह परम्परा है उनके शुभ-अशुभ लक्षणों की। किसी उत्सव का वातावरण दिखाने के लिए अशोक, आम, मौलश्री, बेल, कदली, चंदन आदि वृक्षों, कमल, चंपक, शेफाली, मालती आदि फूलों, गौ, गज, अश्व, मृग आदि पशुओं, हंस, मोर, भारद्वाज, नीलकंठ, कोकिल, खंजन, शुक, भुजंगा, कबूतर, पिड़की आदि पक्षियों की उपस्थिति दिखाई जाती है। किसी दुर्घटना की पूर्व सूचना देने या उसके बाद का वातावरण दिखाने के लिए नीम, बबूल, बेर, इमली आदि अपशकुन-सूचक पेड़ों का नाम लिया जाता है। पशुओं में बिल्ली, कुत्ता, लोमड़ी, गीदड़, नेवला, भैंसा, बन्दर, साही, स्यार और पक्षियों में उल्लू, चील, गिद्ध, बाज़ आदि आते हैं।

अब तक हमने पेड़-पौधों, फूल, पशु-पक्षियों के वर्णन की परम्पराओं का ज़िक्र ही ज्यादा किया है क्योंकि मेरा उद्देश्य यह बताना था कि हिन्दी की कविता में उनका वर्णन किस रूप में हुआ है और उनका क्या महत्व है। महत्व होने से ही कवि-प्रसिद्धियाँ और परम्पराएँ बनती हैं, इसलिए उन्हें समझ लेना ज़रूरी था।

आजकल की छायावादी या प्रगतिवादी कविता ने इन परम्पराओं को या तो छोड़ ही दिया है या हेरफेर कर अपनाया है। छायावादी कवियों ने हालाँकि बहुत हद तक उद्दीपन के रूप में ही प्रकृति के इन अंगों का वर्णन किया है, लेकिन उसमें नायक या नायिका का स्थान कवि ने स्वयं ले लिया है। दूसरे, चूँकि छायावादी कविता समाज के प्रति व्यक्ति के असन्तोष की कविता है और व्यक्ति की स्वतंत्रता की घोषणा करती है इसलिए उसमें प्रकृति का स्वतंत्र-चित्रण भी हुआ है जिसमें प्रकृति को ही आलम्बन माना गया है।

आधुनिक कविता में पाश्चात्य समाज के संपर्क में आने से कई नये पुष्पों और वृक्षों का वर्णन होने लगा है। लेकिन अपरिचित होने के कारण कविता में उनका कोई महत्व नहीं हो पाया है। यह विचारणीय है कि हमारे अधिकांश कवि नगरों ही में रहते हैं, और उनका ग्राम-जीवन से ऐसा-वैसा ही सम्बन्ध है। इसलिए उनकी कविता में पशुओं का वर्णन नहीं के बराबर है और वृक्षों का उल्लेख भी कम होता जा रहा है। पुष्पों में भी

उन्हीं का उल्लेख ज्यादा रहता है जो नगर के यत्न से लगाये बाग़ीचों और पार्कों में मिलते हैं। पन्तजी ने 'ग्राम्या' में गाँवों में मिलनेवाले बहुत-से पेड़ो-पौधों और पक्षियों का वर्णन किया है। लेकिन ऐसे वर्णन बहुत कम हैं। तो भी छायावादी और प्रगतिवादी कविता की सहज प्रवृत्ति प्रकृति का निरीक्षण करने की ओर है, यद्यपि इस निरीक्षण में शहरीपन ही ज्यादा है। इसलिए जब तक हमारे कवि विशाल प्रकृति को एक झरोखे से देखने की आदत छोड़कर उसे उसके बड़े आँगन में घुसकर नहीं देखेंगे तब तक वे उसके उन अंगों—उन पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों का ऐसा व्यापक वर्णन नहीं कर सकते जिसमें हमारे सामाजिक जीवन को समृद्ध बनानेवाले हमारे इन सहचरों का उनके नये उपयोगों की दृष्टि से सम्पूर्ण सौन्दर्य प्रकट हो सके और वे हमारे रागों को छूकर हमें तल्लीन कर सकें।

*

किरण

[एकांकी नाटक]

●

[उपेन्द्रनाथ 'अश्क']

पात्र

मनी		मनोहर
राधे		किरण
शशि	मा	रूपा

स्थान—तीस हज़ारी दिल्ली में बीमार किरण का कमरा।

समय—रात का पहला पहर।

[पर्दा उठते समय स्टेज पर बिलकुल अँधेरा है। मा प्रवेश करती है।]

मा—यह तुमने अँधेरा क्यों कर रखा है ? बत्ती क्यों नहीं जलाते ?

[बिजली का बटन दबाती है। कमरे में रोशनी हो जाती है। मनी किरण की चारपाई के पास बैठा दिखाई देता है। किरण चादर ओढ़े अचेत पड़ी है। उसके टख़नों में रस्सियों के साथ दो ईंट बँधी हुई हैं। कमरा बिलकुल साफ़ है। चारपाई के पास मेज़ पर दवाइयों की कुछ शीशियाँ पड़ी हैं। इसके अतिरिक्त कमरे में और कुछ भी नहीं।

सामने की दीवार में एक खिड़की है, जिस पर चिलमन लगी हुई है।]

मनी—रोशनी बुझा दो, रोशनी बुझा दो, किरण की तबीयत ज्यादा ख़राब है। रोशनी से वह घबराती है। परसों से वह धूप की शिकायत कर रही है।

मा—तुम तो पागल हो जो इस तरह अँधेरे में भूतों की तरह बैठे हो। उठो मैं इसके सरहाने बैठती हूँ। तुम ज़रा उन लोगों के साथ जाकर मन बहलाओ। ताश...

[दूसरे कमरे से क़हक़हों की आवाज़ आती है।]

मनी—मैं यहीं बैठना चाहता हूँ। तुम रोशनी बुझा दो।

मा—शशि क्रिसमस की छुट्टियों में आई है। वह तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है।

मनी—मैं इसके होश में आने की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

[दूसरे कमरे से फिर क़हक़हों की आवाज़ आती है।]

इसकी कमज़ोरी आज बेहद बढ़ गई है, घड़ी-घड़ी यह बेहोश हो जाती है, तुम ज़रा उन लोगों से कह दो—इतने ज़ोर से न हँसे।

मा—कौन हँसता है? आज चार वर्ष से हँसी क़हक़हे इस घर के लिए अपरिचित हो रहे हैं। सदैव यहाँ एक मौत का-सा समाँ छाया रहता है। आज शशि आई है और उसके साथ मनोहर और यह भारीपन कुछ दूर हुआ है। इसकी बीमारी का क्या ठिकाना? और वर्ष भर भी रह सकती है, पर वह तो विशेष रूप से तुम्हें देखने बनारस से आई है। तनिक उनके पास जा बैठो...

मनी—मैं कहीं नहीं जाना चाहता, तुम रोशनी बुझा दो। यह दोपहर से बेहोश पड़ी है। होश में आएगी तो रोशनी से घबरा जाएगी।

मा—(बत्ती बुझाते हुए) तो बिलकुल अँधेरे में बैठने से, मिट्टी का दिया ही जला लो।

[चली जाती है।]

किरण—(होश में आकर) यह घुप्प अँधेरा क्यों है? (और भी घबराई हुई आवाज़ में) यह घुप्प अँधेरा क्यों है?...मैं...मैं...

मनी—मैं तुम्हारे पास बैठा हूँ।

किरण—यह बाहर कुछ दिखाई क्यों नहीं देता? क्या आकाश पर बादल छाये हुए हैं? क्या कृष्ण-पक्ष आरम्भ हो गया है...पर एक तारा भी तो आकाश पर नहीं।

मनी नहीं आज तो पूर्णमासी है। खिड़की पर चिलमन लगी हुई है। तुम भूल गई, तुम ही ने तो कहा था—सूरज की धूप सीधी आँखों पर आकर पड़ती है। यहाँ कोई चिक़ लगवा दो। आज दोपहर ही यह चिक़ बनकर आई है। साधारण मारकीन की नहीं, इस पर रंगा हुआ टाट लगा है—गहरे नीले रंग का—रोशनी की किरण तक इसके अन्दर नहीं आ सकती। पर तुम तो सो रही थीं।

किरण—मैंने इसे नहीं देखा। (लम्बी साँस लेती है) न जाने क्यों मुझे कुछ नींद-सी आ जाती है। बीमारी से जूझ-जूझकर थके हुए मेरे अङ्ग आप से आप सो जाते हैं। बेहोश हो जाते हैं। पर इस चिक़ को अब उठा दो। मैं रोशनी चाहती हूँ..

मनी—मैं बिजली की बत्ती जला दूँ ?

किरण—नहीं, नहीं। बिजली के प्रकाश से मुझे घबराहट होती है। इस चिक़ को ही उठा दो। मैं रोशनी चाहती हूँ...ठण्डी, शान्त, सुख भरी रोशनी...

[मनी जाकर चिक़ उठाता है। कमरे में मद्धम-सी ज्योत्स्ना फैल जाती है।]

ज़रा और ऊँची, ज़रा और ऊँची, इसे पूरी उठा दो! इस उजली धुली ठण्डी चाँदनी को कमरे में बे-झिझक आने दो। मन होता है—चाँदनी में जी भरकर स्नान करूँ। किरणों से मल-मलकर नहाऊँ। आह! पर यह ईंटों का बोझ—ये ईंटें अब उतार दो...

मनी—अभी परसों तुम्हारे पलास्टर लगाया गया था, डाक्टर कहता है...

किरण—डाक्टर! (लम्बी साँस लेती है) ऐसा प्रतीत होता है मानो जब से मैंने होश सम्हाला है, मैं इसी तरह विवश पड़ी हूँ और मेरे टख़नों से इसी तरह ईंटें बँधी हैं, मैं हिल नहीं सकती, बैठ नहीं सकती, उठ नहीं सकती, और कभी-कभी मैं सोचती हूँ कि यदि आप इन ईंटों की रस्सियाँ काट भी दें तो क्या मैं उठकर चल-फिर सकूँ ? (फिर दीर्घ निश्वास छोड़ती है) टाँगें शायद चलना भूल गई हैं। (आकांक्षा भरे स्वर से) मैं इस चाँदनी रात में कितना घूमना चाहती हूँ!

[दूसरे कमरे से फिर क़हक़हे की आवाज़ आती है।]

किरण—यह कौन है ?

मनी—मनोहर है, शायद लोग ब्रिज खेल रहे हैं।

किरण—मुझे ब्रिज खेले जैसे वर्षों बीत गये हैं। मैं कितना ब्रिज खेलती थी ? बाज़ी पर बाज़ी जीता करती थी...मैं ब्रिज खेलना चाहती हूँ। मैं ब्रिज खेलना चाहती हूँ। क्या वे इस कमरे में नहीं आ सकते ? क्या...

मनी—तुम कमज़ोर हो किरण!

किरण—इन्हें कह दो—इस कमरे में बैठकर खेलें। मैं सिर्फ़ देखूँगी...

मनी—तुम बेहद कमज़ोर हो किरण। डाक्टर कहता है...

किरण—आह डाक्टर!

[लम्बी साँस लेती है दूसरे कमरे से फिर क़हक़हों की आवाज़ आती है।]

मनी—(चिढ़कर) ये लोग चुप क्यों नहीं करते ? मैं कितनी बार कह चुका हूँ...

किरण—तुम इन्हें कुछ न कहो। मेरे कारण घर में पहले ही काफ़ी उदासी छाई रहती है, कोई हँसता-खेलता नहीं जाओ तुम भी जाओ, उनके साथ जाकर मन बहलाओ।

मैं मन से तुम्हारे साथ हूँगी, मेरी आँखें तुम्हें...पर मेरी आँखें तो बन्द हो रही हैं, वह ताक़त की दवाई कहाँ है ? वह ताक़त की दवाई कहाँ है ? मुझे नींद से डर लगता है, मुझे...

[मा दीया लिये प्रवेश करती है]

मनी—(अपने आप खीज भरे स्वर में) मैं कहता हूँ वह ताक़त की दवाई कहाँ है ?

मा—क्या बात है ? क्या ढूँढ़ रहे हो ?

मनी—वह ताकत की दवाई कहाँ है ? किरण फिर बेहोश हो गई।

मा—इस अँधेरे में तुम्हें क्या मिलेगी, यह लो मैं दीया ले आई हूँ। बिलकुल अँधेरा ठीक नहीं। अँधेरा अशुभ है। अँधेरा...

मनी—बाहर चाँद चमक रहा है।

मा—पर कमरे में तो अँधेरा है। बिजली नहीं जलाना चाहते तो इसे ताक़ में पड़ा जलने दो।

[दीया ताक़ में रख देती है। वहीं दवाई की शीशी पड़ी मिल जाती है, उसे उठा लेती है।]

मनी—और यह लो शीशी। यही शायद ताक़त की दवा है। पर मेरी मानो तो अब इसे आराम करने दो। इन दवाइयों और इन प्लास्टरों...

मनी—तुम्हें कुछ मालूम नहीं तो चुप रहो। और देखो उनसे कह दो कि इतना गला न फाड़ें, इतने ज़ोर से न हँसें।

मा—मैंने उन्हें पहले ही तुम्हारे डर से दूसरे कमरे में भेज दिया है।

मनी—(जैसे अपने आप) इसकी तबीयत बेहद ख़राब है, यह बार-बार बेहोश हो जाती है।

[दवाई चमचे में डालकर उसके मुँह में टपकाता है]

सब गालों पर बह गई। मा तुम ज़रा चमचा थामो, मैं दाँत खोलता हूँ।

[मा चमचा लेकर भरती है। मनी दाँत खोलकर फिर दवाई डालने की कोशिश करता है।]

—व्यर्थ है, गिर जाती है, बहुत कम दवाई अन्दर गई है।

मा—लो अब आओ। तुम कब से यहाँ बैठे हो। अब उठो। मैं यहाँ बैठती हूँ। तुम उधर जाकर तनिक कमर सीधी कर लो। ज़रा उनके साथ जाकर मन बहलालो। ज़रा उनका जी रख लो...

मनी—मैंने एक बार कह दिया मैं नहीं जा सकता। मैं...

मा—शशि न ठीक तरह से खेल रही है न...

मनी—तो मैं क्या करूँ ? मनोहर वहाँ है...

[बेहोशी से जागकर किरण दायाँ हाथ हिलाती है।]

(स्वर में कोमलता लाकर)—किरण

किरण—(जैसे सपनों की दुनिया से आनेवाली डरी-डरी आवाज़ में) मैं रोशनी चाहती हूँ। मैं रोशनी चाहती हूँ। मैं अँधेरा नहीं चाहती। (आँखें खोलती है) मेरी चारपाई ज़रा उस खिड़की के पास रोशनी में कर दो! मैं बाहर के दृश्य देखना चाहती हूँ। (लम्बी साँस लेती है) मालूम होता है जैसे इन दृश्यों के लिए मैं सर्वथा अपरिचित हो गई हूँ। पर ये, मेरे सपनों में बार-बार आते हैं, (तनिक उल्लसित होकर) अभी मैंने अपने आपको अजीतगढ़ के उस मीनार पर चढ़े देखा था...

मनी—(ताक़त की दवाई चमचे में डालता हुआ अपने ध्यान में) अजीतगढ़ के मीनार पर ?

किरण—मैंने देखा, यह सारी की सारी राजधानी मेरे चरणों में बिछी हुई है और सूरज की चमकती हुई धूप में नये मकानों की नयी छतें चमक रही हैं।

मनी—(दवाई की शीशी को मेज़ पर रखता हुआ पूर्ववत बे-ख़्याली में) सूरज तो कब का छिप चुका।

किरण—हाँ सूरज कब का छिप चुका है। (उदास होकर) शायद अब मैं उसे कभी न देख सकूँगी उस मीनार से नये बने हुए मकानों की नयी छतों को कभी न देख सकूँगी।

मनी—(उसके कंठ में दवाई टपकाता हुआ) तुम वर्षों तक देखोगी। अपनी इन आँखों से, मेरी इन आँखों से वर्षों तक देखोगी।

किरण—(दवाई से कुछ शक्ति पाकर तनिक ऊँची और उल्लास भरी आवाज़ में) आपको वह दिन याद है न, जब रात भर वर्षा होती रही थी और प्रातः भीगी-भीगी, भारी-भारी हवा चल रही थी और मैंने आपको सैर पर जाने के लिए विवश कर दिया था। हम रिज्ज पर गये थे और पीर ग़ायब के मज़ार पर चढ़े थे...

मनी—मुझे सब याद है, पर तुम अब चुप रहो, तुम थक जाओगी।

किरण—नहीं मैं चुप नहीं रहना चाहती, चुप से मुझे डर लगता है। मैं बोलना चाहती हूँ। मैं हँसना चाहती हूँ। मैं खेलना चाहती हूँ, मैं...

मनी—तुम ज्यादह न बोलो किरण, तुम आराम करो, तुम...

किरण—मैं आराम ही तो करती रहती हूँ।

मनी—तुम्हारा शरीर ज़रूर आराम करता है पर तुम्हारा मन सदैव उड़ता रहता है।

किरण—(लम्बी साँस लेती है) हाँ, मेरा मन सदैव उड़ता रहता है और अभी-अभी वह उड़कर उस मज़ार के खंडहर पर जा चढ़ा था—याद है न आपको—ठंडी, भीगी, मस्त हवा चल रही थी और नीचे वर्षा से भीगी हुई सड़कें तरल चमकती चाँदी

की तरह, बल खातीं, पेड़ों के पत्तों में झनमनाती थीं। मुझे उस बुड्ढे की सूरत याद आती है।

मनी—(उसके सिर पर प्यार से हाथ फेरता हुआ बेख्याली में) बुड्ढे की ?

किरण—वह नीचे सीढ़ियों से ऊपर चढ़ने लगा था कि मैं उतरने लगी—खिचड़ी-सी दाढ़ी, मटमैले कपड़े, सिर पर पगड़ी और कमर में तहमद—वहीं नीचे सीढ़ियों में खड़ा मुझे टुकर-टुकर ताकता रहा। फिर जब उसने साथ की सीढ़ियों पर आपको भी उतरते देखा तो सहसा नीचे उतर गया (धीरे-धीरे अत्यधिक तन्द्रिल सोये-सोये-से स्वर में) और जब हमने धरती पर पाँव रखा था तो आगे बढ़कर गिड़गिड़ाया था—जोड़ी सलामत रहे भूखा हूँ।

मनी—भूखा था और नदीदा !

किरण—(और भी तन्द्रिल स्वर में) मैं देखती हूँ वही बुड्ढा मेरे सपनों में भयानक रूप धर-धरकर आता है। मैं सदैव देखती हूँ—उसके पेट में एक भयानक भट्टी धधक रही है, और मैं तथा मेरे जैसी कई उस लपलपाती भट्टी का ईंधन बन रही हैं।

मनी—तुम अपने दिमाग़ को थका रही हो किरण !

किरण—(झुरझुरी-सी लेकर जागते रहने का प्रयास करती हुई) मुझे फिर नींद आ रही है, मेरी आँखों में अँधेरा छाया जा रहा है—नहीं, नहीं, मुझे अँधेरे से डर लगता है। मेरी चारपाई रोशनी में कर दो।

मनी—तुम सो जाओ किरण तुम अपने को...

किरण—(जागने का भरसक प्रयत्न करते हुए) मैं सोना नहीं चाहती, मैं जागना चाहती हूँ। (लम्बी साँस लेकर और भी तन्द्रिल स्वर में) पर मेरी आँखें तो बन्द हो रही हैं। मेरी आँखों में अन्धेरा छा रहा है, मुझे दवाई पिला दो। मुझे दवाई पिला दो ! मेरी चारपाई रोशनी में...

[आँखें बन्द हो जाती हैं।]

मनी (*दवाई का चमचा भरकर उसके मुँह की ओर ले जाता हुआ*) *किरण...किरण ..*

[रूपा प्रवेश करती है।]

रूपा—तुम दोपहर से इधर बैठे हो, चलो उधर चलो।

मनी—(दवाई को फिर शीशी में डालता हुआ) यह बेहोश हो गई है।

रूपा—माँ को भाभी के पास बैठने दो। तुम ज़रा चलो, शशि देर से तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है। वह दिल से खेल में भाग नहीं ले रही, अनमनी सी...

मनी—(सुनी-अनसुनी करके) तुम ज़रा चारपाई को खिड़की के पास करने में मेरी मदद करो। यहाँ अँधेरा है और दीये की काँपती हुई रोशनी इस तक नहीं पहुँचती।

[दोनों चारपाई उठाते हैं।]

ज़रा धीरे ! ईंटों के हिलने से इसे कष्ट न हो। (खिड़की के पास चारपाई ले जाते हुए) इस अँधेरे में इसकी कमज़ोर सूरत और भी कमज़ोर दिखाई देती है।

रूपा—अब इसमें रखा ही क्या है ? कभी तृप्त न होनेवाली जोंक की भाँति मुई इस बीमारी ने इसका लोहू पी लिया है। तुम व्यर्थ ही इसे लम्बी किये जा रहे हो। व्यर्थ ही सारा-सारा दिन इसके सिरहाने परेशान से बैठे रहते हो। ज़रा अपनी सूरत तो देखो—तुम्हारा चेहरा कितना पीला पड़ गया है ?

मनी—तुम इसका चेहरा देखो—पीला भी नहीं, सफ़ेद है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे यह समस्त चाँदनी इसके शरीर से निकलकर इस सारे ब्रह्माण्ड पर फैल गई है और अपनी सारी ज्योत्स्ना लुटाकर यह शरीर श्रीहीन-सा होकर मुरझा गया है।

रूपा—तुम कैसी बातें करते हो ? उठो, माँ को यहाँ बैठने दो। चलकर कुछ देर के लिए शशि के पास बैठो, बनारस से वह केवल तुमसे मिलने दिल्ली चली आई है। तुम कैसे पत्थर हो !

मनी—(उसकी बात का उत्तर न देकर) यह चादर तुम इसके पाँवों पर करदो नंगे हो गये हैं।

रूपा—न जाने कब तक तुम इस म्रियमाण पिंजर के सरहाने बैठे रहोगे ?

मनी—(जैसे अपने आप) न जाने मैं कब तक इस म्रियमाण पिंजर के सरहाने बैठा रहूँगा ? अपनी सूनी घड़ियों में, अपने जागृत सपनों में, अपने सनसन एकान्त में... मैं स्वयं एक म्रियमाण पिंजर बन जाऊँगा।

रूपा—(भरे हुए गले से) तुम्हें क्या हो रहा है ? तुम्हें दिनोंदिन क्या होता जा रहा है ?

[किरण हाथ हिलाती है।]

मनी—ठहरो ! यह होश में आ रही है।

किरण—(होश में आकर डरी-डरी आवाज़ में) नहीं-नहीं, मैं अँधेरा नहीं चाहती। मैं अँधेरा नहीं चाहती, मैं रोशनी चाहती हूँ। मेरी चारपाई रोशनी में करदो।

मनी—तुम आँखें खोलो, देखो तुम्हारी चारपाई पर शुभ्र, धवल, प्रकाश फैला हुआ है। बाहर सड़क पर, पहाड़ी के पत्थरों पर, चट्टान पर, पेड़-पौधों पर धुला-निखरा नूर फैला हुआ है।

किरण—ओह ! मैं कितना डर गई हूँ ?

[आँखें खोलकर सुख की एक साँस लेती है।]

मनी—(चमचे में दवाई डालकर उसकी ओर बढ़ाता है) तुम यह दवाई पी लो !

किरण—(दवाई पीकर फिर सुख की साँस लेती है।) मैं कितना डर गई हूँ ?

(तन्द्रिल स्वर में) अभी-अभी मैं देख रही थी—मैं इस जंगल में भटक गई हूँ—पत्थरों से ठोकरें खाती, और झाड़ियों से उलझती हुई अँधेरे में रास्ता ढूँढ़ती हूँ। मैं चली जाती हूँ। उलझती, गिरती, भटकती, अरावली की ऊँची पहाड़ियों तक चली जाती हूँ—सहसा सामने एक भयानक काला पहाड़ आ जाता है। मैं उस पर चढ़ने लगती हूँ, साँस फूल जाती है। पाँवों में घाव हो जाते हैं। टाँगें चलने से इनकार कर दे देती हैं, लेकिन मैं बढ़े जाती हूँ। बढ़े जाती हूँ। रोती सिसकती हूँ पर चलना नहीं छोड़ती। (तनिक उल्लसित स्वर में) और मैं उस पहाड़ की चोटी पर जा पहुँचती हूँ। देखती हूँ—सामने पूरब की आँखों में प्रकाश जाग रहा है और नीली भूरी बदली से सूरज की सुनहली टिकिया निकल रही है।

[माँ प्रवेश करती है।]

मनी—सूरज की टिकिया ..

किरण—मैं सहमी हुई सी खड़ी रहती हूँ, किन्तु मेरी नस-नस में नये उल्लास की एक लहर दौड़ जाती है। (लम्बी साँस लेती है) मुझे प्रकाश कितना अच्छा लगता है ! मुझे जागृति...

मा—(आगे बढ़कर) शशि जाना चाहती है।

मनी—ठहरो ! (किरण से) तुमने पहाड़ सर कर लिया है (मा और बहन दोनों को सुनाकर) किरण ने पहाड़ सर कर लिया है। (फिर किरण से) इस लम्बी बीमारी की समस्त पीड़ा और कष्ट तुम बड़ी सफलता से सहन करती आई हो। (सुख की लम्बी साँस लेता है) तुम्हारा यह स्वप्न कितना उल्लास-जनक है कितना सान्त्वनापूर्ण है ! और देखो तुम रोशनी में हो—कितनी निखरी धुली रोशनी है ? सामने मन्दिर की दीवारें इस पूर्णमासी के चाँद की पवित्र रोशनी में किसी स्वर्ग के मन्दिर की याद दिला रही हैं।

किरण—(आकांक्षा भरे स्वर में) मुझे सहारा देकर बैठा दो। मुझे सहारा देकर बैठा दो—मैं खिड़की से मन्दिर को देखना चाहती हूँ। कितनी बार अपने सपनों में, मैं इसके दरवाजों से सिर पटकती रही हूँ। इसके अन्दर जाने का प्रयास करती रही हूँ। (दीर्घ निश्वास छोड़ती है) मैं इसके अन्दर जा भी सकूँगी या नहीं ?

मनी तुम अवश्य जाओगी। तुमने उस काले भयानक जंगल में मार्ग बना लिया तो क्या तुम इस मन्दिर की दीवारों को पार न कर सकोगी ? तुम अवश्य इसके अन्दर जाओगी। हम दोनों साथ-साथ जाएँगे।

किरण—मुझे सहारा देकर बैठा दो। मैं इन पहाड़ियों को देख लूँ, इस मन्दिर को देख लूँ।

मनी—अभी परसों तुम्हारे नासूर को पलास्टर लगाया गया है।

[मनोहर तेज-तेज प्रवेश करता है, पर पास आकर चुप-चाप खड़ा हो जाता है।]

किरण—मुझे लगता है जैसे मेरे नासूर को आराम आ रहा है। मुझे बैठा नहीं सकते तो मेरी चारपाई के नीचे सरहाने की ओर ईंटे ही रखदो। (अरमान भरी सोई-सोई आवाज़ में) चारपाई खिड़की जितनी ऊँची हो जाएगी और मैं लेटे-लेटे सब कुछ देख सकूँगी। (लम्बी साँस लेती है) न जाने क्यों, मेरा जी बाहर जाने को, पहाड़ी के पेड़ों में घूमने को, मीनार पर जा चढ़ने को व्यग्र हो रहा है।

[आँखें बन्द कर लेती है।]

मनी—तुम्हारे नासूर को आराम आ रहा है...

मनोहर—खाक आ रहा है, तुम देख नहीं रहे वह बेहोश हो गई है, तुम क्यों उसको अपने-आपको दूसरों को फरेब दिये जा रहे हो। तुम कहते हो नासूर भर रहा है। मैं कहता हूँ उसका सारा शरीर नासूर बन गया है, यह अब कभी न भरेगा। चार साल—चार लम्बे साल—कल्पना ही से मेरी रूह काँप जाती है। और यह चारपाई से हिली तक नहीं धीरे-धीरे इसकी भरी हुई देह दुर्बल होती-होती हड्डियों का पिंजर रह गई। इसकी टाँगें सूखते-सूखते लकड़ी बन गईं और तुमने ये ईंटें फिर इसके टखनों से बाँध दी हैं...

मनी—(रूपा से) रूपा जरा बाहर से दो-चार बड़ी ईंटें उठा लाओ।

मनोहर—अब इन पलास्टरों और डाक्टरों से इसको मुक्ति दो। इसके टखनों से यह बोझ काट दो। इसे अन्तिम घड़ियों में तो आराम लेने दो—तुम कितने निर्दयी हो कि इसकी इस बीमारी में भी रस लेते हो।

मनी—मनोहर!

मनोहर—यह ऐयाशी नहीं तो और क्या है? तुम इसकी पीड़ा में रस लेते हो। इसके दु:ख से प्रेरणा पाकर वेदनामयी कविताएँ करते हो और फिर उन्हीं के अवसाद में डूबे रहते हो।

मनी—मनोहर तुम पागल हो गये हो!

मनोहर—मैं चार साल से देख रहा हूँ, किसी दूसरे के घर में यह अब तक कब की समाप्त हो चुकी होती—रीढ़ की हड्डी का असाध्य नासूर—लेकिन तुमने इसको इतना खींचा इतना खींचा—इंजेक्शन दे-देकर, पलास्टर लगवा-लगवाकर, ईंटें बाँध-बाँधकर और इसकी इस असह्य पीड़ा से तुम अपनी कविताओं के लिए गिज़ा हासिल करते रहे।

[रूपा ईंटें ले आती है।]

मनी—इधर दे दो!

मनोहर—तुम इसकी पीड़ा का अनुमान नहीं कर सकते, तुम शशि की पीड़ा का अनुमान नहीं कर सकते, तुम मेरी पीड़ा का अनुमान नहीं कर सकते ये ईंटें इसके पाँवों में ही नहीं, उसके पाँवों में भी बँधी हैं और मेरे पाँवों में भी; ये सूइयाँ इसको ही नहीं चुभतीं उसको भी चुभती हैं और मेरे दिल में भी कचोके लेती हैं और यही सूखकर काँटा नहीं हो रही, वह भी हो रही है और मैं भी!—तुमने इसके शरीर का बीमार लहू...

मनी—तुम पागल हो गये हो, ईर्ष्या और आसक्ति ने तुम्हें अन्धा कर दिया है।

मनोहर—तुमने यह जाल इस चालाकी से बुना है कि शशि इसमें फड़फड़ाती रहेगी निकल न सकेगी !

मनी—मनोहर !

मनोहर—मैं...

मनी—तुम देखते नहीं किरण की हालत कितनी खराब है ? वह मरने को है और तुम अपनी इन विष में बुझी हुई बातों से मेरा हृदय छलनी करने आये हो।

मनोहर—तुम शशि को न अपनाते हो न छोड़ते हो, और मैं त्रिशंकु की भाँति बीच ही में लटका हुआ हूँ...तुम्हारी इस बेपरवाई में, मैं जानता हूँ, कितनी परवा छिपी हुई है—वाह रे अन्यमनस्कता ! वह बनारस से तुम्हें मिलने के लिए आई है, वह जब से बैठी है तुम से मिलने को व्यग्र है—खेल में वह हिस्सा नहीं ले सकी, बात-चीत में वह भाग नहीं ले सकी—और तुम पल भर को उससे बात करने नहीं आ सके...

मनी—किरण की हालत कितनी खराब है, जीवन और मृत्यु...

मनोहर—वह फड़फड़ाती रहेगी, न जियेगी, न मरेगी, किरण की सूखती हुई बीमार देह का लहू अपनी कविताओं के द्वारा तुमने शशि के शरीर में डाल दिया है।

[किरण हाथ हिलाती है।]

मनी—तुम जाओ। तुम सब चले जाओ। यह होश में आ रही है।

किरण—(सोये-सोये से, डरे-डरे से क्षीण स्वर में) मैं चिक़ नहीं चाहती। मैं चिक़ नहीं चाहती। मेरी रोशनी बन्द न करो। मेरी रोशनी...

मनी (उसके मुँह में दवाई टपकाता हुआ) कौन तुम्हारी रोशनी बन्द करता है ? यह देखो—चिक़ उठी हुई है और चाँद की पवित्र स्निग्ध ज्योत्स्ना तुम्हारे साथ खेल रही है। मैंने तुम्हारी चारपाई के नीचे ईंटे रख दी हैं। उठो देखो...

मा—यह न उठेगी। देख नहीं रहे इसके हाथ मुड़ रहे हैं। इसे धरती पर उतार लो।

मनी—नहीं, मैं इसे धरती पर न लिटाने दूँगा. ठण्डी निर्दय धरती पर...

किरण—मेरी रोशनी बन्द न करो। मेरी रोशनी बन्द न करो...

मनी—कौन तुम्हारी रोशनी बन्द करता है ?

किरण—शशि मेरी रोशनी बन्द कर रही है।

[चिक़ आप से आप गिर जाती है।]

मनी—शशि ?

किरण—(जैसे दूसरी दुनिया से) वह मेरी रोशनी बन्द करने के।

गहरा नीला टाट रँग रही है। मैं चिक़ नहीं चाहती। मैं चिक़ नहीं चाहती। मेरी रोशनी...

[आँखें बन्द कर लेती है।]

मनी—(चिक़ उतार कर फेंक देता है) मैंने चिक़ उतार दी है...किरण... किरण...

मा—(नाड़ी देखते हुए) किरण कहाँ, किरण ख़त्म हो गई है। मैंने कहा था न धरती पर...

राधे—(दरवाज़े में से झाँककर) शशि ने पूछा है मैं यहाँ आ सकती हूँ?

मनी—(उन्माद के स्वर में) वह नहीं आ सकती। वह कभी नहीं आ सकती। देखते नहीं मैंने चिक़ उतार दी है। मैंने चिक़ उतार कर फेंक दी है...

[पर्दा सहसा गिर पड़ता है।]

*

विश्व के महान् उपन्यासकार—१

डिकिन्स की उपन्यास-कला

●

[प्रकाशचन्द्र गुप्त]

डिकिन्स की गिनती दुनिया के बड़े उपन्यास-लेखकों में है। उसने अपनी कहानियों में विश्वामित्र की तरह एक नये संसार की सृष्टि की है, जिसके प्राणी कुछ विचित्र किन्तु अगणित और प्रभावशाली हैं। कहते हैं कि जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण असाधारण था, मानो दुरबीन के उल्टे सिरे से उसने जग को देखा हो। किन्तु जीवन के प्रति उसके मन में अदम्य उत्साह था; उसके कथानक और पात्र साँचों से बाहर निकले पड़ते हैं; गली धातु, जीवन की उमंग, उसके साँचों में समा नहीं पाती।

डिकिन्स इङ्गलैण्ड के प्रगतिशील युग में पैदा हुआ था। विज्ञान के आविष्कारों को सर्वप्रथम अपनाकर उत्पादन-शक्तियाँ डिकिन्स के देश में बढ़ चुकी थीं और कारबारों में अपूर्व उन्नति हो चुकी थी। इङ्गलैण्ड के कवि सोच रहे थे कि खुदा बिहिश्त में है और दुनिया सुखी है। इङ्गलैण्ड के माल की चारों ओर खपत थी। किन्तु डिकिन्स का जन्म निम्न-मध्यकुल में हुआ था, जिनके लिए पूँजीवादी क्रान्ति कोई आशा का सन्देश न लाई थी।

डिकिन्स का बचपन और यौवन कठिनाइयों से लड़ने में बीता। उसकी शिक्षा-

दीक्षा जीवन के कठोर विद्यालय में हुई। जब और बच्चे स्कूल में पढ़ने-खेलते हैं, डिकिन्स को एक स्याही बनाने के कारखाने में नौकरी करनी पड़ी थी। उसके पिता बड़े लापरवाह, उलखर्च थे; उसकी मा ने आग्रह किया कि डिकिन्स को पढ़ाई की अपेक्षा कमाई जरूरी है। दिवालियों के जेल में उसके परिवार का जीवन कट रहा था। डिकिन्स की कला पर इन अनुभवों की अमिट छाप है।

उसकी कहानियों का कथानक बहुधा इस प्रकार चलता है: एक अनाथ बालक अनेक कष्टों में अपना शैशव काट विचित्र घटनाओं के ताने-बानों से जीवन बुन आगे बढ़ता है। किसी दुर्गम जंगल के समान भयावह लंदन में वह रहता है जहाँ शेर, चीतों से भी निर्मम मनुष्य बसते हैं, भयकर शिकारी, चोर-डाकू। इनके बीच वह अनाथ बालक अपना पथ खोज आगे बढ़ता है। यही नक़्शा डिकिन्स के अपने जीवन का भी था।

जिस वर्ग में डिकिन्स का जन्म हुआ था। उसके लिए इंगलैण्ड की व्यवसायी क्रान्ति नए कष्ट और नए सवालों के अतिरिक्त कोई सुख न लाई थी। जो समस्याएँ इंगलैण्ड में डिकिन्स के युग में उठीं, उनका हल अभी वहाँ नहीं हुआ, बल्कि आसमान में काले और लाल ख़ूनी बादल अधिकाधिक गहरे होते जा रहे हैं। अनेक मजदूर बेकार हो गये थे; मशीनें मनुष्य को मानो खा रही थीं। भूख और बेकारी ने इन मनुष्यों को खूँख़ार बना दिया था। लन्दन ऐसे भूखे, बेकार आदमियों से भरा पड़ा था। टेम्स के किनारे अँधेरे देश में एक नए लन्दन का रात में जन्म होता था। यह इङ्गलैण्ड का पाताल-लोक था। किन्तु आज लन्दन के स्वर्ग से भी देवता गिर रहे हैं। क्योंकि स्वार्थवश उन्होंने जनसाधारण के हितों की उपेक्षा की।

डिकिन्स की कला में इस कुरूपता और क्रूरता की गहरी चेतना है। क्योंकि नई क्रान्ति के इसी अङ्ग ने उसके जीवन का स्पर्श किया था। मनुष्य का भौतिक जगत पर अभूतपूर्व शासन, उत्पादन शक्तियों में असीम प्रगति, क्रन्ति का यह रूप डिकिन्स को अवगत न था। मशीन के जीवन का एक ही सीधा चित्र डिकिन्स ने खींचा है। उसका नामकरण किया है Hard Times। इस उपन्यास में कल के पुर्जे मनुष्य की हड्डियों को पीस रहे हैं। फ़ैक्टरी के स्वामी का नाम Gadgrind है। डिकिन्स का दृष्टिकोण पूर्णतया रोमैन्टिक था। अपने समाज के कठोर शासन से वह बचकर निकल भागना चाहता था और रोग का एक ही उपचार उसे सूझता था। मनुष्य का मनुष्य के प्रति अधिक सदय व्यवहार। डिकिन्स को यह चेतना न थी कि नई सामाजिक योजना ही मनुष्य के स्वभाव को बदल सकती है।

डिकिन्स ने जिस इङ्गलैण्ड में अपनी आँखें खोली थीं, उसके एक ही अङ्ग का वह सफल चित्रण कर सका। नए इङ्गलैण्ड की आशाएँ और उत्साह उसके क्षितिज से परे थे। किन्तु नवीन योजना ने जिस निराशा, कुरूपता, क्रूरता को जन्म दिया, उसका डिकिन्स से भली भाँति परिचय था।

डिकिन्स रोमैन्टिक था, इस कारण भयंकर वास्तविकता का एक ही प्रतीकार

उसके पास था—आँख मूँदकर एक काल्पनिक जगत की सृष्टि करना। किन्तु अपने आदर्शवाद के कारण उसने सामाजिक कुरीतियों पर आघात भी किये। जिनके कारण शासकवर्ग आरम्भ में उस पर कृपालु न था। जैसे-जैसे डिकिन्स अवस्था में बढ़ा और ख्याति और धन उसने कमाये, उसके दृष्टिकोण में भी वर्डसवर्थ के समान परिवर्त्तन हुआ। वह सामाजिक क्रान्ति से डरने लगा। इसी कारण Hard Times में इतनी निराशा भरी है; डिकिन्स को अपने समाज की असंगतियों से बाहर निकलने का मार्ग नहीं सूझ रहा।

डिकिन्स ने Oliver Twist अथवा David Copperfield के समान कठोर बचपन काट 'शॉर्ट हैन्ड' लिखना सीखा और पार्लमैन्ट में रिपोर्टर बन गया। कुछ दिन बाद वह कहानी लिखने लगा और जब उसकी पहली कहानी छपी, उसकी आँखों में आँसू आ गये। डिकिन्स का पहला कहानी-संग्रह Sketches by Boz है, और यह उपनाम Boz बराबर उसके साथ लगा रहा। इस संग्रह में लन्दन का भयंकर दर्शन पाठकों को मिला है जिसमें एक फाँसी का चित्र भी है। ये कहानियाँ वास्तविकता में पगी थीं और अपने समाज की कड़वी आलोचना थीं।

'पिकविक पेपर्स' ने डिकिन्स को बहुत लोकप्रिय बनाया। मि० पिकविक एक अधेड़, मोटे मध्यवर्ग के प्राणी थे। Don Quixote की भाँति आपकी आत्मा में भी रोमान्स उमड़ रहा था। पहले हास्यास्पद मालूम हो पिकविक एक परम कोमल व्यक्तित्व में प्रकट हुए। जिस इङ्गलैण्ड का दर्शन पिकविक ने किया, वह Boz के स्केचों से बहुत फीका है, नहीं तो फ़िलिस्तीन उसे इतनी जल्दी न पचा जाते। पिकविक अन्त में स्वयं डिकिन्स निकला; उसका भी दृष्टिकोण पिकविक के समान रोमैन्टिक और दयार्द्र बन रहा था।

बाद के उपन्यासों में डिकिन्स ने अपने परिवार का नक़्शा खींचना शुरू किया। David Copperfield डिकिन्स की आत्मकथा है; मि० मिकौबर उसके पिता हैं। Little Dorrit में उसके परिवार के कारावास-जीवन का चित्रण है; Mr. Dorrit उसके पिता का दूसरा चित्र है। इसी प्रकार Mrs. Nickleby उसकी मा थी, जिसके प्रति डिकिन्स को कण-भर सहानुभूति न थी। सिद्ध होता है कि अपने रक्त की बूँदों से डिकिन्स ने यह कहानियाँ लिखी हैं।

Oliver Twist में एक अनाथालय का वर्णन है, जहाँ सिर्फ एक चम्मच पतला खाना मिलता था; जब Oliver ने दूसरा चम्मच माँगा, तो अनाथालय में भारी खलबली मची। लंदन पहुँचकर Oliver गिरहकटों के गुट में फँस गया, अन्त में कुछ दयावान व्यक्तियों ने उसका उद्धार किया। यही औषधि सब सामाजिक रोगों के लिए आज भी बूर्जुवा सुधारक बताते हैं।

Little Dorrit में डिकिन्स ने Marshalsea के जेल का चित्र खींचा जहाँ दिवालिए रक्खे जाते थे, और उस प्रसिद्ध Circumlocution Office का, जहाँ एक बार

अर्जी फँसकर बाहर नहीं निकल पाती, वरन् गोल-मोल घूमा करती है। इस ऑफिस का सबसे बड़ा गुण यह है कि अनेक बेकार रिश्तेदारों को यहाँ काम मिल जाता है! डिकिन्स ने जीते-जागते व्यक्तियों के अनेक व्यंग-चित्र भी खींचे, जिनमें Bleak House के Harold Skimpole विशेष प्रसिद्ध हैं; यह चित्र डिकिन्स ने Laigh Hunt के मॉडल पर बनाया था।

Martin Chuzzlewit में कथानक पात्रों को अमरीका पहुँचा देता है। वास्तव में यह उपन्यास अमरीकी जीवन की आलोचना था, जो वहाँ के निवासियों को बिलकुल पसंद न आई।

जीवन के अन्त में डिकिन्स ने अपनी अमरीका और इटली की यात्राओं पर नोट लिखे, कुछ क्रिसमस की कहानियाँ लिखीं, कुछ सार्वजनिक भाषण दिये और अपनी कहानियाँ स्टेज पर बैठकर सुनाई भी। यह एक महान उपन्यासकार के अस्त होने के लक्षण प्रगट हो रहे थे। वह वास्तविकता से अधिकाधिक मुख मोड़ कल्पना के लोक में रहने लगा था और क्रिसमस के भूतों की कहानियाँ लिखने लगा था!

डिकिन्स निश्चय ही एक महान उपन्यासकार रहा था। उसकी कल्पना में असाधारण तरलता थी; उसके मस्तिष्क से प्लाट, पात्रों आदि का तार अटूट निकल रहा था। सोते-बैठते, उठते वह सृष्टि के कार्य में लीन था। यह माना कि उसकी कला निर्दोष नहीं। उसकी लेखन-शैली पुष्ट और प्रवाहमयी है, किन्तु काटा-पीटी की यहाँ कितनी गुंजाइश है! कितनी जल्दी में वह लिखता था! Ben Jonson के शब्दों में हम कहते हैं कि उसने हज़ारों सफ़े क्यों नहीं काट कर खराब किये। उसके प्लाटों में गोलाई नहीं। उसके पात्र सपनों में देखे आदमियों से हैं और वह अकसर किताबों की तरह बोलने लगते हैं।

इसके विपरीत हम यह भी देखते हैं कि उसकी प्रेरणा का स्रोत अजस्र था। उसकी कला में समाज के दोषों की कटु आलोचना है, यद्यपि बुनियादी कमज़ोरियों तक वह नहीं पहुँच पाता और शोषित-वर्ग में जन्म लेकर भी वह बूर्ज़्वा कलाकार रहा और अन्त में शासक समाज के साथ घुल-मिल गया। उसने साहित्य के अगणित अमर पात्रों को गढ़ा और जिस व्यक्ति को भी उठाया, उसे मानो संजीवनी पिला दी; किन्तु अन्त में यह विचित्र प्राणी उसके लिए अफ़ीम के समान बन गये; उनकी अद्भुत दुनिया बनाते-बनाते वह समाज की पीड़ा भूल जाता था और कला उसके लिए पलायन का साधन बन गई।

इस प्रकार इङ्गलैण्ड के पहले क्रान्तिकारी उपन्यासकार का अन्त क्रान्ति को दबाने में हुआ। Hard Times में पूँजीवादी फ़ैक्टरी का पूरा ढाँचा देते हुए डिकिन्स क्रान्ति से सहम जाता है और उसकी फ़िलासफ़ी नकार मात्र रह जाती है।

✱

यात्रा में

●

[सत्यवती मलिक]

गाड़ी छूटते ही मानो बौछार-सी पड़ी। 'कहाँ की नवाब हैं ?' 'बिस्तर उठाकर नीचे फेंक दो।'

निसन्देह यह सरासर अन्याय था उनके महकते खरबूजों के दो टोकरों पर कुली बड़े-बड़े तीन बिस्तर पटककर चला गया था, गाड़ी तुरन्त चल पड़ी थी और दरवाजा खुला ही रह गया था, जिसके पास खद्दर की साड़ी पहने एक स्त्री और उसका छोटा लड़का खड़े थे।

बिस्तरों को खींच-खाँचकर आगे सरकाने तक का भी उसे अवसर न दे उनका चिल्लाना जारी था, साथ में एक युवा लड़की, सम्भवतः उन बेगम साहबा की नौकरानी, अपनी आक़ा के स्वर में स्वर मिलाकर गर्जी 'हाँ देखो तो।'...

किन्तु उनके गर्जने-बौखलाने के बावजूद वह नई यात्रिणी मानो एकटक-सी उन बेगम साहबा की चाल-ढाल एवं वेश-भूषा की ओर आकर्षित हो रही थी।

बृहत भाल, लम्बी पतली नाक, शुक्रग्रीवा पर लटकते कर्ण फूल—चिकन के बारीक कुरता, रेशमी सलवार और पतले महीन दुपट्टे से ढकी कमनीय छबि। नाजुक शुभ्र कलाइयों में बेला के गजरे, मेंहदी भरे हाथ और पास ही मुँह-हाथ धोने का भभका, तथा साँवला रंग, शोरन आँखोंवाली बाँदी। मुगल-वंश के मानो कलापूर्ण अवशेष...

'ऐसी सुन्दर झाँकियाँ कभी-कभी बाहर निकलकर ही देखने को मिलती हैं।' कौतूहल-पूर्वक कुछ क्षण स्थिर रहने के उपरान्त वह गर्जन उसे असह्य हो उठा। और आखिर उन्हें परास्त करने की एक युक्ति अनायास ही उसके मुँह से निकल पड़ी।

'अजी तभी तो हम लोगों को स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती। हम एक दूसरे की सहूलियत को नहीं देखते, कठिनाई को समझने की कोशिश नहीं करते। गाड़ी चलने में केवल दो मिनट शेष थे, कुली जल्दी में बिस्तर पटक गया, क्या करती ? दूसरा मुल्क होता तो ऐसा कभी न होता। लेकिन इसका अभिप्राय यह तो नहीं कि आप मेरा सामान पटक दें, और देखिये तो दरवाजा खुला पड़ा है, आपकी मरजी है मेरा बच्चा बाहर गिर पड़े।' कहते-कहते उसका स्वर भारी हो उठा।

'न न, खुदा करे ऐसा कभी न हो। बच्चा जैसा आपका वैसा हमारा। आजा भैया। इधर को।'

तीर निशाने पर बैठा, और युवती पर तो तक़रीर पुरअसर ही साबित हुई। वह उसकी खादी की साड़ी की ओर आँखें गढ़ाकर बोली -

'जी हाँ, दरअसल हमें भी टांकर स्टेशन आने से पहले नीचे नहीं उतारने चाहिए थे।'

नई दिल्ली से पुरानी दिल्ली तक अन्तर ही कितना है ? स्टेशन आ गया और इन चन्द मिनटों में ही जैसे उन्होंने परस्पर घनिष्ट मित्रता स्थापित कर सलाम-दुआ पूर्वक विदा ली।

अब इस नई यात्रिणी की बारी थी, पुरानी दिल्ली स्टेशन पर उसे कई बन्धु मिलने आये थे, गाड़ी में शीघ्रता से बैठकर उन्होंने जगह घेर ली, ताकि पूरी सीटें मिल सकें। पहली सीट पर उसकी अन्य दो साथिनों के लिए (जो उसके साथ ही पहाड़ जा रही थीं) बिस्तर बिछा दिया गया। सामने की सीट पर जहाँ से अभी-अभी वह बेगम साहिबा उठी थीं, छोटे लड़के को आराम से सुला दिया गया और बीच में आधी सीट पर लड़की को लिटा उसने स्वयं भी टाँगे पसारीं।

यद्यपि उसका अन्तर उसे इस स्वार्थ पर झकझोर रहा था। किन्तु जैसे उसने निश्चय कर लिया हो, कि यात्रा करते समय व्यर्थ भावुकता में बहकर हर बार जगह दे देना अपनी कमज़ोरी सिद्ध करना है। अभी पिछले दिनों का एक सफल प्रयोग उसे अच्छी तरह याद था, जब वह देहरादून एक्सप्रेस से आ रही थी। देहरादून से हरिद्वार तक मज़े से सोती रही पर हरिद्वार स्टेशन पर एक दम भीड़ आ गई। डिब्बा भर गया। बहुत-सी आवाज़ें आती रहीं 'इसे जगा दो, यह क्यों आराम से सो रही है ?' किन्तु उसने क़तई परवाह न की थी। आँखें मूँदकर मस्त पड़ी रही। थोड़ी देर बाद देखा वातावरण शान्त हो गया है। लड़ाई-झगड़े का स्थान स्वतः ही दुख-सुखों ने ले लिया है। सो आज भी उसने यही रवैया इख्तियार किया! बल्कि आनेवाली स्त्रीयों से उसने इतना भी ऊँचे स्वर में कह दिया, 'हम लोग आराम की खातिर तो नई दिल्ली से सवार हुए हैं। आप लोग भी यदि पहले आतीं तो हमारी तरह आराम से सो सकती थीं।'

उनमें से खड़ी कई स्त्रियों में से, किसी ने नीचे पड़े बिस्तर पर और किसी ने बौखला कर सीट पर स्थान बना ही लिया; किन्तु दरवाज़े के पास उसी स्थान पर, जहाँ अभी कुछ देर पहले खद्दर वेष-धारिणी स्त्री का लड़का खड़ा था, तीन बच्चों से घिरी एक और स्त्री चुपचाप खड़ी थी।

सुन्दर गौर वर्ण, निकर कमीज़ें पहने, सम्भवतः आठ-दस वर्ष की वयस के दो लड़के, और गोद में तीन-चार वर्ष की छोटी-सी बच्ची।

दोनों लड़कों के चेहरे कुछ ज़र्द-से आकर्षणहीन, उन पर ऊषा की-सी वह निखरी रंगत न थी जो प्रायः स्वस्थ बच्चों को देखते ही खींच लेती है।

मनुष्य कितना ही कठोर क्यों न हो जाय, इस छिछले जीवन-व्यापार तले

गहन अन्तर में जो एक स्निग्ध शीतलता सदैव उसके कल्मष धोने के लिए उमड़ती रहती है, शायद उसी प्रेरणा से किन्तु फिर भी जैसे दया का भाव दिखलाते हुए, दो एक स्टेशन बाद, ज़रा-सा सीट से हट कर उसी खद्दर-वेष-धारिणी स्त्री ने कहा—

'आप एक बच्चे को तो यहाँ बैठा सकती हैं।' उसका अनुकरण करते हुए साथ-वाली एक स्त्री ने भी अपना कुछ सामान हटाते हुए कहा—'और दूसरे बच्चे को यहाँ बैठा दीजिये।'

मानव-जीवन में प्रति पल तेज़ी से गुज़रते अनेक भावों की तरह, नदी, कगार, टीले, गाँव और खेतों को पार करती हुई गाड़ी तेज जा रही थी। ऐसे समय में यात्री बहुधा घर बाहर सब कुछ भूल जाता है। मानो यह तेज़ी से भागते हुए क्षण ही जीवन के सत्य स्वरूप का विश्लेषण हों, किन्तु उस समय बाहर-भीतर का सब कुछ मानो अपने बच्चे की अस्वस्थता में ही आ केन्द्रित हुआ हो। कुछ देर बाद वही खद्दर वेषधारिणी स्त्री अपने लड़के पर चादर ओढ़ाते हुए कुछ चिन्ताजनक स्वर में बोली।

'देखिये बच्चे को कई दिनों से बुखार आता रहा है। नकसीर फूटी है इसीलिए पहाड़ जा रही हूँ।

दोनों सीटों के मध्य में ठूँसे हुए सामान पर इतने में उस नई स्त्री ने तनिक जगह बना ली थी।

'ठीक है जी। किन्तु मेरे बच्चों का हाल सुनें तो'—उसने पहली स्त्री के साथ सहानुभूति प्रकट करते हुए कहा।

पहली स्त्री को बहुत बुरा लगा—'इन औरतों की प्रकृति ही ऐसी होती है अपने दुःख के सामने, इनको दूसरे का दुःख कुछ मालूम नहीं होता।' पुनः उसकी आँखों के आगे अपने बच्चे के मुँह-नाक से फूटी रक्त की बूँदें घूम गईं और उसका दुर्बल चेहरा, जिसमें मानो उसके अपने प्राण समाए हों।

उसे चुप देख वह नई स्त्री विनम्र हो बोली—बड़ी कृपा है जो आपने जगह दे दी है, मेरे बच्चे तो खड़े भी कठिनता से हो सकते हैं।'

पहली स्त्री ने दृष्टि उन निद्राग्रस्त बच्चों पर डाली। डीलडौल, गठन—सुन्दर किन्तु कुछ अस्वाभाविक छाया-सी। 'प्रत्येक मा अपने बच्चे को न जाने क्या समझती है ?' तो भी मन में यही सोच उसके प्रति निस्पृह-सी ही हो रही।

उधर वह स्त्री उसी प्रकार कुछ भरे से स्वर में कहे जा रही थी—इन दोनों को टाईफायड हो गया था जिससे इनके दिमाग में कुछ गड़बड़ हो गई है और टाँगें भी ठीक काम नहीं करतीं।'

पहली स्त्री चौंक पड़ी। वह अब समझी, विशेषतया बड़े बच्चे में जो लगभग दस-ग्यारह वर्ष का होगा क्यों कुछ अस्वाभाविक एवं विकृत-सा है ? प्रकट में उसने पूछा—

'आप रहती कहाँ हैं ?' (किन्तु जी में जैसे कोस रही थी बीमार की ठीक देखभाल न कर सकने का ही यह परिणाम है ।)

'दर्यागंज।'

'बच्चों के पिता क्या काम करते हैं ?'

बाहर घने अँधियारे क्षितिज में कभी कुछ तारे झिलमिला उठते। कभी कोई नदी बिजली-सी चमक करती निकल जाती। छोटे-छोटे स्टेशनों के आस-पास धीमी रोशनी में झाड़ी-बूटिएँ मानों सिर झुकाए मौन निश्वास छोड़ते दीख जातीं। कुछ देर बाहर अन्धकार में स्थिर भाव से देखते हुए उसने उत्तर दिया—'वे-वे यहाँ नहीं हैं, बहुत दूर हैं ?'

'कहाँ ?' पहली स्त्री को मानों उस मानव जीवन में रस आने लगा था।

'वे मलाया में हैं, डाकखाने के काम में गये हैं।'

'कितनी देर हुई गये ?'

'आठ मास हो गये।'

'तो आप दिल्ली किसके पास रहती हैं ? खर्च कहाँ से आता है ?'

'खर्च...हाँ आ ही जाता है और साथ यही बच्चे हैं ..रिश्ते में केवल एक भाई है अब उसी के पास जा रही हूँ...'

'कोई खबर आती होगी ?'

'पिछले तीन महीनों से कोई चिट्ठी नहीं आई। पहले एक पत्र आया था कि वे अस्पताल में लगातार बहुत दिनों के लिए पड़े रहे हैं...और वहाँ एक बीमारी फैल गई थी...वे लोग वहाँ कैम्पों में रहते हैं।

× × ×

वह सुन्दर युवती न थी, और न ही कोई ऐसी कलापूर्ण छवि जो अकस्मात मानस-पटल पर अंकित हो जाये...किन्तु उन छोटी-छोटी आँखों और चिन्तायुक्त गेहुएँ रंग के गम्भीर चेहरे के पर्दे के पीछे से उन नेत्रों द्वारा जो भाव रह-रहकर दूर अन्धकार में प्रकाश की तेज धारा-सा फैल रहा था, उसमें पहली स्त्री की कल्पना भी अनेक वन-बीहड़ों, उछलते समुद्र के पार सैकड़ों मीलों की दूरी पर नारियल के पेड़ों तले एक रोगी की खाट तक पहुँच गई। तो भी दूसरे के जीवन को इतनी घनिष्ठता से तो स्पर्श नहीं किया जा सकता ? इस तरह यात्रा में कितने जीवन आते और चले जाते हैं। किस-किस को देखा जाए ? यह सोच वह खद्दर वेशधारिणी स्त्री बाहर शून्य में गाड़ी की गीत को ध्यान पूर्वक सुनने लगी।

और इतने समय में अन्य कितने ही चित्र निकल गये।

वे रंगरूटों से भरी गाड़ियाँ, उनका मतवालापन—बेहूदा मजाक। और ए-

स्टेशन पर घर बाहर का उजड़ा सामान लिये, नगे उघाड़े छोटे-छोटे बच्चों को उँगली से लगाये वे ऊँची-ऊँची सलवारें पहरे आधे घूँघटों में मुँह छिपाये सैनिकों की पत्नियाँ...

न जाने कितना समय बीत गया, गाड़ी के सभी व्यक्ति सो गये थे, घोर सन्नाटा-सा था।

दुःख की छाया किसी जल स्रोत पर छाये कुहरे के समान प्राणी के चारों ओर उसास-सी बन मँडराया करती है—बच्ची अभी तक उसके गोद में थी, दोनों माँ-बेटी अत्यन्त स्वाभाविक भक्ति-पूर्ण ढंग से तालियाँ बजातीं कभी एक साथ मस्तक नीचे झुकातीं, कभी जय-जय शब्द धीरे-धीरे बोलतीं और एक दूसरी की ओर देखते एकदम निस्तब्ध हो जातीं। वह अबोध बच्ची मानो मा के हृदय में छिपे गहन विरह को पूरी तरह समझ लेती थी। उस अधेड़ नारी और उस दिन बालिका की वयस का व्यवधान मिटकर उस समय मानो एक ही विन्दु पर आ केन्द्रित हुआ था।

मा बेटी दोनों के बड़े छोटे हाथों द्वारा मिलकर निकले तालियों के स्वर, उन दोनों की मुद्रा, भंगिमा से साफ़-साफ़ प्रकट होता था मानो ऐसी क्रिया करने का उनका प्रतिदिन का नियम हो।

पहली स्त्री जाग गई थी, किन्तु जान बूझकर नेत्र मूँदे निश्चल-सी पड़ी रही 'कहीं वे दोनों अपना दुख-सुख भरा विनोद बन्द न कर दें।'

आँखें बन्द होने पर भी उसके सामने झनक जाती थी, कभी बाहर के तारों-भरी झलमलाती रात। और कभी भीतर वह दोनों पागल बच्चे। उन दोनों माँ-बेटी के हृदय से निकली, दूर समुद्र पार एक रुग्ण परदेशी की शैय्या से जुड़ी तार जिसमें पिरोई वेदना कुम्हलाए कुसमों-सी झर-झर पड़ती थी।

गहन विषाद के घने बादल जो उस अभागे परिवार पर अनायास ही घिर आये हैं, एक सुनसान, भयानक अँधेरी निशा की भाँति उसके हृदय को बाँध गये—ओह! जिस दिन बाप ने इन बच्चों को विलग किया होगा। बच्चों की बीमारी में जब वह असहाय-सी दौड़ी होगी, विनती की होगी और उस नारी-अन्तर की व्यथा मानो भीतर ही छटपटाकर इस निरीह बच्ची को छाती से चिपटा सान्त्वना पाती होगी।

× × ×

यात्रियों ने करवट ली। शायद कोई स्टेशन था—सामने काले आवरण को भेद निद्रित जग ने ऊषा के निखरे रंगों द्वारा पुनः आशा की साँस ली। उसी डिब्बे में एक कोनेवाली सीट पर वे दो स्त्रियाँ (उसी रात जालन्धर स्टेशन पर जिनकी लड़ाई केवल बच्चे की दूध पीनेवाली एक लुटिया के कारण सीमा तक पहुँच गई थी) प्रभात के इस पुण्य आलोक में जीवन के गहनतम दुःख-सुखों का ब्यौरा खोले हौले-हौले बातें करने लगीं। मानो भिन्न-भिन्न मार्गों के दो पथिक एक निश्चित स्थान पर आ मिले हों।

★

हमारी काव्य-साधना : एक विवेचन

●

[उदयशंकर भट्ट]

बहुत दिन नहीं हुए—एक प्रसिद्ध पहलवान से मिलने, बातचीत करने का अवसर मिला। बातों-बातों में उन्होंने कहा—कविता मनुष्य की बहुत बड़ी कमज़ोरी का दूसरा नाम है। उसकी शक्ति का दिवालियापन है जो उसने अपने साहस, बल, औद्धत्य को नारी की कोमलता के चरणों में अर्पित कर जीवन की सबसे बड़ी शक्ति को सदा के लिए खो दिया है। यह जीवन की बड़ी हार का प्रथम क्षण था जो उसने दुर्बलता के वशीभूत हो करुणा, दया, सौन्दर्य की प्यास में अपना बलिदान कर दिया। स्त्री के आगे नतमस्तक होना ही संसार की अशान्ति, द्वन्द्व, दुर्भाव और पाप की इतनी घोर वृद्धि का कारण है।' मैंने कहा—मनुष्य में वेगों के प्रति आसक्ति तो स्वभावगत है। क्या आप कह सकते हैं, यह कमजोरी—मैं इसे कमजोरी नहीं कहता, यह तो उसके क्रमिक विकास का परम्परा प्राप्त रूप है जो उसने पशुता के 'रिफाइण्ड टेस्ट' से मनुष्य रूप में पाया है, न होती तो क्या संसार में नृशंसता, क्रूरता का इतना साम्राज्य न हो जाता कि वह अपनी सत्ता ही खो बैठता ? और एक दिन उसके अस्तित्व की कहानी ही रह जाती ? जीवन के प्रति दुराशक्ति जहाँ संसार में अशान्ति का कारण है वहाँ-वहाँ उसका सात्विक रूप भी तो है। उसे आप क्यों नहीं समझते ?

उन्होंने कहा—यह बात मेरी समझ में नहीं आती। मैं बुराई की जड़ खोद डालने के पक्ष में हूँ।

इसमें किसी को भी क्या आपत्ति हो सकती है। हम अभाव के द्वारा सुख की कल्पना करते हैं। परन्तु यह तो मनुष्य की विजय नहीं है। विजय तो उनको दबाकर जीतने में है। कौन कह सकता है किसके अभाव में कौन चीज कैसी होती। परन्तु इतना निश्चय है कि इस कमजोरी से मनुष्य ने बहुत कुछ सीखा है, आनन्द प्राप्त किया है। आनन्द-प्राप्ति जीवन में स्वाभाविक चेष्टा है। ग्राह्य और अग्राह्य, हेय और अहेय दोनों की परिच्छित्ति मनुष्य के अन्तर में उठनेवाले सुख और दुःख से हुई है। चाहे वह क्षणिक हो या चिरकालीन। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि कविता उसकी कमजोरी है। कविता जीवन की स्थिरता के लिए मानवीय संघर्षों से उठनेवाला सुख देन भी तो है ? फिर कविता केवल मनुष्य के क्षणिक आवेगों का नाम ही तो नहीं है, स्त्री के प्रति आसक्ति

का नाम ही तो नहीं है। वह इसके अतिरिक्त जीवन का उद्धार भी तो है जो संस्कार और प्रतिभा के उपकरणों से वर्गगत चेतनाओं को सुख, आनन्द की उपलब्धि कराता है।

हमें मानना पड़ेगा कि हमारे जीवन की लम्बाई में चारों ओर विचरनेवाली परिस्थितियों का बहुत-सा हाथ है। उसके उतार-चढ़ाव में दो पक्ष प्रबल रूप से काम करते हैं, एक व्यावहारिक और दूसरा विचारात्मक। व्यावहारिकता से जीवन की सत्ता है और विचारात्मकता से उसकी ऊँचाई, संस्कारिता। इसी दूसरे पक्ष के कारण मनुष्य मनुष्य है। इसको भी हम दो भागों में बाँट सकते हैं, एक मस्तिष्कगत दूसरा हृदयगत। मस्तिष्क-गत (logical) भूमि पर मनुष्य ने सिद्धान्तों, गहनतर विचारों और व्यावहारिक पक्ष को पुष्ट करनेवाले तत्वों का सृजन किया है। किन्तु हृदयगत आत्मा की उपपत्तियाँ उसके आनन्द, सृष्टि-विधान, प्रत्यक्ष या परोक्ष अनुभूति का कारण बनती रही हैं। साहित्य उन्हीं हृदयगत तत्वों का निचोड़ है जो मनुष्य ने आदि काल से आज तक सृजन किया है, तथा जिसमें सत्य का आधार लेकर मानव मात्र के कल्याण की भावना का सूत्र निहित है।

कविता मानव-हृदय की स्वतः प्रवृत्ति

कविता मानव-हृदय की स्वतः प्रवृत्ति है। स्वयंभूत आत्म-प्रकाश है। वह शब्दों द्वारा जीवन की चरम साधना का उत्कर्ष है। जिसमें कवि ने हृदय के रूप में विश्व की अन्तरात्मा को पहचानने का प्रयत्न किया है। वह एक अबाध वेग है और उसे अपने हृदय के सौन्दर्य में पवित्र और रमणीय बनाकर प्रगट किया है। जो दुःख पाकर रोने की तरह और सुख के उपकरण मिलते ही प्रसन्न हो उठने के समान संस्कारी आत्माओं में प्रतिभासित हो जाता है। चेष्टा उसमें कुछ भी नहीं है। वह स्वतः क्रियात्मक प्रवृत्ति है जिसमें जीवन में रह-रहकर उठनेवाले वेगों का सात्विक विधान होता है। यह ठीक है समय-समय पर उस विधान की रूपरेखा में अन्तर आता गया है, उसके प्रकटीकरण और लक्ष्य में, उसके संविधान में दृष्टिकोण बदलता गया है परन्तु सत्य की जिस नींव पर उसका निर्माण हुआ है—वह अविच्छिन्न है। नींव मजबूत होनी चाहिये चाहे फिर उस पर मकान बने या महल। झोंपड़ी खड़ी की जाय या किले की दीवार। कविता का यही रूप रहा है। परन्तु इतना स्पष्ट है कि उस रूप में आनेवाली सभी बातें, सभी स्फूर्तियाँ कविता नहीं हैं। वह तो उस गोली की तरह है जो दूर मार करने के लिए नाली की दृढ़ता, तीव्रता की अपेक्षा रखती है। उस प्रकाश की तरह है जो मिट्टी के दीये और बिजली के प्रकाश में भेद रखता है। जीवन के सत्य, अनुभूति की प्रौढ़ता, हृदय को छूने की शाश्वत तीक्ष्णता जितनी ही कविता में होगी वह उतनी ही चिरस्थायी होगी। कविता सत्य, शिव और सुन्दर—

यह ठीक है कविता के तत्वों को, उसकी अभिव्यक्ति को जीवन की सचाइयों से ओत-प्रोत होना चाहिये। परन्तु केवल सचाई न तो कोई आकर्षण है और न कविता स्वयं। उसके लिये तो कवि की प्रतिभा का स्वयं चमत्कार भी होना चाहिये। अभिव्यंजनाकारी जब केवल चामत्कारिक अभिव्यक्ति को ही कविता कहकर पुकारता है तब उसमें

शैली की प्रधानता आ जाती है। शैली वस्तु से भिन्न है। मनुष्य के सौन्दर्य में बाह्य रूप ही तो केवल नहीं होता, उसके अन्तर का प्रकाश भी अपेक्षित होता है। सौन्दर्य, मानना होगा न केवल अभिव्यक्ति में है किन्तु उसकी आत्मा में भी है। मिट्टी को कई तरह से रगड़ने पर चाँदी की तरह नहीं चमकाया जा सकता। मैं मानता हूँ वह सत्य ही है जो कल्पना के सुन्दरतम आवरण से आत्म-विभोर बनाकर कवि संसार को देता है। इसी लिए कल्पना, वाग्वैचित्र्य, उक्ति चमत्कार से युक्त भी सत्य से रहित साहित्य स्थायी नहीं होता। जैसे जीवन का स्थायित्व उसकी आत्मा है, इसी तरह अनुभति से अतिरोहित कल्पना भी कविता का सौन्दर्य है, कला है। मैं मानता हूँ 'कला-कला के लिए' में भी वही सत्य है जो कला जीवन के लिए कहने में है। कला यदि अपने में विशुद्ध होगी तो वह जीवन का उपकरण तो अवश्य ही प्राप्त करेगी। शुद्ध और सात्विक कला जीवन के साथ सामंजस्य लेकर ही चल सकती है। जैसे फूल प्रकृति की एक कला है और अपने रूप में वह शुद्ध होते हुए भी जीवन में प्रसन्नता, प्रफुल्लता भर देता है। उसके सौन्दर्य का समन्वय मनुष्य की आत्मा के साथ होते ही उसकी रचना-चातुरी में विशेषता देख पड़ती है। सात्विक से मेरा आशय स्वाभाविकता से, सरसता से है। कला की उसी सात्विक निष्ठा से जीवन का सम्बन्ध है। अब 'शिव' को लीजिये। शिव से अर्थ कल्याणकारी ही है। कविता में यह लक्ष्य बीच-बीच में लुप्त भी हो गया है। मध्ययुग में जीवनोन्मुख या जीवनदायिनी धारा का स्पष्ट प्रभाव कविता में देख पड़ता है। मम्मट कहता है—कविता कल्याणकारिणी, स्त्री के मधुर वचनों के समान उपदेश देनेवाली होनी चाहिये। परन्तु पूँजीवादी वर्ग-चेतना के युग में कविता को समाजवाद की कल्याण भावना से हट-कर जो रोमेण्टिक युग में आना पड़ा, उसमें आपतित कविता की धारा बदल गई। इस युग में कविता की कल्याण-कामना को कोई स्थान ही नहीं मिला। पूँजीवाद, साम्राज्यवाद के कारण कविता केवल राजा की स्तुति उसके गुण-वर्णन का कारण बनाकर रह गई। इस युग में कवि को सर्वतोभावेन इस तरह का आत्म समर्पण बहुत खला और विषयों के साथ-साथ कविता की भाव-धाराएँ बदलती चली गईं। और अन्त में रोमेण्टिक युग में आकर उसके दूसरे लक्ष्य में जो परिवर्तित मरण भावना का प्राधान्य हो गया उसका कारण दुःख से आत्मनिष्कृति भी हो सकता है। छायावाद का युग छोटा होते हुए भी उपेक्षणीय नहीं है। कविता ने इसमें नए दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया है। शैली, भाव, भाषा और वस्तु सभी कुछ बदल गये। आत्मा, प्रकृति और परमात्मा ने जीवन के उपादानों से स्पष्ट सम्बन्ध न रखते हुए उसकी अस्पष्ट छाया को यदाकदा छूने का प्रयत्न किया। उसने मनुष्य और विशेषतः कवि की भाव-चेतना को उद्बुद्ध करके जिस अभिनव की संगति लगाने को बाधित किया उसमें न समाज के शिव की भावना थी न उससे कोई स्पष्ट सम्बन्ध। वह पूँजीवाद के प्रभाव से दबे हुए कवि की 'स्केपिस्ट' प्रवृत्ति थी जिससे उसे अपने आस-पास न देखने देकर दूर देखने को बाध्य किया। एक तरह से छायावाद व्यक्तिवाद के सहारे चला पर उसने हमारे लिए कोई स्पष्ट दिशा निर्देश करने की क्षमता नहीं प्राप्त की। परन्तु मैं मानता हूँ वह सत्य

भी था शिव भी और सुन्दर भी। हमें आश्चर्य है वह सत्य वैसा ही था जैसा कि तुलसीदास के युग में। तुलसीदास ने उस युग की एक समस्या बनाया और जीवन का चरित्र सत्य दिखाने का प्रयत्न किया। मैं मानता हूँ तुलसीदास ने तात्कालिक शान्ति तो दी पर वह अचूक औषधि सिद्ध न हुई जिसमें हमारे समाज में चिरस्थायी स्वतन्त्र कविता का अभिस्थापन होता। वह सभी उपचार तात्कालिक थे। और इसके बाद कविता में जो जीवन के प्रति जड़ता की भावना आ गई थी वह भी बनी ही रही। यही नहीं उसने उसे पंगु बना दिया। छायावाद भी उसी प्रकार की एक दूसरी भावना थी जिसमें बीमार का मन बहलाने का अस्थिर उपाय था। वस्तुतः मनुष्य-कवि ने सदा के जीवन के ऊपर प्रयोग किये हैं उन प्रयोगों में उसकी शक्ति क्षीण होती रही है। उन प्रयोगों में कुछ तो वास्तविक स्थिति के उपादानों द्वारा जीवन की गहनतम-सी घटनाओं का चित्रण हैं, जिनमें उसने अपने रागद्वेषों को मूर्त करके वस्तुस्थिति को समझाने की चेष्टा की है और कुछ गड्डलिका प्रवाह की प्रवृत्ति का।

हमें मानना होगा जीवन की सभी क्रियाएँ जो मनुष्य आदिकाल में अपनी सफलता के लिए करता आ रहा है कुछ तो मर्यादाओं का बन्धन लेकर चलती हैं और कुछ परिस्थिति के अनुसार। इसीलिए हम जहाँ साहित्य के द्वारा एक परिस्थिति को ठीक बनाते हैं वहाँ दूसरी बुराई आ जाती है। अपूर्णता जीवन की सबसे बड़ी बीमारी है, हम इसे जितना ही यह समझकर कि इस क्रिया से हम पूर्ण सुखी हो सकेंगे, करते हैं उसके साथ वैसी ही दूसरी बुराई आ उपस्थित होती है। इस complication में मनुष्य के साथ साहित्य भी छटपटाता हुआ चलता है। जैसे अँधेरे में चलनेवाला पथिक साधारण चिन्ह को, या दूर जलती हुई आग को गाँव के पास आ जाने का कारण मानकर तेजी से चलता है और पास पहुँचकर देखता है कि वह आग और भी दूर है। जीवन को, समाज को, राष्ट्र को पूर्ण रूप से सुखी बनाने के ये प्रयोग चल रहे हैं। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, शेक्सपियर आदि के चरम एवं शाश्वत सत्य, जिन्हें शाश्वत कहा जाता है, हमारे लिए अस्थायी उपचार ही सिद्ध हुए। उनके द्वारा बताई गई शैलियाँ, पद्धतियाँ, भावनाएँ न तो हमारे आज के युग की कोई समस्याओं का हल हैं और न वैसा कहना बुद्धिमत्ता ही है। वे तो अपने युग की उत्कृष्ट रचनाएँ हैं और उन समस्याओं का हल है जो द्रष्टा कवियों ने उस समय देखीं। परन्तु इतना निश्चित है कि उनमें जो चिनगारियाँ हैं वे आज भी हमारे कुछ देर की शान्ति का कारण अवश्य हैं। प्रगतिवाद भी एक नया प्रयोग है। हम समझते हैं प्रगतिवादी साहित्य द्वारा राष्ट्र अपना ध्येय प्राप्त कर लेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं, प्रगतिवाद भी एक बीमारी को दूर करने का उपाय है; पूँजीवाद, साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक घोर प्रतिक्रिया है जिसमें न पुराने संस्कार हैं, न रूढ़ियाँ, न क्लासिसिज्म की नींव, न छायावाद का आवरण। वह एक सर्वथा नवीन मौलिक रूप है। प्रगतिवाद ने राजा, प्रजा, वर्ण, आश्रम, धर्म-अधर्म, संस्कार, शिक्षा सभी को तिलांजलि देकर नए ढंग से, नए हथियारों द्वारा समाज के निर्माण क्या, जीवन की दृष्टि को समझने का प्रयत्न किया है। जिसमें मानवता के अतिरिक्त शायद कुछ न होगा, न राजा, न प्रजा, न पूँजी, न आर्थिक शोषण,

न शोषित न शोषक। परन्तु देखना यह है प्रगतिवाद आज जिस युग की कल्पना कर रहा है वह व्यावहारिक कितना है? सम्भव है हमारे पुराने संस्कार हमें वैसा देखने की क्षमता न प्रदान कर सकते हों। इतने पर भी हमें मानना चाहिये कि हम अमूल्य मणि पाने की आशा में जो पहाड़ पर पहाड़ खोदते जा रहे हैं वह कहीं बन्द गोभी की तरह भीतर बाहर से एक-सी निकलने पर भी हमारे प्रयोगों की सच्चाई को, मनुष्य के प्रयत्नों की पराकाष्ठा को, वास्तविकता की ओर ले जाने में सफल हो सकेगी। वहीं सत्य, शिव, सुन्दर बनकर हमारे जीवन की तह समाप्त हो सकेगी। मैंने एक जगह कहा है—

चढ़ो-चढ़ा थक गये चढ़ो फिर जीवन भूधर चढ़ना होगा,
सोकर जगकर रोकर हँसकर चढ़ना होगा बढ़ना होगा।
पीछे तो केवल स्मृति-सा है लील चुका भूत मुसाफिर,
आगे कुहरा चीर सको तो बना-बना पथ बढ़ो मुसाफिर।

प्रगतिवाद कविता में बौद्धिकता को यथार्थ की परिणति में मानता है। मानव भावनाओं के समीकरण की समस्या आज भी हमारे सामने वैसी है जैसी कि किसी भी युग में मानी जा सकती है। जैसे प्रत्येक युग एक दूसरे से भिन्न हैं वैसे ही उनकी समस्याएँ भी भिन्न हैं। जब मनुष्य primitive age में था तब संसार की प्रकृति की विशेषताओं को समझने की उसकी क्षमता बौद्धिक न होकर हार्दिक थी। उसने विस्मित होकर संसार को देखा उसके सौन्दर्य, उसके वैचित्र्य, उसके रौद्ररूप, उसकी संहार-शीलता के सामने सिर झुका दिया। उसके हृदय में रसों की उत्पत्ति हुई। हर्ष, शोक, क्रोध, भय, शान्ति आदि भावनाओं के द्वारा उसने विश्व को देखा। उसने इन सबके भीतर मूल प्रेरणा को जानने का यत्न किया। डर से उससे प्रार्थना की और उसी डर के बाद कालान्तर में जब मनुष्य ने अपनी प्रार्थनाओं को कभी-कभी पूर्ण होते देखा तो कल्पना का उदय हुआ और सौन्दर्य विस्मय विकसित होकर अनुभूति को जाग्रत करने लगे। वह युग हार्दिक संघर्ष का था। वीरता जो हृदय का एक भाव है, मनुष्य की ऊँचाई, श्रेष्ठता का प्रमाण मानी जाने लगी। किन्तु समय के मनुष्य को गिरोह में बाँध देने पर स्वभावगत शक्ति विकास के साथ जो गाँव और कसबे और फिर नगरों के रूप में मनुष्यों का विस्तार हुआ तो उनके नित्य जीवन ने मनुष्य की बौद्धिक शक्ति को विकसित किया। गुफा से झोंपड़े और उनसे घर और फिर महलों के निर्माण ने आध्यत्मिकता की ओर भी संशयशील बना दिया। मैं समझता हूँ अपेक्षाकृत पाप नाम की चीज की उत्पत्ति मनुष्य के मस्तिष्क की है, उसकी विवेचना ने उसे उद्‌बुद्ध किया है। अनास्था, संशय, तर्क-वितर्क, संकल्प-विकल्प, छान-बीन आदि की प्रवृत्ति मनुष्य के मस्तिष्कगत चेतन तन्तुओं का परिणाम है। मालूम होता है साहित्य भी इसी क्रम से विकसित हुआ है। आज के युग का प्रगतिवाद मनुष्य की परस्पर टकरानेवाली बौद्धिक विषम चिनगारियों का परिणाम है। उसमें यथार्थता का नग्न प्रदर्शन है, श्लील और अश्लील दोनों का। वह केवल इसलिए कि मनुष्य को, समाज को उसका रूप दिखाया जा सके। और जागृति के साथ उसमें उठने की क्षमता प्राप्त हो।

तोड़-फोड़ का साहित्य, मैं नहीं मानता, किसी तरह भी प्रगतिवाद का साहित्य कहा जा सकता है। वस्तुतः तोड़ने के बाद निर्माण में उसकी पूर्णता है। यदि वह ठीक ढङ्ग से हो! आज प्रगतिवाद की कविता जिन कवियों की व्यक्तिसाधना तीक्ष्ण एवं वास्तविक दृष्टि से पनप रही हैं उनमें मुख्य हैं निराला, पन्त, दिनकर अञ्चल, नरेन्द्र, भगवतीचरण।

मुझे तो ऐसा देख पड़ता है प्रगतिवाद एक प्रतिक्रिया है, एक घोर प्रतिक्रिया जिसमें एक वर्ग का सर्वनाश और दूसरे का हित निहित है। यह ठीक है वर्गवाद के नाश के लिए, वैसी प्रतिक्रिया ग्राह्य है। परन्तु इतना तो अवश्य मानना पड़ेगा कि न तो वह कविता का, साहित्य का वास्तविक रूप है न स्वयं कविता या साहित्य की परम परितृप्ति। इतना न होते हुए भी वह आज के युग को पहचानने, देखने का, पुराने संस्कारों को नाश करने का एक (Subjective) साधन होगा, जिसके बिना मनुष्य का मनुष्य बनना कठिन है। परन्तु प्रगतिवाद पथ-निर्देश न होकर लक्ष्य कितनी देर तक रह सकेगा, यह कहना कठिन है। मैं तो इतना मानता हूँ कि यह एक स्टेज है, एक सीढ़ी है मनुष्यता की ओर पहुँचने की। ऐसी अवस्था में जो प्रगतिवाद नहीं है वह कुछ नहीं है यह समझना महान भूल होगी। गणित में कल्पना करने की जो प्रक्रिया है उसी की तरह हमारे जीवन के लम्बे व्यवधानों में पूर्णता तक पहुँचने की मंजिले हैं जिनके द्वारा वास्तविक उद्देश्य तक किसी दिन जा पहुँचेंगें, ऐसी हमारे साहित्य की कामना है। परन्तु प्रगतिवाद से जीवन का दृष्टिकोण व्यापक, वास्तविक, स्थायी हो सकेगा ऐसा मेरा विश्वास है।

★

अखिल-भारतीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, अबोहर के अवसर पर संयोजित कवि-सम्मेलन में स्वागताध्यक्ष पद से लिखित भाषण।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

●

[वागीश्वरप्रसाद शास्त्री]

दर्शन का जीवन से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। जीवन का लक्ष्य निश्चित करने के लिए एक उचित दृष्टिकोण की आवश्यकता है और यह उचित दृष्टिकोण हम दर्शनशास्त्र द्वारा ही ग्रहण कर सकते हैं। जब तक हमारा दृष्टिकोण ठीक नहीं हम जीवन को सुचारु रूप से चला ही कैसे सकते हैं? उचित दृष्टिकोण के लिए दर्शन का समुचित ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है। पर दर्शन क्या है, इस पर विद्वानों में बहुत अधिक मतभेद हैं। कुछ लोगों के अनुसार तो दर्शन सोचने की क्रिया तक ही सीमित है, पर दूसरे विचारवालों का ऐसा मत है कि दर्शन केवल मानसिक व्यायाम तक ही सीमित नहीं रहता वरन् उसका समावेश जगत के वास्तविक कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत भी है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी इसी मत के समर्थक हैं। उनका कहना है कि हम अपने जीवन के दर्शन को केवल विचारों की दुनिया पर ही नहीं रख सकते वरन् उसको वास्तविक जगत और उसकी क्रियाओं पर भी निर्भर रहना होगा। इसी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का संक्षेप रूप से वर्णन करना प्रस्तुत लेखक का उद्देश्य है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को अंग्रेजी में डाइलेक्टिक मैटीरियलिज्म कहते हैं। डाइलेक्टिक की उत्पत्ति यूनानी भाषा के डाइलिगो से हुई है जिसका अर्थ होता है वाद-विवाद करना या शास्त्रार्थ करना। प्राचीन काल में द्वन्द्वात्मक या डाइलेक्टिक एक कला थी जिसके द्वारा प्रतिवादी के सिद्धान्तों में विरोधाभाव प्रदर्शित करके, उसे दूरकर सत्य परिणाम पर पहुँचते थे। प्राचीन काल में ऐसे बहुत से दार्शनिक थे जिनका यह विश्वास था कि प्रतिवादी के विचारों में विरोधाभाव दिखलाना और पारस्परिक मतों का संघर्ष ही सत्यता पर पहुँचने का सर्वोत्तम साधन है। विचार की इस द्वन्द्वात्मक-प्रणाली का आगे चलकर प्राकृतिक दृश्यों के अध्ययन करने में उपयोग किया गया। द्वन्द्वात्मक-प्रणाली के अनुसार जगत निरन्तर गतिमान है। प्रकृति की पारस्परिक विरोधी शक्तियों की एक दूसरे पर जो प्रतिक्रिया होती है और प्रकृति में जो विरोधाभाव होता है उसी के परिणाम-स्वरूप उसमें (प्रकृति में) विकास होता है।

द्वन्द्वात्मक-प्रणाली को पूर्ण रूप से प्रकाश में लाने का श्रेय योरप के विख्यात दार्शनिक हीगल को है। मार्क्स और एँगिल्स ने भी अपनी द्वन्द्वात्मक-प्रणाली का वर्णन करते हुए यह माना है कि हीगल ने ही द्वन्द्वात्मक के मुख्य अङ्गों का निर्माण किया, पर

इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि मार्क्स और एङ्गिल्स तथा हीगल की द्वन्द्वात्मक-प्रणाली एक ही है। वस्तुत: मार्क्स और एंगिल्स ने हीगल की द्वन्द्वात्मक-प्रणाली के आदर्शवादी भाग को त्याग दिया और विवेकात्मक भाग को ग्रहण करके उसे आधुनिक वैज्ञानिक रूप में विकसित किया। मार्क्स ने स्वयं कहा है 'मेरी द्वन्द्वात्मक-प्रणाली हीगल की द्वन्द्वात्मक-प्रणाली से न केवल मौलिक रूप से भिन्न है वरन् ठीक बिल्कुल इसके विपरीत है। हीगल के लिए सोचने की क्रिया जिसे वह 'विचार' (Idea) के नाम से कहता है एक स्वतन्त्र सत्ता है और इसी से वास्तविक जगत की उत्पत्ति होती है। वास्तविक जगत तो विचार का केवल बाह्य और दृश्य रूप है। इसके विपरीत मेरा ऐसा मत है कि विचार (Idea) मनुष्य के मन द्वारा प्रतिबिम्बित और विचार रूप में परिणत किये हुए भौतिक जगत के अतिरिक्त कुछ भी नहीं।'

मार्क्स की द्वन्द्वात्मक-प्रणाली भौतिकवादी है वह आदर्शवाद के बिल्कुल विपरीत है। मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक-प्रणाली के मुख्य लक्षण ये हैं.

(अ) द्वन्द्वात्मक-प्रणाली प्रकृति को दैवयोग से हुई ऐसी वस्तुओं और दृश्यों का समूह नहीं समझता जो एक दूसरे से भिन्न, असम्बन्धित और स्वतन्त्र हैं, बल्कि उसके अनुसार तो प्रकृति उन वस्तुओं और दृश्यों से मिलकर बनी है जो एक दूसरे से मौलिक रूप से सम्बन्धित हैं, एक दूसरे पर निर्भर हैं, और एक दूसरे पर प्रभाव डालते हैं। द्वन्द्वात्मक-प्रणाली के अनुसार किसी भी दृश्य को उसके समीपवर्ती दृश्यों से अलग करके नहीं समझ सकते अत: जब भी हम किसी दृश्य को उसके निकटवर्ती दृश्यों और वातावरण से अलग करके अध्ययन करने का प्रयत्न करते हैं तो हमारे लिए वह अर्थ-हीन हो जाता है। इसके विपरीत यदि हम किसी दृश्य को उसके आस-पास के दृश्यों और वातावरण से सम्बन्धित रूप में देखते हैं तो हम भलीभाँति उसका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

(ब) द्वन्द्वात्मक-प्रणाली का यह भी दावा है कि प्रकृति स्थिर और अचल नहीं बल्कि उसमें निरन्तर गति, परिवर्तन और विकास हुआ करता है जहाँ कुछ नवीन वस्तुओं का उत्थान और विकास होता है और कुछ पतन तथा अधोगति की दशा में होती हैं। अत: द्वन्द्वात्मक-प्रणाली को केवल इसी बात की आवश्यकता नहीं रहती कि वह दृश्यों को परस्पर सम्बन्धित और आश्रित के रूप में अध्ययन करे वरन उसे यह भी जरूरत होती है कि वह दृश्यों को गति, परिवर्तन और विकास की दशा में देखे। दृश्यों पर विचार करने के लिए इस बात का ध्यान रखना भी आवश्यक है कि कुछ का जन्म हो रहा है और कुछ का नाश। द्वन्द्वात्मक-प्रणाली उस वस्तु को, जो किसी दी हुई अवस्था में दीर्घजीवी प्रतीत होती हो पर आगे चल मृत्यु के पथ पर हो, प्रधानता नहीं देती, बल्कि उसको जिसका उत्थान और विकास हो रहा हो, चाहे वह किसी दी हुई अवस्था में दीर्घजीवी न प्रतीत होती हो। इसका कारण यह है कि द्वन्द्वात्मक उसी को अजेय समझती है जिसका उत्थान और विकास हो रहा हो। एंगिल्स कहता है 'न्यूनतम वस्तु से लेकर दीर्घतम वस्तु तक, बालू के कण से लेकर ब्रह्माण्ड तक सम्पूर्ण जगत में कुछ नवीन रूप हो रहा है और

कुछ पुराना नष्ट हो रहा है। सारी प्रकृति गति-शील और परिवर्तन-शील है।' (एंगिल्स-Dialectic of Nature) एंगिल्स आगे चलकर कहता है 'अतः द्वन्द्वात्मक-प्रणाली वस्तु और उसकी दृश्य मूर्तियों को परस्पर सम्बन्धित, शृङ्खलित; गतिशील तथा ऐसी अवस्था में—जब कि उनमें कुछ का नाश हो रहा हो और कुछ की उत्पत्ति हो रही हो—अध्ययन करता है।'

(स) द्वन्द्वात्मक-प्रणाली इस बात को नहीं मानती कि विकास की क्रिया सदा एक दिशा में सीधे नियम से होती हैं। उसका कहना है कि शनैः-शनैः मात्रा के परिवर्तन से एक ऐसी अवस्था पहुँच जाती है कि वस्तु के रूप में मौलिक और स्पष्ट परिवर्तन हो जाता है, उसका रूप दूसरा हो जाता है और उसके गुण भी दूसरे हो जाते हैं। इस विकास में गुणों का परिवर्तन शीघ्रता से एकाएक दिखलाई पड़ता है इसमें वस्तु एक अवस्था से कूद कर दूसरा रूप धारण कर लेती है, पर यह परिवर्तन दैवयोग से नहीं होता, बल्कि यह उस अदृश्य और शनैः शनैः गुणों के परिवर्तन का सचित फल है जो मात्रा के परिवर्तन से गुणों में परिवर्तन हुआ है।

जैसा कि पहले कह चुके हैं विकास की क्रिया तो सदा एक दिशा में नहीं होती है इसके अतिरिक्त विकास की गति में गत-पुरानी घटनाओं की पुनरावृत्ति भी नहीं होती। विकास सर्वांगी होता है, विकास में पुराने गुणवाली स्थिति नवीन गुणवाली स्थिति में बदल जाती है और विकास में साधारण से मिश्रित अवस्था उत्पन्न हो जाती है। एंगिल्स कहता है 'प्रकृति से द्वन्द्वात्मक की सत्यता पूर्णतया प्रगट हो जाती है। आधुनिक प्राकृतिक विज्ञान ने प्रतिदिन अधिकाधिक होनेवाले ऐसे बहुत से प्रमाण एकत्रित किये हैं जिनसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि प्रकृति की क्रिया (गति) द्वन्द्वात्मक है। प्राकृतिक-विज्ञान ने इस बात के भी प्रमाण दिये हैं कि प्रकृति की गति, सदा एक दिशा में नहीं होती। यहाँ पर चार्ल्स डार्विन का उल्लेख करना आवश्यक है। यही विद्वान है जिसने वर्तमान प्राणी जगत के पौधे, वृक्ष, जीव-जन्तुओं, और मनुष्यों को लाखों-करोड़ों वर्ष की विकास-क्रिया का परिणाम सिद्ध कर अलौकिकतावादी कल्पना पर जबरदस्त धक्का लगाया है।

इस बात को दिखाते हुए कि द्वन्द्वात्मक विकास में मात्रा के परिवर्तन होने से गुणों में परिवर्तन होता है एंगिल्स लिखता है 'भौतिकशास्त्र में हर एक परिवर्तन मात्रा का गुणों में परिणत होने की क्रिया का नाम है। उदाहरण स्वरूप प्रारम्भ में गर्म या ठण्डा करने से पानी की द्रवावस्था में कोई अन्तर नहीं पड़ता पर द्रवरूप पानी का तापक्रम अधिक या न्यून होते-होते एक ऐसी स्थिति आ जाती है जब उसका रूप बिल्कुल बदल जाता है। एक दशा में वह भाप और दूसरी में बर्फ बन जाता है। प्लैटिनम के तार को लाल होने में विद्युतधारा की एक निश्चित इकाई की आवश्यकता होती है। जहाँ तक हमें निश्चित तापक्रम पाने के उपयुक्त साधन प्राप्त हैं यह बात भलीभाँति स्पष्ट है, हर एक धातु एक निश्चित तापक्रम पर जमता है और निश्चित तापक्रम पर वाष्प-रूप धारण करता है। प्रत्येक गैस की एक ऐसी अवस्था होती है जिसमें शीतल करने से वह द्रवरूप में परिणत

हो जाती है। जिन्हें भौतिक-शास्त्र में कानस्टैन्टस * (constants) कहते हैं, वे बहुत-सी घटनाओं के उन नाडल (nobal) बिन्दु के नाम हैं जिस पर, मात्रा परिवर्तन की निश्चित वृद्धि या कमी करने से दी हुई वस्तु के गुणों में परिवर्तन हो जाता है और जिस पर आखिर में मात्रा गुणों में परिणत हो जाती है।'

रसायन-शास्त्र पर विचार करते हुए एंगिल्स कहता है कि 'रसायन-शास्त्र को गुण परिवर्तन का ही जो मात्रा के परिवर्तन से, वस्तुओं में होता है, विज्ञान कहा जा सकता है। यह हीगल को पहले ही भली-भाँति विदित था। आक्सीजन को ही ले लीजिये, यदि जल बनाने में इसके २ के स्थान पर ३ परमाणु लिये जायँ तो जो रूप होगा वह जल से भिन्न होगा। ऐसे ही उस भिन्न-भिन्न अनुपात से जिसमें आक्सीजन को नाइट्रोजन या गन्धक से मिलायेंगे तो भिन्न-भिन्न गुणवाले पदार्थ बनेंगे।'

(द) द्वन्द्वात्मक-प्रणाली का यह भी कहना है कि सब वस्तुओं और दृश्यों में आन्तरिक विरोध समवाय सम्बन्ध से है। उन सबकी (वस्तुओं और दृश्यों की) अस्ति और नास्ति दशा तथा-भूत और वर्तमान का रूप रहती है। उन सबमें कुछ न कुछ नष्ट हुआ करता है और कुछ न कुछ नवीन उत्पन्न हुआ करता है। वस्तु और दृश्यों के अन्तर्गत जो दो परस्पर-विरोधी शक्तियाँ—एक नवीन रूप लाने की, एक नाश करने की—काम करती हैं, उनमें आपस में संघर्ष होता है। इसी संघर्ष से वस्तु के गुणों में परिवर्तन होता है, वस्तु का विकास होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विकास-क्रिया वस्तुओं और दृश्यों के आन्तरिक विरोधी—उनके अन्तर्गत विरोधी संघर्ष के रूप में होती है। इसमें ऐसा कभी नहीं होता कि एक ही प्रकार के दृश्य पुनः उपस्थित होते जाँय। लेनिन ने कहा है 'वस्तुओं के मूल में पारस्परिक विरोधों के अध्ययन करने के तरीके को ही ठीक अर्थ में द्वन्द्वात्मक-प्रणाली कहते हैं।' लेनिन के अनुसार परस्पर-विरोधी शक्तियों का संघर्ष ही विकास का कारण है।

यही मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक-प्रणाली के मुख्य लक्षण हैं।

अब यह समझना सरल है कि द्वन्द्वात्मक-प्रणाली के सिद्धान्तों का, सामाजिक जीवन तथा समाज के इतिहास के अध्ययन में, प्रयोग करना कितना आवश्यक है, तथा प्रगतिशील शक्तियों के वास्तविक कार्य के लिए वे (द्वन्द्वात्मक-प्रणाली के सिद्धान्त) कितने महत्त्व के हैं। यदि संसार में कोई दृश्य अकेला नहीं है, यदि सब दृश्य परस्पर सम्बन्धित और एक दूसरे पर निर्भर हैं तो यह स्पष्ट है कि इतिहास में हरएक सामाजिक-प्रणाली का अध्ययन 'अनादि न्याय' या किसी 'पूर्व निश्चित विचार' को दृष्टिकोण में रखकर, जैसा कि बहुत से इतिहासकार करते हैं, नहीं किया जा सकता। उसका अध्ययन करने में यह आवश्यक है कि उन दशाओं और उस सामाजिक आन्दोलन पर जिससे उक्त समाज का जन्म हुआ है, विचार किया जाय। वर्तमान दशा में दासता की प्रथा की कल्पना करना अर्थ-हीन, अप्राकृतिक और मूर्खतापूर्ण होगी। पर उस समय जब कि

* ऐसी स्थिति जिसमें वस्तु अपनी उसी स्थिति में रहती है जिसमें पहले थी और परिवर्तन नहीं होता।

प्रारम्भिक समष्टिवादी-प्रणाली पतनोन्मुख हो रही हो दासता की प्रथा स्वाभाविक है, क्योंकि उसमें समष्टिवादी-प्रणाली से उन्नत अवस्था के बीज निहित होते हैं। प्रत्येक वस्तु समय, स्थान और परिस्थितियों पर निर्भर है। अतः यह स्पष्ट है बिना उपरोक्त दृष्टिकोण के सामाजिक दृश्यों और इतिहास-शास्त्र के विकास का अध्ययन असम्भव है। क्योंकि यही दृष्टिकोण है जो इतिहास-शास्त्र को असम्बन्धित छिटपुट घटनाओं का बेतुका ढेर होने से रक्षा करता है। पुनः यदि संसार निरन्तर गतिशील और विकासावस्था में है, यदि पुराने का नाश तथा नवीनों का उत्थान ही विकास का नियम है तो यह स्पष्ट है कि कोई भी सामाजिक-प्रणाली अपरिवर्तनीय नहीं हो सकती। इसलिए व्यक्तिगत सम्पत्ति का नियम और पूँजीपतियों तथा भूपतियों द्वारा श्रमिकों तथा कृषकों के शोषण की प्रणाली भी अमर नहीं। और जब ये अमर नहीं तो एक न एक दिन इनका परिवर्तन होना आवश्यक है। इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुँचे कि वर्तमान पूँजीवादी सामाजिक-प्रणाली के स्थान पर दूसरी उन्नत सामाजिक-प्रणाली का आगमन वैसे ही अनिवार्य है जैसे एक समय सामन्तशाही के स्थान पर पूँजीवाद का आगमन अनिवार्य था। इस प्रकार हमने देखा कि मार्क्सवादी द्वान्द्वात्मक-प्रणाली का समाज के अध्ययन में कैसे उपयोग कर सकते हैं।

जहाँ तक मार्क्सवादी दार्शनिक भौतिकवाद का प्रश्न है वह दार्शनिक आदर्शवाद के बिलकुल विपरीत है। मार्क्सवादी दार्शनिक भौतिकवाद के मुख्य लक्षण ये हैं।

(अ) आदर्शवाद के, जो कि संसार को एक 'सर्वशक्तिमान' या 'सार्वभौमिक आत्मा' या 'ज्ञान' का एक रूप मानता है, विरुद्ध मार्क्स के दार्शनिक भौतिकवाद का यह दावा है कि संसार स्वभावतः भौतिक है। संसार के दृश्य गतिशील पदार्थ के भिन्न-भिन्न रूप हैं। दृश्यों का परस्पर सम्बन्धित और निर्भर होना, जैसा कि द्वन्द्वात्मक-प्रणाली का मत है, गतिशील पदार्थ के विकास का कारण है। संसार का विकास पदार्थ की गति के नियम के अनुसार होता है उसे किसी प्रकार की 'सार्वभौमिक आत्मा' की आवश्यकता नहीं होती। एङ्गिल्स ने कहा है 'जगत का भौतिक दृष्टिकोण बिना किसी संरक्षण के उसे ज्यों का त्यों देखना है।'

भौतिकवाद का प्रथम दार्शनिक हेरक्टलिस हुआ है, इसका कहना है कि 'संसार किसी ईश्वर या मनुष्य की कृति नहीं, बल्कि वह गतिशील पदार्थ की ऐसी जीवित लौ है और रहेगी जो अंशतः उत्थान और अंशतः पतन के पथ पर है।' लेनिन ने उक्त दार्शनिक की समीक्षा करते हुए लिखा है कि 'यह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के प्रारम्भिक रूप की सुवर्णित अभिव्यंजना है।'

(ब) आदर्शवाद के अनुसार तो केवल हमारे मन का अस्तित्व है। भौतिक जगत और प्रकृति का अस्तित्व तो केवल हमारे मन, इन्द्रियों और विचारों में है। इसके विपरीत भौतिकवादी दर्शन का दावा है कि प्रकृति और पदार्थ (Matter) हमारे मन से परे स्वतन्त्र सत्ता और वाह्य सत्य है। मार्क्स के भौतिकवाद का यह भी मत है कि पदार्थ ही प्रधान है क्योंकि यही विचार, मन और ज्ञान का द्वार (source) है। मन गौण, अ-प्रधान

है, क्योंकि वह बाह्य जगत् का प्रतिबिम्ब है। विचार का जन्म पदार्थ से, जो कि उच्चतम पूर्णता पर मस्तिष्क के रूप में पहुँच गया है, हुआ है। मस्तिष्क विचार का साधन है और विचार को पदार्थ से बिना गम्भीर ग़लती किये हुए नहीं अलग कर सकते। एंगिल्स कहता है कि मन और पदार्थ तथा प्रकृति और आत्मा के बीच में क्या सम्बन्ध है, यह दर्शनशास्त्र का एक स्थायी प्रश्न रहा है। इस प्रश्न के उत्तर पर विभिन्न दार्शनिक दो दलों में विभक्त हो गये हैं। एक तो उन लोगों का दल जो आत्मा को प्रकृति के विरुद्ध प्रधान मानते हैं। इस दलवालों को आदर्शवादी कहते हैं। दूसरे उन लोगों का दल जो प्रकृति को प्रधान मानते हैं। ये भौतिकवादी कहलाये। भौतिकवाद की विभिन्न विचारधाराओं का इन्होंने ग्रहण किया।' एंगिल्स ने आगे चल कर लिखा है कि 'भौतिक, इन्द्रिय-गोचर जगत ही केवल यथार्थ और सत्य है। हमारा ज्ञान और विचार-क्रिया इन्द्रियों से कितना भी परे प्रतीत हो, पर वे भौतिक शरीर के अवयव मस्तिष्क से ही पैदा हुए हैं। पदार्थ मन से नहीं, बल्कि मन ही पदार्थ की उच्चतम उत्पत्ति है।

पदार्थ और विचार के सम्बन्ध के प्रश्न पर मार्क्स कहता है 'पदार्थ से विचार को अलग करना असम्भव है क्योंकि पदार्थ से ही सोचते हैं, पदार्थ ही भिन्न-भिन्न प्रकार के रूप धारण करता है।' मार्क्स के भौतिकवादी दर्शन का वर्णन करते हुए लेनिन ने लिखा है 'सामान्य-रूप में भौतिकवाद पदार्थ को अनुभव से परे स्वतन्त्र मानता है उसके अनुसार ज्ञान केवल वाह्य सत्ता का प्रतिबिम्ब है।' लेनिन ने आगे चलकर कहा है 'पदार्थ हमारी इन्द्रियों पर प्रतिक्रिया करता है और कम्पन उत्पन्न करता है। पदार्थ, प्रकृति वाह्य सत्ता और भौतिक-जगत प्रधान है, तथा मन, ज्ञान, कम्पन गौण है...संसार इस बात का चित्र है कि किस प्रकार पदार्थ की गति होती है और किस प्रकार वह सोचता है।...मस्तिष्क विचार का साधन है।'

(स) आदर्शवाद संसार और उसके नियमों का ज्ञान प्राप्त करना असम्भव समझता है। उसके अनुसार हमारा ज्ञान विश्वसनीय नहीं माना जा सकता। वह कहता है कि जगत का ज्ञान विज्ञान द्वारा कभी नहीं प्राप्त कर सकते हैं। इसके विपरीत मार्क्स के दार्शनिक भौतिकवाद का मत है कि संसार और उसके नियमों का ज्ञान पूर्ण रूप से प्राप्त किया जा सकता है। अनुभव और व्यवहार द्वारा निरीक्षण किये हुए संसार और उसके नियमों का ज्ञान विश्वसनीय है। मार्क्स के अनुसार ऐसी कोई बात नहीं है जिसका ज्ञान हम न प्राप्त कर सकें। वे वस्तुएँ और दृश्य जो हमें ज्ञेय नहीं हैं भविष्य में विज्ञान और व्यावहारिक जानकारी द्वारा हमारी समझ में आ जायँगी।

कान्ट तथा दूसरे आदर्शवादी दार्शनिकों के इस निबन्ध को जगत अज्ञेय है और वस्तुएँ अपने आप हैं जिन्हें हम जान नहीं सकते, आलोचना करते हुए तथा इस विख्यात भौतिकवादी निबन्ध का, जिसके अनुसार हमारा ज्ञान प्रमाणनीय और विश्वस्त है, समर्थन करते हुए एंगिल्स लिखता है कि 'इसका तथा दूसरे आदर्शवादी दर्शनों का खण्डन अनुभव और उद्योग (experiment and industry) द्वारा अच्छी भाँति किया जा सकता है।

प्राकृतिक क्रिया के विषय में हमारी जो कल्पना है, यदि हम, उसका अस्तित्व प्रगट कर और उसको अपने कार्य में प्रयोग कर, उसकी सत्यता सिद्ध करने में समर्थ हो जाएँ, तो कान्ट के इस सिद्धान्त को कि वस्तुएँ अपने आप हैं, स्वत: समाप्त हो जायगी। जीव-जन्तुओं और पौदों से उत्पन्न रसायनिक पदार्थ तब तक 'वस्तुएँ अपने-आप के रूप में रहते-रहते तथा उक्त सिद्धान्त का समर्थन करते हैं जबतक कि प्राणी-सम्बन्धी रसायन-शास्त्र ने उनको एक के बाद दूसरे को उत्पन्न करना आरम्भ नहीं किया। इसके पश्चात वस्तुएँ अपने आप न होकर वस्तु हमारे लिए हो गई।' [अर्थात् कान्ट का यह सिद्धान्त कि वस्तुएँ अपने आप हुई हैं समाप्त हो गया और यह बात सिद्ध हो गई कि मनुष्य स्वयं वस्तुओं का निर्माण कर अपने लिए उपयोग कर सकता है] उदाहरण के तौर पर मैडर नामक पौदे को ठण्डा करने पर जो लाल पदार्थ होता है उसको उक्त पौदे (मैडर) से उत्पन्न करने का प्रयत्न नहीं करते, बल्कि उसे कोलतार से पैदा कर लेते हैं। 'सूर्य के चारों ओर पृथ्वी और सब गृह घूमते हैं यह सिद्धान्त ३०० वर्षों तक कल्पना मात्र रहा, गो कि इसके पक्ष में सैकड़ों हजारों गुना सम्भावना थी पर तो भी वह कल्पना ही रही। पर जब लेवरिन ने सौर्य-प्रणाली से उपस्थित की हुई प्रतिज्ञा द्वारा न केवल एक अविदित ग्रह की खोज की, बल्कि इस बात की भी गणना की कि नभमण्डल में उसका क्या स्थान है और गैल ने उस ग्रह का पूर्ण रूप से ज्ञान प्राप्त कर लिया तो यह सिद्धान्त कि सूर्य के चारों ओर सब तारे घूमते हैं सत्य सिद्ध हो गया।'

अब यह बात सरलता से समझ सकते हैं कि सामाजिक जीवन तथा समाज के इतिहास के अध्ययन के लिए दार्शनिक भौतिकवाद का प्रयोग करना कितना आवश्यक है। तथा प्रगतिशील शक्तियों के व्यावहारिक कार्य के लिए कितना उपयोगी है। यदि प्रकृति के दृश्यों का परस्पर सम्बन्ध तक निर्भर होना ही उसके (प्रकृति के) विकास का कारण है तो यह भी स्पष्ट है कि सामाजिक जीवन के दृश्यों का पारस्परिक सम्बन्ध और निर्भर रहना समाज के विकास का कारण है। अत: सामाजिक जीवन और समाज का इतिहास दैवयोग से उपस्थित हुई घटनाओं का ढेर नहीं, वरन नियमित सिद्धान्तों के अनुसार समाज के विकास का इतिहास है और समाज के इतिहास का अध्ययन एक विज्ञान है इसीलिए प्रगतिशील शक्तियों को अपने व्यावहारिक कार्य के लिए किसी विख्यात, अनिश्चित व्यक्तियों की शुभ इच्छाओं या 'विवेक' की आज्ञाओं अथवा 'सार्वभौमिक सदाचार' पर निर्भर न होना चाहिये, बल्कि सामाजिक विकास के इतिहास के नियमों और उनके अध्ययन पर। पुन: यदि प्रकृति और भौतिक जगत प्रधान है और मन तथा विचार गौण और पदार्थ (matter) से उत्पन्न हुए हैं; और भौतिक जगत मनुष्य के मन से स्वतन्त्र होकर वस्तुस्थिति की वास्तविकता का प्रतिनिधित्व करता है तो यह स्पष्ट है कि समाज का भौतिक जीवन ही यथार्थ वस्तुस्थिति और वास्तविक अस्तित्व का प्रतिबिम्ब है। अत: समाज के आध्यात्मिक ज्ञान का द्वार, सामाजिक विचारों का उद्भव स्थान, सिद्धान्त, राजनीतिक विचार-धारा

और राजनीतिक संस्थाओं का आधार समाज का भौतिक जीवन है। जैसा समाज का रूप होता है, जैसी उसकी भौतिक अवस्था होती है, उसी के अनुकूल उसके विचार, सिद्धान्त तथा राजनीतिक संगठन होते हैं। इस सम्बन्ध में मार्क्स ने कहा है कि, 'मनुष्य के ज्ञान से उसके अस्तित्त्व का पता नहीं चलता, बल्कि इसके विपरीत उसके सामाजिक अस्तित्त्व से ज्ञान का निर्णय होता है।' पर इससे यह परिणाम कदापि नहीं निकाला जा सकता कि सामाजिक विचार, सिद्धान्त, राजनीतिक संस्थाएँ और राजनीतिक दृष्टिकोणों का सामाजिक जीवन में कोई महत्त्व नहीं और न यही कि सामाजिक जीवन की भौतिक दशा के विकास पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। अभी तक सामाजिक विचार, सिद्धान्त, दृष्टिकोणों के संगठनों के आधार का विषय बताया गया है। यह दिखलाया गया है कि जहाँ तक उनके उद्भव का प्रश्न है समाज का सारा आध्यात्मिक जीवन उसके भौतिक जीवन की अवस्था का प्रतिबिम्ब है। पर जब सामाजिक विचारों, सिद्धान्तों, राजनीतिक संगठनों और दृष्टिकोणों के महत्त्व पर विचार किया जाता है, ऐतिहासिक भौतिकवाद* समाज के जीवन और उसके इतिहास में, उनका जो स्थान और अहमियत है उसे कभी अस्वीकार नहीं करता।

भिन्न-भिन्न प्रकार के सामाजिक सिद्धान्त होते हैं। बहुत-से ऐसे पुराने विचार होते हैं जिनका समय समाप्त हो गया और जो उन शक्तियों की स्वार्थसिद्धि करते हैं जिनका नाश अत्यन्त निकट है। उनका महत्त्व इस बात में है कि उनसे समाज की प्रगति और विकास में सुविधाएँ होती हैं। पुनः बहुत-से नवीन और प्रगतिशील विचार और सिद्धान्त होते हैं जो समाज की प्रगतिशील शक्तियों की स्वार्थसिद्धि करते हैं। उनका भी महत्त्व इस बात में है कि वे समाज की प्रगति और विकास में सहायक होते हैं, परन्तु उनका महत्त्व अधिक है क्योंकि वे तात्कालीन समाज के भौतिक जीवन के विकास की आवश्यकता को प्रतिबिम्बित करते हैं। नवीन सामाजिक विचारों का जन्म तभी होता है जब कि समाज के भौतिक जीवन के विकास में समाज के सामने नया कार्यक्रम उपस्थित हो गया हो, पर एक बार जब उनकी उत्पत्ति हो गई हो फिर वे एक प्रबलतम शक्ति हो जाते हैं। और यह शक्ति समाज के भौतिक जीवन के विकास से उपस्थित हुए कार्य की पूर्ति में बहुत बड़ी सहायक होती है—इस शक्ति से समाज की प्रगति में सुविधा होती है। यहीं पर नवीन विचार, सिद्धान्त तथा राजनीतिक विचार-धारा का भीमकाय संगठन करने तथा एक स्थिति से दूसरी स्थिति में परिणत करने का मूल्य स्पष्ट हो जाता है। नवीन विचारों और सिद्धान्तों का जन्म केवल इसीलिए होता है कि समाज के भौतिक जीवन के विकास से उपस्थित हुए कार्य की पूर्ति के लिए वे अत्यन्त आवश्यक हैं।

अब देखना यह है कि ऐतिहासिक भौतिकवाद के दृष्टिकोण से समाज की भौतिक जीवन की दशा का जो कि समाज के विचार, सिद्धान्त और राजनीतिक संस्थाओं का आधार है, क्या तात्पर्य है? और उसकी क्या-क्या विशेषताएँ तथा गुण हैं?

---

* जब हम द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को सामाजिक जीवन के अध्ययन में प्रयोग करते हैं तो ऐतिहासिक भौतिकवाद के नाम से कहा जाता है।

'समाज के भौतिक जीवन की दशा' के अन्तर्गत सबसे प्रथम जो दशा समाज को चारों ओर से घेरे हुए है आती है। भौगोलिक परिस्थितियाँ भी जो समाज के भौतिक जीवन की अत्यावश्यक प्रभावशाली दशाओं में है, इसके (समाज के भौतिक जीवन की दशा के) अन्तर्गत आती हैं। अब प्रश्न यह होता है कि क्या भौगोलिक परिस्थितियाँ सामाजिक-प्रणाली के गुणों और एक प्रणाली से दूसरी प्रणाली में परिणत होने को निर्णय करता है ? ऐतिहासिक भौतिकवाद इस प्रश्न का उत्तर नकार में देता है।

निसन्देह जैसा कि ऊपर कह आये हैं कि भौगोलिक परिस्थिति समाज के विकास में एक अति आवश्यक दशा है, वह समाज के विकास को प्रभावित करती है, उससे विकास में शीघ्रता या देरी करती है। पर इसका प्रभाव निर्णयात्मक नहीं है। समाज का परिवर्तन और विकास भौगोलिक परिस्थिति के परिवर्तन और विकास की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से होता है। योरप में तीन हजार वर्षों के भीतर तीन सामाजिक प्रणालियाँ—प्रारम्भिक समष्टिवाद, दास-प्रथा और सामन्तवाद की प्रणालियाँ—समाप्त हो गईं। योरप के पूर्वी-भाग सोवियत-प्रजातन्त्र संघ में चार सामाजिक प्रणालियाँ समाप्त हो गईं। पर इस लम्बे अरसे में भौगोलिक परिस्थितियों का या तो बिलकुल नहीं या बहुत थोड़ा परिवर्तन हुआ। और यह स्वाभाविक है। भौगोलिक परिस्थिति में परिवर्तन होने के लिए लाखों वर्षों की जरूरत है जब कि मानव-समाज-प्रणाली में परिवर्तन होने के लिए कुछ सैकड़े या हजार वर्ष की आवश्यकता है। इससे यह परिणाम निकला कि भौगोलिक परिस्थितियाँ सामाजिक विकास का मुख्य (प्रधान) कारण नहीं हो सकतीं, क्योंकि वे तो हजारों वर्ष तक नहीं बदलतीं और वह जो हजारों वर्ष तक नहीं बदली वह जो कुछ सौ वर्ष में परिवर्तित हो जाता है उसका कारण नहीं हो सकती। पुनः यह भी सन्देह-रहित है कि समाज के भौतिक जीवन की दशा के अन्तर्गत जनसंख्या का उत्थान और उसका घनत्व किसी न किसी श्रेणी तक अवश्य आता है क्योंकि यह मनुष्य समाज के भौतिक जीवन की दशा का आवश्यक अंग है। बिना निश्चित जनसंख्या के समाज का भौतिक जीवन नहीं हो सकता। तो फिर क्या जनसंख्या का उत्थान वह प्रधान शक्ति है जो मानव-समाज के रूप को निर्धारित करती है ? ऐतिहासिक भौतिकवाद इसका भी उत्तर नकार में देता है। यद्यपि जन-संख्या की वृद्धि समाज के विकास को प्रभावित करती है—उसमें (विकास में) सहायक होती है, पर यह समाज के विकास में प्रधान नहीं हो सकती और न समाज के विकास में ही इसका प्रभाव निर्णयात्मक माना जाता है। क्योंकि जन-संख्या की वृद्धि स्वयं ही इस प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ है। इसका कारण यह है कि एक दी हुई सामाजिक-प्रणाली का स्थान अमुक सामाजिक-प्रणाली ने लिया किसी दूसरी ने नहीं। प्रारम्भिक समष्टिवाद का स्थान दास-प्रथा ने और दास-प्रथा का स्थान सामन्तवाद ने तथा सामन्तवाद का स्थान पूँजीवादी-प्रणाली ने ग्रहण किया। यदि जन-संख्या की वृद्धि ही सामाजिक विकास में निर्णयात्मक होती तो अधिक जन-संख्या से अधिक उच्च समाज का जन्म होता पर हमें यह बात नहीं दिखाई पड़ती। उदाहरण के तौर पर चीन में संयुक्त-राज्य अमेरिका

की अपेक्षा जनसंख्या चारगुनी है, पर सामाजिक विकास के मामले में संयुक्त-राज्य अमेरिका चीन से आगे है। चीन में अर्द्ध सामन्तवादी-प्रणाली अब भी मौजूद है जब कि संयुक्त-राज्य अमेरिका बहुत पहले पूँजीवादी विकास के उच्चतम शिखर पर पहुँच गया है। बेल्जियम की जनसंख्या सोवियत् समाजवादी प्रजातन्त्र-संघ की जन-संख्या से क्षेत्रफल के अनुपात में बीस गुना है पर बेल्जियम सोवियत प्रजातन्त्र से एक ऐतिहासिक युग पीछे है। बेल्जियम में अब भी पूँजीवादी-प्रणाली है जब कि सोवियत् रूस ने अपने यहाँ पूँजीवाद को समाप्त कर सामाजवाद स्थापित किया है। इससे यह परिणाम निकला कि जनसंख्या का उत्थान समाज के विकास में न तो प्रधान शक्ति—वह शक्ति जो सामाजिक-प्रणाली तथा समाज के रूप का निर्णय करती है—है और न हो सकती है।

तो फिर समाज के भौतिक जीवन की दशा में कौन-सी प्रधान शक्ति है जो कि समाज के रूप तथा ढाँचे का निर्णय करता है। ऐतिहासिक भौतिकवाद के अनुसार मनुष्य के अस्तित्व के वास्ते जीवन के लिए जो आवश्यक साधन है उन्हीं को प्राप्त करने का तरीक़ा समाज के रूप तथा ढाँचे का निर्णय करता है। भौतिक पदार्थों—भोजन, वस्त्र, जूते, घर, ईन्धन और उत्पादन के औजार, जो कि जीवन और समाज के विकास के लिए अत्यावश्यक हैं, के उत्पादन के तरीके से समाज का पता चलता है। जीवित रहने के लिए लोगों को भोजन, वस्त्र, जूते, घर, ईन्धन तथा अन्य भौतिक वस्तुएँ मिलना चाहिये। इनको प्राप्त करने के लिए मनुष्य के पास उत्पादन के अस्त्र होना चाहिये। लोगों को इन औजारों का उपयोग करने में समर्थ होना चाहिए।

उत्पादन के औजार जिनसे भौतिक वस्तुओं का निर्माण करते हैं और वे जो उत्पादन के अस्त्रों का प्रयोग करते हैं तथा उत्पादन का अनुभव और श्रमशक्ति ये सब पदार्थ एक साथ समाज की उत्पादक-शक्तियों के अन्दर आते हैं। पर उत्पादक-शक्ति उत्पादन का—उत्पादन-प्रणाली का—केवल एक अङ्ग है। यह अङ्ग मनुष्य और वस्तुओं तथा प्राकृतिक शक्तियों के, जिन्हें वह भौतिक वस्तुओं के लिए प्रयोग करता है, बीच का पारस्परिक सम्बन्ध व्यक्त करता है। उत्पादन-प्रणाली का अन्य अङ्ग उत्पादन की क्रिया में मनुष्यों का पारस्परिक और उत्पादन के साथ सम्बन्ध है। मनुष्य एक दूसरे से मिलकर सामूहिक या सामाजिक रूप में प्रकृति से संघर्ष करके उसको भौतिक पदार्थों के उत्पादन के लिए प्रयोग करते हैं। अतः उत्पादन में मनुष्य किसी न किसी क्षेत्र में एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। यह सम्बन्ध उन लोगों में जो शोषण से मुक्त हैं सहयोग और पारस्परिक सहायता का है। और जो ऐसे नहीं हैं उनमें प्रभुत्त्व और आधीनता का है। उत्पादक-सम्बन्धों (productive relations) का गुण कुछ भी हो वे सदैव हर प्रणाली में समाज की उत्पादक शक्तियों के रूप में काम करते हैं। मार्क्स ने कहा है कि, 'मनुष्य न केवल प्रकृति से सम्पर्क रखते हैं, वरन् आपस में भी वे एक निश्चित तरीके से अपने कार्यों का विनिमय करके उत्पादन करते हैं। उत्पादन के लिए वे एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं और उसी के अन्तर्गत उनका कार्य सम्पादन होता है। उत्पादन या उत्पादन-प्रणाली के अन्तर्गत समाज की उत्पादक

शक्तियाँ और उत्पादन के मानव सम्बन्ध आते हैं। भौतिक पदार्थों के उत्पादन में उक्त दोनों पदार्थों का मेल है।'

उत्पादन के कई गुण हैं। उनमें एक यह भी है कि उत्पादन सदैव एक स्थिति में नहीं रहता, उसमें निरन्तर परिवर्तन और विकास हुआ करता है। जब उत्पादन-प्रणाली में परिवर्तन होता है तो समाज में भी परिवर्तन होता है। सामाजिक विचार, राजनीतिक दृष्टिकोण, राजनीतिक संगठन बदल जाते हैं। सारी सामाजिक-प्रणाली और राजनीतिक व्यवस्था का पुनर्निर्माण होता है। विकास की भिन्न-भिन्न अवस्था में लोग भिन्न-भिन्न उत्पादन-प्रणालियों का प्रयोग करते हैं। अथवा स्पष्ट रूप में यों कहें कि भिन्न-भिन्न प्रकार से जीवन व्यतीत करते हैं। प्रारम्भिक समष्टिवाद में एक प्रकार की उत्पादन-प्रणाली थी, दास-प्रथा में दूसरी और सामन्तशाही में तीसरी थी। इसी प्रकार मानव समाज-प्रणाली, मानव-आध्यात्मिक जीवन, विचार, तथा राजनीतिक संगठनों में परिवर्तन हुआ करता है।

जैसी उत्पादन-प्रणाली रहती है वैसा ही समाज, उसके विचार, सिद्धान्त और उसके राजनीतिक संगठन रहते हैं अथवा स्पष्ट रूप में यों कहें कि जिस प्रकार का जीवन मनुष्य व्यतीत करते हैं उसी के अनुसार उनके विचार होते हैं। समाज के विकास का इतिहास उत्पादन का तथा उत्पादक शक्तियों का और मनुष्य का उत्पादन से जो सम्बन्ध है, उसका इतिहास है। अतः सामाजिक विकास का इतिहास भौतिक वस्तुओं के उत्पादन या श्रम करनेवाली जनता का, जो उत्पादन में प्रधान शक्ति है और जो समाज के अस्तित्व के लिए आवश्यक भौतिक वस्तुओं की उत्पत्ति करती है, इतिहास कहा जा सकता है। पुनः यदि इतिहास-शास्त्र यथार्थ विज्ञान है तो सामाजिक विकास का इतिहास केवल राजाओं, सेनापतियों, विजेताओं तथा राज्य जीतने के कार्य तक सीमित नहीं रहता, वरन उसे प्रधानतः जनता के इतिहास–भौतिक वस्तुओं के उत्पादकों के इतिहास–को भी अध्ययन करना चाहिए। अतः किसी दिये हुए ऐतिहासिक युग में समाज के नियमों के अध्ययन की कुञ्जी का पता मनुष्य के विचार, मन या दृष्टिकोण में नहीं वरन समाज द्वारा व्यवहार में लाई हुई उस युग की उत्पादन-प्रणाली में लगाया जा सकता है। इसी कारण इतिहास-शास्त्र का मुख्य कार्य उत्पादन, उत्पादक शक्तियों के विकास, मनुष्यों से उत्पादन का जो सम्बन्ध है उसको और समाज के आर्थिक विकास के नियमों का अध्ययन करना है।

उत्पादन का दूसरा गुण यह है कि वह प्रथम अवस्था में उत्पादन के औज़ारों तथा उत्पादक शक्तियों के विकास और परिवर्तन के साथ विकसित और परिवर्तित हुआ करता है। अतः उत्पादन के सबसे अधिक क्रान्तिकारी और गतिशील पदार्थ उत्पादक शक्तियाँ हैं। पहले तो समाज की उत्पादक शक्तियों का परिवर्तन तथा विकास होता है और फिर इन परिवर्तनों पर निर्भर रहकर मनुष्यों का उत्पादन से जो सम्बन्ध है उसमें तथा आर्थिक सम्बन्ध में परिवर्तन होता है। पर इसका यह आशय कदापि नहीं कि उत्पादन का मनुष्यों के साथ का सम्बन्ध उत्पादक शक्तियों के विकास को प्रभावित ही नहीं करता। गोकि उसका (उत्पादन के सम्बन्ध का) विकास उत्पादक शक्तियों पर निर्भर है पर इन पर उसकी

क्रिया अवश्य होती है। यहाँ पर यह बात ध्यान देने की है उत्पादक शक्तियों के उत्थान के साथ उत्पादन-सम्बन्ध बहुत दिनों तक विरोध में नहीं रह सकता। क्योंकि उत्पादक शक्तियों का तब तक पूर्ण विकास होता है जब तक कि उत्पादन का सम्बन्ध उनके अनुकूल होता है। उत्पादन-प्रणाली में उत्पादन सम्बन्ध की उत्पादक शक्तियों के साथ जो अनुकूलता है उसमें विघ्न पड़ने से उत्पादन में सङ्कट उपस्थित होता है और उत्पादक शक्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। ऐसा उदाहरण जिसमें उत्पादन के सम्बन्ध के परिवर्तन के साथ उत्पादक शक्तियाँ नहीं बदलतीं, वरन् विरोधाभाव प्रगट करती हैं, पूँजीवादी देशों में जहाँ पर कि उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार है और जहाँ पर कि वे (उत्पादन के साधन) उत्पादक शक्तियों के सामाजिक लक्षणों से सम्बन्ध नहीं रख सकते—आर्थिक सङ्कट है। पुनः यही सम्बन्ध सामाजिक क्रान्ति जिसका उद्देश्य वर्तमान उत्पादक सम्बन्ध को नष्ट करके उत्पादक शक्तियों के अनुकूल नवीन सम्बन्ध स्थापित करना है, का आधार है। ऐसा उदाहरण, जिसमें उत्पादन का सम्बन्ध उत्पादन शक्तियों के अनुकूल है, सोवियत् प्रजा-तन्त्र-संघ का समाजवादी राष्ट्रीय आर्थिक सङ्गठन है। वहाँ पर उत्पादन के साधनों पर सामाजिक अधिकार है जो कि उत्पादन-प्रणाली के अनुकूल, सामाजिक लक्षणों के अनुकूल है। यही कारण है कि वहाँ पर न तो आर्थिक सङ्कट ही आता है और न उत्पादक शक्तियों का नाश ही किया जाता है। जब कि उत्पादक शक्तियों की व्यवस्था इस बात का उत्तर देती है कि मनुष्य उत्पादन के किन-किन औज़ारों से भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति करते हैं, उत्पादन सम्बन्ध की स्थिति इस बात का उत्तर देती है कि उत्पादन के साधनों पर किस का अधिकार हो—पूरे समाज का या ऐसे वर्ग का जो दूसरे वर्गों के शोषण के लिए उनका (उत्पादन के साधनों का) व्यवहार करता है। इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि इतिहास में समाज की उत्पादन शक्तियों के विकास और परिवर्तन के साथ उत्पादन के मानवीय सम्बन्ध या मनुष्य के आर्थिक सम्बन्ध का भी परिवर्तन और विकास होता है।

अब तक के इतिहास में पाँच प्रकार के उत्पादन सम्बन्ध—प्रारम्भिक समष्टि-वाद, दास-प्रथा, सामन्तशाही, पूँजीवाद और समाजवाद हुए हैं। ये सब अपने-अपने युग की उत्पादक शक्तियों पर निर्भर हैं जिसको हम इस छोटे-से लेख में दिखलाने में असमर्थ हैं। उत्पादन-सम्बन्ध के विषय में कार्ल मार्क्स ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'कैपिटल' में लिखा है कि, 'गोकि श्रम के साधनों* का प्रयोग तथा उनका निर्माण करना कुछ श्रेणी तक जीव-जन्तुओं की जाति में भी रहा है पर स्पष्ट रूप से यह मनुष्य का ही स्वभाव है। फ्रैंकलिन ने मनुष्य की परिभाषा यों की है कि वह औज़ार बनानेवाला जीव है। प्राचीन काल के औज़ारों के खण्ड समाज के नष्ट आर्थिक संगठन की खोज करने के लिए उतने ही आवश्यक व महत्त्वपूर्ण हैं जितना कि जानवरों की नष्ट की हुई जातियों का निर्णय करने के लिए उनकी हड्डियाँ। समाज के भिन्न-भिन्न आर्थिक संगठनों का पता इस तत्कालीन बनी हुई वस्तुओं से नहीं वरन् इस बात से कि वे कैसे और किन औज़ारों से बनाई जाती हैं, लग सकता है। श्रम के औज़ार न केवल श्रम की उस श्रेणी को, जहाँ तक मनुष्य जाति

* श्रम के साधनों से मार्क्स का तात्पर्य यहाँ पर उत्पादन के साधन से है।

पहुँच गई है, बतलाते हैं, बल्कि उन सामाजिक दशाओं को भी जिनके अन्तर्गत श्रम होता है, व्यक्त करते हैं।' मार्क्स ने अपने ग्रन्थ 'पावर्टी ऑव फिलासफ़ी' में भी लिखा है कि, 'सामाजिक सम्बन्ध और उत्पादन शक्तियों में अति घनिष्टता है। मनुष्य की जीविका प्राप्त करने की प्रणाली में परिवर्तन करने से उत्पादन-प्रणाली और मानवीय सामाजिक सम्बन्ध में भी परिवर्तन हो जाता है। हाथ का चरखा सामन्तशाही समाज को व्यक्त करता है और एञ्जिन की मशीन वर्तमान पूँजीवादी समाज को...।'

उत्पादन का तीसरा लक्षण यह है कि नवीन उत्पादक शक्तियों तथा नवीन उत्पादन-सम्बन्ध का जन्म पुरानी प्रणाली से अलग होकर—उसके नाश के बाद—नहीं होता वरन उसी पुरानी प्रणाली के अन्दर से होता है। उत्पादक शक्तियों तथा उत्पादन सम्बन्ध का यह जन्म मनुष्य के पूर्व-निश्चित तथा जागृत कार्य (conscious activity) का फल नहीं वरन यह स्वाभावतः और बिना पहले के जाने हुए होता है। मनुष्य एक या दूसरी उत्पादन प्रणाली में काम करता है। ज्योंही नवीन सन्तानें जीवन में प्रवेश होती हैं उन्हें पहले के लोगों के किये हुए कार्य के फल-स्वरूप नवीन उत्पादक शक्तियाँ और उत्पादन सम्बन्ध मिलते हैं। भौतिक पदार्थों के उत्पादन के लिए हर एक वस्तु पहले से तैयार रहती है। और उसी से वह नवीन वस्तुओं का निर्माण करता है। उत्पादन के औजारों—उत्पादन शक्तियों को एक या दूसरे तत्व—को उन्नत करने में लोग न तो यह जानते हैं और न समझने का ही प्रयत्न करते हैं कि इस प्रगति का क्या सामाजिक फल होगा। वे तो अपने दैनिक स्वार्थों को ही जैसे श्रम को हलका करना या अपने लिए अन्य सीधे प्रत्यक्ष स्वार्थ को ही देखते हैं। मार्क्स ने लिखा है कि 'सामाजिक उत्पादन में, जो मनुष्य करता है—या मनुष्य जीवन के लिए आवश्यक भौतिक वस्तुओं के उत्पादन में—वह लोगों का एक दूसरे से सम्बन्ध होता है जो अत्यावश्यक और मानव-इच्छा से स्वतन्त्र होता है। उत्पादन के सम्बन्ध अपनी भौतिक शक्तियों के विकास की दशा के अनुसार होते हैं।' पर इसका यह आशय कदापि नहीं है कि उत्पादन सम्बन्धों में परिवर्तन और पुराने सम्बन्धों से नये सम्बन्धों में परिणत होना बहुत सीधे-सादे तरीके से बिना किसी विरोध या अशान्ति के होता है। इसके विपरीत परिणत होने की इस क्रिया में पुराने उत्पादन-सम्बन्धों का क्रान्तिकारी नाश तथा नये सम्बन्धों की स्थापना होती है। एक निश्चित सीमा तक उत्पादक शक्तियों का विकास तथा उत्पादन सम्बन्ध में परिवर्तन स्वभावतः मनुष्य की इच्छा से स्वतन्त्र होकर होते हैं। पर यह तभी तक होता है जब तक कि नवीन प्रगतिशील उत्पादक शक्तियाँ पूर्ण रूप से परिपक्व नहीं हो जातीं। नवीन उत्पादक शक्तियों के परिपक्व होने के पश्चात् वर्तमान उत्पादन-सम्बन्ध को जारी रखनेवाले वर्ग प्रगति के मार्ग में एक रोड़ा हो जाते हैं जो कि नवीन वर्गों की चेतनक्रिया या क्रान्ति से दूर की जा सके। इस कार्य में नवीन सामाजिक विचार, नवीन राजनीतिक संस्थाओं और नवीन राजनीतिक शक्तियों से सहायता मिलती है। और इन्हीं सबसे (विचार, संस्थाएँ, शक्तियों आदि से) पुराने उत्पादन सम्बन्ध बलपूर्वक नष्ट कर दिये जाते हैं। नवीन उत्पादक शक्तियों और पुराने

उत्पादन के सम्बन्ध के संघर्ष तथा समाज की नवीन आर्थिक माँग से नवीन सामाजिक विचारों का जन्म होता है। नवीन विचार जनता के संगठन में सहायक होते हैं और संगठित जनता राजनीतिक शक्ति के रूप में पुराने उत्पादन सम्बन्ध को बलपूर्वक नष्ट करके नवीन उत्पादन सम्बन्ध स्थापित करती है। विकास की स्वाभाविक क्रिया के स्थान पर मनुष्य को एक निश्चित योजनानुसार काम करना पड़ता है। शान्तिप्रद तरीके के स्थान पर हिंसा होती है। और विकास के स्थान पर क्रान्ति होती है।

इस प्रकार हमने इस लेख में संक्षेप रूप से यह दिखलाया कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद क्या है। द्वन्द्वात्मक-प्रणाली की क्या-क्या विशेषताएँ हैं, मार्क्स के दार्शनिक भौतिकवाद और पहले के आदर्शवाद में क्या अन्तर है, तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को समाज के अध्ययन में कैसे प्रयोग कर सकते हैं। इस बात पर भी विचार किया गया है कि समाज की नींव किस पर है और उत्पादन के क्या लक्षण हैं।

★

पत्रकार पी....

●

[हरिकृष्ण त्रिवेदी]

करीब चार वर्ष हो गये। मैं 'सैनिक' के सम्पादकीय-विभाग में अकेला बैठा था। फोरमैन सामने खड़ा हुआ मैटर के लिए उसी तरह तक़ाजा कर रहा था जिस प्रकार एक आग़ा (पठान) कर्जदार के सर पर सवार हो जाता है। एक तो यह ख़ुद ही पहाड़-सी मुसीबत तिस पर गर्मी के मारे नाक में दम। टेबिल-फैन पूरी स्पीड पर चल रहा है, लेकिन जब हवा में ही नर्मी न हो और लू के डर से बाहर झाँकना ही दुश्वार हो, तब पंखे की हवा भी क्या करे? मानसिक और शारीरिक---दोनों तरह से बहुत परेशान था। बार-बार यही खयाल आता था कि सम्पादक और विशेषकर हिन्दी के दैनिक तथा साप्ताहिक पत्र में काम करनेवाला सम्पादक दुनिया में सबसे बड़ा अभागा प्राणी है। प्रेस में आकर वह मशीन ही नहीं, मशीन से भी बदतर, बेजान चीज़ बन जाता है—उसमें गति तो बहुत होती है लेकिन वह गति जीवन और स्पन्दन से युक्त नहीं होती, वह होती है केवल यन्त्र-संचालित।

हाँ, ऐन इसी वक़्त चपरासी ने तमाम अखबारों और पत्रों का ढेर जो सुबह की डाक से आये थे, मेरे सामने पटक दिया। सबसे ऊपर मेरे व्यक्तिगत नामवाली एक चिट्ठी दिखाई दी। लिखावट परिचित थी। समझ गया यह पत्र कामरेड पी... का है। 'कामरेड' ही क्यों? मन में एक व्यंग्य-भाव उत्पन्न हुआ—वह तो अब पत्रकार पी...हो गया

है। उसके पत्र को पढ़ने की मुझे कहाँ फ़ुर्सत। लेकिन थोड़ी ही देर में एक-दो स्लिप मैटर लिखकर मैंने फोरमैन साहब को विदा कर दिया और लगा पढ़ने उस पत्र को। लम्बा दास्तान था; लेकिन कुछ अंशों को यहाँ उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर सकता :

'...यह मलेरिया होता ही ऐसा है। इस समय भारी जाड़ा लग रहा है। टेम्परेचर १०४ डिग्री से कम न होगा। पत्र भाई लिख रहा है और मैं डिक्टेट करा रहा हूँ। मालुम नहीं यह पत्र कितना लम्बा हो चला है। खैर, भाई कुछ भी हो मैं अपना अखबार 'जागृति', बन्द नहीं कर सकता। इसको मैंने प्राणों से सींचा है। मेरी अन्तिम साँस तक 'जागृति' की आवाज़ बन्द नहीं हो सकती। यह झूठ नहीं, सोलहों आने सत्य है कि इस प्रेस की मशीन मेरी हड्डियों से तथा स्याही मेरे रक्त से बनी है। मैंने ही अपना भौतिक शरीर निछावर कर 'जागृति' का रूप धारण किया है। 'जागृति' मुझसे विलग नहीं, मुझसे भिन्न नहीं, मेरा ही सजीव और साक्षात रूप है।...सच पूछो तो मुझे अपनी ज़रा भी चिन्ता नहीं! मेरे पास दो-चार रुपए ज़रूर थे लेकिन बिना स्याही के 'जागृति' छपती कैसे? अब कुनैन के लिए चार पैसे भी मेरे पास नहीं रह गये हैं। लीला ने भी कल खाना नहीं खाया। मशीन में स्याही देकर, वह हाथ से उसे घुमाकर छाप तो लेती है, लेकिन कम्पोज़ करना नहीं जानती। कम्पोज़ का क्या हो? क्योंकि कम्पोजीटर भी ठीक समय पर पैसा न मिलने के कारण चला गया है। मैं कम्पोज़ तो कर लेता हूँ, लेकिन इस बुखार में तो भाई...'

पत्र को मेज़ पर पटककर मैंने अपने मन में कहा—अजीब आदमी है। कैसी औंधी खोपड़ी है इसकी! आजकल जिसे देखो वही अखबार निकालने लगता है। हिन्दी के अखबार क्या हो गये हैं, कुकुरमुत्तों की फसल हो गई है। हरएक ऐरा-गैरा-नत्थू-खैरा याने Tom-Dick and Harry पत्रकार बन बैठता है। अगर पहले प्रबन्ध ही ठीक न किया था तो पत्र निकाला ही क्यों? फिर इस 'जागृति' के बन्द हो जाने से कौन-सा अन्धेर हो जायगा? लन्दन 'टाइम्स' की तरह इसकी पाठक-संख्या तो है नहीं। बल्कि अच्छा है, ऐसे पत्र बन्द हो जायँ। ये पत्र जीवित रहने के अधिकारी नहीं। सबल ही ज़िन्दा रह सकता है। यही तो survival of the fittest का प्राकृतिक नियम है।

यदि उस समय मैं झुँझलाया और भिनभिनाया न होता तो शायद इस तरह से तर्क न करता। लेकिन उस वातावरण ने मुझे कठोर बना दिया। मैंने चट एक कार्ड पर लिख दिया—भावुकता की भी एक सीमा होती है। सीमा से बाहर जाने पर वह पागलपन में परिणत हो जाती है। ठोस सत्य को देखो। पत्र यदि तुम्हारे लिए जीवित रहे तो ठीक है, लेकिन तुम केवल पत्र के लिए जीओ यह निरा पागलपन है। इसको मैं कोई आदर्श नहीं मानता। व्यावहारिक बनो। पत्र को तुरन्त बन्द कर दो और प्रेस को बेचकर कोई और कार्य करो। तुम्हें बुखार ज्यादा होगा, इसीलिए शायद ऐसा पत्र लिखाया है।

× × ×

बीस-पचीस रोज़ की छुट्टी पर मैं अपने घर को जा रहा था। गाड़ी से उतरने

ही मैंने सोचा चलो कामरेड पी...से भी मिल लूँ। पाँच-सात क़दम ही चला हूँगा कि तब तक आप लँगड़ाते-लँगड़ाते आते हुए दिखाई दिये। पाँवों में जूते नहीं हैं, बगल में टिकट लगे हुए 'जागृति' के नए अंक की कापियाँ हैं। हाथ मैले हो रहे हैं। काले हाथों को देखकर यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि अभी आप कम्पोज़ कर इधर डाकखाने की ओर तशरीफ़ ला रहे हैं। यह सब होते हुए भी आपके मुँह पर हँसी है। आपका बदन भी माशाअल्लाह ही है। हिन्दी के बहु-संख्यक सम्पादकों की तरह गाल पिचके हुए तथा आँखें कोटरगत। फर्क इतना ही है कि आप चश्मा नहीं लगाते। एक बड़ा अन्तर यह है कि मरघिल्ले से दिखाई देने पर भी आपके बाजुओं में काफ़ी ताक़त है इसीलिए तो एक मज़दूर की तरह दिन भर आप खटते हैं। आप कुछ गुनगुनाते हुए आ रहे हैं। मज़े की बात तो यह है कि आप संगीत के भी प्रेमी हैं। आपके सब अंग-प्रत्यंग तो काम में मशगूल हैं ही, तब होंठ ही क्यों बेकार रहें! अतः आप दोनों होठों में एक सुलगती हुई बीड़ी दबाये थे। मुझको आते देखा तो आप प्रसन्न होकर दूर से ही चिल्ला उठे—गुड, खूब मिले कामरेड। चलो ज़रा पहले डाकखाने हो आएँ।

मैंने कहा—यार, भाड़ में जाय तुम्हारा यह कामरेडपन। यह भी नहीं पूछ रहे हो कि कहाँ से आये, कब आए। इतना तो समझ ही सकते हो कि मैं थका हूँगा। पहले चाय-पानी के लिए कहते तब और बातें होतीं।

आप हँसकर बोले—अरे यार, बूर्ज्वा सभ्यता के इन चोंचलों में क्या रखा है। चलो, अभी इन्हें डाक से भेज दें। देर में ये न जा सकेंगे।

मैंने ज़रा अचरज में पूछा—अरे, चपरासी या कोई नौकर तो होगा। उसके हाथों इन्हें क्यों नहीं भेजते?

इस पर पी...मुसकराया। बोला—मैं ही खुद उसका काम कर लेता हूँ।

तब यों कहो—पीर, बवर्ची, भिस्ती, खर का हिसाब है। मैंने कहा।

हाँ, यही; लेकिन उस अर्थ में नहीं जिसे तुम समझ रहे हो। वह बोला।

× × ×

पी...ने आग्रह किया कि मैं दो दिन उसके यहाँ ठहरूँ। पहले तो मैंने मन में यही कहा कि—इसके यहाँ दो दिन ठहरना दो दिन की जेल है। न कुछ खाने को है न पीने को, न देखने को और न बात करने को। लेकिन प्रगट में अन्यमनस्क होकर मुझे 'अच्छा' ही कहना पड़ा।

कमरे में घुसते ही पी...ने आवाज़ दी—डार्लिङ्ग, ज़रा दो कप चाय बनाना। कामरेड त्रिवेदी आया है।

मैंने चौंककर उत्सुकता से पूछा—क्यों कामरेड, यह 'डार्लिङ्ग' क्या?

हँसकर बोला—अरे यार लीला को ही 'डार्लिङ्ग' कहता हूँ।

मुझे भी हँसी आ गई। मैंने सोचा इस मरुस्थल में भी पयस्विनी भागीरथी का कल-कल निनाद! यह तो मेरी कल्पना से बाहर की बात थी। सरसता का सञ्चार होता

देख मैंने कहा—यार, अभी तो तुम बूर्ज्वा रहन-सहन, उनकी तहज़ीब-तमीज़ की खिल्ली उड़ा रहे थे। लेकिन यह 'डार्लिङ्ग' तो निरा 'बूर्ज्वा' शब्द है और वह भी एकदम विदेशी..।

पी...ने फौरन बात काट दी। कहने लगा—शब्द और विशेषकर प्यार के शब्द 'बूर्ज्वा' हो ही नहीं सकते। उनका दुरुपयोग ही उन्हें 'बूर्ज्वा' बनाता है। थोड़ी देर रुक कर उसने फिर कहना प्रारंभ किया लेकिन कुछ गंभीरता के साथ—लीला को देने के लिए मेरे पास है ही कहाँ? मैं उसे कोई आराम नहीं दे सकता, कोई भेंट नहीं दे सकता, गहने व फैशनेबल कपड़े नहीं बना सकता। दिन भर बेचारी काम में मशगूल रहती है—खाना बनाती है, कपड़े धोती है, मशीन में स्याही देती है, रात को मशीन घुमाकर अखबार छापती है और मेरी अनुपस्थिति में मनीआर्डर वसूल करती है, और कितने ही काम देखती है। बेचारी को ज़रा भी फुर्सत नहीं। इनके एवज़ में उसे मिलता ही क्या है? लेकिन केवल 'डार्लिङ्ग' सुनकर ही वह तृप्त हो जाती है, सारी थकान भूल जाती है, उसमें नया उत्साह भर आता है और समझती है कि उसने सब कुछ पा लिया। अलीबाबा के 'सीसेम' शब्द की तरह 'डार्लिङ्ग' भी मेरा जादू का शब्द हो गया है। तुमने अलीबाबा के किस्से में पढ़ा ही होगा कि 'खुल जा सिसम' कहने पर गुफा के खजाने का द्वार खुल जाता था; उसी प्रकार जब मैं 'डार्लिङ्ग' कहता हूँ तो लीला के हृदय का द्वार खुल जाता है।

मैं यह सब सुनकर दंग रह गया। इच्छा हुई कि कुछ और सुनूँ।

पी..ने फिर कहा—यह अतिशयोक्ति नहीं, सच है.. मुझको बचाया ही लीला ने है। यद्यपि मैं धर्म-कर्म पर विश्वाश नहीं करता और हिन्दू संस्कृति पर मुझे कभी अभिमान नहीं था और श्रद्धा भी नहीं थी; लेकिन अब मैं इतना कह सकता हूँ कि हिन्दू स्त्री के समान पत्नीत्व का ऊँचा आदर्श कहीं नहीं मिल सकता। पतिव्रता हिन्दू नारी त्याग और तपस्या की ज्वलन्त और सजीव मूर्ति है। पति और पत्नी के बीच साहचर्य की सर्वोच्च कल्पना हिन्दुओं ने ही की है—इसी लिए तो स्त्री को अर्द्धांगिनी कहा गया है।...

मैं कहना ही चाहता था—संसार में और भी देशों में ऐसे आदर्श मिल सकते हैं। लेकिन मैंने बीच में टोकना उचित न समझा।

उसने फिर कहना प्रारंभ किया।

'हाँ, मैं दृढ़ता के साथ कह सकता हूँ कि लीला के समान पत्नियाँ इस संसार में बहुत ही कम हैं—अंगुलियों पर ही गिनने लायक हैं। पत्नियों से मेरा अभिप्राय 'चरणों की दासियों' से नहीं, जीवन-सहचरियों से है। लीला बहुत ही थोड़ी पढ़ी-लिखी है, वह प्लेटफार्म से कभी नहीं बोली है और प्रेस में उसके वक्तव्य नहीं निकले हैं। उसका फ़ोटो भी किसी पत्र में नहीं छपा है। तिस पर भी मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि उसके समान आदर्श पत्नियाँ हिन्दुस्तान में बहुत कम हैं। पी...की लीला को समझने के लिए यशपाल की प्रकाशवती का उदाहरण सामने रखना होगा।

× × ×

आज दूसरा दिन था। लेकिन अब मैं इस परिवार में हिल-मिल गया था। कोई बाह्य आकर्षण न होते हुए भी मुझे कोई चीज़ इस वातावरण में अपनी ओर खींचती-

सी जान पड़ती थी। मैंने पत्रकार पी..के प्रेस की चीज़ें एक-एक कर देखीं। हैंड-मशीन को भी देखा। उसको स्पर्श करते ही मुझे पीछे की ओर को एक धक्का-सा लगा—मानो कोई हिप्नोटिस्ट (सम्मोहनकारी) मुझे 'पास' दे रहा हो। मुझे सहसा वे शब्द याद आये जो मैंने एक दिन पी..को अपने पत्र में लिखे थे—'पत्र को तुरन्त बन्द कर दो और प्रेस को बेचकर कोई अन्य कार्य करो।' मुझे ऐसा ज्ञात हुआ कि मेरे अपवित्र हाथ इस प्रेस की कोई भी चीज़ छूने के लायक नहीं हैं। अब मैं समझा किसी पत्र का महत्व इसमें नहीं है कि वह लाखों की संख्या में रोटरी मशीन से छपे तथा हवाई जहाजों द्वारा वितरित हो और संसार भर में उसके संवाददाता हों। पत्र का महत्व उसके ध्येय और उसकी पवित्रता में है। पी..शायद मेरे मानस-पट पर विचार-परिवर्तन के चल-चित्र को देख रहा था। इसीलिए बोला—अरे यार ज़रा देखना तो इस सप्ताह के अग्र-लेख के रूप मे यह अपील निकाल रहा हूँ :

'जागृति' जनता की अपनी चीज़ है। 'जागृति' जनता के लिए जीना चाहती है और सम्पादक पी...'जागृति' के लिए। 'जागृति' का एकमात्र ध्येय है जनता की सेवा और सम्पादक पी...का ध्येय है 'जागृति' की सेवा। सम्पादक पी...यदि नए ग्राहक बनाने की अपील करता है तो अपने लिए नहीं 'जागृति' के लिए और 'जागृति' के नए ग्राहक जनता के ही गुण-ग्राहक और उसी के सेवकों के रूप में काम देंगे...'

मैंने कहा—इसमें इतना जोड़ना भूल गये हो—

'(पहले वाक्य में) और लीला सम्पादक पी के लिए जीना चाहती है। (दूसरे वाक्य में) और लीला का ध्येय है सम्पादक पी...की सेवा।'

इस पर वह क़हक़हा लगा कि सब कमरे हँसी से गूँज उठे। दूसरे कमरे में लीला भी अपनी हँसी न रोक सकी।

× × ×

मैं चलने को उद्यत हुआ। पी...बोला—मैं भी स्टेशन तक पहुँचाने तुम्हें आता हूँ। ज़रा पूछ लूँ क्या तरकारी चाहिए।

पी...ने आवाज़ दी डार्लिङ्ग, कौन-सी तरकारी लाऊँ ?

लीला ने कहा कटहल।

पी...बोला—कटहल तो आजकल बहुत मँहगे होंगे।

लीला ने उत्तर दिया—साहूकार होकर भी मेरी इतनी-सी इच्छा की पूर्ति नहीं कर सकते ? इतना कहते ही वह ज़ोर से हँस पड़ी। कितनी निर्दोष और मुक्त हँसी थी उस साध्वी पत्नी की। लोभ की कालिमा और धन की कृष्ण-छाया उसके सहज-सरल सन्तोष और 'स्वान्तः सुखाय' की प्रवृत्ति को छू भी न सकी थीं।

अब मेरी समझ में आया कि जिस तरह आध्यात्मिक प्रगति की अन्तिम सीमा पर ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान एक हो जाते हैं, उसी प्रकार पत्रकार पी...उसका पत्र और उसकी पत्नी एकाकार तद्रूप हो गये थे।

★

साहित्य का प्रयोजन

●

[सुरेन्द्र बालूपुरी]

पूँजीवादी समाज की उत्पादन शक्तियों की वृद्धि के साथ व्यक्तित्व के विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ सही, किन्तु पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के चलते उस मार्ग पर शीघ्र ही अन्धकार छा गया। स्वभावतः समाज के बहिर्जीवन और अन्तर्जीवन दोनों में प्रतिक्रियाएँ घटित होनी शुरू हुई। बहिर्जीवन में वह घटित हुई बेकारी और भूख के रूप में और अन्तर्जीवन में भावना सम्बन्धी बुभुक्षा (emotional starvation) और व्यक्तित्व की पंगुता (crippling of personality) के रूप में। बेकारी और भूख ने जन्म दिया सामाजिक और राजनीतिक क्रान्तियों को तथा भावना-बुभुक्षा और व्यक्तित्व की विनाशोन्मुखता ने जन्म दिया सांस्कृतिक क्रान्ति को। इस सांस्कृतिक क्रान्ति की प्रक्रिया में बुद्धि-जीवियों के उस दल का आविर्भाव हुआ जिसने 'प्रगतिशील-लेखक-संघ' नाम ग्रहण किया और जिसी ने इस विश्व-व्यापी संकट को उसके वास्तविक रूप में देखा। इस समूह के साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण करते ही साहित्य की स्थापित धारणाओं और मान्यताओं पर—स्वभावतः चोटें पड़ना शुरू हुई। फलतः साहित्य-संसार में—सम्पत्ति-जीवी वर्गों द्वारा पोषित और सम्पत्ति-जीवी वर्गों के पोषक साहित्य-संसार में—एक खलबली का दृश्य उपस्थित हो गया। हमारे देश में भी साहित्य-प्रेमियों और बुद्धिजीवियों को सांस्कृतिक-क्रान्ति की इस धारा में शामिल होने से रोकने के लिए अधगोरे 'स्टेट्समैन' ने भारतीय प्रगतिशील लेखकों को 'भारत के सुसंस्कृत कम्युनिस्ट' कहकर उद्घोषित किया। जब इससे भी काम न चला तो उन्हें 'प्रचारक' और 'प्रॉपैगैण्डिस्ट' कहकर पाठक-क्षेत्रों में नीचा प्रमाणित करने की कोशिशें होने लगीं। तो यहीं आकर प्रश्न उपस्थित हुआ कि साहित्य का प्रयोजन क्या है ? कला, जीवन, प्रचार अथवा क्या ?

इस बहस में पैर रखने से पहले सामाजिक विकास के आलोक में साहित्य पर एक विहंगम-दृष्टि डाल लेना हमारे मार्ग को सुगम बना देगा। सृष्टि का विकासवादी सिद्धान्त आज प्रायः सभी स्वीकार करते हैं, अतएव हमें कला एतदर्थ साहित्य के उद्गम-स्थान की खोज करने के लिए मानव-समाज के विकास के starting point तक जाना होगा। आदिम मानव को अपनी जीवन-रक्षा के लिए शिकार-प्राप्ति अथवा फसल पैदा करने के प्रारम्भिक प्रयासों में जीवन्त-परिश्रम करना होता था। इन उद्देश्यों की सिद्धि केवल सहज वृत्तियों की प्रेरणा से ही सम्भव न थी। अतएव आवश्यकता हुई कि सहज-

वृत्तियों (instincts) को समाज-बद्ध करके उन्हें मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं (material needs) की पूर्ति के प्रयत्नों में नियोजित करके, सहायक बनाया जाय। फलतः 'संघ-उत्सवों' (group festivals) की सृष्टि हुई, जिनमें सामूहिक-मनोवेगों (collective emotions) की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में प्रारम्भिक कलाएँ— समूह-नृत्य, समूह-गायन आदि—जन्मीं। यों समूह-गायनों से सूत्रपात हुआ साहित्य का। जिन शब्दों का प्रत्येक मनुष्य के दैनिक जीवन में मनोवेगात्मक अनुसङ्ग था, उन्हीं शब्दों के क्रमशः होनेवाले गेय-संग्रह बने छन्दोबद्ध साहित्य। इस आदिम साहित्य का प्रयोजन था आजीविका-उपार्जन के श्रम में आनन्द की सृष्टि और परिश्रान्ति का हरण।

धीरे-धीरे समाज परिवर्तित होने लगा, उसकी आवश्यकताएँ भी बदलने लगीं, उन आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन भी बदले और तदनुसार ही मनुष्य के मनोवेग भी बदले और समाज दर्शन ने जन्म ग्रहण किया। जब मनुष्य शिकारी था, आखेटजीवी था तब वह अपने को प्रकृति के भीतर प्रक्षेपित करके अपनी कामनाओं और आकांक्षाओं की तृप्ति-लाभ करता था, इस लिए उसकी कला दृश्यतामूलक (perceptive) थी। सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में मनुष्य जब कृषिजीवी और पशुपालक बना और अपनी आवश्यकताओं, एतदर्थ इच्छाओं की पूर्ति के लिए प्रकृति पर विजय पाने की ओर प्रवृत्त हुआ। फलतः उसकी कला इच्छामूलक (conative) हो चली। पहली अवस्था में मनुष्य अपने को प्रकृति में प्रक्षेपित करके जिस कला की सृष्टि करता रहा उसका उपलक्ष्य था totem—समूह-सम्बन्ध की कल्पना। दूसरी अवस्था में उपलक्ष्य बने अन्न और पशु देवता आदि। आगे चलकर क्रमशः समाज ने और भी उन्नति की और अधिकाधिक प्रकृति-विजय के साथ समाज में श्रमविभाजन (division of labour) की व्यवस्था हुई, स्वामी-दास, शासक-शासित, पुरोहित-होता, आदि सम्बन्धों की स्थापना हुई। यहीं आकर कला और साहित्य के उपलक्ष्य बने शासक, स्वामी, पुरोहित आदि और इन्हीं की प्रशंसा और 'विनोद' रह गये कला के प्रयोजन। प्रकृति से निरन्तर लड़नेवाला उत्कट मानव-पुत्र, प्रकृति पर अपेक्षाकृत अधिकाधिक विजयी होकर, साधारण और असाधारण मानव में बट गया। युद्ध, प्रकृति और मनुष्य के बीच न रहकर, साधारण और असाधारण मनुष्य के बीच आ पड़ा। क्रमशः इन दोनों वर्गों के मनोवेगों में भी अन्तर की अभेद्य सांस्कृतिक दीवार खड़ी होना शुरू हो गई। संघ-संगीत द्वारा सामूहिक मनोवेगों की अभिव्यक्ति के बजाय महाकाव्यों और गीति-आख्यानों द्वारा अवसर प्राप्त असाधारण मानव के विनोद के लिए न्याय-अन्याय, प्रेम-आनन्द आदि का उपादान ग्रहण कर साहित्य-सृष्टि चल पड़ी। यह और बहुत दिनों तक एक न दूसरे रूप में चलता रहा। साम्राज्य उठे और साम्राज्य गिरे और अन्ततः ध्वन्सोन्मुख सामन्ततन्त्र की छाया में जब मध्यवर्ग (bourgeoisie) शक्ति संचय में प्रवृत्त हुआ तब साहित्य की आत्मा भी बदली। चूँकि जागते हुए मध्यवर्ग की यह प्रतीति थी कि उसकी स्वाधीनता को चारों ओर से नियम-बन्धनों में जकड़ बाँधा गया है, अतएव जीवन के सौन्दर्य की उपलब्धि केवल भावनाओं के उच्छृङ्खल प्रकाश द्वारा ही संभव है। यही विद्रोह और आनन्द की वाणी

'रोमान्टिसिज्म' की धारा बनी, जो पूँजीवादी व्यवस्था के उत्कर्ष के साथ-साथ खूब उन्नत भी हुई। किन्तु जिस प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था के गर्भ में अनेक सामाजिक संकट निहित थे, उसी प्रकार उसके साये में पलनेवाले साहित्य के गर्भ में भी भाव संकट विद्यमान थे।

जिस प्रकार सामाजिक विकास के प्राथमिक दिनों में उत्पादित द्रव्यों का मूल्य उनकी सामाजिक उपयोगिता के आधार पर निर्धारित किया जाता था, उसी प्रकार साहित्य और कला के भी मूल्याङ्कन का आधार था समूह जीवन पर उसका हितकर अथवा अहितकर प्रभाव। किन्तु पूँजीवादी व्यवस्था में द्रव्यों का उत्पादन एक ऐसे बाज़ार के लिए होना प्रारंभ हुआ जिसकी जानकारी श्रमी-उत्पादक को बिलकुल नहीं थी। श्रमी-उत्पादक के सामने उत्पादन का कोई उद्देश्य न रह गया, उत्पादन स्वयं उद्देश्य बन गया। पूँजीवादी समाज की इस पण्य-रति (commodity fetishism) ने साहित्य-स्रष्टा को उद्देश्य-हीन बना दिया, वह वास्तव जगत से दूर हो चला। और यहीं पर पूँजीवादी व्यवस्था के पोषक बुद्धि-जीवियों ने 'कला-कला के लिए' का नारा बुलन्द किया, क्योंकि यहाँ आकर साहित्य अपने आप में एक उद्देश्य बन गया, साहित्य-सर्जना स्वयं अपना प्रयोजन बन गई। कान्ट ने कहा 'real existence of the object' [१] की उसे चिन्ता नहीं होनी चाहिये, शिलर ने कहा साहित्य को 'वास्तविकता का प्रतिचित्रण' नहीं करना चाहिये, वरन 'वास्तविकता का बहिष्कार' [२] करना चाहिये, शेलिंग ने कहा उसे 'किसी भी बाह्य उद्देश्य के लिए प्रयुक्त' [३] नहीं होना चाहिये, शोपेनहर ने कहा उसका 'उपयोगिता' [४] से कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिये और अन्ततः क्रोचे ने कहा 'practical' [५] से उसका रिश्ता नहीं होना चाहिये, हीगेल ने कहा 'नैतिक उद्देश्य और साधारणतया सांसारिक नैतिक उद्देश्य की पूर्ति' [६] में उसे नहीं लगना चाहिये। इन आदर्शवादियों (idealists) के अनुसार रोमान्टिक कला ही कला का चरम अन्त है, और दर्शन तथा धर्म की तरह परमतत्व (absolute) की उपलब्धि ही श्रेष्ठ साहित्य का प्रयोजन है। उन्होंने यहाँ तक कहा कि श्रेष्ठ कला और दर्शन एक ही चीजें हैं। इस विचारवाद (ideology) ने कला को अभिव्यञ्जनात्मक (expressionistic) और संवेदनात्मक (sensationalistic) होने की प्रेरणा दी। यह यन्त्रत्व विचारवाद कला को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से असम्बद्ध और निस्संग बनाने की क्रिया सम्पादित करता है। क्रोचे कहता है : 'Art is independent both of science and of the useful or the moral'। इसका लॉजिकल परिणाम यह होता है कि कला का अन्तरस्थ (content) अप्रासंगिक अथवा आनुषंगिक हो जाता है। कलाकार—श्रेष्ठ कलाकार—केवल अपने 'निजत्न' अपनी कल्पना के प्रति ही सत्य रह जाता है। यहाँ कला केवल बौद्धिक-धारणा (intellectual concept) मात्र रह जाती है।

इसके बाद धीरे-धीरे विज्ञान की उन्नति के साथ आदर्शवाद की असंगतियाँ बढ़ती

१—क्रिटिक ऑफ ऐस्थेटिक जजमेण्ट। २—लेटर्स आन दि ऐस्थेटिक एजुकेशन ऑफ मैन। ३- गिस रोब फ्रान्सिस इगन की पुस्तक 'जेनेसिस आफ दि थियरी ऑफ आर्ट फार आर्ट सेक इन जर्मनी ऐन्ड इन इङ्गलैण्ड' में प्राप्य। ४—दि वर्ल्ड ऐज़ विल ऐण्ड आइडिया। ५—दि ऐस्थेटिक्स। ६—दि फ़िलासफ़ी आफ फाइन आर्ट।

गईं और यों पूँजीवाद का विचार-दर्शन अपनी जमीन खोने लगा, फलतः पूँजीवादी विचारकों में 'परम तत्ववाद' (absolute idealism) के प्रति एक प्रतिक्रिया का आविर्भाव हुआ। इस प्रतिक्रिया को डार्विन की विचार-धारा ने विशेष रूप से प्रेरित किया। फलतः दर्जनों ऐसे विचार-दर्शनों का प्रतिपादन हुआ, जो अपने को किसी-न-किसी रूप में 'वास्तववादी' कहते हैं। इन विचार-दर्शनों में प्रयोजनवाद (pragmatism) को प्रतिनिधि रूप से लिया जा सकता है,[७] क्योंकि ध्वंसोन्मुख पूँजीवाद चरम रूप और दीखनेवाले उत्कर्ष, फासिज्म का वह विचार-दर्शन है। इस विचार-दर्शन की यह मान्यता है कि विचारों की realisation of the sensory expectation अथवा आयोजित-प्रतिक्रिया की सफलता से ही जाँचा जा सकता है। इसके अनुसार 'सत्य ..अनुभूति हर प्रकार के निश्चित working valver की श्रेणी संज्ञा है।[८] प्रत्यक्ष ही है कि यह विचार-दर्शन सत्य और असत्य धारणा के बीच भेद न करके प्रयोजनीय और अप्रयोजनीय धारणा में भेद करता है, जो निस्सन्देह ग़लत है क्योंकि, उदाहरण के लिए, फैसिज्म की आयोजित प्रतिक्रिया अस्थायी रूप से सफल हो जाने के बावजूद भी फैसिज्म की धारणाएँ सत्य नहीं हो सकतीं। साहित्य में इस विचार-दर्शन के साये में रोमान्टिक यथार्थवाद तथा साहित्यिक आलोचना में मानववाद (litrary humanism) की धाराएँ जन्मीं। इस विचार-दर्शन में कला और साहित्य से यह माँग कि जीवन से वहिष्कृत होकर रह सकने का उनका दावा ग़लत है, क्योंकि कलाकार और साहित्यकार अपनी कृतियों के द्वारा ही अपनी आजीविका उपार्जित करते हैं और मानव-समाज [९] एक श्रमी को तब तक जीविका नहीं प्रदान कर सकता जब तक उसके श्रम का समाज के लिए कोई उपयोग न हो। प्रत्यक्ष ही है कि 'कला-कला के लिए' का नारा देकर पूँजीवादी साम्राज्यवादी समाज कला-श्रम को अफ़ीम की घुट्टी बनाकर मानव-हितैषी होने का दम भरनेवाले कलाकारों के द्वारा ही जन-वर्ग के गले में उतारता रहा है। तो इस विचारधारा ने 'आदर्शवाद' और 'कला-कला के लिए' सिद्धान्त की नब्ज़ तो ठीक पकड़ी, पर निदान वह नहीं पेश कर सका, कर भी नहीं सकता था, क्योंकि पूँजीवाद की डूबती नाव का उसे सहारा बनना था। साहित्यिक मानववाद (Litrary Humanism) की प्रतिपत्ति है कि बहुत नगण्य अपवाद के साथ आधुनिक साहित्य रोमान्टिक है अर्थात् भावात्मकता और प्रवृत्यात्मक आवेगों पर आश्रित है। न कि नियमन, तर्क और इच्छा पर, और ऐसा साहित्य मानव के स्वाभाविक सम्मान का प्रतिनिधित्व करने में असफल रहा है। किन्तु इस प्रतिपत्ति के बावजूद भी मानववाद की अपील रोमाण्टिक है, उसकी अपील का आधार है संसार में नैतिक-अधिकार (moral

---

७—Conviece pragmatism to be the heir of materialism, naturalism, positivism—superior to them because it includes them and, from its broad conception of experience, challenges effectively all metaphysical contentions. —M. F. Brightfield, The Isues In Literary Criticism. P. 27.

८—विलियम जेम्स, Pragmatism, A New Name for some old ways of Thinking. P. 68. ९—विशेषतः पूँजीवादी समाज—ले०

authority) और विश्वजनीन नैतिक व्यवस्था, जिसकी उपलब्धि का साधन है अन्त-प्रेरणा, इन्ट्युशन।[१] स्पष्ट ही ये सारे बिखरे विचार फासिज्म में सन्निहित हैं।

ध्वन्सोन्मुखी पूँजीवादी व्यवस्था की दूसरी और स्वस्थ विचार प्रतिक्रिया हुई, मार्क्स द्वारा प्रतिपादित और स्थापित द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के रूप में जो ही सच्चे जनतन्त्र और प्रगतिवादी साहित्य का विचार दर्शन है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की स्थापना है कि वस्तु की दृश्यता के सभी रूपों की समग्रता और उनके पारस्परिक सम्बन्धों से सत्य की सृष्टि होती है। और वह वास्तविकता है सामाजिक मानव का संग्राम रत द्वन्द्वमूलक जीवन। सत्य ध्रुव नहीं है, क्योंकि मनुष्य ध्रुव नहीं है, उसका परिवेष्टन (environment) ध्रुव नहीं है, अतएव इस सत्य की उपलब्धि का साधन है 'ऐक्शन' न कि निष्क्रिय चिंतन।

इस विचार-दर्शन के आधार पर साहित्यिक प्रगतिवाद खड़ा हुआ है जिसे समाजवादी यथार्थवाद भी कहा जाता है। समाजवादी यथार्थवाद की साहित्य से क्या माँग है इसे प्रसिद्ध सोवियत साहित्यकार और आलोचक कार्ल रैडक ने यों कहा है :—

'यथार्थवाद का अर्थ केवल पूँजीवाद की ध्वन्सोन्मुखता और पूँजीवादी संस्कृति का पतन चित्रित करना ही नहीं है, बल्कि उस वर्ग, उस शक्ति की उत्पत्ति का भी चित्रण करना है, जो एक नयी संस्कृति और नया समाज गढ़ने में समर्थ है...किन्तु अक्रिय एवं स्थितिशील यथार्थवाद की तरह की कोई चीज नहीं हो सकती...समाजवादी यथार्थवाद का अर्थ केवल सत्य को जैसा वह है वैसा ही जानना नहीं है, बल्कि यह भी जानना है कि वह किस दिशा में गतिशील है। वह समाजवाद की ओर, अन्तर्राष्ट्रीय-सर्वहारा-वर्ग के विजय की ओर गतिशील है। समाजवादी यथार्थवादी कलाकार की कला वह है जो यह प्रगट करे कि विरोधों का वह संघर्ष, (conflict of contradictions) जिसे कलाकार ने जीवन में देखा है और जिसे उसने अपनी कला में प्रतिबिम्बित किया है, किस दिशा में जन जीवन को ले जा रहा है।'

अब उस प्रश्न को हम उठाना चाहेंगे कि साहित्य का आखिर प्रयोजन क्या है? आदर्शवादी विचारों ने कहा 'कला-कला के लिए' होनी चाहिये। इस नारे का खोखलापन हम देख चुके हैं, क्योंकि मानव-जीवन की परिवर्तनशील और परिवर्द्धमान समस्याओं से असम्पर्क साहित्य केवल एक छायात्मक भूल-भुलैया का ही निर्माण कर सकता है, जिससे दिन-भर की दुकानदारी और सट्टेबाजी से थके पूँजी-व्यवसायियों, जीवन में पराजित तथा गतिरुद्ध बुद्धिजीवियों, अथवा युग-युग से बन्दिनी बनायी गयी सम्पत्ति-जीवियों के हरमों की शोभा 'स्वर्ण-पाँखियों' का ही क्षणिक मनबहलाव भर हो जाता है।

१—Political position of humanism... defends the status-quo, argues against democratic principles, condemns strikes, views the issues in the modern world as a clear cut fight between Christianity and Communism and is unqualifiedly repugnant and reactionary.

—Farrel, A Note on Literary Criticism, P. 28.

यह कहना कि 'कला-कला के लिए' सिद्धान्त पर जो कला-कृतियाँ आश्रित होती हैं उनमें भी आख़िर जीवन की झलक होती ही है, उक्त सिद्धान्त के खोखलेपन का और भी ढिंढोरा पीटना है। चूँकि मार्क्स के अनुसार being determines the conciousness, अतएव साहित्य समाज और जीवन से प्रभावित हुए बिना निश्चय ही नहीं रह सकता।

अब प्रश्न उठता है कि क्या कला एतदर्थ साहित्य जीवन के लिए है? इस प्रतिपत्ति से एक भ्रम उठने की गुंजाइश दीखती है। वह यह कि मानो साहित्य के बिना जीवन असभव होगा, किन्तु बात इतनी आसानी से साधारणीकरण की नहीं है। यह सच है कि जीवन है तो मनोवेग हैं और मनोवेग हैं तो उनकी अभिव्यक्ति के फलस्वरूप साहित्य-सर्जना होगी ही, किन्तु यह भी सच है कि साहित्य के बिना जीवन असंभव नहीं होगा; पर इन सबसे अधिक सत्य यह है कि मानव-ज्ञान के एक विशिष्ट अंग की सहायता से जीवन वंचित रह जायगा. यदि साहित्य न हो। अतएव जब यह कहा जाता है कि 'साहित्य जीवन के लिए' है तो उसका अर्थ यह होता है कि साहित्य जीवन की बेहतरी के लिए है। यहाँ प्रयोजनवादी और द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी एक मत हैं, किन्तु जीवन के मूल्याङ्कण में दोनों का मौलिक मतभेद है। प्रयोजनवादी का 'experience'—अनुभव परोपजीवी श्रेणी का अनुभव है, जिसका source है intution, जो स्वयं class-conditioned है। इसी अनुभव के आधार पर निर्मित एक सत्य पर वह क्रियात्मक प्रयोग करता है और इस प्रकार प्रक्षेपित सत्य के आधार पर जो साहित्य जीवन के मूल्य निर्धारित करता है और उन्हें सारी मानवता का 'मूल्य' कहता है, वह जीवन और समाज के प्रति सत्य नहीं हो सकता। वह संघर्षरत मानवता के लिए नैतिकता का इन्द्रजाल पैदा करके सत्य, न्याय, औचित्य आदि के compartments बनाकर मानवता का प्रतिरोध करता है। इसके विपरीत द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी सामाजिक-द्वन्द्वों की समग्रता को ही सत्य और जीवन मानता है। अतएव प्रगतिवादी साहित्य उक्त द्वन्द्व में—विरोधों के संघर्ष में, प्रगतिशील elements की अवचेतना का परिपाक करता है, उसे उन्नत बनाता है और प्रतिगामी elements (तत्वों) के प्रभाव का निराकरण करता है।

हाँ तो यह प्रगतिवाद साहित्य में तब पैदा हुआ है जब पूँजीवादी crisis अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई है जब पूँजीवाद अस्तित्व के लिए अन्तिम लड़ाई लड़ रहा है, अतएव साहित्यिक प्रगतिवाद को, जो उसके विनाश का एक प्रभावशाली अस्त्र बन रहा है, पूँजीवाद ने 'प्रचार' कहकर लांछित करना शुरू किया है। पूँजीवादी-व्यवस्था के अन्तर्विरोधों से अवगत प्रगति-उन्मुख बुद्धिजीवियों को उधर जाने से रोकने के लिए ही अपने सारे ज्ञान-आडम्बर के प्रभाव से भरी वाणी में पूँजीवाद ने विद्रूप प्रश्न किया कि क्या 'साहित्य प्रोपेगैण्डा के लिए है?' इस प्रश्न की प्रतिक्रिया प्रतिवादियों में यह हुई कि उन्होंने इस गलत आरोप को स्वीकार कर लिया और कहा कि हाँ सारा साहित्य, जहाँ तक अपने 'अन्तरस्थ' (content) में एक समाज-दर्शन का प्रतिपादन करता है, प्रोपेगैन्डा है, 'प्रचार' है; लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रगतिवादी साहित्यिक शिल्प-कारिता

(craftsmanship) के मूल्य के प्रति उपेक्षा-भाव रखता है अथवा उसके महत्व को अस्वीकार-करता है। प्रसिद्ध अमेरिकन समालोचक सी० एम० कालवर्टन के शब्दों में[10] प्रगतिवादियों 'का यह अर्थ कदापि नहीं है कि वे साहित्यिक शिल्पकारिता को हेय समझते हैं। उनके कहने का अर्थ यह है कि साहित्य में शिल्पकारिता ही पर्याप्त नहीं है। शिल्पकारिता का उपयोग निश्चय ही 'क्रान्तिकारी अर्थ' से पूर्ण कला-कृति के सृजन में होना चाहिये। 'क्रान्तिकारी अर्थ' साहित्यिक-शिल्पकारिता के अभाव में...उतना ही बेमानी और प्रभाव-हीन होगा जितना शिल्पकारिता बगैर क्रान्तिकारी उद्देश्य के।...हमारा उद्देश्य यह होना चाहिये कि कला को एक क्रियात्मक तथ्य के रूप में मनुष्य की सेवा में नियोजित करें, न कि कला को एक पलायन-स्थान (escape) बनाकर मनुष्य को ही उसकी सेवा में लगा दें।'

स्पष्ट ही है कि प्रगतिवाद साहित्य का प्रयोजन प्रोपेगैण्डा न मानते हुए भी यह मानता है कि मानव के द्वन्द्वमूलक सामाजिक जीवन से ही साहित्य अपना 'अन्तरस्थ' (content) ग्रहण करता है, अतएव एक समाज-दर्शन की प्रतिपत्ति उसमें होती है। और हमारे विरोधी अगर हमें प्रोपेगैन्डिस्ट कहते हैं तो हमें यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है कि हम साहित्य में उतने ही प्रोपेगैन्डिस्ट हैं जितना किसी भी युग में कोई भी साहित्यकार हुआ है।

प्रगतिवादियों का पक्ष, अन्ततः और भी स्पष्ट कर देने के लिए रैल्फ फॉक्स की यह उक्ति उपयोगी होगी कि 'कला उन साधनों में से एक है जिनके द्वारा मनुष्य वास्तविकता का सामना करता है, उसका परिपाक करता है। लेखक अपनी आन्तरिक चेतना की सतह पर वास्तविकता के गर्म लोहे को रखकर उस पर हथौड़े चलाता है, विचार की चोटों से उसे पीटता है और अपने उद्देश्य के अनुकूल उसको रूपान्तरित कर लेता है।'[11]

★

१०—दि लिबरेशन ऑफ अमेरिकन लिटरेचर।

११—दि नावेल ऐण्ड दि पीपुल।

यह मौत का घर है

●

[श्यामू संन्यासी]

लाल सड़क पर, खपड़ों से कूटी मटमैली लाल सड़क पर रास्ता बतलाता हुआ आगे-आगे अफसर चला और पीछे मैं। आठ क़दम, दस क़दम, बीस, पच्चीस और पचास क़दम। शायद दो मिनट लगे होंगे, पर मुझे वह रास्ता बेहद लम्बा लगा। एक नीचे-से दरवाजे में सिर झुकाकर निकलना पड़ा। भीतर छोटा-सा आँगन था।

'वह बीचवाली कोठरी धुलवा दी है। यहाँ आप अधिक आराम से रहेंगे। नम्बरदार आपके लिए कम्बल, थाली और लोटा लेकर आता ही होगा।'

मैंने उस आदमी की ओर देखा। चेहरा कठोर, बड़ी-बड़ी सख्त और काली मूछें, बाल उड़ने लगे हैं, पशु-सी आँखें, गहरा आसमानी कोट और कोट के बटन-होल में सुर्ख ताजा गुलाब का एक फूल। चेहरे पर हीनता, अहंकार और अज्ञान।

वह लौटकर चला गया। और मैं निस्तब्ध खड़ा उसके पाँवों की आवाज सुनता रहा। क्या दिन में भी इतना सन्नाटा हो सकता है? और क्या उसी मार्ग से फिर वहीं लौटा नहीं जा सकता?

पर सात दरवाजे हैं और उन सात दरवाजों में सात ताले हैं और उन तालों के बाहर सिपाही हैं, और बन्दूक हैं और मशीनगनें हैं और गोलियाँ हैं और आठ, दस या बारह पैसेवाली एक क़लम से लिखा कोई एक हुक्म है।

पर इस दीवाल और इन सींखचों के बाहर जिन्दगी है, प्रवृत्ति है, आजादी है, अपना और पराया है, कर्म-निरत विशाल संसार है।

क्या उसी मार्ग से फिर वहीं लौटा नहीं जा सकता?

लेकिन यह घर?

मैं अपनी कोठरी की ओर बढ़ा।

पर बगलवाली इन कोठरियों में यह काला-काला-सा हिलता हुआ क्या है?

मैं गौर से देखने लगा।

पाँवों में बेड़ियाँ, गन्दा कुर्ता, गन्दा जाँघिया, सूने में खो रही निस्तेज आँखें, कपालों में सल, रूखे बाल, रूखे चेहरे। क्या आदमी इतना भयविह्वल भी हो सकता है?

'तुम?'

'फाँसी की सजावाला हूँ जी !'

'और तुम ?'

'में य फाँशी वाल्या हुँ श्याब !'

बगदादी चोर की तरह डाढ़ीवाला बूढ़ा मुसलमान वार्डर पीछे से हँसकर बोला यह मौत का घर है जनाब, मौत का !

× × ×

गोल कोठी-सी या सिलेण्डर-सी कोठरी है। दिन में अधिकांश दरवाजा बन्द रखा जाता है। शासन-यंत्र का यह बहुत ही मजबूत पुर्जा है। यह कोठरी सिलेण्डर है। एक ही वाल्व (दरवाजे) से इनलेट और आउटलेट का काम लिया जाता है। काम है इस यंत्र का शासकों के शासन और समाज-तंत्र में अव्यवस्था न होने देना।

सीखचों से दो हाथ लम्बा आसमान का टुकड़ा दीखता है। एक मकान की सफेद पीली छत दीखती है, छत के पीछे हरा वृक्ष दीखता है। इधर पूरब में दीवाल के ऊपर उठी हुई निरन्तर धूआँ फेंकनेवाली किसी मिल की दो अँगुल चिमनी।

कुम्हलाई पीली धूप का बित्ता भर चकत्ता सामने की दीवाल पर डरता-डरता खिसकता है। उधर छाती फाड़ती हुई भूखे दैत्य की तरह चिमनी चिंघाड़ती है।

दोनो कान उठाये, 'आ-जा' आ-जा साँस लेता एक खरगोश चुपके-से घुस आया।

छुट्टी हो गई होगी। लोगों को घर जाने की जल्दी होगी। सड़कों पर भीड़ उमड़ पड़ी होगी।

पर आज उस गली के मोड़ पर कोई नहीं मुड़ेगा। दो आँखें असफल लौट-लौट जायँगी। व्यर्थ गली के पत्थरों से टकराएँगी।

और क्या दुनिया किसी एक की अनुपस्थिति में रुकी रहती है ?

और क्या मैं इस आँगन से बाहर उसी मटमैले लाल रास्ते पर होकर फिर वहीं नहीं जा सकता ?

वह चकत्ता पुँछकर आधी अँगुल का रह गया है। यह कैसा सन्नाटा है ?

अजी जनाब यह मौत का घर है !

× × ×

सुबह चार रोटी मिलती हैं, क्योंकि हुक्म है; साँझ को चार रोटी मिलती हैं, क्योंकि हुक्म है। सबेरे दस बजे ही मिलेगी और साँझ को चार बजे ही मिलेगी। और चार ही मिलेंगी। यही हुक्म है। ताला नहीं खुलेगा। पढ़ने को नहीं मिलेगा, लिखने को नहीं मिलेगा। काम नहीं मिलेगा। घूमना नहीं मिलेगा। ठण्ड से मर जाओ पर दो कम्बल से ज्यादा नहीं मिलेगा। हुक्म है, कानून है। मैं गुन्हेगार हूँ। मैंने गुन्हा किया है।

कानून आदमी के लिए है या आदमी कानून के लिए है ? भूख रोटी के लिए है या भूख कानून के लिए है ? कम्बल ठण्ड के लिए हैं या कम्बल कानून के लिए हैं ?

नौ बजे सो जाओ ! सो जाओ ! मत बोलो । खैर सल्ला है । खैर सल्ला है । मत बोलो ! हुकुम है । कानून है । यह मौत का घर है, मौत का ! सो...जा...

× × ×

सफेद-पीली छत पर किसी की ओढ़नी सूखी है । लाल ओढ़नी, काले फूल ! लाल रंग, काला रंग ! प्रगति का प्यारा रंग ।

यह ओढ़नी किसकी होगी ? शायद स्कूल जानेवाली कोई छोकड़ी होगी ? ना, गृहिणी होगी ; मा होगी । कोई मजदूरिन, कोई सेठानी, कोई मध्यमश्रेणी वाली ! कोई औरत । यह लाल ओढ़नी, ये काले फूल !...

'भैया, सुनो !

'आखिर उसने मेरे पैसे दाब लिए ! तीस कलदार थे श्यामू भैया । पूरे तीस कलदार ! गुलबा के लिए मैंने छाती फाड़कर इकट्ठा किये थे । उसको चाँदी के छड़े पहिनने की हविस थी ! गुलबा मेरी दिलरुबा है श्यामू भैया ! मैंने बहुत चिरौरी की, बहुत हाथ-पाँव जोड़े पर भैया उसके सिर पर मौत खेल रही थी और अल्ला मियाँ ने उसकी आगबत मेरे हाथों ही लिखी थी ! एक झापड़ मारी तो व' उलाल हो गया !...

'और गुलबा अब बेवा हो जायगी । और वह शायद हमल से थी । अल्ला...

'मौत का घर है श्यामू भैया !'

× × ×

आदमी में इतनी विवशता क्यों है ? क्यों इतनी हीनता है ? दरिद्रता का काम्प्लेक्स, पैसे का काम्प्लेक्स, जातीय काम्प्लैक्स । और यह समाज-रचना । पीली धूप का चकत्ता काँप रहा है । कल फाँसी है । आज जिन्दगी और कल मौत है । गाओ, नाचो, तसले बजाओ । कम्बल ओढ़कर नाचे जाओ । जिन्दगी का यह अन्तिम दिन है । आज बेड़ी बजा लो । कल कट जायेगी । जिन्दगी की डोर कट जायेगी । डर ? ना डर नहीं लगता । अल्ला मियाँ का नाम लेकर आँखें मींच लूँगा । जरा-सी देर, खटका दबा और...पर कल गुलबा बेवा हो जायगी अल्ला ! नाचो, गाओ ! गाओ श्यामू भैया, तुम्हारा गुजराती गीत गाओ ! आज जिन्दगी है कल मौत है ।

श श श...! चरर-चरर ! मटमैले रास्ते पर जूते बज रहे हैं । श श श...! यह मौत का घर है । चुप ! चुप ! चुप ! चु...

× × ×

यह मौत का घर है । मौत का घर जनाब ! इस घर में आया आदमी वापिस नहीं लौटता । दरवाजे से फिर कोई जीवित नहीं निकलता । एक गोरखधन्धा है । चक्की चलती है । यह साँय-साँय कैसी है ? किसी मुर्दे की पसलियों से साँस तो नहीं आ रही है ? दीवाल पर यह उजेला कैसा है ? यह काला हाथ किसका है ?

यह मौत का घर है ! यह काल कोठरी है ! ये सींखचे हैं। ममता ने कहा था— जल्दी लौट आना। मा ने आग्रह किया था मत जा। आर्द्रा कुलमुलाई थी। मैं नहीं माना। मौत का घर वीरान था। उसे कौन आबाद करता ? भरे घर वीरान होते हैं हमेशा के लिए और मौत का घर दो दिन, चार दिन छः-आठ दिन के लिए आबाद हो जाता है !

आज आखरी दिन है। गीता सुन लो। कलाममजीद सुन लो। मौलूदशरीफ़ के शिपारे सुन लो। कट जायेगी डोर ! खुदा हाफ़िज ! खुदा हाफ़िज़। राम-राम श्यामू भैया ! मुझे माफ़ कर दीजो ! गुलबा बेवा हो जायगी।...

'मटन खायगा ?'

'मिठाई खायगा ?'

कौन खायगा ? क्या खायगा ? आज का सूरज आखरी है !...पीला चकत्ता डरता-डरता गायब होने को रेंग रहा है।...

'सलाम चाचा ! सलाम दद्दू !'

'हें-हें, आखरी सलाम ! मरद मौत से नहीं डरते ! अल्ला का नाम लो। मेरे सामने 'कजाने कित्ती' फाँसियाँ हो गईं। लो बीड़ी पियो ! आज आखरी दिन। यह मौत का घर है।'

× × ×

उन्होंने सुन लिया होगा ! सुन लिया होगा। मैं काल-कोठरी में हूँ। मौत के घर हूँ। दो हाथ आसमान का टुकड़ा दीखता है। पासवाली कोठरी खाली हो गई है। यह कोठरी कब खाली होगी ? कब ? मैं कल क्यों रोया था ? क्यों ? गुलबा बेवा हो गई ! चार-महीने छः-महीने मातम मनायेगी। फिर किसी का घर बसायेगी। लाल ओढ़नी, काले फूल !

यह ताला क्यों नहीं खुलता ? आठ-दस पैसे की क़लम का हुक्म है। आदमी इतना विवश भी हो सकता है !

सात दरवाज़ों और सात तालों के बाहर आज़ादी है। हज़ार में एक मौका जिन्दगी है बाक़ी मौत है। एक मौके में लुत्फ़ है। आज़ादी के और मेरे बीच यह एक दीवाल है। यह एक जरा-सी दीवाल !

अगर यह दरवाजा खुल जाय ! किसी तरह यह दरवाला खुल जाय ! पर इस दरवाजे से कोई जीवित बाहर नहीं निकला है। और यह घर मौत का है जनाब, मौत का घर...

✶

कहानीकार प्रेमचन्द

●

[गंगाप्रसाद मिश्र]

[२]

इसके पश्चात उनकी ग्रामीण जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली कहानियाँ आती हैं, जो उनकी सर्वोत्कृष्ट रचनाएँ हैं क्योंकि इस क्षेत्र-विशेष में लेखक की अपनी अनुभूति हमें इन रचनाओं में मिलती है। गाँव में लोग एक ओर एक दूसरे के सुख-दुख में साथी हैं, मदद की जरूरत पर अपनी जान तक होम कर देनेवाले, वहाँ शिक्षा की कमी के कारण ऐसे भी हैं जो अपने खेत की एक बाली तोड़ लेने पर खून-खच्चर कर देंगे। गाँवों के झगड़े कैसी अस्तित्व-हीन बातों से शुरू होते हैं और उनके अन्त दो ही हो सकते हैं या तो सिर-फुड़ौअल या सम्पत्ति-नाशक मुकद्दमेबाजी। जहाँ गाँवों में ऐसे नासमझ और शैतान हैं वहाँ अपढ़ नीतिज्ञ भी ऐसे जबरदस्त हैं जिनके सामने बड़े-बड़े विद्वान पानी भरें, पंचायत में ऐसा फैसला कर देंगे कि जजों की बुद्धि चकरा जाय। वह सब प्रेमचन्दजी को अपनी दिव्य दृष्टि के कारण ही दिखलाई पड़ा है। गाँवों का दृश्य और वातावरण तो प्रेमचन्दजी ने ऐसा सजीव उपस्थित कर दिया है कि देखते ही बनता है। गाँव के ग़रीब पासी और चमारों से लेकर, कर्ज के भार से दबे जमींदार के लगान से परेशान, महाजन के शिकार किसान, चालबाज और पैसे के लिए कागजों में हेरफेर करनेवाले पटवारी, सूद खा-खाकर मोटे होनेवाले महाजन, और असामियों के गले पर छुरी फेरने में सिद्धहस्त, दो के चार रुपये लगान के मद्द में लेने में चतुर और उसके साथ पशुवत व्यवहार करनेवाले ज़मींदार तक उनकी कहानियों में बिलकुल स्वाभाविक रूप में आते हैं।

उनकी ग्रामीण घरों की कहानियाँ बड़ी ही सजीव, शिक्षाप्रद और सुन्दर हैं। उनमें कथोपकथन की स्वाभाविकता है, चरित्र-चित्रण की कुशलता और आदर्श की उच्चता। इस प्रकार की कहानियों में 'बड़े घर की बेटी', 'अलग्योझा', 'सुजान भगत', 'घर जमाई', शंखनाद इत्यादि बड़ी सुन्दर रचनाएँ हैं। अधिकतर इनके कथानक में यह रहता है कि लोग अपनी मनोवृत्ति की नीचता के कारण अपने को पराया समझने लगते हैं, उसके साथ शुष्क व्यवहार करके जीवन-भित्ति में दरार डाल देते हैं, सारा जग उनकी इस नादानी पर हँसता है, लेकिन वे नहीं चेतते, पर परिस्थितियाँ ऐसी शक्तिमती होती हैं कि वे एक ऐसे क्षण की सृष्टि कर देती हैं कि वह सारा जीवन का वैर-भाव एक क्षण में भूल

जाता है, टूटे दिल फिर मिलते हैं, फिर स्नेह की आर्द्रता से वह शुष्कता हटती है। इन कहानियों में मनोभाव का संकल्प-विकल्प बड़ा सुन्दर दिखलाया जाता है, आखिर अपना-अपना ही है, उसे पराया समझना हँसी-ठट्टा नहीं है, लेकिन कोरी नासमझी या एक दूसरे को समझने में ग़लती होने पर मन में गाँठ पड़ जाती है, वैमनस्य की दीवार खड़ी होकर अभिन्न हृदयों को भिन्न कर देती है।

इन कहानियों में अक्सर प्रेमचन्दजी एक बात का इशारा किया करते हैं। जब तक व्यक्ति क्रियाशील है, मेहनत करता है, कमाता है तभी तक घर में उसका आदर है अन्यथा वह दुतकारा जाता है, 'सुजान भगत' में यही तथ्य कहानी की समस्या बनकर आया है।

यह वैमनस्य अधिक नहीं चल सकता क्योंकि इस दीवार की नींव कच्ची है, सात्विकता नहीं है, आन्तरिक प्रेम की एक ही तरंग उसे ढा देती है।

'बड़े घर की बेटी' में : लालबिहारी खाने को बैठा तो दाल में घी नहीं। भाभी से बोला, अभी परसों घी आया था, इतनी जल्दी उठ गया। तमककर, मैके में तो घी की नदी बहती होगी। बड़े घर की बेटी आनन्दी मुँह फेर कर जवाब देती है...हाथी मरा भी तो नौ लाख का, वहाँ इतना घी नित्य नाई, कहार पी जाते हैं। लालबिहारी, अपढ़ उजड्ड ठाकुर, क्रोध में उबलकर खड़ाऊँ फेंककर मारता है। आनन्दी रोकर सब बातें पति से कहती है। श्रीकंठ रात भर करवटें बदलते रहे, क्योंकि जिस स्त्री की मान-प्रतिष्ठा के लिए वह ईश्वर के दरबार में उत्तरदाता है, उसके साथ ऐसा घोर पशुवत व्यवहार उनके लिए असह्य था। वे घर से अलग होने का निश्चय कर लेते हैं, बाप के लाख समझाने पर भी नहीं मानते, लालबिहारी को मालूम होता है, तो वह पछताता है। खुद घर से निकलने को तैयार होकर भाभी से माफी माँगने आता है तो आनन्दी के मन का मैल धुल जाता है, वह कहती है...तुम्हें मेरी सौगन्ध है जो एक पग भी आगे बढ़ाया।

इन कहानियों में उक्तियों की स्वाभाविकता और व्यक्ति-विशेष के अनुसार बातचीत प्रेमचन्दजी बड़े ढंग से करवाते हैं जो उनके सूक्ष्म अध्ययन को दिखलाती है। ग्रामीण झगड़ों की कहानियाँ और उनके निपटारे का ढंग भी प्रेमचन्दजी का बड़ा सुन्दर है, कभी पश्चात्ताप से होता है, कभी वह धन की गर्मी या व्याध की जड़ ही नहीं रह जाती जिसके कारण झगड़ा हुआ था तब दोनों फरीकैनों के मन एक दूसरे की तरफ से साफ़ हो जाते हैं। इन कहानियों में दुश्मनी निकालने के दाँव-घात और तर्कीब खूब दिखलाई जाती है—इसी में अपना दिमाग दौड़ाते हैं बाद को चेतने पर उन्हीं पर दुख प्रगट करते हैं। ऐसी कहानियों में 'मुक्तिमार्ग', 'पंच परमेश्वर' इत्यादि प्रेमचन्दजी को अमर कर देनेवाली रचनाएँ हैं।

झींगुर किसान अपने खेत में बुद्धू गड़रिये की भेड़ें घुस जाने पर डंडा लेकर निर्दयता से भेड़ों को पीट डालता है, कई लूली-लँगड़ी हो जाती हैं और कई अधमरी। इसका बदला बुद्धू झींगुर की ऊख में आग लगाकर लेता है। झींगुर के मन में गाँठ पड़ जाती है, वह बदला लेने के लिए फिर बुद्धू से मित्रता करता है। फसल की तैयारी का

वक्त आता है तो झींगुर अपनी बछिया चराने को बुद्धू को राजी कर लेता है—उसी रात को हरिहर चमार जो झींगुर से मिला था, उसे कुछ खिला देता है और वह दूसरे दिन भेड़ों में मरी पाई जाती है। बुद्धू को हत्या लगती है और उसके प्रायश्चित में घर की सारी दौलत चली जाती है। अब बुद्धू भी उतने ही फटेहाल है जितना झींगुर। दोनों शहर में एक ही जगह मजूरी करते हैं। रात में आग जली, आटा गूँधा गया। झींगुर ने कच्ची-पक्की रोटियाँ बनवाई। बुद्धू पानी लाया। दोनों ने लाल मिर्च और नमक से रोटियाँ खाईं। फिर चिलम भरी गई। दोनों आदमी पत्थर की सिलों पर लेटे और चिलम पीने लगे।

बुद्धू ने कहा—तुम्हारी ऊख में आग मैंने ही लगाई थी।

झींगुर ने विनोद के भाव से कहा: जानता हूँ। थोड़ी देर के बाद झींगुर बोला: बछिया मैंने ही बाँधी थी और हरिहर ने उसे कुछ खिला दिया था।

बुद्धू ने भी वैसे ही भाव से कहा: जानता हूँ, फिर दोनों सो गये।

—मुक्ति-मार्ग

क्रोध की आग ने दोनों को अन्धा बना दिया था, तब वे दोनों एक दूसरे की सम्पत्ति से जलते थे, उस समय तक खूब काँट-पेंच करते रहे यहाँ तक दोनों कौड़ी के तीन-तीन हो गये। तब बैर भाव भुला गया। अब काहे की शत्रुता और काहे की ईर्ष्या, कैसी आसानी से दोनों अपने कुकृत्यों को एक दूसरे के सामने स्वीकार कर लेते हैं। जानते हैं अब अनिष्ट की आशंका नहीं है। झगड़े का दुष्परिणाम इससे अधिक कहाँ दिखलाई देगा।

'पञ्च परमेश्वर' कहानी में पञ्च के उत्तरदायित्व और महिमा की कहानी है। अलगू चौधरी और जुम्मन शेख गाढ़े मित्र हैं। जुम्मन अपनी खाला की सारी सम्पत्ति लिखवा कर उसे रोटी कपड़ा नहीं देते। वह पञ्चायत बुलाती है। चुने हुए पञ्च अलगू जुम्मन के विरुद्ध फैसला करते हैं, जुम्मन क्रोधित हो जाते हैं। अलगू समझू शाहू का बैल लेते हैं, रुपया बाकी रहता है, बड़ी मेहनत और चारे की कमी से बैल मर जाता है, समझू रुपया देने से इन्कार करता है। पञ्चायत बैठती है, चुने जाते हैं पञ्च जुम्मन, अलगू डरते हैं कि यह कसर निकालेगा। पर जुम्मन को अपने उत्तरदायित्व का ज्ञान होता है, वे दूध का दूध और पानी का पानी कर देते हैं, समझू को बैल का दाम देना पड़ेगा। अलगू ने उठकर कहा पञ्च परमेश्वर की जय। उस समय दोनों के दिलों का मैल धुल गया।

पञ्च का प्रभाव बताते हुए प्रेमचन्दजी लिखते हैं: यह मनुष्य का काम नहीं, पञ्च में परमेश्वर वास करते हैं। यह उन्हीं की महिमा है। पञ्च के सामने खोटे को खरा कौन कर सकता है...पञ्च के पद पर बैठकर न कोई किसी का दोस्त होता है न दुश्मन। न्याय के सिवाय उसे और कुछ नहीं सूझता...पञ्च की जबान से खुदा बोलता है।...

—पञ्च परमेश्वर।

ग्राम्य-जीवन में और भी बहुत-सी मनोवृत्तियों को लेकर कहानियाँ प्रेमचन्दजी ने लिखी हैं। किसानों और अमानुषिक अत्याचारों की कहानी, मानवीय कोमल मनोवृत्तियों की कहानी जैसे 'माँ' 'बेटोंवाली विधवा' 'ईदगाह' इत्यादि। किसी में करुणा और दया का खेल है तो किसी में माँ के हृदय की महिमा। 'ईदगाह' बड़ी ही सुन्दर कहानी है।

समझदार बच्चा हामिद ईद के रोज अपने तीन पैसों की पूँजी से और बच्चों की तरह न खिलौने लाता है न मिठाई बल्कि एक चिमटा मोल लाता है जिससे उसकी दादी का हाथ रोटी बनाते वक्त न जले। बुढ़िया सुख से विह्वल हो जाती है। कैसी जगह हामिद के चिमटे ने उस पर चोट की है यह प्रेमचन्दजी ही अव्यक्त रूप में समझा सकते हैं।

व्यंगात्मक अर्थात् आयरनी से भरी हुई कहानियाँ भी प्रेमचन्दजी ने लिखी हैं, जिनके मूल में व्यंग ही व्यंग भरा है। यह कहानियाँ अन्योक्ति का बड़ा ज़बरदस्त उदाहरण हैं। कहा कुछ जाता है और मतलब कुछ और ही निकलता है। इस प्रकार की कहानियों में 'पूस की रात', 'शतरंज के खिलाड़ी' और 'कफ़न' प्रसिद्ध हैं।

'पूस की रात' कहानी में हल्कू जो खेती करके भी अपने रोटी कपड़े का ठीक प्रबन्ध नहीं कर पाता है और स्त्री भी मजदूरी करने की बात को टाला करती है, अपनी खेत की रक्षा करने को रात में जाता है। जाड़े में नींद नहीं पड़ती तो तापने के लिए पास के बाग़ में चला जाता है और वहीं सो जाता है। सबेरे स्त्री आकर जगाती है। रात को उधर सारा खेत नील गायों ने चौपट कर दिया।

दोनों खेत की दशा देख रहे थे। मुन्नी के मुख पर उदासी थी, पर हल्कू प्रसन्न था।

मुन्नी ने चिन्तित होकर कहा : अब मजूरी करके मालगुजारी भरनी पड़ेगी।

हल्कू ने प्रसन्न मुख से कहा : रात की ठण्ड में यहाँ सोना तो न पड़ेगा।

इस जगह हल्कू की प्रसन्नता में उस रोने से ज्यादा करुणा है जो गगनभेदी चीत्कार से प्रारम्भ होता है, उसकी उदासीनता और मुस्कराहट ज्यादा चोट पहुँचाती है। यदि वह शोक प्रकट करता होता तो पाठकों के मन में भावों की तीव्रता इतने उच्च-स्थान तक न पहुँचती।

'शतरंज के खिलाड़ी' कहानी का ऐतिहासिक कहानियों में वर्णन हो चुका है। मीर साहब और मिर्जा साहबजी को नवाब साहब के गिरफ्तार होने पर मत्थे पर शिकन न लाना और शतरंज के वजीर के लिए मर मिटना कैसी विडम्बना है, पतन की पराकाष्ठा, इसमें कितना व्यंग भरा है।

'कफ़न' : कहानी शायद कला की दृष्टि से देखने पर प्रेमचन्दजी की सर्वोत्कृष्ट कहानी ठहरे। इससे बढ़कर व्यङ्ग-चित्र बनाने की सामर्थ्य बड़े-बड़े चित्रकारों में न मिलेगी। घीसू और माधव के चरित्र कितने स्वाभाविक हैं, जितने मन आवें अपने ग्रामों में देख लीजिये। दारिद्रय का ताण्डव-नृत्य जैसा आपको इस कहानी में मिलेगा वैसा अन्य स्थान पर नहीं। 'भुभूक्षित: किं न करोति पापं, दीनाजना निष्करुण भवन्ति' का वास्तविक चित्र इस कहानी में मिलता है। घीसू और माधव बाप-बेटे बड़े ही काम-चोर चमार हैं जिन्होंने अपनी जिन्दगी के क्रमश: साठ और बीस साल इसी तरह काट दिये थे। मेहनत के पास न फटकते थे चाहे फाका करना पड़े। साल भर पहले माधव का ब्याह हुआ था, तब से वह औरत कूट-पीस कर दोनों का पेट भरती थी। आज प्रसव-वेदना से वह विकल थी, लेकिन दोनों घर के सामने अलाव में बैठे हुए आलू भूनते थे। जब वह चिल्लाती तो एक दूसरे से देख आने को कहते, जाता कोई नहीं, डर था कि

दूसरा आलू न खा जाय। आलू खाकर वहीं सो गये। सवेरे उठे तो स्त्री मरी पड़ी हुई मिली। रोने पीटने लगे, घर में कफन के लिए कौड़ी न थी। गाँववाले वैसे तो दोनों की हरामखोरी पर बेजार रहते थे, पर इस वक्त धर्म समझा। इधर लोग बाँस काटने लगे और दोपहर को घीसू और माधव कफन लेने चले, लेकिन खरीदा कुछ नहीं। दोनों शराब-खाने पहुँचे, पूरी बोतल खत्म की, पूरियाँ खाईं ऊपर से बहू को आशीर्वाद दिया कि सीधी सरग जाय। नशे में रोये फिर गाने लगे...'ठगिनी क्यों नैना झमकावे' और आखिर-कार नशे में बदमस्त होकर गिर पड़े।

इस कहानी के घीसू और माधव कामचोर हैं, शराबी हैं, नीच और स्वार्थी हैं, परन्तु लेखक की मौन सहानुभूति उनके आसपास के वातावरण में ऐसी दिखलाई पड़ती है कि हम उनसे घृणा नहीं कर पाते वरन् उनसे सहानुभूति ही करते हैं। एक जगह वे इन दोनों की वकालत इस तरह करते हैं :—

जिस समाज में रात-दिन मेहनत करनेवालों की हालत उनकी (घीसू और माधव) की हालत से कुछ बहुत अच्छी न थी और किसानों के मुकाबिले में वे लोग जो किसानों की दुर्बलताओं से लाभ उठाना जानते थे, कहीं ज्यादा सम्पन्न थे, वहाँ इस तरह की मनोवृति का पैदा हो जाना कोई अचरज की बात न थी। हम तो कहेंगे, घीसू किसानों से कहीं ज्यादा विचारवान था। और किसानों के विचारशून्य समूह में शामिल होने के बदले बैठकबाजों की कुत्सित मण्डली में जा मिला था, हाँ, उसमें यह शक्ति न थी कि बैठकबाजों के नियम और नीति का पालन करता। इसलिए जहाँ उसकी मण्डली के लोग गाँव के सरगना और मुखिया बने हुए थे, उस पर सारा गाँव उँगली उठाता था। फिर भी उसे यह तसल्ली तो थी ही कि अगर वह फटेहाल है तो कम से कम किसानों की-सी जीतोड़ मेहनत तो नहीं करनी पड़ती। और उसकी सरलता और निरीहता से दूसरे लोग बेजा फ़ायदा तो नहीं उठा पाते।

कितना कटु सत्य प्रेमचन्दजी ने लिपिबद्ध कर दिया है। यह उनकी वास्तविक अनुभूति थी कि वे इस प्रकार की रचनाएँ कर सके। इस कहानी में माधव का यह डर कि अगर वह स्त्री को अन्दर देखने जायगा तो घीसू आलुओं का बड़ा भाग साफ कर देगा, हमें न उसकी स्वार्थपरता पर हँसाता है न क्रोध ही दिलाता है बल्कि हम उसके पापी पेट की जलन की तीव्रता पर रो उठते हैं। कभी भर पेट भोजन नहीं मिलता, आज इत्तिफाक से हाथ में पैसे लगे हैं, तो उन्हें भरपेट पूड़ी खाना और शराब पीना ज्यादा तत्व की बात मालूम होती है बनिस्बत कफन लेने के जिसे वे तर्क द्वारा बिलकुल व्यर्थ की चीज़ समझते हैं क्योंकि वह मृत आत्मा के साथ तो जाएगा नहीं।

अपने तीव्र व्यंग को निभाने के लिए प्रेमचन्दजी इन कहानियों में जैसे चरित्रों की सृष्टि करते हैं वह उनका ही काम है। कफन के घीसू और माधव, शतरञ्ज के खिलाड़ी के मिर्जाजी और मीर साहब बिलकुल उनकी कल्पित कृतियाँ हैं। प्रेमचन्दजी पर कभी-कभी दोष लगाया जाता है कि उनके पात्र सदा हम लोगों के बीच की चीज़ होते हैं। कभी भी वे रवीन्द्रनाथ इत्यादि की भाँति पात्र गढ़ते नहीं। इन रचनाओं में हम इस आक्षेप का

अपवाद पाते हैं। यह आसानी से कहा जा सकता है कि प्रेमचन्दजी की यह तीन व्यंगात्मक रचनाएँ ही उनको अमर कहानीकार बना देने के लिए पर्याप्त थीं।

प्रेमचन्दजी पर शुक्लजी ने यह दोष लगाया है कि कथा के अन्त में उनके कलाकार का रूप छिप जाता है और वे प्रोपेगैन्डिस्ट उपदेशक के रूप में हमारे सामने आ जाते हैं। शायद यह बात कहते समय शुक्लजी के सामने प्रेमचन्दजी के उपन्यास और राष्ट्रीय कहानियाँ हों, क्योंकि वैसे तो प्रेमचन्दजी सर्वत्र ही लोकहितकारी कला का सिद्धान्त मानते हैं पर राष्ट्रीय कहानियों में उनकी यह भावना हमें तीव्रतम दिखलाई देती है। इस जगह वे आदर्शों की झड़ी लगा देते हैं और सच तो यह है कि जिस उद्देश्य से यह कहानियाँ लिखी जाती हैं वह इसके बिना पूरा ही नहीं हो सकता। लेकिन हम इसके लिए प्रेमचन्दजी को दोषी नहीं ठहरा सकते। यदि उनमें अपने देश के लिए मर मिटनेवाले पैदा करने की लगन थी तो यह कोई पाप नहीं बल्कि हर स्वतन्त्र चिन्तन करनेवाले व्यक्ति के लिए स्वाभाविक ही है। इस पर यदि हम यह कह दें कि प्रेमचन्दजी कलाकार नहीं हैं तो संसार के लेखकों में से बहुतों का पटरा उलट जायगा, तब मैक्सिम गोर्की कलाकार नहीं कहला सकता जिसकी 'मदर' की-सी उपदेशात्मक और प्रोपेगैन्डा करनेवाली कृति संसार में न मिलेगी, तब उपयोगी कला के सारे उन्नायक उपदेशकों की मण्डली में शामिल हो जाएँगे। लेकिन कला की यह कसौटी तब तक सर्वमान्य नहीं हो सकती जब तक संसार में सद्-असद् का ज्ञान न हुआ है। जहाँ प्रेमचन्दजी घर के अन्दर की समस्याओं को सुलझाते हैं वहीं वे व्यक्ति का जो समाज से सम्बन्ध है उसमें भी अपनी लेखनी की करामात दिखलाते हैं। सच तो यह है कि प्रेमचन्दजी का यही वास्तविक क्षेत्र है जहाँ उनकी प्रतिभा उच्चतम बिन्दु पर पहुँचती हुई दिखलाई देती है। समाज कितनी बड़ी चीज है, जिसमें व्यक्ति सागर के जल की एक बूँद के समान ही अपना अस्तित्व रखता है इससे अधिक नहीं।

प्रेमचन्दजी की राष्ट्रीय कहानियाँ 'समरयात्रा' नामक संग्रह में संग्रहित हैं। इन कहानियों का वातावरण इतना उत्तेजनापूर्ण है कि मुर्दादिल में भी जिन्दादिली आ ही जाती है। इस प्रकार की कहानियों में कथानक उतनी मुख्य वस्तु नहीं रह जाती। ज़्यादातर मनोवृत्तियों का परिवर्तन ही हम इन कहानियों में देखते हैं जो अधिकतर आकस्मिक ही होता है। हृदय पर कोई ऐसी चोट लग जाती है कि जीवन स्रोत की दिशा ही बदल जाती है। वर्षों से चला आनेवाला वह पुराना ढर्रा साँप की केंचुल की तरह निर्मोही होकर छोड़ दिया जाता है और नई गति-विधि का स्वागत होता है। इनमें कांग्रेस कार्यकर्ताओं के चरित्र बड़े ही आदर्श चित्रित किये गये हैं। स्वतन्त्रता के संग्राम में हम ऐसे व्यक्तियों को बराबर देखते रहे हैं, बेटी ने बाप की दुकान पर धरना दिया है, और पत्नी ने पति का विरोध किया है। इस कारण ये चरित्र हमें अस्वाभाविक नहीं मालूम पड़ते। वैसे तो इस संग्रह की सभी कहानियाँ अपने उद्देश्य में पूरी उतरती हैं, परन्तु 'समरयात्रा', 'मैकू', 'जेल', 'पत्नी से पति', 'होली का उपहार' बहुत अच्छी हैं।

अछूतोद्धार की भावना से भी प्रेमचन्दजी प्रभावित हुए थे। अछूतों के प्रति किये

हुए अत्याचारों पर उनके हृदय में भी काफ़ी दाग लगे थे जो उनकी कहानियों के रूप में हमारे सामने आते हैं। 'मन्दिर' में मन्दिर प्रवेश समस्या की बड़ी ही करुण कथा है। सुखिया अपने बीमार बच्चे को ठाकुरजी के चरणों पर लिटाना चाहती है पर अस्पृश्य होकर मन्दिर में कैसे जा सकेगी। पुजारी नहीं मानता। माता का हृदय सुखिया को मजबूर करता है कि वह बच्चे को लेकर रात में चोरी से मन्दिर में जाकर भगवान के चरण छूकर बच्चे के लिए आरोग्य माँगे। इसी वक्त जगहर हो जाती है, सुखिया पर मार पड़ने लगती है। एक ठाकुर के धक्के से उसका बच्चा हाथ से छूटकर दूर जा गिरता है और अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देता है। तब सुखिया कहती है : पापियो, मेरे बच्चे के प्राण लेकर अब दूर क्यों खड़े हो। मुझे भी क्यों नहीं उसी के साथ मार डालते ? मेरे छूने से ठाकुरजी को छूत लग गई। पारस को छूकर लोहा सोना हो जाता है, पारस लोहा नहीं हो जाता। मेरे छूने से ठाकुरजी अपवित्र हो जायेंगे। मुझे बनाया तो छूत नहीं लगी।

किसके पास था इन दलीलों का उत्तर। जिन लोगों ने एक क्षण पहले उस पर लात-घूसे जमाये थे वे ही उसके तेज पर चकित हो गये। सुखिया भी वहीं मूर्छित होकर गिर पड़ी और बच्चे के लिए प्राण दे दिये।

अस्पृश्यता का प्रश्न लेकर इसी प्रकार की 'ठाकुर का कुँआ' शीर्षक कहानी है।

इस प्रकार मोटे-मोटे भागों में विभाजित कर हम प्रेमचन्दजी की कहानियों को देखते हैं, तो हमें यह मालूम होता है कि प्रेमचन्दजी का-सा लम्बा-चौड़ा कार्य-क्षेत्र हमें शायद ही किसी कहानीकार का मिले। झोपड़ियों से लेकर राजमहलों तक उनकी पहुँच है। कहीं भी उनकी नजर उचटती हुई नहीं पड़ती, अन्दर घर करती हुई चली जाती है।

प्रेमचन्दजी की अधिकतर कहानियों में कथानक काफी लम्बा-चौड़ा रहता है। कभी-कभी कहानी जहाँ से शुरू होनी चाहिए उसके काफी पहले शुरू हो जाती है। जब प्रेमचन्दजी बीच में अपना किसी वस्तु के वर्णन करने का लोभ संवरण नहीं कर पाते तो कथानक के प्रवाह में धीमापन भी आ जाता है चाहे पाठक उनके मनोरंजक वर्णन के कारण इस बात को भूला रहे। कहीं-कहीं कहानी क्लाइमेक्स के बाद भी चलती है, जब तक कि लेखक अपना उद्देश्य पूरा नहीं कर लेता। बहुत से स्थान पर कहानियों के अन्त में परिवर्त्तित पात्र व्याख्यान भी देते हैं और इस प्रकार लेखक जिस बात को कथानक द्वारा दिखलाने में समर्थ नहीं हो पाता उसकी इच्छा भाषण द्वारा पूर्ण करता है। यह दोष हमें कहीं-कहीं मिलते हैं लेकिन जिस व्यक्ति ने कहानियों की इतनी बड़ी राशि हमें दी है, जिससे हम पचासों ऐसे अनमोल रत्न निकाल सकते हैं जो संसार के साहित्य में प्रकाश फैलावें, उसके लिए यह क्षम्य है। उनकी उत्कृष्ट रचनाओं में यह दोष नहीं पाये जाते और बाद की लिखी कहानियाँ तो अधिकतर इकहरी हैं।

चरित्र-चित्रण में प्रेमचन्दजी बहुत सफल हुए हैं। वे कहानियों में जहाँ कि चरित्र की पूरी रूप-रेखा बनाने का समय नहीं रहता संक्षेप में ऐसी कुशलता से सिद्ध चित्रकारों की भाँति कुछ ही ब्रश लगाकर हमारे सामने एक रूप खड़ा कर देते हैं जो अपने में पूर्ण होता है। भानु चौधरी अपने गाँव के मुखिया थे। गाँव में उनका बड़ा मान था।

दरोगाजी उन्हें टाट बिना ज़मीन पर न बैठने देते। मुखिया साहब की ऐसी धाक बँधी हुई थी कि उनकी मर्जी बिना गाँव में एक पत्ता भी नहीं हिल सकता था। कोई घटना चाहे वह सास-बहू का विवाद हो चाहे मेड़ या खेत का झगड़ा, चौधरी साहब के शासनाधिकार को पूर्णरूप से सचेत करने को काफी था। वह तुरन्त घटनास्थल पर जा पहुँचते, तहकीकात होने लगती, गवाह और सबूत के बिना किसी अभियोग को सफलतापूर्वक चलाने में जिन बातों की ज़रूरत होती है उन सब पर विचार होता और चौधरीजी के दरबार पर फैसला होता। किसी को अदालत तक जाने की ज़रूरत न पड़ती। हाँ, कष्ट के लिए चौधरी साहब कुछ फीस जरूर लेते थे। यदि किसी अवसर पर फीस मिलने में असुविधा के कारण उन्हें धीरज से काम लेना पड़ता तो गाँव में आफत मच जाती थी। क्योंकि उनके धीरज और दरोगाजी के क्रोध में कोई घनिष्ट सम्बन्ध था। सारांश यह है कि चौधरी से उनके दोस्त, दुश्मन सभी चौकन्ने रहते थे।

इस जगह एक पैराग्राफ में प्रेमचन्दजी ने हमारे सामने चौधरी साहब को जितना साफ़-साफ़ समझा दिया है, फिर बात कही जाती है और ढंग से तब उसकी बात ही और हो जाती है। चौधरी साहब के धीरज और दरोगाजी के क्रोध में सम्बन्ध होने की बात चौधरी साहब के चरित्र की कितनी बड़ी विशेषता है। शैली की यही विशेषता होती है, बात को एक ढंग से कहना। चरित्र-चित्रण में प्रेमचन्दजी बड़े ही कुशल हैं। 'राजा हरदौल' और 'रानी सारन्धा'-सी वीर आत्माएँ, 'नोहरी'-सी देश-भक्त वृद्धा, 'बैंक का दिवाला' के कुँवर साहब से त्यागी और 'कफन' के घीसू और माधव उनके चित्रित अमर चरित्रों के नमूने हैं। अधिकतर उनके चरित्र-चित्रण की यह खूबी रहती है कि जिन पात्रों को वे कथा के प्रारम्भ में निम्न कोटि का चित्रित करते है कहानी के अन्त में वे भी आदर्श पर पहुँच जाते हैं। जनता को भी वे खूब समझते हैं और उनकी कई कहानियों में सामूहिक जनता के मनोविज्ञान के उत्कृष्ट नमूने हैं।

'पूस की रात' में अलाव जलने का वर्णन: थोड़ी देर में अलाव जल उठा। उसकी लौ ऊपरवाले वृक्षों को छू-छूकर भागने लगी। उस अस्थिर प्रकाश में बगीचे के विशाल वृक्ष ऐसे मालूम होते थे मानो उस अथाह अन्धकार को अपने सिर पर सम्हाले हुए हों। अन्धकार के उस अनन्त सागर में यह प्रकाश एक नौका के समान हिलता, मचलता हुआ जान पड़ता था।

वार्तालाप लिखने में प्रेमचन्दजी बड़े ही सिद्धहस्त हैं, चाहे वह वार्तालाप किन्हीं व्यक्तियों के बीच में होता हो वह होगा स्वाभाविक ही। अस्वाभाविकता कहीं भूलकर भी नहीं आती। व्यक्तियों के अनुरूप उनकी भाषा परिवर्तित होती जाती है। हिन्दू संस्कृत की तत्समता लिये हुए बोलता है तो मुसलमान उर्दू और फारसी मिश्रित बोली। मनोविज्ञान का भी वे वार्तालाप लिखते समय ध्यान रखते हैं। बोलनेवाले व्यक्ति विशेष की शिक्षा, योग्यता और हार्दिक स्थिति का भी। उनकी कहानियों में पग-पग पर इनके उदाहरण मिलेंगे।

प्रेमचन्दजी की भाषा आमतौर से हिन्दी-उर्दू मिश्रित रही है। जो आम फहम

की बोली है। प्रसाद गुण की उसमें कभी कमी नहीं होती और लेखक के भावों की व्यंजना अबाध गति से होती चली जाती है। इसके साथ ही साथ पग-पग पर मुहाविरों, कहावतों और अनुभूति-मूलक उक्तियों का प्रयोग भाषा में जैसे चार चाँद लगा देता है। प्रेमचन्दजी की रचनाओं के लोकप्रिय होने का मुख्य कारण यह है कि उनकी भाषा जनता के हृदय को छूनेवाली है। उसके वह बिलकुल निकट की चीज़ है। उनकी भाषा में चुस्ती, सरसता, सादगी और अलंकारों की चमक-दमक सभी हम पा सकते हैं। उपमायें तो वे कभी-कभी ऐसी ढूँढ़कर लिखते हैं कि उनकी प्रतिभा पर आश्चर्य होता है। हिन्दी और उर्दू का मिश्रण जिस हद तक प्रेमचन्दजी ने किया है, यदि उसे ही हिन्दुस्तानी मान लिया जाय तो मेरी समझ में किसी भी समझदार आदमी को उज्र न होना चाहिए।

प्रेमचन्दजी को एक विचारक की दृष्टि से देखने पर हम सीधा-सादा अहिंसावादी नहीं पाते। यह बात सच है कि सिद्धान्त रूप से वह अहिंसावादी ही हैं, पर कहीं-कहीं उनका मन इस रस्सी को जैसे बरबस तुड़ा कर भाग जाता है और वह यह कह उठते हैं कि जो हमारा अधिकार है उसे हम लेंगे अगर किसी प्रकार नहीं मिलेगा तो हिंसा का प्रयोग भी करेंगे। 'समरयात्रा' कहानी संग्रह में 'मैकू' कहानी का शराबी नायक जब शराबी नहीं मानते हैं, तो उन्हें डंडे से खूब समझाता है और लेखक उसे साधुवाद ही देता है। 'दो बैलों की कथा' में इसी प्रकार बैलों के मिस से अपने अधिकारों को बरबस छीन लेना ही ठीक बताया गया है। अछूतोद्धार के वे पोषक हैं और हिन्दू-मुसलिम एक्य के पक्ष में अपने गाँवों में उन्होंने अक्सर हिन्दू-मुसलिम मित्रों की सृष्टि की है और यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि यह सब लड़ाई-झगड़ा और धार्मिक वैमनस्य पढ़े हुए नागरिक ही चलाते हैं। भोले-भाले गरीबों की उससे मुफ्त में ही जान जाती है। वे मिलकर रहना चाहते हैं क्योंकि उनका भला इसी में है।

कभी-कभी प्रेमचन्दजी की रचनाओं में ऐसे स्थल आ जाते हैं जब हमें उनके ईश्वर-विश्वास पर शंका होने लगती है और जहाँ वे ऐसा आचरण दिखलाने लगते हैं जो नास्तिकों का-सा प्रतीत होता है। एकाध स्थान पर उनके पात्र हृदय पर गहरी चोट पड़ने पर मूर्तियों को फेंकते हुए और भगवान को भला-बुरा कहते दिखाई देते हैं। यह सिद्धान्त के रूप से चाहे जैसा हो पर मनोविज्ञान के नियमों से यह मालूम होता है कि ऐसा स्वाभाविक है कि कमजोर आदमी भगवान पर अपना गुस्सा उतारे। उनकी 'ब्रह्म का स्वांग' कहानी इसका उदाहरण है।

इन सब अवयवों के देख लेने पर हमें प्रेमचन्दजी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ और संसार के सर्वश्रेष्ठ कहानीकारों में से एक दिखलाई पड़ते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि कहानी में मनोविज्ञान ढूँढ़ने की जो चाट आधुनिक पाठक को पड़ गई है उसकी तृप्ति प्रेमचन्दजी की कहानियों द्वारा नहीं होती, परन्तु भारतीय जीवन को लेकर अभी तक प्रेमचन्दजी से बढ़कर कहानियाँ किसी ने नहीं लिखीं और मृत्यु के पाँच साल बीत जाने पर भी कहानी का मैदान अभी तक प्रेमचन्दजी के ही हाथ है।

★

शिव-नृत्य

●

[अम्बेश]

युगीय कला के कलात्मक पार्श्व में नटराज के नृत्य के स्वर आज गुँथकर तापस आत्मसंयम की महानता एवं बौद्धिक उत्कण्ठा से, तांत्रिक पीठों की साधना से कुल कुण्डलिनी शक्ति जागरित कर चुके हैं। आज की हमारी कला-साध हमारे देवी-देवताओं से हमें उत्तराधिकार में मिली थी। जब से मानव ने जगतल पर पैर रखना सीखा, तब उसने पैर में घुंघरू बाँध लिये हों और सम्पन से बज उठे हों—एक लय में भी—इस प्रकार नृत्यकला का आविष्कार नहीं हुआ था। शृंगी निर्घोष में शिव ने तीन नृत्य किये थे।

प्रथम नृत्य है—शिव-प्रदोष-स्तोत्र में वर्णित हिमालय की पर्वतीय श्रेणियों में शिव का सांध्य-नृत्य।

'तीन विश्व की माता को मणिजटित स्वर्ण सिंहासन पर आसीन कर शूलपाणि कैलाश पर्वत के उच्चतम शिखर पर नृत्य करते हैं और सर्व देवता वहाँ एकत्रित हो जाते हैं।

'सरस्वती वीणा बजाती है, इन्द्र बाँसुरी से स्वरलय देता है, ब्रह्म संकेत करता है, लक्ष्मी गान गाती है, विष्णु ढोल बजाता है, और सर्व देवता वहाँ एकत्रित हो जाते हैं।

'नृत्य में शिव के दो हाथ हैं। कोई भी अपराधी असुर उनके पैरों में नहीं है।'

द्वितीय है तांडव—वीरभद्र या भैरव का श्मशान में देवी के साथ नृत्य। इसमें शिव के दस हाथ हैं।

तृतीय है विश्व के केन्द्रस्थल तिलाई या चिदम्बरम् की सभा में शिव का नदंत-नृत्य। तारागण के तपोवन में ऋषि साधना करते थे। शिव उनको शास्त्रार्थ में हराने चले—साथ में नारीवेश में विष्णु को लेकर। ऋषियों ने यज्ञ-धूम्र से चीता उत्पन्न किया। शिव ने छोटी उँगली के नख से उसे मार डाला और उसके चर्म को अपनी कटि में लपेट लिया। तब एक सर्प निकला परन्तु शिव ने उसे हार की तरह उसे गले में डाल लिया। वे नाचने लगे और लय-स्वरों के साथ राक्षस मुयालक को मार डाला।

शिव नृत्य करते ही रहे। एक हाथ में डमरू, दूसरा हाथ उठा हुआ मानो संदेश देता हो—'डरो मत', तीसरे हाथ में अग्नि, चतुर्थ राक्षस की ओर संकेत करता। एक पैर उठा हुआ है। केन्द्राकार प्रकाश—तिरुवसि—अग्नि और डमरू थामे हाथों को छू जाता है।

शिव नृत्य से हमें पञ्चकृत्य—सृष्टि-निर्माण, स्थिति, संहार, तिरोभाव, अनुग्रह का भान होता है जो क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, महेश्वर और शिव के कार्य हैं। उनमई श्लोक के अनुसार डमरू से सृष्टि-निर्माण, आशा के उठे हुए हाथ से स्थिति रक्षा, अग्नि से विनाश, उठे हुए पैर से बन्धनमुक्ति और अङ्कित हाथ से अनुग्रह कार्य सम्पन्न होते हैं।

तिरुकुट्ट दर्शन में इसी का विश्लेषण है—

'उसका शरीर आकाश है,
मुयालक उसका तममय धन।
तीन नेत्र हैं—त्रिज्योति,
और वह नृत्य करता है—
हमारी देह में।'

नृत्यकारी पैर, ध्वनित घण्टिकाओं के स्वर, गाये जाते गान और उठते कदम—यह सब हमारे ही हृदय की कार्य प्रवृत्तियाँ हैं। मातृकान्यास-पद का सूक्ष्मतम रूप आद्य विमर्शशक्ति, स्फुरणमात्र परावाक् है। शारदातन्त्र के अनुसार चैतन्यात्मक शब्द-ब्रह्म प्राणियों के मध्य में कुण्डलिनी स्वरूप को प्राप्त कर गद्य-पद्य आदि भेदवाले अक्षरों के रूप में प्रकट होता है।

शिव विध्वंसक है और श्मशान को चाहता है। श्मशान का नृत्यकार सुदालैयादि शिव हमारे हृदय मरघट में ही तो नृत्य करता है—

'मैंने अपने हृदय को मरघट बना लिया है।
दिन और रात्रि जलती चिता को अग्नि देते हैं।
और राख इतस्ततः बिखरी है।
तुम ताण्डव नृत्य करते इसमें आओ, कि
मैं तुम्हें दृग मींचे देख सकूँ।'

हृदय के इस नृत्य का कर्म अग्निज्वाल में जलता है, मल, अविद्या पैरों तले रौंदे जाते हैं और आत्मा आनन्द सागर में किलोलें करती है।

× × ×

वैज्ञानिक रीति से पंच अक्षरों में ही शक्ति निहित है—शि, वा, य, न, मः—शिव को नमस्कार! तान्त्रिक योगियों का कथन है कि ५१ पीठों की साधना एकत्र करने पर उसकी कुल-कुण्डलिनी शक्ति जागरित होती है। द्वादशदलयुक्त चतुर्थ पद्म अनाहत के पास धूम्रवर्ण वायुबीज 'यं' है। इसके बीच में रक्तवर्ण पीठ पर विद्युत् सदृश शिव विराजित हैं। मस्तक पर श्वेतवर्ण तेजोमय एक मणि है जिसमें निर्वातस्थिर दीपकलिका की भाँति हंस—बीज प्रतिपाद्य विशेष ज्योति है। यहाँ 'हंसः' के उल्टे 'सोऽहं' का जप प्रतिक्षण होता है। श्वासवायु को छोड़ते समय 'हं' तथा ग्रहण करते समय 'सः' उच्चारित होते हैं। 'हं' शिवस्वरूप तथा 'सः' शक्तिस्वरूपा है—

'हंकार शिव रूपेण, सकारः शक्तिरुच्यते' (स्वरोदय-शास्त्र ११-७) यही शिवम् के भारतीय कलादर्श के सत्यम्, सुन्दरम्, की मध्यस्थ प्रवृत्ति है।

शिव के मस्तिष्क पर चन्द्र और अर्धवतुलाकार 'ओम' कार है जहाँ महानता केन्द्रित है और अर्धमात्रा या प्रणव का चतुर्थ शब्द। अनाहत (अन+आहत, बिना आघात के) ध्वनि होती ही रहती थी। 'हं' और 'सः' दल के आशापद्म में त्रिकोण-मंडल है और शिव की गोद में मुद्रा, कपाल, डमरू, वर, अभय, शर, चाप की तनुशक्ति है। आकाशबीज 'हं' के मनश्चक्र में लय हो जाने के पश्चात् मन और मनश्चक्रस्थ शिव भी कुण्डुलिनी के सद्ग्रंथि पद्म में समा जाते हैं। निरालम्बपुरी में पलंग पर नादरूपिणी देवी है और ऊपर बिंदुरूप गजकुम्भ शिव। और यही प्रणव ॐकार है। भौतिक देह के सहस्रार में कुण्डुलिनी अश्विनी मुद्रा से फैलती है। योनिपीठ के नाद के ऊपर निर्धूम अग्नि-शिखा की भाँति तेज का पुंज है और ऊपर हंस पक्षी की पाखों जैसा तेजोमय पीठ। यही अमा-नाम्नी कला है।

'शिवाय नमः' के मध्य 'य' में हमारी आत्मा है। 'य' विश्व का केन्द्रस्थल है। और यहीं चिदम्बरम् है जहाँ शिव का अदन्त-नृत्य होता है। शिव-नृत्य के समय हम सुनते थे 'अस्त्राय फट्' अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक, आदिभौतिक त्रिविधताप को दूर फेंक। प्रघट्ट वैखरी विमर्श से प्रसार करती है। अकार बिंदु विसर्ग, शिवशक्ति का सामरस्यपद है। ये सौम्य और प्रमेय कक्षा के हैं।

सिसृक्षाकाल में यह परानायक मूल प्रकृति रूप बिन्दु सृष्टि, स्थिति और संहार, आदि, मध्य और अवसान, जागरण, स्वप्न और सुषुप्ति, पश्यंति, मध्यमा और वैखरी, ज्येष्ठा, वामा और रौद्री, सूर्य, चन्द्र और अग्नि आदि त्रिपुटीमय त्रिरेखात्मक त्रिभाव को प्राप्त होता है। इसे यदि हम मार्क्स की वैज्ञानिक भाषा में कहें तो द्वन्द्वात्मक (dialectical) परिवर्तन है। त्रिभाव के प्रत्येक भाव को हम आज वाद या प्रकरण, प्रतिवाद या निराकरण, युक्तवाद या समन्वय कहते हैं जो द्वन्द्वात्मकता रासायनिक-विज्ञान में कणों के ऐक्य तथा विद्रोह में, एवं समाज-विज्ञान में श्रेणीयुद्ध के रूप में भी वर्तमान है।

× × ×

आज हम इस प्रलय-नृत्य के स्वर नहीं सुनते। क्रांति के समर्थक हम स्वयं को आज कम्पनहीन, गतिहीन पाते हैं। इस रात्रि में हमारी आन्तरिक प्रवृत्तियाँ चेतनाशून्य हैं। वे नहीं नाच सकतीं जब तक शिव उनमें जीवन-गति कम्पन न भर दे। वह उठे, नृत्य करे और कम्पन की जागरित लहरें भौतिक आन्तरिक पदार्थ में संचारित हों। सारा पदार्थ हृदयस्थित चिदम्बरम् के गोलाकार में नाचने लगे—प्रलयकारी के जागरण और क्रांति को लेकर जिन्हें हमारे जीवन की शत्-शत श्वासें और वाणी अर्पित हैं!

★

सात कविताएँ

योम सोवियत्

●

[नरेन्द्र शर्मा]

गीत लिखूँ क्या वीरों के जब गला घोंटती हो कारा,
सूख चली जब रेगिस्तानों में मेरी कविता - धारा!
गीत लिखूँ क्या वीरों के भू डोल रही जैसे पारा,
काँप रहे जब भूत - भविष्यत्, वर्तमान जब पथहारा!

पहले की क्या बात लिखूँ जब वीर कहाया हत्यारा,
वीर कहाया, जिसने जितने देश उजाड़े चिन्घाड़ा!
चतुर कहाये धोखा देकर, बुद्धिमान ढोंगी बनकर,
धर्मात्मा वह, इन्सानों को समझा जो कङ्कड़ - पत्थर!
एक ओर ईश्वर की पूजा, एक ओर कुचला मानव,
एक ओर देवता बने तो एक ओर मानव दानव!
भाई को जकड़ा ग़ुलाम कर बन बैठे ख़ुद महाराजे,
सदियों तलक सवारी निकली साथ चले गाजे - बाजे!

क़ुदरत से लड़ना था जिनको, आपस में सौ टूक हुए!
इन्सानों को लड़ते देखो हैवानों की भूख लिये!
सदियों तक यह हाल रहा जब रूस देश में आग लगी,
इन्क़लाब सैलाब सरीखा आया, मानव जाति जगी!
हाथ बढ़ा लपटों ने आगे काराघर सब तोड़ दिये,
एक चोट में कई कोट भूखे - टूटे आज़ाद किये!

रूस पुराना गले फूँस-सा, सुनो साथियो, ख़ूब जला,
उसी आग से चिनगारी-सा लाल सितारा भी निकला!
तब से तो सारी दुनिया में जगमग लाल सितारा है—
देश - देश में भूखे - नंगों को प्राणों से प्यारा है!
इस अँधियारी दुनिया का कटता जिससे अँधियारा है,
सुनो साथियो, सब का प्यारा ऐसा लाल सितारा है!

किसकी वीर भुजाओं ने पर रोपा लाल सितारा था ?
यह वह पहला वीर नहीं जो सचमुच में हत्यारा था !
इन्क़लाब की लाल फ़ौज में वीर वही कहलाता है,
जो मज़दूरों का, कमज़ोरों का रहबर रखवाला है !
लाल फ़ौज का वीर सिपाही ही नवयुग का हलकारा,
क्यों न उसी की ओर बहे यह दिशाभूल कविता - धारा ?

पेट काटकर महल बना था दुनिया के मज़दूरों का—
लाल फ़ौज जिसकी रखवाली, रूस देश मज़दूरों का !
रूस देश मज़दूरों का है, लाल रूस मजदूरों का,
पेट काटकर महल बना था दुनिया के मज़दूरों का !

सुनो साथियो ! उसी देश की वीर भूमि की छाती है—
दुश्मन धाया पर क्या उससे लाल फ़ौज घबराती है !
पहले भी तो टिड्डी दल से धाये थे घिर हत्यारे,
लाल फ़ौज के आगे दुनिया के दख़लन्दाज़ी हारे !

दहलाता खिसियाता दुश्मन, ऐसी लाल फ़ौज अपनी !
यह वह चिड़िया नहीं, जिसे दुश्मन समझा थर-थर कँपनी !
लाल हवाई बेड़े के सब और जहाज़ी बढ़ते हैं,
आसमान में अड़ता दुश्मन, वह उड़कर जा भिड़ते हैं !
नाक रिगड़ते वायुयान दुश्मन के—कठिन कसाला है,
अड़ टैन्क से टैन्क, तोप पर तोप उगलती ज्वाला है !
धुआँ उगलते बम्ब बम्ब पर घुट अँधियारा छाया है,
लाल फ़ौज से लोहा ले ले कर दुश्मन दहलाया है !
दुश्मन के जंगी बेड़े जो सागर पर उतराते हैं,
खा गोलों की मार नील लहरों में लय हो जाते हैं !

देश सोवियत् उगता सूरज जिसका लाल उजाला है,
नाज़ी जर्मन देश रात का धुआँधार अँधियारा है !
लाल रूस की लाल फ़ौज से टक्कर लेता हत्यारा,
पर उगते सूरज को कैसे निगल सकेगा अँधियारा ?

लाल रूस को जिसने समझा हो धरती का चप्पा भर,
वह इस दुनिया की हलचल को समझ सका क्या हब्बा भर ?
देश नहीं वह, राष्ट्र नहीं वह, वह मानवता की आशा !
लाल रूस के इन्क़लाब की गाथा, दुनिया की गाथा !

इसे जर्मनी और रूस की समझो नहीं लड़ाई भर,
नाज़ी जर्मन की रूसी पर समझो नहीं चढ़ाई भर!
आज रूस के मैदानों पर दुनिया भर का निपटारा,
लाल फ़ौज का वीर सिपाही ही नवयुग का हलकारा!

हैं ऐसे भी लोग कि जो दुश्मन की जीत मनाते हैं,
ये हारे ज्वारी ज्वारी से मिल कर दाँव लगाते हैं!
कोई कहता जापानी आये तो मेरी बन आये,
मैं भी कर्नल बन जाऊँ जो जापानी छत्तर छाये!
कोई रोता जर्मन फ़ौजें आतीं तो मेरी बनती,
फिर से मेरी झुकी कमर भी ठोकर खा-खाकर तनती!

नामर्दों की दुनिया में ही वीर कहाता हत्यारा,
लाल फ़ौज का वीर सिपाही पर नवयुग का हलकारा!
लाल फ़ौज का वीर सिपाही ही नवयुग का हलकारा,
उस उगते सूरज को कैसे निगल सकेगा अँधियारा?

खूब समझ लो, साथी! तिल भर भी जो नाज़ी दल बढ़ते,
दुनिया भर के भूखे टूटे उतने ही नीचे गड़ते!
लाल फ़ौज का खून बहे—साथी!—वह खून हमारा है,
लाल फ़ौज का लाल सिपाही नवयुग का हलकारा है!

पेट काट कर महल बना था दुनिया के मज़दूरों का,
लाल फ़ौज जिसकी रखवाली, रूस देश मज़दूरों का!
लाल रूस मज़दूरों का है, रूस देश मज़दूरों का,
पेट काट कर महल बना था दुनिया के मज़दूरों का!

साँस रोक सदियाँ तकती हैं इन रूसी मैदानों को,
देखें कौन उजाड़ सकेगा सदियों के अरमानों को!

चाहे अपने लोहू से हो, चाहे झंडे के नीचे,
लाल हमें करना दुनिया को लाल सितारे के नीचे!
आज रूस के मैदानों पर दुनिया का वारा-न्यारा,
पर उगते सूरज को कैसे निगल सकेगा अँधियारा!

*

धनकटनी

●

[रामइक़बालसिंह 'राकेश']

दुपहरिया अगहन की,
शीतल मन्द तपन की।
लेती मीठी झपकी,
पुरवइया की सनकी।
ऊबड़ - खावड़
खेतों की छाती पर
विपुल शालि - दल
स्वप्नों से भर अञ्चल
कंगालों के सम्बल
राशि - राशि फल
झुक-झुक पड़ते बोझल
संजीरा, गजकेशर
मनसरिया, दुधकाँड़र
बाँसबरेली, कान्हर
तुलसी फूल मनोहर
सबुजे, गेंहुए, साँवर
रूप धौर, चितकावर
वर्ण, गन्ध, मधु अक्षर
पलकों में मृदु भर - भर
रंग - रंग के सुन्दर
जिन पर जीवन निर्भर
जिनसे तृप्ति निरन्तर
नवोल्लसित भूतल पर
ऊर्वर
लहराते रह - रह कर!
दुपहरिया अगहन की
शीतल हरिचन्दन की
आते झोंके थम-थम
धनखेतों से गम-गम
मूढ़, असभ्य, उपेक्षित
पीड़ित, शोषित, लुंठित
बहरे, गूँगे, लँगड़े
बच्चे, बुड्ढे, तगड़े
ओढ़े जर्जर चिथड़े
तूल जलद-से उमड़े
मरभूखे दल - के - दल
पके शस्य - फल
शाद्वल-शाद्वल
काट रहे लो, चर - चर
डंठल से मुट्ठी - भर
रखते जाते भू - पर
ठहर - ठहर बढ़ - बढ़कर
हरित धान के अञ्चल
चञ्चल
कटते चर - चर
हँसिया से छप, छप, छप!
देखो, अन्ध विवर को,
चूहे के उस घर को,
मुसहर के दो बच्चे,
कोमल वय के कच्चे,
क़द के छोटे - छोटे,
मांसल, मोटे - मोटे,
नटखट, भोले - भाले,
मैले, काले - काले,
भगवे पहने ढीले,
काजर - से कजरीले!
कोड़ - कोड़ खुरपी से
पूँछ पकड़ फुर्ती से
पटक - पटक ढेले पर
मृत चूहे ले लेकर
बाँध लिये पछुवे में
भगवे के ढकुवे में

खुरच - खुरच अन्दर से
चुनते तंग विवर से
विस्फारित अधकुतरे
मटमैले, धनकतरे
चूहे का रमसालन
नमकीला, मनभावन
और, मजे की निखरी
पके धान की खिचरी
मालिक की धनकटनी
खूब उड़ेगी चटनी
कूड़े करकट संकुल
बिल के कुतरे तंडुल
गन्दे, उंछ, अपावन
उदर - पूर्त्ति के साधन
× × ×
अखिल धान के अम्बर
प्रियतर, शुचितर, सुखकर
हहर - हहर कर
कटते छप - छप
हँसिया से चर-चर-चर !
दुपहरिया अगहन की,
शीतल मन्द तपन की।
लेती मीठी झपकी,
पुरवइया की सनकी।

✶

शव की स्वर्ग-यात्रा

●

[रामदयाल पाण्डेय]

नाना विधि हो सज्जित-भूषित
नाना विधि हो अर्चित-पूजित
अन्तिम क्रोध-क्षमा से वंचित
अन्तिम सुख-स्वप्नों से सेवित
पा कातर करुणा का क्रन्दन
संज्ञाहीन प्यार का चुम्बन
पा अन्तिम आकुल आलिंगन
अन्तिम विदा और अभिनन्दन
मा का धन, रानी का राजा
एक खिलौना, झुँझना, बाजा
जीवन के कन्धों पर चढ़कर
उठकर पृथ्वी से कुछ ऊपर
बनकर चला देवता, नेता
स्वर्ग-नरक का परिचय देता
सुनता मिथ्या भावों का स्वप्न
करता अमर सत्य का गर्जन
सच, राजा की चली सवारी
या राजा बन गया भिखारी
जीवित का स्वर्गीय रूप यह
या है मृत की दुनिया भारी
पीछे एक जलूस चला है
धूप जला है, दीप जला है
कोई करता झटपट—छटपट
कोई दौड़ रहा है सरपट
ताक रहा है कोई चौखट
झाँक रहा है कोई घूँघट
एक चतुर्दिक आकुलता है
आतुरता है, उत्सुकता है
नीचे हैं वाहक मानवगण
ऊपर शव करता यह चिन्तन
यह सजधज, हलचल, आन्दोलन
क्यों न हुआ ऐसा ही जीवन
अरे मृत्यु को भी है इच्छा
शव का भी है एक महोत्सव

चला मर्त्य से स्वर्ग देखने
धूम-धाम से मानव का शव

× × ×

लो, उतरा फिर यह पृथ्वी पर
आया एक विराम-धाम फिर
बात पदों की कौन, भूमि पर
यह रखता निज गर्वोन्नत सिर
जिसे मर्त्य कहता है मरघट
अरे, स्वर्ग का द्वार यही क्या
बीचों - बीच स्वर्ग - पृथ्वी के
खड़ी एक दीवार यही क्या
सामष्टिक श्रम-कला मिलाकर
देते नर काष्ठों को जीवन
एक स्नेह जलता स्वाभाविक
जगमग इस मरघट का आँगन
अरे, स्वर्ग में यह अभिनन्दन
या जग के मरघट का पूजन
मानव श्रम से सृष्टि भोगता
मानव श्रम से सृष्टि मिटाता
रोम-रोम जल कर मानव का
भव-पथ पर आरती सजाता
मिटा विश्व की घोर विषमता
देता मरण मनुज को समता
और मरण की शुभ इच्छा पर
फूल चढ़ाता है प्रेमी नर
जब तक उर में स्नेह-स्रोत है
जब तक पुष्ट बाहुओं में बल
तब तक माँग नहीं सकता नर
देवों से जीवन का सम्बल
और देव उसको क्या देंगे
उसकी विवश कामना लेंगे
मानव ही है एक विधाता
रचता वही देव या दानव
मानव ही है एक पुजारी
वही पूजता जीवित या शव

और किसे है इतना वैभव
और किसे है इतना गौरव

× × ×

बन कर अमर तत्त्व—देवात्मा
अब होगा शव स्वर्ग-निवासी
उसकी सुख-सुविधा का उपक्रम
करते फिर भी भूतलवासी
उसकी नष्ट - दग्ध इच्छाएँ
जागरूक हैं मानव - मन में
उसकी अमिट लालसाएँ, जो
हो न सकीं पूरी जीवन में
उसका पुण्य सघन उग आया
उसका कलुष नहीं अब जीता
उसके विष के बिन्दु-बिन्दु को
निज सौभाग्य समझ नर पीता
उसे दे रहा मधुर फूल-फल
मेवे, दुग्ध, अन्न, गंगाजल
उसे दे रहा भूमि, धाम, धन
सारे साधन और प्रसाधन
मृत का यह पूजन-आराधन
जीवित से क्यों घृणा, क्रोध, रण
स्वर्ग एक को यदि करता शत
तो कर सकता मर्त्य कोटि शत
दे सकता है मूल्य अधिक नर
पूजक है वह, नहीं वधिक नर
पूजक है नर, पूजनीय है
उसका पीड़क नाटकीय है
भोग, अरे साक्षात स्वर्ग तू
बना न भव को घोर निरीश्वर
नाव पूर्ण मानव की ले चल
गति हो तीव्र, या कि हो मंथर
अरे मरण का गौरव पीछे
पहले है जीवन का गौरव
मृत का तो उत्सव है पीछे
मना प्रथम जीवित का उत्सव

कटुई का गीत

●

[केदारनाथ अग्रवाल]

काटो काटो काटो करबी।
साइत और कुसाइत क्या है,
इच्छा से बढ़ साइत क्या है!
काटो काटो काटो करबी।
मारो मारो मारो हँसिया,
हिंसा और अहिंसा क्या है,
जीवन से बढ़ हिंसा क्या है।
मारो मारो मारो हँसिया।
पाटो पाटो पाटो धरती।
धीरज और अधीरज क्या है,
कारज से बढ़ धीरज क्या है।
पाटो पाटो पाटो धरती।
काटो काटो काटो करबी।

✦

उठ अब कर न जीवन क्षीण

●

['विनोद']

ओ प्रपीड़ित! ओ प्रवंचित दलित तम में लीन।
उठ अब कर न जीवन क्षीण।
मूक रह, सब भाग्य-वश कह,
जहर-ज्वाला-यातना सह,
दैन्य की जलती चिता में—
आज तक तन-प्राण से रह,
ओ प्रपूरण प्राणधर्मा! बन न आज मलीन।
उठ अब कर न जीवन क्षीण।
मिट गये भूदेव वे सब,
चल बसे नरदेव वे सब,
मनुज से करते घृणा जो—
मनुजता से हेय वे सब,
'मनु' मनुजध्वंसी-व्यवस्था पाप-ताप अधीन।
उठ अब कर न जीवन क्षीण।

देवता तू आप अपना,
स्वर्ग का मत देख सपना,
फूँक दे विश्वास वे सब,
भाग्य-वश जिसमें कल्पना,
प्राण-धारा अभ्रमी ओ ! प्राण में हो लीन।
उठ अब कर न जीवन क्षीण।
अन्न का अधिकार सम ले,
ज्ञान का अधिकार सम ले,
और जीने के लिए—
मानव-सुलभ-व्यापार सम ले,
मुक्त होकर, ओ प्रपीड़ित, देश कर स्वाधीन।
उठ अब कर न जीवन क्षीण।

*

दिशायें

●

[शमशेरबहादुर सिंह]

टिक्—टिक्—टिक्—टिक्...
दिशा, घड़ी! कौन
बता...बता...!
जिधर समय-मुख,
सुख दुख।
गान अकारण
व्यर्थ उठे
क्यों?
दशा अति नीरव
दिशाएँ मन की
नहीं मिलतीं
अब।
मौन अर्थ ले
प्राण विसर्जन
क्यों ?
दिशाएँ जन की
नहीं मिलतीं
अब।

शोषण-जाल

●

[ब्रजमोहन गुप्त]

जल जाएगा जाल पुरातन।

मानव की उन्नति के मग में
प्रति पग पर कंटक छिटका कर,
मानव को पीड़ित करने को
शोषण के अङ्गार बिछाकर,
बना दिया अभिशाप जगत में जिसने मानव का लघु जीवन!
जल जाएगा जाल पुरातन!

आज भड़क उठी है ज्वाला
भूपतियों के समरांगण में,
आज प्रलय का ताण्डव होता
पूँजीपतियों के इस रण में
यह विनाश का ताण्डव, पर है यह विनाशकारी अन्तिम रण!
जल जाएगा जाल पुरातन!

नव जीवन की लहर जगत में
नव प्रकाश ले साथ बहेगी,
समता का व्यवहार जगत में
होगा, जगती सुखी रहेगी,
बन जाएगा मानव का जीवन वर्दान जगत में पावन!
जल जाएगा जाल पुरातन!

★
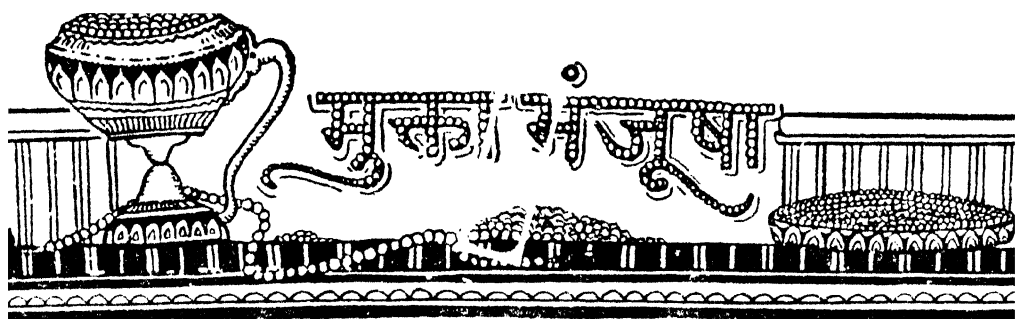
हिन्दी

['अबोहर और उसके बाद ?' शीर्षक से जैनेन्द्रकुमारजी ने 'जीवन-साहित्य' में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अबोहर अधिवेशन में उठनेवाले प्रश्नों पर विचार प्रकट किये हैं। उन्हें अपने पाठकों के लिए उपयोगी समझते हैं अतः जैनेन्द्रजी के पत्र के मुख्य अंश उद्धृत कर रहे हैं।—सं०]

★ सम्मेलन को अगर 'हिन्दी' का और 'साहित्य' का और सचमुच का 'सम्मेलन' होना है तो उसे 'हिन्दी' और 'साहित्य' और 'सम्मेलनत्व' (लोक-जीवन के प्रतिनिधित्व) के प्रति दृढ़प्रतिज्ञ रहना होगा। इस समय तो यह बात नहीं है। राष्ट्रभाषा और प्रचार की वृत्ति का उस पर बहुत दबाव है। और उसका सम्मेलनत्व भी नीति से अधिक व्यक्ति की प्रधानता के कारण किंचित् संदिग्ध है।

★ प्रश्न हो सकता है कि राष्ट्रभाषा-प्रचार और हिन्दी-साहित्य क्या विरोधी बातें हैं ? नहीं, विरोधी तो नहीं हैं, पर भिन्न तो वे हैं। सम्मेलन दोनों का आकलन कर सकता है। पर उन दोनों को परस्पर में उलझने देकर सम्मेलन दोनों के प्रति और अपने प्रति अन्याय करने का ही भागी हो सकता है। सम्मेलन के पिछले पाँच अधिवेशनों की तो बात अनुभव से मैं कह सकता हूँ। हिन्दी और राष्ट्रभाषा तथा साहित्य और प्रचार इनके असामंजस्य की व्यर्थता और कटुता का प्रदर्शन ही उनका इतिहास रहा है। समय बर्बाद गया है और गर्मी भड़की है। दूर-दूर के लोग आये हैं और उनकी शक्तियों का कोई उपयोग नहीं हुआ है। शक्ति बिखरी पड़ी है और सम्मेलन के अधिवेशन पर वह एकत्रित भी होती है, पर कोई विधायक कल्पना नहीं जो उसे ऐक्य में ढालकर संकल्प का रूप दे।

★ राजेन्द्रबाबू का प्रस्ताव सम्मेलन के आगे पेश नहीं हुआ। वह आ नहीं सकते थे इससे वापिस ले लिया गया। वह प्रस्ताव मेरी सम्मति से सही न था। सही वह हो सकता था यदि स्वयं टण्डनजी हार्दिक भाव से उसके प्रस्तावक होते। प्रस्ताव की रू से जिनको अधिकार मिल रहा हो वे नहीं, बल्कि जिनकी ओर से मिल रहा हो, वे ही उसके प्रस्तावक होने चाहिए।

★ लेकिन उससे यह उजागर सचाई ओट में न पड़नी चाहिए कि सम्मेलन जितना खुलकर और जमकर हिन्दी का होकर काम करेगा उतना वह सबल और सार्थक होगा। हिन्दी पर जोर देने से हो सकता है कि कुछ की निगाह में उसकी अखिल भारतीयता असिद्ध ठहरे। लेकिन अखिल भारतीयता का मोह असली काम को दाबकर क़ागजी काम को बढ़ाता हुआ

देखा जाता है। सच्ची अखिलता आत्मा में रहती है। शरीर अखिल बन सकता तो शरीर न होता। यानी अपनी भौगोलिक सीमाएँ बड़ी बताकर कोई बड़ा नहीं बन सकता ; जब कि एक व्यक्ति या समिति या संघ, कितने भी परिमित क्षेत्र में सही, सच्ची सेवाभावना से काम करके अखिलता का अर्जन करता है। नहीं तो क्या बात है कि एक सन्त, जो दौड़-धूप के नाम बस अपनी कुटिया से बाहर नहीं जाता, दुनियाभर का समझा जाता है और दुनिया उसे अपना समझती है ?

★ इसलिए अखिल भारतीयता अपने आप में भ्रम है। उसका दावा थोथी महत्वाकांक्षा हो सकती है। हिन्दी का होकर उसी कारण सम्मेलन अखिल भारतीयता से गिर नहीं जाता। हाँ, असाहित्यिक होकर जरूर वह अखिलता का क्या सच्ची प्रान्तीयता से भी गिर जाता है। असाहित्यिक दृष्टि अधिकार की छीन-झपट की दृष्टि है। साहित्य की दृष्टि संस्कृति यानी निरभिमान सेवा की है।

★ यह समझना भारी मोह है कि हिन्दी-साहित्य की दिशा में अपनी सब या प्रधान शक्तियों को लगाकर सम्मेलन अपने को ह्रस्व कर लेगा। प्रचार के बल पर जो बड़प्पन आता है उसकी असलियत और स्थायित्व दैनिक अखबारों के विज्ञापन के मानिन्द है। उससे धन यानी माया बटोरी जाती है। पर उसी से सच्चे जीवन का ह्रास होता है। जो अपना अङ्ग यानी दास नहीं, वह धन परिग्रह है। वह व्यक्ति के विकास में बाधा है। इसी तरह सम्मेलन की व्यापकता जरूरी तौर पर उसका बल नहीं है। बल्कि कौन जाने वह परिग्रह हो।

★ लेकिन मैं बहका। राजेन्द्रबाबू के प्रस्ताव के अर्थ में कोई खोट न थी। बल्कि पिछले ५-७ वर्षों का सम्मेलन का इतिहास बताता है कि वही एक उपाय है। राष्ट्रभाषा हवा में नहीं रह सकती। तय है कि हिन्दुस्तान के लिए कोई राष्ट्रभाषा हो सकती है तो वह जो उत्तर भारत में आम तौर पर बोली जाती है। इसलिए नहीं कि उत्तर भारत में बोली जाती है, बल्कि इसलिए कि दक्षिण और शेष भारत में भी समझी जाती है। दूसरी और हमारे पास क्या है ?

★ उस राष्ट्रभाषा को हिन्दी कहते हो तो सच कहते हो। पर सकुचे दिल से कहते हो तो झूठ कहते हो। हिन्दी यदि वह है जो अखण्ड भारत-राष्ट्र के किसी अंग को, यानी उस अंग की भाषा को, अकृत्रिम भाव से अपने में पचाने से बचती और डरती है तो कृपया वह कुछ हो, अत्यन्त शुद्ध वस्तु वह हो, पर, राष्ट्रभाषा वह नहीं है। हिन्दी को ठेठ रखने की जिद हिन्दुस्तानी शब्द के आविष्कार के मूल में है। अगर हिन्दुस्तान वह है जिसमें मैं भी हूँ और तुम भी हो तो वह हिन्दी जो मेरी है और तुम्हारी नहीं है हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती। 'अरे भाई, तुम अपनी भाषा को उर्दू कहते हो ? ठीक है, मेरी हिन्दी उससे पराई नहीं है।' इस मनोवृत्ति के बिना हम राष्ट्रभाषा के विस्तार और सँवार में कुछ भाग नहीं ले सकते।

★ लेकिन साफ है कि अखण्ड राष्ट्र की अखण्ड निष्ठा दुर्लभ है। हम विभक्त जीवन जीते हैं। अँग्रेजों और अँग्रेजी की कृपा। हिन्दी का मुँह पूरब को है तो उर्दू का पच्छिम को।

पर किनारे दो हों और उनमें फ़ासला हो, बीच की धारा को जीवित रखने में तो दोनों ही जरूरी हैं। एक ही किनारा जिसका हो ऐसी जीवित वस्तु दुनिया में कहीं कोई नहीं। इसलिए किसी किनारे को तोड़ने की ज़िद नहीं हो सकती। पर जहाँ मझधार है वहाँ किनारे की क्या बिसात ? हिन्दी और उर्दू दो हैं, इसको साबित करने के लिए किसी तर्क की जरूरत नहीं। पीठ और छाती क्या है ? लेकिन वे दोनों अपनी दुई को सहते रह सकते हैं, क्योंकि दोनों के बीच, जैसे कि उनके संरक्षण में, हृदय है जो कि दोनों का एक इष्ट है। पीठ और छाती दोनों की ही सत्ता इसलिए है कि वे अपने भीतर के न दीखनेवाले दिल और फेफड़े पर किसी तरह का आघात न होने दें।

★ पर यह दीख क्या रहा है ? दिल और फेफड़े की तरफ़ अपना दायित्व भूलकर पीठ और छाती क्या अपनी-अपनी अस्मिता में भूलकर आपस में झगड़ा मचाना चाह रहे हैं ? भाषा थी इसलिए कि वह भावना का वहन करे। भावना है इसलिए कि खण्ड अपने को अखण्डता की अनुभूति में लीन कर सके। युग-युग के इसी प्रयास में मानव को जन्म मिला और मानव ने संस्कृति को जन्म दिया। आज क्या ये भाषाएँ संस्कृति से अपना पल्ला छुड़ाकर अपनी-अपनी अलहदगी को ही स्वतंत्र सत्य मानकर एक-दूसरे को नोचना चाहती हैं ? ऐसे तो राष्ट्र का निर्माण नहीं उसकी मृत्यु ही हो सकती है। भाषा का हृदय है साहित्य। कौन कहता है कि प्रस्ताव से या सरकार से कोई भाषा बनी या बिगड़ी। जिन्होंने अपने समूचे मर्म को वाणी में उँडेलकर रख दिया है सदा उन्होंने ही भाषा को बनाया है। कोई सरकारी टैक्स्ट बुक रामायण जितनी नहीं बिकी, न बिक सकेगी। अवधी बोली तुलसीदास के स्पर्श से भारतभर की भाषाओं की नसों में प्रचार पा गयी। अवध प्रान्त का प्रान्त-प्रेमी नवाब लाख फौज इस्तेमाल करके क्या अपने यहाँ की भाषा का कुछ भी प्रचार कर सकता था ? पर तुलसीदास को क्या अपनी भाषा का पता था ? नहीं, वह तो निपट रामभक्त थे।

★ इसी से निश्चित विश्वास के साथ मैं मानता हूँ कि सच्चे साहित्य से उसकी भाषा का सच्चा प्रचार होता है और हिन्दी-प्रचार के हित में यदि सम्मेलन सर्वाधिक उपयोगी काम करना चाहता है तो उसे रचनात्मक दिशा में साहित्यिक काम करने की ओर प्रवृत्त होना होगा।

★ राष्ट्रभाषा ? हैं हमारे देश में कुछ ऐसे लोग जो सामयिक सब प्रश्नों को अखण्ड राष्ट्र की श्रद्धा और दृष्टि से देखते हैं। दे दो राष्ट्रभाषा को उनके हाथ में। जो हमारा है वह केवल हमारी आत्मा के बल से ही हमारा हो सकता है। अन्यथा वह परिग्रह है। सम्मेलन के लिए राष्ट्रभाषा का प्रश्न परिग्रह हो रहा है। हिन्दी के काम पर उससे दबाव पड़ रहा है। सम्मेलन अकृतकार्य हो रहा है। यदि वह अपने हिन्दी-कर्तव्य में सचेत होना चाहता है तो उसे अपने से बाहरी पर-धर्म से छुटकारा पा लेना चाहिए। जहाँ तक शक्ति है वहीं तक कर्तव्य है। जहाँ अपने कर्तव्य की पहुँच नहीं है वहाँ की चिन्ता भी उचित नहीं है। राष्ट्रभाषा की चिन्ता से सम्मेलन को दुबला नहीं होना चाहिए।

उसे विश्वस्त रहना चाहिए कि हिन्दी से छूटकर कोई सरकार, कोई कांग्रेस किसी भाषा को सच्चे अर्थों में राष्ट्रभाषा नहीं बना सकती। और इस तरह सर्वांश में हिन्दी का बन रहकर सम्मेलन राष्ट्रभाषा को हिन्दी के अधिक-से-अधिक निकट रखने, बल्कि हिन्दी ही बनाये रखने, की दिशा में सर्वाधिक सफल हो सकता है।

★ खैर, इन भावनाओं को लेकर मुझे क्या करना चाहिए—अबोहर पहुँचते ही मैं इस सोच में पड़ा। प्रस्ताव लाऊँ? प्रतिनिधियों से मिलकर आन्दोलन करूँ? या एक बार खुलकर किसी तरह अपनी बात कह डालूँ और बस?

★ इधर श्रीमन्‌जी मुझे कहते थे कि इन पिछले महीनों में जो बेचैनी रही वह क्या यों ही? इस बारे में सम्मेलन को क्या कुछ नहीं करना-धरना है? यहाँ तो यही दीखता है कि सब शान्ति है। इस अवसन्न प्रतीक्षा के बीच टण्डनजी का प्रस्ताव आया। महत्त्व का था इसी से शायद पीछे आया। शाम को सुना भर दिया गया। विचार के लिए विषय-निर्वाचिनी की अगली बैठक रखी गयी। यह बड़ी शुभ बात थी। अगले दिन प्रस्ताव की छपी प्रतियाँ विषय-निर्वाचिनी के हाथों में थीं। उस अगले दिन के छपे हुए और पिछले दिन के सुनाये गये प्रस्ताव के रूपों में एक संक्षिप्त और अत्यन्त शुभ अन्तर था। उसकी ओर कदाचित् किसी का ध्यान नहीं गया। सद्‌भाग्य सब सहज स्वीकार करते हैं, याद चोट की रहती है। मानता हूँ कि मैं कोई गोपनीय बात नहीं खोल रहा हूँ। पर यदि वह गुह्य हो तो भी जानी जाने लायक है।

★ प्रस्ताव सुनाया गया तब जहाँ उसमें हिन्दी और उर्दू शैलियों का उल्लेख है वहाँ उर्दू के लिए था कि वह विकृत शैली है। प्रस्ताव की छपी प्रति में 'विकृत' शब्द न रहा। प्रस्ताव के प्रस्तावक टंडनजी की ओर से तो वह शब्द आया था, वापस खिंच गया तो उसका सब श्रेय टंडनजी को देने में कठिनाई है। उनकी कृपा कि पुनर्विचार में उन्होंने उस शब्द को गिर जाने दिया। पर मेरे लिए उसके गिर जाने से उसका आना कुछ अधिक ही अर्थपूर्ण है।

★ प्रस्ताव ध्यान से पढ़ने योग्य है। वह उर्दू और हिन्दुस्तानी शैली और शब्दों के हिन्दी से अलग प्रचलन को पहचानता है। पहले शब्द थे 'स्वीकार करता है'; पर लोगों ने कहा कि स्वीकार में क्या समर्थन भी नहीं आ जाता? सो अंत में यह 'स्वीकार' वहाँ से हट गया। अब एक वाक्य है: 'इस विषय में सम्मेलन का कोई विरोध नहीं है।'

★ मेरी कल्पना है कि विरोध न होने सम्बन्धी उस एक वाक्य के सहारे यह आशा टंडनजी के मन में विश्वास बनी हुई है कि गांधीजी जिस समभाव को अपने जीवन में धार्मिक नियम बनाकर पालते हैं, वही समभाव गांधीजी को इस प्रस्ताव में दीख सके या दिखाया जा सकेगा। इस तरह गांधीजी का पृष्ठबल सम्मेलन को प्राप्त रहेगा।

★ मैंने प्रस्ताव का विरोध किया। विरोध तो किया, पर अपने से बाहर जहाँ कहीं विरोध देखा उसे शांत भी किया। निस्सन्देह अपने भाषण में मैंने कहा कि जो 'हिन्दी ही' को राष्ट्रभाषा मानने के सम्बन्ध में स्पष्ट और आग्रही हैं या उस 'हिन्दुस्तानी' को राष्ट्र-भाषा

मानना चाहते हैं जिसकी व्याख्या स्वयं प्रस्ताव की तीसरी कलम में है—वे दोनों ही अपने प्रति पूरे ईमानदार रहना चाहें तो इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर सकते हैं। प्रस्ताव के हृदय में समन्वय नहीं है, उसकी भाषा में संकट टालने की लाचार इच्छा के कारण एक समझौता भर है।

★ पर असल में मेरा विरोध इस आधार पर था कि वह प्रस्ताव वहाँ उपस्थित लोकमत की मनस्थिति को सही व्यक्त नहीं करता है। इस दृष्टि से उसमें असत्य है। वह प्रतिनिधि वर्ग के स्वेच्छित विचार-निर्णय का परिणाम नहीं है। इस तरह वह सामयिक सुविधा करता प्रतीत होता हो, पर असल में वह सम्मेलन की शक्ति को बढ़ानेवाला नहीं हो सकता। प्रत्युत वह सम्मेलन की अशक्ति की गाँठ (Complex) को ही कुछ झलकाता और एक तरह कायम करता है। मेरा पक्का विश्वास है कि वह अपनी पूछ में और-और व्याख्याओं को उपजाने का कारण बनेगा। धुएँ को चीरकर प्रकाश दे सकनेवाला वह हो ही नहीं सकता। हिन्दी के भारी लोकमत को मार्ग-दर्शन सीधी-साफ बात दे सकती है। चतुराई केवल काम ही चला सकती है। प्रस्ताव में सत्य नीति का बल नहीं है। अधिक से अधिक लोकनीति का उसमें किंचित समावेश मान सकते हैं। पर क्या आज सन् '४२ में यह साबित करने की बात है कि सत्य नीति से टूटकर लोकनीति सदा अपने लिए संकट ही बुला सकी है ?

★ सम्मेलन जो नहीं कर सका वह आगे भी नहीं कर सकेगा, यह नास्तिक ही मान सकता है। सन्देहशील होना कमजोर होना है। अविश्वास आत्मविश्वास की त्रुटि का द्योतक है। हर पल सम्मेलन के सामने अवसर है कि वह अपने स्वधर्म को पहचान ले और उसमें अधिष्ठित हो जाये। 'हिन्दी-साहित्य' यह उसके नाम की पहली शर्त है। यानी यही उसके स्वधर्म की अन्तिम सीमा है। और 'सम्मेलन' में यह भाव है कि जाग्रत लोकमत ही उसका सञ्चालन करे, व्यक्ति मात्र माध्यम हो। वह सम्मेलन नहीं जिसका हर प्रतिनिधि अपने-अपने क्षेत्र में नेता न हो। नेता वही जो सेवक है। और लोकमत का गहरा और हार्दिक विश्वास जिसने सम्पादन नहीं किया है, वह वाक्चातुर्य या हठाग्रह से यदि किसी सम्मेलन का सञ्चालन कर पाता है तो उसका यही अर्थ है कि उसका सम्मेलनत्व सन्दिग्ध है। और ऐसी वस्तु किसी भाषा, किसी साहित्य अथवा किसी लक्ष्य की सेवा नहीं कर सकती। अस्मिता गिरने के लिए होती है। एक व्यक्ति की अस्मिता के पीछे एक राष्ट्र का अन्धानुसरण चाहे हो वह उसी कारण स्पृहणीय नहीं होता। काल सबका कलेवा कर जाता है। इसलिए लोक-सचालन की नीति सत्यनीति से भिन्न होकर कुछ हो ही नहीं सकती। आज तो हम लोक-जाग्रति चाहते हैं। वह सबके ऊपर होकर नहीं, सबके नीचे ही बनकर हम कर सकते हैं। कार्य-सञ्चालन की उस नीति का नाम सेवा है। महत्त्वाकांक्षा उससे उल्टी वस्तु है। महत्त्वाकांक्षा में अधिकार की चाह है, सेवा में अधिकार एक परिग्रह है जो जीवन के साथ यद्यपि लगा तो है, फिर भी जो आत्मसिद्धि में बाधा है।

★

दादा-कॉमरेड—लेखक, श्री यशपाल, प्रकाशक, विप्लव कार्यालय, लखनऊ, मूल्य १)।

दादा-कॉमरेड विप्लवी यशपाल का प्रथम उपन्यास है। एक क्रांतिकारी के नाते यशपाल बहुत प्रसिद्ध रहे हैं, परन्तु पिछले कुछ वर्षों में वह एक उत्कृष्ट लेखक, व कहानीकार के रूप में आ गये। 'पिंजरे की उड़ान' 'न्याय का संघर्ष' और 'वो दुनिया' से उन्होंने अपना स्थान हिन्दी संसार में सुरक्षित कर लिया। दादा कॉमरेड, भारतीय क्रांतिकारी जीवन का अमर चित्र है।

दादा कॉमरेड में एक क्रांतिकारी का जीवन चित्रित है। लाहौर के जेलखाने में फँसे क्रांतिकारी एक दूसरे मुकदमे के लिये अमृतसर ले जाये जाते हैं। उनको छुड़ाने के लिए उनके अन्य साथी रेल में जाते समय पुलिस पर आक्रमण कर देते हैं। वह छूट जाते हैं। उनमें एक व्यक्ति रात में अमरनाथ नाम के एक कांग्रेसी बीमा एजेण्ट के घर छिप जाता है। रात्रि भर उसकी स्त्री की सहायता से वहाँ चुपचाप रह वह निकल आता है। वही हमारा चरित-नायक है। बाद में मालूम होता है उसका नाम हरीश है।

लाहौर के एक धनी पिता की पुत्री शैलबाला एक नये ढंग की लड़की है। वह एम० ए० में पढ़ती है, मोटर खुद चलाती है, कांग्रेस का काम करती है, स्त्री आंदोलन में भाग लेती है, कई युवक उसके मित्र हैं। उसका उनके साथ व्यवहार भी बेतकल्लुफाना है। वह यशोदा से मिलती है, उसे अपने काम में साथ लेती है, घर ले जाती है। वहाँ वह हरीश को देखती है। हरीश शैल का मित्र है। शैल भी क्रांतिकारियों के साथ काम करती है। परन्तु शैल के साथ हरीश का यह व्यवहार उसके साथियों को पसन्द नहीं।

कानपुर की एक तंग कोठरी में क्रांतिकारी पार्टी की बैठक होती है, हरीश जाने कैसे-कैसे मालगाड़ी में बैठ कर वहाँ पहुँचता है। वहाँ पर उसके व्यवहार पर टीका होती है। वह नई नीति का प्रतिपादन करता है पर साथियों से न पट सकने के कारण पार्टी छोड़ कर चला आता है। उसके आने के बाद यह निश्चित होता है कि उसे दण्ड दिया जाय। पार्टी के नेता दादा कहलाते हैं। हरीश वापस लौट कर मज़दूर आन्दोलन को संगठित करने में लग जाता है। वह मज़दूरों में ही रहता है।

इसी बीच दादा और बी० एम० एक अन्य क्रांतिकारी लाहौर आते हैं, हरीश का काम तमाम करने। पर वह उन्हें नहीं मिलता। वह शैल के यहाँ आते हैं। शैल से उनसे विवाद हो जाता है। इसी बीच हरीश भी उसके दर्वाजे से आता है पर शैल किसी अज्ञात भय के कारण उसे वापस भेज देती है। बाद में मालूम होता है—यह लोग हरीश को मारने आये थे।

हरीश आध घण्टा यशोदा के यहाँ काटकर और वहाँ अपना गलत परिचय देकर फिर शैल के साथ उसके मित्र राबर्ट व उसकी बहिन नैनसी के यहाँ जाता है। यहाँ वह हरीश से मिराजकर बनता है। राबर्ट स्वच्छन्द शैल का घनिष्ट पुरुष मित्र है। अन्य मित्रों से उकताकर शैल उसी की ओर आकृष्ट है और उससे विवाह भी करना चाहती है, नैनसी उसकी अविवाहित बहिन है। वह हरीश—नहीं मिराजकर—की ओर आकर्षित हो जाती है। पर हरीश उसकी ओर आकर्षित नहीं। एक तो वह अपने उद्देश्यपूर्ति के ख्यालों में व्यस्त है और यदि इस बीच में कोई अन्य स्त्री आती है तो वह है शैल। वे सब मंसूरी जाते हैं पर वहाँ की प्राकृतिक मनोहरता भी नैनसी की ओर हरीश को आकृष्ट न कर सकी। वह दोनों लौट आते हैं। शैल और हरीश रह जाते हैं।

यहाँ हरीश शैल से उसे नग्न देखने की माँग करता है। शैल इन्कार करती है पर अन्त में स्वीकृति दे देती है, सिर्फ़ हरीश को प्रसन्न करने की गरज से परन्तु बड़े संकोच से। हरीश को इस दृश्य की तह में शैल और अपने बीच एक अभूतपूर्व आत्मीयता का दर्शन होता है।

लौटकर हरीश फिर काम में लग जाता है। एक दिन पुलिस नैनसी के बँगले में आ जाती है। हरीश

प्राणों से खेलने के लिए तैयार हो जाता है। नैनसी भी जान की बाजी लगा उसके सामने वार झेलने को आ जाती है पर मामला साधारण निकलता है। बाद में नैनसी को यह लगता है कि इतने त्याग पर भी हरीश ने उसकी अवज्ञा की है। उसमें प्रतिक्रिया होती है।

हरीश सुलतान बनकर, अपना शरीर तेजाब से जलाकर कम्यूनिस्टों के साथ एक आम हड़ताल संगठित करता है। शैल और राबर्ट उसमें काम करते हैं, नैनसी तटस्थ है। राबर्ट का रुपया लग जाता है, बाद में वह हाथ खींच लेता है। मालूम होता है हड़ताल समाप्त हो जायगी।

इसी बीच दादा धन की तलाश में लाहौर आते हैं। वहाँ वह एक जगह डाका डालते हैं। पर हरीश का त्याग और उसकी हालत देख उन्हें उसके प्रति सहानुभूति होती है। वह रुपये को शैल को दे जाते हैं जिससे हड़ताल न बन्द हो।

हड़ताल सफल हो जाती है पर कुछ दिन बाद नोट पकड़े जाते हैं। सुलतान के रूप में हरीश, उसके साथी अख्तर व कृपाराम पकड़े जाते हैं। वह सफाई नहीं देते, अपने पक्ष का प्रतिपादन करते हैं। न्याय उन्हें फाँसी देता है :

इसी बीच में हरीश एक दिन थका-माँदा जो शैल के यहाँ आया तो वह रात को वहीं सो रहा। उसकी थकावट दूर करने जो शैल उसके पास जा पड़ती है तो उसके गर्भ रह जाता है। पिता उसे घर से अलग करने को कहते हैं। इसी समय दादा आते हैं। जो दादा हरीश की नीति का विश्वास उसकी बातों से नहीं कर सके वह उसका महत्व उसके त्याग से आँक जाते हैं। वह शैल व उसके बालक को आश्रय देने का वचन देते हैं।

इस उपन्यास में चित्रण की दृष्टि से हरीश और शैल ही मुख्य हैं। वैसे यशोदा और नैनसी का चित्रण भी शैल के चरित्र को समझने में सहायक होता है। पुरुष-पात्रों में हरीश के बाद राबर्ट आता है। दादा, अख्तर व अमरनाथ दूसरी कोटि के पात्र हैं। रफीक, कृपाराम का नाम सुना जाता है, गिरधारीलाल, बी० एम० जीवन, अली छोटे-छोटे सहायक पात्र हैं।

उपन्यास की प्रथम सफलता इसी में है कि यह बेहद मनोरञ्जक है। पुस्तक पूरी पढ़े बिना छोड़ी नहीं जा सकती। यद्यपि उपन्यास में स्थान-स्थान पर विचारों का प्राधान्य दिया गया है, पर उनमें भी दिलचस्पी ही आती है, वे उबाते नहीं। इस मनोरञ्जकता के साथ कथानक में वास्तविकता इतनी अधिक है कि सारे पात्र आँख के आगे चलते से दीखते हैं। क्रान्तिकारी जीवन का वास्तविक चित्र नाम पलटकर रख दिया गया है। यहाँ तक कि उसके एक भी नहीं छिपाये गये हैं। पारस्परिक द्वेष के वशीभूत होकर एक दूसरे के बारे में कैसी गलतफहमियाँ पैदा कर सकते हैं, इसके लिए बी० एम० का चरित्र भली भाँति चित्रित हुआ है।

उपन्यास शुरू से लेकर अन्त तक मनोवैज्ञानिक है। हम यशोदा, अमरनाथ, शैल, हरीश, अख्तर, दादा, राबर्ट, नैनसी, आदि को जानते ही नहीं वरन् उनकी मनोदशा को भली भाँति समझ जाते हैं।

पर उपन्यास की सबसे बड़ी खूबी तो और ही है। उपन्यास लेखन का एक ध्येय है। यशपाल ने वर्तमान संघर्ष, समाज के अन्तर्द्वन्द को, उसके द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों को समझने का प्रयत्न, ताकि उनका सुलझाव निकल सके, इस उपन्यास में किया है। और इसमें वह बहुत सफल भी हुआ है। इस प्रयत्न में उसने समाज के मौजूदा संस्कारों, और विचार-धाराओं को जो धक्का दिया है, वर्तमान विडम्बना का जो पर्दा फाश किया है वह घर कर जाता है।

हड़ताल, मज़दूर जीवन, क्रान्तिकारियों के कारनामे, मध्यवर्ग की ढहती संस्कृति और वैमनस्यपूर्ण गृहस्थी, अदालतों का थोथा न्याय इन सबका जो सजीव चित्रण हुआ है उसने सोने में सुहागा कर दिया है। अदालत का वर्णन, वहाँ की न्याय-प्रणाली तो अनातोले फ्रांस के क्रेन्बल की याद दिलाती है। स्थान-स्थान पर समाज के ऊपर व्यङ्ग भी बड़ा तीव्र हुआ है। सब मिलकर उपन्यास हिन्दी में एक अभूतपूर्व प्रयत्न बन गया है।

—जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी।

● ● ●

पराया पाप—(दूसरा संस्करण)—ले० श्री सूर्य्यनारायण श्रीवास्तव, प्रकाशक, साहित्य निकेतन समस्तीपुर (विहार) पृष्ठ ७० मूल्य ।।)

हिन्दी कहानी साहित्य को लेखक ने पहले 'सरिता' कहानी संग्रह दिया था। उस पर स्व० प्रेमचन्दजी ने लिखा था कि कहानियाँ मेरी रुचि के अनुकूल हैं और इनमें अन्तिम बिन्दु (climax) का प्रयोग अति सुन्दर है। भाषा तो निर्मल जल-सी निष्पाप और प्रसादपूर्ण है।

ठीक यही सब गुण प्रस्तुत कहानी-संग्रह 'पराया पाप' में भी हैं। इसमें पाँच कहानियाँ हैं जो कि लेखक के शब्दों में जीवन की पाँच बोलती तस्वीरें हैं और वास्तव में हैं भी। सब कहानियाँ एक ही साँस में पढ़ लेने को मन होता है। वर्णन, भाषा और शब्दों में कहीं भी कोई व्यर्थ विश्रण नहीं है। पाठक कहानी की धारा में हठात् बह जाता है। कहानियों का विषय है आज का समाज। नगण्य त्रुटि या सन्देह कितने बड़े अनिष्टकारी फल का रूप ले लेता है, यही दर्शाना लेखक का मन्तव्य है। लेखक समाज को पापों का कच्चा चिट्ठा मानता है। कहानी द्वारा रहस्य उद्घाटन कर वह समाज की उपेक्षा नहीं करना चाहता, वरन् दोष दिखाकर दोष दूर करना या काँटे से काँटा निकालना चाहता है। कहानियों में युवक हृदय की उमंगें और भावों की उच्च आकांक्षाएँ भरी हैं।

विषय की प्रतिपादन शैली, लेखक की स्वयं है। यह शैली हिन्दी में अपने ढङ्ग का अलग व्यक्तित्व रखती है। लेखक अधिक वर्णन नहीं करता, कम से कम वर्णन कर अपने भावों को प्रदर्शित कर पाठक को साथ ले चलता है। कहानी का कथानक सरपट घोड़ों की चाल चलता है। आरम्भ से अन्त तक यही सरपटवाली चाल है। लेखक ने तालिका में प्रत्येक कहानी के पढ़ने में कितना समय लगेगा, यह भी दे दिया है। पूरी पुस्तक को पढ़ने में पोन घण्टा करीब लगेगा।

इस तीव्र गति में लेखक को व्याकरण की उपेक्षा करनी पड़ी है, पर भाषा में भाव ढक नहीं पाये हैं। लेखक ने भाषा में सुधार भी किये हैं। जन्म, उन्हें, नन्हा, अन्दर, इन्हें, तुम्हें, तुम्हारी आदि शब्दों को इस प्रकार लिखा है—जंम, उंहें, नंहा, अंदर, इंहें, तुंहें, तुंहारी,। लेखक ने अनुनासिक का लोप कर अनुस्वार द्वारा काम चलाया है। यह शैली विचित्र है। संस्कृत व्याकरण की पचंम वर्ण की शैली से तो भिन्न है ही। यह शैली भाषा को लिपि को लघु करना चाहती है। पर यह संकेत की इच्छा हिन्दी के लिए हितकर नहीं। जब कोई अहिन्दी भाषा भाषी पढ़ेगा तब अनुस्वार को देखकर वह सोचेगा कि मैं यहाँ 'न' ध्वनि पढ़ूँ या 'म' ध्वनि। लेखक ने अनुस्वार का एक और विचित्र प्रयोग किया है। चलते समय जब भारी पाँव पड़ता है तब धम धम धम का धम्म धम्म धम्म की आवाज निकलती है। लेखक ने इसी ध्वनि को धंम धंम धंम लिखा है। साधारण पाठक तो इसे धन्म धन्म धन्म ही पढ़ेगा। हमारी समझ में हिन्दी व्याकरण की अनुनासिक प्रणाली वैज्ञानिक और संगत है और उसका ही प्रयोग होना चाहिये।

बिहार के कहानी लेखकों में श्री सूर्य्यनारायण श्रीवास्तव, अपना एक उच्च स्थान बना लेंगे, यह पूर्ण सम्भव है। कहानी कला में लेखक सिद्धहस्त हैं।

● ● ●

लेखन-कला (द्वितीय संस्करण)—ले० पं० किशोरीदास वाजपेयी शास्त्री, प्रकाशक—साहित्य एजेंसी, कनखल (यू० पी०) पृष्ठ, १६४ मूल्य एक रुपया।

लेखन-कला के प्रथम संस्करण की आलोचना "हंस" पत्र में निकल चुकी है। प्रस्तुत पुस्तक ने एक एकान्त अभाव की पूर्ति की है। इस प्रकार का साहित्य, हिन्दी में अंगुलियों पर गिना जा सकता है। हिन्दी के नये लेखकों को प्रथम लेखन कला का ज्ञान प्राप्त कर लिखने की चाह करना चाहिये। बिना नींव के गृह अपना अस्तित्व नहीं रख सकता। शब्द चिन्तन और वाक्य में पदों का सन्निवेश, नामक दो अध्याय लिख कर, लेखन-

कला-ज्ञान का मूल्य बता दिया है। पुस्तक छात्रों और नौसिखियों के लिए अति आवश्यक है, पर लेखक और कवि भी अपने हित की बात अवश्य पावेंगे। लेखक ने लेखकों द्वारा की गई त्रुटियों को चुन-चुन कर सामने रखा है। बिना व्याकरण ज्ञान प्राप्त किये कई लेखक आगे बढ़ गये हैं, पर वे भाषा में अनगिनत त्रुटियाँ करते हैं। इस प्रकार भाषा में गंदापन फैलता है। लेखक इसी गंदापने को हटाकर हिन्दी को स्वच्छ निर्मल रूप देना चाहता है। लेखक का प्रयास सराहनीय और हिन्दी का रक्षक है।

लेखन-कला का प्रथम संस्करण ६४ पृष्ठ का था। पर द्वितीय संस्करण १६४ पृष्ठ का है। लेखक ने सब काम की बातों का संग्रह कर दिया है। कविता, कहानी, नाटक पर भी लिखा है, पर कुछ विस्तृत होता तो छात्र अधिक उपयोग कर पाते। अन्त में संस्कृत की कहावतों का संग्रह भी जोड़ दिया है।

लेखन-कला के लेखक पं० किशोरीदास वाजपेयी, एक उद्भट विद्वान एवम् समालोचक हैं। उन्होंने लेखन-कला को प्रकाशित कर हिन्दी के नव लेखकों का अति उपकार किया है। पुस्तक स्कूलों के पाठ्य-कार्य्य में स्थान पाने योग्य है।

जेल की ओर—ले० सिद्धनाथ सिंह बी० ए०, एल० एल० बी०। प्रकाशक—मानस मन्दिर ७।४६ सेनपुरा, बनारस सिटी, पृष्ठ ९२, मूल्य ॥)

प्रस्तुत पुस्तक लेखक के शब्दों में अद्भुत सामाजिक उपन्यास है। देश की दुर्दशा, पापियों के अत्याचार तथा धर्म के भीषण पतन को देख कर लेखक क्षुब्ध है। जेल जाने पर, कष्ट सहकर समाज सुधार करने से, स्वतंत्रता-वंशी की मधुर ध्वनि सुनाई दे सकती है, यह लेखक का मत है। पुस्तक की भूमिका में गोपाल गहमरीजी ने लिखा है—'लेखक का प्रथम प्रयास है। भाषा उछलती हुई हिन्दी है। सब कुछ इसमें है। पाठक अपनी रुचि के अनुसार ले सकते हैं।'

पुस्तक में देश की प्रचलित सब कुप्रथाएँ वर्णित हैं। पूंजिवाद का आतंक, पुलिस का अत्याचार, किसानों की करुण कहानी, विधवा का दुःख, नवयुवकों की उच्च आकांक्षाएँ सब कुछ है, पर कोई तारतम्य नहीं है। लेखक उपन्यास-कला से अनभिज्ञ जान पड़ता है। किसी एक उद्देश्य का पालन नहीं हुआ है। कथानक की प्रगति निराशाजनक है। लेखक एक बात कह कर, दूसरी बात पर कूद जाता है, फिर दूसरी तीसरी घटना पर। ९२ पृष्ठ के उपन्यास को २२ अध्यायों में विभक्त किया है। कोई कोई अध्याय पोन पृष्ठ का है। उपन्यास का शीर्षक भ्रम में डालने वाला है। उसका कथानक से क्या सम्बन्ध है, जान नहीं पड़ता। पुस्तक की छपाई कागज सन्तोषजनक है।

—महावीरसिंह गहलोत।

● ● ●

विशेषांक

'विश्व-भारती पत्रिका'—हिन्दी भवन, शान्तिनिकेतन, बंगाल। वार्षिक मूल्य ६), प्रति संख्या १॥)। सम्पादक हजारीप्रसाद द्विवेदी।

'विश्वभारती' पत्रिका का प्रथम अङ्क जो जनवरी १९४२ से निकलना प्रारम्भ हुआ है हमारे सामने है। प्रस्तुत अंक के आवरण पृष्ठ को देखते ही चित्त प्रसन्न हो जाता है। अन्दर रवीन्द्रनाथ ठाकुर का बड़ा ही भावपूर्ण, चित्र है और उसी के सामने प्रथम पृष्ठ पर बापू के आशीर्वाद हैं।

लेखों का चयन विद्वान संपादक ने बड़े ही सुचारुरूप से किया है। लेखों में, 'एशिया की जागृति में ही यूरोप का परित्राण है—रवीन्द्रनाथ ठाकुर, आधुनिक काव्य—रवीन्द्रनाथ ठाकुर, शिल्पी रवीन्द्रनाथ—नन्दलाल वसु युद्धोत्तर कालीन यूरोपीय उपन्यास में धर्म—डा० ए० अरन्स, काव्य-रस की परम्परा—हजारीप्रसाद द्विवेदी और

राजेन्द्र बाबू तथा क्षितिमोहन सेन के लेख विशेषरूप से उपादेय एवं मननशील हैं, कविताएँ और गान सब रवीन्द्रनाथ ठाकुर के ही हैं।

छपाई, सफाई उत्तम एवं मनोरम है।

पत्रिका के उद्देश्य वही हैं जो विश्वभारती के हैं, अन्त में हमारा यही निवेदन है कि आज की थकी हारी मानव जाति के लिए यह पत्रिका उत्तम और ठोस साहित्य की सृष्टि करे। हम हृदय से पत्रिका के पवित्र उद्देश्यों का स्वागत करते हैं।

'स्टूडेंट'—(जबलपुर) का 'सोवियत अंक,' मूल्य ॥)—यह अंक अपनी एक विशेषता रखता है ऐसे समय में जब कि रूस एक भयंकर युद्ध में संलग्न है और अपनी महान संस्कृति को अक्षुण्ण रखने में यत्नशील है।

रूस की सर्वांगीण उन्नति पर सभी प्रकार के लेख हैं, राहुल सांकृत्यायन, प्रो० हीरेन्द्रनाथ मुकर्जी, प्रो० हुमायूँ कबीर, इंदिरा नेहरू आदि के लेख विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। वैसे सभी लेखकों ने अपने-अपने अध्ययन द्वारा इस अंक को उत्तम बनाने का प्रयास किया है।

कई चित्र, चार्ट आदि से यह अंक और भी उपादेय हो गया है। ऐसा उपयोगी अंक निकालने के लिए 'स्टूडेंट' के सम्पादक धन्यवाद के पात्र हैं।

'आरती'—नववर्षांक, जनवरी, १९४२। सम्पादक प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त', आरती मन्दिर पटना, वार्षिक मूल्य ५), इस अङ्क का ।॥)

'आरती' को निकलते हुए यह दूसरा वर्ष है। इस अङ्क में, लेख, कविता, कहानी, एकांकी नाटक आदि सब कुछ है। परन्तु हमें लगता है कि आरती का स्टैंडर्ड कुछ शिथिल-सा पड़ गया है। कोई ठोस चीज़ हमें इसमें नहीं मालूम होती।

हमें आशा है कि 'आरती' भविष्य में अधिक उपयोगी और ठोस साहित्य द्वारा हिन्दी भाषा की सेवा करेगी।

'विश्वमित्र'—(परिवार अङ्क) वार्षिक मूल्य ६), एक प्रति १) कलकत्ता। जनवरी १९४२।

'विश्वमित्र' का प्रस्तुत अङ्क 'परिवार अङ्क' के नाम से निकला है। परिवार सम्बन्धी कई सुन्दर लेख इसमें हैं। कई लेख चित्र सहित हैं।

कई लेखों में आज की उलझी हुई पारिवारिक समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है और साथ ही साथ सामाजिक व्यवस्था का भी चित्रण है। दाम्पत्य जीवन की आधुनिक समस्याओं पर भी एक दो लेख हैं। सभी लेखकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से लिखा है। अधिकांश लेखकों ने अपने लेखों में वर्णित समस्या की वैज्ञानिक विवेचना करने का प्रयत्न नहीं किया है। फिर भी प्रस्तुत अङ्क सुन्दर एवं पठनीय है।

हम 'विश्वमित्र' के इस सुन्दर प्रयास की सराहना करते हैं। और भविष्य में और भी उत्तम सामग्री की आशा करते हैं।

—प्रभातकुमार जोशी।

*

सा म यि क

काशी विश्वविद्यालय में मातृ-भाषा पर महात्मा गांधी

[गत २१ जनवरी, ४२ के दिन गांधीजी ने काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय की रजत-जयन्ती के अवसर पर भाषण किया था।]

मेरा खयाल था कि कम से कम यहाँ तो सारी कार्रवाई अंग्रेजी में नहीं, बल्कि राष्ट्र भाषा में ही होगी, मैं यहाँ बैठा यही इन्तजार कर रहा था कि कोई न कोई तो आखिर हिन्दी या उर्दू में कुछ कहेगा। हिन्दी-उर्दू न सही, कम-से-कम मराठी या संस्कृत में ही कुछ कहता, लेकिन मेरी सब आशाएँ निष्फल हुईं।

अंग्रेजों को हम गालियाँ देते हैं कि उन्होंने हिन्दुस्तान को गुलाम बना रक्खा है; लेकिन अंग्रेजी के तो हम खुद ही गुलाम बन गये हैं। अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान को काफी पामाल किया है। इसके लिए मैंने उनकी कड़ी-से-कड़ी टीका भी की है। परन्तु अंग्रेजी की अपनी इस गुलामी के लिए मैं उनको जिम्मेदार नहीं समझता। खुद अंग्रेजी सीखने और बच्चों को अंग्रेजी सिखाने के लिए हम कितनी-कितनी मेहनत करते हैं? अगर कोई हमें कह देता है कि हम अंग्रेजों की तरह अंग्रेजी बोल लेते हैं, तो मारे खुशी के फूले नहीं समाते! इससे बढ़ कर दयनीय गुलामी और क्या हो सकती है? इसकी वजह से हमारे बच्चों पर कितना जुल्म होता है? अंग्रेजी के प्रति हमारे इस मोह के कारण देश की कितनी शक्ति और कितना श्रम बरबाद होता है? इसका पूरा हिसाब तो हमें तभी मिल सकता है, जब गणित का कोई विद्वान इसमें दिलचस्पी ले। कोई दूसरी जगह होती, तो शायद यह सब बरदाश्त कर लिया जाता, मगर यह तो हिन्दू-विश्वविद्यालय है। जो बातें इसकी तारीफ में अभी कही गई हैं, उनमें सहज ही एक आशा यह प्रकट की गई है कि यहाँ के अध्यापक और विद्यार्थी इस देश की प्राचीन संस्कृति और सभ्यता के जीते-जागते नमूने होंगे। मालवीयजी ने तो मुँह-माँगी तनख्वाहें देकर अच्छे-से-अच्छे अध्यापक यहाँ आप लोगों के लिए जुटा रक्खे हैं। अब उनका दोष तो कोई कैसे निकाल सकता है? दोष ज़माने का है। आज हवा ही कुछ ऐसी बन गई है, कि हमारे लिए उसके असर से बच निकलना मुश्किल हो गया है। लेकिन अब वह ज़माना भी नहीं रहा, जब विद्यार्थी जो कुछ मिलता था, उसी में सन्तुष्ट रह लिया करते थे, अब तो वे बड़े-बड़े तूफान भी खड़े कर लिया करते हैं। छोटी-छोटी बातों के लिए भूखहड़ताल तक कर देते हैं। अगर ईश्वर उन्हें बुद्धि दे, तो वे कह सकते हैं, 'हमें अपनी मातृभाषाओं में पढ़ाओ!' मुझे यह जान कर खुशी हुई कि यहाँ आन्ध्र के २५० विद्यार्थी हैं। क्यों न वे सर राधाकृष्णनन के पास जायें और उनसे कहें कि यहाँ हमारे लिए एक आन्ध्र-विभाग खोल दीजिये और तेलगू में हमारी सारी पढ़ाई का प्रबन्ध करा दीजिये। और अगर वे मेरी अक्ल से काम करें तब तो उन्हें कहना चाहिये कि हम हिन्दुस्तानी हैं; हमें ऐसी जबान में पढ़ाइये, जो सारे हिन्दुस्तान में समझी जा सके। और ऐसी जबान तो हिन्दुस्तानी ही हो सकती है।

बौद्धिक थकान

एक और बात मैंने देखी, आज सुबह हम श्री शिवप्रसाद गुप्त के घर से लौट रहे थे, रास्ते में विश्वविद्यालय का विशाल प्रवेश द्वार पड़ा, उस पर नज़र गई तो देखा, नागरी लिपि में 'हिन्दू-विश्वविद्यालय' इतने छोटे हरूफ़ों लिखा है, कि ऐनक लगाने पर भी नहीं पढ़े जाते पर अँग्रेज़ी में Benares Hindu University ने तीन चौथाई से भी ज्यादा जगह घेर रक्खी है ! मैं हैरान हुआ कि यह क्या मामला है ? इसमें मालवीयजी महाराज का कोई कसूर नहीं। यह तो किसी इंजीनियर का काम होगा। लेकिन सवाल तो यह है कि अँग्रेज़ी की वहाँ ज़रूरत ही क्या थी ? क्या हिन्दी या फ़ारसी में कुछ नहीं लिखा जा सकता था ? क्या मालवीयजी, और क्या सर राधाकृष्णन्‌न, सभी हिन्दू-मुस्लिम एकता चाहते हैं। फ़ारसी मुसलमानों की अपनी खास लिपि मानी जाने लगी है। उर्दू का देश में अपना ख़ास स्थान है। इसलिए अगर दरवाज़े पर फ़ारसी में, नागरी में या हिन्दुस्तान की दूसरी किसी लिपि में कुछ लिखा जाता, तो मैं उसे समझ सकता था। लेकिन अँग्रेज़ी में उसका वहाँ लिखा जाना भी हम पर जमे हुए अँग्रेज़ी ज़बान के साम्राज्य का एक सबूत है। किसी नई लिपि या ज़बान को सीखने स हम घबराते हैं, जब कि सच तो यह है कि हिन्दुस्तान की किसी ज़बान या लिपि को सीखना हमारे लिए बायें हाथ का खेल होना चाहिये। जिसे हिन्दी या हिन्दुस्तानी आती है, उसे मराठी, गुजराती, बंगाली वग़ैरा सीखने में तकलीफ़ ही क्या हो सकती है ? कन्नड़, तामिल, तेलगू और मलयालम का भी मेरा तो यही तजरबा है। इनमें भी संस्कृत के और संस्कृत से निकले हुए काफ़ी शब्द भरे पड़े हैं। जब हममें अपनी मादरी ज़बान या मातृभाषा के लिए सच्ची मुहब्बत पैदा हो जायगी, तो हम इन तमाम भाषाओं को बड़ी आसानी से सीख सकेंगे। रही बात उर्दू की, सो वह भी आसानी के साथ सीखी जा सकती है। लेकिन बदकिस्मती से उर्दू के आलिम यानी विद्वान् इधर उसमें अरबी और फ़ारसी के शब्द ठूँस-ठूँसकर भरने लगे हैं—उसी तरह, जिस तरह हिन्दी के विद्वान हिन्दी में संस्कृत शब्द भर रहे हैं। नतीजा इसका यह होता है कि जब मुझ जैसे आदमी के सामने कोई लखनवी तर्ज़ की उर्दू बोलने लगता है, तो सिवा बोलनेवाले का मुँह ताकने के और कोई चारा नहीं रह जाता।

*

प्रकाशित हो गया ! प्रकाशित हो गया !!

'जीवन-सखा'

का

'व्यायाम-अंक'

इस अंक के द्वारा आप केवल दण्ड बैठक आदि व्यायाम की क्रियाओं से ही परिचित नहीं होंगे बल्कि संसार में प्रचलित व्यायाम प्रणालियाँ तथा उनका क्रमिक विकास, भारत की प्राचीन तथा आधुनिक व्यायाम शैलि, रोगों के निवारण में व्यायाम का उपयोग आदि अनेक महत्वपूर्ण बातों की भी आपकी जानकारी होगी इस विशेषांक के कुछ लेखों की सूची देखिये।

१. आधुनक व्यायाम पद्धति पर एक दृष्टि।
२. व्यायाम प्रसार पर कुछ व्यावहारिक प्रभाव।
३. सम्यक् व्यायाम (भिक्षु आनन्द कौशल्यायन)।
४. शालाओं में शारीरिक शिक्षा।
५. नृत्यकला और व्यायाम।
६. स्वस्थ रहने के लिए विश्राम।
७. व्यायामियों का भोजन।
८. व्यायाम की प्रारम्भिक शिक्षा।
९. छुट्टियाँ और काम करने का समय (श्री कालिदास कपूर, एम० ए०)
१०. व्यायाम के क्षेत्र में आसनों का महत्व।
११. आसन (श्री बालेश्वर प्रसाद)।
१२. योग क्रियाएँ (श्री बालेश्वर प्रसाद)।
१३. सांस की कसरतें (श्री अब्दुलसत्तार खैरी, एम० ए०)।
१४. बालकवायद (प्रो० मानिकराव, बड़ोदा)।
१५. योगासन के सम्बन्ध में आवश्यक बातें (श्री स्वामी शिवानन्द)।
१६. शरीर को सुडौल बनाने का अचूक उपाय।
१७. सूर्य नमस्कार।
१८ कब्ज और उसका इलाज।
१९. मेदरोग या मुटाव।

यूरोपीय व्यायाम पद्धति, भारतीय व्यायाम पद्धति, वृषभ स्कन्ध तथा 'हार्नियाँ' का इलाज इत्यादि।

अनेक चीजों से सुसज्जित इस बृहद् विशेषांक का मूल्य १) है किन्तु 'जीवन-सखा' के सभी नये-पुराने ग्राहकों को मुफ्त दिया जा रहा है। इसलिए यदि आप अब तक 'जीवन-सखा' के ग्राहक न बने हों तो शीघ्र ३) भेजकर बन जाइये। युद्ध के कारण जो अनिवार्य कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गयी हैं उसकी वजह से यह विशेषांक सीमित संख्या में प्रकाशित हुआ है। अत: शीघ्रता कीजिये अन्यथा निराश होना पड़ेगा।

मैनेजर—'जीवन-सखा'

८७ हिम्मतगञ्ज, इलाहाबाद।

'हंस' के मार्च अङ्क की विषय-सूची

नोट:- विषय-सूची में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया जा सकता है।—सं०

[Approved by the Governments of the U. P., Behar, C. P., Kashmir and Bombay Presidency for use in Colleges, Schools and all other educational institutions]

अन्तर्प्रान्तीय साहित्यिक प्रगति का अग्रदूत

: सम्पादक :

श्रीपतराय

•

सलाहकारी सम्पादक मण्डल

•

★ उर्दू—मौलाना अब्दुलहक़

★ मराठी—वि० स० खाण्डेकर

★ गुजराती—रा० वि० पाठक

★ उड़िया—कालिन्दीचरण पाणिग्राही

★ बँगला—श्रीनन्दगोपाल सेनगुप्त

★ पञ्जाबी—प्रो० मोहनसिंह

★ राजस्थानी—नरोत्तमदास स्वामी

★ कन्नड़—वी० सत्यनारायणराव

मिट्टूर श्रीनिवासराव

वार्षिक मूल्य ६)
अर्ध-वार्षिक मूल्य ३)
एक अंक का आठ आना

विदेश में १२ शिलिंग ; बर्मा के लिए ७)

वर्ष : १२ : : मार्च, १९५२ : : अंक : ६

टिप्पणी—

अनुचित, त्याज्य और घृणित ?

कुतर्क और वितंडावाद के लिए हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं से अधिक उर्वर स्थान और कोई नहीं है। 'साहित्य में श्लीलता और अश्लीलता' का विवाद इसका उदाहरण है। इस विवाद में साहित्य को व्यर्थ ही घसीटा गया है, क्योंकि साहित्य का क्षेत्र व्यापक है और किसी भी साहित्य को नैतिकता-अनैतिकता के इतने छोटे घेरे में ठूँसकर नापा-जोखा नहीं जा सकता। फिर भी इस अ-साहित्यिक कसौटी पर परख करने की परम्परा उन लोगों ने चला रखी है जो न ललित-साहित्य का सृजन करते हैं और न उसकी मूल समस्याओं से परिचित हैं। और इधर कुछ दिनों से सहयोगी 'जीवन-साहित्य' में इस प्रश्न पर खासी बहस भी चल चुकी है। यद्यपि इन बहसों का मूल्य अधिक नहीं है, साधारण विवेक के लोगों में भ्रम फैलाने में, विशेषकर जब कि पुराने संस्कार कोई वैज्ञानिक और स्वस्थ दृष्टिकोण पैदा करने के मार्ग में अवरोध बने खड़े हों, वे विशेष रूप से सहायक होती हैं, और पाठक जिन धारणाओं में अभ्यस्त-से हैं उनका पिष्टपेषण कर उन्हें और भी पक्का बनाना है। परन्तु वे साहित्य की मूल-समस्याओं से ध्यान हटाकर व्यर्थ के प्रश्नों पर उसे केन्द्रित कर देती हैं, इस कारण ऐसी बहसें साहित्य की प्रगति में बाधक ही बनती हैं। इसलिए 'श्लीलता-अश्लीलता' की बहस में भाग लेना हमने कभी आवश्यक नहीं समझा, जैसे अनीश्वरवादी होते हुए भी एक समाजवादी धर्म के प्रश्न को प्रमुखता नहीं देता; क्योंकि वह जानता है कि देश की मुख्य समस्याएँ आर्थिक और राजनीतिक हैं। फिर भी यदि कुछ लोग केवल विरोध करने की खातिर कहें कि समाजवादी धर्म के शत्रु हैं, वे धर्म के अनुयायियों को फांसी पर चढ़ा देंगे और [illegible] ता मनुष्य की सनातन आवश्यकता है, अतः समाजवाद यदि धर्म को नहीं मानता तो उसमें रखा क्या है, वह 'अनुचित, त्याज्य और घृणित' है, तो यह जानते हुए भी कि अनर्गल प्रलापों से समाजवाद की प्रगति रोकी नहीं जा सकती, एक समाजवादी को सत्य का प्रकाशन करने के लिए ऐसे मिथ्या आरोपों का खंडन करना ही पड़ता है।

सहयोगी 'वीणा' के फरवरी अंक में 'यही प्रगतिवाद है !' नाम से एक छोटी टिप्पणी है जिसमें 'हंस' में प्रकाशित दो रचनाओं को भद्दी और अश्लील कहकर विद्वान सम्पादक ने लिखा है, इस तरह की रचनाएँ प्रकाशित होना ही प्रगतिवाद का ध्येय है तब तो यह प्रगतिवाद अत्यन्त अनुचित, त्याज्य और घृणित है।' मैं इस टिप्पणी का नोटिस न लेता, लेकिन मुझे बताया गया है कि अन्य कई मित्रों ने भी ऐसी ही धारणा बनायी है और दो एक पत्र भी इस सम्बन्ध में मुझे मिले हैं। मुझे खेद है कि विद्वान सम्पादक ने 'हंस' में प्रकाशित सैकड़ों रचनाओं में प्रकट प्रगतिवाद के ध्येय को जानने की चेष्टा नहीं की, और जिन दो रचनाओं का उन्होंने उल्लेख किया है उनके दृष्टिकोण या ध्येय पर भी उन्होंने ध्यान नहीं दिया है, बल्कि उन रचनाओं में प्रयुक्त कतिपय शब्दों और वाक्यों पर ही उन्होंने अपनी धारणा बना ली है। और फिर 'हंस' में प्रकाशित साहित्य को दृष्टि से हटाकर प्रगतिवाद को फतवा दे डाला है। मेरा विचार है कि साहित्य का मूल्यांकन करने का यह दृष्टिकोण अत्यन्त संकुचित और खतरनाक है।

अतः प्रगतिवादियों का क्या दृष्टिकोण है, श्लीलता-अश्लीलता या नैतिकता-अनैतिकता के प्रश्न पर, हम यहाँ संक्षेप में उसका स्पष्टीकरण कर देना चाहते हैं, ताकि ऐसी बहसों में प्रगतिवाद को न घसीटा जाय।

प्रगतिवाद को शब्दों से विरोध नहीं है, शब्द जीवन की हकीकत के संकेत चिन्ह हैं, अतः प्रगतिवाद किसी नैतिक-अनैतिक दृष्टि से शब्दों को साहित्य में ग्राह्य-अग्राह्य नहीं मानता। तो भी प्रगतिवाद शब्दों का अनियन्त्रित प्रयोग अनुचित समझता है, अर्थात् उनके प्रयोग से अर्थ की सृष्टि होनी चाहिए, और यह एक भाषा-शास्त्र की कसौटी है। जो शब्द प्राचीन अन्धविश्वास-मूलक धारणाओं या सामाजिक प्रतिबन्धों के कारण साहित्य में 'टेबू'—निषिद्ध कर दिये गये हैं, तो प्रगतिवाद केवल इसी कारण कि वे निषिद्ध हैं उनका बहिष्कार नहीं करता, क्योंकि इस निषेध का कारण किसी काल और समाज की प्रचलित नैतिकता की व्यवस्था ही थी, अतः प्रगतिवाद उस नैतिकता की एक ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण से जाँच करता है, और यदि वह उस नैतिकता को आडम्बरपूर्ण और सामाजिक प्रगति का विरोधी पाता है, तो वह इस आडम्बर के आवरण खोलने के लिए, समाज के व्रणों का मवाद साफ करने के लिए निषिद्ध शब्दों का प्रयोग करने में संकोच नहीं करता, यदि ऐसा करना आवश्यक हो जाता है। और प्रगतिवाद ऐसा इसलिए करता है कि उसका उद्देश्य वैज्ञानिक आधार पर किसी भी पूर्व-समाज की नैतिकता से ऊँचे दर्जे की नैतिकता की positive रूपरेखा का विकास करना है। अतः प्रगतिवाद के ध्येय के बारे में किसी को भ्रम में नहीं रहना चाहिए।

आशा है प्रगतिवाद के सम्बन्ध में इस प्रश्न को लेकर बहस करते समय, विज्ञ सम्पादक, विचारक और पाठक धारणाएँ बनाने के पूर्व अधिक जानकारी से काम लेंगे।

—शि० सिं० चौ०

साहित्य-समस्या

ब्रह्मानन्द सहोदर

●

[रामविलास शर्मा]

[२]

साहित्य या कला से जो आनन्द प्राप्त होता है, उसे ब्रह्मानन्द सहोदर न मानकर भी, बहुत से लोग यह स्वीकार करना चाहेंगे कि वह लोकोत्तर होता है और जीवन में प्राप्त आनन्द की अन्य श्रेणियों से वह भिन्न है। भिन्न तो वह है ही क्योंकि यहाँ माध्यम दूसरा है ; जीवन में जैसे मदिरा पीने से किसी को आनन्द मिलता है, साहित्य में उसके वर्णन से आनन्द मिलता है ; और दोनों प्रकार के आनन्दों में भिन्नता है। मदिरा पीने में गाली बकने से लेकर नाली में गिरने तक का आनन्द लोगों को सुलभ होता है ; उमर खय्याम की रुबाइयाँ पढ़ने में लोग लोक-परलोक दोनों सुधार लेते हैं ; कम से कम सुधारने की चेष्टा करते ही हैं। परन्तु हैं दोनों आनन्द ही ; मदिरा पीने से तथा मदिरा-पान के वर्णन दोनों से ही आनन्द प्राप्त होता है। मदिरा-पान के वर्णन से जो आनन्द प्राप्त होता है, उसे हम लोकोत्तर आनन्द इसलिए कह सकते हैं कि लोक में इस प्रकार का आनन्द हमें मिलता नहीं है। नहीं तो एक प्रकार का आनन्द वह भी है, स्थूलता भी उसमें है ; यदि किसी ने मदिरा-पान किया है, तो उसे उसका स्मरण होता है, नहीं किया है तो सुनी बातों से उसकी कल्पना करता है ; इस प्रकार मदिरा-सम्बन्धी विचार जो अलौकिक नहीं है, उसके वर्णन से प्राप्त आनन्द के नीचे रहता है। इस मूल विचार की स्थूलता का प्रभाव उस सूक्ष्म आनन्द पर भी पड़ता है।

साहित्य और कला से हमें आनन्द प्राप्त होता है परन्तु सभी प्रकार के साहित्य या कला से हमें एक ही प्रकार का आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता है। मदिरा-पान के वर्णन से जो आनन्द आता है, क्या वह उसी श्रेणी का है, जिस श्रेणी का भगवद्भक्ति में गाये हुए एक गीत का आनन्द है ? सम्भवतः जो मदिरा-पान के वर्णन में रस लेता रहा है, उसे भक्ति का भजन बिल्कुल नीरस लगेगा। यह एक मोटा-सा उदाहरण है जिसकी सचाई को शायद ही कोई अस्वीकार करे। परन्तु साहित्य और कला सम्बन्धी वाद-विवाद में लोग इसी बात को भूल जाते हैं तब सैकड़ों झूठी धारणाएँ पैदा हो जाती हैं।

पहली बात तो यह मानना होगी कि एक व्यक्ति जो एक प्रकार की साहित्यिक रचना से आनन्द पाता है, एक अन्य प्रकार की रचना के प्रति नितांत उदासीन भी हो सकता है। यह हम समाज में और अपने जीवन में नित्यप्रति देख सकते हैं। कीट्स ने

अपने एक पत्र में लिखा था कि वह अपनी नव-युवावस्था में इङ्गलैंड के कुछ छोटे-मोटे कवियों को बहुत पसन्द करता था; आगे चलकर उसे शेक्सपियर बहुत पसन्द आने लगा; फिर वह पूछता है, क्या एक दिन ऐसा भी आ सकता है, जब उसे शेक्सपियर भी अच्छा न लगे? जिन लोगों को कालिदास के मेघदूत में लोकोत्तर आनन्द प्राप्त होता है, क्या उन्हें रामायण या महाभारत में भी वैसा ही आनन्द प्राप्त होता है? शास्त्रकारों ने 'आनन्द' की परख के लिए सहृदय काव्य-मर्मज्ञों को नियत किया है। जिसे सहृदय कहें, वही वास्तविक काव्य है; उसी से प्राप्त आनन्द वास्तविक आनन्द है। मैथ्यू आर्नल्ड ने भी कविता की परख के लिए सुझाया था कि लोगों को चाहिए कि कुछ कवियों की प्रसिद्ध पंक्तियाँ लेकर पढ़ें और देखें कि उन्हें उनमें आनन्द आता है या नहीं। न आनन्द आवे तो समझना चाहिये कि उनकी सहृदयता में अभी कमी है। इस सहृदयता और मर्मज्ञता की व्याख्या में शास्त्रकार मान लेते हैं कि वह अचल और सनातन है। काल-प्रवाह से वह मर्मज्ञता अस्थिर नहीं होती।

इतिहास की साखी इससे उल्टी है। या तो अभी वास्तविक काव्य-मर्मज्ञ पैदा ही नहीं हुआ और यदि हुआ है, तो उसकी मर्मज्ञता अवश्य युग-युग में बदलती रही है। चोटी के कवियों को छोड़ द्वितीय श्रेणी के कवियों के सम्बन्ध में यह मर्मज्ञता युग-युग में रूपरंग बदलती दिखाई देती है। जर्मन कवि गेटे ने लार्ड बायरन की जो प्रशंसा की थी, क्या बीसवीं सदी के आलोचकों को उसका एक शब्द भी मान्य है? टेनीसन के समय उसकी प्रतिभा किस कोटि की समझी गई थी, और बीसवीं सदी में उसका कौन-सा मूल्य निर्धारित किया गया है? शेली और कीट्स के जीवन-काल में हैज़लिट, डिक्विंसी आदि की ममज्ञता ने उन्हें कैसा परखा था; बीसवीं सदी में उनकी प्रतिभा किस कोटि की मानी गई? किसी कवि का मूल्य एक युग कुछ आँकता है, दूसरा युग कुछ, इसे और उदाहरण देकर समझाने की आवश्यकता नहीं। यह झमेला साधारण कवियों तक ही नहीं है; शेक्सपियर, तुलसीदास जैसे कवियों के सम्बन्ध में भी धारणाएँ बदला करती हैं। यही नहीं कि टाल्सटाय जैसे ममज्ञ शेक्सपियर को सच्चा कवि ही न मानें। जानसन और ब्रैडले दो आलोचक एक ही कवि के विभिन्न कारणों से प्रशंसक हो सकते हैं। दोनों मर्मज्ञ कविता के दो मर्मों तक पहुँच जाते हैं।

देश और काल के अनुसार सामाजिक संस्कृति का निर्माण होता है। एक भारतवर्ष जिसका दूर-दूर तक व्यापार फैला हुआ है, दूर-दूर तक जिसके उपनिवेश हैं, व्यापार से जिसका मध्यवर्ग सन्तुष्ट है, दान का जहाँ महात्म्य है, मन्दिरों में घण्टा-ध्वनि के साथ ईश्वर में आस्था घोषित की जाती है, उस भारतवर्ष की संस्कृति क्या उस दूसरे भारतवर्ष की-सी होगी जो स्वयं दूर के व्यापारियों का एक उपनिवेश है, जहाँ का मध्यवर्ग दफ्तरों में नौकरी खोजता है और जहाँ किसानों के रूप में एक विशाल जन-समुदाय क्षुब्ध और पीड़ित है? शास्त्राकारों ने जिस मर्मज्ञता का विवेचन किया है, वह उस समृद्ध युग की प्रतीक है; समृद्धि का क्षय होते-होते लोगों ने उसे और भी दृढ़ता से जकड़ लिया था जिससे मरते-मरते भी वह लोकोत्तर आनन्द हाथ से न जाने पाये। उस समृद्धि की पर-

छाई में पला हुआ जन-समाज का एक सैकड़ा भाग आज भी उसे अपनी प्रिय संस्कृति कहकर कंठहार बनाये हुये है। साहित्य-समालोचना में उसी मर्मज्ञता को हम अपना आदर्श मानते चले जाते हैं!

साहित्य के शास्त्रीय विवेचन पर से यदि हम ब्रह्मानन्द सहोदर का आवरण हटा दें, तो नीचे हमें बहुत कुछ सचाई मिल सकती है। साहित्य से हमें रस या आनन्द प्राप्त होता है, यह ठीक है; मनुष्य के हृदय में जो स्थायी भाव होता है वही रस नाम ग्रहण करता है, यह और भी ठीक है। सारी बात मनुष्य के भाव की है; 'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी'; एक ही मूर्ति विभिन्न प्रकार की भावनाओं के लोगों को विभिन्न प्रकार की दिखाई देती है। यदि भाव-ग्रहण और आनन्द अनेक प्रकार का है, तब उसमें अलौकिक सत्ता की एकता, अविच्छिन्नता नहीं है; लौकिक वस्तुओं की भाँति ही वह श्रेणी-विभाजन के परे नहीं है। इसलिए यह स्वीकार करना चाहिये कि सहृदय काव्य-मर्मज्ञ कहकर कोई ऐसा प्राणी हमें नहीं मिल सकता जो सभी युगों के लिए आदर्श हो; न इस मर्मज्ञ की परख में आनेवाला कोई ऐसा साहित्य है जिसका रस सभी युगों में समान हो, लोकोत्तर हो, अविच्छिन्न हो। विकास का नियम समाज पर ही लागू नहीं होता; उसका अधिकार साहित्य, साहित्य-मर्मज्ञता, लोकोत्तर आनन्द आदि सभी पर है।

यदि साहित्य और साहित्यिक रुचि में युग के साथ परिवर्तन हुआ करता है तो एक युग की कृति हमें दूसरे युग में क्यों अच्छी लगती है? किसी-किसी युग में जो साहित्यिक पुनरुत्थान (Literary Revivals) हुआ करते हैं, उनका क्या रहस्य है? कोलरिज के युग में शेक्सपियर का नवीन साहित्यक जन्म और टी० एस० इलियट के युग में मेटाफिजिकल कवियों की चर्चा का क्या कारण है? पहली बात तो यह कि इस प्रकार के पुनरुत्थानों में ऐतिहासिक सत्यता की रक्षा बहुत कम की जाती है; जब हम बीते युग को पुनर्जीवित करते हैं, तब हम बहुधा उसमें अपने युग का जीवन ही अधिक डालते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के दो अँग्रेज साहित्यिक मैथ्यू आर्नल्ड तथा स्विनबर्न ग्रीक सभ्यता और साहित्य के पक्षपाती थे परन्तु दोनों की ग्रीक सभ्यता अलग-अलग थी। तुलसीदास भारतवर्ष के सर्वमान्य कवि रहे हैं परन्तु रामचन्द्र शुक्ल के तुलसीदास पुरानी साहित्यिक परम्परा के तुलसीदास से भिन्न हैं। इसलिए प्रत्येक साहित्यिक रिवाइवल को ठीक-ठीक पहचानने के लिए उस युग की प्रवृत्तियों को जानना आवश्यक होता है जिनमें वह रिवाइवल घटित होती है।

दूसरी बात यह कि युग-युग में जो सामाजिक परिवर्तन होते हैं, उनके साथ एक सामाजिक विकास का क्रम भी चला करता है। एक बीता हुआ युग इस सामाजिक विकास-क्रम के कारण बीत जाने पर भी हम से जुड़ा हुआ हो सकता है; वर्तमान का सम्बन्ध भूत और भविष्यत् दोनों कालों से है, इसलिए हम उस विकास-शृंखला को भूल नहीं सकते। एक सजग और सचेत वर्तमान के लिए आवश्यक है कि वह भविष्य की ओर सन्मुख होते हुए भी अपनी पिछली ऐतिहासिकता से अनभिज्ञ न हो। ऐतिहासिकता के ज्ञान

बिना कोल्हू का बैल एक ही दर पर चक्कर लगाकर अपने को अत्यंत प्रगतिशील समझ सकता है। एक साहित्यिक रिवाइवल के रूप में नहीं, ऐतिहासिक विवेचन के आधार पर हमें अपनी साहित्यिक एवं सामाजिक परम्परा का ज्ञान होना आवश्यक है। सामाजिक विकास का मार्ग ऐसा सीधा मार्ग नहीं है कि समाज की लड़ी उस पर ढलकती चली जाय और जो बात एक बार हो चुकी है, उसे फिर दोहराया न जाय। विकास-क्रम टेढ़ा-मेढ़ा पहाड़ी रास्ते जैसा ऊँचा-नीचा है। जिन दृश्यों को हम पहले छोड़ आते हैं, घूम-घामकर कभी उन्हीं तक, कभी उन्हीं जैसे दूसरे दृश्यों तक फिर पहुँच जाते हैं। इस प्रकार सामाजिक विकास में अगड़-पिछड़ लगी रहती है; क्रिया के साथ प्रति-क्रिया है, आक्रमण के साथ रिट्रीट ॲकौर्डिङ्ग टु प्लैन भी है। इसलिए बीसवीं सदी के विकास-क्रम में ढलता हुआ युग सत्रहवीं सदी के विकास-क्रम में उन तत्वों को खोजता है जो दोनों में मिलते जुलते हों। हमें बीते युग की एक रचना इसलिए अच्छी लगती है कि उसके निर्माण में उन्हीं तत्वों का संयोग है जो हमारे युग के अत्यधिक निकट हैं। रामचन्द्र शुक्ल को तुलसीदास में लोक-हित की भावना पिछले युगों से अधिक इसलिए दिखाई दी कि वह हमारे युग की एक चेष्टा है; सम्भवतः वह तुलसीदास के युग की भी चेष्टा थी जिसमें 'स्वांतःसुखाय' और 'लोक-हिताय' में कोई विशेष अन्तर नहीं रह गया था। इसलिए बीते युग की रचना के अच्छे लगने के दो कारण हो सकते हैं; एक तो उसमें हम वह अर्थ ढूँढ़ लेते हैं जो हम ढूँढ़ना चाहते हैं परन्तु जो उसमें है नहीं; दूसरे हम उसमें वही अर्थ पाते हैं जो उस युग को भी अभीष्ट था। ऐतिहासिक परम्परा में बँधे होने के कारण हमें पुरानी रचनाएँ तभी अच्छी लगती हैं जब वे हमारे युग के अनुकूल होती हैं।

कुछ रचनाएँ ऐसी होती हैं जो थोड़े ही युगों की अनुकूलता पाती हैं; कुछ ऐसी होती हैं जो अनेक युगों में लोक-प्रिय होती हैं। जिन रचनाओं की लोक-प्रियता अधिक व्यापक होती है, उनमें हम अनन्त सौंदर्य, जीवन का अमर सत्य आदि खोज निकालना चाहते हैं। उनकी व्यापक युगानुकूलता को बढ़ाकर हम उसे एक चिरन्तन सत्य का रूप दे देते हैं अर्थात् यह मान लेते हैं कि सदा के लिए विकास-क्रम में यही तत्व लौट-पौटकर आया करेंगे। हमारा इतिहास अभी निर्मित हो रहा है, विकास का अन्त नहीं हो गया, इसलिए एक ऐसी संस्कृति की कल्पना करना जो चिरन्तन हो, भ्रम है। जब अभी तक एक स्थिर, अपरिवर्तनशील, और सदा के लिए सुन्दर सामाजिक व्यवस्था किसी भी युग में स्थापित नहीं हुई, तब साहित्य जो सामाजिक परिस्थितियों का परिणाम है, कैसे चिरन्तन सत्य और अमर सौंदर्य हमें दे सकता है? वास्तव में सामाजिक विकास-क्रम में जैसे ही गति का अभाव होता है, वैसे ही एक जगह चक्कर लगाकर हमें रूढ़ियों में चिरन्तन सत्य और अमर सत्य के रह-रहकर दर्शन होने लगते हैं।

विकास-दर्शन की विरोधी कुछ विचार-धाराएँ इन अमर सौंदर्य और चिरंतन सत्य की कल्पनाओं का पोषण करती हैं। ये संस्कार बहुतों के चित्त पर जमे हुए हैं कि मानव जाति का इतिहास प्रगति नहीं दुर्गति का इतिहास है। जो कुछ सत्यं शिवं सुन्दरं था, वह तो सतयुग में हो गया; अब तो घोर-घोर कलिकाल में जो कुछ है, वह पतन ही पतन है।

कल्कि अवतार हो तो भले निस्तार हो सके। ग्रीक लोगों में भी सुवर्णयुग और अन्त में लौहयुग आदि की कल्पनाएँ प्रचलित थीं। आदम और हव्वा पैरैडाइज़ में कितने सुख से रहते थे, सभी जानते हैं; हज़रत ईसा मसीह फिर दया करें तभी वह पैराडाइज़ लास्ट पैराडाइज़ रिगेंड हो सकता है। इन संस्कारों के कारण साहित्य में भी हम अमर सौन्दर्य आदि को पिछले युगों में ही देखना अधिक पसन्द करते हैं; कोई साहित्यिक या कलाकार तब तक पूर्णरूप से महान नहीं हो पाता जब तक वह एक बीते युग की कहानी नहीं हो जाता। इसीलिए विकास-सिद्धान्त को मानते हुए भी, साहित्य और समाज में इस विकास के नियम को लागू करते हुए भी, हम ऐसे मापदंड खोज निकालते हैं जो अमर हों; उन मापदंडों से हम वह साहित्य भी नाप-जोख लेते हैं जिसे हम सदा के लिए सत्य शिव और सुन्दर मान लेते हैं। यह सारी नाप-जोख उस विकास-सिद्धान्त की ऐतिहासिकता के कितना प्रतिकूल, असत्य और अवैज्ञानिक है, इस पर हम कभी ध्यान नहीं देते।

यदि हम विकास-सिद्धान्त को मानते हैं तो यह मानना होगा कि मनुष्य के संस्कार अमर नहीं होते वरन् वे बना-बिगड़ा करते हैं। विकास-क्रम में परिस्थितियाँ जैसे-जैसे बदलती हैं, वैसे ही मनुष्य की इच्छाएँ, भावनाएँ संस्कार आदि भी बदलते हैं। साहित्य-शास्त्र की सबसे बड़ी भ्रान्ति यह है कि मनुष्य कुछ भावनाएँ अमर तथा उसके कुछ संस्कार चिरन्तन होते हैं; जैसे पिता-पुत्र का प्रेम, या पुरुष का स्त्री के प्रति आकर्षण। इस प्रकार के संस्कार चिरन्तन मानकर साहित्य-शास्त्री कहते हैं कि जो इन संस्कारों के अनुकूल साहित्य रचता है, उसी का साहित्य अमर हो सकता है। सामाजिक विकास की एक श्रृंखला वह भी रही थी जब पिता-पुत्र के सम्बन्ध की कल्पना भी नहीं हुई थी। जिस प्रकार समाज का ढाँचा सदा एक नहीं है और उसमें विकास की सम्भावना है वैसे ही मनुष्य के (समाज से प्राप्त) संस्कार भी अमर नहीं हैं और उनमें परिवर्तन की सम्भावना है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में भी इतने परिवर्तन हुए हैं कि उन सबको एक 'प्रेम' का नाम दे देना भूल है। परन्तु ऐसा कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि कुछ संस्कार औरों से अधिक स्थायी नहीं होते अथवा उनका स्थायित्व कभी-कभी अमरत्व जैसा नहीं लगने लगता। साहित्यिक के लिए यह स्वाभाविक है कि वह उन संस्कारों तथा इच्छाओं को अपनाये जो अधिक स्थायी तथा लोकप्रिय हैं। परन्तु ऐसा भी हो सकता है कि समाज में वे संस्कार लोकप्रिय हो गये हों जो उसके विकास में बाधक हैं। उदाहरण के लिए हिन्दी साहित्य के एक अंग में उन संस्कारों का प्राधान्य है जिनका आधार परिवार है। भाई का भाई से प्रेम, पति का पत्नी से, पुत्र का पिता से प्रेम आदि सराहनीय हैं। परन्तु यदि हम अपनी गति अवरुद्ध नहीं करना चाहते तो कभी यह आवश्यक हो सकता है कि हम अपने संस्कारों को परिवार की भूमि से उठाकर समाज की भूमि पर स्थिर करें। ऐसे संस्कारों की आवश्यकता है जो हमें समाज-हित को परिवार-हित से बढ़कर समझने को प्रेरित करें। जैसे भक्ति-काव्य में इष्ट देवता समाज और परिवार से ऊपर होता है, वैसे ही साहित्यिक के लिए ऐसे संस्कारों के निर्माण में सहायक होना, जो स्थायी दिखनेवाले पारिवारिक संस्कारों के ऊपर या उनके विरोधी हैं, नितान्त अस्वाभाविक नहीं है। इसलिए

साहित्यिक का कर्तव्य है कि कुछ विशेष संस्कारों का पोषण अथवा निर्माण करे जो सामाजिक दृष्टि से उपयोगी हैं।

कुछ लोगों का मत है कि साहित्य का अमर सौंदर्य विषय, भाव-विचार आदि पर निर्भर नहीं है वरन उसका आधार व्यंजना अथवा कला है। भक्त न होते हुए भी भक्ति-रस की एक रचना पर हम मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकते, क्योंकि शब्दचयन इतना सुन्दर है, कहने का ढंग ऐसा प्रभावपूर्ण है। ईसा मसीह पर जो कविता लिखी गई है, उसका आनंद लेने के लिए ईसाई होने की आवश्यकता नहीं है। साहित्य में व्यंजना एक ऐसी वस्तु है जो विषय की पार्थिवता से ऊपर उठ जाती है। किसी लेखक की रचना विचारों में प्रगतिशील चाहे नहीं हो, हम उसकी कला, व्यंजना आदि का आनंद ले सकते हैं। और इस प्रकार उसकी पतित मनोवृत्ति का, प्रभाव हम पर नहीं पड़ेगा। डी० एच० लारेंस, जेम्स ज्वॉयस आदि प्रतिक्रियावादी लेखक हो सकते हैं परंतु उनकी कला अनूठी है ; उसका रस लेना ही चाहिये। इस प्रकार के मत का उत्तर यह है कि साहित्य में विषय और व्यंजना दोनों एक दूसरे के आसरे हैं ; एक सफल साहित्यिक रचना में विषय और व्यंजना का सामंजस्य होता है, एक प्रतिक्रियात्मक और दूसरी प्रगतिशील नहीं हो सकती। व्यंजना साहित्य की श्रेणियों के अनुसार अनेक प्रकार की होती है ; जैसे विषय-वस्तु प्रतिक्रियावादी या प्रगतिशील हो सकती है, वैसे ही व्यंजना और दरबारी कवियों की उक्ति-चातुरी, संत कवियों की सरलवाणी, रोमांटिक कवियों का दूरूह शब्द-विन्यास आदि कुछ मोटे उदाहरण यह सिद्ध करते हैं कि भाव के साथ शैली में भी परिवर्तन होता है। इसलिए विषय-वस्तु के निरूपण के साथ व्यजना और कला के सम्बन्ध में भी यह याद रखना चाहिये कि वह चिरंतन नहीं है वरन लेखक की प्रतिभा अथवा युग की प्रवृत्ति के अनुसार प्रतिक्रियावादी अथवा प्रगतिशील हो सकती है। परंतु सर्वत्र ही विषय-वस्तु तथा कला में सामंजस्य नहीं स्थापित हो पाता। मिल्टन के 'पैरैडाइज़ लॉस्ट' में जो ओज और प्रवाह है, वही ओज स्पष्टतः उसके विचारों में नहीं है। आजकल के अनेक प्रगतिशील कवि अपने विचारों में स्पष्ट होते हुए भी निर्बल व्यंजना के कारण उन्हें प्रभावपूर्ण नहीं बना पाते। इसलिए चेष्टा सामंजस्य की ओर होनी चाहिये और यह तभी संभव है जब हम व्यंजना की शक्ति को भी समझें और उसकी साधना करें। सामाजिक विकास-क्रम में संभवतः कोई भी पूर्णरूप से प्रतिक्रियावादी अथवा प्रगतिशील नहीं हो सकता। पूर्ण प्रतिक्रिया का अन्त सामाजिक ध्वंस तथा आत्मघात है। पूर्ण प्रगतिशीलता का अर्थ सामाजिक विकास की इति, एक स्वर्गीय कल्पना है। इसलिए ऐतिहासिक दृष्टि से प्रत्येक साहित्यिक तथा साहित्य में प्रतिक्रिया और प्रगति का विवेचन होना चाहिये।

प्रगति और प्रतिक्रिया के दो घरों में हम साहित्यिकों को चुन-चुन कर बंद नहीं कर सकते ; अधिक स्वाभाविक यह है कि एक ही साहित्यिक में दोनों तत्व हमें मिलें। यह अवश्य है कि साहित्यिक विवेचन में हम उन्हीं बातों की ओर अधिक ध्यान देते हैं जो सामाजिक दृष्टि से अपना विशेष औचित्य या अनौचित्य रखती हैं।

विषय-वस्तु से अलग यदि कोई व्यंजना का ही आनन्द ले तो इसमें आश्चर्य की

कोई बात नहीं। इससे कला का अमरत्व सिद्ध नहीं होता है। हम अपनी रुचि के अनुसार व्यंजना के प्रगतिशील अथवा प्रतिक्रियावादी तत्वों की प्रशंसा कर सकते हैं। यदि किसी प्रतिक्रियावादी रचना के भाव-विचारों तथा व्यंजना में सामंजस्य है तो उसकी कला मात्र की प्रशंसा करनेवाला प्रतिक्रियावाद के प्रभाव से नहीं बच सकता। तब वह विचारों के प्रतिक्रियावाद को स्वीकार करता हुआ केवल अपनी अथवा दूसरे का मन फुसलाने के लिए व्यंजना का अमरत्व घोषित कर उसकी प्रशंसा करता है। महान् लेखकों में विषय तथा व्यंजना का असामंजस्य बहुत कम होता है; इसलिए ऐसे किसी 'महान' लेखक के विचार यदि प्रतिक्रियावादी हों, तो उसकी कला का रस लेने के पहले पाठक को अपने हृदय की एक बार फिर जाँच कर लेनी चाहिये।

अस्तु; न कला चिरन्तन है, न साहित्य में प्रकट किये गये भाव या संस्कार। इसलिए भाव-चयन तथा उनकी व्यंजना पर समाज-हित का प्रतिबन्ध होना ही चाहिये। साहित्य में रस और रस में ब्रह्मानन्द सहोदर की कल्पना न कर यह समझना चाहिये कि जिस विषय का हम चिन्तन करेंगे, उसी में हमारी आसक्ति होगी। साहित्य धर्म और काम, दोनों में सहायक है; भरतमुनि के अनुसार—धर्मो धर्म प्रवृत्तानां, कामः कामोपसेविनाम्। इसलिए धर्म, काम, अथवा जिन संस्कारों से भी समाज-हित हो, उन्हीं का साहित्य में चिन्तन होना चाहिये। जो इस सत्य को अस्वीकार कर समाज का अहित करनेवाले विचारों को अपने साहित्य में स्थान देता है, और कहता है कि इनमें अमर सौन्दर्य है, वह एक प्रवंचना को जन्म देता है और जाने या बिना जाने समाज का अहित करता है। आलोचक का कर्तव्य है कि वह ऐसे साहित्य और साहित्यिकों से समाजहित की चौकसी करता रहे।

*

ये आदमी : ये बैल

●

[देवेन्द्र सत्यार्थी]

...और यह पुरानी टूटी-फूटी सड़क बराबर चलती रहती है। बरसों से इसने इस शहर को अपने आँचल में ले रखा है। कई खोंचेवाले, ठेलेवाले, इंजनों की तरह शन्ट करते रहते हैं। यह थकी हारी जनता, गाड़ीवान, मजदूर, सब सड़क ही तरह टूटे-फूटे, भूखे-नंगे, गुजर रहे हैं, गुजरे जाते हैं, इधर से उधर, उधर से इधर। इन सबके दिल और दिमाग़ में भी शायद चिउँटियाँ रेंग रही हैं, हँसते भी हैं तो एक मरियल-सी हँसी, खोखली-सी। एक बेक़ाबू मशीन की तरह मेरा दिल धक-धक करने लगता है। मुझ पर एक यरक़ानी सी अवस्था छा जाती है। अपना दुःख मुझे सभी का दुःख महसूस होता है।

ये बेइनसाफ़ियाँ, दिन रात की बेइनसाफ़ियाँ! बाज़ आया साहित्य से, साहित्यिक सेवा से। पारिश्रमिक के लिए सौ-सौ बहाने ढूँढ़े जाते हैं। कोई भी तो पूरी मजदूरी नहीं देता, और फिर समय पर नहीं देता। जाने कब तक ज़लील होना होगा। घर में पत्नी से उलझने लगता हूँ। और वह आगे बछिया-सी छोकरी को डाँटना शुरू कर देती है।

आज यह सड़क बहुत उदास है। किसी के भी पैर आराम से उठते दिखाई नहीं देते। बोलना चाहें भी तो ये लोग क्या बोल सकते हैं? धिक्कार है यों हार स्वीकार कर लेने पर, जिसके प्रभाव से ये लोग चुपचाप चले जाते हैं। ये धुँधली-धुँधली-सी आँखें, ये थके-थके-से पैर, अजब उलझनों में गिरफ़्तार हैं ये लोग। बार-बार वे झिझकते हैं, काँपते हैं, लड़खड़ाते हैं। संसार भर का बोझ बस इन्हीं के कमज़ोर कन्धों पर आन पड़ा है। कोई इनकी चीथड़ा-चीथड़ा क़िस्मत में कुछ पैवन्द लगा भी दे तो आख़िर कितना फ़र्क पड़ सकता है?

अरे तोहे डस जाय काला...चीं-चीं, रीं-रीं, क़तार की क़तार छकड़े चले जाते हैं। गाड़ीवानों के मुँह में तो जहर भरा है। एक सुन्दर नागौरी यों दिखाई देता है जैसे कोई स्त्री रिक्शा खींच रही हो। मैं इस गाड़ीवान से कहना चाहता हूँ 'बेटा, फिर गाली दी तो ज़बान गुद्दी से खींच लूँगा।' पर मेरा कुछ बस नहीं चलता। कोड़ा ऊपर उठता है, हवा में लहराता है और नागौरी पर बरस पड़ता है। दिल पर एक चोट-सी लगती है। गाड़ीवान अपना बेहूदा बेतुका गीत शुरू कर देता है। धुरी चीख़ती है। यह 'चर-चर' किधर का उचित ताल है? गीत में भी तो गाड़ीवान का जी पूरी तरह नहीं लगता। अहमक—और नहीं तो। वहशी के होंठों पर एक मुसकराहट-सी दौड़ जाती है। अपवित्र आदमी की मुसकराहट भला निर्मल कैसे हो सकती है?

बैल अब भी बैल हैं। अनगिनत सदियों का लम्बा सफ़र तै करने के बाद भी बैलों की हालत में कोई फ़र्क नहीं पड़ा। हल के बैल, रहट के बैल, ख़रास और कोल्हू के बैल, छकड़े के बैल—क्या कभी बैल की गरदन से जुआ उतर भी सकता है ? मैं आग-बगूला हो जाता हूँ। अपने होंठ काटने लगता हूँ। बैलों के चेहरों पर वही पुरानी धीरता और बेचारगी देखकर मेरे जिस्म का सारा लहू सिर की तरफ़ दौड़ने लगता है। शायद मैं पागल हो जाऊँगा। सोचता हूँ कि बेचारे बैलों के लिए कोई शराबख़ाना भी नहीं है, जहाँ वे थोड़ी-सी पी सकें, अपने ग़म भूल सकें।

छकड़े दूर निकल गये। कोई यहाँ खड़ा नहीं होना चाहता। मैं तोल-तोलकर क़दम उठाता हूँ, जैसे पलकें आँखों से छू रही हों। ऊपर से मैं शान्त हूँ पर यह केवल मैं स्वयं ही जानता हूँ कि एक ज्वालामुखी पर्वत हूँ। जाने कब फट पड़ूँ।

हाँफते हुए बैल कुछ बोल नहीं सकते। आदमी की गालियाँ वे समझते नहीं। थके-माँदे, रोज़गार के हाथों सताये हुए बैलों को भी शायद अपना दुःख सभी का दुःख दिखाई देता होगा।

× × ×

जब सूर्य निकलता है इस अर्द्ध-नग्न सड़क के मैले-कुचैले जिस्म पर सोने का पानी फिर जाता है। इसके पैबन्द आतशकी दाग़ मालूम होते हैं। पर पास से देखने से इसकी रगों में नया ख़ून दौड़ता नज़र आता है, जैसे इसकी घनी ढेर सदियों की तकलीफ़ें ख़तम हुआ चाहती हों।

नीले अँग्रेज़ी सूट पर नामधारियों की-सी पगड़ी बाँधे एक सरदार साहब आ रहे हैं। पीछे-पीछे एक कुली चला आता है। जाने क्या लोहा भरा है बिस्तर में। बेचारा दोहरा हुआ जाता है। यह खिड़की न हो तो सड़क का यह दृश्य यहाँ बैठे-बिठाये कैसे देख सकता हूँ ?

'हैलो, काला पानी ?'

'हैलो हैलो !'

'कब चले थे काले पानी से ?'

'पिछले महीने की पन्दरहवीं को ? कलकत्ते में बहुत दिन लग गये।'

मेरे रोकते-रोकते इक़बालसिंह जेब से चवन्नी निकालकर कुली की खुरदरी हथेली पर रख देता है। अण्डमन द्वीप में इक़बालसिंह सरकारी क्लर्क है। स्कूल में तो वह निरा मरियल-सा बछड़ा मालूम होता था। पर अब उसका जिस्म भर गया।

कुली कहता है—ई तो खोटी चवन्नी भई।

'खोटी ? बको मत।'

'ई मोर किछु काम की नाहीं, सरदारजी।'

'चवन्नी है चवन्नी। जाने किधर मर गये थे तांगेवाले ? क्या नाम है तेरा ?'

'तरसू है मोर नाम। पर इ तो साफ खोटी दीखे है, सरदार।'

'तेरे बाप का नाम ? क़ौम...साकिन...थाना ? सच-सच बताना।'

तरसू अब इन सवालों का क्या जवाब दे ? इक़बालसिंह चिल्लाकर कहता है, 'गो अवे यू डैम।'

'आदमी नहीं, हैवान है सिरे से,' यह कहते हुए इक़बालसिंह मेरी तरफ़ देखकर मुसकराता है और गुस्लख़ाने को चल देता है। शायद खोटी चवन्नी को चलाने की तरकीबें सोचता हुआ तरसू बाहर निकल जाता है। मेरा मन उसके साथ-साथ क़दम उठाता है... भगवान जाने कौन मतलब भयो ई अँग्रेजी का ? ई जिन्दगी मा कौन मजा आवे है ?... तरसू की ज़बान सूख जाती है। चेहरे का भय ख़तम हो जाता है। बिना विचारे ही अब यह गाली उसकी ज़बान पर आ जाया करेगी।

'चने चटपटे,' दो क़दम पर एक खोंचेवाला आवाज़ देता है।

तरसू कहता है, 'इधरयो दियो।'

'कित्ते के ?'

'पैसे के। सुबह से घूमत हूँ जलपान किये बिना।'

खोंचेवाला पत्ते पर चने डालकर तरसू के हाथ पर रख देता है और बड़े फ़खर से थाल में चमचा फेरता है। जैसे कहता हो कि अच्छी बिकरी हो रही है और अभी बहुत देर भी तो नहीं हुई घर से निकले।

'चटनी नाहीं ?'

'काये नाहीं ?'

तरसू को चटनी भी मिल जाती है। बुसी हुई चीज़ होगी। खोंचेवाला तरसू की आँखों में झाँकता है, जैसे कह रहा हो—ख़ूब माई के लाल हो, बेटा। पैसे का पूरा-पूरा हक़ लेना आता है तुम्हें।

फटे-पुराने थैलों जैसे बादलों की तरफ़ देखता हुआ तरसू सोचता है सैकड़ों सिक्के रोज़ जेबें बदला करते हैं। वह खोंचेवाले को चवन्नी देकर खड़ा हो जाता है।

'ई तो खोटी भई।'

'खोटी ?'

'दीखे नाहीं ?'

'गो डैम...इत्ता अन्याय !'

चवन्नी वापस लेकर तरसू अधेला देता है।

'इत्ता अब। बाकी दूसरे समय। भगवान की कसम।'

खाँचेवाला अधेला लेकर सोचता है कि बच्चू ने भगवान का आसरा न लिया होता तो पूरा पैसा लेकर छोड़ता।

× × ×

सड़क पर दूर से एक कुत्ता दौड़ा आता है। पास आकर वह किसी का जूठा पत्ता चाटने लगा है। यह कैसा जलपान है? जाने किस फूहड़ कुतिया ने जना होगा इस दुमकटे कुत्ते को? एक कुतिया तो पाँच-पाँच सात-सात पिल्लों को, बल्कि दस बारह तक को भी, एक साथ जन्म दे बैठती है और ,वह भी पाँच-छै महीनों के अरसे के बाद ही—एक स्त्री की तरह नहीं कि एक ही बच्चे की माँ बनने के लिए नौ मास दरकार हैं। आगे पीछे, किसी न किसी तरह इस कुत्ते का जीवन सरकता रहता है। इसे अपनी माँ की फटी-फटी बेसुरी भौं-भौं की याद कभी न आती होगी। इसे तो सदा भूख सताया करती है।

मैं इक़बालसिंह को बताता हूँ कि मालिक मकान की पत्नी सदा किरायेदारों से झगड़ती रहती है; तीन किरायेदार। बसा रखे हैं अच्छे-अच्छे कमरों में और ख़ुद मियाँ-बीवी एक तंग से हिस्से में गुज़र किये जाते हैं।

'तंग कमरों में रहनेवालों का तंगदिल होना तो कुछ अजीब नहीं। भई वहाँ अण्डमन में तो ज़िन्दगी बहुत मज़े से गुज़रती है। बल्कि वहाँ तो क़ैदी तक आज़ाद हैं, ख़ूब कमाते हैं, ख़ूब खाते हैं और खुले मकानों में रहते हैं। पर तुम्हारे मालिक मकान की बीवी किस बात पर झगड़ती है?'

'कहती है पम्प का हैंडल धीरे घुमायो, बाबू, ढिबरियाँ घिसा दोगे, नष्ट कर दोगे इस तरह तो ..फूहड़ स्त्री है। पति की गलियों से अपने दिमाग़ की ढिबरियों ही को बचाकर रखा करे ज़रा।'

'भई इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि आदमी अपना मकान बनवा ले और अगर किराये के मकान में रहने पर मजबूर हो तो किसी पैरों में चप्पल चुटिया-सी नङ्गी औरत के मकान में कभी न रहे।'

'कालेपानी में तो ऐसी औरतें न होती होंगी।'

'हाँ हाँ हाँ, कालेपानी में ऐसी औरतें नहीं होतीं।'

सड़क पर रामू धोबी का छोकरा रोये जाता है। माँ दो तमाचे जड़ देती है, 'दूध दूध, सारा दिन एक ही रट लगाये जात है। बापू तो मर गये। अब माँ कब तलक बनी रह सकत है दुधैल गाय?...'

'सावनी ने चेतू को जन्म दिया था, इक़बाल, कि रामू मर गया। अब वह विधवा है।'

'ज़िन्दगी की दुःखमय सड़क पर वह कब तक अकेली चल सकेगी?'

'बहुत दिन तो नहीं चल सकती।'

'किसी अमीर दुलहिन के कपड़े धोते हुए एक दिन हाथ बढ़ाकर वह रामू की याद का पाकीज़ा चेहरा नोच डालेगी! कोई छैलछबीला धोबी उसकी आँखों में खुभ जायगा।'

'कल का खुभा आज खुभ जाय। रामू कौन-सा शरीफ़ था?'

'सच? बहुत बदमाश था रामू?'

'और नहीं तो? और इस पर भी सावनी को हमेशा अपनी दबैल समझता रहा। अब मौत के बाद भी वह उसकी धौंस सहती रहे? यह जिन्दगी तो सदा नहीं मिलती—यह जवानी।'

'प्रसव-पीड़ा का ख्याल शायद उसे नफ़सकशी पर आमादा कर दे।'

'पर नशे में सब डर काफ़ूर हो जाते हैं। पहली बार रजोधर्म रुकने पर ही उसे अपने जिस्म के अन्दर किसी नये चेतू का अनुभव होने लगेगा...'

चेतू बराबर रोये जाता है। मैं पुकार कर कहता हूँ, 'अरी ले दे, सावनी, चेतू को दो घूँट दूध।'

सावनी क़रीब आकर कहती है, 'बापू कौन कमाई छोड़ गयो। जीवत में मोर लहू पीवत रहे। अब उसका लल्लू मोर प्रान खाये जात है।'

'अरी दो कपड़े और धो लीजियो, सावनी, चेतू तो बच्चा है।'

सावनी के दुःख-दर्द उसकी इस्तिरी के कोयलों की तरह हैं, नज़र से ओझल रहने पर भी सुलगते रहते हैं। जेब से एक मसला हुआ पैसा निकाल कर मैं चेतू के हाथ पर रख देता हूँ। वह खुश होकर भाग जाता है; सावनी घबराती है, चुपचाप परे को घूम जाती है। मैं उसकी आँखों में एक चमक-सी देख लेता हूँ, जैसे किसी ने टूटी-फूटी सड़क में कहीं एक पैवन्द लगा दिया हो।

'बड़ो होकर चेतू एक बैल ही तो निकलेगा, इक़बाल!'

'बैल या एक दुमकटा, आवारा कुत्ता?'

'कितनी बड़ी व्यंग्योक्ति है!'

'हाँ, व्यंग्योक्ति।'

'वह दिन दूर है, इक़बाल, जब हमारी माताएँ अपनी कोख में नये इनसान की सुखी सब बराबर नसल की दाग़बेल डालेंगी।'

'मेरी समझ से तो बाहर है तुम्हारी यह फिलास्फी।'

कचौरी का आख़री टुकड़ा मैं कुत्ते की तरफ़ फेंक देता हूँ, 'बस, बेटा, अब कुछ नहीं मिलेगा।'

कुत्ता चला जाता है। इक़बालसिंह कहता है, 'खैर अच्छा है, समझदार है। इसने तो मुझे कालेपानी के कुत्तों की याद दिला दी।'

'बहुत अच्छे होते हैं कालेपानी के कुत्ते ?'

'बहुत अच्छे होते हैं, आँख का इशारा तक समझ लेते हैं।'

परे सावनी की खिड़की से उसकी आँखें नजर आ जाती हैं—सुपने देखती दो दीपशिखाएँ, जिन्हें उकसाते हुए इक़बालसिंह इस दरीचे से उठने का नाम नहीं लेता... और यह डरी-डरी-सी सड़क, सहमी-सहमी-सी, ऊबी-ऊबी-सी, अपनी आत्मा में झाँकने लगती है ; घनी ढेर सदियों की गर्द झाड़कर, अनगिनत बन्धन झटक कर सुख की साँस लेना चाहती है।

× × ×

परसों शाम ही को इक़बालसिंह आगरे को चल दिया था। ताजमहल देखकर आज उसको लौट आना है। जितना रुपया वह जाने-आने पर खर्च कर आयेगा उतना सावनी पूरे महीने की धुलाई से भी नहीं कमा सकती।

...दूर क्षितिज पर एक लाल पगड़ीवाला ज़ाहिर होता है। फिर वह क़रीब आ जाता है। ट्विल की खाकी कमीज़। पगड़ी तह पर तह, कपड़े की नहीं, सिमिन्ट की बनी हुई, या किसी संगतराश की बढ़िया रचना। ट्विल की खाकी कमीज़ की जेबें ताश के बादशाह की मूछों की तरह तराशी हुई हैं ; हाथ गरम करने के लिए निकर की जेब में डालता है और जिस्म के साथ भींच-भींचकर उनकी ठंड दूर करता है। एक हाथ में डण्डा है। खफ़ा होकर कहता है :

'अरे गोकुल, आज तू फिर खड़ा है सड़क के दाईं तरफ़।'

इतना भी गया-गुज़रा क्या होगा गोकुल। एक चवन्नी तो दे ही मरेगा। पिछले रोज़ उसे यों ही छोड़ दिया था। रोज़ तो नरमी नहीं बरती जा सकती। माँ के खसम ने नई कमीज़ पहन रखी है और चौधरी बना बैठा है।

'जी सरकार !' गोकुल जवाब देता है।

'सरकार का साला ! क्या नाम है तेरे बाप का ?'

'मोर बाप का नाम...सन्तरीजी, आप मोर माई बाप—'

और गोकुल कहाँ से दे चवन्नी ? चवन्नी हो भी उसके पास। मुश्किल से कमीज़ के दाम चुका पाया। घरवाली के लिए सुर्ख कपड़ा खरीदा। नया लँहगा डालेगी रुकमन की तरह। रुकमन की रीस करे है। रुकमन तो दुलहिन है...अपनी खुरदरी गरदन पर गोकुल नाखून फेरता है, सोच में डूब जाता है।

सिपाही का एक हाथ लम्बा डण्डा गोगुल की कमीज़ पर पड़ता है :

'हट यहाँ से, हरामी।'

गोकुल कितना गया गुज़रा हो, पर बेइज़्ज़ती नहीं सह सकता। वह बिफरता है और सिपाही को अपनी चवन्नी भूल जाती है। सिपाही के डण्डे की सारी विद्युत-शक्ति

देखते ही देखते गोकुल के कोड़े में चली जाती है और वह उसे अपने बैलों पर बरसाता है। बैलों का चालान असम्भव है, नहीं तो शायद गोकुल इनका चालान कर देता। कैसे ऐंठे जाते हैं जम के मामू, जैसे सत्तू खाकर भट से पानी पी लिया हो...

'...धत् तोरी, मरें तोरे रखवारे।'

'सुना भई गाड़ीवान अपना सुख दुःख।'

'हमार सुख दुःख का पूछत हो, बाबूजी! रोज़ कुँआ खोदत हैं, रोज़ पानी पीयत हैं।'

'सच है। ग़रीबी बड़ी लानत है। और इन बैलों के पैर तो मन-मन भर के हो रहे हैं।'

'इनका भगवान ही सुख दीहे, हम का देबे?'

'कौन भगवान?'

'सब का भगवान उहै बैलन का भगवान।'

'यह तुम्हारा भगवान भी कोई गाड़ीवान होगा।'

...धत तोरी महतारी मर जाय...अँधियारे माँ! बूड़ जाय तोर आतमा बीच मँझधार मा...कोऊ न होए सहाई तोर बिपत माँ...गाली पर गाली, नित-नित की धतकार। ऊपर से कोड़े पर कोड़ा। ये सदा के बेगारी। कोई इनकी विचार-शक्ति जगा दे, कल्पना उकसा दे।

× × ×

बहुत दूर से यह सड़क बल खाती आती है, दूर देहात से। चौकड़ी भूले हुए बूढ़े हिरनों की तरह कुछ किसान आ रहे हैं। किधर को जा रहे हैं ये लोग? शायद कचहरी को। मेरी आँखों में गाँव का एक भयानक दृश्य फिर जाता है। एक ज़मींदार के लठबाज़ पयादे एक ग़रीब किसान को घसीटते हुए लिये जाते हैं। पीछे-पीछे महरिया चली आती है—एक भूखी, मरियल, विपत्ति-ग्रस्त गाय! बक़ाया लगान, बेदख़ली—ये दो तीर हैं जो ज़मींदार चलायेगा, चलाकर रहेगा...कहानियोंवाले किसी ख़ूँख़ार दैत्य की तरह ज़मींदार की आँखें लाल हो गई हैं। किसान काँपता है, रोता है और उसकी महरिया अपने पति का अपमान नहीं सह सकती...

'दुःख ही दुःख देखा जिन्दगी माँ। सुख कबहूँ नाहीं देखा।'

सचमुच दुःख ही देखा होगा—किसानों की बातें तो भूखी, विपत्ति-ग्रस्त धरती की बातें हैं।

'ज़मींदार चाहें तो ठाढ़ी फसल कटवाय लें—'

'चाहें तो अपन लठैत भेज कै खलियान उठाय लें—'

'पर ज़मींदार का किछू दोस नाहीं, हमार भाग ही नीके नाहीं हैं।'

अपने ऊपर चलनेवालों ही की तरह यह सड़क प्रतिवाद की भाषा खो बैठी है। इस दबी हुई, पिसी हुई, अर्द्ध-नग्न सड़क की छाती में कोई पोल-सा तो न पैदा हो जाता होगा जो मैं अपने अन्दर पैदा होता अनुभव करता हूँ।

× × ×

छकड़े आ रहे हैं, जा रहे हैं। दूर सड़क के चेहरे पर एक धूल-सी उभरती दिखाई देती है। ऊपर बादलों में एक आकृति पुलिस के सिपाही जैसी है। एक और बादल ने बैल का रूप धार रखा है। और वह पुलिस का सिपाही अब कोई किसान नज़र आता है। दूर से बहुत-से बादल भागे आते हैं। पर यह बैल तो केवल रींग ही सकता है। और मैले से आकाश के नीचे यह सड़क जाने किस ग़म में सहमी हुई-सी, किस याद में खोई हुई-सी, लेटी हुई है।

इक़बालसिंह बहुत ख़ुश नज़र आता है। ताजमहल की प्रशंसा करता वह थकता नहीं। सोचता होगा कि सावनी तो विधवा है और यदि रामू ज़िन्दा भी होता तो अपनी धोबन के लिए किस जमुना के किनारे शाहजहान का-सा संगमरमर का स्मारक बनवा सकता था?

'क्या सोच रहे हो, मियाँ लेखक?'

'यही कि क्या कालेपानी में भी कोई संगमरमर का स्मारक मौजूद है—काले पानी में जो अपने आप में एक लम्बा चौड़ा जेलख़ाना है, जहाँ प्रेम नहीं किया जाता, सज़ा भुगती जाती है।'

'अरे भई तुम्हें नहीं मालूम...तुम कैसे जान सकते हो?'

'तो क्या काले पानी में बैलों पर कोड़े नहीं बरसते?'

'हाँ हाँ हाँ, वहाँ बैलों पर कोड़े नहीं बरसते।'

'तुम्हारा भाव है वहाँ कोड़े होते ही नहीं?'

'हाँ हाँ हाँ, मेरा भाव है वहाँ कोड़े होते ही नहीं।'

'बैल बहुत समझदार हैं वहाँ?'

'हाँ हाँ हाँ। पर अब छोड़ो इस बात को। ज़रा उधर देखो ना। कोई जलूस आ रहा है शायद।'

मज़दूरों का जलूस समीप आ जाता है। मेरा मन बलवान हो उठता है। नये युग का स्वागत करने के लिए मैं सबसे आगे निकल जाना चाहता हूँ। मज़दूरों का कूच-गीत वायुमण्डल में गूँज उठता है:

सारा संसार हमारा है
सारा संसार हमारा है
मज़लूमों ने मुलकों मुलकों
अब झण्डा लाल उठाया है

जो भूखा था जो नंगा था
अब गुस्सा उसको आया है
रोके तो कोई हमको ज़रा
सारा संसार हमारा है...

इक़बालसिंह कहता है, 'यह सड़क शायद कभी सो नहीं सकती, न दिन के प्रकाश में, न रात के अँधियारे में। यह कैसी सड़क है ?'

'उस:जबड़े के समान इक़बाल जिसके आधे दाँत बुढ़ापे के कारण सड़ गये हों और बदल गये हों और बाकी आधे काले पड़ गये हों, जैसा कि गोर्की ने अपने बाबा के घर के सामने से गुज़रनेवाली सड़क की बाबत लिखा था। और दैत्य सरीखी लारियाँ भी अब इस सड़क को लताड़ती रहती हैं।'

'और भई तुम भी अजब फ़िलास्फ़र हो। सड़क तो हमेशा से एक साझे की चीज़ चली आती है, इस पर से आदमी गुज़रें चाहे बैल, छकड़े गुज़रें चाहे नये युग की लारियाँ।'

नये युग की धड़कनों का एक हलका-सा अनुभव इक़बालसिंह को भी हो चला है। पर छुट्टी पूरी होते ही वह कालेपानी को भाग जायेगा, जहाँ उसे अपने अफ़सर के कोड़े सहने होंगे, यहाँ तक कि उसकी रगों में बहनेवाला लहू कालेपानी के तट पर टकरानेवाले पानियों ही की तरह काला पड़ना शुरू हो जायगा। उस समय वह शायद मज़दूरों की प्रतिवादी आवाज़ की महत्ता पहचान सके—जो भूखा था जो नङ्गा था, अब गुस्सा उसको आया है...

'कालेपानी में तो भूखे और नङ्गे न होते होंगे, इक़बाल ?'

'हाँ हाँ, हाँ। काले पानी में ऐसे लोग नहीं हो सकते।'

'यानी तुम्हारा भाव है वहाँ किसी को गुस्सा नहीं आता न यों जलूस निकलता है'

'हाँ हाँ हाँ। वहाँ किसी को गुस्सा नहीं आ सकता और न यों कोई जलूस ही निकल सकता है।'

'यानी तुम्हारा भाव है वहाँ पूरी आज़ादी है, किसी प्रतिवाद की गुंजायश ही नहीं ?'

'हाँ हाँ हाँ। पर छोड़ो इस बात को। मैं कहता हूँ कि छकड़ों का यह पुराना डिज़ायन मुझे तो सिरे से नापसन्द है।'

'यानी यहाँ भी नये तर्ज़ के छकड़े होने चाहिये जैसे कालेपानी में होते होंगे ?

'अरे भई अब जाने भी दो।'

घरों से परे, साँवले खेतों को चीर कर काले पानियों को पीछे छोड़ते हुए, भरो

निगाहें अण्डमन द्वीप की तलाश में भटकने लगी हैं, जहाँ इक़बालसिंह की चहेती दुनिया बसती है, जहाँ लोग लड़खड़ाते न होंगे, नियमाधीन फौजियों की तरह तन कर चलते होंगे मजे से।

× × ×

जाहिल, गधा, बेसींग का बैल...सड़क पर छकड़ा देखकर किसी दैत्य सरीखी लारी का ड्राइवर बङ्कार उठता है। गाड़ीवान की आँखों में प्रतिवाद भड़कता है। लारी बहुत आगे निकल चुकी होती है। फिर शायद गाड़ीवान यह सोचता है कि लारी ड्राइवर भी एक मजदूर है। मूर्ख! मजदूर होकर मजदूर पर झपटता है।

फोड़ियाँ निकलें तोर देह पर...और कोड़ा ऊपर उठता है, हवा में लहराता है, बरस पड़ता है...अरे तोहे ठण्डी मार मारे भगवान...अरे भगवान तोहे आनन्द राखे मोर पुतवा। रात बढ़त चली आवत है। घियो मैदे का बचन देत हूँ, शिव के नन्दी!...ये गालियाँ, यह प्यार और यह पुरानी, टूटी-फूटी सड़क, जो एक भेदिये की तरह रोजगार के बन्धन देखती है, सब की बातें सुनती है, या शायद यह सड़क सिरे से अन्धी है, बहरी है।

टन टन टन टन...गिरजे के घड़ियाल ने नया घण्टा शुरू होने की आवाज सुना दी। गिरजे के क़रीब एक फ़कीर ने अपने हाथ फैला रखे हैं। कभी कुमार तरस खाकर गिरजे में जानेवाले लोगों में से कोई इस गलाज़त के कीड़े की तरफ़ एक दो पैसे फेंक देता है।

'घनी ढेर सदियों की भूख भींचे हुए जाने कब से खड़ा है यहाँ यह भयानक आदमी, इक़बाल।'

'बातें फिर करना। पैसा हो तो निकालो।'

'पर एक पैसे से क्या होगा, इक़बाल? सदियों की भूख है। यों न मिटेगी।'

इक़बालसिंह मेरी तरफ़ घूर कर देखता है और मैं आकाश की तरफ निगाह उठाकर कहता हूँ, 'ऐसे पीले से चाँद को देखकर ही किसी ने कहा था, इक़बाल, कि यह तो एक बड़ी सी रोटी है—सीले ईंधन के धुयें की करतूत से अपने हाल पर शर्मिन्दा। और बादलों के आड़े तिरछे टुकड़े सदियों के भूखे आदमी की तरह जबड़े खोले लपके चले आते हैं इस रोटी को निगल जाने को।'

इक़बालसिंह कुछ जवाब नहीं देता। आगे बढ़कर मेरा आलिंगन कर लेता है। मालूम होता है कि वह बरसों से इसी सड़क पर रहता आया है, इसी पुरानी टूटी-फूटी सड़क पर जहाँ ये लोग बराबर चलते रहते हैं, जाने कब तक चलते रहेंगे—ये आदमी, ये बैल।

★

डी० एच० लॉरेन्स

■

[रविन्द्रनाथ देव]

कहते हैं कि महान पुरुषों पर उनकी माता का प्रभाव अधिक पड़ता है। पुरुष का व्यक्तित्व तभी पूरी तरह से पनप सकता है, जब कि उस पर नारी का प्रभाव कोमल धूप की तरह सर्वदा पड़ता रहे—वह नारी किसी भी रूप में क्यों न आये—माता, बहिन, या स्त्री के रूप में।

तब महान पुरुषों पर उनकी माताओं का कितना प्रभाव पड़ता है या पड़ा है, इसका निर्णय करना तो कठिन है, किन्तु इतना निश्चय है कि लॉरेन्स पर उसकी माता का प्रवाह बहुत गहरा पड़ा। बल्कि इतना कहना भी अनुचित नहीं होगा, कि लॉरेन्स की सारी चिन्ताधाराएँ मातृप्रेम से ही उपजीं और इसी कारण उनमें वह वैचित्र्य आ गया।

लॉरेन्स का जन्म सन् १८८५ में हुआ था। उस समय उसकी माता की अवस्था प्रायः तीस वर्ष की थी, और वह अपने माता-पिता की चौथी सन्तान था। लॉरेन्स के पिता कोयले के खदान में काम करते थे। जैसे साधारण मजदूर होते थे वैसे ही थे। पृथ्वी के अन्धकारपूर्ण गर्भ के अन्दर काम करते-करते, उसके मिजाज, उसके सारे दृष्टिकोण में वह बातें आ गई थीं, जो कि किसी भी मजदूर में, दस-बारह घण्टे, पशु की तरह, जमीन की सतह से सैकड़ों फीट नीचे, अन्धकार, घोर अन्धकार—दमघुटती-सुरङ्गों में, काम करते-करते आ जाती थीं। मजदूर खदान से बाहर निकलते ही, पृथ्वी के उन तङ्ग अन्धकारपूर्ण काली अँतड़ियों को जिसमें वह अपना सारा दिन बिताता था, भूल जाना चाहता था। वह आनन्द ढूँढ़ता था। वह अपने को भूलना चाहता था। और सस्ते आनन्द—पूँजीपति देखते थे—कि उनके मजदूरों को मिलें—मजदूर क्षण भर अपने दैनिक जीवन को भूल जायँ, और इस सस्ते-जहरीले आनन्द का लाभ पूँजीपति उठायें।

मजदूर थका-माँदा आता था खदान के ऊपर। हफ़्ते भर का वेतन उसके हाथ में रहता था। पूँजीपति की दुकानों में शीशे की बड़ी-बड़ी खिड़कियों के पीछे रङ्गीन बोतलों में शराब—और भी अन्दर अर्ध-नग्न नारियाँ अपने कटाक्षों से अपनी मतवाली हँसी से इन बेचारे मजदूरों को बुलाती थीं। महूर्तभर आनन्द का भूखा मजदूर अन्दर जाता था...जब वह बाहर आता था तो उसके पैर लड़खड़ाते थे, जबान रपटती थी, हाथ में शायद एक बोतल होती थी; जेब से आधे से भी अधिक वेतन गायब हो चुकता था। हफ़्ते भर का खर्चा चलना दूभर हो जाता था।

इसी कारण घर पर मज़दूरों को शान्ति नहीं मिलती थी। घर पहुँचते ही उसे अपनी भूल का पता चलता था, और जब उसके बच्चे उसे घेरकर खड़े हो जाते और, आशा-भरी दृष्टि से उसकी ओर देखते और वह उनको कुछ भी नहीं दे पाता तो पछतावे से उसका मन और खिजड़ जाता था। उसको अपने ऊपर, अपने भाग्य के ऊपर क्रोध आता था। मामूली-सी बातों से ही वह चिढ़ उठता था, और उन्हीं बच्चों पर जिसके लिए उसका दिल दुखता था, कभी-कभी भीषण प्रहार करता था, कभी-कभी कुत्सित गालियाँ देता था—बच्चों की मा की भी यही दशा होती थी। कोयले के खदान में काम करनेवाले मज़दूरों की यही दशा थी, उनके जीवन के प्रोग्राम में कोई नई बात नहीं आती थी। मज़दूर अपने को घृणा करने लगता था। उसमें प्रेम की शक्ति, मनुष्यता सूख जाती थी। एक भयानक वितृष्णा से उसका जीवन भर उठता था। उसको अपना घर भी अच्छा नहीं लगता था। शराब की दुकान ही में वह अपने मन की ग्लानि को भूल सकता था।

घर पर उसकी स्त्री उसके बच्चे सब ही उससे डरते थे। स्त्री को घर का सारा काम करना पड़ता था, उस पर डाँट, मार-पीट अक्सर लगी ही रहती थी। बच्चे अपने पिता से इतना घबड़ाते थे कि वे यही मनाते रहते थे कि कब उनका पिता घर छोड़कर खदान में जाय—और उन्हें शान्ति मिले।

लॉरेन्स का जन्म एक ऐसे ही परिवार में हुआ। लॉरेन्स के पिता में वही बातें आ गई थीं जो कि और मज़दूरों में आ जाती हैं। किन्तु लॉरेन्स की माता साधारण स्त्री नहीं थीं। उनमें सौन्दर्य्य, ज्ञान, आत्मविश्वास और अतृप्त वासना थी। अपने स्वामी से उन्हें बहुत कुछ आशा थी। उनका मापदण्ड भी बहुत ऊँचा था। वह भूल गईं कि कोयले की खदानवाले मज़दूर का दृष्टिकोण कुछ दूसरा हो जाता है। वह भूल गईं कि अच्छे-से-अच्छे चरित्र को भी, परिस्थिति तोड़-मरोड़कर नष्ट कर सकती है।

लॉरेन्स के शिशु हृदय पर इस दुखमय जीवन का एक गहरा प्रभाव पड़ा। उसने अपने माता के सूने जीवन और व्यर्थ स्वप्नों को समझने की चेष्टा की—अपने माता के प्रति उसका प्रेम और भी गहरा हुआ। उनके स्वप्नों को, उनकी टूटी हुई आशाओं को उसने पूरी करने की चेष्टा की। माता ने भी अपने इस बेटे में वह बातें अंकुरित होते देखीं जिनको कि वह सदा ढूँढ़ती रहीं, किन्तु जो उसे वास्तव में कभी भी नहीं मिली थीं। वह प्राय: भूल गई थीं कि किसी भी स्त्री को इस जगह में प्रेम मिल सकता है। उनके शुष्क हृदय में फिर एक बार जीवन-सुधा का सञ्चार हुआ। अपने बच्चे के प्रेम में, समझ में, उन्होंने फिर अपने आपको पाया। लॉरेन्स के मातृ-प्रेम से (मातृभक्ति नहीं) लॉरेन्स की मा जी उठी, किन्तु लॉरेन्स एक तरह से हमेशा के लिए मर गया। वह और स्त्रियों से भी वही रक्त-बद्ध-प्रेम ढूँढ़ता रहा जो मनुष्य को अपनी मा के पास ही मिल सकता है। उसने वह प्रेम कहीं नहीं पाया ; पाना असम्भव था। जननी का प्रेम देता है, वह कुछ भी नहीं माँगता। शिशु की मीठी हँसी, उसकी तुतली, टूटती हुई बातें—यही उसके लिए यथेष्ट हैं। जब सन्तान और बड़ी हो जाती है, तो जननी के लिए उसका

बोलना-चालना, उसकी छोटी नितनूतन अभिज्ञतायें, यही सब कुछ है। किन्तु स्त्री का प्रेम यह हो नहीं सकता। उसके लिए प्रिय से प्रिय पुरुष भी, उसी प्रकार अपना नहीं हो सकता है जिस प्रकार सन्तान माता का अपना हो सकता है। सन्तान तो माता के व्यक्तित्व का एक नया, अनोखा टुकड़ा है। किन्तु पुरुष और स्त्री वे दोनो कुछ अलग रहते ही हैं और अलग रहेंगे। पुरुष का अपना व्यक्तित्व है, स्त्री उसके सामने झुक सकती है, उसको दोनों हाथों से बटोरकर उसे वह अपने हृदय से लगा लेगी, किन्तु तब भी वह दोनों कुछ अलग ही रहेंगे। कहीं न कहीं वे दोनो (पुरुष और स्त्री) यह अनुभव करेंगे ही कि वे एक दूसरे से अलग हैं—शायद उनका सबसे बड़ा खिंचाव उनका सेक्स (sex) है। यही शायद मनुष्य-जीवन की सबसे बड़ी ट्रैजिडी है। पुरुष या नारी अपने प्रेम में सर्वदा के लिए अपने आपको भूल नहीं सकते। कहीं कुछ बचा ही रहता है ; वह काँटों की तरह चुभता ही रहता है।

इसी प्रकार पुरुष भी जननी को जितना निजी पाता है उतना नारी के रूप में नहीं। और बच्चा जब कुछ बड़ा होने लगता है, और उसका व्यक्तित्व अपनी माता से छिटक कर निजी होने लगता है, उस समय माता को चाहिये कि पुत्र के कल्याण के लिए उसको उसी ओर बढ़ने दे जिधर पुत्र का व्यक्तित्व उसे खींचे लिये जाता हो। अपने व्यक्तित्व को बीच में न डाले।

यह एक साधारण बात है—बहुत साधारण और इसको यहाँ कहने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं होती अगर यह लेख लॉरेन्स पर न होता। लॉरेन्स इसी मामूली बात को न समझ सका—उसके जीवन की यही सबसे बड़ी ट्रैजिडी रही। उसने देखा नारी में शक्ति है, मातृत्व है, किन्तु वह पुरुष को वह मातृत्व प्रेम दे नहीं सकती। वह यह कभी भी नहीं समझ पाया कि नारी हज़ार चाहे तब भी वह असम्भव है। और इसी भारी भ्रांति पर उसने अपने विचारों के प्रासाद को खड़ा किया। वह महल अपूर्व महल बना। दूर से वह सुन्दर और सुगठित दिखा—उसमें नूतनता दिखी -किन्तु वह एक महाभ्रान्ति पर बना और इसीलिए अभिशप्त बना।

स्त्री और पुरुष के सम्पर्क को लेकर उन्होंने प्राय: अपने सारे उपन्यास लिखे। क्या स्त्री ही पुरुष का आदर्श है ? या पुरुष स्त्री का ? लॉरेन्स इसी उलझन में पड़े रहे। शायद प्रत्येक नवयुवक और नवयुवती इस तरह सोचते हों, किन्तु साधारण नवयुवक और लॉरेन्स में यही तो फर्क है—लॉरेन्स साधारण नहीं था, वह असाधारण था, बल्कि असाधारणों में भी असाधारण था। इसीलिए सिर्फ कल्पना की नींव पर ही उन्होंने अपने जीवन की बद्धमूल धारणाएँ (philosophy of life) खड़ी कीं। सत्य और बाहरी सत्य (objective reality) से वह दूर ही हट गये। इसी कारण ऐसे महान शिल्पी होते हुए भी लॉरेन्स, अन्त में, सत्य की राह से भटक कर, बाहर चले गये। उनकी आँखों में पट्टी बँध गई। दुनिया ने उनसे जो आशा की थी वह उसे दे न सके।

× × ×

१९१२-१३ में लारेन्स ने अपना मशहूर उपन्यास 'Sons & Lovers' लिखा। उसके बाद प्राय: शेष मुहूर्त तक (१९३०) वे बराबर लिखते ही रहे। प्राय: बारह उपन्यास, कविताओं की दो पुस्तकें, प्रबन्ध, भ्रमण-वृत्तान्त, समालोचना (साहित्यिक और दार्शनिक), बहुत-सी कहानियाँ, अनगिनती पत्र, बहुत-से विषयों पर प्रबन्ध, साइकोएनालिसिस (Psycho-Analysis) पर एक किताब—एक इतिहास (Main currents of modern European history) अगर देखा जाय तो शायद ही किसी दूसरे अंग्रेज़ी लेखक ने, इतने थोड़े-से समय में, इतने भिन्न विषयों पर इतना लिखा हो। और साथ ही जो कुछ भी, और जिस किसी विषय पर भी उन्होंने लिखा, उसमें एक नई शक्ति है, एक नूतनता है—और चिन्ता की शक्ति है। इसी कारण लॉरेन्स ऐसे लेखक पर एक छोटे से लेख में दो-चार मोटी बातें ही कही जा सकती हैं।

'Sons and Lovers' 'पुत्र और प्रेमी' शायद पहला उपन्यास है जिसमें लॉरेन्स ने अपनी सारी शक्ति के साथ अपने जीवन की tragedy (ट्रैजिडी) का वर्णन किया है। पॉल कष्टों को झेलता हुआ आगे बढ़ता है। एक लड़की उसे मिलती है—वह है मरियम। पॉल सोचता है शायद आनन्द और शान्ति वह मरियम ही में पा सकेगा। किन्तु प्रेम में जिस वस्तु की खोज वह कर रहा है—वह उसे नहीं मिलती है। मरियम बालिका है—बालिकाओं-सी उसमें वासनायें हैं, अनुराग है। वह 'मातृत्व प्रेम' अवश्य चाहती है किन्तु वह विशुद्ध नहीं है। वह प्रेम अपने बदले में चाहता है दूसरे के व्यक्तित्व को हर लेना—उसमें कहीं एक छिपी हुई आग है जो पॉल को जला देना चाहती है—उसमें एक भयानक शक्ति है जो पॉल को नष्ट करना चाहती है। इसी कारण जब मरियम खलिहान में पॉल को झूले पर बिठला देती है तो :

'Almost for the first time in her life she had the pleasure of giving up to a man ; of spoiling him... (शायद जीवन में पहली बार उसने अपने को एक पुरुष के हाथ में समर्पण करके, उस पुरुष को नष्ट करने का आनन्द उपभोग किया।)

पॉल मरियम के नारीत्व से घबड़ा उठता है। उसके निबिड़, सुन्दर प्रेम से वह डरता है। उसमें पॉल अपने को नहीं पाता ; क्योंकि मरियम साधारण लड़की नहीं है—उसमें लड़कियों की अठखेलियाँ छू नहीं गई हैं।

पॉल कहता है—'You're never jolly or even just alright.'—

मरियम असाधारण है। 'All the life of Miriam's body was in her eyes, which were usually dark as dark church but could flame with light like a conflagration. His face scarcely ever altered from its brooding. She might have been one of the women who went whith Mary when Jesus was dead.'

एक बार पॉल खीज कर मरियम से कहता है :

'You make me feel so spiritual !' he lamented, 'And I don't want to be spiritual.'

मरियम से वह इसी कारण दूर हट जाता है। किन्तु मरियम की मित्र क्लारा को वह इन्कार नहीं कर सकता। क्लारा उससे उम्र में बहुत बड़ी है—और क्लारा ने दुःख सहा है। और क्लारा में जानकारी है। इसी कारण उसके प्रेम में एक तीखापन है, किन्तु अन्त में दोनों में विच्छेद होता है। क्लारा अपने स्वामी के पास चली जाती है। दोनों एक दूसरों की छोटी-छोटी त्रुटियों से ऊबने लगे थे।

माता की मृत्यु और क्लारा से अलग हो जाने के पश्चात् वह अपने सूने जीवन से डर कर मरियम को स्मरण करता है। किन्तु उस रात मरियम से मिलने के बाद वह जान जाता है मरियम का प्रेम वही आज भी है जो पहिले था—वह उससे घबड़ाता है। मरियम का प्रेम गम्भीर था, अटल था किन्तु उसमें माता के प्रेम की सरलता कहाँ? मरियम अपने प्रेम से उसकी रक्षा नहीं कर सकेगी; उसके मुर्झाये हुए जीवन में फिर हरियाली नहीं ला सकेगी। वह माँगेगी, माँगेगी—और अपने अटल प्रेम के बलिदान से उसे निश्चिन्त कर देगी।

किन्तु पॉल की माता पॉल के लिए ठीक उसकी माता नहीं है। माता और पुत्र दोनों लिकंन शहर में गये हैं :—

They ate a meal that she considered wildly extravagant.

'Don't imagine I like it,' she said as she ate her cutlet. 'I don't like it, I really don't. Just think of your money wasted.'

'You never mind my money,' he said, 'you forget I am a fellow taking out his girl for an outing.'

And he brought her some violets...

'Why can't have a man a young mother? What is she old for ?...

'What are you old for ?' he said mad with his impotence...

शायद माता का चित्र ही पॉल के हृदय में था—मरियम और क्लारा में वह उसे नहीं मिला...

'Sons & Lovers' के प्रकाशित होने के पश्चात लॉरेन्स का नाम दिन-ब-दिन बढ़ने लगा। वह लोक-प्रिय तो हुए नहीं किन्तु वह थोड़े से साहित्य-प्रेमी जो कि उसके पूर्व प्रकाशित पुस्तकों से चकित हुए थे और जिनको लॉरेन्स से बड़ी आशायें थी, उन्होंने Sons and Lovers में अपनी आशाओं को पूर्ण होते देखा। साहित्य में लॉरेन्स अब एक शक्ति बन गये।

उनकी शैली अद्भुत शक्तिशाली थी। पिछले पचास वर्षों से इतनी तेजस्वी

शैली शायद ही किसी अँग्रेजी लेखक की हुई हो। वर्णन में तो वे अद्वितीय थे। रस्किन के सिवा शायद ही और कहीं इस तरह का उच्चकोटि का वर्णन मिलता हो।

'Sons and Lovers' के बाद लॉरेन्स ने और बहुत-से उपन्यास लिखे, इसमें 'Women in Love'—'Aaron's Rod' और 'Lady Chatterley's Lover' सबसे मशहूर हैं।

'Women in Love' और 'Aaron's Rod' में लेखक की आत्मा की ग्लानि और अशान्ति है। वह फिर शान्ति की खोज में है। उरसला गुडरुन, जेरल्ड और बरकिन, रोडिब—सब उसी एक ही जाल में पड़कर खींचे जा रहे हैं। सभी Sex में सिर्फ़ सुख नहीं बल्कि शान्ति की भी आशा करते हैं। उन्हें शान्ति नहीं मिलती उरसला और बरकिन बच जाते हैं; वे आग की आँच में तपाये गये हैं—उनमें जो कुछ बनावट थी वह पिघल चुकी है, किन्तु तब भी वे पूर्ण रूप से शन्ति नहीं पाते। बरकिन और उरसला ने शान्ति की रूपहली रेखा का आलोक मात्र देखा है। अन्त में बरकिन उरसला से कहता है कि वह उरसला से प्रेम करता है, किन्तु जैसे उरसला उसको पाकर अपने को सम्पूर्ण समझती है उस प्रकार वह अपने को, केवल उरसला को लेकर सम्पूर्ण नहीं अनुभव करता। उसे और कुछ चाहिये—शायद उसका मित्र जेरल्ड।

'Women in Love' के अन्त से साफ़ पता चलता है कि लेखक किसी दूसरी दुनिया की खोज कर रहा है। उस दूसरी दुनिया को उसने Aaron's Rod में दिखाने की चेष्टा की है। आरन और लाइली दोनों घनिष्ट मित्र हैं - दोनों शायद एक दूसरे को अपनी प्रेमिकाओं से अधिक चाहने लगे हैं। किन्तु इस उपन्यास का अन्त व्यर्थ है, पुरुष-पुरुष में प्रेम हो नहीं सकता—मित्रता हो सकती है। आरन और लाइली दोनों इस बात को समझ जाते हैं।

अगर लॉरेन्स के हर एक उपन्यास की समालोचना की जाय तो उससे यह स्पष्ट रूप से विदित होता है, कि अभागा लेखक शान्ति की खोज में रहा, उसे शान्ति नहीं मिली, क्योंकि उसका मार्ग ही ग़लत था। उसने दैहिक प्रेम से शान्ति पाने की चेष्टा की। उसने भोग के पथ से त्याग का मन्दिर ढूँढ़ निकालना चाहा। किन्तु उसमें भोग की शक्ति नहीं थी, कारण नारी से उसे वह शान्ति नहीं मिल सकती थी जिसकी वह खोज कर रहा था।

शेष उपन्यास जो लॉरेन्स ने लिखा उसका नाम है 'Lady Chatterley's Lover' बहुत-से इसको बहुत बड़ा उपन्यास मानते हैं। बहुत-से इस बीसवीं-शताब्दी के साहित्य का अमूल्य रत्न मानते हैं। किन्तु अगर ग़ौर से देखा जाय तो साफ़ पता चलेगा कि इसमें लॉरेन्स पराजित हुआ है। लॉरेन्स अपनी भ्रान्ति की ओर आगे बढ़ता ही गया है। उपन्यास-कला की दृष्टि से इसमें त्रुटियाँ भरी पड़ी हैं। यों तो लॉरेन्स ने कोई भी ऐसे चरित्र नहीं बनाये जो Tess of D' Ubervilles या Jude की तरह अमर हों। लॉरेन्स के अधिकतर चरित्र एक बुनियादी बात को लेकर बनाये जाते हैं, उनमें चरित्र का विकास

बहुत कम होता है। वह भूल जाता है कि यद्यपि sex मनुष्य जीवन की नींव-सा है, तथापि वह सर्वस्व नहीं है। किसी भी अट्टालिका में नींव बहुत आवश्यकीय है, किन्तु नींव ही सर्वस्व नहीं है। तब भी उरसुला में व्यक्तित्व है, वरकिन में व्यक्तित्व है—किन्तु लेडी चेटरली या उसके प्रेमिक में व्यक्तित्व का अभाव है। कुछ देर तक लेडी चेटरली जीवित है, नारी है। उसके सुख-दुख में हम भी दुखी और सुखी होते हैं। किन्तु आगे चलकर लेडी चेटरली रक्त-मांस की नहीं रहती—वह sex की एक प्रतीक मात्र रह जाती है। मेलर (लेडी चेटरली का प्रेमिक) भी एक गँवार और अर्थहीन sex का प्रतीक है। इन चरित्रों में शक्ति नहीं है, उनमें मनुष्यता नहीं है। वह बस लेखक की चिन्ता-धारा मात्र है। sex का छूमन्त्र उनको बीच-बीच में जगा देता है—तब वह थोड़ी देर के लिए गर्माये हुए कुत्तों की तरह जग पड़ते हैं—फिर वह लेखक की चिन्ता-धारा में डूब जाते हैं—उनके अस्तित्व का पता भी नहीं चलता।

फिर भी लॉरेन्स महान लेखक है। उसने मूल से ग़लत रास्ता पकड़ा, और महान होने के कारण उसने महान ग़लती भी की। उसने नारी से वह बात माँगी जिसको वह दे नहीं सकती थी, उसने पुरुष से वह आशा की जो असम्भव थी।

छोटी ही अवस्था से अपने पिता-माता के कलहपूर्ण, नीरस जीवन से उसका दृष्टिकोण कड़ुआ हो गया था। फिर उसको उन्नीसवीं शताब्दी की आबहवा में सिवाय झूठ और जालसाजी के और कुछ नहीं दिखा—अगर कोई गुण थे भी तो उसकी ओर वह अन्धा रह गया। इसी कारण उसका दृष्टिकोण इतना तिक्त हो गया—उसमें आशा का स्थान कम रह गया। प्रेम का वह पुजारी था, किन्तु उसने प्रेम से अधिक माँगा—इसीलिए वह भटकता फिरा।

आज लॉरेन्स की मृत्यु के प्राय बारह वर्ष हो चुके। समालोचना की आँधी उनके जीवन पर और उनके लेखों पर से होकर गुजर चुकी। बहुत-सी बातें जो उनके लेखों में कमजोर और अर्थहीन थीं, पीले और सूखे पत्रों की तरह, काल की गति के साथ गिरती गईं। उनकी उग्र प्रतिभा अब कहीं-कहीं सीमित हो चली है। कहीं-कहीं ऐसा मालूम होता है कि छोटी-छोटी भावनाओं को उन्होंने बहुत बढ़ा कर दिखलाया है—साधारण बात को साधारण तरह से न सुलझा कर असाधारण तरह से सुलझाने की चेष्टा की है, और इसी में भूल हुई।

लॉरेन्स primitive (आदि मनुष्य) मनुष्य के रहन-सहन से मुग्ध थे। उनकी सरलता में उन्होंने वही बात पाई जो उन्हें आधुनिक यूरोप में कहीं नहीं मिली। आदि मानवों की sex life निर्म्मल और सरल थी। झूठ और दगाबाजी यह उनसे दूर थे—इसी कारण लॉरेन्स को सिसिलियन और न्यू मेक्सीको के लोग पसन्द आये और उनकी जीवनी पर उन्होंने कई बहुत सुन्दर कहानियाँ लिखीं।

लॉरेन्स सरलता और शक्ति के उपासक थे। शक्ति के वैसे ही उपासक थे जैसे

नितृजे था। किन्तु नितृजे में एक ऊँचा आदर्श था लॉरेन्स का आदर्श अगर ऊँचा है भी तो स्पष्ट नहीं है। बार-बार उन्होंने अपनी ही बात काटी है।

लॉरेन्स कवि भी थे और उच्चकोटि के। उनकी कविता में जो शक्ति है वह शायद आधुनिक किसी और अँग्रेजी कवि में नहीं है। लॉरेन्स के भ्रमण-वृतान्त तो अमर रहेंगे और उनकी कहानियों में 'The man who died' अंग्रेजी साहित्य की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में है।

किन्तु चाहे वह उपन्यास लिखें या कहानी, कविता या ड्रामा, भ्रमण या विज्ञान—उसमें विचार-धारा एक ही है। वह अपने दुःख का बोझ अपने ऊपर से हटा नहीं सके—क्योंकि उनका दृष्टिकोण ग़लत था, अभिशप्त था।

*

निम्नलिखित पुस्तकें लॉरेन्स की मुख्य पुस्तकों में है :

(1) Rainbow. (2) Sons and Lovers. (3) Kangaroo. (4) Women in love. (5) Aaron's Rod. (6) Lady Chatterley's Lover—ये उनके मुख्य उपन्यास हैं

'The women who rode away' और Collected Short Stories में उनकी कहानियाँ हैं। 'David' नाटक है और बहुत ही उच्च कोटि का। 'Fantasia of the Unsconcious'—साईकोएनालिसिस पर लिखी है। बहुत से 'लारेन्सियन' सिद्धान्त इसमें स्पष्ट रूप से लिखे गये हैं। 'Twilight in Italy' इटली का भ्रमण वृतान्त है। उनके पत्रों का एक अॅल्बुम निकला है, जिसके लिए एलडस हक्स्ले ने एक भूमिका लिखी है, जिसमें उन्होंने मिडिल्टन मरी के सिद्धान्तों को काटने की चेष्टा की है। लॉरेन्स की अधिकतर पुस्तकें Martin Secker के यहाँ से प्रकाशित हुई हैं।

कमीनों की ज़िंदगी में

●

[चन्द्रकिरण सौनरिक्सा]

कुसुम ने आँखें खोलकर देखा--सूरज बहुत ऊपर चढ़ आया था। खिड़की के रास्ते छन-छन कर आती हुई धूप ने कमरे भर में अपना अधिकार जमा लिया था। उफ़! कितना दिन चढ़ गया? मैं भी कितनी आलसी होती जा रही हूँ उसने सोचा, किन्तु; 'उनका' इन्तज़ार करते-करते रात सोई भी तो थी डेढ़ बजे!'...और दृष्टि घुमाकर देखने पर उसने जाना, कि उसके स्वामी बाबू महेशदत्त न मालूम किस समय आकर पलंग पर सो गये हैं। दो-तीन या चार बजे आये होंगे। ईज़ी चेयर पर सोई पड़ी कुसुम को उन्होंने जगाया भी नहीं; दूध भी नहीं पिया। सब देखकर कुसुम ने दबी हुई एक लम्बी साँस ली, फिर हाथों से मुँह पर बिखरी हुई लटों को पीछे करती-करती कमरे से बाहर आ गई। देर से आना, दूध न पीना, और उसे जगाकर पलंग पर न सुलाने की बातें कुसुम के लिए इतनी परिचित हो गई थीं कि उन्हें लेकर वह बहुत देर तक मन दुखी नहीं रखती थी।

छत से उतरते हुए यों ही उसने पिछवाड़े की गली में झाँका, तो देखा—मोहल्ले की भंगिन गली में झाड़ू लगाती-लगाती कह रही थी—'मूंडीकाटा . हरामी...! अभी तक न जाने अपनी किन माँ-बहनों की जान को रो रहा है! रात भर से गायब है। आठ बजने आये, पर अभी तक लाट साहब के नाती का कुछ पता ही नहीं...!'

'अरी ओ बसन्ती!'—कुसुम ने ऊपर से ही पूछा—'कौन लाट साहब का नाती है री?'

'अजी बहू जी!'—बसन्ती ने बुहारना बन्द करके ऊपर को ताक कर चिढ़े हुए स्वर में कहा—'वही तुम्हारा जमादार कलुआ! और कौन है इस सहर में लाट साहब का नाती! उसी का तो राज है यहाँ। पर आज आये तो घर...हरामी के झाड़ू मार-मार के लाट साहबी झाड़ दूँगी। है किस हवा में! कंजर, कमीना...' और भुनभुनाती हुई बसन्ती कूड़े का टोकरा उठाकर दूसरी तरफ़ चली गई।

कुसुम की उदासी बसन्ती के इस लच्छेदार भाषण से दूर-सी हो गई। नीचे जाते-जाते उसने सोचा—'यह नीच जात भी खूब होती है बाबा!...कैसी गालियाँ दे रही है अपने पति को; अरे तभी तो यह कमीन कहाते हैं!...औरत जात होकर कैसी सिर चढ़ रही है। अरे; हमारे भी तो रोज रात के तीसरे पहर घर में घुसते हैं: पर मजाल क्या कि चूँ भी कर जाऊँ। बहुत मन दुखा, तो चुपके से दो आँसू बहा लिये...।' फिर नीचे आकर कुसुम काम-काज में लग गई। नहा-धोकर चूल्हा जलाया; दूध उबाला

चाय बनाई। इसी बीच दो बार नौकर को ऊपर भेजकर दिखवा लिया कि महेश बाबू जागे या नहीं। वे सो रहे थे; लाचार रखी-रखी काली पड़ती हुई चाय को महरा और ग्वाले की भेंट करके वह रसोई बनाने में जुट पड़ी। दो चूल्हों के ऊपर उसने जल्दी-जल्दी दाल तरकारी, चावल, और रोटी बनाई। सवा नौ बजे थे कि नौकर ने आकर कहा—'बहूजी ! बाबूजी जागे हैं।'

चूल्हे का तवा जल्दी से उतार कर कुसुम ने चाय का पानी रक्खा। चाय के साथ-साथ कहलाया कि सवा नौ बज गये हैं जल्दी करें।

दस मिनट में नौकर ने लौटकर बताया कि—'बहूजी ! बाबू कहते हैं पेट में बड़ी खुश्की हो रही है। भारी-भारी भी है, खाना नहीं खायँगे।'

कुसुम चुप रह गई। देर होने के भय से दो चूल्हों पर रसोई तैयार की और वे नहीं खायँगे। पेट बेचारे का क्या कुसूर। आधी रात तक शराब के दौर चलेंगे; तीन बजे सोयेंगे; नौ बजे उठेंगे, खुश्की न होगी तो और क्या होगा ?...जले-भुने मन से वह आटा उठाकर रखने लगी, इच्छा हो रही थी ऊपर जाकर खूब आड़े हाथों ले। किन्तु; वह भले घर की लड़की है। कुलीन घर की सती साध्वी बहू है। उसका धर्म तो पति की इच्छानुसार चलना है !

मन का रोष दबाकर उसने नीचे से पुकार कर कहा—'क्या कुछ भी नहीं खाओगे ?'

तब कोई पाँच मिनट सोच-सोचकर महेश बाबू ने ऊपर से उत्तर दिया—रोटी तो खाऊँगा नहीं, हाँ, मूँग की दाल के चीले बना सको, तो खा लूँगा। रोटी तो भारी बैठेगी !'

मूँग के चीले ! कुसुम का मन खीज उठा। मानो मैं अन्तर्यामी हूँ कि इनके मन की बात पहिले से समझकर दाल भिगोये बैठी थी !...खैर दाल चक्की में पीसी गई, गरम पानी में फेंटी गई और जैसे-तैसे कुसुम ने सवा दस बजे तक चीले भी बना दिये।

साढ़े दस बजे महेश बाबू अपनी भारी भरकम तोंद को सम्हालते हुए बैंक चले, वह 'मोहनलाल-बैंक' के मैनेजर हैं।

काम-काज से बारह बजे तक निपटकर कुसुम खाने बैठी। परन्तु न जाने वह रोटी को खा रही थी या रोटी उसे।

'बहू जी रोटी !' बाहर से बसन्ती ने आवाज लगाई।

'अरी; भीतर आजा ! देती हूँ अभी, खाते-खाते कुसुम ने उसे बुलाया। जीवन के सूनेपन को वह लाचार निरीह कुसुम किसी तरह हल्का भी करे।

'जल्दी दे दो, बहूजी !' बसन्ती ने आँगन में घुसते हुए कहा।

'क्यों बिगड़ रही थी जमादार पर सबेरे-सबेरे ?' कुसुम ने पूछा।

और लो बसन्ती के मन का ज्वालामुखी फूट पड़ा :

'अरे बहूजी ! मेरी तो मिट्टी ख़राब हो गई इस मरदुए के साथ। कलमुँहा कहीं का ! काम का न काज का, ढाई सेर नाज का ! काम करते तो नानी मरती है ; हाँ शराब पीने को जुआ खेलने को दे दो। रात ही जज साहब की कोठी से चार रुपये मिले थे ; सो हरामी उन्हें लेकर रात भर ग़ायब रहा ! अब आया है ; फूँक-फाँककर चारों रुपये। पाँव अलग सूज रहा है। गिर पड़ा था नशे में कहीं, बस मोच आ गई। अच्छा हुआ !'—बसन्ती ने मन-ही-मन जैसे कलुआ की मोच से सन्तोष ग्रहण करते हुए कहा—मैं तो कहती हूँ एक टाँग टूट ही जाती, तो ठीक रहता...'

'मर ! हरामज़ादी कहीं की !' कुसुम ने ऊपरी क्रोध में कहा—शरम तो नहीं आती अपने आदमी को कोसते हुए ? लाख बुरा हो, है तो तेरा पति ही। किन्तु न जाने उस शराबी जुआरी जमादार को दी गई गालियों में कुसुम को इतना रस मिल रहा था, कि उसका मन होता था बसन्ती यों ही गालियाँ देती रहे ; देती ही रहे।

'ऐसे पति को दूर से सलाम'—बसन्ती ने टोकरी की रोटियाँ सहेजते हुए उत्तर दिया—कमाने खिलाने को तो पति नहीं है—मारने पीटने को, बदमासी फैलाने को पति है ! मैंने तोभी आज ऐसी-ऐसी सुनाई हैं कि धोए न छूटें। पर...वह तो पूरा बेसरम है—लाओ, बहूजी जल्दी करो !' उसने बीच में ही अपनी कथा बन्द करते हुए कहा—'देर हो रही है। रो रहा होगा भूखा ; मुआ ! बसन्ती की जान को...'

कुसुम ने रोटी दे दी, बसन्ती चली गई।

कुसुम सोचती रही ; आख़िर है तो यह भी स्त्री ! नीच हो, कमीन हो, पर है हिन्दू स्त्री ! मगर भई यह दबती नहीं ज़रा भी अपने मरद से ! मर्दमार औरत है बाबा।

धोबी कपड़े लेकर आ गया ; कुसुम धुलाई जोड़ने को उठी।

[२]

खिड़की की टूटी चिक में मुँह अड़ाये कुसुम मन लगाकर देख रही थी। पिछवाड़े के बड़े मैदान में कालिज के लड़के हॉकी खेल रहे थे। उसका मन उनकी गेंद के साथ-साथ दौड़ता फिरता था। काश वह भी लड़का होती ! कैसी शान से लाल कमीज़ और ख़ाकी निकर पहिन कर मैदान में दौड़ लगाती...वह चौंक गई। किसी ने पीछे से उसका कन्धा बड़े ज़ोर से झकझोर दिया। साथ ही महेश बाबू की भारी भरकम आवाज़ सुन पड़ी। कह रहे थे—हया-शरम तो तुमने सब घोलकर पीली है ! इस तरह आँखें फाड़े उधर क्या ताक रही हो ? क्या कभी लड़के नहीं देखे...?'

कुसुम ने एक झटके में सिर घुमा लिया और खिड़की से छिटक कर दूर आ रही। क्रोध क्षोभ और अपमान की तीव्र वेदना से उसकी आँखों में आँसू छलछला आये।

महेश बाबू ने वे आँसू देख न लिये हों, सो बात नहीं ; परन्तु कुसुम के नेत्रों की इन गंगा-जमुनी धाराओं से वह नित के परिचित थे। उनका कुछ मूल्य भी है, यह तो

वे भूल ही चुके थे। पहले की तरह ही गम्भीर स्वर में बोले—कुछ तो ख्याल रखा करो। इधर से हज़ार आदमी गुज़रते हैं; उनमें कितने ही मेरे साथ के मिलने-बैठनेवाले होते हैं; तुम्हें यों चिक में से झाँकने पाते होंगे, तो मन में क्या सोचते होंगे? भले घर की बहू-बेटियों का यों खिड़की-झरोखों में उलझने का क्या काम?—फिर चिक को हाथों से टटोलते हुए बोले—सुसरी टूट गई है एकदम। मुलुआ से कहना आज ही दूसरी मोल लाकर टाँगे। और हाँ, एक तरफ़ नीला कपड़ा भी लगवा देना। समझीं!

कुसुम सुनती रही। सुनती भी क्या रही, सन्देह से भरी विषमयी वाणी ने उसकी सारी चेतना ही समाप्त कर दी थी।

महेश बाबू चले गये। कुसुम वहीं दीवार के सहारे खड़ी रही बुत-सी; न जाने कब तक। नीचे से मुलुआ ने आकर कहा—बहूजी! बाबूजी के चार दोस्त आये हैं, खाना यहीं पर खायेंगे।

चार दोस्त! इतनी गरमी पड़ रही है, जैसे-तैसे अभी आध घण्टा हुआ वह रसोई बनाकर छत पर आई थी कि फिर चलकर चूल्हे में सिर देना होगा!...धीरे-धीरे सीढ़ियाँ उतरकर कुसुम रसोईघर में चली गई।

उस रात नींद नहीं आई कुसुम को। 'क्या कभी लड़के नहीं देखे?' ओ! जैसे आप हैं, गली-गली झक मारते फिरते हैं: वैसा ही दूसरे को भी समझते हैं? कैसा नीच हृदय है! सन्देही—कि ओ, दाँतों से जीभ दाब ली कुसुम ने, 'छी; मैं क्या सोच गई? जैसे भी हैं, हैं पति ही', मन के विचार हटाने को वह मायके की बातें सोचने लगी, अच्छा मुन्नू कितना बड़ा हो गया होगा? भाभी के इस बार लड़की ही होगी—यही सब, रात बीत गई। दिन की वही दिनचर्या। बारह बजे रोटी खाकर पान लगाने जा रही थी कि बसन्ती की पुकार सुन पड़ी—'बहूजी! रोटी।'

'ले!' उदास मुख से कुसुम ने रोटी लाकर उसके पल्ले में फेंक दी। आज किसी से बोलने को भी मन नहीं हो रहा था उसका; कि बसन्ती ने कहा—बहूजी! तनिक-सी तरकारी हो तो दे दो; आज यहीं रोटी खाकर जाऊँगी। घर एक टुकड़ा तो लेकर जाउँगी नहीं। समझा क्या है उस नासपीटे ने मुझे? बाक़ी रोटी गाय को ही खिलानी पड़ें...मगर उसके लिए न ले जाऊँगी...'

'क्यों? क्यों? आख़िर इतनी कड़ी सज़ा क्यों दे रही है बेचारे को?' कुसुम ने उसे खिजाने को भोलेपन से कहा—'वह तो बड़ा सीधा है।'

'सीधा!' बसन्ती के जैसे जलता अंगारा छू गया। 'ऐसे सीधे के मुँह पर सात झाड़ू और हुक्के का पानी। हरामी! जैसा आप बदमास है, वैसा दूसरे को भी समझता है। आप तो गली-गली झक मारता फिरेगा; और मुझे किसी से हँसते-बोलते भी देखेगा, तो जलभुन जायगा! फिर इसे सरम न आई; किस गऊ आदमी के साथ मुझे ऐब लगा रहा था। कमीना, सुअर...

'अरी ठीक से बता'—कुसुम ने अधीर होकर कहा—किससे लगा दिया तुझे ऐब, गालियाँ पीछे ही दे लीजो।

'अरे बहूजी !' इस बार बसन्ती ने स्वर नीचा करके फुसफुसाते हुए कहा—वह है न। गली के नुक्कड़वाला मकान ; हरा दरवाजा है जिसका। उसमें जो बाबू रहते हैं ; भला-सा नाम है उनका—हाँ-हाँ—बैजनाथ ; जिनकी बहू पिछले महीने आपा करने पीहर गई है ; उन्हीं के साथ। बेचारे कैसे भले हैं ; महीने के पैसे दे रहे थे ; सुभाव तो उनका हँसमुख है ही। बस पूछने लगे इसी मरे कलुआ के हाल-चाल, और बहूजी झूठ क्यों बोलूँ, मुझे भी इसकी कथा कहते-सुनते ज़रा देर लग गई। इसने कहीं देख लिया कि मैं बड़ी देर में उस घर से निकली हूँ। बस कहने लगा—'जब ऐसे-ऐसे बाबुओं की आँखों में चढ़ी है, तो ग़रीब कलुआ क्यों पसंद आवेगा !' आग ही लग गई मेरे तन में। जी में तो आई थी, खींचकर झाड़ू मारूँ मरे को पर गम खा गई कि जाने दो...क्या मरद पै हाथ छोड़ना। जैसा आप है। बदमास, जुआरी—अरे करना होगा, तो इसकी दबैल बसी हूँ बसंती बिना रुके कहती गई—बराबर से दूना काम करती हूँ। साथ ही गिरिस्ती सम्हालती हूँ। क्यों डरूँ इससे ? कौन-सा पलंग पर बैठा कर खिला रहा है जो ऐसी बातें सुनूँ। फिर सच हो, तो आदमी सुन भी ले।

'अच्छा तू रोटी तो खा' कुसुम ने रोटी पर अचार की फाँक डालते हुए कहा—मर्द के मुँह नहीं लगा करते। हम क्या काम नहीं करतीं ? हमें भी तो तेरे बाबूजी उल्टी-सीधी सुना डालते हैं ; तो क्या तेरी तरह सिर फोड़ने लगें ?

'भला बहूजी ; हमारी आपकी बराबरी क्या ? फिर बुरा न मानना बहूजी ! घर के काम को मर्द काम थोड़े ही समझते हैं, वह तो अपने घर का ठैरा. रोटी तो आपकी जात में मर्द ही कमाते हैं, फिर जो खिलाता है, उसकी दो बात भी सुनी जाती है। मैं क्यों सुनूँ इस मरे की बातें,' उसने अंतिम ग्रास निगलते हुए कहा—लाओ बहू पानी पिलवा दो।

कुसुम ने दूर से पानी पिला दिया।

'भगवान तुम्हें चाँद-सा बेटा दे,' कहते-कहते बसंती ने बाकी बची रोटियाँ वहीं गाय की नाद में डाल दीं फिर चली गई। कुसुम उसे मना नहीं कर सकी कि तू क्यों डाल रही है ! कलुआ को वह न जानती हो, सो बात नहीं। निकम्मा, आलसी, जुआरी, शराबी सारे ही ऐब हैं उसमें। दो बरस में ही सोने-सी बसन्ती को मार-मारकर उसने पंजर बना दिया है, गाँव से जब ब्याह कर लाया था तब कैसी तगड़ी थी, लाल-लाल चकोतरे-सी। सींक मारो खून चूता था। और स्वयं कुसुम। वह भी तो खिले गुलाब-सी थी तब। तभी तो गौना होकर आया था उसका भी। वह तो बसन्ती से भी गई-बीती हो रही है ! बसन्ती के तो दो बालक भी होकर मर लिये, फिर भी कुसुम से अच्छी लगती है। तिस पर दिन-रात हाय-हाय रहती है उसकी जान को !...परन्तु उसकी और कुसुम की बराबरी क्या। फिर कलुआ और 'वे' बराबर हो जायेंगे ! राम ! राम !—परन्तु इस राम-राम में कोई तथ्य नहीं था।

[३]

ऐसे ही गरमियाँ बीत गईं। कुसुम आजकल बीमार रहती है। डाक्टर ने यक्ष्मा के लक्षण बताये हैं। इलाज में किसी तरह की कमी नहीं है, एक दाई कुसुम की दवा-दारू, पथ्य-पानी के लिए ही रक्खी गई है। किन्तु, कुसुम मुरझाती ही जा रही है प्रतिदिन। उसकी इच्छा होती है यहाँ से दूर, बहुत दूर चली जाय, जहाँ यह दिखावे की सेवा, टहल, परवाह कुछ भी न हो। पर कहाँ छुटकारा है उसे। पीहर तक भेजना तो पसन्द नहीं करते महेश बाबू।

उस दिन कुसुम की तबीयत ज़रा सुधरी जान पड़ती थी। गरम पानी से नहाकर, शाल लपेटकर वह ऊपर चली गई। धूप में पलंग बिछवाकर लेट गई।

ज़रा-सी आँख झपकी थी कि गली के कोलाहल से उसकी नींद उचट गई। धीरे-धीरे उठकर बैठी हो गई। वहाँ झाँककर मुण्डेरी से देखा तो अद्भुत दृश्य था: कलुआ बसन्ती का झोंटा पकड़े गली में घसीट रहा था और बसन्ती उच्च स्वर में रोते-रोते कह रही थी—नासपीटे! बाल छोड़ दे! नहीं तो आज तेरी सारी पत उतारकर रख दूँगी। छोड़ दे; छोड़ दे, अरे कसाई...'

कलुआ ने उसकी पीठ पर एक घूसा जमाते हुए कहा—कसाई की बच्ची! आज या तो तू ही है, या मैं ही। तू कैसे गई? मेरे मना करने पर भी कैसे रह गई वहाँ? रात बुलाने गया तब भी नहीं आई! कौन दम निकल रहे थे तेरी मौसी के? तू कौन-सी वैद्य की नानी है, जो उसे चंगा करने को रह गई?...

'हाँ; हाँ; अच्छी रही! किसी गैर के रही थी? अपनी मौसी के घर ही तो थी। तू जो 'नील के कटरे' में रात-रात भर पड़ा झक मारता है; वह तेरी कौन लगती है? अम्मा, बहिन, के लुगा...' और कुसुम का कलेजा थर्रा गया, कलुआ ने बसंती के बाल छोड़कर दोनों हाथों का एक दुहत्थड़ उसकी पीठ पर जमा दिया—'साली लुच्ची! बराबर जबान चलाती है!'

गली में भीड़ जमा थी, पर कोई उसे मना करनेवाला नहीं था। मना कौन करे? उसकी स्त्री—उसका माल—मारे या छोड़े। कुसुम की इच्छा हो रही थी इस समय यदि कोई कलुआ के दो चार हाथ जमा देता?...धाँय, धाँय, धमाधम कलुआ के हाथ बरस रहे थे।

'अरी मैया री!' बसंती चीत्कार कर उठी। फिर अकसमात उसने पास पड़ी टोकरी के तले से झाड़ू खींच ली, उसे घुमाते हुए बोली—मैं लुच्ची हूँ? अच्छा रे अच्छा! बस; सीधे-सीधे अपना रास्ता ले, आज से तेरे साथ रहूँ, तो अपने बाप की नहीं। बहुत निभाया; बहुत सहा अब नहीं सहूँगी।'

कलुआ फिर मारने को लपका ही था कि उसने झाड़ू तान कर कहा—हाथ लगाया तो सच कहती हूँ झाड़ू मारूँगी खींचके! आज तक मारा नहीं था; गाली तक ही बस थी, पर अब नहीं रुकूँगी।

'ठहर हरामजादी !' कलुआ ने उसकी गरदन पकड़ी ही थी कि बसंती ने झाड़ू उसके मुँह पर दे मारी। तिलमिला गया कलुआ, मुँह पर रक्त की कई खरोंचें खिच गई... लड़खड़ाकर दीवार पकड़ ली उसने।

नाच उठा कुसुम का मन। भूल गई वह कि कलुआ को किसने मारा है ; उसकी ही पत्नी ने। कलुआ बसन्ती की कमर से लिपट गया, और बसन्ती लात-घूँसे चलाती उसके चंगुल से छूटकर भागी। एक साँस भागी...

कुसुम इतनी देर तक खड़े रहने से थक गई थी ; शान्त होकर उसने शैया की शरण ली।

× × ×

उसी दिन दिन भर पाखाना गन्दा पड़ा रहा। सफाई करने न तो बसन्ती ही आई, न कलुआ ही।

दूसरे दिन कोई ग्यारह बजे कलुआ आया, तो कुसुम ने झल्लाकर कहा—वाह जमादार, कल दोनों समय नहीं आया ? आज भी दुपहरी चढ़ा दी। मारे बू के दिमाग सड़ा जाता है। तुम लोग भी बस लातों के भूत हो।

कलुआ ने नाक के स्वर में मिनमिनाकर कहा—क्या बताऊँ बहूजी ! इस हरामजादी बसन्ती के मारे परेसान आ गया हूँ। कल से गायब है, सो अब तक नहीं आई। रात भर उसी की तलास में रहा। सवेरे पता चला है कि अपने मामा के घर चन्दनपुर भाग गई है। साली ऐसी औरत तो कहीं देखी ही नहीं। अबकी पकड़ पाऊँ, तो नाक काटकर छोड़ूँगा। देखो न ! सवेरे से लग रहा हूँ, पर अभी तक इस मोहल्ले के सारे घर पड़े हैं। दुखी कर दिया इसने मुझे। कुसुम ने आगे नहीं सुना ; कलुआ से पानी देने को कहकर भीतर चली गई। कलुआ की परेशानी वह जानती थी। बच्चू को एक दिन सारा काम सम्हालना पड़ा, तो आकाश के तारे दिख गये हैं।...बसन्ती भाग गई। अब शायद न आवेगी ? अरे, इनका क्या ; नीच जात ठहरी और कर लेगी। कमीन के काम क्या। परन्तु बसन्ती बदमाश नहीं है। इसे कुसुम अच्छी तरह जानती है। गाली बकने की आदत भी पहले उसमें नहीं थी, कलुआ की मार-पीट से ही उसकी ज़ुबान खुल गई थी। बहुत देर तक वह बसन्ती की बातें सोचती रही।...

फिर कुसुम ने सुना, बसन्ती ने आने से इनकार कर दिया, कलुआ ने पञ्चायत भी की, परन्तु कुछ न हुआ। बसन्ती की देह पर पड़ी मारों के चिन्हों ने उसके विरुद्ध सबसे बड़ी गवाही का काम किया। पञ्चों ने फ़ैसला दिया— 'कलुआ ! जबरदस्ती से कोई लाभ नहीं। हम इसे तेरे साथ कर भी दें, तो भी यह दो दिन बाद भाग जायगी। तू कब तक पहरा देगा ? अपना जेवर-कपड़ा तू ले ले ; और आज से तुम्हारी उसकी छुटा-छुटौवल समझी जायगी।'

सो छुटा-छुटौवल हो गई। गहना-पाता बसन्ती के पास था ही क्या ? ब्याह का पुराना सनी का जोड़ा और हाथ-पाँव के काँसे के कड़े। उन्हें उसने पञ्चों के सामने

ही कलुआ के आगे पटक दिया था। तीसरे दिन बसन्ती फिर मोहल्ले में दिखाई दी। काली छींट का लँहगा और उस पर गुलाबी रंग का नया दुपट्टा पहने वह गुलाब के फूल-सी निखरी-निखराई; नई झाडू पंजर लेकर अपने ठिकानों पर आ पहुँची। यह मोहल्ला उसने ही पारसाल एक भंगी से खरीदा था। कलुआ चेष्टा करके भी उसे मोहल्ले से हटा न सका। फिर लेता भी किस बूते पर? सदर बाजार की सड़क और जज साहब की कोठी ही उससे सम्हलती न थी।

'राम राम बहूजी! कैसा जी है?' बसन्ती ने कुसुम की सींक-सलाई-सी देह देखकर सहानुभूति से पूछा।

'अच्छा ही है।' कुसुम ने एक सूखी मुस्कराहट मुख पर लाकर कहा—न सावन सूखे न भादों हरे। फिर रुककर बोली—अरी, आज तो जवानी तेरे ही हिस्से पड़ी है। दस ही दिनों में तेरे पर रंग आ गया! किसने सिला दिया यह जोड़ा?

'सिलाता कौन बहूजी! मैंने ही हरिया से चार रुपये उधार लेकर बनवाया है। उँह सो कुछ नहीं, इस महीने में ही पाट दूँगी। अब कौन जुआ खेलनेवाला मेरे पल्ले बँधा है, जो पैसा न बचेगा। अब तो अपना कमाना अपना खाना।'

बसन्ती के नेत्र आत्मविश्वास की दृढ़ता से चमक उठे। फिर जरा थमकर बोली—तुम तो आधी भी नहीं रहीं। क्या होता जा रहा है?

'कुछ नहीं री, कर्म-रोग है, मेरे साथ ही जायगा।' कुसुम ने मुस्कराकर उत्तर दिया।

'राम राम; बहूजी! कैसी बातें करती हो, भगवान चाहेंगे, तो जल्दी ही चंगी हो जाओगी।'

कूड़ा लेकर बसन्ती चली गई। कुसुम सोचती रही, 'भगवान चाहेंगे? भगवान तो बहुतेरा चाहें परन्तु मैं तो नहीं चाहती न! क्या सुख है जीने में। उनके गले की फाँसी बनी पड़ी हूँ। लाचार मजबूर सात फेरों की लाज निभा रहे हैं। पर मुझे कहीं भेज भी तो नहीं देते...नाक जो कट जायगी और मैं भी कहाँ जाऊँगी? कुलीन घर की बहू का स्वर्ग तो उसके पति का घर ही है। पति ही उसके देवता हैं...देवता! एक अव्यक्त घृणा... आन्तरिक विरक्ति से उसका मन भर उठा। शराबी, जुआरी, वेश्यागा...ओ!' कुसुम का माथा भिन्ना गया।

न जाने कब कुसुम की आँख लग गई।

[४]

बसन्ती ने दूसरा घर कर लिया। खूब देख-भालकर उसने इस बार हरिया का हाथ पकड़ा है। कोई ऐब नहीं है हरिया में। सुखी है बसन्ती अब। हरिया से झगड़ती भी नहीं। मजे में दोनों आकर मोहल्ला साफ करते हैं। दोनों मिलकर सड़क झाड़ते हैं। हर-दम साथ-साथ फिरते हैं। कुसुम को भी सुख ही होता है यह देखकर। बसन्ती को वह

लाख बुरा, नीच और कमीन कहना चाहे, परन्तु उसका मन वसन्ती को वैसा समझना ही नहीं चाहता। बसन्ती के दूसरा घर कर लेने पर भी वह उससे पहले-सा ही नेह करती है।...

'तुम इन कमीनों से इतना क्यों घुलती-मिलती हो ?'—महेश बाबू ने अन्त में एक दिन कह ही तो दिया—इस हरामजादी बसन्ती को तो देखकर ही मेरी देह में आग लग जाती है। इन जैसियों ही ने तो भारतवर्ष को रसातल पहुँचा दिया है! मरे पर तो खैर इनकी जात में दूसरी जगह बैठ ही जाते हैं; इसने जीते को छोड़कर दूसरा कर लिया! ऐसी दुष्टाओं से तो दूरी ही भली। उस दिन बेचारा कलुआ रो रहा था; उसकी तो दूसरी लुगाई भी मालमता लेकर भाग गई।'

'बेचारा कलुआ!' कुसुम के मुख पर एक विरक्तिमयी मुस्कान खेल गई। 'बड़ा बेचारा! बसन्ती के रहते उसने हजार घर झाँके, उसके जाते ही दूसरी ले आया—क्या कहते हैं बेचारगी क...'

मुँह फेरकर वह लेट रही। महेश बाबू की बातें उसे अब जाने क्यों विष-सी लगती हैं।

महेश बाबू बाहर चले गये। इस कंकाल-मात्र नारी-मूर्ति के पास बैठते उन्हें भी बड़ी विरसता लगती है। जाने कब भगवान उसे छुटकारा देंगे।

पर—उस दिन से कुसुम ने बसंती से बोलना कम कर दिया। बसंती भी इधर कम आती थी, वह कुछ दिनों से बीमार थी न; तब भी जिस दिन वह गाँव जा रही थी, उसी दिन बहुत देर तक अपनी दयालु बहूजी के आँगन में बैठकर उसके स्वास्थ्य के लिए भगवान के हाथ जोड़ गई थी।

× × ×

सब चुपचाप थे। एक सूई भी गिरती तो पता लग जाता। वैद्यजी कुसुम की नब्ज पकड़े गम्भीर मुख किये खड़े थे। कुसुम की दशा आज बहुत खराब थी। दाई ने मुँह खोलकर चंद्रोदय की एक खुराक उसके मुँह में टपका दी। एक फुरहरी-सी आ गई उस हड्डियों के ढाँचे में। कुछ क्षण बाद कुसुम ने आँखें खोल दीं...मानो किसी को खोज रही हों, इस भाव से वह बारी-बारी से अपने चारों ओर ताकने लगी।

'कुसुम!' महेश बाबू ने पलंग पर झुककर कहा—कैसा जी है?

'आ गई?' कुसुम ने उनके प्रश्न का उत्तर न देकर क्षीण स्वर से प्रश्न किया।

'हरिया गया है।' महेश बाबू ने उत्तर दिया। उनकी आँखें रात भर जागने से मुँदी पड़ती थीं।

'राम, राम बहूजी!' हठात् द्वार पर से बसंती का स्वर सुन पड़ा।

'बसंती! आ गई तू!' कुसुम के मुख पर सजीवता दौड़ गई।

'बहूजी!' अपनी मालकिन की दशा देखकर बसंती की रुलाई फूट पड़ी। ओढ़नी के छोर से उसने आँसू पोंछ डाले।

'कहाँ है री तेरा नंदलाल ?' कुसुम ने मुस्कराकर पूछा। बुझते हुए दीपक की लौ की भाँति ही कुसुम उस समय चैतन्य हो उठी थी।

बसंती ने मुड़कर हरिया की गोद से एक नन्हें से बालक को लिया और द्वार के बीच लिटा दिया।

सद्य: विकसित कमल-सा मुख, गुलाब की पँखड़ी-से ओंठ, मक्खन-सी कोमल देह और गदराये आम से भरे-पूरे नन्हें-नन्हें हाथ-पाँव थे उस भंगी के शिशु के।

जीवन की समस्त प्यास आँखों में भरकर कुसुम देखने लगी। बालक रोया... 'हुआ, हुआ...'

'उठा ले इसे बसंती ! फ़र्श ठण्डा लगता होगा ?'

'न कहीं बहूजी ! घर भी यों ही पड़ा रहे है !'

'नंदलाल !' कुसुम ने चुटकी बजाने की व्यर्थ चेष्टा करके उसे पुकारा—मुन्ने ?

फिर तकिये के नीचे से एक रुपया निकालकर उसकी ओर फेंका। इतने ही श्रम से वह क्लान्त हो पड़ी थी।

'बहूजी !' बसंती की छाती रुलाई से फटी पड़ती थी—अब जल्दी से अच्छी हो जाओ !

कुसुम मुस्करा पड़ी। फिर धीरे-धीरे उसके नेत्र आप ही मुँदने लगे। वह संज्ञाहीन हो चली।

★

शरत् और समाज

●

[भीष्म साहनी]

इस विषय पर मतभेद है कि साहित्य किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए साधनमात्र है या वह स्वयमेव साध्य है, अपने आप में ही परिपूर्ण है। पर इस सवाल पर मतभेद न होगा कि किसी साहित्यिक ग्रन्थ का मूल्य हम कला की कसौटी पर ही परखते हैं। यदि कोई उपन्यास किसी धार्मिक या सामाजिक उद्देश्य को लेकर लिखा गया हो तो वह एक प्रचार रचना (Pamphlet) बन जाएगा। आधुनिक उपन्यासकार अपनी रचनाओं में सामाजिक समस्याओं को अधिक महत्त्व देते हैं। मनुष्य-समाज जिन नियमों की आधार-शिला पर सदियों से खड़ा था, वह आज कई कारणों से हिलने लगी है और समाज दूसरी आधार-शिला की खोज में बेचैन है। कोई भी लेखक इस बेचैनी की ओर से अपनी आँखें बन्द नहीं कर सकता। वह नये नियमों की खोज या पुराने नियमों का विवेचन अपना कर्तव्य समझता है और समाज को उनके प्रति चेतावनी देना भी। इसकी सब से बड़ी प्रेरणा उसे विज्ञान से मिलती है, जिससे प्रभावित होकर उसकी विश्वास 'विधि'

और 'भावी' से हटकर मनुष्य की बौद्धिक शक्ति पर आ गया है, और इसी बौद्धिक शक्ति में सामाजिक समस्याओं का हल भी वह देखता है। इसलिए वह अपनी रचनाओं में सामाजिक प्रश्नों को एक महत्त्वपूर्ण स्थान देता है। लेकिन साथ ही वह यह भी चेष्टा करता है कि कला की कसौटी पर भी उसकी रचना पूरी उतरे, उसकी रचना में साहित्यिक विशेषता भी हो। इसलिए आजकल बहुधा उसी साहित्यिक रचना को अच्छा माना जाता है जो सामाजिक और साहित्यिक दोनों माँगों को विशेषतया पूरा करे।

सामाजिक माँग साहित्यकार बहुधा दो प्रकार से पूरी करता है—एक तो युक्ति द्वारा और दूसरा भावना द्वारा। एक साधन तो यह है कि लेखक कहानी को केवल आधारमात्र मानकर युक्ति, तर्क-वितर्क, व्याख्या इत्यादि द्वारा स्पष्टतया सामाजिक प्रश्नों का विवेचन करे। दूसरा साधन भावना का है। वह यह कि सामाजिक विचार कहानी में निहित हों और कहानी की गहराई उन विचारों की गहराई का अनुभव कराये। कला का क्षेत्र मुख्यतया भावना का क्षेत्र है, कला भावना द्वारा सत्य का अनुभव कराती है, युक्ति द्वारा नहीं। इस साधन का उपयुक्त उदाहरण हम पैरेबल (parable) को ले सकते हैं जो साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। पैरेबल में शिक्षा या विचार निहित रहते हैं। जितनी पैरेबल रोचक और गम्भीर होगी उतना ही उसकी शिक्षा अधिक प्रभावित करेगी। संसार के कई एक कलाकार इस साधन का प्रयोग करते आये हैं। लेकिन पैरेबल के निहित विचार सामाजिक प्रश्नों पर या सामाजिक समस्याओं के सुलझाव पर एक प्रबल संकेत कर सकते हैं, उन्हें प्रमाणित नहीं कर सकते। उनका स्पष्टीकरण भावुक होता है, बौद्धिक नहीं।

शरत् अपने साहित्य को केवल साधनमात्र मानकर उसका क्षेत्र संकुचित नहीं कर देते। उन्होंने अपनी कहानियों द्वारा किसी सामाजिक विधान की व्याख्या या प्रचार नहीं किया। अधिकतर वह सामाजिक प्रश्नों के तर्क-वितर्क में नहीं पड़ते, यदि पड़ते भी हैं तो सामाजिक गुत्थियाँ सुलझाने के लिए नहीं, उनकी गम्भीरता की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करने के लिए। इसलिए कुछ-एक रचनाओं को छोड़कर ('नारी का मूल्य', 'पथ के दावेदार', 'ग्रामीण समाज', 'श्रीकान्त' इत्यादि) समाज सम्बन्धी विचार उनकी कहानियों में निहित रहते हैं, युक्तियुक्त नहीं होते।

लेकिन साहित्य जाति-जीवन का दर्पण है, सामाजिक जीवन की भीतरी धाराएँ जिस व्यवस्था की सृष्टि करती हैं, साहित्य में उसका प्रतिबिम्ब अवश्य पड़ेगा। जाति-जीवन यदि व्यथित और दुःखपूर्ण हो तो कोई सचेत लेखक उसका चित्रण किये बिना नहीं रह सकता, विशेषकर जब वह स्वयं उस दुःख का शीघ्र ही अन्त देखना चाहता हो। शरत् यथार्थवादी थे और साथ ही रूढ़ियों और प्रथाओं के प्रति विद्रोह का भाव रखते थे, जिनके द्वारा जाति-जीवन दुःखमय हो रहा है। इसलिए इस दुखमय जीवन का चित्रण शरत् की रचनाओं में हम पृष्ठ-पृष्ठ पर पाते हैं।

शरत् की सारी कहानी एक मृतप्राय पददलित जाति की कहानी है। जीवन के

'स्वस्थ, संयत और शुद्ध बुद्धि' ऐसे नियमों का निर्माण कर लेगी जो जाति सुख के लिए आवश्यक होंगे।

पर जाति-जीवन में वास्तविक सुधार तभी होगा जब स्त्री को इस हीन अवस्था से निकालकर उसे सामाजिक जीवन में यथोचित सम्मान का स्थान मिलेगा। इसलिए आवश्यक है कि पुरुष-स्त्री सम्बन्ध में आमूल परिवर्तन हो। पुरुष स्त्री को अपनी सम्पत्ति या दासी न समझकर अपने जीवन का समयोग्य अंग माने, उसमें स्त्री के प्रति स्वामित्व के स्थान पर न्याय और सम्मान की भावना हो। और इस भावना का क्रियात्मक रूप यह हो कि स्त्रियों से बलात् सहयोग किसी काम में भी न लिया जाय। पुरुष और स्त्री दोनों के अपने-अपने स्वभाव और योग्यता के अनुसार कर्मक्षेत्र निश्चित हो जायँ और उनमें दोनों को 'न्यायोचित स्वाधीनता' हो। पुरुष अपनी स्वाधीनता को इतनी दूर तक खींचकर न ले जा सके, जहाँ कि वह नारी की तुल्य स्वाधीनता पर आघात करे। लेकिन साथ ही शरत् का यह भी मत था कि स्त्री को एकदम अबाध स्वाधीनता न मिले, 'समस्त शृंखलाओं से उसे एकदम मुक्त न कर दिया जाए' क्योंकि 'ऐसा करने से तो अमेरिका की स्त्रियों की-सी दशा हो जाएगी। अमेरिकन स्त्रियों की अबाध स्वाधीनता उच्छृंखलता में परिवर्तित हो गई है...इसलिए कुछ शृंखलाओं की भी आवश्यकता है।' शिक्षा इत्यादि के क्षेत्रों में स्त्री को पूर्ण स्वाधीनता हो। प्रत्येक स्त्री को सुशिक्षित होने का पूरा अवसर मिले और वह अपनी योग्यता के अनुसार सामाजिक कामों में भी हाथ बटाये।

बालिका-विवाह को वह एक घृणित प्रथा मानते थे, लेकिन सौभाग्य से अब सरकारी कानून द्वारा इसका लोप हो रहा है। पर इससे भी घृणित प्रथा जिससे छोटी लड़कियों का बूढ़ों के साथ विवाह हो जाता है, शरत् उखाड़ फेंकना चाहते थे। इसके अलावा एक-विवाह (manojomy) के नियम को वह सर्वोत्कृष्ट मानते थे और उसका पालन पुरुष और स्त्री दोनों से एक जैसा करवाना चाहते थे। 'एक-विवाह का नियम जो स्त्रियों के यथार्थ सम्मान का आधार है और जो नर-नारी का एक मात्र प्रकृत तथा स्वाभाविक बन्धन है' इस समाज में पुरुष और स्त्री दोनों के लिए बाध्य होना चाहिए। इससे पुरुष को अधिकार न होगा कि वह एक स्त्री के होते हुए दूसरा विवाह कर सके।

गृहस्थ-जीवन का अटूट बन्धन वह प्रेम को मानते थे जिसे वह 'मधुर रस' का नाम देते हैं। कानूनी बन्धन चाहे वह धर्मशास्त्रों से लिये गये हों, चाहे समयानुसार गढ़े गये हों, इतने अटूट नहीं होते जितना स्वाभाविक प्रेम का बन्धन। पुरुष का नारी के प्रति और नारी का पुरुष के प्रति स्वाभाविक आकर्षण प्रेम है, और यह प्रेम जितना निर्मल, निःस्वार्थ और गहरा होगा, गृहस्थ-जीवन में उतनी ही अधिक मधुरता आयेगी। इस प्रेम की आत्मा आत्म-समर्पण में है। गृहस्थ-जीवन पुरुष और स्त्री के एक दूसरे के प्रति अधिकारों पर आश्रित नहीं, कर्तव्यों पर आश्रित है और यह कर्तव्य निःस्वार्थ श्रद्धा सिखला देती है। नारी और पुरुष में एक दूसरे के प्रति श्रद्धा और सम्मान का होना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इसी से निर्मल प्रेम का प्रादुर्भाव होता है।

वैधव्य के प्रति शरत का दृष्टिकोण एक भावुक धारणा पर अवलम्बित था। वह मानते थे कि आजीवन वैधव्य की प्रथा एक असत्य पर खड़ी की गई है। प्रेम नारी-जीवन का प्राण है, नारी-जीवन की पूर्णता और परितृप्ति प्रेम से है, इससे उसे वञ्चित रखना नारी-जीवन को सर्वथा निरर्थक बना देना है। इसलिए आजीवन वैधव्य, विशेषकर उन बाल-विधवाओं का, जो निःसन्तान हैं, एक अस्वाभाविक और अप्राकृतिक प्रथा है। छोटी अवस्था में पति के मर जाने से स्त्री की प्रकृति बदल नहीं जाती। उसे जीवन भर वैधव्य में बाँधे रखना अत्याचार है। इस धारणा को शरत अपनी एक कहानी में एक पति-पत्नि की चिट्ठी-पत्री द्वारा स्पष्ट करते हैं :

'मनोरमा ने (अपने पति को) लिखा : 'तुम ठीक कहते हो—स्त्रियों का कोई विश्वास नहीं। मैं भी अब यही कहती हूँ क्योंकि माधवी ने मुझे यह सिखला दिया है। मैं उसे बाल्यावस्था से ही जानती हूँ, इसलिए उसे दोष देने को जी नहीं चाहता—साहस नहीं होता। समस्त स्त्री-जाति को दोष देती हूँ—विधाता को दोष देती हूँ कि उन्होंने क्यों इतने कोमल और जल के समान तरल पदार्थ से नारी का हृदय गढ़ा था ? इतना प्रेम ढालकर हृदय गढ़ने के लिए किसने उनकी खुशामद की थी ? उनके चरणों में प्रार्थना है कि हृदयों को तुच्छ और कठोर बनाया करें...।'

'स्वामी ने उत्तर में लिखा : 'जिसके पास रूप है वह दिखलाएगा ही। जिसके पास गुण है वह प्रकाश करेगा ही। जिसके हृदय में प्रेम है, जो प्रेम करना जानता है, वह प्रेम करेगा ही ! माधवी लता रसाल वृक्ष का अवलम्बन करती है, संसार की यह रीति ही है, इसमें तुम और हम क्या कर सकते हैं...'

'मनोरमा ने लिखा : 'मुँहजली माधवी ! विधवा को जो नही करना चाहिए उसने वही किया। उसने मन ही मन और आदमी के साथ प्रेम किया है।'

'पत्र पाकर मनोरमा के स्वामी मन ही मन हँसे। उसके बाद उन्होंने लिखा : '...तुम क्या जानो कि तुम मुझे चकित नहीं कर सकी हो। मैंने एक बार एक लता देखी थी। वह कोई आध कोस तक लगातार जमीन पर रेंगती-रेंगती एक वृक्ष पर चढ़ गई थी। अब उसमें न जाने कितने पत्ते और कितनी पुष्प-मञ्जरिया हैं। जब तुम यहाँ आओगी तब हम दोनों उसे देखने चलेंगे।'

'मनोरमा ने नाराज होकर इस पत्र का कोई उत्तर नहीं दिया।'

केवल इसी भावुक धारणा के आधार पर ही कि प्रत्येक नारी का जीवन पुरुष का अवलम्बन लेकर ही सुखी और परिपूर्ण हो सकता है, वैधव्य की प्रथा निन्दनीय नहीं। एक अल्पायु लड़की के विधवा हो जाने पर उसके सारे भविष्य को लक्ष्यहीन कर देना, और उसे निरुपाय और निराश्रय द्वार-द्वार की भीख पर छोड़ देना, मानव-जीवन के प्रति अक्षम्य अपराध है। केवल दुःख भोगने में ही नारी-जीवन की चरम सार्थकता नहीं। वही स्त्री दूसरी गृहस्थी बसा कर समाज के लिए और अपनी सन्तान के लिए एक अधिक उपयोगी जीवन बिता सकती है, और जाति का एक स्वस्थ अंग बनकर रह सकती है।

जाति-सुधार के सम्बन्ध में शरत् के यह विचार थे। लेकिन यहाँ तक पहुँचकर शरत् रुक जाते हैं। वांछित आदर्श अवस्था में स्त्री-पुरुष सम्बन्ध का कौन-सा सामाजिक आधार होगा, और उसके स्थापनार्थ कौन-कौन से नियमों का अनुष्ठान आज जरूरी है, यह शरत् बाबू निश्चित नहीं कर पाते। सामाजिक जीवन में कौन-से कार्य स्त्री के होंगे और कौन-से पुरुष के; नारी को 'न्यायोचित स्वाधीनता' देते हुए कौन-सी शृंखलाएँ तोड़ी जाएँगी और कौन-सी वैसी की वैसी रहने दी जाएँगी; आदर्श समाज में स्नेह बन्धन के अलावा नारी सम्मान की रक्षा के लिए कौन-कौन से नियमों का होना जरूरी है—इन प्रश्नों का उत्तर शरत् स्पष्टतया नहीं देते। शायद इस लिए कि इन प्रश्नों का उत्तर देना वह एक साहित्यिक का काम नहीं समझते। आवश्यक नियमों की युक्तियुक्त व्याख्या और प्रचार का स्थान कहानी या उपन्यास नहीं बल्कि समाज-ज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थ हैं। दूसरे शायद इसलिए कि वह सबसे बड़ा परिवर्तन दृष्टिकोण के परिवर्तन को मानते थे। जब पुरुष स्त्री को अपनी सम्पत्ति न मानकर उसे अपने सम्मान का पात्र मानेगा तो स्वयं व्यावहारिक जीवन में भी परिवर्तन आएगा और परिस्थिति के अनुसार नियम बनने शुरू हो जाएँगे।

लेकिन दरअसल वह यहाँ पहुँचकर एक दुविधा में पड़ जाते हैं, उनके मन में एक विकट संघर्ष पैदा होता है। एक ओर से उन्हें विचारों की स्वाधीनता खींचती है, दूसरी ओर से उनके जीवन-गत संस्कार, हिन्दुत्व का प्रेम और बौद्धिक संशय आगे नहीं बढ़ने देते। इसलिए अबाध विधवा-विवाह और तलाक़ तक के बारे में वह अपने विचार निश्चित नहीं कर पाते। और इसीलिए इस प्रकार के वाक्य कि 'पाठकों को यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि हम तलाक़ को कोई अच्छी बात बतला रहे हैं।' और 'हम यहाँ यह प्रश्न नहीं उठावेंगे कि विधवा-विवाह अच्छा है या बुरा' जगह-जगह पर मिलेंगे। एक स्थान पर तो स्पष्टतया उन्होंने यह भी कह दिया कि 'पति स्त्री का एक मात्र देवता हो सकता है कि नहीं इस विषय में अपना मतामत छापे के अक्षरों में प्रकट करने का दुःसाहस मुझमें नहीं है और नहीं उसकी मुझे कोई जरूरत दीखती है।' इसी दुविधा का एक और उदाहरण हमें 'श्रीकान्त' में भी मिलता है। एक ऐसी स्त्री के बारे में लिखते हुए जो अपने दुराचारी पति के पीड़न से तंग आकर एक दूसरे पुरुष के साथ गृहस्थी बसा लेती है, कहते हैं: 'मैं (उसे) यह भी न कह सका कि 'तुमने अच्छा किया', साथ ही यह भी मुँह से न निकला कि 'अपराध किया है।' दूसरे के अत्यन्त संकट के समय जब अपने निज के विवेक और संस्कार के बीच—स्वाधीन विचार और पराधीन ज्ञान के बीच—संघर्ष छिड़ता है, तब दूसरे को उपदेश देने जैसी विडम्बना संसार में शायद ही कोई हो।' यह संघर्ष कम नहीं होता। एक तरफ़ एक नीच पुरुष का दुर्व्यवहार उन्हें अशान्त करता है, दूसरी तरफ़ 'सर्वाङ्गीण सती-धर्म की अपूर्वता, दुःसह दुःख और अन्याय के बीच में उसकी विराट् महिमा' उन्हें आकर्षित करती है। उसी स्त्री के सम्बन्ध में वह कहते हैं: 'यह ठीक है कि उसके विचारों की स्वाधीनता, उनका परस्पर का सुन्दर और असाधारण स्नेह, यह सब मेरी बुद्धि को उसी ओर आकर्षित करते थे, किन्तु फिर भी मेरे जीवन भर के संस्कार किसी तरह भी

मुझे उस ओर पैर नहीं बढ़ाने देते थे। मन में केवल यही आता था कि मेरी अन्नदा जीजी यह कार्य न करतीं। वे कहीं भी दासी-वृत्ति करके लांछना, अपमान और दुःख के भीतर से गुजरते हुए अपना सारा जीवन बिता देतीं, किन्तु ब्रह्माण्ड के सारे सुखों के बदले में भी जिसके साथ उनका विवाह नहीं हुआ, उनके साथ गिरस्ती करने को राजी न होतीं।' इसी तरह शरत् अनुभव तो करते थे कि 'पति-सेवा के द्वारा नारीत्व के कर्तृत्व का सारा परिसर परिपूर्ण नहीं किया जा सकता, पर साथ ही यह भी चाहते थे कि नारी को अबाध स्वाधीनता न दी जाय, समाज उसे 'समस्त शृंखलाओं से एकदम मुक्त न कर दे क्योंकि इससे समाज में उच्छृङ्खलता आ जाने का भय है।' यही कारण है कि विधवाओं के प्रति अनुकम्पा और सहानुभूति रखते हुए भी अपने पात्रों में उनका पुनर्विवाह नहीं करा पाते, प्रेम के बन्धन को अटूट और आदर्श बन्धन मानते हुए भी उनके पात्रों में अन्तर्जातीय विवाह हम नहीं देखते। उनके मन का झुकाव सामाजिक रूढ़ियों के विरुद्ध था, पर पूरे आत्म-विश्वास के साथ उनका विरोध वह न कर पाते थे।

नर-नारी सम्बन्ध में सुधार का सब से मुख्य साधन शरत् बाबू हृदय-परिवर्तन को मानते थे। स्त्री के प्रति सम्मान और सहानुभूति जागृत होने पर नियमों का भी संशोधन आरम्भ हो जाएगा, इसलिए चेतना को सजीव करना परमावश्यक है। पर हम जानते हैं कि अनुकम्पा और न्यायशीलता सार्वजनिक भावनाएँ नहीं बनतीं, एक सबल लोकमत होते हुए भी ऐसे नियमों की आवश्यकता होती है जिससे अन्याय को रोका जा सके और पीड़ित को आश्रय मिल सके। वाञ्छित हृदय-परिवर्तन लाने तक के लिए ऐसे नियमों का अनुष्ठान आवश्यक है। इन नियमों पर दृढ़ विश्वास रखना एक समाज-विचारक के लिए अनिवार्य है। पर शरत् के विचारों में उदारता है, दृढ़ता नहीं। पुरुष-नारी सम्बन्ध के बारे में उनके विचार जॉन रस्किन के विचारों से मिलते-जुलते हैं। वह भी स्त्री के प्रति पुरुष का दुर्व्यवहार सहन न कर सकते थे, पर साथ ही यह भी चाहते थे कि दोनों में से 'She should worship God, and she the God in him।' पुरुष के हाथ में ही समाज-संचालन की बागडोर हो, और स्त्री के लिए वह देवता के समान पूजनीय रहे। शरत् भी अत्याचारी पति के व्यवहार को कदर्य और घृणित तो मानते थे, पर स्त्री से सतीत्व और स्वामी-सेवा की आशा सदा करते रहते थे। जॉन रस्किन की तरह उनका विद्रोह भी भावुक था, बौद्धिक न था।

नर-नारी सम्बन्ध से परे अन्य क्षेत्रों में जीर्ण रूढ़ियों के प्रति उनका विद्रोह अधिक दृढ़ है। धार्मिक विधि-निषेध और रीति-नीति को वह निरर्थक मानते थे। निरक्षर धर्मयाजकों और पुरोहितों के शासन का वह अन्त देखना चाहते थे। जाति-भेद को वह हानिकारक मानते थे लेकिन इस विषय पर कहीं-कहीं उनमें मानसिक संघर्ष नजर आता है: 'इस जाति-भेद के सूक्ष्मातिसूक्ष्म जाति-भेद के विरुद्ध एक विद्रोह का भाव आज भी मेरे मन से नहीं जाता...(एक समाज के लिए) क्या अपना अस्तित्व-मात्र ही बनाये रखना जीवन की चरम सार्थकता है?...जो समाज अपने को...उदार बनाने की शक्ति नहीं रखता उस लँगड़े निर्जीव समाज के लिए अपने मन में मैं किञ्चित

मात्र भी गौरव का अनुभव नहीं कर सकता।' पर साथ ही 'ग्रामीण समाज' में अपनी आदर्श नारी विश्वेश्वरी के मुख से यह सिद्ध करने की चेष्टा भी वह करते हैं कि ग़रीबों पर अत्याचार और शोषण का कारण जाति-भेद नहीं, हिन्दुओं में सच्चे धर्म का अभाव है।

इस मानसिक संघर्ष ने उन उपायों का उल्लेख नहीं होने दिया जिनके आधार पर जाति-जीवन का सुधार हो सकता है। लेकिन सुधार का मुख्य साधन ज्ञान ही है। प्राचीनता में अन्धविश्वास को छोड़कर, स्त्री-जाति की हीन दशा और सामाजिक कुप्रथाओं से सचेत होकर ही हम समाज सुधार कर सकते हैं, और इसी की ओर उन्होंने अपनी रचनाओं में प्रबल संकेत किया है।

★

लोहेशाह

[वहाबुद्दीन]

अमीरन शाह के तकिये में हज़ारों लोग आये और चले गये। कभी कोई महीने दो महीने से ज्यादा न टिका। कुछ दिन रहा और फिर सर पर पैर रख कर ऐसा भागा कि लौटने का नाम नहीं लिया। आता भी कोई कैसे ? सारे तकिये पर तो 'जिन्नात' ने क़ब्ज़ा कर रक्खा था। दिन भर तो खूब चहल-पहल रहती, अघाना सुलगता रहता। जो कोई आता चिलम भरता—फिर तवा मिल गया तो तवा, नहीं तो सुलफा ही—चिलम को देखकर दो-चार और आ जाते। आखिर कहा है न बुजुर्गों ने कि 'बेटा, हुक्का-तमाखू बड़ी चीज है, जहाँ हुक्का आया, अपने साथ हज़ारों को लाया।'

जब दो-चार जुड़ जाते तो बातें शुरू होतीं। एक बुड्ढा फ़क़ीर बोलता, 'अब वह ज़माना कहाँ है बेटा, हमने जो ज़माना देखा है, तुम्हारे ख्वाबों में भी नहीं आ सकता। जिस दरवाज़े पर चले जाओ अपनी झोली भर लाओ। आटा तो आटा साथ साथ घी भी लाओ। कोई अल्लाह का शेर तो चावल, घी, बूरा सभी दे देता था। उस ज़माने का घी अब तो देखने में भी नहीं आता। घी ही क्या, तेल भी अच्छा नहीं मिलता। जब घी ऐसा नखालिस मिलता था कि जितना चाहो रूखा खा जाओ, मजाल है जो कुछ शिकायत हो जाय। गले में ख़राश भी पड़ जाय। मैंने खुद अपनी जवानी में सेर-सेर भर घी एक ही वक्त में खाया है। सुबह ही सुबह सूरज निकलने से पहले कलुआ उस्ताद के अखाड़े चला जाता था, खूब कसरत करता, डंड पेलता और फिर ज़ोर होते थे। अच्छे अच्छे पहलवान मुझसे घबराते थे। मजीरा पहलवान को तो तुमने देखा ही होगा। कैसा बाँका जवान था। उसके पट्ठे देख-देखकर सब जला करते थे। जिस वक्त लँगोटी बाँध कर

अखाड़े में उतरता तो ऐसा मालूम होता कि शेर आ गया। उसकी रान हाथी की रान मालूम होती थी। उसका सीना भइया तुम्हें क्या बताऊँ—ऐसा मालूम होता था कि किसी ने पत्थर का बनाया हो।

'मैं भी उससे कम न था, मगर था फ़कीर। इस मारे डरता था कि कहीं कुछ हो हुआ गया तो मरता फिरूँगा। एक दिन मैंने कपड़े उतार के लँगोट बाँधा तो मर्जीरा भी आ गया। कहने लगा कि 'पहलवान आज तो तुमसे ही जोर रहेंगे।' मैंने कहा, 'नहीं उस्ताद मैं तुम्हारी जोड़ का कहाँ?' कहने लगे, 'नहीं यार, क्या बातें करते हो, आओ तो सही।' बस जनाब, फिर मेरे और उनके जोर हुए। मैंने पहले-पहल दबना शुरू किया, फिर एक ऐसा दाँव मारा कि मर्जीरा चारों खाने चित्त। बस फिर क्या था, चारों तरफ़ मेरा नाम होने लगा। मर्जीरा भी मेरा लोहा मान गया।

'जोरों के बाद मैं तकिये में चला आता। नहा-धो के खूब घी खाता है। ठंडाई अलग पिसती। पत्ती उसमें ज़रूर मिलती। पत्ती न हो तो मजा ही क्या? अब तक जाने कितनी पत्ती पी चुके हैं। तुम्हें क्या बतायें। बता भी दें तो आँखें मलते रह जाओ। हाँ, तो फिर जनाब ठंडाई पीके मैं माँगने चलता, तो क्या कहने। हर दरवाज़े से पाव भर डेढ़ पाव आटा तो ज़रूरी मिल जाता। आधे घंटे ही में मेरी झोली भर जाती। घर आता और आटे को रख कर फिर माँगने जाता—अरे, मैं यह बताना तो भूल ही गया कि मेरे सारे बदन पर लोहे की कड़ियाँ और जंजीरें पड़ी रहतीं। मेरे पट्ठेदार बदन पै वह कैसी जँचती, अच्छे-अच्छे दाँतों में उँगलियाँ दे लेते थे। कोई कहता, 'वाह लोहेशाह, वाह! अरे भई आखिर हो न दुर्वेश फ़कीर। न किसी से मतलब, न किसी की फ़िक्र। दुवशों के पास ग़म का क्या काम? और फिर, लगे दम मिटे गम।'

'मेरी आवाज़ भी ऐसी सुरीली थी कि बस कुछ पूछो ही नहीं। हर दरवाज़े पर जाता और गाता :

दिला क्यों हिर्स करता है, तुझे दीदार क्या करना,
सदा जंगल में रहना है, तुझे घर बार क्या करना।

आवाज़ में ऐसा दर्द था कि एक दिन तो मौलवी हमीदा सुन के रोने लगे। कहने लगे, 'हाँ लोहेशाह ठीक कहता है, दुनिया ऐसी ही है। मेरा जी भी बहुत घबराते है। मैं भी यहाँ से भागना चाहूँ हूँ। मगर क्या करूँ फिर दिल ललचाते है।'

'खैर, तो मैं दिन भर माँग के शाम को सब आटा दीना बनिये को बेच आता। डेढ़ दो रुपये रोज़ आ जाते। फिर मज़े से नथुआ भटियारे की दूकान पर जाता। वो नाहरी पकाता था मेरा यार कि रहे नाम साँई का। अच्छे-अच्छे घराने के आदमी सुबह ही सुबह उसके यहाँ से नाहरी मँगाते और तारीफ़ों के पुल बाँध देते। कोई दिन ही ऐसा जाता हो जब नथुआ पन्द्रह-सोलह के पैसे न उठाता हो। मेरा वहाँ सुबह कब जाना होता। मगर मेरा यार, मेरे लिए पहले से ही अलहदा निकाल के रख लेता। और फिर मैं शाम को खाता। तन्दूरी रोटी भी पकाना उस ही का काम था। ऐसी हल्की और उम्दा

होतीं कि खाते चले जाओ और तबियत ही न भरे। दस-पन्द्रह रोटियाँ तो यों ही उड़ा जाता था। आटा भी घर का पिसा होता। अब तो ये पनचक्कियाँ लग गई हैं। बिजली से आटा पिसे है। आटा क्या हो गया है राख है राख। पेट में पहुँचे तो कब्ज़ कर दे। और दर्द के मारे लोटते फिरो। अभी परसों ही मैं जब खाँ साहब के यहाँ गया कहने लगे, 'भई क़ब्ज़ हो गया है, दो-तीन रोज स पखाना ही नहीं हो रहा।' तो मैंने कहा कि 'खाँ साहब, यह सब पनचक्की के आटे के लाये हुए रोग हैं। जब से यह खबीस मशीनें आई हैं, मेरी खूराक भी कम हो गई। अब पाँच रोटियों से ज्यादा चले ही नहीं हैं।'

'तो मेरे यारो, मैं नथुआ की दूकान से खाके जो चलता तो रूँआ-रूँआ खुश हो जाता। घर आके मजे से सोता और सवेरा कर देता। सच है भइया, अब वह दिन कहाँ, अब कहाँ वह रातें, किसी शायर ने सच कहा है :

ख्वाब था जो कुछ कि देखा, जो सुना अफ़साना था।'

लोहेशाह ने अपनी दास्तान खतम करके चिलम के दो तीन कश लगाये ही थे कि मस्तानशाह बोला, 'साँईजी, तुम्हें तो बड़े-बड़े शेर याद हैं। हमसे तो एक भी नहीं बोला जावे है।'

लोहेशाह बोले, 'यह सब, बेटा, फ़कीरों की सोहबत का नतीजा है। शेखसादी ने कहा तो है—क्या है वह—वही कि 'सोहबते खाले...' अबे क्या है, मैं भूल भी तो गया, अरे हाँ याद आ गया, वही कि—'तुख्म तासीर, सोहबत का असर।'

'तो साईंजी यह सब फ़कीरों की सोहबत का असर है। उनकी दुआयें लगीं हैं। नहीं तो मैं कब इस लायक़ था। एक दिन साईं भिरीशाह किसी धुन में बैठे थे। मैंने सुलफ़ा भर के दिया। उन्होंने जो दो तीन दम लगाये तो खुश हो गये। कहने लगे, 'जा बेटा, तू कभी भूखा-नङ्गा नहीं रहने का। भला भिरीशाह की बात और झूठ निकल जाये। बड़े पहुँचे हुए थे। मालूम है, बिलकुल नंगे रहते थे। खाली एक कम्बल लपेटे रहते, मुँह से राल टपकती रहती और नाक जो हरदम अपनी उंगलियों से दबाते रहते। कभी नाक से साँस निकाला करते। ऐसी आवाज आती कि सब घिन करते थे। मगर फिर भी पाँव चूमते थे। एक दिन उन्होंने एक बनिये को ऐसी बददुआ दी कि उसी दिन उसके चोरी हो गई और वह पागल हो गया। समझे तुम? उनकी बात और बेअसर हो! ऐसा कैसे होता। उन्होंने ही मुझे बताया कि तुम तावीज़ लिखा करो। अब मैं बुड्ढा हो गया हूँ। हाथ-पाँव में ताक़त भी नहीं जो झोली लूँ और फिरता फिरूँ। फिर सबसे बड़ी बात तो यह है कि अब भीख भी कौन दे है। वैसे ही फल भी मिलते हैं। भूखों मरें हैं और रोटी रोटी चिल्लावें हैं। जैसी उनकी नीयतें वैसे उनके नतीजे। अब खाने में से सब बरकतें जाती रहीं। जब सबको अपनी-अपनी पड़ जावेगी और पीरों फ़कीरों को भूल जावेंगे तो ऐसा ही होगा।'

कल्लनशाह ने उसकी दाद देते हुए कहा, 'हाँ उस्ताद, बात तो ठीक कहो हो। अब तो भीख माँगने जाओ तो खाली ही लौट के आओ। कभी-कभी तो एक रोटी भी

नहीं मिलती। जब से यह अंग्रेजी पढ़े-लिखे आये हैं, और भी मुसीबत हो गई है। बस जण्टलमैन बने फिरते हैं। जाँघिया पहने, टोप लगाये, जेब में हाथ डाले, इधर से उधर अकड़ते फिरते हैं। फ़क़ीर के नाम का तो एक पैसा भी जेब में नहीं, वह खरीदेंगे, तेल और सफ़ेद-सफ़ेद खड़िया-सा क्या होवे है—चेहरे पर मल लेवें हैं। जैसे किसी ने भभूत लगा ली हो। उनकी मेमें तो बस बिल्कुल पुत जावें हैं। अभी देखो कल की बात है। एक बाबू बाज़ार में साबुन खरीद रहे थे। चौदह आने पैसे साबुन के दूकानदार को गिन-गिन के दे रहे थे। मैंने जो एक पैसा माँगा तो ऐसा धक्का दिया कि बस गिरा नाली में जाकर। जनाब मुझे कैसा ताव आया है कि बस चलता तो उसकी गर्दन पकड़ के उसी नाली में दे देता। मगर सामने ही सिपाही खड़ा था। उसने जो मुझे गिरते देखा तो लगा आने मेरी तरफ़। मैंने यह ही अच्छा समझा कि भागूं नहीं तो और कुछ मुसीबत न आ जाय।'

'हाँ यार ठीक कहता है।' लोहेशाह बोले। 'जभी तो मैंने भीख छोड़ के तावीज़ों और गण्डों का काम शुरू किया है। दस-बारह आने रोज़ आ जावे हैं, मज़े करता हूँ। इंग्रेज़ी पढ़े-लिक्खों के पास जाता तो गुनाह समझता हूँ। मियाँ यह ग़रीब गुरबा ही अच्छे। बेपढ़े-लिक्खे। बीमार हों तो न दवा से मतलब न दारू से। सीधे चले आयेंगे मेरे पास। मैं भी उन्हें ऐसा तावीज़ देता हूँ कि बीमारी चार दिन को जाती हो तो एक दिन में ही भाग जाय। मगर भई बाज़ी दफ़ा तो बड़ी मुसीबत हो जावे है। तावीज़ असर ही नहीं करता है। तो मैं तो कह देता हूँ कि तुमसे बड़े पीरसाहिब नाराज़ हैं। अब उनको खुश करना हो तो सवा रुपये की मिठाई लाकर मुझसे नियाज दिलवाओ। भइया वह हलने-काँपने लगते हैं और हम मज़े से घर बैठे दुनिया की न्यामतें खाते हैं। न किसी से ग़रज़ न मतलब। अभी इस मुहल्ले में कुछ वही पढ़े-लिखे आये थे। लोगों को बहकाने लगे कि गण्डे-तावीज़ों में क्या धरा है। छिद्दा तेली की लौंडिया मेरे पास आई, कहने लगी कि शाह साहब ऐसा ऐसा हो रहा है। मैंने कहा कि 'वह तो सब क़ाफ़िर हैं। तुम उनकी बातों में क्यों आने लगीं।' बड़ी मुश्किल से मामला रफ़ा दफ़ा हुआ।'

'छिद्दा तेली की लौंडियाँ!' रफ़ीक़ा बोला, 'क्या नाम है उसका—वही कुछ भला-सा नाम है।'

'अबे भूल भी गया', मस्तानशाह बोले, 'तू तो उसका आशिक़ बने है, आशिक़। वाह बेटा आशिक नाम भी भूल गया अपनी चहेती का। अबे उसका नाम वही है शकूरन।'

'हाँ शकूरन, शकूरन। अब मुझे याद आ गया।' रफ़ीक़ा ने कहा, 'साँईजी, मैंने तो उसे जब से देखा है बेक़ाबू हो गया हूँ। अब मुझसे तो रहा नहीं जाता। सच्ची कहता हूँ, रोना-सा आवे है।'

'वाह बे, इतनी-सी बात', लोहेशाह बोले, 'यह कौन-सी बात, आ जाइयो आज रात को इसी तकिये में।' उसके बाद रफ़ीक़ा और मस्तानशाह वग़ैरा तो माँगने

चले गये और लोहेशाह रह गये। शकूरन चार बजे के वक्त छाछ देने आई। पता नहीं उन्होंने उससे क्या कहा कि वह उनसे अच्छा कहकर चली गई।

[२]

मग़रिब का वक्त खत्म हो गया था। तकिये पर अँधेरा छाने लगा। उल्लू बोलने लगे। अब वहाँ बिलकुल सन्नाटा हो गया। लोहेशाह भी तकिये के बाहर आकर बैठ गये। शकूरन रोटी देने आई। लोहेशाह उस वक्त तस्बीह पढ़ रहे थे। उन्होंने आँखें बन्द ही रक्खीं। शकूरन रोटी हाथ में लिये हुए खड़ी कह रही थी, 'बाबा, लो रोटी लो।'

लोहेशाह ने बड़ी जोर से खाँसा। उनकी खाँसी को सुनकर एक आदमी तकिये से निकला। और शकूरन के मुँह में कपड़ा ठूँस कर उसकी आँखों पर हाथ रख कर उसको उठा कर ले गया। शकूरन चिल्लाती रही, 'बाबा, बाबा' लेकिन बाबा आँखें बन्द किये अपनी तस्बीह पढ़ने ही में मशगूल रहे।

सुबह हुई, शकूरन की तलाश हुई। लोहेशाह से भी पूछा गया। वह बोले कि उन्होंने रात को उसे तकिये की तरफ़ जाते देखा था। शायद वह जिन्नातों के क़ब्जे में चली गई।

छिद्दा ने पुलिस में रिपोर्ट कर दी। पुलीस ने तफ्तीश की मगर कोई पता न मिला। कुछ दिनों के बाद खेतों के थोड़ी दूर रेलवे लाइन के नजदीक उन्हें एक लाश मिली। लोहेशाह ने कहा, 'मैंने पहले ही कहा था कि इसे जिन्नातों ने मार डाला होगा।'

अब वह तकिया सूनसान पड़ा रहता है। सिर्फ लोहेशाह उसमें दिन के वक्त बैठे रहते हैं और रात को बाहर निकल आते हैं। लोग अब भी उनकी वैसी ही ताज़ीम करते हैं। वह उस तकिये से जिन्नातों को दूर करने के वज़ीफ़े खींच रहे हैं। इस वजह से लोग उन्हें और भी मानते हैं। मालूम नहीं वह तकिया उन जिन्नातों से कब नजात हासिल करेगा—शायद लोहेशाह के मरने के बाद।

★

भारतीय समाज-पद्धति : उत्पत्ति और विकास

●

[डा० भूपेन्द्रनाथ दत्त]

[हम भारतीय समाज-पद्धति की उत्पत्ति और उसके विकास के इतिहास पर विख्यात समाजशास्त्री डा० भूपेन्द्रनाथ दत्त का एक अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण निबन्ध धारावाहिक रूप में प्रकाशित कर रहे हैं। आशा है पाठक इस निबन्ध को ध्यानपूर्वक पढ़ेंगे—सं०]

भारतवर्ष का जब अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास के राज्य में आविर्भाव हुआ, उस समय पश्चिम एशिया और यूरोप के प्राचीन राष्ट्रों का अन्त हो गया था। तीन महादेशों में विस्तृत फारस के विशाल अखमिनि साम्राज्य का ध्वंस तथा यूनान को जीतकर बर्बर मैसिडोनिया जाति का तरुण राजा सिकन्दर अज्ञात जगत की विजययात्रा करता हुआ अन्त में भारतवर्ष में आ पहुँचा। लेकिन फारस साम्राज्य की पश्चिम एशियास्थित विशाल सेना पर विजय प्राप्त करने में सिकन्दर को जितनी मेहनत करनी पड़ी थी, उससे अधिक कष्ट उठाना पड़ा था फारस के पूर्वस्थित सगडियाना आदि प्रान्तों के छोटे-छोटे इरानी सामन्तों तथा भारतवर्ष के छोटे-छोटे राजाओं को जीतने में। यहाँ तक कि मुलतान में तो उसका जीवन संकट में पड़ गया था। अध्यापक महाफि लिखते हैं कि पश्चिम की सेमिटिक जाति की सेनाओं को सिकन्दर ने सहज ही में पराजित कर दिया था; लेकिन पूर्व के इरानी तथा भारतीय आर्य सामन्त राजाओं को जीतने में उसे बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था[1]। भारत के अधिवासियों की अन्य प्रकार की सभ्यता देखकर भी सिकन्दर के अनुगामियों को आश्चर्य और विस्मय हुआ था। सिकन्दर के सहगामी यूनानी पण्डितों ने भारतवर्ष तथा अपने देश के कुछ देव-देवियों में सादृश्य पाया था। उन्होंने यहाँ के बलराम की अपने हेराक्लेस से तुलना की; एक दूसरे देवता की तुलना अपने देश के आमोद-प्रमोद के देवता बाक्कुस (Bacchus) से की। उन्होंने यह भी कहा था कि हेराक्लेस इस देश में आये थे। यूनानी धर्म-प्रचारक डियोनिसिउस् (Dionysius) ने भारतवर्ष में आकर अपने धर्म—Dionysius Cult या Eleusinian Mystries—का प्रचार करके एक सम्प्रदाय स्थापित किया था[2]। यूनानी पण्डितों में (वर्त्तमान भारतवर्ष के 'पैन-हिन्दुओं' [Pan-Hindus] की तरह) एक दोष यह था कि दुनिया के किसी भी स्थान के धर्म या सभ्यता सम्बन्धी विषयों में अपने देश के प्रतिष्ठान या अनुष्ठान में समानता देखते थे, उसी को वह यूनान से उत्पन्न समझने लगते और उसे अपनी जातीय वस्तु कहकर प्रचार करते थे। सम्भवत: भारतवर्ष के किसी धर्म

(1) Mahaffy—Greek Thought and Culture.

(2) Prof. Oward—Ancient Lowly.

सम्प्रदाय के आचार अनुष्ठान से अपने देश में प्रचलित आचार-व्यवहार की समानता या सादृश्य विद्यमान देखकर प्रचार कर दिया था कि इस देश में भी उनके धर्म-नेता का आगमन हुआ था ! इसी प्रकार के विश्वास तथा धारणा के वशीभूत होकर आजकल कुछ यूरोपीय लेखक उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त के निसा (Nyssa) नामक नगर में सिकन्दर के आक्रमण के पहले से ही यूनानी उपनिवेश का होना अनुमान करते हैं। उस समय भाषा और समाजतत्व का तुलनात्मक पठन-पाठन नहीं था इसीलिए ऐसी भूलें होती थीं।

सिकन्दर के आक्रमण से पश्चिम जगत में भारतवर्ष का नाम प्रचारित हुआ। शायद यूनानियों द्वारा उच्चारित 'हिन्दस्' परन्तु 'इन्दस्' (Indos या Ind)* रूप में लिखे जानेवाला शब्द ही बाद में लैटिन भाषा में इण्डिया (India) रूप धारण करके वर्त्तमान यूरोपीय India बन गया है। अति प्राचीन काल में समग्र भारतवर्ष का एक नाम नहीं था, ऐसा अनुमान किया जाता है। आर्य सभ्यता के विस्तार के साथ-साथ इस महादेश के भिन्न-भिन्न नामकरण हुए। वैदिक-युग में काबुल तथा सिन्धु उपत्यका-स्थित विभिन्न आर्य कौमों के (Tribes) जनपद उन्हीं कौमों वा कुलों के नाम से प्रसिद्ध थे। जैसे, पक्तदेश, कुरुओं का देश, शिविओं का देश इत्यादि। वेद में आधुनिक पंजाब को 'सप्त सिन्धव' कहा गया है। यह नाम प्राचीन इरानी पुस्तक में 'हप्त हिन्द' के रूप में मिलता है। पंजाब ही 'सप्त सिन्धव' है, इस विषय पर मतभेद है। स्मृतिकार लोग पहले पंजाब को 'ब्रह्मावर्त' कहते थे और कुरुक्षेत्र, मत्स्य, कान्य-कुब्ज तथा मथुरा आदि इन कई देशों को 'ब्रह्मर्षि' कहते थे। पूर्व और पश्चिम में दोनों समुद्र तथा उत्तर दक्षिण में हिमालय और विन्ध्यगिरि— इनके बीच भूभाग को आर्यावर्त्त कहते थे। हिन्द लेकिन राष्ट्र विपर्यय के साथ आर्यावर्त्त की सीमा बदलती रहती थी, इतिहासकारों की यह पक्की राय है। विन्ध्य पर्वत के दक्षिण-वाले भूभाग को प्राचीन पण्डितों ने 'दक्षिणापथ' कहा है। उपर्युक्त नामों के सिवाय बौद्ध पुस्तकों तथा पुराणों में समग्र देश को जम्बुद्वीप कहा गया है। पुराणों में समग्र देश को 'भारतवर्ष'— अर्थात् भरतवंश के लोगों का देश कहा गया है। अपेक्षाकृत आधुनिक संस्कृत साहित्य में 'भारतवर्ष' नाम का उल्लेख अधिक किया गया है, ऐसा अनुमान किया जाता है। अब 'भारतवर्ष' 'हिन्दुस्थान' और 'इण्डिया' एक ही अर्थ रखते हैं।

भारतवर्ष और उसकी सीमा संस्कृति-सूचक शब्द हैं यह ऋग्वेद की 'नदी-स्तुति' (१०,७५) तथा उसे बदलकर पौराणिक नदी-स्तुति जिसमें भारतवर्ष के सबसे दक्षिण में कावेरी संयोजित हुई है यह उसी से प्रमाणित हो जाता है। किसी समय वेदों के पण्डितों के लिए उनका देश काबुल और सिन्धु उपत्यका की नदियों से सीमित तथा

---

* शायद फारसनिवासियों के संस्कृत 'श' का उच्चारण 'ह' करने के कारण सिन्धु देश पश्चिम एशिया में 'हिन्दु' वा 'हिन्द' देश के नाम से परिचित हुआ। यूनानी भाषा में 'हिन्द' (Hind) की जगह 'इन्द' (Ind) लिखते हैं, क्योंकि स्वरवर्ण पर Aspirant 'E' sound देकर वे इसका उच्चारण करते थे। यथा—वे लिखते हैं Ellenes और उच्चारण करते हैं 'Hellenes'. इसी तरह वे लिखते हैं Ind और उच्चारण करते हैं Hind. इसी Ind को लैटिन में India कहते हैं, ऐसा अनुमान किया जाता है।

आबद्ध था (नदी-स्तुति ही इस बात को सिद्ध करती है)। बाद में समग्र भारत में जब आर्य सभ्यता फैल गई, तब कावेरी नदी तक इस स्तुति में सम्मिलित कर ली गई।

मुसलमान अरबों ने आधुनिक अफगानिस्तान, बलुचिस्तान तथा सिन्धु नद के पूर्वी किनारे के देश को अर्थात् भारत को 'हिन्द सिन्द देश' (Land of the Hind aud Sind) कहा था। अफगानिस्तान, बलुचिस्तान तथा आधुनिक सिन्धप्रान्त को 'सिन्द' देश और उसके पूरब वाले देश को 'हिन्द' कहते थे और इन दोनों देशों को सम्मिलित करके 'सिन्द् हिन्द्' देश कहते थे। प्राचीन मुसलमान अरबी तथा फारसी साहित्य में भी यह नाम प्रचलित था। यहूदियों के धर्मग्रंथ पुराने बाइबिल (Old Testament) में भारतवर्ष का नाम 'हानुदद' लोगों का देश कहा गया है। यहूदियों में कहावत है कि दुनिया में महाप्रलय के पश्चात् पृथ्वी पर जब फिर से मनुष्य बसने लगे, तब नोआ (Noah) के हाम नामक एक पुत्र (Ham काले रंग का) का वंशधर 'हानुद' नाम से परिचित हुआ। इस 'हानुद' का अर्थ काले रंगवाला कहा जाता है, इस काले रंगवाले 'हानुद' के वशधर लोग यहूदी कहावत के अनुसार काले रंगवाले हिन्दी अर्थात हिन्दू हैं! दूसरी ओर ऐसा कहा जाता है कि मुसलमान फारसी साहित्य में हिन्दू का अर्थ काले रंगवाला, चोर आदि लिखा गया है।[५] इस गाली गलौज की पैदाइश तुर्क मुसलमानों द्वारा भारत विजय के बाद हुई थी। फारसी 'हिन्दू'[६] शब्द से ही 'हिन्दु' और 'हिन्दुस्थान' नाम पैदा हुआ है।

भारतवर्ष या 'इण्डिया' शब्द अँगरेजी साम्राज्याधीन भारतवर्ष का सूचक है। प्राचीन सीमा से गान्धार तथा काबुल आदि जनपदों ने नाना भाग्य विपर्ययों के पश्चात् आधुनिक 'अफगानिस्तान' नाम धारण करके एशिया के एक स्वतन्त्र देश के रूप में विकसित हुआ है। जिस प्रदेश को आज हम 'बलुचिस्तान' के नाम से पुकारते हैं, वह अठारहवीं सदी में बलुचियों के आक्रमण तथा राज्याधिकार के पहले सिन्धुप्रान्त के अन्तर्गत था। सिकन्दर के आक्रमण के समय यूनानी इतिहासकारों के वर्णन से जिस प्राचीन आराकोसिया (अवेस्ता का 'हारात्तटि'—किसी-किसी विद्वान के मतानुसार यही वैदिक 'सरस्वती' जो आजकल 'कन्दहार' कहलाता है) प्रान्त में[७] सिकन्दर की सेनाओं ने फारस को जीतकर पहले-पहल 'इण्डियनों'[८] को देखा था। इन्हें उन्होंने

५—फिरदौसी का 'शाहनामा' देखिये।

६—कवि अमीर खुसरू ने अपने 'खलिकबारी' नामक शब्द-कोष में 'हिन्दवी' वा 'हिन्दी' इन दोनों शब्दों को भारतीय के अर्थ में लिखा है।

७—वर्त्तमान 'कन्दाहार' नाम प्राचीन 'गन्धार' नाम का रूपान्तर है। आधुनिक पेशावर और रावलपिण्डि के बीचवाले जनपद को संस्कृत में 'गन्धार' कहते थे। ऐसा कहा जाता है कि इसी जनपद के बौद्धों ने वर्त्तमान 'कन्दहार' उपनिवेश स्थापित किया था। शकों ने इस जगह बुद्ध के रक्खे हुए भिक्षापात्र को छीन लेने के लिए आक्रमण किया। वहाँ के बहुत से बौद्धों ने चुपचाप पश्चिम के पहाड़ी अञ्चल में भागकर इस नवीन गान्धार की स्थापना की। 'पस्तु' भाषा में इसने वर्त्तमान 'कन्दहार' नाम धारण किया है।

8—Arian—'Anabasis' III, P. 28. Indika-1-1-1 ; Strabo—XV, 1.

'Para men ton Indon' (जो लोग भारतीयों के आर-पार अर्थात् दूसरी ओर बसते हैं) कहा है। तब इसका अर्थ यह होता है कि ये लोग विशुद्ध इण्डियन नहीं हैं; विशुद्ध भारतवासियों से[९] मैसिडोनिया की सेनाओं की मुलाकात पारोपामिशुस (वर्त्तमान 'हिन्दुकुश') पर्वतश्रेणी पर हुई थी। ये काबुल उपत्यका के लोग हैं। संस्कृज्ञ पाश्चात्य पण्डितों का[१०] मत है कि वैदिक युग में आर्य लोग वर्त्तमान अफगानिस्तान के अन्तर्गत पूर्व काबुलिस्तान जनपद तथा पञ्चनद की उपत्यका में बसते थे। वेद में 'कुभा' (वर्त्तमान 'काबुल'), गोमती (वर्त्तमान 'गोमल'), क्रुमु (वर्त्तमान 'कुरम') नदियों का उल्लेख है। और एक नदी का उल्लेख है—इसका नाम 'रसा'[११] (Rasa)। किसी-किसी विद्वान के मतानुसार वैदिक 'रसा' वा 'रासा', अवेस्ता की 'रानहा' और हेरोडोटस-लिखित मध्य एशिया की (आधुनिक 'तुर्कीस्तान') Arazes नदी ने आजकल Jaxartes नाम धारण किया है। लेकिन इस वितर्क का अन्तिम फैसला अभी तक नहीं हुआ है।

सिकन्दर जब फारस लौटा, तब वह सिन्धु देश से होकर गेड्रोशिया की मरूभूमि के मध्य से वहाँ गया था। इसका अर्थ यह है कि वह आजकल के बलुचिस्तान की 'जोकरान' मरूभूमि से होकर फारस लौटा था। सिकन्दर के अनुचर यूनानी लेखकों ने लिखा है कि बलुचिस्तान की वर्त्तमान पोरालि[१२] नदी भारत की पश्चिमी सीमा थी। इससे मालूम होता है कि आधुनिक 'लासबेला' नामक जनपद भारतवर्ष के इस भाग का पश्चिमी सीमान्त था। इस जगह के लोग आज भी अपभ्रंश सिन्धि भाषा में बोलते हैं।

सिकन्दर के पहले फारस के सम्राट प्रथम दराउस के बेहिस्थान शिला-लेख में[१३] भारत की पश्चिमी सीमा का उनके राज्य के अन्तर्गत होने का उल्लेख किया गया है। उनके शिला-लेख में 'हिन्दु' (सिन्धु प्रान्त के लोग), गादार (गंधारी), मोका (सम्भवतः वर्तमान मेकरानी) जातियों का उल्लेख है।

सिकन्दर के आक्रमण के पहले आदि यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस[१४] ने लिखा है, भारत की सीमा में 'पक्तिका' जनपद में 'सत्तगिदे' (Sattagydae), गन्धारी, डाडिका, वाडाडि तथा अपारिटे नामक चार कौमें बसती थीं। इनमें से संस्कृत साहित्य में हमें उपर्युक्त गन्धारियों का उल्लेख मिलता है; एक दूसरी कौम के आज भी विद्यमान होने का अनुमान किया जाता है। यह वर्तमान भारत के सीमान्त स्थित 'अप्रिदि' कौम है। (ये लोग अपने को 'अप्रिदि' कहते हैं। लेकिन अंग्रेजी में इन्हें 'अफ्रिदि' लिखा जाता है)। बेल्यू[१५] के मतानुसार की आधुनिक 'खटक' कौम प्राचीन सत्तगिदे लोगों की

9—Arian—'Anabasis' III. P. 23 ,, P. 14.

10—Zimmer—Altindisches Leben—P. 14.

11—Zimmer—Altindisches Leben—P. 15-16.

12—Vincent Smith—Early History of India. 13—Rawlinson—'The Great Inscription of Darius at Behistan' in 'History of Herodotus' vol II

14—Herodotus—Book VII P. 67. 15—Bellew—'Races of Afghanistan' and 'Imperial Gazatteer of India.'

वंशधर है ; और डाडि लोग निर्वंश हो गये हैं। कोई-कोई विद्वान इनका सम्बन्ध 'दरद' जाति से स्थापित करना चाहते हैं। लेकिन इस विषय में अभी तक कोई निश्चित सिद्धान्त पर लोग नहीं पहुँच सके हैं।

हेरोडोटस की 'पक्तिका' नामक जाति का वेद में (ऋग् ७, १८, ७) 'पक्त' नाम से उल्लेख मिलता है। वेद में लिखा है कि 'पक्तराज' अश्विनीकुमार नामक यमज देवता के आश्रित थे (ऋक ८, २२, १०, ४९, १० : १०, ६६१)। वेद में यह भी लिखा था कि 'पक्तराज' ने आर्यजाति और चार राजाओं से मिलकर 'तृत्सु-भारत' राजा के विरुद्ध युद्ध किया था। मोगल सम्राट शाहजहाँ के पठानवंश में उत्पन्न कर्मचारी खाँजाहाँ लोदी के प्रोत्साहन से नियामतउल्ला लिखित 'अफगानों का इतिहास'[16] नामक पुस्तक में 'गंधारी' नामक कौम का उल्लेख है।

ग्रीक इतिहासकार स्ट्राबो का कहना है कि सिकन्दर की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी सेलुकस ने उसके राज्य के पूर्वीभाग के उस अंश को भारत के राजा चन्द्रगुप्त को ई० पूर्व ३१० में प्रदान किया—जिसमें विशुद्ध भारतीय लोगों की बस्ती थी। इतिहासकार विनसेण्ट स्मिथ[17] के मतानुसार आधुनिक अफगानिस्तान का समूचा हिस्सा तथा दक्षिणी बलुचिस्तान इस तरह मौर्य-साम्राज्य के अन्तर्गत हुआ। तत्पश्चात अफगानिस्तान के अन्तर्गत गजनी के तुर्कवंश में उत्पन्न मुसलमान राजा के राज्यकाल में सुलेमान पर्वत के ऊपर बसनेवाली 'अफगान' नामक एक पहाड़ी जाति का नाम इतिहास में मिलता है। महमूद के इतिहासकार अलबेरुनी ने कहा है कि इस जाति के सरदारों ने महमुद की अधीनता स्वीकार की और मुसलमान धर्म ग्रहण करके उसकी सेना में भर्त्ती हो गये और सोमनाथ के मन्दिर को लूटने में भाग लिया था। महमूद ने ही भारत पर आक्रमण करने का रास्ता साफ करने के लिए[18] भारत के पश्चिमी सिमान्तस्थित भारतीय जातियों को हटाकर उस अंचल में विभिन्न जातियों को बसाया। इस समय के इतिहास में यह भी पाया जाता है कि महमूद ने जब चित्तौर पर आक्रमण किया तो सीमान्त की 'सुवास्तु' (वर्तमान 'स्वात,' Swat) उपत्यका के लोगों ने चित्तौर की सहायता के लिए एक सेना भेजी थी। इस 'स्वात' के अधिवासी संस्कृत भाषा की अपभ्रंश एक भाषा में बातचीत करते थे[19]। मौर्य साम्राज्य के बाद से अहमदशाह अबदाली के समय तक मध्य एशिया से नाना जातियों के आक्रमण से स्थानीय कुल समूह अपने निवासस्थान से च्युत होने तथा बारम्बार धर्म परिवर्त्तन करने के कारण उनकी भाषा में भी बहुत परिवर्तन हो गया था। इसका नतीजा यह हुआ कि जातितत्व तथा भाषातत्व की दृष्टि से अफगानिस्तान और

16—Neamatulla—History of the Afghan. Translated by Prof. Dorn (Dr. Bernhardt) 17—V. Smith—Early History of India. 18—E. Oliver—Across the Border or Pathan and Baluchi.

19—Akhund Darweza Baba—Tatkhira: 1. Darmostetar—Charts Populaires des Afghans देखिये। 20—Macdonnel and Keith—Vedic Index vol. I

बलुचिस्तान ने भारत से भिन्न रूप धारण किया है और इस महादेश का अवशिष्ट अंश ही नाना भाग्यविपर्ययों के पश्चात् आधुनिक 'इण्डिया' (भारत) के रूप में परिवर्तित हुआ है।

भारतवर्ष के इतिहास की गणना वैदिक युग से की जाती है। वेद में संस्कृत भाषाभाषी जाति का उल्लेख है जो 'आर्य' के नाम से अपना परिचय देती थी। वेद में इन आर्यों के देवताओं को 'श्वेतकाय' (ऋक्वेद २, २०, ८) कहकर वर्णन किया गया है। एक दूसरी जाति का उल्लेख भी वेद में है—उन्हें 'दस्यु' वा 'दास' कहा गया है। इन दस्युओं को काले रंगवाला (२, २०, ७), अ-नासा (२९, १०) अब्राह्मण (४, १६, ९) अ-देवायु (८, ७०, ३), अ-व्रत (१, ५८, ८) आदि विशेषणों से सम्बोधन किया गया है। दस्युओं को अमानुषिक शक्तिशाली शत्रु भी कहा गया है (१, ३४, ७; १००, १८, २, १३९)। उनके पास 'आयस (ताँबा) से आवृतपुर' भी होने का उल्लेख है। (२-२०-८)। इससे यह मालूम होता है कि इन दस्युओं की सभ्यता तत्कालीन 'वैदिक आर्यों' से बड़ी थी। ऐसा मालूम होता है कि 'आर्य' और दस्युओं का पार्थक्य धर्म ही[२०] को लेकर था। 'दस्यु' लोग वैदिक आचार तथा क्रियाएँ नहीं मानते थे, इसीलिए उपर्युक्त विशेषण उन्हें मिले थे।

नर-तत्व में इन वैदिक आर्यों और तथाकथित 'दस्यु' वा 'दास' लोगों का स्थान कहाँ है, इस विषय पर बहुत दिनों से वाद-विवाद चल रहा है। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग मे जब भाषा का तुलनात्मक अध्ययन आरम्भ हुआ, उसी समय अधिकांश यूरोपीय भाषाएँ तथा फारसी और संस्कृत भाषाओं की उत्पत्ति का मूल एक है इस तथ्य को आविष्कार करके भाषातत्व के पण्डितों ने इन भाषाओं को 'इण्डो-यूरोपीय' अर्थात् 'आर्य-जातीय' भाषाएँ कहा। इस सूत्र का अनुसरण करके आक्सफोर्ड विश्व-विद्यालय के संस्कृत भाषा के अध्यापक जर्मन वंश में उत्पन्न मैक्समूलर ने इस तरह की भाषा-भाषी 'आर्य' नामक एक नर जाति की कल्पना की। लेकिन बाद में अंग्रेज और उत्तर यूरोपीय पण्डितों के विरुद्ध समालोचना करने के लिए बाध्य होकर उन्होंने कहा—'मैं 'आर्य' का अर्थ एक नर जाति नहीं समझता—एक भाषा समझता हूँ[२१]।' इसी समय से जर्मन स्वजाति प्रेमिक (Pan-Germanist) पण्डितों तथा उनके साथ ही साथ उत्तर यूरोपीय पण्डितों ने 'आर्य' का अर्थ अपने उत्तर-यूरोपीय पुरखों से लगाना आरम्भ कर दिया। उत्तर यूरोप के उज्ज्वल श्वेतवर्ण (Blonde), नील चक्षु, लाल केश, लम्बा मस्तक, पतली-नाक, दीर्घ देहाकृतिवाले लोग जिन्हें उन्होंने नर्डिक (Nordic : उत्तर यूरोपीय) नामकरण किया है—उन्हें विशुद्ध आर्य जाति बतलाया है। जर्मन पण्डित लोग उन्हें गार्मन (German) अथवा टिउटन कहते हैं और इन्हीं नर्डिकों की तलाश दुनिया भर में करते फिरते हैं। उनके वैदिक आर्यगण भी इसी 'नर्डिक' वंश के हैं, बाद में वे भारत की 'काली' जाति में मिल गये हैं।

इन जातीयता-वाचक गवेषणाओं ने राजनीतिक रूप (Political colour)

21—Maxmuller—Biographies of Words and Home of the Aryans.

ग्रहण कर लिया है।[२२] यूरोप की प्रत्येक बड़ी जाति विशुद्ध आर्य होने का दावा करती है। फ्रांसीसी और इटालियन लोग[२३] जर्मनों के उपयुक्त मतवाद का प्रतिवाद करते हैं। जर्मन भाषा-भाषी जातियों की भाषा में, विशेषतः अमेरिका में, 'आर्य' का अर्थ 'ककेसीय' अथवा 'श्वेत-जाति' समझा जाता है। अब पाश्चात्यवाले भारतवासियों का आर्य होना स्वीकार नहीं करते हैं। इसका कारण यह है कि 'आर्य' जाति से वे 'उत्तर-यूरोपीय' और 'यूरोपीय श्वेत जातियों' के वंशधरों को ही समझते हैं। लेकिन भाषातत्व के पण्डितों ने भाषा की दृष्टि से 'आर्य' शब्द को पारस्यवासियों और भारत के संस्कृत-भाषियों के प्रति प्रयोग करने का निर्देश दिया है।

आजकल भारतवर्ष में भी, बहुतेरे भारतीय पण्डित यूरोपवालों के इस तथ्य को चर्वितचर्वन करके प्राचीन भारत में 'नर्डिक' जाति के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। इसके अलावा कोढ़ पर खाज की तरह वे ब्राह्मणों का स्वरूप पानिनीलिखित, 'गौरः पिंगलः कपिलकेशः'[२४] (Panini-Vol I. P. 115) श्लोक को पढ़कर प्राचीन भारत में उत्तर यूरोपीय 'नर्डिक' अथवा एक अभारतीय श्वेत जाति के अस्तित्व के सम्बन्ध में निस्सन्देह हो गये हैं। लेकिन शायद वे इस बात को नहीं जानते हैं कि पामीर पर्वत के ऊपर इरानी-भाषी सफेद गुलाबी वर्ण, भूरी आँख, तथा लाल केशवाली एक जाति का अस्तित्व सर औरेल स्टाइन ने आविष्कार किया है। इस जाति को नरतत्व के पण्डित जुयस ने 'लापुज' (Laponge) 'आलपिन' बतलाया है। पामीर पर्वत से मध्य यूरोप के 'आल्पस' (Alps) पर्वत तक बसनेवाली जाति को यूरोप में 'अलपिन' (Alpine) कहते हैं। जर्मन नरतत्व-विद् अध्यापक लुसान (Luschan) ने एशिया में बसनेवाले 'अलपिनों' को 'आरमेनैड' (Armenoid—[२५] आरमेनीयन की तरह) नाम दिया है। इन्हें एशिया माइनर की 'आरमनी' जाति में 'अलपिनों' का शारीरिक लक्षण विशेष रूप से मिला था। इनका शारीरिक लक्षण है—A white rosy race, vary brachycephalic, statue above average, with prominent nose, hair brown, usually dark, eyes medium in the moin—[२६] यहीं पर उन्होंने और एक दूसरी जाति की खबर भी दी है :—Brown, mesoticephalic ; tall, prominent and aquiline nose, black wordy hair, dark eyes. This race may be termed 'Indo-Afghan' using Deniker's nomenclature. [२७] इससे भारत के उत्तर-पश्चिम सीमान्त की दो आर्य भाषाभाषी जातियों के शारीरिक लक्षण हमें मालूम हुए[२८]। विभिन्न आधुनिक हिन्दू-जातियों के शारीरिक लक्षणों का

22—Ripley—'European Races', chap. on 'Aryan Controversy. 23—Sergi—The Mediterranean Race.

२४—पानिनी गन्धार देश के अधिवासी थे, ऐसा अनुमान किया जाता है। इसलिए इस वर्णन का वहाँ के लोगों पर लागू होना सम्भव है।

25—Von Luschan—Huxley Memorial Lectures. 26—Joyce—I A. I. Bk. 33. P 468. 27—Joyce—I. A. I Bk. 33 P. 468. 28—Dr. B. S. Guha—Census of India, vol, I P. III.

विश्लेषण करने से उपर्युक्त इन दोनों जातियों के शारीरिक लक्षण उनमें भी मिलते हैं।[२९]

जयस (Joyce) के अनुसंधानों से हमें यह मालूम हो जाता है कि पाणिनी के 'गौर: पिङ्गल: कपिलकेश:' ब्राह्मण का इरानी रक्त का मनुष्य होना असम्भव नहीं है, लेकिन उसे उत्तर यूरोप से आमदनी करने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। और यह भी सम्भव होता है कि, जाति में जो लक्षण दुष्प्राप्य होते हैं उसी को ही लेखकगण आदर्श समझते हैं। इसीलिए भारत के ब्राह्मण को उपर्युक्त लक्षणयुक्त कहा गया है। वेद में 'आर्य' और 'दस्यु' को एक जाति का कहा गया है। 'वैश्वामित्र दस्युनां भूपिष्ठा:।' और 'आर्य' तथा 'दास' को नहुष की सन्तान कहा गया है (१६-२२-१०)। दोनों जातियों के साथ बीच में इतने झगड़ों के होते हुए भी इन्द्र को दोनों जातियों के साथ समभाव प्रकाश करते देखा जाता है ; यथा—हे इन्द्र, तुमने आर्यों के लिए ज्योति: प्रकाश किया है, और 'दस्यु' को अपनी बाईं और बैठाया है' (२-११-१८)। दूसरे इन्द्र कहते हैं—मैं यज्ञ में यजमानों को देखता जा रहा हूँ। दास और आर्य को विशेषरूप से पहचानता हूँ ; उनका बनाया हुआ हव्य और अभिपुत सोम ग्रहण कर रहा हूँ' (१०-८६-१९)। इन सब बातों से अनुमान होता है कि पहले-पहल इन दोनों जातियों का विवाद धर्म की भिन्नता और पार्थक्य को ही लेकर था।[३०] लेकिन यूरोपीय पण्डितों को वेद में श्वेत और काले रंग की जातियों में विवाद दिखाई पड़ता है। आजकल दुनिया में उत्तर यूरोपीय जातियों के द्वारा अमेरिका, अस्ट्रेलिया, और दक्षिण अफ्रिका में जिस प्रकार 'सफेद और काली' जातियों में विवाद चल रहा है, इसी का पुनराभिनय उन्हें वेद में दिखाई पड़ता है। और हमारे देशवासी भी उसी को बदहजम करके भारतीय इतिहास में उसी का अनुसरण करते हैं।

[अपूर्ण]

★

29—B. N. Datta—Die Indische Kasten System in 'Anthropos'. Band XXII. 1927.

30—Vedic Index.

टेढ़ी रेखाएँ

●

[राजेन्द्र शर्मा]

और इस कलेजा चीर देनेवाली सर्दी में भी कुन्ती को पाँच बजे उठकर नहाना पड़ता है। न उठे तो काम भी कैसे चले। बेबी बराबर की बेटी होने को आई। पर मन होता है तो शाम की पूरी बुरी-बावली सेंक डाली, नहीं तो वह भी नहीं। कौन बेचारी का हाथ बँटानेवाला दीखता है? सभी खानेवाले हैं। और जब कुन्ती कुछ थकान महसूस करती है, बच्चे काम को हाथ नहीं लगाते, तब एक ही दिन में कई बार वह उकताती-सी झुँझला कर कह उठती है—'खाने को शेर, कमाने को मुर्गे हैं यहाँ तो सब के सब !'

पाँच बजे ही डेगची में पानी रख देती है चाय का। और फिर बेबी को आवाज़ देती है—'उठती है कि नहीं? हम आदमी ही नहीं हैं? जो पाँच बजे से रात के बारह बज जाते हैं!' बेबी कुछ न करने भी क़ाफी काम कर डालती है। थकी-सी कहीं रात के दस बजे कमर सीधी कर पाती है। फिर सुबह ही उसे मा की यह पुकार कुछ बेतुकी लगती है। पर क्या करे? बेचारी रजाई छोड़कर उठ बैठती है। और कुन्ती फिर कहती है—'चाय हो चली। इत्ती अबेर कर लेते हैं सब उठने को। जगा इन्हें! और मदन को निबटाकर उसका मुँह भी धो दीजो, नहीं तो मारा-मारा फिरा करेगा नौ बजे तक!'...

बेबी जब मदन को जगायेगी तब वह उठेगा ही नहीं। जैसे-तैसे शैतान उठता है तो रीं-भीं करता हुआ; और-कुन्ती रसोई में से ही कहती है—

'इसके करम में रोना ही लिखा है सुबह से...' कुन्ती भी क्या करे? बड़े से लगाके छोटे तक सब आपस में लड़ने उठते हैं। दिन भर लड़ाई-कटाई-सी मची रहती है घर में। कुन्ती को अक्सर यही कहना पड़ता है दिन भर-कि इनके साथ चिल्लाने को भी एक मज़बूत आदमी चाहिए। सारा भेजा चाट डालते हैं मेरा तो! सब दिमाग खोखला कर दिया मेरा!—और बेचारी चिल्लाकर भी क्या करे? आखिर में उसे ही चुप होना पड़ता है! बच्चों का खयाल न रखे तो जाने उनका क्या हाल हो? वह ठीक ही तो कहती है—'मेरे मरने पर कोई बात भी नहीं पूछेगा तुम्हारी!' और उसके चेहरे पर एक विचित्र-सी उदासी छा जाती है। बच्चे इतना तंग करे रखते हैं कि वह उकताई-उकताई-सी, भूली-भूली-सी, और हाँ, जली-भुनी-सी रहती है। पर मा को मोह हुआ करता है सन्तान से। उनके लिए ही तो वह पाँच बजे उठती है। चाय बनाती है। मुन्नी गोद में पड़ी-पड़ी दूध चूसा करती है और वह सब बच्चों को चाय बाँटती है। पर मदन कैसा शैतान है! प्यालों में तो कुन्ती चाय देती ही नहीं। कई बार मँगाये, पर इन बच्चों ने एक भी साबुत न रहने दिया तो मदन एक बार तो गिलास की चाय पी

जायगा और फिर कुन्ती के सामने गिलास लाकर रख देगा—'भाभी, थोड़ी-सी और लेंगे !' कुन्ती कैसे दूँ ? सोचने लगती। एक बार तो कहती—'ज्यादह नहीं ! ज्यादह चाय नुकसान करती है ! पर मदन ! वह तो पक्का ढीठ है, यदि वह फौरन ही ठिनकना शुरू न कर दे तो उसे ढीठ ही कौन कहे ! और उस परेशान कुन्ती की झुँझलाहट क्या इस बात से रुक सकती है ! 'मैं कल से करना ही छोड़ दूँगी ! कोई पेट भरने की चीज़ है यह भी ? एक तो कर देती हूँ कि मरे दिन भर सर्दी में मरेंगे ! नाक में दम कर रक्खा है।' इतना सुना कि मदन का ठिनकना और बढ़ा। बस, कुन्ती को झुँझलाकर 'थोड़ी-सी' और देनी पड़ती है। उसकी धमकी कामयाब हो जाया करे तो वह क्यों दिन भर चिल्लाया करे ? कौन उसका कहना सुनता है ? कितना समझाती है। पर मजाल क्या किसी के कान तक लग तो जाये ! पास की पड़ोसिनों में बैठकर कुन्ती एक खीझ भरी हँसी हँसते हुए कह देती है—'मरों ने कुत्ता करके छोड़ रक्खा है !' और दूसरे सुबह फिर उसे चाय बनानी पड़ती है। कोई उसके भीतर है जो उसे पाँच बजे उठाता है और नित्य की भाँति वह काम में जुटकर इस 'नित्य की भाँति' को जैसे सार्थक करती है। मदन ही नहीं, वह तो पाँच-सात साल का होगा ; पर उससे अधिक कमला चिल्लवाती है कभी-कभी मा को। और चाय पीते समय तो रोज ही। चाय ले लेगी। एकाध घूँट पीकर छोड़ देगी, और मा कहेगी—'सबको चाय भाती है, और यह रंडो रोज खराब कर देती है। जितना इनके मारे कोई मरे उतना ही दिमाग आसमान पर चढ़ता है। मिल रही है ना ? ' पर इसका असर क्या ? कमला जरा चालाक है। मा ने तो शायद यह सोचा है कि कुछ थोड़ा बहुत पढ़ लेगी तो अच्छी जगह ब्याह हो जायगा, इसी से कमला को बिचली बेटी मँगती के साथ स्कूल भेज देती है। दोनों बहिनें स्कूल से आती हैं तो मा को नित नया फैसला करना पड़ता है। और जब स्कूल जायेंगी सबेरे तो कमला पूछेगी—'अम्माँ ? क्या पहिनकर जाऊँ ?' तो कुन्ती कहती—'मरों ने सब तरफ से खा रक्खा है ! कोई भाभी ! कोई अम्माँ... इतने बूढ़े बैलों को यह भी नहीं पता कि क्या पहिनें ? मन में तो यह आता है चुड़ैल का गला काट दूँ ! रोज़ नया कपड़ा कहाँ से लाऊँ तेरे लिए ? पहिन जा सिल-वार ! ..' कमला भी ठिनकना जानती है। वह जरा चालाक है ना ! वह मदरसे जाकर यह सीखी है कि रोज़ कपड़ा बदल कर जाऊँगी मैं तो ! कुन्ती कहती—'कहीं गरम कपड़े भी रोज़-रोज़ बदले जाते हैं ?' और फिर वह उसे समझाती-सी हार गई हो जैसे, कहती 'देख कमला, तू मुझे मत चिलवाया कर। मँगती को तो देख, जो कहती हूँ वही करती है ! पहिन जा सिलवार ही...!' पर सर्दी में काँपना उस जिद्दी कमला को मंजूर था। सिलवार नहीं पहिन कर जायेगी। भले ही मँगती की मिसाल उसके सामने मा रखती रह जाये पर उसकी सुने बला। मँगती सचमुच भोली लड़की थी। पर वह भी एक तरह से मा को कम न सताती थी। आये दिन उसे स्कूल के लिए कॉपियाँ चाहिये। जब तक तीन पैसे की कॉपी आती रही, मा उकताकर देती रही। लेकिन वही जब छः की हो गई तो कुन्ती जैसे बोझे से दब गई।—'क्या होता है रोज़-रोज़ कापियों का ? कह दीजो 'उस्तानी' से सलेट पर करूँगी मैं तो ! हमने कभी कापी खरीदनी ही नहीं जानी ! हमेशा

सलेट पर काम करते थे हम तो।—ना हमारे जमाने में तख्ती ही थीं। कुछ पढ़ायें ना लिखायें, यों ही कापी चितवानी हैं...!' कुन्ती क्यों न टाले! उसे भी तो सुननी पड़ती है ना! देवी तो उससे ही कहता है—'तुमने ही सबको सिर पर चढ़ा रक्खा है! जानती है ना कि मरनेवाला...!'

कुन्ती को पति की यह बात कुछ चुभ जाती, उसकी आँखों में आँसू तक आ जाते और तब वह भर्राये गले से कहती—'जाने क्या सिर पर चढ़ा रखा है? सब मुझे ही खाने को हैं!...मैं तो जिस घड़ी से व्याही आई तुम्हारे घर में, कभी भी सुख नहीं पाया। ऐसे ही मर जाऊँगी किसी दिन देख लेना। .'

देवी पत्नी की यह बात सुनता तो—कुछ गलती कर बैठा हूँ—ऐसा सोचने लगता। कहता—'तुमने यही सीख लिया है! मर जाऊँगी लगाई पंचायत!...' और सिर में सरसों का तेल मलते हुए वह स्नानागार की ओर बढ़ता तो कुन्ती उसी रुआँसे कण्ठ से कहती—'यह चाय तो पीलो! कब की आँच पर रख छोड़ी है। इतनी देर लगाते हैं घूमने में ही—' और देवी बेचारा क्या करे? रात को बारह बज जाते हैं स्टेशन से लौटते-लौटते। सरकारी नौकरी कोई मखौल थोड़ी है! शाम के चार से ग्यारह तक का काम है। पर कुन्ती जानती है कि पति कई बार डेढ़-डेढ़ बजे तक लौटते हैं। क्योंकि कुण्डा तो वही खोलती है न उठकर। फिर देवी ने यही सोचा है कि घूमने न जाऊँ तो स्वास्थ्य का क्या हाल हो? और नौ बजे ही वह चाय-का गिलास उठाकर मुँह से लगाता है। दो-चार बार कुल्ला करके सो भी! पायोरिया जो हो रहा है दाँतों में। कितने ही मंजन तरह-तरह के कर लिये पर गृहस्थी में फँसे देवी को विक्षिप्त बनाने के लिये जैसे इस रोग का रहना भी आवश्यक हो! देवी वहीं रसोई के पास बैठकर चाय पीने लगता और उसकी ललचाई-सी आँखें मुन्नी की ओर चली जातीं। और मुन्नी को हँसते देख उसका वृद्ध-प्रायः शरीर खुशी से खिल उठता। लोई बनाती कुन्ती तीक्ष्ण स्वर से कहती—'कहाँ चले गये सब। कोई लेगा कि नहीं आज इसे? मैं रोटी सेकूँ! देर होगी मदरसे को बच्चों को!...' जब उसकी पुकार निष्फल चली जाती तो देवी चाय का गिलास सम्भालते हुए आवाज लगाता—'बेबी!' तभी कुन्ती समझ जाती कि टट्टी गई है।—'अब नौ बजने आये। मैं जभी तो कहती हूँ, सिदौसी उठे तो काहे को फजीता पड़े...' और तब कमला कहती हुई आयेगी—'अम्मा! हम तो आज चावल ही लेंगे!'

पहिले से झुँझला रही कुन्ती और भी झुँझला उठती—'आई बड़ी 'अम्मा' की मनैती! तत्ता अंगार धर दूँगी मुँह में! चावल खायेगी न? पहिले रोटी दूँगी मैं तो! तब कमला रखी हुई थाली पर एक बार हाथ टेककर भूल जाती और देवी डाँटकर कहता—'कमला!' बस पिता का तो इतना ही कहना बहुत है कि सब ठीक हो जायगा। पर मुन्नी को सम्भालने वाला कोई नसीब नहीं था। देवी ने कहा—'लाओ मुझे दे दो!' लेकिन कुन्ती बरस-सी पड़ी—'बारह बजाने को इन्हें दे दो। नहाते क्यों नहीं जाकर!' फिर कुन्ती एक बोरी मँगवाती मंगती से; पास बिछाकर उसी पर मुन्नी को लिटाये रखती। तब मदन, मंगती, कमला सबको बराबर बैठाकर खाना खिला देती। जब बच्चे

मदरसे चले जाते तब एक हलकी-सी श्वाँस कुन्ती के मुँह से निकलती और गंगा भी मा से कहती—'चलो चार बजे तक को तो ग़दर दबा !' फिर बारह बजे तक कहीं देवी खाना खाता। क्योंकि उसे पूजा करनी होती है; फिर मन्दिर भी जाता है दर्शन करने। गृहस्थी में कुछ भी खर्च हो, पर उसने मन्दिर में एक पैसा नित चढ़ा आना अपना फ़र्ज बना रखा था। और पति को खिलाकर वह बेबी के साथ बैठकर खाना खाती। तब बेबी धीरे से एक चाव भरी आवाज़ में मा से कहती—'अम्मा ! आज हमें चूड़ी पहिनवा दो ! हैं ? देखो काले पट्टे पहिनूँगी...' कुन्ती अन्यमनस्क-सी हो जाती और घौंटे पर कुहनी टेकती हुई कहती—'तुझे कैसे समझाऊँ बेबी ! चार दिन भी तो नहीं हुए अभी तेरी चूड़ियों को ! क्या हो गया तुझे ?...' एक क्षण को उसका खाना रुक जाता। और बेबी की गरदन मानो किसी लाचारी से झुक जाती। गिरास जैसे सटकने पड़ते।

रसोई में स्तब्धता छा जाती। एकदम शान्ति ! और कुन्ती एक सोच में पड़ जाती—'अब बेबी की शादी का तकाज़ा और ज़ोर से हो रहा है। कैसे होगा राम ? बिना कर्ज के तो काम हो नहीं सकता—' और 'कर्ज' के साथ कुन्ती को सास का मरना याद आ गया। धीरे-धीरे उसका मुँह चलता रहा और साथ ही विचारों की धारा भी; पर उस धारा की गति मुँह की गति से कहीं तेज़ थी—जब सासुजी नहीं थीं, एक भी पैसा नहीं था उसके पति के पास। बराबर में सगे चाचा रहते हैं। उन्होंने ही कहा—'चलो पहिले दिन का सब हमारी ही तरफ़ से सही। हमारी भी तो भाभी ही थीं।' लेकिन बाद को देवी ने दफ्तर की सोसाइटी से कर्ज लिया था। चाचा की पाई-पाई चुकाई थी। चुप-चुप उन्होंने ले ली। और फिर तकाज़े सोसाइटी के !...कर्ज और...तक़ाज़े...तभी एक चिड़िया फुर्र से उड़ गई। चावल लेकर और कुन्ती का मन भी हट गया। लेकिन फिर थोड़ी देर बाद वह उसी सोच में पड़ गई। विषाद की छाया इस बार गहरी और स्पष्ट थी—'बेबी ही थोड़ी ? उसके बाद मँगती भी तो सयानी हो चली। और दो साल बाद कमला के भी तो पीले करने ही पड़ेंगे। अकेले क्या-क्या कर लें ! बड़ी परेशानी है ! जने क्यों भगवान ने हमें बना दिया ? कोई लड़का भी तो हमारे भाग का सयाना नहीं ! मदन ही है हमारा तो, जो कभी किसी लायक हुआ तो ! सासुजी तो उसका भी मुँह न देख पाईं ?' बेबी ने कहा—'ज़रा से चावल और दे दो !' कुन्ती ने सरल स्वभाव से दे दिये। और फिर उसी तरह धीरे-धीरे खाने लगी। और जब बेबी उठकर चली तो कुन्ती ने कहा—'कल के लिये दाल बीन कर रख दे उड़द की !' पति को यही तो बहुत भाती है उसके। पर बेबी ने कहा—'वह तो खत्म हो गई !' तो उसकी मा बड़बड़ाई—'पूरे महीने भर भी नहीं चलती कोई चीज़ ! और अबकी डेढ़ महीने के सब सौदे लाये थे ! किसी तरह से पाटा ही नहीं बाँधे बँधता ! दोनों बार उड़द ही खायेंगे बाबू साहब !'

सबसे बड़ी बेटी का ब्याह हो चुका था। और वह बेचारी पति के साथ यहीं तो रहती थी। नौकरी यहीं थी पर कुन्ती ने कभी पैसा न जाना कभी उनसे। इसीसे तो 'बाबू साहब !' से कुढ़ती थी। जमाई बाबू सब तनख्वाह जाने कहाँ उड़ाते ? न कपड़े से मतलब न लत्ते से ! खाना और दो ऊपर से !

ओफ़ ! कितनी तंग गृहस्थी चल रही थी। देवी की ! पर कुन्ती सामर्थ्य न होते हुए भी सब सहन करती। उसका हृदय, वह कहती थी कि—सबके लच्छन देख-देखकर मेरा कलेजा तो सच्ची, चलनी हुआ पड़ा है !—और बच्चे जब घर को ही सर पर उठाते तो वह कहती—'देख लेना, किसी दिन तुम्हारे पीछे ज़हर खाकर सो जाऊँगी !'—पर एक मजबूरी से देवी और कुन्ती घिरे होते हैं, कि तंग रहकर भी उन्हें सब करना पड़ता है। बच्चे कैसे भी हैं, पर हैं तो बच्चे ! देवी को भूखा भी रहना पड़ा, कर्ज़ भी लेना पड़ा है। तकाज़े भी सहने पड़े हैं, दिल में उसके भी घाव हो जाये हैं, और यह सब काम बराबर होते भी जा रहे हैं ; लेकिन एक झुँझलाहट, कुढ़न और चिढ़चिढ़ाहट के सिवाय और उससे क्या बन पड़ता है ! मन्दिर जाते समय वह सोचता होता है—'कभी तो भगवान हमारी भी सुनेंगे ही ! सदा दिन किसके एक-से रहे हैं ?' और फिर वह आप ही आप एक-शुष्क-सी हँसी हँस देता है। फिर वह तजवीज़ें बनाने लगता है—'कम्पनी से ही लोन लेना पड़ेगा। बेबी का व्याह कैसे भी नहीं रुक सकता अब ! कम्पनी में मेरे दो हज़ार तो पहुँच चुके होंगे ..' देवी ने लाइफ़ इन्श्योर कराई थी अपनी, इसी बुनियाद पर वह यहाँ तक सोच पा रहा था। और एक दिन जब उसने कम्पनी के फ़ेल होने की बात सुनी तो जाने कितना सदमा उसके झुलसे हुए दिल पर पहुँचा। एक आँसू भी उसकी कातर आँखों से नहीं निकला। और वह एक ठण्डी साँस छोड़कर पूर्ववत् परेशानियों के लम्बे, दूर तक फैले रेगिस्तान में पानी की एक बूँद की खोज में निराश, सूखे ओठों को चबाता हुआ दौड़ रहा था। रेत में उसे बहुत से पद-चिह्न दीख रहे थे। उसने समझा—मेरी तरह इस पथ पर बहुत लोग चले जा रहे हैं, पर वह दीखते नहीं।

*

उपन्यास का भविष्य

[श्रीचन्द्र अग्निहोत्री]

कवि स्वयं जो कुछ अनुभव करता है, उसी का वर्णन करता है, इसलिए कवि की अनुभूति का बृहत् मानव-गोष्ठी के साथ सादृश्य रहता है, क्योंकि ऐसा न होने से अनुभूति सर्वसाधारण के लिए बोधगम्य न होगी। इस प्रकार मानवता के सहज साधारणत्व तक पहुँचना कवि और काव्य का लक्ष्य है। कवि अभियोजित (adapted) मनुष्य के अन्तराल में रहनेवाले गणरूप मनुष्य (genotype) के निकट आवेदन करता है। काव्य में 'मैं' के चारों ओर मनुष्य की भावाभिज्ञता आकर एकत्र होती है। काव्य किसी विशेष स्थान से एकत्र किये वास्तव के अनेक सहज परिपेक्षणों (instinctive perspectives) का समूह है, और काव्य के द्वैर्थक होने के कारण ही उसका प्रसार तरंग की भाँति होता है।

उपन्यास का प्राथमिक यात्रारम्भ वास्तव जगत से है। वास्तव जगत ही उपन्यास के विषयीभूत अनुभावों (subjective associations) का उद्गम है। इसी लिए हमें उपन्यास या कहानी में 'मैं' नहीं मिलता। हम उपन्यास द्वारा रचे संसार में खड़े होकर देखते हैं, नायक के साथ अपनी एकात्मता का अनुभव कर उसी के साथ उसके वातावरण के परत्व (otherness) के चारों ओर निहारते हैं। सहज प्रवृत्ति और परिस्थिति के अन्त: स्थित विरोध को व्यक्त करना उपन्यास का उद्देश्य नहीं, परिस्थिति अर्थात जीवन-अभिज्ञता में परिवर्तन के लिए इस विरोध में जो रूपान्तर होता है, उसी को व्यक्त करना उपन्यास का लक्ष्य है। श्रेणीयुक्त समाज में प्रत्येक मनुष्य की अभिज्ञता में इतनी अधिक पृथकता रहती है कि उपन्यास काल-क्रमिक हुए बिना रह नहीं सकता, अर्थात गतिशील प्रत्यक्ष वास्तव, उपन्यास में प्रतिफलित होगा। उपन्यास के चरित्रों की क्रिया और अनुभूति को वहिर्जगत से विचार करना ही ठीक है। इसी लिए उपन्यास वास्तवआश्रयी, जगत् के विभिन्न स्थानों से एकत्र, नायक के अनेक परिप्रेक्षणों का समूह है। इसलिए उपन्यास उसी समाज में बढ़ सकता है। जिस समाज में मनुष्य की अभिज्ञता का तारतम्य इतना सुस्पष्ट है कि वहिर्जगत का आश्रय लिये बिना काम नहीं चल सकता। अभिज्ञता का यह तारतम्य समाज में द्रुत परिवर्तन पर ही सम्भव है, और इसके मूल में मानवीय वृत्तियों के बढ़े हुए विभेद, जीवन की गति और द्वन्द्व-मूलक (dialectical) धारा मिलती है। इसीलिए उपन्यास का प्रकृत जनक हुआ पूँजीवादी समाज। *

उपन्यास की सबसे प्रधान उपजीविका है व्यक्ति। समाज के विरुद्ध, प्रकृति के विरुद्ध व्यक्ति जो संग्राम कर रहा है, उसी की कहानी लिपिबद्ध की जाती है। इसी कारण मनुष्य और समाज में जब साम्य और न रह गया, मनुष्य ने जब अपने को प्रकृति के विरुद्ध संग्रामरत सैनिक के रूप में पाया, केवल तभी कला को यह नया रूप देना सम्भव हुआ, तभी उपन्यास का जन्म हुआ। उपन्यास के जन्म की खोज करने से पता चलता है कि रेनेसांस के पहले उसका अंकुर ही न रहा हो, ऐसी बात नहीं; लेकिन वह जीवन उल्लेखयोग्य न था। श्रेणीयुक्त समाज में जब मनुष्य और प्रकृति के बीच का विरोध अधिक बढ़ा, तब उपन्यास को कला की राजसभा में आने का प्रवेशाधिकार मिला। संसार की दो प्रसिद्ध कहानियाँ हैं ओडेसी और राबिन्सन क्रूसो। लेकिन दोनों में क्या आकाश-पाताल का अन्तर नहीं है? ओडेसिस है इतिहास वर्जित समाज का मनुष्य, जिस समाज में काल्पनिक और वास्तव में कोई भेद नहीं। जहाँ समय की विभीषिका नहीं। तूफानी समुद्र के वक्ष पर घूमता हुआ ओडेसिस इसीलिए निर्भीक है, क्योंकि ओडेसिस को पता है कि उसके जीवन का नाविक अमर्त्यलोक का देवता है, तूफान है उसका क्रोध। यह सब जानने के कारण ही ओडेसिस निर्विकार और निश्चिन्त था। वह जानता था कि देवता मनुष्य की परीक्षा लेते हैं। फिर से शान्तिमय जीवन प्राप्त करने के पहले देवता की इस अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण होना ओडेसिस के

* काडवेल की 'इल्यूजन एण्ड रियालिटी' नामक पुस्तक के आधार पर।

निकट गौरवमय होते हुए भी उसमें जय-पराजय का संशय नहीं। राबिन्सन क्रूसो में यह बात नहीं।

ओडेसिस का कोई इतिहास न था। पृथ्वी की शैशवावस्था में ओडेसिस हुआ, देवताओं के साथ उसका परिचय था। रॉबिन्सन ने अतीत को छोड़कर स्वयं अपना इतिहास बनाने की तैयारी की। रॉबिन्सन हुआ नया मनुष्य, जो प्रकृति का अभिभावक बनना चाहता था। शत्रु से संग्राम करके उस पर विजयी होना चाहता था। रॉबिन्सन का संसार वास्तव संसार है, उसमें वस्तु का मूल्य जानने की शक्ति और अनुभूति है। तूफान के देवता के क्रोध की अभिव्यक्ति न मानने के कारण ही रॉबिन्सन अपना जहाज तथा माल लेकर परेशानी में पड़ता है—मनुष्य जलदस्यु, विद्रोही, पाशविक और माया-ममता-हीन होता है। लेकिन क्रूसो का अपने पर अगाध विश्वास, असीम श्रद्धा है। अपनी इसी आशा और इसी सरलता के कारण वह भाग्य की निष्ठुर विडम्बना पर विजय प्राप्त करता, प्रकृति के विरोध और सहयात्रियों के विद्रोह का दमन करता, और समुद्र पार अपने अनुकूल उपनिवेश खोजता है। निर्वासित रूसनिवासियों से क्रूसो ने अपनी जानकारी और द्वीपवासियों की अभ्यर्थना की कहानी कहते समय बतलाया—

'सभी मेरी कहानी सुनकर मुग्ध हो गये, विशेषतया राजकुमार। राजकुमार ने लम्बी साँस लेकर मुझसे कहा कि अपना समूचा भार अपने ऊपर लेना ही जीवन में सच्ची महत्ता का परिचय देना है।'

क्रूसो की यात्रा इथा के लौटने, विचक्षण टेलेयिकस या सहिष्णुता की मूर्ति पेनेलोप की अभ्यर्थना में कही साइबेरिया की अन्तिम यात्रा और फिर से एलबी लौट आने में समाप्त हुई। वहाँ रॉबिन्सन को क्या लाभ हुआ?

'यहाँ मैंने तथा मेरे साझीदार ने बहुत अधिक सौदा बेचने की सुविधा प्राप्त की। जिस तरह चीन की चीजें उसी तरह साइबेरिया के सेबल भी बिके। हिस्सा बाँटने पर मुझे अपने हिस्से में ३४७५ पौण्ड १७ शिलिंग और ३ पेंस मिले। इसमें बंगाल से खरीदे प्रायः ६०० पौण्ड के जवाहरात थे।'

ओडेसिस और क्रूसो दोनों का ही जीवन भ्रमण की अद्भुत कहानी है, और दोनों ने ही अन्त में शान्ति से अवकाश ग्रहण किया। लेकिन दोनों में विरोध है इस जगह कि ओडेसिस की जीवन-कहानी है, गृहाभिमुखी, ट्रॉय के युद्धक्षेत्र से अपने द्वीप को लौट आना; और रॉबिन्सन क्रूसो की है, बहिर्मुखी, घर के भीतर नहीं घर के बाहर। क्रूसो साम्राज्य-प्रतिष्ठाता है। उसने संग्राम प्रतियोगिता में प्रकृति का आह्वान कर उस पर जय प्राप्त की। पूँजीवादी समाज के गर्भ से जन्म लेकर क्रूसो ने साम्राज्यवाद का बीज बोया। वह बीज आज विराट् वटवृक्ष के रूप में खड़ा है, उसकी शाखा-प्रशाखाएँ पृथ्वीव्यापिनी हैं। क्रूसो एक दिन चीजों की बिक्री के मुनाफे से जिस महान् साहसिक काम के लिए आगे बढ़ा था, पूंजीवादी समाज के विकास में साम्राज्यवाद के आविर्भाव के साथ-साथ आज उसी मुनाफे ने—उस

रुपय आना पाई ने मनुष्य के पारस्परिक आन्तरिक सम्बन्ध और आत्मीयता को प्राणहीन आर्थिक सम्बन्ध में परिणत कर दिया है। इसीलिए पूँजीवाद की शैशवावस्था में जिस समय मनुष्य का जीवन विराट् शक्ति की आँच से जगमगा रहा था, पूँजीवाद के द्वारा पैदा किये गये वास्तव क्षेत्र में जब मनुष्य परिपूर्ण रूप में दिखलाई पड़ता था, उपन्यास ने मानव चरित्र की सृष्टि से जो युगान्तर पैदा किया था, आज वह चरित्र-सृष्टि उपन्यास में लुप्त हो गई है। उसका कारण है आज पूँजीवादी समाज का विकृत रूप। उसके मृत्यु मलिन मुख पर साम्राज्यवाद की विभीषिका है, इसीलिए आज मनुष्य विकृत है, उसके पूर्ण रूप की वह दीप्ति आज लुप्तप्राय है। पूँजीवाद की मृत्यु होती है, किन्तु क्या उस दशा में उपन्यास की भी मृत्यु अवश्यम्भावी है ?

उपन्यास की मृत्यु अवश्यम्भावी नहीं। समाजवाद उपन्यास को नवजीवन देगा। जब समाज का सामाजिक मनुष्य ही उपन्यास का प्रधान उपादान है, तो समाज का उन्नततर अवस्था में रूपान्तर होने पर उपन्यास का उपादान और भी ऊँचा उठेगा। एक नये समाज में अपनी विराट् शक्ति को समझकर मनुष्य ने समाज में जितनी पूर्णता प्राप्त की थी, क्या आज एक नये समाज में अपनी उससे भी विराट् शक्ति का परिचय पाकर और अधिक पूर्णता नहीं प्राप्त करेगा ? आज वही उन्नततर मनुष्य और समाज सोवियट यूनियन में अपने अस्तित्व को प्रमाणित कर रहा है और विस्तार की आकांक्षा उसके प्राणों में आन्दोलित हो रही है, तो उपन्यास क्यों न अपना लुप्त गौरव फिर से प्राप्त करेगा ? या उसे उपादान का ही क्यों अभाव रहेगा ?

उपन्यास को पुनर्जीवित करने के लिए उसे फिर से ऐतिहासिक तथा महाकाव्य सम्बन्धी गुणों से मण्डित करने की आवश्यकता है, इसीलिए उपन्यास के इन दो गुणों के सम्बन्ध में उदीयमान पूँजीवादी युग के अर्थात् अठारहवीं शताब्दी के औपन्यासिकों का मतामत जानना और तत्कालीन साहित्य का अवलोकन करना बहुत जरूरी है। इंगलैंड के अठारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध औपन्यासिक हेनरी फिल्डिंग ने उपन्यास के इस ऐतिहासिक तथा काव्य सम्बन्धी गुण पर विशेष जोर दिया है। फिल्डिंग ने अपने The History of Tom Jones—A Foundling नामक उपन्यास के एक अध्याय में कहा है—

'यद्यपि इस पुस्तक को जीवन-चरित्र न कहकर इतिहास कहा गया है, फिर भी इसमें हम उन लेखकों का अनुसरण करेंगे जो देशों की क्रान्तियों का प्रकाशन करना चाहते हैं, न कि शुष्क इतिहासज्ञों का जो सन सम्वतों का ढेर लगाकर सामान्य घटनाओं पर भी उतना ही कागज व्यय करते हैं, जितना महत्वपूर्ण घटनाओं के लिए। यह इतिहास दैनिक-पत्रों के समान है, जिनमें कालम समान रहेंगे चाहे मसाला हो या नहीं।' फिल्डिंग के इस कथन का मतलब होता है कि औपन्यासिक के वर्णन का प्रधान लक्ष्य होगा परिवर्तन, कार्य-कारण-सम्बन्ध, संकट और विरोध (crisis and conflict), सिर्फ विषय सम्बद्ध विश्लेषण नहीं। उसी उपन्यास के एक और अध्याय में फिल्डिंग ने औपन्यासिक

के दो प्रधान गुणों का उल्लेख किया है—१ प्रतिभा (Genius),—२ विद्या (Learning) प्रतिभा दो शक्तियों उद्भावन-शक्ति (Invention) और विचार-शक्ति (Judgment) का समन्वय है। फिल्डिंग कहता है—

'इस श्रेणी के ऐतिहासिकों के कई खास जरूरी गुणों के सम्बन्ध में मैं अब बताऊँगा। पहला है प्रतिभा, जिसके बिना होरेस कहता है 'हमारा सारा अध्ययन व्यर्थ है।' प्रतिभा कहने से मैं उस शक्ति या शक्ति-समूह को समझता हूँ जो हमारे सभी ज्ञेय विषयों के अन्तस्तल में जाकर उनके प्रकृतिगत पार्थक्य पर विचार करने में समर्थ है। यह शक्ति है उद्भावन और विचार-शक्ति और इन दोनों की सम्मिलित शक्ति को प्रतिभा कहा जाता है। इन शक्तियों के सम्बन्ध में अनेक व्यक्तियों की भ्रान्त धारणा है। उद्भावन-शक्ति का व्यवहार सृजन-शक्ति के अर्थ में होता है, और कई रोमांटिक लेखक इस अर्थ का सुयोग लेकर प्रतिभा का अत्यधिक मूल्य बतलाते हैं। लेकिन उद्भावन कहने से अनुसन्धान करके आविष्कार करने के सिवा मैं और कुछ नहीं समझ पाता, अर्थात् उद्भावन का अर्थ होता है हमारे विचार्य विषय के भीतर प्रवेश करके उसके सार को प्राप्त करना। विचार से अलग यह मर्म की खोज सम्भव नहीं, क्योंकि दो विषयों के भीतर के सत्य को हम बिना दोनों के भेद पर विचार किये कैसे पायेंगे।... लेकिन विद्या और ज्ञान के बिना इन दोनों शक्तियों का भी कुछ उपयोग नहीं। इसके पक्ष में केवल होरेस का नहीं अनेक लेखकों के मत दिये जा सकते हैं कि यंत्र के किसी काम में व्यवहृत न होने पर या यन्त्रव्यवहार के योग्य उपादान न होने पर श्रमिक का कुछ भी लाभ नहीं। एक मात्र शिक्षा ही यह उपादान जुटा सकती है; क्योंकि प्रकृति से हम शक्ति या अस्त्र पाते हैं, और शिक्षा उस अस्त्र को व्यवहार-योग्य बनाती है, उपादान संग्रह करती है।'

इस युग के औपन्यासिक जब फिल्डिंग के इस दृष्टिकोण से उपन्यास पर विचार करेंगे, तो फिर नये वास्तव का जन्म होगा। वर्तमान जगत् के समस्त विषयों के अन्तःस्थित सत्य और विभेद की जाँच करने और मानवता के एकत्व की प्राप्ति की शक्ति जिस दिन औपन्यासिक को फिर मिल जायगी, उस दिन उपन्यास भी अपना लुप्त गौरव प्राप्त करेगा। ऐसा कहने का मतलब यह नहीं कि फिल्डिंग या अठारहवीं शताब्दी के उपन्यास ही आदर्श हैं। आज जो औपन्यासिक समाज की समग्रता को हृदयंगम करना चाहता है, उसे मनुष्य के साथ मनुष्य के सम्बन्ध और समाज में फिल्डिंग के समय से अब तक जो परिवर्तन हुए हैं, उन्हें समझना होगा, उन पर विचार करना होगा। फिल्डिंग ने औपन्यासिक में जिन गुणों के होने की बात कही है, उन गुणों को यदि आज का कोई औपन्यासिक प्राप्त करना चाहता है, तो उसे समाज के अन्तस्तल के क्रान्तिकारी स्पन्दन को प्रकाशित करना होगा। यह ठीक है कि आधुनिक मनोविज्ञान ने मानव-चरित्र के सम्बन्ध में बहुत से तथ्यों का संग्रह किया है, मनुष्य के गम्भीरतर अवचेतन मन (unconscious) में डुबकी लगाकर अनेक गुप्त मणियों की खोज की है, लेकिन इतने ही से मानव-चरित्र की सम्पूर्णता को समझा नहीं जा सकता, मनुष्य के कार्यों और विचारों पर विशेष विवेचन नहीं हो सकता। आधुनिक मनस्तत्व विश्लेषण (Psycho-analysis)

ने मनुष्य का ज्ञान बहुत बढ़ा दिया है, और कोई औपन्यासिक ज्ञान के इस पहलू की उपेक्षा नहीं कर सकता। लेकिन केवल इस ज्ञान की सहायता से व्यक्ति के पूर्ण रूप पर विचार नहीं हो सकता। सामाजिक मनुष्य पर समाज की पृष्ठ-भूमि पर विचार करना होगा। इसीलिए समाज-विज्ञान और इतिहास की वस्तुवादी व्याख्या (Materialistic Interpretatian of History) पढ़ने की आवश्यकता है। तभी व्यक्ति को पूर्ण रूप से व्यक्त किया जा सकेगा, व्यक्तित्व भी विकसित हो उठेगा। व्यक्ति समूचे समाज का एक अंश है, और इस समाज के नियम-कानून व्यक्ति के मन यन्त्र पर उसी प्रकार वियोजित (decomposed) और प्रतिसृत (refracted) होकर उसमें परिवर्तन करते हैं, और उसे चलाते हैं, जिस प्रकार प्रिज़्म के भीतर आलोक की किरणें प्रविष्ट होती हैं। समाज से विच्छिन्न व्यक्ति का रूप है खण्ड रूप, विकृत रूप। गतिशील समाज के तरंगयुक्त वक्ष में पड़े व्यक्ति का ही रूप पूर्ण है, और पूर्णरूप को प्रस्फुटित करना ही कलाकार का लक्ष्य है। आज का औपन्यासिक जब इस सामाजिक प्राणी को सही रूप में देखेगा, और उसकी जीवन गति से पैर मिलायेगा, तभी वास्तव की सृष्टि होगी, और पूँजीवाद की मृत्यु के बाद भी उपन्यास अमरत्व प्राप्त करेगा।

★

इल्यूज़न एण्ड रियलिटी, लिटरेचर और एक बँगला पुस्तक के आधार पर।

कथा-साहित्य की समस्याएँ *

[शिवदानसिंह चौहान]

साथियो ! इस समय हिन्दी में कथा-साहित्य तेज़ी से बढ़ रहा है। कुछ लोग तो पेशे से कहानी या उपन्यास लेखक हैं ही—और उनकी संख्या दर्जनों से ऊपर है—लेकिन स्कूल और कालेजों में भी विद्यार्थियों की एक बहुत बड़ी संख्या कहानी लिखने की ओर प्रवृत्त हो रही है। हिन्दी में आधुनिक कहानी बहुत नयी चीज है, क़रीब एक चौथाई शताब्दी की, फिर भी जितने लेखक, छोटे या बड़े, इस कला का विकास करने में लगे हुए हैं, उससे बड़ी-बड़ी आशायें बँधती हैं। परन्तु एक बात ध्यान देने की है। हिन्दी में जो पत्र-पत्रिकाएँ निकलती हैं, उनमें वैसे कहानियाँ तो काफ़ी संख्या में रहती हैं—इतना ही क्यों, कोई एक दर्जन पत्रिकाएँ तो कहानी की ही होंगी—लेकिन वे अक्सर दूसरी या तीसरी कोटि की ही कहानियाँ होती हैं। प्रथम कोटि की कहानियाँ तो कभी-कभी ही देखने को मिलती हैं। फिर कोई लेखक आज उच्चकोटि की कहानी लिख लेता है तो कल उसी की क़लम से तीसरे और चौथे दर्जे की कहानी निकलती है। मेरे सामने यह प्रश्न अक्सर उठा है कि एक कहानी में कोई लेखक जितनी सफलता पा चुकता है अगली कहानियों में वह उससे अधिक सफलता क्यों नहीं पाता ? क्या कारण है कि इतने कथाकारों के होते हुए भी—श्रेष्ठ रचनाओं का निर्माण नहीं हो रहा है ? इन प्रश्नों ने मुझे हैरान किया है और आज आपने मुझे अपने गल्प-सम्मेलन में बुलाकर इन प्रश्नों पर विचार करने के लिए जो अवसर दिया है उससे मैं पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहता हूँ, और चाहता हूँ कि आप भी इन प्रश्नों पर मेरे साथ सोचें, क्योंकि अभी आपमें से कई ने अपनी कहानियाँ पढ़कर सुनायी हैं, और कुछ आप में-से ऐसे भी होंगे जिन्होंने यहाँ पर सुनायीं तो नहीं, लेकिन जो कहानियाँ लिखते हैं, या लिखने की इच्छा रखते हैं। आपमें से कुछ की कहानियाँ शायद किसी पत्र में प्रकाशित भी हुई हों और मैं ऐसी आशा क्यों न करूँ कि आपमें से कुछ आगे चलकर बड़े कहानी-लेखक भी बनेंगे। और फिर, यहाँ जो कहानियाँ पढ़ी गई हैं, उन्हें सुनकर मुझे गहरी निराशा हुई है। उन कहानियों के पीछे लेखकों की चेतना में यह जानने की चेष्टा मुझे कहीं न दिखाई दी कि वे जो कहानी लिख रहे हैं वह क्यों महत्वपूर्ण है, अर्थात उनकी कहानी में ऐसी क्या विशेषता है, ऐसा क्या गुण है जो सुनने या पढ़नेवालों के लिए महत्वपूर्ण होगा—इस सचेत चेष्टा के अभाव में आपकी कहानियाँ पुरानी

* १६ फरवरी को सेन्ट ऐन्ड्रूज़ कालेज, गोरखपुर के गल्प-सम्मेलन में सभापति-पद से दिया भाषण।

कथाओं के टुकड़ों को दुहराती-सी दिखाई दीं, शब्दों और मुहाविरों के हेर-फेर से ज्यादा फर्क न आ सका। आपकी इन कहानियों को मैं लिखने के प्रारम्भिक प्रयत्न के रूप में ही मानता हूँ, लेकिन प्रारम्भिक रचनाओं में भी किसी सत्य तक पहुँचने की एक गंभीर चेष्टा तो होनी ही चाहिए, क्योंकि ऐसी चेष्टा या शोध के भीतर ही प्रतिभा का बीज अंकुरित होता है और पनपता है, और किसी भी लेखक की प्रारम्भिक अभिव्यक्तियों में भी आलोक भर देता है और एक ऐसी सूक्ष्म व्यापकता ला देता है जिसमें लेखक के भावी विकास का आभास सुनने या पढ़नेवाले को मिलता जाता है। आपकी कहानियों में मुझे इस चेष्टा का अभाव मिला। इसलिए जो प्रश्न मैंने उठाये हैं उनका आपके लिए तो और भी महत्व है। और आज हमें सोचना है कि क्या करें कि कहानी लिखने का जो उत्साह चारों ओर उमड़ पड़ा है, वह व्यर्थ न जाय। अर्थात्, सैकड़ों लेखकों की सैकड़ों कहानियों में जो शक्ति प्रतिदिन व्यय होती है, वह व्यर्थ न जाय, और ऐसा न हो कि साधारण कहानियाँ ही लिखी जाती रहें और अगर कभी कोई महान कहानी किसी से बन पड़े तो उसे अपवाद या दैव संयोग की तरह एक विशेष घटना माना जाय।

इस प्रश्न की गंभीरता समझने के लिए ज़रा और खुलासा करने की ज़रूरत है। 'हंस' के सम्पादन-कार्य में मुझे प्रतिदिन ऐसी कहानियों और कविताओं को पढ़ने का मौका मिलता है जिनका कहीं भी प्रकाशित होना साहित्य की अभिवृद्धि में सहायक नहीं हो सकता। तो भी जो लेखक उन्हें लिखते हैं वे यही सोचते हैं कि उन्होंने एक श्रेष्ठ कला-कृति का निर्माण किया है; और प्रोत्साहन पाने या कीर्ति पाने का विचार तो रहता ही है, परन्तु वे उन्हें इसलिए भी भेजते हैं क्योंकि रचना की श्रेष्ठता में उनका अडिग विश्वास होता है; और जब मैं उन्हें रचना वापस कर देता हूँ तो वे दुबारा वैसी ही रचना फिर भेज देते हैं और इस तरह की सैकड़ों रचनाओं को पढ़ने के बाद मैं खिन्न भी हुआ हूँ, क्योंकि साहित्यिक शक्तियों के अपव्यय का भाव जितना ही विराट् होता जाता है उतना ही वह चेतना में ज्यादा नुकीला होकर चुभता है। मुझे ऐसा लगा है कि अगर प्रोत्साहन देने के विचार से उनमें से कुछ रचनाओं को छाप भी दिया जाय तो भी उनके लेखक शायद ही कभी साहित्य की ऊँची चोटियों को छू सकें। आप प्रश्न कर सकते हैं कि हर नये लेखक से श्रेष्ठ अभिव्यक्ति की अपेक्षा क्यों रखूँ, और फिर यदि प्रोत्साहन न दिया जायगा तो लेखक के व्यक्तित्व का विकास कैसे होगा? ये प्रश्न संगत हैं, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन लिखने की फिर सार्थकता ही क्या रह जाय यदि अधिकतर लेखक सारा जीवन लिखने में ही बिता दें और फिर भी कोई श्रेष्ठ चीज न लिख पायें? हिन्दी में ऐसे कितने लेखक आपको नहीं मिलते? इसलिए किसी लेखक की प्रारम्भिक रचनाओं के प्रति उदारता दिखाने का ही यह प्रश्न नहीं है और यह जानते हुए कि महान लेखक या कलाकार बने-बनाये पैदा नहीं होते, अधिक से अधिक वे अपेक्षाकृत ज्यादा विकसित वृत्तियों को लेकर जन्मते हैं और चारों ओर के सामाजिक जीवन के वातावरण से संघर्ष में पड़कर वे वृत्तियाँ उनके अन्दर अपेक्षाकृत अधिक तीव्र अनुभूति, पैनी दृष्टि और सूक्ष्म भावचेतना का विकास करने में सहायक होती

हैं ; तथा यह जानते हुए कि कितने भी अध्यवसाय और प्रोत्साहन से ही लेखक महान बन भी नहीं सकता, यद्यपि प्रोत्साहन की कमी और अध्यवसाय के अभाव में और सामाजिक परिस्थितियों की विषमता के कारण अनेक प्रतिभासम्पन्न, क्षमताशील लेखकों की सृजनशक्ति निकास न पाने के कारण घुटकर सूख जाती है—मैं यह मानने को तैयार नहीं हूँ कि यदि थोड़ी-सी भी साहित्यिक वृत्तियों का लेखक गंभीरता-पूर्वक अपने लेखन कार्य की आवश्यकताओं को समझकर प्रयत्न करे तो वह साधारणतया अच्छा नहीं लिख सकता। और चूँकि हिन्दी में चन्द लेखकों को छोड़कर अधिकांश साधारण तल की चीज़ भी नहीं लिखते, इस कारण मेरा यह सोचना भी उचित है कि यदि किसी लेखक की प्रारम्भिक रचनाओं में उन्हें अच्छा बनाने की गम्भीर चेष्टा का अभाव है तो उसे प्रोत्साहन देकर हिन्दी के साधारण लेखकों की नयी क़तारें खड़ी करने से लाभ क्या ? इसका यह अर्थ नहीं कि मैं इन लेखकों की साधारण रचनाओं में लगे श्रम का सम्मान नहीं करता, यदि न करता तो आपके सामने यह प्रश्न न उठाता। लेकिन क्यों हमारे लेखकों की नई पौध भी निर्जीव-सी निकले ? साहित्य के सभी अंगों पर यह बात लागू होती है और यह समस्या सर्वव्यापी है। परन्तु यहाँ हम कथाकार के रूप के एकत्र हुए हैं और हमें यह स्वीकार करना चाहिये कि हिन्दी के कथा-साहित्य के क्षेत्र में साहित्यिक शक्तियों का अपव्यय विराट् सीमा तक पहुँच गया है।

इस प्रश्न के 'क्यों' और 'कैसे' पर पहले भी आक्रमण किया जा चुका है। यहाँ एक दो का उल्लेख करना जरूरी है। इस समस्या को कई रूप में पेश भी किया गया है। छिछला साहित्य ही क्यों पैदा हो रहा है ? जीवन से साहित्य का सम्बन्ध टूटा-सा क्यों लगता है ? हमारे साहित्य में राष्ट्र की आत्मा अर्थात् उसका सुख-दुःख, उसका संघर्ष, उसकी आकांक्षाएँ क्यों नहीं बोलतीं ? उसमें प्राण-रस का अभाव क्यों है जिससे वह शुष्क और उथला हो रहा है ? और इस कमी की पूर्ति के लिए 'मधुकर'—सम्पादक पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी ने एक रामबाण औषधि ईजाद की कि लेखकों को अपने-अपने नगरों के अन्दर मच्छर मारने, चूहे पकड़ने और कुनैन बाँटने का काम उठाना चाहिए ! काफ़ी विज्ञापन के बाद भी लेखकों ने इस औषधि का इस्तेमाल नहीं किया—करना भी नहीं चाहिए था। चतुर्वेदीजी का विचार था कि इस तरह लेखक जनता के सम्पर्क में तो आवेंगे ही, वे कुछ ज्यादा व्यावहारिक प्राणी भी बन सकेंगे। लेकिन समस्या का यह समाधान एकांगी और उथला था, ग़लत भी था। मैं यह नहीं कह रहा कि जनता से सम्पर्क न स्थापित किया जाय, वह तो करना ही चाहिए, लेकिन किसी काम को करने का एक तरीक़ा होता है। कम से कम सड़क पर चूहे पकड़ने से तो जनता से एकात्म नहीं हुआ जा सकता, और न उससे साहित्य को नई प्रेरणा और शक्ति ही मिल सकती है। फिर भी जो लोग पतली-सी टहनी को देखकर उसे ही समूचा पेड़ मान लेते हैं, वे ऐसी ही ग़लती करते हैं। इसके दूसरे छोर पर जो लोग 'टेकनीक' को ही महत्व देते हैं, वे एक दूसरी ही तरह से इस प्रश्न पर आक्रमण करते हैं। नये कथा-साहित्य की त्रुटियों पर रोशनी डालते हुए वे सुझाव पेश करते हैं कि लेखकों को कहानी-कला को पहले समझकर ही लिखना

चाहिए। कहानी क्या है, उसका प्लाट कैसा हो या कैसे बनाया जाय, असम्बद्ध घटनाओं को काट-छाँट कर कैसे जोड़ा जाय, कथोपकथन और वातावरण के द्वारा पात्रों का चरित्र चित्रण कैसे किया जाय, शैली में प्रभावोत्पादकता और वैचित्र्य कैसे लाया जाय, अर्थात कहानी का प्रारम्भ और अन्त कैसे किया जाय, बीच में 'सस्पेन्स' का तत्व कैसे कायम रखा जाय, लेखक कहानी स्वयं कहे, मानो घटनाएँ उसके ही जीवन में हो रही हों, या किसी पात्र के मुख से कहलाये या घटनाओं का ऐसा संघटन करे कि लेखक का आशय जो चरित्र निर्माण करना है, या किसी मनोवैज्ञानिक तथ्य की अनुभूति कराना है, या किसी सामाजिक समस्या की गम्भीरता दिखानी है, वह सब अपने आप व्यक्त होती जाय—कहानी के इन मूल तत्वों को खूब जान-समझ कर ही लेखकों को लिखना चाहिए। चूँकि वे ऐसा नहीं करते, हिन्दी में उच्चकोटि की कहानियाँ नहीं पैदा होतीं। इसीलिए अधिकांश कथा-शास्त्री जब कहानी के बारे में अपनी प्रस्तावनाएं और भूमिकाएँ लिखने बैठते हैं तो वे पाठकों या विद्यार्थियों को यह समझाने लगते हैं कि कहानी में एक प्लाट होना चाहिये, और पात्र होने चाहिये, और प्लाट को आगे बढ़ाने के लिए और पात्रों का चरित्र खोलने के लिए कथोपकथन होना चाहिए और शैली और उद्देश्य होना चाहिए, और इन गुणों को पाने के लिए लेखक को यह या वह करना चाहिए—और इतनी-सी छोटी भूमि पर उनकी सारी विद्वता घटाटोप-सी छा कर बरस जाती है! मानो कहानी कोई निरपेक्ष चीज़ है, अपने आप में एक ऐसी इकाई है जो कभी बदलती नहीं, जिसके गुणों का विकास नहीं होता; जिस जीवन या मनोवैज्ञानिक तथ्य का वह चित्रण करती है उसकी गहराई, उसकी प्रवहमानता और उसके महत्व से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। ऑक्सीजन और हाइड्रोजन मिलाने से पानी बन जायगा, इस तरह का फॉर्मुला निकालकर वे श्रेष्ठ कहानी तैयार करने का पाठ सिखाते हैं! काव्य की तरह कहानी में भी रीति-परम्परा चलाने का यह प्रयत्न निरर्थक है। मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि कहानी या उपन्यास में 'टेकनीक' का कोई महत्व नहीं या उनकी विशेष 'टेकनीक' नहीं होती, लेकिन 'टेकनीक', किसी भी कला की 'टेकनीक' एक गतिमान चीज़ होनी चाहिए, फ़ार्मुला नहीं। इस प्रकार ये सुझाव समस्या का सही हल नहीं पेश करते। सही हल पाने के लिए व्यापक दृष्टिकोण की ज़रूरत है।

हिन्दी का कथा-साहित्य, इतने लेखकों के होते हुए भी सच्चे अर्थों में सन्तोषप्रद उन्नति क्यों नहीं कर रहा है, इसके दो मुख्य कारण हैं। पहला कारण व्यक्तिगत है, दूसरा सामाजिक। व्यक्तिगत यह कि हमारे लेखक कथा-साहित्य की आवश्यकताओं के प्रति सचेत नहीं हैं, क्योंकि उनके अध्ययन की परम्परा ही दोषपूर्ण रही है। उस परम्परा के अन्तर्गत, जैसा मैं आपको अभी बता चुका हूँ कहानी को एक निरपेक्ष, परिवर्तनहीन, स्थविर चीज़ माना जाता है। पर कहानी तो एक कला है, और इसलिए विकासशील है। उसका विकास व्यक्ति विशेष के माध्यम से होता है। अर्थात्, एक श्रेष्ठ लेखक कहानी-कला को जिस धरातल पर उठाकर छोड़ जाता है, दूसरा श्रेष्ठ लेखक उसके धरातल को और ऊँचा उठा जाता है। इस प्रकार अन्य कलाओं की तरह कहानी-कला भी एक गति-

मान, प्रवहमान कला है, और हमें उसे एक process के रूप में ही देखना चाहिए। किसी लेखक की रचनाओं को जाँचते वक्त हमें यह प्रश्न पूछते रहना चाहिए कि उसने अपने पूर्ववर्ती लेखकों की कहानी-कला को कहाँ तक समझकर उसमें नैपुण्य प्राप्त कर लिया है। यानी आज का लेखक यदि प्रसाद, प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, और अज्ञेय की कहानियों का पूरा अध्ययन किये बिना लिखना शुरू करता है तो निश्चय ही उससे यह आशा न करनी चाहिए कि वह हिन्दी की कहानी को एक क़दम भी आगे ले जा सकेगा। और यदि वह इन पूर्ववर्ती लेखकों के पीछे खड़े होकर ही मार्क-टाइम की तरह एक ही स्थान पर पाँव पटकता है, तो वह पुरानी लिखी-कही बातों को कुघड़ रूप से दुहरा ही सकता है, और इसमें सार्थकता कहाँ? ऐसी कहानी में वह शक्ति कैसे आ सकती है जो आज के पाठक को आकर्षित कर ले? मेरा अनुभव है कि हमारे नये कहानी या उपन्यास लेखक इस दृष्टि से कथा-साहित्य का अध्ययन नहीं करते। यह अध्ययन कैसा? प्रेमचन्द, प्रसाद, जैनेन्द्र या अज्ञेय की कहानियों में प्लॉट, कथोपकथन, चरित्र-चित्रण और दुखान्त-सुखान्त का अन्वेषण नहीं कि उदाहरणों की एक व्यर्थ लम्बी सूची तैयार कर उन्हें नापा-जोखा जाय, बल्कि यह कि जैसे कहानी में बाह्य या मनोवैज्ञानिक वास्तविकता का—ऐसी वास्तविकता का जो गतिमान है, एक process की दशा में प्रवहमान है—चित्रण रहता है, तो प्रेमचन्द की कहानियों में इस बाह्य या मनोवैज्ञानिक वास्तविकता के किन अंगों का चित्रण हुआ है, उनके प्रति प्रेमचन्द का क्या दृष्टिकोण रहा है अर्थात् वे जीवन के प्रति किस दृष्टिकोण का परिचय देती हैं और वह दृष्टिकोण दार्शनिक विश्लेषण से कहाँ तक सत्य है, जीवन की असम्बद्ध और असंगठित घटनाओं में तारतम्य पैदा कर उन्होंने उनके अन्दर जिस एकसूत्रता का अनुभव हमें कराया है वह अनुभव वास्तविकता पर हमारी पकड़ कहाँ तक गहरी बनाता है और इसके बाद जैनेन्द्र या अज्ञेय की कहानियाँ हमारे इस अनुभव को कहाँ तक और व्यापक और गहरा बनाती हैं—इसका एक क्रम-बद्ध अध्ययन ही इन बड़े कलाकारों की कहानियों के मूल तत्व तक हमें पहुँचा सकता है, तभी हम उनकी कला को जैसा अंग्रेज़ी में कहते हैं 'मास्टर' कर सकते हैं। बिना इस नैपुण्य को प्राप्त किये यदि कोई लेखक लिखेगा तो वह एक सचेत कलाकार न हो सकेगा। अर्थात् वह यह न समझ सकेगा कि हिन्दी की कहानी कहाँ तक पहुँच चुकी है और आगे के विकास के लिए उसके सामने कौन-सी समस्याएँ हैं, कौन-से क्षेत्र खाली पड़े हैं, क्या आवश्यकताएँ हैं और कौन-सी दिशाएँ हैं। और कोई भी कला बिना सचेत मानसिक क्रिया के उच्चकोटि की नहीं हो सकती, विशेषकर कहानी-कला। ऐसे अध्ययन की प्रवृत्ति हिन्दी में क्या आपको मिलती है? यदि नहीं, तो क्या इससे यह सिद्ध नहीं है कि हिन्दी के कथा-साहित्य में रचनात्मक शक्तियों का जो विराट् अपव्यय हो रहा है उसका एक कारण यह है कि हमारे लेखक अपने पूर्ववर्ती लेखकों की कला को 'मास्टर' करने का प्रयत्न नहीं करते। इसीलिए जब उनके जीवन में कोई घटना घटती है, और उससे वे प्रभावित होते हैं या कोई नया अनुभव प्राप्त करते हैं और उस अनुभव को वे कहानी के माध्यम से पाठकों तक पहुँचाते हैं, तो पहले तो वे उस अनुभव को अपनी चेतना में पूरी तरह पका

नहीं लेते, दूसरे इस नैपुण्य की कमी के कारण उन घटनाओं को न व्यापक सेटिंग में रख पाते हैं, न उस अनुभव को गहराई ही दे पाते हैं। इस प्रकार अल्पजीवी कहानियों की वृद्धि होती जाती है। कथा-साहित्य को एक 'प्रोसेस' के रूप में देखने और उस 'प्रोसेस' की धारा के विस्तार, गति और मोड़ों को पूरी तरह जान लेने से ही अल्पजीवी कथा-साहित्य की वृद्धि को रोका जा सकता है। यूरोप के बड़े-बड़े कथाकारों की रचनाओं का भी इसी दृष्टि से अध्ययन करना जरूरी है, क्योंकि आधुनिक कहानी और आधुनिक उपन्यास का जन्म योरप में ही हुआ है और वहाँ ही इनका विकास भी ज्यादा हुआ है। यूरोपीय कथा-साहित्य के अध्ययन से आप उसकी अभिनवतम विकास चेष्टाओं की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं, और हिन्दी का कथा-साहित्य जिस सीमा पर पहुँच चुका है उससे आगे की दिशाएँ निर्दिष्ट करने में आपको सहूलियत हो सकती है।

इस वर्ष 'कहानी' पत्रिका के नववर्षांक में कहानीकारों से एक प्रश्न किया गया था कि आप कहानी क्यों लिखते हैं। हिन्दी के कई प्रतिष्ठित कहानीकारों ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है। लेकिन सभी ने यही कहा कि इसलिए लिखता हूँ कि बिना लिखे नहीं रहा जाता। जब कोई घटना या मानसिक दशा प्रभाव डालती है तो उसे एक कलात्मक अभिव्यक्ति देने की इच्छा होती है, और घटनाओं को जोड़-तोड़कर कहानी बन जाती है। बड़े कलाकारों के लिए यह उत्तर मौजूँ हो सकता है; हाँलाकि इसके अन्दर भी किसी सचेत मानसिक क्रिया का आभास नहीं मिलता और न यही मालूम होता है कि लेखक कहानी-साहित्य की आवश्यकताओं को कोई महत्व देता है; उसे किस दिशा में बढ़ना है, और लेखक इसके लिए क्या प्रयोग और प्रयत्न कर रहा है, इसकी ओर इन उत्तरों में कोई इशारा नहीं मिलता। मैं इन उत्तरों को पढ़कर निराश हुआ हूँ क्योंकि मैं कहीं से अपने को यह तसल्ली नहीं दे पाया कि इनमें से कोई भी लेखक अपने कार्य के प्रति सचेत है और हिन्दी के कथा-साहित्य को सम्पन्न बनाने के लिए सचेष्ट है। यों कोई कहानी अच्छी बन जाय, और उससे हिन्दी की कहानी एक क़दम आगे बढ़ जाय तो यह उसका सौभाग्य है! प्रतिष्ठित कहानी लेखकों की कहानी-कला की आवश्यकताओं के प्रति ही यह अज्ञानपूर्ण उदासीनता आश्चर्य में डालती है। अगर हमारे नये लेखक भी यही भाव रखेंगे तो फिर उनसे भविष्य में क्या आशा की जा सकती है? खेद इस बात का है कि उनमें यह भाव और भी ज्यादा व्यापक है। लौटाई कहानियों को, जिन पर मैंने अक्सर लौटाने का कारण और अधिक अध्ययन कर उसे नये सिरे से लिखने का अनुरोध लिख दिया है, मैंने दूसरे पत्रों में ज्यों की त्यों छपते देखा है। इससे इस मनोवृत्ति पर प्रकाश पड़ता है कि नये लेखकों में रचना छपाने की इच्छा तो प्रबल है, पर उसे उच्चकोटि की बनाने की भावना क़तई नहीं है। अध्ययन आदि तो कष्टसाध्य क्रियाएँ हैं और लेखक इतनी मगजपच्ची क्यों करे? हैरानी होती है यह देखकर। यह मनोवृत्ति क्यों पैदा हुई है; इसके सामाजिक और आर्थिक कारण मैं आपको गिना सकता हूँ, और यह भी साबित कर सकता हूँ कि ऐसी मनोवृत्ति का पैदा होना स्वाभाविक है, क्योंकि जब प्रकाशक पैसा न देता हो, और आपको अकथ विडम्बनाएँ

सह कर भी लिखना पड़ता हो, जीवन अनिश्चित और आतंकित हो, समाज-सम्बन्धों में इस समाज की व्यवस्था के कारण आत्मीयता और सहृदयता का कोई तत्व ही न बाक़ी रह गया हो, जब उल्लास के क्षण इने गिने भी न हों तब लिखने में प्रेरणा ही क्या रह जाती है, और व्यवसायिकता के कठोर चक्र में फँसकर रचना को बनाने-सँवारने का अवकाश भी कहाँ? यह सब सच है, लेकिन इसीलिए एक कथाकार का दायित्व और ज्यादा बढ़ गया है; और हम सचेत कलाकार नहीं होंगे, ईमानदार कहानी लेखक नहीं होंगे अगर अपनी कला के द्वारा हम इन परिस्थितियों से संघर्ष कर उन्हें बदलने की चेष्टा नहीं करते; और सचेत और ईमानदार कलाकार होने के लिए यह जरूरी है कि हम अपनी कला के अस्त्र को अधिक से अधिक तीक्ष्ण बनायें। अध्ययन में यदि समय लगता है तो वह हमें लगाना ही है। सैकड़ों कहानीकारों की प्रतिभा और परिश्रम का अपव्यय होना किसी भी साहित्य के लिए गौरव की बात नहीं है।

इस प्रश्न का दूसरा कारण सामाजिक है, और अधिक व्यापक होने के कारण अधिक महत्व का भी है। आपने शायद इस प्रश्न पर इस तरह न सोचा हो कि क्या कारण है कि प्रेमचन्द के बाद हिन्दी कथा-साहित्य में जो स्थान खाली हुआ है वह अभी तक पूरा नहीं हो पाया? शरतचन्द्र चटर्जी और रवीन्द्राथ ठाकुर के निधन से ऐसा लगता है जैसे बँगला साहित्य के आकाश में चन्द्र और सूर्य सदैव के लिए अस्त हो गये हों—कम से कम कोई ऐसा प्रतिभासम्पन्न लेखक नजर क्यों नहीं आता जो उनकी परम्परा को एक पग भी आगे ले जा सकता है? हिन्दी, बंगला और अन्य भाषाओं के कथा-साहित्य में यह ह्रास क्यों नजर आ रहा है? और यह ह्रास क्या भारतीय कथा-साहित्य की ही अनोखी घटना है या पूँजीवादी संसार के सभी देशों में इसके लक्षण प्रकट हो रहे हैं? यदि आप गत-महायुद्ध के बाद के यूरोपीय साहित्य का इतिहास पढ़ेंगे तो आपको ज्ञात होगा कि अंग्रेजी, फ्रेञ्च, जर्मन, इटालियन साहित्य में भी संकट छाया हुआ है, एक दो को छोड़कर वहाँ का परम्परागत कथा-साहित्य भी ह्रासोन्मुखी है। पूँजीवादी संसार में कला और साहित्य के अन्दर यह ह्रास सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रहा है। जो पहले के सिद्धहस्त कलाकार थे, वे भी अपनी पूर्व-परम्पराओं पर आरूढ़ रहकर उच्चकोटि की कृतियों का निर्माण नहीं कर रहे। यूरोप से उदाहरण न लेकर यदि हिन्दी से ही उदाहरण लें तो आपके निकट यह बात अधिक स्पष्ट हो सकेगी। पिछले खेवे के लेखकों, सुदर्शन, कौशिक और चतुरसेन शास्त्री की नयी कहानियों में अब क्या आपको वह बात मिलती है जो पहले मिलती थी? वे अपनी पूर्व-परम्परा से तिल भर भी टस से मस नहीं हो सके, क्या इसी कारण नहीं आज वे पिछड़े-से लगते, क्योंकि हमारे सामाजिक जीवन की वास्तविकता पहले से कहीं अधिक संश्लिष्ट हो गई है और वे अभी तक विधवा-विवाह की जरूरत, मंदिरों के व्यभिचार, वेश्यालयों के दुष्प्रभाव, बाल-विवाह के दुष्परिणाम और दहेज-प्रथा जैसी कुरीतियों जैसे सामाजिक प्रश्नों के अत्यन्त सरल समाधानों के अन्वेषण में ही लगे हैं! मेरे कहने का यह अर्थ नहीं कि इन प्रश्नों को हम हल कर चुके हैं, या इन पर लिखा जाना ही नहीं चाहिए, बल्कि यह कि ज्यों ज्यों हमारा समाज-ज्ञान और चेतना

बढ़ती जाती है, हमें यह स्पष्ट होता जाता है कि ये प्रश्न भी जटिल हैं और समाज की व्यापक मूल समस्याओं से जुड़े हुए हैं, अतः उनका कोई सरल सुधारवादी समाधान नहीं ढूँढ़ा जा सकता, जैसा कि ये लेखक आज भी कर रहे हैं, जिसके कारण ऐसा लगता है कि वे पिछड़-से गये हैं, लेकिन क्यों ? क्यों जैनेन्द्रकुमार के 'वातायन' और 'एकरात' या 'अज्ञेय' के 'विपथगा' या 'पहाड़ी' के 'सफ़र'—इन कहानी-संग्रहों के बाद की इन लेखकों की नई कहानियों में शिथिलता नज़र आती है ? उपन्यासों में भी आज की जटिल वास्तविकता के अनुरूप ही क्यों नहीं उच्चकोटि की सश्लिष्ट कला का, जो इस समाज की वास्तविकता की गति-विधि के सारे खमों, उभारों और पेचों का गत्यात्मक चित्र खींच दे, आभास नहीं मिलता ? प्रेमचन्द के 'गोदान' के 'होरी' के चरित्र में जीवन के एक मूल-तत्व का गतिमान चित्रण हुआ है—होरी पर मुसीबत के पहाड़ टूटते हैं और सड़क पर कंकड़ कूटते हुए मरते दम तक इन मुसीबतों की जटिल शृंखला का अन्त नहीं होता, सब तरफ़ से नोंच-खसोट है, उसका भाग्य एक कच्चे धागे से बँधा टँगा है, रोज़ धागा टूटता है और वह धूल में गिरकर ठोकरें खाता है, ऐसा लगता है मानो उसका अब अन्त हुआ, तब अन्त हुआ, लेकिन फिर भी होरी जीता जाता है, धूल में से सिर उठाकर अनन्त श्रान्ति और थकान लेकर भी चल पड़ता है, उसमें अक्षय जीवट है, आश्चर्य होता है यह देखकर कि मरुथल में पड़ी बूँद-सा 'होरी' मिट क्यों नहीं जाता, कहाँ से मिलता है उसे अनन्त प्राण-रस, इस प्राण-रस का स्रोत कहाँ है ? और यह बात भी नहीं है कि सामन्तवर्ग के आदर्श पुरुष राम की तरह होरी किसान-वर्ग का आदर्श पुरुष हो ; उसमें आधुनिक समाज की परिस्थितियों से उत्पन्न सारी कमज़ोरियाँ हैं, अन्धविश्वास और क्षुद्रताएँ हैं ; फिर भी बड़े-बड़े साम्राज्य मिट्टी में मिलाये जा सकते हैं लेकिन 'होरी' जीवन के मूल स्रोत से कुछ ऐसा चिमटा हुआ है कि उसको मिटाया ही नहीं जा सकता—और 'होरी' जीता-जागता चरित्र है। जीवन में सैकड़ों-लाखों 'होरी' हमें मिलते हैं, हम उनके पास से गुज़र जाते हैं लेकिन उनकी क्षुद्रताएँ ही हमारी दृष्टि में आती हैं, और जो यथार्थवादी लेखक होने का दम भरते हैं वे जैसे सूक्ष्म-दर्शक-यंत्र से उनकी क्षुद्रताओं को विशाल आकार देकर चित्रित कर देते हैं और यदि प्रगतिवादी हुए तो इन क्षुद्रताओं को समाज-व्यवस्था के मत्थे मढ़कर दो सहानुभूति के शब्दों से उनके चरित्र को आन्तरिक गौरव से मंडित भी कर देते हैं, मानो वे घूरे की खाद हों, जो पूँजीपतियों के शोषक पेट में पड़ने के पहले स्वच्छ अन्न थी, और अब भी यदि क़ायदे से खेत में बिखेर दी जाय तो वैसा ही स्वच्छ अन्न पैदा करने में सक्षम है, लेकिन दुर्भाग्य कि आज घूरे पर पड़ी सड़ रही है और कोई उसका उपयोग करनेवाला नहीं। लेकिन इस तरह लेखक होरी के प्राण-रस के उस अजस्र स्रोत तक नहीं पहुँच पाते, जिसके कारण होरी चुस-पिस के भी कभी घूरे की खाद नहीं बन पाया। होरी एक व्यक्ति नहीं है, वह भारत के समूचे किसान-वर्ग का प्रतिनिधि है, और इसी कारण उसके जीवन के सारे सूत्र अपने वर्ग से जुड़े हुए हैं, उन्हीं सूत्रों के द्वारा उसे अक्षय प्राण-रस मिलता है, वह पिसता है तो इसलिए कि सब किसान, उसके जैसे करोड़ों होरी पिस रहे हैं, वह जीता जाता है तो

इसलिए कि सदियों के शोषण के बावजूद भी सब किसान—करोड़ों होरी पैदा होते और जीते चले जा रहे हैं, उन्हें कोई मिटा नहीं सकता और यह जन-जीवन एक अटूट धारा है प्रकृति के 'फेनोमेना' की तरह एक 'प्रोसेस' है, और होरी का जीवन-क्रम भी एक अटूट धारा है और उसके जीने की क्रिया एक 'प्रोसेस' है, और जन-जीवन की धारा से होरी के व्यक्तिगत जीवन के जो सूत्र मिले हुए हैं, वे ही उस तक प्राण-रस का खाद्य पहुँचाते रहते हैं, और यह खाद्य प्रेमचन्द के समय की सामाजिक स्थिति के अनुरूप ही है आज वह भिन्न है, क्योंकि आज परिस्थितियों के दबाव से चेतना की लहर व्याप्त हो रही है और जन-जीवन की धारा में ऊँची लहरें उठ रही हैं। आज का लेखक होरी की अक्षय जीवट का गतिमान चित्रण जीवन-स्रोतों से चिमटे रहने की उत्कट क्षमता के रूप में करके ही सफल नहीं हो सकता, क्योंकि वस्तुस्थिति बदल गई है। लेकिन हिन्दी के कितने उपन्यासकारों ने इस मूल-तत्व को समझ पाया है? 'अज्ञेय' का 'शेखर: एक जीवनी' 'गोदान' के बाद का सबसे महत्वपूर्ण उपन्यास है, लेकिन 'शेखर' कैसा चरित्र है? उसके जीवन-सूत्र कितने फैले हुए हैं? वह जन-जीवन से कितना प्राण-रस खींचता है? यह सच है कि शेखर मुख्यत:मनोवैज्ञानिक धरातल पर एक व्यक्ति की 'स्टडी' है, लेकिन उसकी चेतना एक अ-सामाजिक प्राणी की चेतना है और वह एक उपजीवी है जो सामाजिक जीवन से प्राण-रस खींचकर भी अपनी चेतना में उसका आभार स्वीकार नहीं करता। ऐसे चरित्र की भाव-प्रतिक्रियाएँ कृत्रिम रूप से अतिरंजित और 'मेकेनिकल' ही हो सकती हैं, जैसी कि 'शेखर' की हैं। मनोवैज्ञानिक या सामाजिक धरातल पर 'होरी' के बाद के किसान या मध्यवर्गीय चरित्र को 'गोदान' की परम्परा को आगे ही ले जाना था, अर्थात उसमें आज की संश्लिष्ट वास्तविकता का गत्यात्मक चित्रण होना था, लेकिन 'शेखर' आज के समाज का प्राणी होकर भी, लेखक द्वारा असाधारणता का गौरव प्रदान करने के सारे कलात्मक प्रयत्नों के बावजूद भी अ-सामाजिक और विक्षिप्त है—और यह उस ह्रास का सूचक है जिसका जिक्र मैं अभी कर चुका हूँ। व्यक्तिवादी शेखर अपने में ही एक केन्द्र है और उसकी जीवन-क्रिया एक विशाल धारा—प्रोसेस का अंग नहीं है, वरन् स्वनिर्मित नियमों से परिचालित है। होरी के जीवन में अविराम संघर्ष है, लेकिन होरी अकेला लगते हुए भी इस संघर्ष में अकेला नहीं है, होरी के गिरने पर समाज का पूरा ढाँचा गिरता दीखता है, उसके उठने पर पूरा समाज उठता नजर आता है। उसके उत्थान-पतन के संघर्ष के परोक्ष में पूरे समाज के उत्थान-पतन का विराट संघर्ष छिपा है, पर होरी अपनी सारी कमजोरियों के साथ धीर और शान्त प्रकृति का है, संघर्ष से भागने के प्रयत्न में वह उसके भँवर में और-और फँसता ही जाता है, इसके विपरीत शेखर अपनी चेतना से असंतोष और संघर्ष का ज्वालामुखी है, लेकिन संघर्ष के सारे मन्सूबे बनाने के बाद भी वह संघर्ष से पलायन कर जाने में ही सफल होता है, इसी कारण उसकी जय-पराजय पर उसके चतुर्दिक वातावरण की एक पत्ती भी लड़खड़ाते नजर नहीं आती, उसकी मानसिक प्रतिक्रियाओं की प्रतिध्वनि समाज के मानस में नहीं होती, जैसे उससे किसी को कोई सरोकार ही न हो। 'होरी' में व्यक्तित्व है और उसका व्यक्तित्व भारतीय

किसान के संयुक्त व्यक्तित्व का प्रतिनिधि है, शेखर में व्यक्तित्व नहीं है वह कोरा व्यक्तिवादी है, अपना ही प्रतिनिधि है। होरी जीवन में कभी क्रान्तिकारी नहीं हो सका, लेकिन सामाजिक विषमताओं का समाधान पाने के सारे मार्गों की निरर्थकता साबित करने के बाद जब मरता है तो पाठक अनायास इसी परिणाम पर पहुँचता है कि, अनचाहे ही सही लेकिन, क्रान्ति ही एक मात्र उपाय रह गया है। शेखर क्रान्ति के प्रति जितना ही उत्साह दिखाता है, उतना ही वह समझौते के मार्ग पर दौड़ता जाता है। फिर भी शेखर एक शक्तिशाली कलाकार की कृति है जो अपने कार्य के प्रति सचेत और ईमानदार है। यह ह्रास तो हमने गत पाँच वर्षों के सबसे महत्वपूर्ण उपन्यास के अन्दर पाया, इस बीच के साधारण उपन्यासों का तो जिक्र ही क्या। यूरोप में गत पचास वर्षों में जो कथा-साहित्य सबसे ज्यादा प्रचलित हुआ है उसमें गिरहकटों, चोरों, शरीफ बदमाशों और जासूसों के सनसनीखेज चरित्रों की ही प्रधानता है। इस बात का तो आप अपने नगर के स्टेशन पर ह्वीलर की दुकान से भी पता लगा सकते हैं। तीसरी कोटि का विकृत कथा-साहित्य ही सबसे ज्यादा मनोरंजन का विषय बना हुआ है क्योंकि वर्तमान समाज ने सर्वसाधारण की मनोवृत्ति इतनी छिछली और विकृत बना दी है कि वह गंभीर और उच्चकोटि के साहित्य में दिलचस्पी रख ही नहीं सकता। हिन्दी में भी इस बीच दलालों, जासूसों, वेश्यालयों और राजाओं के रोमान्सों का कथा-साहित्य कम प्रचलित नहीं हुआ है। यूरोप में जो लेखक वास्तव में अधिक संस्कृत और कोमल भाव-चेतना के प्राणी हैं वे योरप के संघर्षपूर्ण जीवन से बचकर हवाईद्वीपों में जाकर घर बसाने और प्रेम के रोमांस की कल्पनाएँ अपनी कथाओं में भरने की कोशिश करते हैं। हिन्दी में 'प्रसाद' की अधिकांश कहानियाँ ऐसी ही हैं जिनमें समुद्रतट, या पहाड़ी की तराई, या बरफ़ की चोटियों पर दो अनजान प्रेमियों के प्रणय-अभिसार की मधुर, स्वप्नवत् कल्पनाएँ हैं, और आज भी ऐसे कोरे काल्पनिक कथानकों की सृष्टि करने की प्रवृत्ति नये लेखकों में कम नहीं है, और भारत के गौरवपूर्ण अतीत को जगाने की प्रवृत्ति तो प्रबल है ही। पूँजीवाद के इस अन्तिम युग में विश्व के कथा-साहित्य के ह्रास की यह ऐसी शृंखला है जो सर्वत्र फैली हुई है। यह ह्रास किस बात का द्योतक है? इस बात का कि आधुनिक लेखक सामाजिक परिस्थितियों की विषमता से इतना आक्रान्त और सन्त्रस्त हो गया है कि वह कोई पलायन का मार्ग ढूँढ़ता है। शेखर का घोर व्यक्तिवाद, हवाई-द्वीपों का प्रवास, गिरहकट, दलाल और वेश्याओं का चरित्र निर्माण, पहाड़ की तलैटी का स्वप्निल रोमांस या पुरातन का गौरवगान—यह सब इस पलायन के लिए खुले द्वार का काम देते हैं। और पलायन का साहित्य और चाहे जो हो, प्रथम कोटि का साहित्य नहीं हो सकता, विशेषकर कथा-साहित्य तो कभी भी उच्चकोटि का नहीं हो सकता, उसमें चाहे कितना भी असाधारण का तत्व या अनोखी, अभिनव टेकनीक क्यों न हो। क्योंकि कथा-साहित्य साहित्य का वह अंग है जो बाह्य-वास्तविकता को उसके समस्त, संश्लिष्ट प्रवहमान रूप में उपस्थित कर वास्तविकता पर हमारी पकड़ गहरी बनाता है, ताकि हम अधिक भावात्मक या आत्मिक दृढ़ता और व्यापक चेतना के साथ वास्तविकता

से संघर्ष कर सकें और उसे अपने अनुकूल बना सकें। इसे और स्पष्ट करके यों कह सकते हैं कि किसी समय समाज जो समस्याएँ उत्पन्न करता है, और उसकी प्रगति के लिए जिनका समाधान होना आवश्यक हो जाता है, उन समस्याओं को जीवन-घटनाओं द्वारा उपस्थित कर, अर्थात् समाज के किसी वर्ग, परिवार या व्यक्ति के बाह्य या आन्तरिक जीवन में जो घटनाएँ नित्यप्रति परस्पर सामाजिक-सम्बन्धों में बँधे रहने के कारण घटती रहती हैं अथवा उनके सामूहिक या व्यक्तिगत जीवन की आवश्यकताओं के कारण जो समस्याएँ उठती रहती हैं, जिनके प्रति उन्हें सामूहिक या व्यक्तिगत रूप से अपना दृष्टिकोण प्रकट करने के लिए बाध्य हो जाना पड़ता है क्योंकि उसके अनुरूप या प्रतिकूल ही उनकी जीवन-क्रिया में परिवर्तन होते चलते हैं, यह सब घटनाएँ, समस्याएँ, दृष्टिकोण और कार्य के बदलते तरीके मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध को किस प्रकार प्रभावित करती हैं, उनकी चेतना और बाह्य जीवन में उनकी क्या प्रतिक्रियाएँ होती हैं और फिर उनका जीवन कौन-सी दिशाएँ पकड़ता है, इसका गत्यात्मक चित्र उपस्थित कर एक श्रेष्ठ कथाकार यह दिखाता है कि इन घटनाओं और समस्याओं का सामना समाज, उसका कोई वर्ग, परिवार या व्यक्ति किस प्रकार करता है और किस प्रकार वह उनका समाधान पाने के लिए अपनी तत्कालीन चेतना और शक्ति के साथ वास्तविकता के व्योम में तीर-सा घुसने की चेष्टा करता है। उसका लक्ष सही या ग़लत है, यह बहुत कुछ लेखक के दृष्टिकोण की तीक्ष्णता और गहराई पर निर्भर करता है कि वह कहाँ तक समाज की ऐतिहासिक विकास-दिशाओं से परिचित है, समाज की नाड़ी के स्पन्दन को एक कुशल वैद्य की तरह समझता है। और इस प्रकार एक श्रेष्ठ कथाकार सामाजिक जीवन की सच्ची समस्याओं का एक सजीव किन्तु काल्पनिक चित्र देकर उनके समाधान की दिशाओं की ओर संकेत कर देता है, जिससे हम कल्पना द्वारा उन समस्याओं को हल कर लेते हैं, और वह हल हमारे भावों-विचारों को अपने अनुकूल बनाकर हमारी चेतना का एक अंग बन जाता है, और फिर जीवन में जब पग-पग पर हमें उन समस्याओं का सामना करना पड़ता है हम अपनी नई चेतना के अनुसार परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न करते हैं, अर्थात् परिस्थितियों से अधिक सतर्क, सचेत और सक्षम होकर संघर्ष करते हैं। यह ज़रूरी नहीं है कि लेखक उस समाधान को कथा के रूप में साफ़-साफ़ पेश कर दे, जैसे 'सेवासदन' या 'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द ने किया है और जो समाधान ग़लत सिद्ध हो चुके हैं, लेकिन लोग जिस तरह जीवन बिताते हैं उसका चित्र वह इस तरह पेश कर सकता है कि हमारी चेतना स्वतः एक मार्ग में घिरकर एक दिशा की ओर वह निकले—उस दिशा की ओर जो अपने गर्भ में उस समस्या का सही समाधान छिपाये है, जैसा 'गोदान' में प्रेमचन्द ने किया है।

तो कथा-साहित्य हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की समस्याओं को परस्पर समाज-सम्बन्धों में पड़कर जीवन बिताने के माध्यम से हल करने का एक विशेष प्रकार का कलात्मक रूप-विधान है। और यदि वह पलायन के द्वार निर्मित करे तो फिर उसकी सार्थकता ही क्या रह जाती है? विश्व के कथा-साहित्य में इस समय जो संकट उपस्थित है उसका कारण यही है कि लेखक आधुनिक समाज की समस्याओं की विकरा-

लता से त्रस्त हो उठे हैं, किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये हैं, आधुनिक वास्तविकता इतनी संश्लिष्ट और विरोधाभासपूर्ण है कि वे पहले के लेखकों की तरह उसका सीधा-सादा 'पैटर्न' नहीं बना पाते और इसलिए पलायन के मार्ग खोजते हैं। और इस तरह वे इस समाज की असंगतियों को और भी मजबूत करते हैं, उन पर काबू पाने की क्षमता नहीं दिखाते। पूँजीवाद ने कला और साहित्य को जिस तरह अपने असली प्रयोजन से अलग कर छिछले मनोरंजन का साधन बना दिया है, उस स्थिति को वे स्वीकार कर लेते हैं। इस परिस्थिति ने उच्चकोटि के कलात्मक कथा-साहित्य की जड़ पर गहरा आघात किया है। अत: यूरोप और अमेरिका में जिन लेखकों ने इस परिस्थिति को समझ लिया, वे जागरूक होते गये। इसीलिए इस प्रकार के छिछले या पलायनवादी कथा-साहित्य को वहाँ जिस ओर से चुनौती मिली है, उस ओर विश्व के वे कलाकार हैं जो समाज की आन्तरिक असंगतियों से परिचित हैं, जो यह जानते हैं कि कला और साहित्य का भविष्य तभी सुरक्षित हो सकता है, और आधुनिक जीवन के संघर्ष में वे तभी महत्वपूर्ण भूमिका ले सकते हैं, जब वे उन शक्तियों के साथ हों जिनमें पूँजीवादी समाज को नष्ट कर समाजवादी समाज का निर्माण करने की क्षमता है और ऐसा तभी संभव है जब कि कला और साहित्य के निर्माण को एक सचेत क्रिया बना दिया जाय, अर्थात जब कला और साहित्य की सृष्टि के पीछे एक जीवन-व्यापी द्वन्द्व-मूलक (dialectical) विचारधारा हो और उनका रूप-विधान सामाजिक-यथार्थवाद के कलात्मक तत्व से निरूपित हो।

यह दृष्टिकोण ही कथा-साहित्य को ह्रास से बचा सकता है, और हिन्दी के कथा-साहित्य के सम्मुख इस दृष्टिकोण का विकास करने की समस्या ही इस समय सबसे प्रमुख है। यह दृष्टिकोण ही हमें जीवन की हर घटना को अधिक गहराई से समझने की क्षमता प्रदान कर सकता है और हमें उसके मूल तक ले जा सकता है। इस समय विश्व में एक उथल-पुथल जारी है, महायुद्ध छिड़ा हुआ है, साम्राज्यों की नींवें हिल रही हैं, पुरानी समाज-व्यवस्था का ढाँचा टूट रहा है, मनुष्यों के संस्कार बदल रहे हैं, नये विचार तूफ़ान की तरह छाते जा रहे हैं, चारों ओर संघर्ष जारी है और मनुष्य की समस्याएँ जटिल होती जा रही हैं—समाज की इस विध्वंसग्रस्त और नव-सृजनात्मक वास्तविकता का विशद् चित्रण, जो एक साथ ही ट्रैजिक और आशावादी हो सकता है, अभी कहाँ हुआ है ? ऐसे विशाल उपन्यासों के कथानक अभी गर्भ में ही क्यों छिपे पड़े हैं ? और फिर व्यक्तियों के जीवन की छोटी-छोटी घटनाएँ हैं जो आधुनिक समाज की बड़ी समस्याओं से व्यक्त या अव्यक्त रूप से संबंधित हैं, और उनका चित्रण कहानी कर सकती है। परन्तु कोई भी कहानी तब तक उच्चकोटि की नहीं हो सकती जब तक लेखक इन घटनाओं द्वारा उठाई समस्याओं को इस रूप में नहीं पहचानता कि वे आधुनिक जीवन की बृहद्, मूल समस्याओं से कहाँ, किस तरह जुड़ी हैं और फिर अपनी कहानी में उन बड़ी समस्याओं की ओर जानेवाले उनके सूत्रों का आभास पाठक को नहीं दे देता।

एक शिक्षित युवक बेकार है, एक तरुण विधवा आजीवन अविवाहित रहने को मजबूर है, एक प्रतिभाशाली व्यक्ति सारा जीवन कलर्की में खपा देता है और उसके ऊपर

जो अफसर हैं वे निरे मूर्ख हैं, एक मजदूर आठ घण्टे काम करके भी अपने परिवार को नहीं पाल पाता, एक किसान धरती से सोना पैदा करके भी कर्ज से लदा है, एक प्रेमी अपनी प्रेमिका से इसलिए एक सूत्र में नहीं बँध सकता कि दोनों की आर्थिक स्थिति में वैषम्य है या दोनों दो जाति के हैं और इस समाज-व्यवस्था में स्त्री-पुरुष के संयोग में प्रेम का आधार मुख्य नहीं है—और इन विषमताओं के कारण व्यक्तियों का जीवन कितना असार्थक, अनुपयोगी, कठोर और पीड़ाजनक बन जाता है, इसका चित्र तो सभी कहानी लेखक खींचते हैं, चाहे यथार्थ रूप में या उसको एक मनोवैज्ञानिक तथ्य बनाकर, लेकिन ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न क्यों होती हैं, और क्यों नहीं उन्हें बदलकर अपने अनुकूल बनाया जा सकता, इस विश्लेषण का संकेत न रहने के कारण उनकी कहानी पाठक को जीवन की समस्याओं की गहराई में नहीं ले जा पाती, और इसी कारण वह ऐसे अनुभव की सृष्टि नहीं कर पाती जो व्यापक और तीव्र हो।

यूरोप में इस ह्रास को चुनौती कलाकारों के जिस वर्ग ने दी उसकी प्रतिध्वनि हिन्दी में 'प्रगतिवाद' के रूप में हुई। लेकिन प्रगतिवाद के नाम पर अब तक हिन्दी में जो कथा-साहित्य पैदा हुआ है उसे देखकर घोर निराशा होती है, क्योंकि प्रगतिवादी लेखक भी कथा-साहित्य की इन मूल-समस्याओं से परिचित नहीं हैं। यही कारण है कि वे अब तक न अपने पूर्ववर्ती कलाकारों की कला को 'मास्टर' कर पाये हैं और न समाज और जीवन के बारे में एक स्वस्थ और सही दृष्टिकोण ही बना पाये हैं। परिणाम यह है कि उनकी कहानियों या उपन्यासों में एक उपजीवी की मौखिक सहानुभूति की बनावट भरी हुई है। यह एक आम बात है, एक-दो लेखक इसके अपवाद भी हैं लेकिन उससे क्या होता है? प्रगतिवादी कहानियों के पात्र समाज के वे विकृत मानव हैं जो किसी भी क्रान्तिकारी सिद्धान्त से क्रान्ति के अग्रदूत नहीं बन सकते, जैसे वेश्या, भिखारी, कोई लूला-लँगड़ा अपंगु, पागल, विक्षिप्त आदि। कुघड़ता से यह ममता क्यों? मरते दम के होरी की चेतना के सैकड़ों नये होरी उनकी दृष्टि के आगे से रोज़ गुज़र जाते हैं, लेकिन वे उन्हें पहचानते क्यों नहीं हैं? क्योंकि लेखक स्वयं अपने कार्य की आवश्यकताओं से परिचित नहीं हैं। यही कारण है कि व्यर्थता की भावना से भरे वे पेट और काम की बुभुक्षा को अनियमित रूप से मिटानेवाले विक्षिप्तों के चरित्रों की सृष्टि करते हैं। शेखर के ये दरिद्र-समाज के प्रतिरूप हैं। वर्तमान समाज की पाखंडपूर्ण नैतिकता के बन्धन तोड़ने के लिए वे उच्छृङ्खलता की सीमा लाँघ जाते हैं, जब कि प्रगतिवादी साहित्य को वर्तमान नैतिकता का खोखलापन दिखाकर उससे ऊँचे दर्जे की नैतिकता की स्थापना करनी चाहिए। हिन्दी के प्रगतिवादी लेखक यदि कथा-साहित्य की इन मूल-समस्याओं के प्रति उदासीन बने रहेंगे तो वे अपनी चुनौती को कैसे कामयाब कर सकेंगे?

हिन्दी कथा-साहित्य के सामने आज यही मुख्य समस्याएँ हैं। इतने थोड़े अवकाश में मैं उनको छू ही सका हूँ। पर मुझे विश्वास है कि आप उन पर विचार करेंगे, और जो आपकी कहानियों में मुझे आज खामियाँ दिखाई दी हैं, वे अगली कहानियों में न रहेंगी।

★

मीलाद शरीफ़

●

[मोहम्मद हसन अस्करी]

[अनु० शमशेरबहादुरसिंह]

अभी शेख़ बुन्याद अली यही तय कर रहे थे कि जुमेरात का दिन इसके लिए रखें या जुम्मे का ; और बड़े बताशे हों, या जलेबियाँ या लड्डू। क्योंकि चार बताशों के आगे चार जलेबियाँ ज़रा हल्की-फुल्की चीज़ हैं, और मजेदार भी और फिर नाम भी ज़्यादा होता है ; लड्डू गोल-गोल होते हैं और ठोस, इसलिए गम्भीर-से लगते हैं... कल्लू हलवाई की थाल के पीले-पीले लड्डू हवा में ऐसे उछल रहे थे जैसे कोई स्प्रिंग छिपाकर लगाया गया हो। लेकिन लडडू तो बहरहाल लड्डू है, गिरा और टूटा—मोतीचूर के लड्डू की पीली-पीली बुँदियाँ पारे की तरह ज़मीन पर बिखरने लगीं...और अगर बुँदियाँ हों तो कटोरी में भर-भरकर दी जा सकती हैं...'अम्माँ दोनों हाथ फैलाओ! गिरेंगी भी कि नहीं?' रहीमुल्ला रास्ते ही में खाने लगेगा कमर टेढ़ी कर-करके। एक-एक मुँह में डालेगा, जैसे चने के दाने। फिर बुँदियाँ हैं! कहाँ होता है ऐसे रोज़ बुँदियों की मीलाद शरीफ़... मगर इनायत के तो दोनों हाथों में एक-एक लड्डू फँस गया, और वह शेख़जी के आख़री फ़ैसले से पहले उठ खड़ा हुआ, और बेसब्री से इधर-उधर देखता हुआ बाज़ार की तरफ़ चल दिया।

सबसे पहले उसे नन्हू सक्क़ा मिला जो अपने बेटे को गालियाँ देता आ रहा था। वह इनायत की ख़ुशख़बरी से प्रसन्न न हो सका, क्योंकि उसे साफ़ नज़र आ गया कि यह बदमाश अज़ीज़ मौलूद के बहाने से फिर रात के दो बजे तक लापता रहेगा, और अगले दिन आठ बजे सोकर उठेगा और आधे दर्जन घड़ों का पानी ख़ुद उसके सर पड़ जायगा।

'महलूद?' उसने रुककर घूरते हुए कहा, 'हाँ, होती ही रहे है महलूद!'

इनायत को अपने कन्धे तो ज़रूर ऊँचे-नीचे करने पड़े, मगर उसने अपने उत्साह को ठंडा नहीं होने दिया, और इरादा कर लिया कि अब के ज़रा पहले से भाँपकर आदमी की राय लेगा।

सलामत आज बेतरह खाँस रहा था। दारोग़ाजी के बेटे के कपड़े आज बहुत सफ़ेद थे, और काला सैंडिल चमक रहा था, और फिर उनकी बग़ल में अँग्रेज़ी की एक बहुत मोटी किताब थी। आमवाला महताब लाला रामप्रसाद को आम दे रहा था, मगर उसके

कुछ पैसे इनायत पर बाकी थे। इन सबों के चेहरे कुछ उम्मीद बढ़ानेवाले न लगे। इसलिए उसने अपना चेहरा रूखा बना लिया, दाँत खूब भींच लिये, और सीने के पुट्ठों को फैला दिया कि कहीं यह मीठी गोल और पीली खबर उसके अन्दर उड़ न जाय यहाँ तक कि जब उस गुलदब्बो भंगिन घरों से रोटियाँ जमा करती हुई मिली तो उसने उससे यह भी न पूछा कि 'द्वारी पैसे की कै सेर ?' लेकिन बाजार के नुक्कड़ पर छिद्दन को देखते ही उसके हाथों में फँसे हुए दोनों लड्डू उसके जबड़ों में आकर झूलने लगे। उसने छिद्दन को पुकारा और जवाब का इन्तजार किये बिना उसकी तरफ झपटा। अब तो सैकड़ों लड्डू उसके गले में, सीने में, हाथों में, टाँगों में कूद रहे थे; कूद ही नहीं रहे थे, बल्कि निकले पड़ रहे थे। उसने चार गज के फ़ासले से ही चीख़ कर कहा, 'अबे छिद्दन, मौलूद है, बे !'

छिद्दन के गले की रगें लपक पड़ीं—'मौलूद ?' उसने ऐसी आवाज़ में कहा, जैसे कोई डाके की खबर सुनी हो। 'मेरी क़सम ?'

'हाँ ! हाँ, बे !'

'मेरी क़सम खा !'

'कह तो रहा हूँ बे, कि मौलूद है, मौलूद है और वो मानना ही नहीं !'

'हैं काँए की, वैसे ? बतासों की ?'

'बतासों की ? रबड़ी मिलेगी, पाव-पाव भर !'

'अबे चल !' अपने लहजे के ताने को महसूस करके छिद्दन ने अन्दाज बदल दिया और विनीत स्वर में कहा, 'ठीक, ठीक बता बे !'

'अच्छा, ले ठीक-ठीक। दो-दो आम मिलेंगे एक दोने में रख के।'

'अबे तू तो हर वक्त वही बस...ठीक बता !'

इनायत ने बहुत सँभाल कर परोसे परसे कपड़ा हटाया। 'लड्डू हैं, चार-चार। तुम्हारे तो आठ-आठ हुए !'

'मेरी क़सम ?'

'और क्या झूठ कह रहा हूँ !'

'अजी हाँ !'

'भइ तेरी जान क़सम !'

अब जाकर छिद्दन की कनपटियों की रगें ढीली पड़ीं।

और उसने अपने आपको साँस लेता हुआ महसूस किया।

जब वह आठों लड्डूओं को अपने दोनों हाथों में अच्छी तरह सँभाल चुका तो उसे और साधारण जानने योग्य बातें मालूम कर लेने का ख्याल आया। 'हैं किसके ?' उसने बहुत ही हलकी उत्सुकता के साथ पूछा।

'शेखजी के हैं, बुनियाद अली के।'

राख पर पानी पड़ा, और राख बैठ गई। 'शेख़ बुनियाद अली के ?' छिद्दन ने टाँग ढीली करके इस मसले को अच्छी तरह दिल में बिठाने की कोशिश करते हुए कहा, 'अच्छा, देखो, पूछूँ हूँ उस्ताद से।'

लेकिन उस्ताद करीमा पहले ही भरे बैठे थे। उन्हें यह बात कभी न भूली थी कि पहले मौलूद में शेख़ बुनियाद अली ने इतनी छोटी चौकी बिछाई थी कि उस पर इनकी पार्टी को बैठने की जगह न मिली थी, क्योंकि शरफ़ू की पार्टी पहले ही से आकर डट गई थी। उन्हीं लोगों के हाफ़िज़[1] ने पढ़ा था, और उन्हीं ने पंच-आयत[2] शुरू की थी, 'सलाम'[3] भी उन्हीं का था। उस्ताद करीमा ने दरवाज़े से निकलते ही अपने सब शागिर्दों से कह दिया था : 'देखो, असल के हो तो अब से यहाँ नहीं आने के हो।' उन्हें बदला लेने का ऐसा मौक़ा ख़ुदा दे। जो छिद्दन ने दूरदर्शिता से काम लेते हुए लड्डुओं की चर्चा पहले ही कर दी थी। मगर शेख़ बुनियादअली का नाम सुनकर वह अपने शागिर्दों को बताये बिना लड्डुओं को पूरा ही पूरा निगल गये और जब इससे भी काम न चला तो आ बैठ गये। फिर उस्ताद का बोझ था! लड्डू भुसर-भुसर कर होकर मिट्टी में मिल गये। मिट्टी में न भी मिले हों, कम-से-कम उनकी दृष्टि से तो ओझल हो ही गये। ऐसा होने से उनके स्वर में ज़रा इरादे की दृढ़ता पैदा हुई, और उन्होंने छिद्दन को डाँटते हुए कहा : 'क्या कहा, शेख़ बुनियादअली के ? क्यों बे उल्लू के पट्ठे, क्या क़सम खिलाई थी उस रोज़ ?...साले, हो न कमीन। आख़िर कहाँ जाय अक़्ल ? याद ना, कैसी उस दिन ज़िल्लत हुई थी ? नीचे पड़े रहे। 'सलाम' भी उन्होंने ही पढ़ा; और 'पञ्चायत' भी उन्होंने ही शुरू की। जिसे जूतियों में बैठना हो वह जाय। जो अस्ल का होगा वह तो जायगा नहीं। अब तुम्हीं कह दो इन्साफ़ से कि ऐसी जगह जाना चाहिये कि नहीं ? मियाँ शरीफ़ों की तो ज़रा-सी बात लाल के बराबर होती है।'

अज़ीज़ और कल्लू दोनों के निकट इन्साफ़ की बात यही थी, कि नहीं जाना चाहिये; क्योंकि यहाँ तो जन्म-कुण्डली बहस में आ गई थी। और फिर सबसे बड़ी बात तो यह थी, कि चाहे अपमान होता हो या न होता हो मगर छिद्दन को तो सर खुजाना पड़ रहा था। उन दोनों को तो अपनी गर्दन की नसों की गुदगुदी में काफ़ी मज़ा आ गया था, मगर बेचारे छिद्दन के सूखे और भारी होंठों ने उन आठ में से सिर्फ़ दो लड्डुओं को कोठे के उधर उड़कर जाते हुए देखा था।

× × ×

लेकिन उस्ताद शरफ़ू के यहाँ इस ख़बर को अधिक शान्त स्थिर शरीर से सुना गया। उन्होंने उँगुलियों से दाढ़ी में कंघी करते हुए निष्पक्षता के स्वर में कहा : 'अच्-च्छा।' रशीद इस चक्कर में था कि उस्ताद की आवाज़ में नाराज़मन्दी पाये या शक या बेपर-

---

१. हाफ़िज़, यानी जिसे क़ुरान-शरीफ़ कंठस्थ हो।

२. क़ुरान-शरीफ़ का एक भाग।

३. ग़ज़ल-भजन, इमामों की प्रशंसा में।

वाई। लेकिन, खैर उसकी गर्दन ढलकने से पहले ही उस्ताद ने हाथ को घुटने पर उतारते हुए दुहराया : 'तो मौलूद है...है किस रोज़ ? शेखजी के है ?'

'हाँ, शेखजी के। जुम्मे के रोज़ है। 'अशा' के बाद। विनकी पाल्टी ना आरई है, मना कर दिया करीमा ने। कह दिया कि हम न जाने के हैं शेखजी के। विद् दिन हमें नीचे बैठना पड़ा, सलाम भी विन्होंने ही पढ़ा, और जो असल का है वह तो जाने का ना है।'

रशीद की इच्छुक आँखों को निराश न होना पड़ा। उस्ताद की दाढ़ी तेजी से भरभराई, और उन्होंने अनुपस्थित करीना को डाँट सकने के साहस का आनन्द उठाते हुए कहा : 'न आवेंगे साले तो मत आओ। कोई मौलूद न होगी बिन के बग़ैर ? क्या और पढ़नेवाले ना रहे हैं ? किस बात की हट उनकी ? कोई दबे बसे हैं शेखजी बिन के, या क्या है ? कमीने हैं साले। अभी बतावे डाँट तो हो लें आगे-आगे। ऐसे-ऐसे तो जूतियें चाटते फिरे हैं सैकड़ों !'

'और क्या !' रशीद ने लहजे में गम्भीरता लाते हुए कहा।

'हाँ जी, यह तो है ही।' इस्माइल जोश में पट्टी पर खिसक आया था। 'रईस हैं साहब, कौन है विन की बराबर का कसबे में।'

गेंद ग़द्दा खाकर और उछली। 'और वह भूल गये जब खुशामदें करते फिरते थे। जब मुक़द्दमा चला था। टोपी डाल दी थी शेखजी के पैरों पे। शेखजी दरोग़ाजी से सिफारिश न करें तो काटते होते जेल। भूल जाते सब खा-खा के डंडे। अजी शेखजी हैं कुछ ढीले हैं हमारे। एक लगवाते दो-दो जूते तो हो जाते ठीक। पर क्या करें शेखजी ही बिचारे सीधे-सादे हैं।'

'बहुत सीधे हैं वाक़ई शेकजी भी।' रशीद ने लहजे में नरमी पैदा करते हुए ताईद की।

'भइ हाँ,' इस्माइल दोनों हाथों को पट्टी पर रखकर ऊपर उठ गया था। 'यह तो हम भी कहेंगे। बड़े सीधे हैं शेखजी।'

'रईस हैं भाई, रईस को होना ही चाहिये ऐसा', उस्ताद ने अपने श्रोतकों को आश्चर्य में डालने के लिए कहना शुरू किया, 'और उनके बाप थे, साहब, क्या बताऊँ कैसे आदमी थे ! वह रौब था कि कोई निकल तो जाय सलाम के बग़ैर सामने से। चार-पाँच आदमी जमा ही रहें थे हर वक्त। मुझे तो वो बेटा कहें थे। मुझसे कहते, ले बेटा शरफू चिलम तो भर ला। अब मैं चिलम ले के अन्दर पहुँचता। अजी आग मँगाई है चिलम में, बुआ ! वहीं चिल्लातीं, अरे, थम, थम, मैं आई, आग उजाड़ के रख देगा सारी। थीं वो बड़ी अच्छी। जब कभी मैं गया और वो छाछ बलोती हुईं तो उन्होंने कभी छाछ से बग़ैर नहीं आने दिया मुझे। ले रे शरफू, छाछ पीता जा ! और मैं लेके बैठ के कटोरा लाओ बुआजी !...और बड़ा दूध दे थी उनकी भैंस भी। साब, पचपन रुपै की ली थी उन्होंने पैंठ में से। जाट था वह, कहने लगा, तो सेखजी, क्या याद करोगे तुम भी कि दी थी कोई भैंसिया और निकली भी वह ऐसी ही जोरदार। दोनों वक्त—'

'क्या ढींग मार रहा बे लँगड़े ?' लतीफ़ टेलर मास्टर ने रशीद को मोंढे पर से उठाते हुए कहा।

उस्ताद ने तो ख़ैर ज़रा बुज़ुर्गों की-सी शन्ति से काम लिया, मगर रशीद और इस्माइल के कन्धे फ़ौरन ऊपर तन गये, कि देखें, पहले कौन बताये। इस्माइल तो 'बा-ब-बा' ही करता रह गया, मगर रशीद ने साँस के फूले हुए होने पर भी मौलूद की ख़बर और करीमा का हुक्म—सब हाल सुना डाला।

'अबे छोड़ यह झगड़ा', टेलर मास्टर बोले, 'यह बता कि बटेगा क्या ?'

'लड्डू हैं, मास्टर, लड्डू !' अब के इस्माइल तुला हुआ था कि अब के रशीद को आगे न बढ़ने देगा।

'लड्डू ?' टेलर मास्टर ने अपनी आवाज़ में से लड्डुओं की सारी मिठास और खुशबू निकाल देने की कोशिश करते हुए कहा—'क्या, रोज़-रोज़ लडडू, हूँ ह !'

'तो फिर तुम्हारे लिए कौन बाँटेगा सोहन हलवा ?' इस्माइल ने मास्टर को अपना बर्बर और गैरइन्सानी ख़याल हटा देने के लिए उकसाते हुए कहा।

मगर मास्टर भला किसी को ऐसी छोटी चीजों पर फिसलते हुए कहाँ देख सकते थे। उन्होंने अपना देहली में सोचा हुआ वाक्य उन्नीसवीं बार प्रयोग किया। 'इससे तो अच्छा है, कि दो-दो रोटियों पे एक-एक हड्डी और चने की दाल रख के बाँटे जो पेट तो भरे किसी भलेमानुस का।' मास्टर को रशीद और इस्माइल के सिर्फ़ मुस्करा देने से सन्तोष न हुआ, और दो सेकन्ड प्रतीक्षा के बाद उन्होंने यह प्रकट करने के लिए स्वयं ही अट्टहास किया, कि ऐसे नाज़ुक लतीफ़े आम लोगों की समझ से बाहर हैं।

जब टेलर मास्टर के वाक्य के प्रभावों से वातावरण कुछ खाली हुआ तो रशीद ने समयोचित अन्दाज़ में पूछा : 'तो चलोगे, मास्टर, फिर ?'

कुछ सही, मगर मास्टर ऐसे संग-दिल भी न थे कि अपनी जगह पर अड़े ही रहते। 'जब पालटी ही चलेगी तो हम क्यों न जायेंगे ?' अपने साथियों का दिल रखने के लिए उन्होंने अपने आपको ज़रा और ढील दे देने में कोई हर्ज न समझा। 'आठ-आठ लड्डूओं का मामला है, यार, क्यों छोड़ो ? मेरे दाहिने को बैठियो बे रशीद ! बोल !'

'क्यों, मास्टर ?' इस्माइल ने टेलर मास्टर की नरमी से फ़ायदा उठाते हुए कहा, 'चिकना-चुपड़ा छाँटोगे ?'

बहरहाल मास्टर अपनी इस तारीफ़ से ख़ासे खुश हुए; और उनकी आँख के कोनों ने फड़ककर इस्माइल को अधिक विस्तार से काम लेने पर उकसाया और रशीद को ऐसा मालूम हुआ जैसे उसके दोनो जबड़ों में फ़ासला बढ़ गया है। और वह होंट खोलकर अपने मुँह में हवा भरने लगा। यह अच्छा होता है कि जब-तब जता दिया जाय कि उस्ताद अपनी उस्तादी और दूसरों की शागिर्दी नहीं भूले हैं। इसलिए उस्ताद शरफ़ू ने भी इस मौके को अपना इरादा पूरा करने के लिए ज़रूरी समझा। 'देखो भई,' उन्होंने अपने शागिर्दों

को झँझोड़ा। 'एक बात तो हम कहेंगे। चाहे तुम मानो या न मानो। जो मौलूद पढ़ो तो अपने काम, अपने चलन तो ठीक रखो। बस, हर वक्त वही बातें। कुछ और भी रह गया है तुम्हें कि नाँ? और एक ये हैं मास्टर दाढ़ी घुटमुंड, और मूँछें देखें तो इत्ती-इत्ती! जैसे जनखे। और नमाज़ तो इसने कभी पढ़ के ही न जानी।'

'कौन? नमाज़? किसने ना पढ़के जानी?'

'तूने' उस्ताद ने मास्टर के तीन दिन दिल्ली में रहने का रौब न मानते हुए कहा—'और किसने।'

'मैंने? मैंने? मैं ना पढ़ता हूँ नमाज़?'

'तो देखा है किसी ने आज तक तुझे पढ़ते नमाज़?'

'तो कोई मैं दिखाने को पढ़ूँ हूँ नमाज़, तेरी तरह।' और मास्टर ने अपने देहली के एक दोस्त के वाक्य को अकाट्य तर्क के रूप में पेश किया।

'मैं तो 'तहज्जद' के साथ मिला लू हूँ सब वक्त की नमाज़ें, यार...।'

'तहज्जद के साथ मिलाले है!' उस्ताद ने हार न मानने की कोशिश करते हुए ताने से कहा, ताकि दूसरे शागिर्दों की मुस्कराहट खत्म हो जाय। 'अबे, कुछ तो ख़याल किया कर दुनिया क्या कहेगी। चढ़ के बैठ गये तख्त पे मौलूद पढ़ने, और काम देखो इनके तो ऐसे।'

'अबे रहने दे, बड़ा बना है पाक।'—इस्माइल और रशीद की हँसी ने वाक़ई बेचारे मास्टर को इस पर मजबूर कर दिया था। 'तो फिर खोलूं तेरी...?'

लेकिन नियमन तो व्यापक कर्तव्यों में आता है! इसी वजह से इनकी चर्चा में उस्ताद को वैयक्तिक जीवनियों का लेखा—जब कि वह स्वयं उनके बारे में हो—बिलकुल पसन्द न था। इसलिए उन्होंने बातचीत को दूसरा रंग देने के लिए कहा: 'बस, छैला बने रहे हैं हर वक्त कहीं सिलवट न पड़ जाय कपड़ों में। नमाज़ पढ़ते हैं!'

'जन्टलमैन हैं साब मास्टर, कोई ऐसे-वैसे हैं'—इस्माइल अपनी शिकायत को, जो अब एक मजेदार घटना बन गई थी, अधिक देर तक न रोक सका: 'वह इस दफ़ा गये थे ना?—ढले रहे गाड़ी में। सारी रात मुझे ही घिसटवाया। जूता ख़राब हो जायगा मेरा! जैसे बड़ा बढ़िया था आपका जूता!'

'अबे पाँच का था, पाँच का!' मास्टर अपने जूते का महत्व स्पष्ट करने से कभी भी न चूकते थे, और इस समय तो उस पर आक्षेप किया जा रहा था। 'देखने को भी न नसीब हुआ होगा!'

'पाँच का हो चाहे दस का, पैर तो तोड़े तुमने मेरे!'

'तो चार पैसे जो ले लिये थे तूने दूध को?' मज़ाक़ तक तो खैर कोई बात न थी, मगर शिकायत-भरा लहजा मास्टर को पसन्द न आया था। 'अभी तक नहीं लौटाये हैं तूने चार पैसे। बैठ ही गया हज़म करके?'

उस्ताद ने इस मामले को रफ़ा-दफ़ा करने के विचार से कहा : 'मगर मास्टर, चाय बहुत उड़ाई तुमने जलालपुर में ! वह भी कहते होंगे कि क्या मिठौर ही रहीस हैंगे !'

'छिः !' कुरुचिपूर्णता का आक्षेप मास्टर बर्दाश्त नहीं कर सकते थे : 'चाय थी वह ? औंटे हुए पानी में गुड़ घोल दिया जैसे। गँवारो ! अरे चाय हमने पी है दिल्ली में। पहुँच गये सुबह ही सुबह। एक फैंके चार पैसे। 'लो जी बनाओ, एक प्याली !' बस, साब, दी उसने बना के। दो-दो अँगुल मलाई चढ़ी हुई। और जो ज़रा कम हुई, तो डाँटा, 'क्योंजी यह क्या दी है, देगची का धोबन ! फ़ौरन कहा उसने, 'अजी लो, लो, नाराज़ मत हो, और लो मलाई, मलाई की क्या कमी है !'

मास्टर तो दिल्ली की मलाई पर होंट चटका रहे थे, मगर मलाई की चिकनाई भी इस्माईल की आँखों को मास्टर के होंटों पर चिपका हुआ न रख सकी और वह सड़क की तरफ़ देख रहा था, सामनेवाले बनिये की लड़की अपनी छोटी बहन को लेने बाहर निकली थी, जो नाली के किनारे खड़ी रोटी का टुकड़ा खा रही थी। इन लोगों को बैठा देखकर उसके कूल्हे और ज्यादा मटके, कमर में और बल पड़े, कन्धे और आड़े-तिरछे हुए : उसने अपनी बाँह साड़ी में से ज़रा और बाहर निकाल दी, और 'लल्ली !' के बजाय आवाज़ में भनक पैदा करते हुए 'लैल्ली ई ?' पुकारने लगी।

इस्माइल की दोनों पिंडलियों में गुदगुदी हुई, और उसकी उँगलियों के सिरे बोझिल मालूम होने लगे। पहले तो अपना घुटना सहलाता रहा, लेकिन बनावटी गुस्से से फूली हुई सुर्ख़ नाक देखकर और 'ना चलती है तू, मैं छोड़े जाऊँ हूँ !' सुनकर उसने अपनी टाँगें सिकोड़ लीं, और 'रुख़सार से बुरक़े को हटा क्यों नहीं देते !' गाने लगा। अब तक औरों ने भी इस गाने के स्रोत और केन्द्र को देख लिया था। लेकिन उस्ताद लड़की को देखने की बजाय शोख़ आँखों से इस्माइल की तरफ़ देख रहे थे, जैसे कह रहे हों, 'हम भी ताड़ गये हैं, मगर ख़ैर जाओ, छोड़ते हैं, अभी खेलने खाने के दिन हैं तुम्हारे।' रशीद की मुस्कराहट यह बताने के लिए अधीर थी कि उसे छोटा न समझा जाय, उसकी भी इन चीज़ों से आनन्द लेने की उम्र है। और टेलर मास्टर बड़े बेपरवा और गम्भीर बने हुए थे—यह प्रकट करने के लिए कि वह दिल्ली में जिन मेम साहब के यहाँ काम करते थे वह अभी विलायत से आई थीं, और बड़ी ख़ूबसूरत थीं, और मास्टर को आप बुलाकर चाय दिया करती थीं, इसलिए उन्हें ऐसी दमड़ची लौंडियों से भला क्या दिलचस्पी हो सकती थी।

थोड़ी देर तक ख़ामोशी रही, और सिर्फ़ साँसों की आवाज़ आती रही। एकाएक इस्माइल ने चौंकते हुए ऐसे ढङ्ग में कहा जैसे वह उनसे किसी बड़ी चीज़ की प्रार्थना कर रहा हो और उसे मालूम हो कि वह इन्कार कर देंगे—'मौलूद[१] में यही बात पढ़ेंगे ? रहेगी तो अच्छी।'

टेलर मास्टर इस भावुकता को वहीं समाप्त कर देना चाहते थे। वह इन्कार

१—हज़रत मोहम्मद की प्रशंसा-विषयक भजन।

करने ही वाले थे कि सामने थाने के दीवानजी जाते नज़र आये। 'दीवानजी हैं क्या ?' उस्ताद ने पूछा।

'हाँ, दीवानजी ही हैं।' रशीद ने यक़ीन दिलाया।

'दीवानजी को भी दावत देदें, मौलूद की ?' उस्ताद ने अपना ख़याल ज़ाहिर किया।

'मैं कह दूँ भाग के दीवानजी से ?' इस्माइल ने पूछा।

'अच्छा, कह दे', उस्ताद ने कहा। मगर फिर कुछ सोच के बोले, 'ज़रा ठैर। मैं ही जाऊँ हूँ। मैं ही कहूँगा दीवानजी से।'

× × ×

जब से बुआ फ़ातमा ने यह सुना था कि शेख़ बुनियाद अली की बेटी शफ़ीका छै साल बाद आगरे से आई है, वह बहुत बेचैन थीं कि किसी तरह उससे मिलें, और उनके अलावा उनकी भतीजी ज़ैनब भी। और वह नयी सिपाहिनी भी जल्दी ही उन्हें बुआ कहने लगी थी, और अब दोपहर का वक़्त उनके यहाँ गुज़ारती थी। ख़ास तौर पर वह यह देखना चाहती थीं कि शफ़ीका आगरे से किस रंग में रँगकर आई है। वह पहले ही की तरह सीधी-सादी है, या साड़ी या शलवार या बड़े पाँयचों का पैजामा पहनने और टेढ़ी माँग निकालने लगी है। मगर वह यह सोचतीं कि बच्चों के घर में कहाँ निकलना होता है, और कसमसा-कसमसाकर रह जातीं, लेकिन जब मौलूद की दावत पहुँची, तो उन्हें अपनी इच्छा पूरी करने का एक सुनहरा अवसर हाथ आ गया।

क्योंकि यही दो-एक ऐसी चीज़ें तो होती हैं जब जाना फ़र्ज़ हो जाता है, जैसे कोई ख़ुशी या मौत या मौलूद। चुनाचे तीनों ने अपने-अपने यहाँ नहाने के लिए पानी गर्म होने को रख दिया, और दोपहर ही से जो कुछ पकाना था, मँगा लिया ताकि शाम को नमाज़ तक खाने-वाने से निपट जायँ।

गो सिपाहिनी ने नहाने में काफ़ी देर कर दी थी, जिस पर बुआ फ़ातमा बहुत बिगड़ रही थीं, मगर फिर भी 'अशा' से एक घण्टा पहले ही वह सब तैयार हो गईं और चार बच्चों, और बुआ फ़ातमा की बड़ी लड़की कल्सूम को साथ लेकर चल पड़ीं। सिपाहिनी ने आज अपना अकेला बड़े पाँयचों का पैजामा पहना था, और कुछ देर सोचने-साचने के बाद ट्रंक में से अपना तीन रुपये का बुर्क़ा भी निकाल लिया था, जिसके दो हिस्से थे। इस बुर्के को एक मिनट तक देखने के बाद ज़ीनत के प्योटे कुछ तरह खुले रह गये जैसे उनमें पलकें न रही हों और उसके नीचे के दाँत और ऊपर के दाँतों में गड़ने लगे, मगर जब बुआ फ़ातमा ने कहा कि 'अरी, क्या है यह तेरा बुरखा, हाथ तो सारे बाहर निकले हैं'—तब जाकर उसके होंट कुछ ढीले पड़े और उसने अपना पुराने ढंग का सफ़ेद बुर्क़ा झाड़कर ओढ़ लिया।

जब ये चारों शेख़जी के यहाँ पहुँचीं, तो वहाँ अभी तक खाना ही खाया जा

रहा था। बच्चे पीछे-पीछे आ रहे थे, इसलिए उन्हें अपनी जूतियों से फट-फट करनी पड़ी। तब शेख़जी की बीवी चौंकी और उन्होंने चूल्हे के पास से पुकारा : 'अजी, हटियो, हटियो!' जितनी देर में शेख़जी ने पानी पिया और हाथ धोये, इन चारों को दालान में गर्मी में घुटना पड़ा। चलते-चलते भी शेख़जी ने बीवी को बुलाया और आहिस्ता से कहा : 'देखो बाहर छोटीवाली सैनी भेजना समझीं?' जब शेख़जी के जूतों की आवाज़ बाहर पहुँच गई और बुआ फ़ातमा ने दरवाज़े की तरफ़ झाँककर अच्छी तरह इत्मीनान कर लिया, तो वे चारों एक शिकायत-भरी सी लम्बी साँस लेकर बाहर आँगन में निकलीं। 'सलाम' दोनों पार्टियों ने एक साथ कहा—हर दफ़े एक व्यक्ति ने यह कोशिश करते हुए कि उसकी आवाज़ सबसे कम सुनाई दे।

'है, है, मर गये मारे गर्मी के!' सिपाहनी ने आगरेवाली पर पहले ही यह स्पष्ट कर देना आवश्यक समझा कि उसका स्वभाव भी शहरवालियों का-सा है और वह क़स्बे के दालानों की बिलकुल अभ्यस्त नहीं है। इसका इरादा तो इससे भी आगे बढ़कर पानी माँगने का था, मगर बुआ फ़ातमा ने शफ़ीक़ा के पास पहुँचकर उसकी कमर थपकनी शुरू कर दी और पूछा : 'बड़े दिन में आई है बेटी, अच्छी तो है।

'जी', शफ़ीक़ा ने बात टालने के लिए कहा, 'आइये, बैठिये। इधर आ जाइये, इधर आ जाइये, इस पलंग पे। उस पलंग पे तो...' मगर उसने वाक्य अपूर्ण ही छोड़ दिया। इस दौरान में बुआ फ़ातमा ख़ूब देखदाखकर इत्मीनान कर चुकी थीं कि बात बड़े पायँचों के रेशमी पाजामे और बालियों की बजाय बुन्दों तक ही पहुँची है। ज़ीनत का भी डर कम हो गया, और उसने अपने तंग पायँचों में टाँगों के पुट्ठे ढीले छोड़ दिये। यद्यपि सिपाहिनी को एक हद तक निराशा हुई, मगर इस विचार से सन्तोष अवश्य हुआ कि अब ख़ामख़ा पिचकना तो न पड़ेगा। कलसूम ने भी पीछे से झाँक-झाँक कर देखा और आगरेवाली के सम्बन्ध में कोई राय क़ायम करनी चाही। मगर थोड़ी कोशिश के बाद उसे किसी और समय के लिए स्थगित कर देना ही उचित समझा।

अब बच्चे भी आ पहुँचे थे, और दोनों घरों के बच्चों ने भाग-भागकर और शोर मचा-मचाकर पृष्ठ-भूमि का संगीत उपस्थित करना आरम्भ कर दिया।

सिपाहिनी ने अधिक देर अति-शिष्ट बना रहना बेकार समझा और सीधे शफ़ीक़ा को सम्बोधन करते हुए कहा : बहन, मैं तो तुम्हारे पास बैठूँगी। मैं तो बराबर बुआ से कहे जा रही थी कि देख पाऊँ किसी तरह उन्हें!' और फिर साथ ही अपनी विशेषताओं से भी सूचित कर दिया; ताकि आगरेवाली को अधिक देर तक इसके बारे में सन्देह न रहे। 'मेरी तो ऐसी ही आदत है, बहन, हँसने-हँसाने की। अब क्या करूँ अपनी आदत को। बुआ कहती रहें हैं, कि अरी क्या हो गया तेरी हँसी को।'

'हाँ, हाँ, हँस बैठो!' आगरेवाली ने फ़ौरन बताया कि उसे भी मुर्दादिल न समझा जाय। 'मैं भी यह कह रही थी कि कोई बातें-बातें करनेवाला ही नहीं मिलता यहाँ। आगरे में तो हर वक्त आना-जाना लगा ही रहता था।'

'वहाँ तो बहुत-सी बहनें बनी-त्री होंगी ? फ़र्रुख़ाबाद में तो मैं भी घर में ना टिकूँ थी। खिड़की थी हमारे घर में बस। खिड़की खोली, उधर निकल गई। फिरयाई सारे मुहल्ले में, वह आए और बिगड़ने लगे, बस कभी घर में ही नहीं दिखाई देती हो, उठीं और चल दीं !'

आगरेवाली ने न मालूम क्यों यह महसूस किया कि अधिक सहेलियाँ रखना कोई भद्दी-सी बात है। 'हाँ..., बहुत-सी तो क्या, दो हैं जिनसे ज़रा ज़्यादा मेलजोल है। एक तो है आसफ़ की अम्मा। वह भी', उसने सिपाहिनी का दिल रखने के लिए कहा, 'बिलकुल तुम्हारी ही-सी हैं। बहन बहुत हँसती हैं। जब हँसने पे आती हैं, तो बस हँस चली जाती हैं। फ़ौज के दफ़्तर में हैं वह। और एक हैं नसीमा की अम्मा। वह बहन बनी हुई हैं। खाला कहलवाती हैं वह अपनी बेटी से मुझे। कोई आठ साल की है उनकी बेटी। तीसरी में पढ़ती है। बड़ी होशियार है। है तो इतनी-सी, मगर बातें बड़ों की-सी करती है।'

'इस्कूल जाती होगी पढ़ने ?' सिपाहिनी ने अपने सन्देह को पक्का करने के लिए पूछा।

बुआ फ़ातमा ने भी इस सिलसिले में कुछ पूछना चाहा, मगर उसे अपने लिए ऊँचा या फिर अभी समय से पूर्व समझ कर छोड़ दिया। कलसूम ने फ़ौरन ही एक चौड़ी-सी सड़क बनाई, जिसके दोनों तरफ़ अस्पष्ट सी दुकानें थीं, और जहाँ अनजान शक्लों की काली और भारी गाड़ियाँ बिना घोड़ों और पहियों के उड़ती हुई आ-जा रही थीं ; और वह आठ साल की नसीमा को अपनी नयी ओढ़नी सम्भालते हुए बग़ल में बस्ता दबाये स्कूल जाते देखने लगी। मगर चूँकि वह रास्तों से अनजान थी इसलिए उसे नसीमा को चौराहे पर खड़ा छोड़ देना पड़ा, और वह बावजूद लगातार कोशिशों के उसे आगे न बढ़ा सकी।

'हाँ, स्कूल ही तो जाती है', शफ़ीक़ा ने बता दिया।

'बड़े ठाठ से जाती होगी पढ़ने ?' सिपाहिनी ने पूछने में जल्दी की कि कहीं बातचीत किसी और तरफ़ न बहक जाय।'

'ठाठ ? नहीं, ठाठ क्या, अपना यही, जैसे सीधे-सादे होते हैं।'

'तू तो बेटी आगरे में रहकर बिलकुल नहीं बदली।' बुआ फ़ातमा बहुत देर से पूछना चाह रही थीं, अब उनसे अधिक रहा नहीं गया। 'बिलकुल वैसी ही सीधी-सादी, जैसे सब हों हैं।'

'हाँ, बहन', सिपाहनी को भी इस विषय पर रोशनी की ज़रूरत थी। 'तुम क्यों हो इत्ती सीधी ? तुम क्यों नहीं करतीं शहरवालियों के से फ़ैशन ?'

'हाँ, फ़ैशन ? फ़ैशन क्या ! उन्हें नहीं पसन्द, वह तो कहते हैं कि ये ही अच्छा है, अपना सीधा-सादा ढङ्ग और वैसे फ़ैशन देखने हों तो आगरे में देखो। एक-एक फ़ैशन करती हैं औरतें। जिस रंग की कमीज़ हवा-सी रंग की शलवार हो। सूट कहते हैं उसे... हाँ, सूट। और फिर एक हाथ में तो एक चूड़ी और दूसरे में पाँच-पाँच छः-छः।'

'ए-सच ?' और जब शफ़ीक़ा ने विश्वास दिलाया कि हाँ वाक़ई ऐसा ही है तो सिपाहिनी और लड़कीं,'आय-हाय ! सुन रही हो, बुआ ?'

'बस, तू ही सुन', बुआ ने फ़ैशन-परस्ती के अभियोग से बचने के लिए कहा, तुझे ही है शौक़ ऐसी बातों का। मरी जाते है ऊँची एड़ियों के जूते पे। क्या अच्छा लगे है तुझे ? मुझस तो न चला जाय। दोपहर को देखो उसके तो तमाशे। कभी शीशा लेके टेढ़ी माँग बनायेगी, कभी दोपट्टे की साढ़ी बाँधेगी, कभी मटक-मटककर गायेगी। अब तो बुढ़ियें भी कंघा लगाने लगीं, और जरा अँग्रेज़ी सुनो उससे बुलवाके।'

सिपाहिनी ने आते ही अपनी जो तारीफ़ पेश की थी, उसके सही होने के सबूत देने की वह अब तक कई दफ़ा कोशिश कर चुकी थी मगर जब बुआ फ़ातमा ने गवाही देनी शुरू कर दी तो उनके बयान के असर को पूरा करने के लिए कई ठहाके लगाये। 'तुम तो यहाँ पड़ी हो बुआ, तुम्हें क्या खबर दुनिया में क्या-क्या हो रहा है। जो बाहर निकलो तो पता चले।'

'हाँ।' आगरेवाली ने ताल दी।

'हाँ।' बुआ फ़ातमा ने भी प्रभावित न होने की कोशिश करते हुए कह दिया।

'हूँ !' सिपाहिनी ने स्वर पर अधिक बल देकर कह दिया।

फ़ैशन के जिक्र पर शुरू-शुरू में कलसूम भी हो गई थी, और पलकों की आँखों के नीचे की हड्डी पर जल्दी-जल्दी गिरते महसूस किया था। मगर जल्दी ही उसका बदन ढीला पड़ गया, और वह उन सूरतों में से किसी न किसी को देख लेने का प्रयत्न कर लेने लगी जो कटी-कटाई, कठिनता से आधी-तिहाई उसके सामने से गुज़र रही थीं। जल्दी ही इन सूरतों की जगह काफ़ी भूरी और बादामी पट्टियों ने लेली और कभी उसे अपने कन्धे चौड़े मालूम होने लगे और कभी कमर।

'तो फिर सुनाओ बहन और कुछ बातें,' सिपाहिनी ने नीरवता भंग की, और मानो उचित ही जान, यह भी कह दिया, 'और क्या-क्या फ़ैशन है ?'

'और क्या-क्या फ़ैशन है ? सैकड़ों फ़ैशन हैं, बहन। यहाँ तो मालूम नहीं होता, बाहर निकलो तो पता चले।'

विषय का यह नया रुख सिपाहिनी को बहुत पसन्द आया। 'हाँ, बहन, तुमने बहुत ही ठीक बात कही है यह। बाहर निकलो तो पता चले। यहाँ आके तो ऐसा हो गया, जैसे माँ के पेट में बैठ गये। न रेडू है यहाँ और न और कुछ। अब वहाँ ये तो सुनते ही रहे थे लड़ाई की बातें कि आज इत्ते मारे गये, आज यूँ हुआ, आज यूँ हुआ।'

थोड़ी ही देर सोचने के बाद सिपाहिनी को आगरेवाली से बातें सुनने का एक मज़ेदार नुस्खा हाथ आ गया। 'एक दफ़ा अखबार में लिखावा आया था कि एक स्कूल की लड़की एक लड़के के साथ भाग गई। मैं कहूँ हूँ बहन कि कैसे मिल गये होंगे दोनों ?'

'तुम्हें नहीं मालूम ?' आगरेवाली ने स्पष्ट किया। 'एक साथ पढ़ते हैं लड़के और

लड़कियाँ तो कालेजों में। वह आसफ़ की अम्मा जो हैं उनका बड़ा लड़का पढ़ता है कालेज में। वह बताया करता है कि हमारे साथ लड़कियाँ पढ़ती हैं। साथ-साथ बैठते हैं सब। वो आसफ़ की अम्मा सुना रही थीं कि उनके भाई के बेटे ने कालेज में एक लड़की से तय कर लिया था कि तुमसे करूँगा शादी। जब उसके बाप शादी करने लगे, तो उसने इन्कार कर दिया कि मैं नहीं करता हूँ शादी। फिर उसने उसी लड़की से की शादी। बाप भी मजबूर हो गये। क्या करते बिचारे।'

'वो अच्छे माँ-बाप होंगे, भैया' बुआ फ़ातमा ने विचार करने के बाद फ़ैसला सुनाया, 'जो अपनी बेटियों को भेज देते होंगे इस तरह पढ़ने।'

'बाहर निकलो तो पता चले,' सिपाहिनी ने विजय के स्वर में कहा, 'हाँ !'

'हाँ,' अब आगरेवाली में गर्मी आ गई थी। 'आज कालेज की लड़कियों के देखो फ़ेशन। एक दफ़ा हम रात को गये,थे ताजमहल देखने। चाँदनी रात में बहुत अच्छा मालूम होता है ताजमहल। बहुत आदमी जाते हैं चाँदनी रातों में। ताँगों पे ताँगे देख लो जाते वे। बहुत दिन से कह रही थी मैं कि चलो, चलो हमें भी दिखा लाओ चाँदनीरात में ताजमहल। मगर टलता ही रहा हर दफ़ा। तो उस दिन कालेज के लड़के भी आये थे ताजमहल देखने, जिस दिन हम गये थे, हमारी पड़ौसन भी गइ थीं हमारे साथ। वह भी बहुत दिन से...'

'ज़रा सुनना' शेख़जी ने दरवाज़े पर से पुकारा। 'फ़र्श-वर्श बिछ गया ?' मगर जब उनकी बीवी ने इत्तला दी कि अभी तो वह बरतन ही मँगवा रही थीं, तो उन्होंने गुस्से में दरवाज़े की जंजीर हाथ से छोड़ दी। 'भई ठीक रहे ! कब बिछेगा फ़र्श ? रात के बारह बजे ? यहाँ पढ़नेवाले भी आ गये, अब बिछाती हो फ़र्श या कह दूँ कि आज नहीं होती मीलाद-वीलाद कुछ ?' और वाकई उन्होंने पुकार कर कह भी दिया। मगर जब उनकी बीवी ने विश्वास दिलाया कि देर नहीं लगेगी, तो वह मान गये, बल्कि हँस पड़े, और वापिस चले गये।

सिपाहिनी की तजवीज़ पर दोनों घरों के बच्चों को लगा दिया गया था कि वे रस्सी बाँधे, चादरों और दरियों के परदे लटकाएँ, फ़र्श बिछाएँ, चौकियाँ लाकर रखें, बड़ी लालटेन जलाएँ। जब शेख़जी की बीवी की मदद से वह बच्चों को काम के सम्बन्ध में विस्तृत हिदायतें दे चुकी तो वह फ़ौरन शफ़ीका की तरफ़ मुड़ी—'हाँ, बहन, तो फिर क्या हुआ ? तुम सुना जो रही थीं किस्सा ?'

'हाँ तो फिर यह हुआ कि...' आगरेवाली ने बच्चों की तरफ़ देखते हुए कहा। 'शोर तो मच रहा है, क्या करूँ बातें। कान पड़ी आवाज़ तो सुनाई नहीं देती।'

'होने भी दो बहन, शोर !' सिपाहिनी अपने जोश में ऐसे बहानों की कब परवा करनेवाली थीं। 'तुम सुनाओ।'

'हाँ...तो उस दिन कालेज के लड़के भी आये थे। मुझे तो पड़ौसिन ने दिखाया

कि देखूँ तो बहन, कैसे फिर रही हैं लड़कियाँ लड़कों के साथ। एक ठट्ठे लग रहे थे। ऐसे बातें हो रही थीं जैसे कोई बात ही नहीं। एक उछल-कूद। भाग के यहाँ, भाग के वहाँ। कोई तो साड़ी बाँधे-वे, सर खुला हुआ। पल्ला चला जा रहा है ज़मीन में झाड़ू देता-वा! किसी बात का होश ही नहीं। और कोई नेकर पहने-वे।...हाँ नेकर, यही घुटनों तक का जो होता है। टाँगे बिलकुल नंगी। आधी-आधी बाहों की कमीज़ें। और जो साड़ी पहने-वी-थीं, बाँहें उनकी भी खुली वी थीं कन्धों तक।'

'बगैर दुपट्टा-वुपट्टा कुछ नहीं, वो जो नेकर पहने-वी थीं?' बुआ फ़ातमा ने पूछा।

'नहीं, कुछ भी नहीं; बस नेकर और खुले गले की कमीज़, आधे बाहों की।'

'और वो...वो सब...हैं?' यह पूछते हुए सिपाहिनी की गर्दन पर च्यूँटियाँ-सी रेंगने लगीं।

सब...सब' आगरेवाली ने इस प्रश्न में अधिक दिलचस्पी न लेते हुए उत्तर दिया।

बुआ फ़ातमा तो ख़ैर हक्का-बक्का होकर रह गईं, मगर सिपाहिनी को अपने पेट में साँस ज्यादा भारी मालूम हुआ, और दोनों कनपटियाँ सरसराने लगीं। वह एक निश्चित साफ स्पष्ट चित्र बनाने की कोशिश करने लगी। मगर उस जगह-जगह से फूले हुए सफ़ेद कपड़े पर न मालूम नंगी टाँगें भूले चली जाती थीं।

कल्सूम के अन्दर भी एक-दो पत्तियाँ जल्द-जल्द हिलीं। मगर उसने अपने चेहरे से उसके सब चिन्ह मिटा डाले, और वह हवा को सूँघ-सूँघ कर देखने लगी कि उसमें इस वक्त कैसी ख़ुशबू आ रही है।

सिपाहिनी के शरीर में लहरें उठ रही थीं, जो अपनी वास्तविकता को देखते तो हँसी न थीं, मगर हल्क़ तक आकर वह मुस्कराहट के रूप में प्रकट होना चाहती थीं और वह उन्हें चुपचाप हड्डियों में समो लेने की कोशिश कर रही थी। वह पूछना चाहती थी कि वाक़ई इन लड़कियों की रानें दिखाई दे रही थीं, मगर शब्द उभरते-उभरते फिर डूब जाते थे। वह अभी यह प्रश्न पूछने में सफल न हो सकी थी—कि शेखजी ने पुकार कर इत्तला दी कि 'पढ़नेवाले' अन्दर आ रहे हैं।

ओस के साथ नीरवता बरस रही थी। और हर चीज़ पर चिपकी जाती थी। यों, होने को तो मीलाद पढ़नेवालों के गले काफ़ी ऊँचे थे, मगर मालूम होता था कि उनकी आवाज़ें वातावरण में उठ जाती हैं, और ऊपर की नीरवता को नीचे ढकेल देती हैं। सिर्फ़ शुरू-शुरू में सिपाहिनी ने एक ठहाका-सा लगाया था, क्योंकि हाफ़िज़जी 'बयान' पढ़ते हुए अपने स्वर में संगीत और प्रभाव उत्पन्न करने का प्रयत्न कर रहे थे। हर 'अलिफ़'[1] ही बल्कि कभी-कभी तो 'ज़ेर'[2] भी 'ऐन'[3] बन जाता था। उनका बूढ़ा और भर्राया हुआ

१—अर्थात् सादा 'अ' स्वर ही नहीं। २—अर्थात् 'इ' की मात्राओं का स्वर। ३—अर्थात्, गले से निकाला हुआ, 'अ' स्वर।

गला शब्दों को पिचका-पिचकाकर लम्बोतरा बनाये दे रहा था। उसके बाद सिपाहिनी चुप हो गई थीं—इस वजह से नहीं कि वह बुआ फ़ातमा की चेतावनी से सँभल गई थी, बल्कि ख़ुद उसका जिस्म कुछ सुन्न पड़ गया था। अब तो ऐसा मौन छा गया था कि वह अपने अन्दर रक्त की सनसनाहट अच्छी प्रकार अनुभव कर रही थीं। सिर्फ़ छालियाँ काटने की आवाज़ उन्हें एक क्षण के लिए बाहरी दुनिया में खींच लाती थी। मगर 'खट्' के होते ही, वह बहुत तेज़ी से वापिस हो जाती थीं, जैसे खींची हुई रबड़ का सिरा छोड़ दिया जाय। कलसूम की तन्मयता में तो यह 'खट्' भी बाधा नहीं बन रहीथी। वह यह इरादा करके बैठी थी कि बहुत दिलचस्पी से मौलूद सुनेगी। एक दफ़ा तो ऐसा ज़रूर हुआ कि किसी मिसरे[1] के टुकड़े ने उसके अन्दर बेचैनी से करवटें लीं, और उसकी कलाइयों में ख़ून भर-भर आया। मगर थोड़ी ही देर में इतनी संज्ञा भी उसे न रही कि वह आँखें झपका रही है और करवटें ले रही है। उसका ख़याल चुपके से खिसक गया था और मटरगश्त करता फिर रहा था। तो उसे ऐसे चेहरे, नीम के पेड़, दीवारें और चूल्हे नज़र आते थे जो जाने-बूझे थे, मगर कभी वह ऐसे क्षेत्रों से गुज़रता था, जहाँ अँधेरा ही अँधेरा था, और गहराई ही गहराई, और यह अँधेरा कुछ ऐसा सुहावना और रसीला था कि वह रुक कर मँडलाने लगता था, और बार-बार सर झुकाकर उसमें डुबा देता था। बुआ फ़ातमा ने अपने ख़ून तक को पवित्रता में निमज्जित करा रखा था, जिससे वह मस्त हो गया था। उनके विचार आकर सीने में जमा हो गये थे और बहुत कुलबुला रहे थे, मगर उन्होंने सबकी टाँग में रस्सी बाँध रखी थी। वह थोड़ी-थोड़ी देर बाद अपने आपको विश्वास दिला देती थीं कि उनका ध्यान सिर्फ़ 'हुज़ूर के बयान'[2] की ओर है। सिपाहिनी अपनी फ़ुर्सत के वक्त फ़रुख़ाबाद घूमने चली गई थी, मगर कालेज की लड़कियों की जंघाओं का विचार, जो कभी तो सुर्ख़ मालूम होती थीं, और कभी सफ़ेद, बार-बार उसके अन्दर चमक पैदा कर रहा था।

इस पवित्र वातावरण में सिपाहिनी का दम घुटने लगा था, इसलिए उसने चादर को थोड़ा-सा खोलकर बाहर का एक अन्दाज़ लेना शुरू कर दिया। औरों ने देखा तो वे भी खिसक आईं और उसके ऊपर से झाँकने लगीं। सिपाहिनी की दृष्टि श्रोताओं के सिरों पर से तैरती हुई आसन पर पहुँच गई, चीनी के रंगीन गुलदान पर फिरीं, थोड़ी देर हाफ़िज़जी की लम्बी दाढ़ी से खेलीं, और फिर 'पढ़नेवालों' के चेहरों का अध्ययन करने लगीं।

'यह कौन है ?' सिपाहिनी ने हटते हुए पूछा। 'ये चिकन की टोपी ओढ़े-से लड़का-सा ?'

'यह ? यह रशीद है।' कलसूम ने झाँककर देखा और बताया। 'मेरे साथ था ये मदरसे में। आठवाँ 'सिपारा'[3] था उसका जब।'

१—पद का आधा अंश। २—हज़रत मोहम्मद का जीवन-चरित।

३. यानी, कुरान-शरीफ़ के जो 'पारे' बच्चों को कंठस्थ कराये जाते हैं, उनमें जब आठवाँ 'पारा' कंठस्थ कर रहा था वह।

'है किसका यह ?' सिपाहिनी ने दुबारा परदे से आँख लगाते हुए कहा। 'बड़ा गोरा है !'

कलसूम फ़ौरन नीचे बैठ गई। और दुपट्टे से नाक सहलाने लगी। वह सबसे कह देना चाहती थी कि उस ज़माने में तो रशीद बहुत गन्दा रहता था, और उसके कपड़ों में जुएँ भरी रहती थीं। मगर उसका साँस फूल गया था, और गाल बोझिल मालूम हो रहे थे।

फिर रबड़ खिंची और छोड़ी जाने लगी।

'हाँ, जब सलाम पढ़ने के सिलसिले में लोग इस मिसरे ('नूर से मामूर सीना'[1]) पर पहुँचे तो कलसूम का बदन, जिसे उसने बड़ी मुश्किल से ठण्डा किया था, फिर गर्म हो गया। और उसके सर में फ़व्वारे छूटने लगे। 'महब्बते-बहिए-सकीना।' से बुआ फ़ातमा और सिपाहिनी दोनों को उपलोंवाली सकीना याद आ गई। बुआ फ़ातमा तो यह सोच रही थीं, कि अब सकीना ने पैसे के छः पत्थों के बजाय पाँच कर दिये हैं और उन्हें लूट रही है, और साथ उसके उपले कितने हल्के हो गये हैं। मगर सिपाहिनी को उस पर हँसी आ रही थी, कि वह अपनी बहू को लड़ाई में कभी-कभी गालियाँ देती है।

× × ×

जब इस्माइल और रशीद उस्ताद से विदा होकर गली में मुड़े तो इस्माइल ने पास होते हुए कहा : 'तूने देखा, बे रशीद ? कौन थी जो परदे में से झाँक रही थी ? मुझे तो आँख ही दिखाई दी, बस...आँख तो अच्छी, यार !...शेख़जी की बेटी तो ना थी ? है कोई शेख़जी के बेटी, इत्ती बड़ी ?'

★

१. ज्योति से पूर्ण वक्ष।

पाँच कविताएँ

यकुम मई

●

[नरेन्द्र शर्मा]

दूर देश की बात, सुनाऊँ
दूर देश बात—
सुनाऊँ दूर देश की बात!
सुनो, साथियो!...

सुनो, साथियो! एक देश है
पूरे सात समन्दर पार,
अमरीका का नाम बड़ा है,
बढ़ा चढ़ा उसका व्यापार!

दूर देश अमरीका, जिसमें
शहर शिकागो है विख्यात,
सन् अट्ठारह सौ छ्यासी में
यकुम मई की है यह बात!

बाग़ों बाग़ों फूल खिले थे,
छाई थी सब ओर बहार,
ऊँचे ऊँचे भवन सजे थे,
सजा हुआ था चौक बजार!

सभी ओर दौलत की दमक थी,
सभी ओर रोशन रौनक़,
आँखें चकाचौंध हो जातीं
थी ऐसी हर ओर चमक!

पर यह किसकी चमक दमक थी?
थे यह किसके बाग़-बजार?
क्या उनके, जो मेहनत पर—
मजदूरी पर रखते घर-बार?

या उनके, जो मज़दूरों की
मेहनत पर ही जीते हैं,
मज़दूरों का लाल लहू जो
दारू कह कर पीते हैं?

इस दुनिया में दो दुनिया हैं,
जिनके नाम ग़रीब अमीर!
पर सोने के नगर बने हैं
मिट्टी ही का सीना चीर!

देश देश में मुफ्तख़ोर हैं,
देश देश में मेहनतकश;
मुफ्तख़ोर चालाक चोर, पर
वही कमाते सम्पत - यश!

मन्दिर उनके, मसजिद उनकी,
गिरजे उनकी बाजू में;
पैग़म्बर, अवतार, मसीहा—
जैसे बाट तराजू में!

दीन भी उनका, दुनिया उनकी,
उनकी तोप और तलवार,
उनके अफ़सर और गवर्नर,
उनके ही साहब सरकार!

कह भर दें वह - नाचा करती
पुलिस हमेश इशारों पर,
फ़ौज और पल्टनें पल रहीं
उनके रोटी - टुकड़ों पर!

उनसे कोई आँख मिलावे
तो वह जेलों में भर दें,
बात बनाये उनके आगे
तो वह जलावतन कर दें!

उनको नाखुश करके कितने
फाँसी पर भी झूल गये,
रौंदे गये पाँव के नीचे
नौनिहाल वह फूल नए!

हैं ऐसे वह दौलत वाले,
जिनसे जूझे थे मज़दूर—
खून से लथपथ, भूख से टूटे,
थके हुए औ' चकनाचूर!

दूर देश अमरीका जिसमें
शहर शिकागो है विख्यात,
सन् अट्ठारह सौ छियासी में
यकुम मई की है यह बात!

जूझे क्यों मजदूर? भला क्यों
उनकी शामत आई थी?
शहर शिकागो की सड़कों पर
खींच क़ज़ा क्यों लाई थी?

यकुम मई का प्यारा दिन था,
दिन बहार के आये थे,
ऐसे वक्त में मौत के मारे
वह मजूर क्यों आये थे?

क्या इनका घर-बार नहीं था?
और कोई क्या काम नहीं?
क्या क़िस्मत के मारे थे ये?
मरना था क्या इन्हें यहीं?

इन गोली खानेवालों की
कोई ललना भी होगी,
जिसकी जुल्फों से वसन्त की
हवा खेलती ही होगी!

बाट जोहती उसे छोड़, दिल
इनका नहीं तरसता क्या,
छोड़ पालने में लल्ला जो
रोज नींद में हँसता था?

आये थे मज़दूर गोलियाँ
खाने क्यों, किससे खिंच कर?
ये भूखे जीने-मरते हैं
किन आदर्श असूलों पर?

बागों बागों फूल खिले थे,
छाई थी सब ओर बहार,
ऊँचे ऊँचे भवन सजे थे,
सजा हुआ था चौक बजार!

खिली सुबह की धूप सुनहली
बुलबुल डालों पर गाती,
आसमान था नीला-नीला,
चील एक दो मँडराती!

वह आवाज़ बुलंद हुई क्या!—
इन्क़लाब—फिर—जिन्दाबाद!
हो बरबाद सरमायादारी,
इन्क़लाआब जिन्दाबाद!

लिये लाल झंडा लहराता,
फहराता सब के सिर पर,
आई मज़दूरों की टोली
टोली पर टोली घिर कर!

फिर आवाज़ बुलन्द हुई वह—
इन्क़लाब—फिर—जिन्दाबाद!
हो बरबाद सरमायादारी,
इन्क़लाआब, जिन्दाबाद!

सड़कों पर छा गए मजूर
जोशीले सीना खोले,
और सामने पुलिस फ़ौज
और संगीनें गोली गोले!

हाथ पाँव मेहनत के लिए
तो पेट न क्या भरने के लिए?
क्या अमीर जीने के लिए हैं?
क्या गरीब मरने के लिए?

क्या गरीब के बीवी-बच्चे
भूखे ही रहने के लिए?—
चिथड़ों में लिपटे पीले पड़
पैदा हो मरने के लिए?

हारी बीमारी में, पड़ ग़म
और ग़रीबी के पाले,
गल सड़ कर पीले पत्तों-से
जीते हैं बच्चे-वाले!

हैं घंटे चौबीस, कि इनमें
मज़दूरी के घंटे आठ,
आठ ऊपरी काम-धाम को,
सोने को फिर घण्टे आठ!

घण्टे आठ मजूरी के हों—
इतनी बात करो पक्की,
मोल खरीदे नहीं कि पीसें
आठ पहर मिल की चक्की!

हैं घण्टे चौबीस, कि इनमें
मजदूरी के घण्टे आठ,
आठ ऊपरी काम-धाम को,
सोने को हों घण्टे आठ!

थी इतनी-सी माँग, मजूरो!
जिस पर गोली खानी थी!
मजदूरों को आज बात पर
दिखलानी मरदानी थी!

जो सब कुछ पैदा करते हों
क्यों सब दिन भूखों मरते?
यह समाज है महज़ ग़लत
जो सहते हैं, ग़लती करते!

ज़ोर सहेंगे नहीं मेहनती
ज़ुल्म को ज़ुल्म बताएँगे;
दुनिया में इन्साफ़ नहीं,
वह दुनिया नई बनाएँगे!

दुनिया के मज़दूर, एक हो!
एके से ही बरकत है!
जब मौक़ा हो कमर कसो तुम,
समझो कार बकसरत है!

अमरीकन हो, यूरोपियन हो,
अफ्रीकन, अस्ट्रेलियन हो,
चीनी, जापानी, ईरानी,
अरबी, तुर्क, इण्डियन हो,

एक भूख सब के पेटों में,
एक खून सब की नस में,
हैं मजदूर एक सब, सब कुछ
एके से उनके बस में!

दुनिया के मज़दूर, एक हो!
एके से ही बरकत है!
जब मौक़ा हो, कमर कसो तुम
समझो कार बकसरत है।

जो दुनिया में पैदा करता
वह दुनिया का मालिक है,
वह नसीब का भी स्वामी है
वही खल्क का खालिक है!

आओ, मज़दूरो! जुड़ मिलकर
आओ, दुनिया को बदलो!
इस रद्दी दुनिया को बदलो,
यह भद्दी दुनिया बदलो!

इस दुनिया से जिसे मोह हो
बैठे छिपा घरौंदों में,
इन्क़लाब से डरता हो जो
दुबके सरसों कोदों में!

जोरोजुल्म जिसको सहना हो
वह चुपचाप सहे जावे,
जिसको दुनिया नई बनानी
हो, निधड़क आगे आवे !

जिसमें दम हो आये, उसका
निजी बपौती है दुनिया;
जिसमें दम हो आए, उसकी
ही होगी बदली दुनिया !

वह दुश्मन से डरता है कब
साथिन है हँसिया जाकी !
जिसके हाथ हथौड़ा, उसको
खौफ़ न मरने का बाक़ी !

दुनिया के मजदूर, एक हो !
एक से ही बरकत है !
जब मौक़ा हो, कमर कसो तुम,
समझो कार बकसरत है !

फिर आवाज़ बुलन्द हुई वह—
इन्क़लाब — फिर — ज़िन्दाबाद !
हो बरबाद सरमायादारी,
इन्क़लाआब, ज़िन्दाबाद !

लिये लाल झंडा लहराता,
फहराता सब के सिर पर,
आई मजदूरों की टोली,
टोली पर टोली घिर कर !

सड़कों पर छा गये मजूरे
जोशीले सीना खोले,
और सामने पुलिस फौज
और संगीनें गोली गोले !

खिली सुबह की धूप सुनहली,
बुलबुल डालों पर गाती,
आसमान सब नीला-नीला,
चील एक दो मँडराती !

फिर आवाज़ बुलन्द हुई वह—
इन्क़लाब — फिर — ज़िन्दाबाद !
हो बरबाद सरमायादारी,
इन्क़लाआब, ज़िन्दाबाद !

बढ़ा काफ़ला मजदूरों का
कुत्ते लगे भूँकने चट,
सरमायादारी ने डर कर
घबराकर बदली करवट !

हैं घण्टे चौबीस, कि इनमें
मजदूरी के घण्टे आठ,
आठ ऊपरी काम-धाम को,
सोने को फिर घण्टे आठ !

घण्टे आठ मजूरी के हों—
इतनी बात करो पक्की,
मोल ख़रीदे नहीं कि पीसें
आठ पहर मिल की चक्की !

थी इतनी-सी बात, मजूरो !—
जिस पर गोली खानी थी,
सीने पर, हाँ, गोली खाकर
दिखलानी मरदानी थी !

क्या जवाब दें मजदूरों को
जोरोजुल्म का था मुँह बन्द,
इतने में आपे से बाहर होकर
धाए अफ़सर चन्द !

फिर आवाज़ बुलन्द हुई वह—
इन्क़लाब — फिर — ज़िन्दाबाद !
हो बरबाद सरमायादारी,
इन्क़लाआब, ज़िन्दाबाद !

तुरत किटकिटाइ मशीनगन,
धायँ-धायँ गोली चलती,
भोंकी सीने में संगीनें—
पाँवों में धरती हिलती !

बूढ़े बच्चे और जवाँ सब
एक ही घाट उतार दिये,
कौन कह सकेगा उस दिन
मजदूरों पर क्या ज़ुल्म हुए!

लोथ पै लोथ पड़ी थी, साथी!
थी लोथों से सड़क भरी—
सड़क के पत्थर लाल-लाल थे,
लाल थी रस्ते की बजरी!

मजदूरों की बहू-बेटियाँ
थीं आकर बेहाल खड़ीं,
लोथों को पहचान रही थीं,
लाल आँख थीं बड़ी-बड़ी!

गोदी के बच्चे लाई थीं—
उन्हें देखकर घड़ी-घड़ी
मुट्ठी बँधवाना सिखलातीं
थीं सड़कों पर खड़ी-खड़ी!

महलों के छज्जों पर भी
सरमायादारों की ललना,
कच्ची नींद जाग बेचारी
सीख रहीं आँखें मलना!

× × ×

सुनो, साथियो! एक देश है
पूरे सात समन्दर पार,
अमरीका का नाम बड़ा है,
बढ़ा चढ़ा उसका व्यापार!

दूर देश अमरीका, जिसमें
शहर शिकागो है विख्यात,
सन अट्ठारह सौ छयासी में
यकुम मई की है यह बात!

बाग़ों बाग़ों फूल खिले थे,
छाई थी सब ओर बहार,
ऊँचे-ऊँचे भवन सजे थे,
सजा हुआ था चौक बज़ार!

खिली सुबह की धूप सुनहली,
बुलबुल डालों पर गाती,
आसमान था नीला-नीला
चील एक दो मँडराती!

लोथ पै लोथ पड़ी थी, साथी!
थी लोथों से सड़क भरी,
सड़क के पत्थर लाल लाल थे,
लाल थी रस्ते की बजरी!

फिर आवाज़ बुलन्द करो वह—
इन्क़लाब—फिर——ज़िन्दाबाद!
हो बरबाद सरमायादारी,
इन्क़लाब, ज़िन्दाबाद!

सुनो, साथियो! अमरीका में
शहर शिकागो है विख्यात,
सन अट्ठारह सौ छियासी में
यकुम मई की है यह बात!

सुने बहुत हैं क़िस्से तुमने
राजाओं के, हूरों के—
पर जाना मत भूल
खून के छींटे उन मजदूरों के!

मई महीने का पहला दिन
है मजदूरों का त्योहार,
आज क़ौल दोहराओ सब मिल
कभी न मानेंगे हम हार!

अड़े रहेंगे, बढ़े चलेंगे,
दुश्मन से बाजी लेंगे;
हाथ हथौड़ा लिये, जुल्म से
ख़ाली दुनिया कर देंगे!

बाघ बनेंगे अगर सामने
आएँगे पागल हाथी,
हम मजदूरों के रहबर हैं,
हम मजदूरों के साथी!

बर्छी-बर्छे, संगीनों को
हम सीने पर लेते हैं,
लाठी को, गोली-गोलों को
हम सिर पर सह लेते हैं!

बर्फीले मैदानों में या
रेगिस्तानों में जा कर,
भूल नहीं जाते हम अपना
क़ौल जेलखाना पा कर!

मा की गोद समझ जेल, हम
हँस हँस कर भर देते हैं;
अपने दल के क़ौल के कारण
हँस हँस मर मिट लेते हैं!

ठहर सकेगा कौन, कहो तो,
भूखे शेरों के आगे?—
इन्क़लाब की सेना के जो
भी आगे आये, भागे!

हाथ हथौड़ा लिये हुए हैं
सन्मुख आ सकता है कौन?
लोहे की दीवार हमारी
हमें हिला सकता है कौन?

सुनो, साथियो! अमरीका के
शहर शिकागो की है बात,
ओलों-सी गोलियाँ चली थीं,
हुई खून की थी बरसात!

फिर आवाज़ बुलन्द करो सब—
इन्क़लाब—फिर——ज़िन्दाबाद!
हो बरबाद सरमायादारी,
इन्क़लाब, ज़िन्दाबाद!

इन्क़लाब,
ज़िन्दाबाद!
इन्क़लाब,
ज़िन्दाबाद!

★

चन्दू

■

[केदारनाथ अग्रवाल]

चन्दू चना चबैना खाता।
ऊबड़-खाबड़ कड़े हाड़ की,
आड़े बेड़े गड़े हाड़ की,
कड़ी गाँठ की देह दिखाता!
सुन्दरता सौ कोस भगाता!
चन्दू चना चबैना खाता।
ऊपर धड़ के, नहीं चीथड़ा;
नीचे धड़ के, एक चीथड़ा
क्या जाने क्या समझ लगाता!
साधू का सन्यास लजाता!
चन्दू चना चबैना खाता।
मुफ्त मिले अपने जीवन के
घण्टों, मिनट, सेकण्डों को गिन—
कभी नहीं वह दाम लगाता!
भीख माँगने पैसा पाता!
चन्दू चना चबैना खाता!
ईश्वर, धर्म, समाज, सम्पदा,
विद्या, बुद्धि, विवेक खोजता—
कभी नहीं वह समय गँवाता!
गन्दी गलियों में धँस जाता!
चन्दू चना चबैना खाता!
कहीं एक कोने में बैठा
हाथ चरस की चिलम दबाये,
गुपचुप-गुपचुप फूँक लगाता,
शेष आयु का धुआँ उड़ाता!
चन्दू चना चबैना खाता!

★

रिज पर *

[उपेन्द्रनाथ 'अश्क']

तुम पूछ रही हो बार-बार,
तुम क्यों उदास तुम क्यों उदास ?
तुम नहीं जानतीं दुर्निवार
दुख बन जाता मेरा हुलास।
तुम कहती हो देखो नभ के,
नयनों में जगता सा विहान।
रँगता सा स्वर्णिम किरणों से,
मिल की चिमनी का मौन शिखर।
तुम नहीं देखतीं, जमा हुआ
यह गहन धूम का जड़ वितान,
औ' जागी जब दुनिया, जाने
सोने को ये कुछ तन जर्जर।
यह सच है ओवर कोटों की
गर्मी से गर्म हमारे तन;
इस सुप्रभात की आभा से,
तन पुलकित औ' आँखें सरसित;
उस पुल के नीचे देख भी
कुछ ठिठुरे, सिकुड़े से, निर्धन!
ओढ़े गूदड़ से जीर्ण-शीर्ण
वस्त्रों की मैल लिये गर्हित।
यह सच है रिज की सड़कों पर,
आँखें जाती हैं फिसल फिसल।
नव दिन की नव-नव आभा से
जीवन में आता नव-जीवन
सब्ज़ीमंडी में पास मगर,
मानव ढोते हैं भार विफल।
जीवन से ऊबी, थकी हुई
गलियों में है दुर्गंध गहन।
औ' मेरी यह हमदर्दी भी
है भरे पुरे की ऐयाशी।
धन बाँट नहीं सकता कुछ मैं,
औ' ढाँप नहीं सकता कुछ तन।
इस वर्ग विषमता में डूबा
रहता हूँ सुख का अभिलाषी,
पर रो उठता है कभी कभी
इस घोर-विषमता पर यह मन
औ' आह निकल जाती है सखि
इस मेरे उर से अनायास,
तुम पूछ रही हो बार बार
तुम क्यों उदास तुम क्यों उदास ?
तुम नहीं जानतीं दुर्निवार
दुख बन जाता मेरा हुलास।

*

देवली के बन्दी से—

['मनोहर']

एक तुम्हारी भी दुनिया है,
एक तुम्हारा भी जीवन है,
प्राचीरों के संगी-साथी !
एक तुम्हारा भी तो मन है।
जग में, जग से दूर बसी है
एक तुम्हारी अपनी बस्ती।
अपने ही घर में प्रवासिनी
एक तुम्हारी अपनी हस्ती।

---

* Ridge—सब्ज़ीमंडी दिल्ली में पहाड़ी पर सैर की जगह।

तुम जीवित हो, फिर भी तुमको
जीने का अधिकार कहाँ है ?
कहने को मानव हो तुम भी,
पर वैसा व्यवहार कहाँ है ?
कितने दिन साम्राज्यवाद की
चक्की में पीसे जाओगे ?—
किन अपराधों के अपराधी ?
जान नहीं यह भी पाओगे।
देख देख निशिदिन दीवारें
आँखें भी पथराती होंगी।
साँझ, उषा उस दुनिया में भी
क्या न कभी शरमाती होंगी ?

ओ बन्दीगृह के अधिवासी !
तेरा मन भी बन्दी है क्या ?
माना हमने तन बन्दी है,
तन बन्दी है, पर इससे क्या ?
वर्ग-युद्ध की महाक्षुधा के
तुम भी तो लघु एक ग्रास हो।
नव चेतनता के जीवन में
तुम भी तो उन्मुक्त साँस हो।
तेरी दर्द भरी आहों से
जर्जर जग की भित्ति ढहेगी।
तेरे बलिदानों के बल पर
नव-संस्कृति की नींव पड़ेगी।

★

गीत

●

[शिवमंगलसिंह 'सुमन']

तुम अपने सुख-दुख की गाथा
अपने तक ही रक्खो सीमित

दो बूँद तुम्हारे देख कहीं
औरों का हृदय न भर आए
तुम जलो, जलन ही जीवन है
पर आँच न औरों को आए

छू जाँय न लहरों की ओरें
बुझ जाँय न यह दीपक अगणित
तुम अपने सुख-दुख की गाथा
अपने तक ही रक्खो सीमित।

यों नहीं बहाया जाता है
यह बूँद बूँद का धन संचित
तुम अपने सुख-दुख की गाथा
अपने तक ही रक्खो सीमित।

संयम की सिल छाती पर हो
अधरों पर विप्लव-गान लिखे
अन्दर मँडराता रहे धुआँ
बाहर चिनगारी तक न दिखे

उन्मादी सागर ! व्यथित हृदय ले
औरों का भी ध्यान रहे
शशिमुख में आकर्षण है, पर
नभ का भी कुछ सम्मान रहे

जीवन जीवन का साथी हो
पीड़ा पीड़ित तक हो परिमित
तुम अपने सुख-दुख की गाथा।
अपने तक ही रक्खो सीमित।

★

गाँधीजी—लेखक श्री जुगतराम दवे, अनुवादक श्री काशीनाथ त्रिवेदी ; प्रकाशक, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, पृष्ठ-संख्या १५६, मूल्य छः आना।

प्रस्तुत पुस्तक इसी नाम की गुजराती पुस्तक का हिन्दी अनुवाद है, गुजराती-साहित्य में दवे महोदय की अच्छी प्रसिद्धि है। महात्मा गान्धी का जीवन एवं व्यक्तित्व उनके अनुयायी अथवा विरोधी किसी भी मानव अथवा समाजहित साधन में प्रेरणा दे सकता है। सैद्धान्तिक मतभेद रखते हुए भी उनकी साधना का लोहा माननेवालों की संख्या उनके अन्धानुयायियों से शायद ही कम हो, फिर तो उनके व्यक्ति में एक अवश्य महात्मा है, जो युग-युग की महान् विभूतियों की संख्या में एक और की वृद्धि करता है। यह दूसरी बात है कि आज समय एवं परिस्थिति की आवश्यकताएँ हमें उनसे निराश बनाकर कुछ उपालम्भ दे देने को बाध्य करती हैं अथवा इससे भी अधिक, उतावला बनाकर अपना नूतन मार्ग निर्देष्टा ढूँढ़ने का शोर मचाती हैं। पर इससे क्या? इन सबों से अधिक महात्मा गान्धी में कुछ मुख्य चीजें हैं जो समय एवं परिस्थिति की जटिलता में हमारा अधिकाधिक साथ देती हैं, दे सकती हैं। वे हैं, उनका अपार एवं दुर्दमनीय साहस, कमी न उबलनेवाली क्षमा, सफलता के समीप तक चलनेवाली लगन, अमिट एवं अडिग सत्य की सच्ची रुझान: इन्हीं आदर्श, अतः अनुकरणीय खूबियों को दवे महोदय ने अपनी सफल लेखनी में ऐसा मनोमोहक एवं सुविधाप्रद आवरण पहनाया है कि नवयुवकों—विशेषकर बच्चों—के लिए जो अभी जीवन की राह ढूँढ़ने निकलेंगे यह चीज़ एक काम की चीज हो गई है।

महात्माजी की उन्हीं उपर्युक्त खूबियों को लेखक ने ५२ रेखाचित्रों में इस प्रकार अंकित किया है कि कहानी से घृणा करनेवाले लोगों को भी यह सामग्री शायद रुचने लगेगी। आवश्यकता भी इस बात की विशेष थी, क्योंकि बच्चों की यह चीज़ रूखी-सूखी होने पर बेकार ही हो जाती। एक बात का जो खटका पैदा हुआ वह यह कि विवेकी लेखक ने महात्माजी के अन्य जीवनी लेखकों की भाँति ही, उनके गाँधीवाद की प्रतिष्ठा के लिए विशेष प्रयत्न किया है उनके मानव में महात्मापन से अधिक देवत्व की स्थापना करनी चाही है। उनकी विजय न दिखाकर कहीं-कहीं तो उनके वाद की विजय ऐसी दिखाई है कि 'राम ते अधिक रामकर नामा' हो गया है, यदि ऐसा न होता तो...(?)

कुछ भी हो; ५८ पुस्तक विशेषकर बच्चों के बड़े काम की चीज़ है, अनुवाद भी अच्छा हुआ है। अनुवादक का हिन्दी एवं गुजराती दोनों भाषाओं के सूक्ष्म अंगों का परिचय है, ऐसा लगता है, छपाई सफाई भी उत्तम है। बच्चों के बाल-पुष्ट सीरप की भाँति युवक भी इससे कुछ स्वाद ही नहीं प्रत्युत लाभ भी उठा सकते हैं; पर विशेष नहीं।

एक धर्म युद्ध—ले० श्री महादेव हरिभाई देसाई, अनुवादक श्री काशीनाथ त्रिवेदी, प्रकाशक, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद। पृष्ठ-संख्या १२७, मूल्य आठ आना।

प्रस्तुत पुस्तक श्री महादेव देसाई लिखित 'एक धर्म युद्ध' अथवा 'अहमदाबाद के मिल मज़दूरों की लड़ाई का इतिहास' का हिन्दी रूपान्तर है। सन् १९१८ ई० में अहमदाबाद मिल मज़दूरों ने अपने वेतन वृद्धि के मामले में श्री अनुसूया बहन, श्री शंकरलाल भाई, श्री गुलज़ारीलाल आदि उस समय के मजदूर नेताओं की प्रेरणा तथा महात्मा गांधी के सहयोग से मिल मालिकों के विरुद्ध एक धर्म युद्ध छेड़ दिया था अर्थात् हड़ताल कर दी थी, मिलों में 'लाक आउट' हो गया था। बीस-बाईस दिन की कठोर 'साधना' के बाद प्रो० आनन्दशंकर ध्रुव की देखरेख में मामला तय हो गया। और मज़दूरों के वेतन में ३५% की वृद्धि हो गई। इसी घटना का इतिहास इस पुस्तक में वर्णित है।

मज़दूरों की लड़ाई का यह इतिहास उस समय का है जिस समय इन शोषितों की दयनीयता पर किसी 'नेता' नामधारी का कृपा-कटाक्ष पतित नहीं हुआ था, आज तो मज़दूरों के लिए लड़नेवाले काश्तकारों के सहायकों से कहीं अधिक हैं (?) यद्यपि लड़ाई का कारण अभी पूर्ववत् ही है फिर भी आज मिलों के मज़दूर सन् १९१८ से

बहुत आगे हैं। इसीलिए इस अतीत की घटना का ऐतिहासिक विवरण शायद अहमदाबाद में बड़े चाव से पढ़ा जाता हो। दूसरी जगह भी पढ़ा जा सकता है।

पुस्तक के हिन्दी अनुवाद का भी एक अच्छा दृष्टिकोण है, वह यह कि इन घटनाओं एवं सफलताओं से प्रेरणा तथा बल प्राप्त कराना। मिल मालिकों और मज़दूरों के पारस्परिक मनोभावों का प्राचीन स्वरूप दिखाना। जिससे हिन्दी जो राष्ट्र की भाषा है और जिसके जाननेवाले भारत के अधिकांश मिल मज़दूर हैं—के जाननेवाले मज़दूर भी लाभ उठायें। वे यह जान लें कि जिस प्रकार पूँजी धन है उसी प्रकार मेहनत भी धन है और पूँजी से कहीं बहुमूल्य। मिलों पर इन दोनों धनपतियों का संयुक्त स्वामित्व होना चाहिये। अपने लक्ष्य प्राप्ति के मार्ग में उन्हें किस एकता, सचाई, धैर्य एवं क्षमता के साथ बढ़ना चाहिये, इसका आदर्श एवं सम्बल प्रस्तुत पुस्तक में प्रचुर मात्रा में मिल जायगा।

अनुवाद सुन्दर है। मज़दूरों के समझने लायक भाषा भी मुहावरेदार तथा सरल है।

—रामप्रताप त्रिवेदी।

● ● ●

अभिनव मेघ—अनुवादक श्री अनिरुद्ध एम० ए० साहित्य-शास्त्री। प्रकाशक, स्वतन्त्र कार्यालय झाँसी। मूल्य ॥)

कालिदास के मेघदूत का यह नवीन हिन्दी रूपान्तर है। 'मेघदूत' युग-युग से हमारे हृदय को रस से सराबोर करता आया है और हमने अपने हृदय की मायूसी इसके द्वारा न जाने कितने बार दूर की है। इसके नाम के उच्चारण मात्र पर ही हमारा मन भीग जाता है। ऐसी सूरत में इसके अनुवाद को पढ़कर—और वह भी सफल और सुन्दर—हृदय आर्द्र न हो यह कैसे संभव है। कविवर मैथिलीशरण गुप्तजी ने कहा है :

'राम तुम्हारा चरित ही काव्य है
कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है।'

मेघदूत की सजल कल्पना में एक ऐसा जादू है कि जिसके सम्पर्क में आते ही लेखनी कवित्वमय हो उठती है। अनुवाद के छन्दों में प्रवाहमय संगीत है, भाषा भी भावों के अनुकूल है तथा उसकी ओट में एक रस से भीने हृदय की झाँकी है। यह पुस्तक के किसी पद का उद्धरण देकर कहा जा सकता है नीचे दी हुई टिप्पणियाँ पुस्तक की उपयोगिता और बोधगम्यता को और भी उत्कृष्ट बना देती हैं। आशा है हिन्दी संसार में इसका काफी आदर होगा और मेरा विश्वास है कि यदि अनुवादक महोदय किसी स्वतन्त्र रचना की ओर प्रवृत्त होंगे वहाँ उन्हें सफलता मिलेगी।

छत्तीसगढ़ी लोक-गीतों का परिचय—श्यामाचरण दुबे; प्रकाशक, ज्ञानमन्दिर, छत्तीसगढ़।

आजकल लोक-गीतों की ओर लोगों की दिलचस्पी बढ़ रही है। इस ओर लोगों का ध्यान आकर्षित करने का श्रेय पं० रामनरेश जी त्रिपाठी और देवेन्द्र सत्यार्थी को है। आलोच्य पुस्तक में छत्तीसगढ़ी के मुख्य-मुख्य गीतों का संग्रह है जिसके द्वारा वहाँ के जीवन, और विचारधारा से परिचय प्राप्त हो सकता है। यहाँ पर वे ही गीत संग्रहीत जो एक तरह से representative गीत हैं। प्रत्येक अनुच्छेदों में दिये गये गीतों में पूर्वकथित कथा तथा उसका इतिहास भी दे दिया गया है। साथ ही साथ गीतों का अर्थ सरल और सुबोध भाषा में लिख दिया गया है जिससे छत्तीसगढ़ी भाषा से अनभिज्ञ व्यक्ति भी उनका रसास्वादन कर सकें। पुस्तक में एक भूमिका भी है जिसके द्वारा छत्तीसगढ़ के लोक-साहित्य का परिचय प्राप्त हो जाता है। पर उसमें 'लोक-गीतों का महत्त्ववाला अंश जिसमें पं० हजारीप्रसादजी के कुछ विचारों को उद्धृत किया गया है बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। लोक-गीतों के महत्व पर इसमें सजीव और अधिकार विवेचन मैंने हिन्दी में नहीं देखा है। प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी के लोक-साहित्य की अभिवृद्धि में सहायक होगा'। दुबेजी से प्रार्थना है कि वे अपने बड़े संग्रह जिसकी चर्चा उन्होंने अपनी भूमिका में की है, शीघ्र ही प्रकाशित करें।

—देवराज उपाध्याय।

★

[Approved by the Governments of the U. P., Behar, C. P., Kashmir and Bombay Presidency for use in Colleges, Schools and all other educational institutions]

अन्तर्प्रान्तीय साहित्यिक प्रगति का अग्रदूत

: सम्पादक :

श्रीपतराय : शिवदानसिंह चौहान

•

सलाहकारी सम्पादक-मण्डल

•

★ उर्दू—मौलाना अब्दुलहक़

★ मराठी—वि० स० खाण्डेकर

★ गुजराती—रा० वि० पाठक

★ उड़िया—कालिन्दीचरण पाणिग्राही

★ बँगला—श्रीनन्दगोपाल सेनगुप्त

★ पञ्जाबी—प्रो० मोहनसिंह

★ राजस्थानी—नरोत्तमदास स्वामी

★ कन्नड़—श्री० अश्वत्थनारायणराव

निट्टूर श्रीनिवासराव

•

वार्षिक मूल्य ६)
अर्ध-वार्षिक मूल्य ३)
एक अंक का आठ आना

विदेश में १२ शिलिंग बर्मा के लिए ८)
,, ७ ,, ,, ५)

वर्ष : १२ :: अप्रैल, १९४२ :: अंक : ७

टिप्पणियाँ—

'अगर यही प्रगतिवाद है तो–'

प्रगतिवाद के विरुद्ध नया मोर्चा

गतमास के 'हंस' में प्रसिद्ध मासिक-पत्रिका 'वीणा' में प्रकाशित एक टिप्पणी 'यही प्रगतिवाद है ?' पर मैंने एक नोट दिया था। वीणा के सुयोग्य संपादक ने उस पर अप्रैल के अंक में एक विस्तृत टिप्पणी लिखी है और श्लीलता-अश्लीलता के प्रश्न पर प्रगतिवाद के दृष्टिकोण का मैंने जो स्पष्टीकरण किया था, उससे सहमति प्रकट की है, और यह भी स्पष्ट किया है कि कतिपय शब्दों, वाक्यों या रचनाओं के आधार पर वे प्रगतिवाद के संबंध में कोई धारणा बनाना उचित नहीं समझते। इसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ। यह दूसरी बात है कि किसी रचना के विषय में हमारी धारणा भिन्न हो लेकिन वह धारणा उस रचना तक ही सीमित होगी और उसके कारण एक समूची विचारधारा को जो वैज्ञानिक ढंग से गंभीरता-पूर्वक प्रकृति और मानव-समाज की वास्तविकता के प्रति एक गत्यात्मक दृष्टिकोण का विकास करने में सचेष्ट है, उपेक्षणीय न ठहरा दिया जायगा। यह बात समझ में आती है क्योंकि इस दृष्टिकोण के पीछे प्रगतिवाद को समझने की चेष्टा है और यदि कतिपय रचनाओं को देखकर कोई शंका उत्पन्न होती है तो ईमानदारी से उसका निवारण करने की तत्परता है। 'वीणा' के सुयोग्य संपादक ने जो दृष्टिकोण अपनाया है वह प्रशंसनीय है। 'हंस' में प्रकाशित जिन विशेष रचनाओं को वे अभी तक अश्लील मानते हैं उनके बारे में विचार-विनिमय किया जा सकता है और संभव है कि बाद में हम लोग एक ही नतीजे पर पहुँचे।

लेकिन मैं यहाँ पर उस प्रवृत्ति का उल्लेख करना चाहता हूँ जो सहानुभूति-पूर्वक या ईमानदारी से प्रगतिवादी साहित्य की समस्याओं पर विचार करने को तत्पर नहीं है। उसका मुख्य उद्देश्य प्रगतिवाद को बदनाम करना है। इलाहाबाद के एक प्रतिष्ठित लेखक एक दिन मिलने आये तो कुछ विशेष परेशान-से लगे। उन्होंने जो कहा उसे उन्हीं

के शब्दों में रखना उचित होगा, 'चौहानजी! मुझे आपसे एक शिकायत है, यह कि आपने अश्लीलता पर प्रगतिवाद का दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए इतनी छोटी टिप्पणी क्यों दी। इससे वातावरण साफ़ नहीं हुआ, उल्टे श्रीमती महादेवी वर्मा जैसी उदारमना कवियत्री भी प्रगतिवाद से आशंकित हो उठी हैं। उनका कहना है कि श्रीसर्वदानन्द वर्मा और 'अञ्चल' आदि की रचनाओं में नारी जाति के प्रति एक अत्यन्त अपमानजनक दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। प्रगतिवाद यदि इस दृष्टिकोण को स्वीकार करता है तो उससे जन-जीवन के मंगल की आशा नहीं की जा सकती। फिर आपको शायद नहीं मालूम कि इलाहाबाद के एक प्रभावशाली हल्के में दिन-रात प्रगतिवाद की चर्चा रहती है और 'हंस' की प्रतियाँ सामने रखकर एक-एक शब्द के अर्थ लगाये जाते हैं और संकेतपूर्ण मुद्राओं तथा क़हक़हों के बीच फतवा दिया जाता है कि अगर यही प्रगतिवाद है तो वह अश्लील है और प्रगतिवादी लेखक गुंडे हैं। यह लोग स्वयं तो साहित्य का सृजन नहीं करते लेकिन साहित्यिकों पर इनका प्रभाव है और इच्छा या अनिच्छा से स्वार्थवश अनेक साहित्यिकों को इस साहित्यिक दरबार में ताज़ीम बजाने जाना पड़ता है, और जब वे ज़िम्मेदार व्यक्तियों के मुख से दिन-रात ऐसी बातें सुनते हैं तो उन पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। इन लोगों की बात पर ध्यान न दें तो भी यह तो विचारणीय है कि प्रगतिवाद के नाम पर जो रचनाएँ हो रही हैं उनमें कुछ अश्लील भी हैं और यद्यपि प्रगतिवादी साहित्य में उनका कोई स्थान नहीं है फिर भी साधारण पाठक के लिए फ़र्क़ निकालना संभव नहीं है और सरलता से प्रगतिवाद को बदनाम किया जा सकता है। अतः आप जैसे प्रतिनिधि व्यक्ति की ज़िम्मेदारी बढ़ जाती है कि आप स्पष्ट शब्दों में सविस्तार लिखें कि प्रगतिवाद का इस पर दृष्टिकोण क्या है।'

कई और मित्रों से भी मुझे ऐसी रिपोर्टें मिली हैं। यहाँ बनारस में ही अभी दो एक गोष्ठियों में कुछएक सज्जनों ने जिनका वास्तव में अश्लील और चौथी कोटि के छिछले मनोरंजन के साहित्य से आजीवन संबंध रहा है, बड़े तपाक से प्रगतिवाद पर ऐसे ही आक्षेप किये हैं और 'हंस' में प्रकाशित रचनाओं में से उद्धरण देकर अपने आक्षेपों को तर्क का रूप देने का प्रयत्न किया है। मैं यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक समझता हूँ कि श्रीमती महादेवी वर्मा की शंकाओं को मैं इन सज्जनों के आक्षेपों की कोटि में नहीं रखता, क्योंकि उन्होंने जो शंकाएँ प्रकट की हैं वे निराधार नहीं हैं, और नारी के प्रति प्रगतिवादी साहित्य का क्या दृष्टिकोण है इसके स्पष्टीकरण की उन्होंने अपेक्षा की है। परन्तु दूसरे सज्जनों की प्रगतिवाद में दिलचस्पी उसे समझने के लिए नहीं बल्कि उसे बदनाम करने के लिए है। 'हंस' में प्रकाशित रचनाओं के प्रति उनकी सतर्कता इस बात का प्रमाण है कि वे इस बात को महसूस करने लगे हैं कि 'हंस' भावी साहित्य की रूपरेखा गढ़ रहा है, और चूँकि वह रूपरेखा उनकी संकुचित दृष्टि में समा नहीं सकती अतः भ्रामक आक्षेपों द्वारा उसे बदनाम करना आवश्यक है—और यह बौखलाहट। फिर भी इन आक्षेपों की नोटिस लेना ज़रूरी है, लेखकों तथा पाठकों को सावधान करने के लिए—क्योंकि इससे साहित्य की अप्रत्याशित हानि होने की संभावना है।

इन सज्जनों के मुख्य आक्षेप यह हैं :

(१) प्रगतिवादी किसान-मजदूर के जीवन के बारे में लिखने को कहते हैं लेकिन स्वयं कोट-पतलून पहनते हैं और सोने की घड़ी लगाते हैं।

(२) प्रगतिवादी प्राचीन साहित्य को साहित्य नहीं मानते ; तुलसी-सूर-प्रसाद को कवि नहीं मानते ; और भारतीय परम्परा को नष्ट कर पाश्चात्य से प्रेरणा लेते हैं जो किसी भी प्रकार साहित्य के लिए हितकर नहीं हो सकता।

(३) प्रगतिवादियों का अध्ययन छिछला है, वे साहित्य के मर्म को नहीं पहचानते, और उनका साहित्य इसीलिए उच्चकोटि का नहीं हो सकता। वह प्रचार का साहित्य है।

(४) प्रगतिवादी अश्लील साहित्य का निर्माण कर रहे हैं—एक अर्थ में हिन्दी में अश्लील साहित्य भरने का दायित्व उन्हीं पर है और प्रगतिवादी लेखक गुंडे हैं।

मैं इन आक्षेपों को संक्षेप में जाँचना चाहता हूँ। पहले दो आक्षेपों का आधार अनुमान है और वे प्रगतिवाद के दृष्टिकोण के प्रति भयंकर अनभिज्ञता का परिचय देते हैं। पहला आक्षेप तो इतना मूर्खतापूर्ण है कि उसका उत्तर देना मैं सम्मानपूर्ण नहीं समझता। दूसरा आक्षेप व्यापक है। जहाँ तक मुझे याद है किसी भी प्रगतिवादी ने आज तक यह नहीं कहा कि प्राचीन साहित्य साहित्य नहीं है, या तुलसी-सूर-प्रसाद कवि नहीं हैं। किसी ने यह भी नहीं कहा कि प्रगतिवाद को साहित्य की भारतीय परम्पराएँ नष्ट कर देनी चाहिये तथा पाश्चात्य साहित्य का ही अनुकरण करना चाहिये। प्रतिवादियों ने बार-बार घोषणा की है कि प्राचीन साहित्य के अन्दर ऐसी परम्पराएँ हैं जो स्वस्थ हैं, सजीव और प्राणदायिनी हैं, जिनका मूल्य नष्ट नहीं हो गया है ; और प्राचीन साहित्य के अन्दर ऐसी परम्पराएँ हैं जो अस्वस्थ हैं, निर्जीव और प्रतिक्रियावादी हैं, और उनका मूल्य नष्ट हो गया है। प्रगतिवादियों का कर्तव्य है कि वे यदि महान साहित्य की नींव डालना चाहते हैं तो वे प्राचीन साहित्य की स्वस्थ और सजीव परम्पराओं को सुरक्षित ही न करें, बल्कि उनका विकास भी करें, और प्रगतिवादी ही इस कार्य को सम्पन्न कर सकते हैं, क्योंकि वे ही समाज की विकास-धाराओं की गति-विधि की चेतना रखते हैं। कोई भी नया समाज अपनी प्राचीन विरासत को नष्ट करके नहीं खड़ा होता, न साहित्य ही। लेकिन जो अस्वस्थ, निर्जीव परम्पराएँ हैं, जो मनुष्य की संकीर्णताओं को—विज्ञान या दर्शन के क्षेत्र में या भावनाओं और विश्वासों के जगत में—क़ायम रखती हैं उनका परित्याग करना आवश्यक है, चाहे उनके प्रति हमारा मोह कितना भी अन्धा क्यों न हो। और जिन प्राचीन सजीव परम्पराओं का प्रगतिवादी विकास करेंगे, या कर रहे हैं, वे ज्यों की त्यों उसी रूप में दुहरा दी जावेंगी, यह सोचना जीवन की गतिशीलता से इन्कार करना है। प्रगतिवाद 'रिवाइवल' को ऐतिहासिक दृष्टि से ग़लत मानता है, वह नई परिस्थितियों के प्रकाश में,

उनकी संगति में प्राचीन बौद्धिक अथवा मानसिक संस्कृति का 'री-इन्टरप्रेटेशन' करता है, और इस प्रकार प्राचीन की सजीव परम्पराएँ वर्तमान की आधारशिला बन जाती हैं, और भविष्य की इमारत को थामे रहती हैं। अतः उनके प्रति प्रगतिवादियों का दृष्टिकोण अवज्ञापूर्ण किस प्रकार हो सकता है? उसके विपरीत जो लोग प्राचीन की दुहाई देकर वर्तमान और भविष्य की प्रगति के मार्ग में बाधाएँ डालते हैं, वे ही असल में प्राचीन की सजीव परम्पराओं को ठुकराते हैं, और निर्जीव परम्पराओं से चिमटकर पड़े रहना चाहते हैं, और जब प्रगतिशील शक्तियाँ प्राचीन की अस्वस्थ विकृतियों को नये ज्ञान के प्रकाश में नष्ट करने लगती हैं तो उनके साथ ही अपने को नष्ट होते देख ये लोग 'प्राचीन खतरे में है' की चीख-पुकार मचाते हैं। यदि ये सज्जन प्रगतिवाद के दृष्टिकोण से अपरिचित हैं और मनुष्य के इतिहास के प्रति अपनी विश्वासघाती भूमिका को नहीं पहिचानते, तो यह प्रगतिवाद का दोष नहीं है। मैं इस बात को स्वीकार करता हूँ कि प्रगतिवादी लेखकों और विचारकों ने अभी तक प्राचीन परम्पराओं के मूल्यांकन की ओर आवश्यक ध्यान नहीं दिया है, और समूचे भारतीय इतिहास, दर्शन, साहित्य और कला की जाँच बाकी पड़ी है, और वह इसलिए कि वर्तमान जीवन की समस्याएँ इतनी व्यापक हैं कि उनको हल करना ही प्रमुख कार्य हो गया है; परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि प्रगतिवाद का अपने प्राचीन के प्रति एक नकारात्मक दृष्टिकोण है।

तीसरा आक्षेप एकदम निराधार नहीं है, लेकिन वह ऐसे स्थिर (static) दृष्टिकोण का परिचय देता है कि उसने इस आक्षेप को भी विकृत बना दिया है। मैंने स्वयं कई स्थलों पर लिखा है कि प्रगतिवादियों को यदि उच्चकोटि का साहित्य उत्पन्न करना है—और वह करना ही है तो उन्हें अपने अध्ययन और अनुभव में गहराई लानी चाहिए ताकि वे समाज और साहित्य की आवश्यकताओं से अनभिज्ञ रहकर न लिखें। और मैं यह भी स्वीकार करता आया हूँ कि प्रगतिवादी साहित्य में, विशेषकर कविता में भावों की गहराई नहीं आई है, वक्तव्य-प्रधान रचनाओं का ही आधिक्य है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि यह कभी संभव न होगा, या कि प्रगतिवाद का साहित्य केवल प्रचार का साहित्य है। आज भी पंत और नरेन्द्र की अनेक प्रगतिवादी कविताएँ किसी भी सौन्दर्य-गत मानों से उच्चकोटि की ठहर सकती हैं। यहाँ मैं अन्यत्र लिखे अपने कुछ वाक्यों की ओर पुनः ध्यान आकर्षित करना आवश्यक समझता हूँ: 'हंस में प्रकाशित अनेक रचनाएँ...असफल रही हैं और पाठकों तथा आलोचकों को यह न सोच लेना चाहिए कि प्रगतिवादी साहित्य का वे श्रेष्ठ उदाहरण पेश करती हैं। हम केवल इतना कह सकते हैं कि वे प्रारम्भिक अभिव्यक्तियाँ हैं और उनसे पूर्णता की अपेक्षा रखना गलत होगा। जब किसी विचारधारा को ऐसे संक्रमण काल के अन्दर पुराने विश्वासों, पुराने सौन्दर्य मूल्यों, पुरानी अभिव्यक्तियों, पुराने संस्कारों और पुरानी परम्पराओं के स्थान पर जीवन के प्रति एक नया ही दृष्टिकोण और नयी ही अभिव्यक्ति का विकास करना हो तो उसका कार्य कितना दुष्कर हो जाता है, इसका अनुमान करना कठिन है। यह देखते हुए कि प्रगतिवाद

के नाम पर जो साहित्य उत्पन्न हो रहा है उसमें बहुत कुछ कूड़ा-करकट भी है, हमें क्षुब्ध या हतोत्साह नहीं हो जाना चाहिए क्योंकि भविष्य के एक महान साहित्य की यह प्रारम्भिक अभिव्यक्तियाँ हैं, और गत वर्ष की रचनाओं से यह तो स्पष्ट हो ही जाना चाहिए कि प्रगतिशील लेखक और साहित्यकार अपने कार्य की गुरुता के प्रति अचेत नहीं हैं, और उनकी अभिव्यक्तियों में निरन्तर परिपक्वता और गहराई आती जाती है।' *

इस प्रकार प्रगतिवादी साहित्य में जो त्रुटियाँ हैं उन्हें हम स्वयं दूर करने में लगे हैं। लेकिन यह कार्य सहानुभूतिपूर्वक ही किया जा सकता है, बदनाम करने की नियत से नहीं। किसी रचना की आलोचना करना और उसकी त्रुटियाँ दिखाना, समझ में आता है, समूचे प्रगतिवादी साहित्य को रद्दी की टोकरी में डाल देना अशोभनीय ही कहा जा सकता है। आक्षेपकर्ता कदाचित साहित्य के प्रति अपनी ज़िम्मेदारियों से बरी हो चुके हैं, ऐसा लगता है।

चौथा आक्षेप वास्तव में निंदनीय प्रवृत्ति का द्योतक है। गतमास की टिप्पणी में मैं अश्लीलता के प्रश्न पर प्रगतिवाद का दृष्टिकोण स्पष्ट कर चुका हूँ। प्रगतिवाद साहित्य और कला के माध्यम से मनुष्य के समूचे जीवन और प्रकृति की वास्तविकता के प्रति उसे बदलने के लिए मनुष्य की भावनाओं का संगठन करने का एक विशेष सुसम्बद्ध दृष्टिकोण है। अतः किसी लेखक की रचनाओं में यदि नारी के प्रति अपमानजनक दृष्टिकोण का परिचय मिलता है तो वह निश्चय ही प्रगतिवादी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रगतिवाद स्त्री-पुरुष के मानवीय समान-संबन्धों के उन समस्त माध्यमों के खिलाफ़ विद्रोह का स्वर ऊँचा करता है जो भेद-भाव, वैषम्य, ऊँच-नीच, शोषक-शोषित, स्वामी-दास के सम्बन्ध कायम रखते हैं, तथा उनके स्थान पर ऐसे समाज सम्बन्धों की स्थापना के लिए मनुष्य के भावों का संगठन करता है जिनके अन्दर पड़कर मनुष्य-मनुष्य और स्त्री-पुरुष की सामाजिक असमानताएँ लुप्त हो जायँगी, और सभी का व्यक्तित्व पूर्ण रूप से विकास कर सकेगा। ऐसे समाज-सम्बन्धों की नैतिकता निश्चय ही एक वैषम्यपूर्ण समाज की नैतिकता से ऊँची होगी। रूस इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। अतः नारी को केवल वासना-तृप्ति का साधन माननेवाली मनोवृत्ति की रचनाएँ प्रगतिवाद के अन्तर्गत नहीं आ सकतीं। नारी के जननी और सहयोगिनी रूप को जितना रूस के समाज ने और साहित्य ने गौरव प्रदान किया है, वह विश्व साहित्य में बेजोड़ है। अब तक के समाज और साहित्य में नारी को यदि गौरव दिया भी गया है तो वह एक दासी का गौरव है। आदर्शवादी सुन्दर शब्दों की ओट में यह वास्तविकता छिपाई नहीं जा सकती। स्वयं छायावाद की अभिव्यक्तियों से यह स्पष्ट है कि नारी परतंत्र है और वह अपने प्रेमी के पाने के लिए जिन समाज-संबन्धों की आदर्शमयी कल्पना करती है उनमें रहकर भी वह स्वतंत्र नहीं हो सकती। लेकिन इस स्वतंत्रता के अर्थ उच्छृंखलता नहीं हैं, और यदि प्रगतिवाद के नाम

* देखिए 'हंस' जनवरी १९४२ का 'सामयिक'।

पर पैदा होनेवाले साहित्य में अश्लीलता और उच्छृङ्खलता का कहीं-कहीं आभास मिलता है तो उसका एक कारण है जिस पर अभी तक प्रकाश नहीं डाला गया है। और वह कारण यह है कि आधुनिक साहित्य पर दो भिन्न विचार-धाराओं ने प्रभाव डाला है, जिनका जीवन के प्रति दृष्टिकोण एकदम विरोधी है। यह मार्क्स और फ्रायड की विचार-धाराओं का प्रभाव है। विश्व का प्रगतिवादी साहित्य मार्क्स की विचार-धारा को ही अपनाता है क्योंकि वह एक व्यापक और वैज्ञानिक विचार-धारा है और मनुष्य के समूचे जीवन को बदलने का एकमात्र तरीका है। लेकिन फ्रायड की विचार-धारा कई उपयोगी बातें होते हुए भी अनेक विकृतियों से भरी है, उसका कोई सुसम्बद्ध दृष्टिकोण नहीं है, अतः जो लेखक उससे प्रभावित हुए उन्होंने अनियंत्रित 'सेक्स' तृष्णा, प्यास और वासना के गीत गाने शुरू किये। निश्चय ही इसमें नारी के प्रति एक अपमानजनक दृष्टिकोण है। 'अंचल' की 'मधूलिका' और 'अपराजिता' की कविताओं से यह स्पष्ट है। 'किरणबेला' की कुछ रचनाओं में भी यही बात है लेकिन 'किरणबेला' में मार्क्स का प्रभाव भी निखर चला है। और दो विरोधी धाराएँ मिलती हैं – स्वस्थ और अस्वस्थ। आक्षेप करने के पहले लोगों को इस भेद को समझ लेना चाहिए, और हर नये प्रभाव या नई अभिव्यक्ति को प्रगतिवाद के मत्थे मढ़कर उसे बदनाम करने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। इधर अंचल प्रगतिवाद की ओर अधिकाधिक उन्मुख हो रहे हैं, फिर भी उनकी रचनाओं में जहाँ कहीं नारी का चित्र आता है वहाँ मनुष्य की वासना-तृप्ति के साधन के रूप में ही, चाहे वह मजदूर-वर्ग की हो या अभिजात-वर्ग की। मनुष्य के अन्य व्यापारों में वह सहयोग करते कहीं नहीं दीखती, न किसी अन्य प्रकार से प्रताड़ित ही। इस सारे दृष्टिकोण पर फ्रायड के प्रभाव की छाया है जो अभी तक एक दम नष्ट नहीं हो पायी है। लेकिन यह छाया अभी तक उनके साथ चल रही है, यह उतने महत्व की बात नहीं है जितने महत्व की बात यह है कि वे प्रगतिवाद की ओर आ रहे हैं, और यदि उन्हें इस विभीपिका से मुक्त करना है तो हमें उन्हें प्रगतिवाद की ओर आने में पूरी सहायता देनी चाहिए। ताकि वे नारी के प्रति एक स्वस्थ दृष्टिकोण अपना सकें। आक्षेपकर्ता इस तथ्य को नहीं पहचानते। इसके अतिरिक्त जहाँ तक शब्दों के प्रयोग की बात है, मैं गत मास की टिप्पणी की ओर पुनः आक्षेप करनेवालों का ध्यान बँटाना चाहता हूँ। प्रगतिवादी लेखकों को अश्लीलता का प्रचारक और गुण्डा कहकर आक्षेप करनेवाले सज्जन जिस श्लीलता और सभ्यता का परिचय देते हैं, वह सराहनीय है। मैं ऐसी उपाधियों के बाँटने में अपनी कृपणता स्वीकार करता हूँ।

इन आक्षेप करनेवाले सज्जनों की तर्क-प्रणाली कुछ विचित्र है। दो-चार रचनाएँ इधर-उधर से ढूँढ निकालीं, और उनके कुछ अंशों में 'सेक्स' के संकेत पाकर कहने लगे, 'अगर यही प्रगतिवाद है तो—यह अश्लील है।' 'अगर यही प्रगतिवाद है तो—की तर्क-प्रणाली न साहित्यिक है, न बौद्धिक, न तर्क-सम्मत ही। यह बुद्धि और ईमानदारी दोनों का दिवालियापन साबित करती है क्योंकि किन्हीं भी दो-चार रचनाओं की दो-चार

पंक्तियाँ पूरी विचारधारा नहीं बन जातीं, और उनके आधार पर एक ऐसी साहित्य-धारा की निन्दा का पात्र नहीं बनाया जा सकता जिसका इतना व्यापक दृष्टिकोण है। लेकिन उस दृष्टिकोण को समझने की क्षमता ये सज्जन कहाँ से दिखलाएँ? अतः 'अगर यही प्रगतिवाद है तो—!' प्रगतिवाद के विरुद्ध नये मोर्चे की यह नई अबौद्धिक, असाहित्यिक असामाजिक दुंदुभी है—जो कर्कश स्वर में फूटती है—'अगर यही प्रगतिवाद है तो—!'

अन्त में मैं 'अगर यही प्रगतिवाद है तो—' तर्क-प्रणाली के योग्य आचार्यों से निवेदन करना चाहता हूँ कि यदि वे नये साहित्य के निर्माण में, जिसमें हम लगे हैं, सहयोग नहीं कर सकते, तो कम से कम अपनी अज्ञानता और अपनी विकृत भावनाओं का दायित्व हमारे ऊपर डालकर हमारे कार्य को और भी कठिन न बनावें। इसी में साहित्य का हित है।

सुहृद-संघ मुज़फ्फ़रपुर (बिहार)

सुहृद-संघ मुज़फ्फ़रपुर (बिहार) गत सात वर्षों से अपने प्रान्त में हिन्दी भाषा और नागरी-लिपि का प्रचार करने तथा हिन्दी साहित्य के विभिन्न अंगों की पुष्टि और उन्नति का प्रयत्न करता आया है। इसका संचालक बिहार प्रान्त के वे उत्साही और तरुण साहित्यिक हैं जिन्होंने अपनी लगन और अध्यवसाय के बल पर सुहृद-संघ को एक शक्तिशाली संस्था बना दिया है।

गत १४, १५ मार्च को उसका सातवाँ वार्षिक अधिवेशन पं० अमरनाथ झा के सभापतित्व में हुआ है। इस अधिवेशन के साथ-साथ संघ के निजी भवन का शिलान्यास भी किया गया और साहित्य परिषद्, पत्रकार सम्मेलन और कवि सम्मेलन आदि का भी आयोजन रहा। सुहृद-संघ ने गत सात वर्षों में जो कार्य किया है वह प्रशंसनीय है।

अधिवेशन के विवरणों से हमें ज्ञात होता है कि सुहृद-संघ हिन्दी-प्रचार और हिन्दुस्तानी का विरोध करने में ही अपनी सारी शक्तियाँ लगा रहा है। हिन्दी प्रचार से हम असहमत नहीं हैं लेकिन हिन्दुस्तानी का विरोध जिस रूप में किया जा रहा है उससे ऐसा अनुमान करने की प्रवृत्ति होती है कि अब तक हिन्दुस्तानी के नाम पर जो कुछ किया गया है वह मानो उसका अन्तिम रूप है और उसमें सुधार नहीं किया जा सकता। इसलिए उसका विरोध करना आवश्यक है। तरुण साहित्यिकों की किसी भी संस्था को ऐसा स्थिर दृष्टिकोण नहीं अपनाना चाहिये। इसके अतिरिक्त हिन्दी साहित्य की पुष्टि और उन्नति करने के उद्देश्य की पूर्ति के लिए संघ ने जो कुछ किया है वह अपेक्षाकृत न्यून है।

पं० अमरनाथ झा के भाषण से और संघ की रिपोर्ट से यह स्पष्ट है कि भाषा के प्रश्न को ही प्रमुखता की गई है और इस सारी तस्वीर में राष्ट्रीय साहित्य कैसा हो, उसकी क्या समस्याएँ हैं, संघ उसका निर्माण करने के लिए क्या प्रयत्न कर रहा है, यह बातें कहीं नहीं आतीं। हमारा विचार है कि किसी भी साहित्यिक संस्था की जिम्मेदारी जितनी भाषा के प्रति होती है उससे कहीं अधिक साहित्य के प्रति होनी चाहिये। क्योंकि रचनात्मक साहित्य के निर्माण में जो भाषा-सम्बन्धी समस्याएँ उठती हैं उनको दृष्टि में रखकर भाषा के प्रश्न को आसानी से हल भी किया जा सकता है और जो राजनीतिक और साम्प्रदायिक भावनाएँ हमें एक सही दृष्टिकोण बनाने से रोकती हैं उनसे अपने को मुक्त भी किया जा सकता है। हमें विश्वास है कि संघ विशेष रूप से साहित्य की समस्याओं पर ध्यान देगा और उसे जैसे तरुण और कर्मनिष्ठ साहित्यिकों का सहयोग प्राप्त है उनके संचालन में वह साहित्य की और भी ठोस सेवा कर सकेगा।

—शि० सिं० चौ०

*

पुराने ख़ुदा

●

[कृष्णचन्द्र]

[अनु० —राही]

मथुरा के एक ओर यमुना है और तीन ओर मन्दिर। इस क्षेत्र में नाई, हलवाई पाँडे, पुजारी, और होटलवाले बसते हैं। यमुना अपना प्रवाह बदलती रहती है, नये-नये आलीशान मन्दिर भी बनते रहते हैं परन्तु मथुरा का क्षेत्र उसी सीमा में रहता है, इसके आकार और आबादी के अनुपात में कोई परिवर्तन नहीं होता सिवाय उन दिनों के जब जन्माष्टमी का मेला होता है और कृष्णजी के भक्त अपने भगवान का जन्म दिन मनाने के लिए भारतवर्ष के चारों कोनों से खिंचे चले आते हैं। इन दिनों कृष्णजी के भक्त मथुरा पर चढ़ाई कर देते हैं, मदरास से, कराँची से, रंगून से, पेशावर से, हर दिशा से रेल-गाड़ियाँ आती हैं और मथुरा के स्टेशन पर सहस्रों यात्री उगल देती हैं। यात्री समुद्र की लहरों की तरह बढ़े चढ़े आते हैं और मन्दिरों, घाटों, होटलों और धर्मशालाओं में समा जाते हैं। मथुरा में कृष्ण भगवान के स्वागत के लिए पन्द्रह-बीस दिन पहले ही से तैयारियाँ शुरू हो जाती हैं। मन्दिरों में सफ़ाई शुरू होती है, फ़र्श धुलाये जाते हैं, कलशों पर धात-पालिश चढ़ाया जाता है, सुनहरी पिंगूरे और झूले सजाये जाते हैं, दीवारों पर क़लई और रंग होता है, दरवाज़ों पर गुलबूटे बनाये जाते हैं, दुकानें राधाकृष्ण की मूर्तियों से सजाई जाती हैं। हलवाई 'पूरी-कचौरी' के लिए बनस्पति घी के टीन इकट्ठे करते हैं, होटलों के किराये दुगने बल्कि तिगुने हो जाते हैं। धर्मशालाएँ चूँकि 'धर्मार्थ' होती हैं इसलिए इनके मैनेजर एक कमरे के लिए सिर्फ़ एक रुपया किराया वसूल करते हैं। किसान लोग जो इन खैराती धर्मशालाओं में ठहरने की सामर्थ्य नहीं रखते, यमुना के किसी घाट पर ही सो रहते हैं। घाट चूँकि पक्की ईंटों के बने होते हैं, इसलिए घाट के प्रबन्धक सोनेवाले यात्रियों से एक आना फ़ी आदमी वसूल कर लेते हैं। वास्तव में घाट पर सोने के लिए एक आने का जुर्माना बहुत ही कम है। यमुना का किनारा, 'सिर पर कदम की छईयाँ', यमुना की लहरों की मीठी-मीठी लोरियाँ, ठंडी-ठंडी हवा, तारों भरा आकाश, और मन्दिरों के चमकते हुए कलश, जब जी आया सो रहे, जब जी आया उठकर यमुना में डुबकियाँ लगाने लगे, एक आने में दो मजे; इस पर भी बहुत से किसान लोग घाट के ग़रीब प्रबन्धकों को एक आना किराया भी देना नहीं चाहते। और घाट पर सोने और यमुना में नहाने के मजे मुफ़्त में लूटना चाहते हैं, मनुष्य की स्वाभाविक नीचता......

जन्माष्टमी से दो दिन पहले मैं मथुरा मे आ पहुँचा। मथुरा के बाजार, गलियाँ और मन्दिर यात्रियों से भरे हुए थे, लोग माथा टेक रहे थे, पांडे दक्षिणा ले रहे थे और यात्रियों के खेड़ों का विचित्र मन्दिरों में दाखिल कर रहे थे। इन यात्रियों की शक्लें देख-देखकर मुझे अनुभव हुआ कि मथुरा में हिन्दुस्तान भर की बूढ़ी औरतें एकत्र हो गई हैं, बूढ़ी औरतें माला फेरती हुईं, और लाठी टेक-टेककर चलते हुये मर्द...खाँसती हुई, गठिया का मारा हुआ कम्पित-शरीर, दुनिया जो अपने पाप धोने की आशा में आई थी। जितनी बदसूरती मैंने यहाँ एक घण्टे में देख ली उतनी शायद सारी उम्र में न देख सकता। मथुरा का एक अहसान मैं प्रलय तक नहीं भूल सकता।

मथुरा पहुँचते ही सबसे पहले मैंने अपने रहने के लिए जगह तलाश की। होटल वालों ने बालकनियाँ तक किराये पर दे रखी थीं। उनकी खिड़कियों, दरवाजों और छज्जों में जगह-जगह यात्रियों की गीली धोतियाँ हवा में लहराती दिखाई देती थीं। धर्मशालाएँ यात्रियों से भिड़ के छत्तों की तरह भरी हुई थीं। कोई मन्दिर बंगालियों के लिए 'सुरक्षित' था तो कोई मदरासियों के लिए। किसी धर्मशाला में केवल नर्मदादरी ब्राह्मण ठहर सकते थे तो किसी में केवल कायस्थों के लिए जगह थी। इस सराय में अग्रवालों को तरजीह दी जाती थी तो दूसरी सराय में सिर्फ अमृतसर के अरोड़ ठहर सकते थे। एक धर्मशाला में एक कमरा खाली भी था, मैंने हाथ जोड़ के पांडेजी से कहा—मैं हिन्दू हूँ, यह देखिये हाथ पर मेरा नाम खुदा है, आप अंग्रेजी नहीं पढ़ सकते तो चलिये बाजार में किसी से पढ़वा लीजिये, गरीब यात्री हूँ, धर्मशाला में जगह दे दीजिये, आपका बड़ा अहसान होगा।

पांडेजी की आँखें गिलाफी थीं और भंग से सुर्ख। जनेऊ का पवित्र धागा नंगे पेट पर लहरा रहा था। कमर में राम-नाम का धोती थी। कुछ क्षणों तक चुपचाप खड़े मुझे घूरते रहे, फिर घिघयाई हुई आवाज में, जिसमें पान के चूने और कत्थे के बुलबुले से उठते मालूम होते थे, बोले—आप कौन हो?

मैंने झल्लाकर कहा—मैं मनुष्य हूँ, हिन्दू हूँ, कालाशाह काको से आया हूँ।

'ना ना,' पांडेजी ने अपना बायाँ हाथ गौतमबुद्ध की तरह ऊपर उठाते हुए कहा—हम पूछते हैं, आप कौन गोत हो?

'गोत—' मैंने रुककर कहा—मुझे अपनी गोत तो याद नहीं, फिर भी कोई-न-कोई गोत जरूर होगी, आप मुझे इस समय तो अपनी 'धर्मशाला', इस खैराती धर्मशाला में रहने की जगह दे दें, मैं घर पर तार देकर अपनी गोत मँगवाये लेता हूँ।

'ना ना—' पांडेजी ने पान की पीक जोर से फर्श पर फेंकते हुए कहा—हम ऐसो मानस कैसों राखें, न गोत न जात।'

मैं मथुरा के बाजारों में घूम रहा था, वायु में कचौरियों की कड़वी गंध, यमुना की महीन कीचड़ की सड़ाँध और वनस्पति घी की गन्दी बास चारों ओर फैली हुई थी। मथुरा की पवित्र गर्द यात्रियों के पावों में थी, उनके सर के बालों में, नाक के नथनों में,

हलक में। मेरा दम घुटा जाता था और यात्री श्रीकृष्ण महाराज की जय के नारे लगाये जा रहे थे। मेरा सिर घूम रहा था। मुझे रहने के लिए अभी तक जगह न मिली थी। एक पनवाड़ी की दूकान पर मैंने एक सुन्दर युवक को देखा कि सिर से पैर तक बुर्राक खद्दर पहने, पान कल्ले में दबाये खड़ा है। आँखों से और चेहरे से जहानत स्पष्ट थी। मैंने उसे बाज़ू से पकड़ लिया।

'मिस्टर—' मैंने अत्यन्त कड़वे लहजे में उसे सम्बोधन करके कहा—क्या आप मुझे जेलखाने के सिवा कोई ऐसी जगह बता सकते हैं जहाँ एक ऐसा इन्सान जो हिन्दू हो, पंजाबी हो, काकाशाह काको से आया हो, जिसे अपनी गोत का भी ज्ञान न हो, मेले के दिनों में अपना सिर छुपा सके?

युवक कुछ क्षणों तक चुप रहा, कुछ क्षणों के लिए मुझे घूरता रहा, फिर मुस्करा कर कहने लगा आप पंजाबी हैं न, इसीलिए आप यह तकलीफ़ महसूस कर रहे हैं... वास्तव में बात यह है कि—माफ़ कीजियेगा...पंजाबी बड़े बदमाश होते हैं, यहाँ से लड़कियाँ भगाकर ले जाते हैं!

'और उन लड़कियों के बारे में आपकी क्या राय है जो इस तरह भाग जाती हैं?'

एक दुबला-पतला आदमी जिसका क़द बाँस की तरह लम्बा था और मुँह छछून्दर का-सा, खद्दरपोश का समर्थन करते हुए बोला - बाबू साहब, आप मथुरा की बात क्यों करते हैं, मथुरा तो पवित्र नगरी है, मैं तो बम्बई तक घूम आया हूँ। वहाँ भी पंजाबियों को भले आदमियों के मुहल्लों में कोई घुसने नहीं देता।

दो-चार लोग हमारे इर्द-गिर्द इकट्ठे हो गये। मैंने आस्तीन चढ़ाते हुए कहा—क्या आपने इतिहास का अध्ययन किया है?

'जी हाँ!' सुन्दर युवक ने पान चबाते हुए कहा।

'तो आपको मालूम होगा कि पंजाब सब से आखिर में अंग्रेज़ों की अमलदारी में आया, और छोटी बच्चियों को मार डालने की जो प्रथा भारत में प्रचलित थी, पंजाब में सब के आखिर में खिलाफ़ कानून क़रार दी गई। अंग्रेज़ों के आने से पहले भले आदमी अक्सर अपनी लड़कियों को पैदा होते ही मार डालते थे।'

'इससे क्या हुआ?'

'हुआ यह कि पंजाब में पुरुषों और स्त्रियों का अनुपात एक और पाँच हो गया। पाँच पुरुष और एक स्त्री। अब बताइये बाक़ी चार मर्द कहाँ जायें? धर्म इस बात की इजाज़त नहीं देता कि एक स्त्री चार-पाँच पति कर ले, क्या आप इस बात की इजाज़त देते हैं?

युवक हँसने लगा।

मैंने कहा—पंजाब में लड़कियाँ कम हैं। पंजाबियों ने दूसरे प्रान्तों पर हाथ साफ़ करना शुरू किया। बंगाल में लड़कियाँ अधिक हैं, वहाँ लोग एक स्त्री रखते हैं और एक

दाश्ता (mistress) जो आमतौर से विधवा होती हैं, सिंधी और गुजराती मर्द समुद्र पार व्यापार के लिए जाते हैं और अक्सर घरों से कई-कई साल गायब रहते हैं इसलिए सिंध में 'आममण्डलियाँ' बनती हैं और गुजरात में 'बकरी के दूध और ब्रह्मचर्य' का प्रचार होता है। रोग एक है, उसी तरह का। अब आप ही बताइये कि शरीफ़ कौन है और बदमाश कौन ? जो असलियत है उसका आप सामना करना नहीं चाहते, उलटा पंजाबियों को कोसते हैं।

युवक क़हक़हा मारकर हँसा, पान कल्ले से मोरी में जा गिरा। मेरे बाजू में बाजू डालकर कहने लगा—आइये साहब, मैं आपको अपने घर लिये चलता हूँ।

थोड़े ही अरसे में हम एक दूसरे के घनिष्ट मित्र हो गये। वह युवक वकील था, एक सफल वकील। उसका जहीन चेहरा, चौड़ा मस्तक और मजबूत ठोढ़ी उसकी दृढ़ता की दलील थे। वह मदरासी ब्राह्मण था। मथुरा में सबसे पहले उसका दादा आया था। कहते हैं उसके दादा के किसी रिश्तेदार ने जो मद्रास में एक मन्दिर का पुजारी था, किसी आदमी को क़त्ल कर दिया। ठाकुरजी को एक पुजारी के पाप के बोझ से बचाने के लिए मेरे मित्र के दादा ने एक रात को मन्दिर से ठाकुरजी की मूर्ति को उठा लिया और एक घोड़े पर सवार होकर मद्रास से चल दिया। सफ़र करते-करते वह मथुरा आन पहुँचा। यहाँ पहुँचकर उसकी आत्मा को शान्ति प्राप्त हुई और उसने ठाकुरजी को एक मन्दिर में स्थापित कर दिया। आज उसी दादा का पोता, मेरे सामने मन्दिर की दहलीज़ में खड़ा था और मैं उसके गठे हुए शरीर, और चेहरे के तीखे नक़शों में उस बूढ़े ब्राह्मण की दृढ़ता और विश्वास की झलक देख रहा था, जिसकी कि तस्वीर उसकी बैठक में टँगी थी।

नहा-धोकर और खाने से फ़ारिग़ होकर हम मेले की सैर को निकले। जो गली विश्रामघाट की ओर जाती है, उसमें सैकड़ों नाई बैठे हुए उस्तरों से यात्रियों का सिर मूँड़ रहे थे। गोल-गोल चमकते मुँड़े हुए सिर उन सफ़ेद छतरियों की तरह दिखाई देते थे जो बरसात के दिनों में आप ही आप ज़मीन पर उग जाती हैं। जी चाहता था कि इन सफ़ेद-सफ़ेद छतरियों पर अत्यन्त स्नेह से हाथ फेरा जाय ! इतने में एक नाई ने मेरी आँखों के सामने एक चमकदार उस्तरा घुमाया, और मुस्कराकर बोला—'बाबुजी सिर मुँड़ा लो, बड़ा पुन होगा।' मैंने अपने मित्र से पूछा—यह यात्री लोग सिर क्यों मुँड़ाते हैं ?' कहने लगा, दान-पुन की ख़ातिर। यह लोग अपने मरे हुए प्रिय सम्बन्धियों की आत्मा के लिए दान-पुन करते हैं, और इसके लिए सिर मुँड़ाना अत्यन्त आवश्यक है, और यहाँ ऐसा कौन आदमी होगा जिसका अब तक कोई प्यारा रिश्तेदार न मरा हो। मैंने उत्तर दिया—मेरी चँदिया पर पहले ही थोड़े से बाल हैं, मैं इन्हें नाई के हाथ से बचाये रखना चाहता हूँ। क्योंकि मैं समझता हूँ कि नाई की मुट्ठी के बालों से चँदिया पर एक बाल भी ज़्यादा अच्छा है।

हम लोग जल्दी-जल्दी क़दम उठाते हुए विश्रामघाट पहुँच गये। घाट पर

बहुत-सी किश्तियाँ खड़ी थीं और लोग इनमें बैठकर यमुना की सैर को जा रहे थे। हमने भी एक किश्ती ली और तीन घण्टे तक यमुना में घूमते रहे। यमुना के किनारे पक्के घाट बने हुए थे, कहीं-कहीं मन्दिरों और धर्मशालाओं की चौबुर्जियाँ और कदम के वृक्ष नजर आ जाते थे। एक जगह नदी के किनारे एक पुराने भग्न महल के कंगूरे नजर आये। पूछने पर मेरे मित्र ने बताया कि इसे कंसमहल कहते हैं। मैंने कहा—तीन चार-सौ साल से पुराना नहीं मालूम होता।' कहने लगा, 'हाँ इसे किसी मरहटा सरदार ने बनवाया था, अब अन्धविश्वासी लोगों को खुश करने के लिए कह दिया जाता है कि यह उसी कंस का महल है, जिसके अत्याचारों का अन्त करने के लिए भगवान ने जन्म लिया था।

मैंने पूछा—किस ज़माने में अत्याचार नहीं होते ?

वह बोला—यदि यही पूछना था तो मथुरा क्यों आये . वह देखो रेल का पुल !..मथुरा में सब से अधिक सुन्दर वस्तु शायद यही रेल का पुल है, मजबूत और ऊँचा। रेलगाड़ी बड़ी शान से यमुना के सीने पर दनदनाती हुई चली जा रही था। कहते हैं कृष्णजी के जन्मदिन को यमुना स्नेह से उमड़ी चली आती थी और जब तक उसने कृष्णजी के चरण न छू लिये, उसकी लहरों का तूफ़ान खत्म न हुआ। यमुना में अब भी तूफ़ान आते हैं, परन्तु उसकी लहरों की विह्वलता इस रेलगाड़ी के क़दमों को भी नहीं छू सकती। यमुना के गर्व का सदा के लिए अन्त हो चुका है।

जब हम वापिस आये तो सूर्य अस्त हो रहा था और विश्रामघाट पर आरती उतारी जा रही थी। औरतें राधेश्याम, राधेश्याम गाती हुई यमुना में नहा रही थीं। शंख और घड़याल ज़ोर-ज़ोर से बज रहे थे, यात्री चढ़ावा चढ़ा रहे थे और यमुना में फल और फूल फेंक रहे थे, पांडे दक्षिणा सम्भालते जाते थे और साथ साथ आरती उतारते जाते थे। एक पांडे ने एक ग़रीब किसान को गरदन से पकड़कर बाहर निकाल दिया। शायद किसान समझता था कि भगवान की आरती पैसों के बग़ैर भी हो सकती है.. विश्रामघाट की निचली सीढ़ियों तक यमुना बहती थी, परन्तु यहाँ पानी कम था और कीचड़ ज्यादा, और इस कीचड़ में सैकड़ों छोटे-मोटे कछुये कुलबुला रहे थे और मिठाइयाँ और फल खा रहे थे। उनके कोमल, मटियाले शरीर उन यात्रियों की नंगी खोपड़ियों की तरह नजर आते थे जिनके बाल नाइयों ने मूँडकर साफ़ कर दिये थे। राधेकृष्ण, राधेकृष्ण यात्री चिल्ला रहे थे। नव विवाहित जोड़े हर्ष भरी निगाहों से एक दूसरे की ओर तक रहे थे। और किश्तियों में बैठे हुए मिट्टी के दीये जगा-जगाकर यमुना के वक्ष पर बहा रहे थे। यमुना के वक्ष पर इस प्रकार के सैकड़ों दीये जग-मगा उठे थे। हमारे समीप ही एक ज़र्द-रू युवती ने दो दीये जलाये और उन्हें यमुना के हवाले कर दिया। देर तक वह वहाँ खड़ी अपने हाथ अपनी छाती से लगाये उन दीयों की ओर देखती रही और हम उसकी आँखों में चमकनेवाले आसुओं को देखते रहे। उस लड़की के साथ उसका पति न था, न वह विवाहित मालूम होती थी, फिर इन झिलमिलाती

हुई दियों की लौ को क्यों उसने अपनी छाती से चिमटा लिया था, वह लरज़ता हुआ प्रणयदीप...लड़की ने अकस्मात मेरे मित्र की ओर देखा और फिर सिर झुकाकर आहिस्ता-आहिस्ता घाट की सीढ़ियाँ चढ़ती हुई चली गई। मेरे मित्र के होंट भींचे हुए थे। चेहरे पर ज़र्दी फिरी हुई थी। क्या यमुना में इतनी शक्ति न थी कि वह दो काँपते हुए शोलों को आलिंगित हो जाने दे। यह दीवारें, यह पानी की दीवारें, यह पैसे की दीवारें, समाज, जातपाँत और गोत की दीवारें...! मेरा दिल असाधारण तौर पर उदास हो गया और मैंने सोचा कि कल मैं मथुरा से ज़रूर कहीं बाहर चला जाऊँगा, वृन्दावन में, या गोकुल में, जहाँ की साफ़ और पवित्र वायु में मेरे मन को संतोष प्राप्त होगा।

वृन्दावन में वन कम था और पक्की गलियाँ और खुली सड़कें ज्यादा थीं। वृन्दावन के आलीशान मन्दिरों के विस्तार और शोभा पर महलों का धोखा होता था। राजा मानसिंह का मन्दिर, गोविन्दजी का मन्दिर, मीरा का मन्दिर। बाहर इमारत में कृष्णजी की मूर्ति थी। हर जगह पांडे मौजूद थे। परन्तु एक बात में वृन्दावन मथुरा से बढ़ा हुआ था, वृन्दावन में गाइड भी मौजूद थे, अंग्रेजी बोलनेवाले पढ़े-लिखे गाइड। पहले लोग मन्दिरों में बेखटके चले जाया करते थे, अब भगवान ने गाइड रख लिये थे, खुदा वही पुराने थे परन्तु उन्होंने वर्तमान सभ्यता से पूरा लाभ उठाया था। आखिर यह वर्तमान सभ्यता भी तो उन्हीं की बनाई हुई थी। वृन्दावन के एक मन्दिर में मैंने देखा कि एक बहुत बड़ा हॉल है, जिसमें सात-आठ सौ साधु हाथ में खड़तालें लिये एक साथ गा रहे हैं। 'राधेश्याम, राधेश्याम'......लेफ्ट राइट, लेफ्ट राइट..... नियम, बाकायदगी। अंधापन, सभ्यता और शक्ति के सहस्रों रहस्य इस करुणामय हवा में छिपे थे। प्रतिदिन सैकड़ों, बल्कि हजारों आदमी इस मन्दिर में आते थे और बेशुमार चढ़ावा चढ़ता था। सुना है, कि इन अंधे साधुओं को संध्या प्रात दोनों समय खाना मिल जाता था और एक पैसा दक्षिणा का, बाकी जो अर्थलाभ होता था वह एक मोटे ताज़े पांडे की तिजोरी में चला जाता था। एक और मन्दिर में भी मैंने ऐसा ही दृश्य देखा। अन्तर यह था कि यहाँ अन्धे साधुओं की जगह ग़रीब अबला स्त्रियाँ कृष्ण भगवान की स्तुति कर रही थीं। दिन भर स्तुति करने के बाद इन्हें भी वही राशन मिलता था जो अन्धे साधुओं के हिस्से में आता था, यानी दो वक्त का खाना और एक पैसा दक्षिणा का। इन अंधे साधुओं और औरतों के सिर मुँडे हुए थे जिन्हें देखकर मुझे विश्रामघाट के यात्री और यमुना की कीच में कुलबुलाते हुए कछुए याद आ गये। धर्म ने मन्दिरों में फैक्टरियाँ खोल रक्खी थीं और भगवान को लोहे से भी अधिक मजबूत सलाखों में बन्द कर दिया था। हर मन्दिर में हर एक यात्री को जरूर कुछ न कुछ देना होता था। बाज़ जगह तो एक ही मन्दिर में विभिन्न जगहों पर दक्षिणा का रेट अलग-अलग था। सीढ़ियों को छूने के लिए एक आना, मन्दिर की चौखट तक आने के लिए चार आने। मन्दिर का किवाड़ अक्सर बन्द रहता था और एक रुपया देकर यात्री मन्दिर का किवाड़ खोलकर भगवान के दर्शन कर सकता था। कई मन्दिर ऐसे थे जो वर्ष में केवल एक बार खुलते हैं और कोई बड़ा सेठ ही उनकी 'बोहनी' कर सकता था। और बहुत-सा रुपया देकर मन्दिर का किवाड़ खोल सकता

था। वेश्यावृत्ति हमारे समाज का कितना आवश्यक अंश है इस बात का आभास मुझे ऐसे मन्दिरों को ही देखकर हुआ।

गोकुल में यमुना के किनारे तीन औरतें बैठी हुई रो रही थीं। मारवाड़ से कृष्ण भगवान के दर्शन करने को आई थीं, आभूषणों से लदी-फँदी। एक साधू महात्मा ने अपनी चिकनी-चुपड़ी बातों में फँसा लिया और ज्ञान-ध्यान की बातें करते-करते इन्हें मन्दिरों में लिए फिरा और जब ये मारवाड़ी औरतें गोकुल में 'माखन-चोर-कन्हैया' का घर देखने को आईं, तो यह महात्मा भी उनके साथ हो लिये। औरतें यमुना में स्नान कर रही थीं और साधु किनारे पर उनके आभूषणों की रखवाली कर रहा था। जब औरतें नहा-धोकर घाट से बाहर निकलीं तो महात्माजी गायब थे। औरतें सिर पीटने लगीं। कृष्णजी माखन चुराते थे। साधु महात्मा ने यदि ज़ेवर चुरा लिया तो कौनसा बुरा काम किया। परन्तु महात्मा की यह तुक इन बेवकूफ़ औरतों की समझ में न आती थी और वह यमुना की गीली रेत पर बैठी महात्मा को गालियाँ दे रही थीं। बहुत-से लोग उनके आस-पास खड़े और तरह-तरह की बातें कर रहे थे।

'जी बड़ा ज़ुल्म हुआ इन ग़रीब औरतों के साथ ..'

'भला यह घर से ज़ेवर लेकर ही क्यों आई थीं ?'

'अपनी अमीरी दिखाना चाहती थीं, अब रोना किस बात का है।'

'अजी साहब शुक्र कीजिये इनकी जान बच गई। अब कल ही मथुरा में एक पांडे ने अपने यजमान और उसकी स्त्री को अपने घर लेजाकर क़त्ल कर दिया। यजमान का नया-नया विवाह हुआ था, स्त्री के पास साठ-सत्तर हज़ार का ज़ेवर था ..किसी मद-रासी जागीरदार का लड़का था, जी इकलौता लड़का था ..उसके बाप को पुलिस ने तार दिया है, ख़याल तो कीजिये कैसा अंधेर मच रहा है इस पवित्र नगरी में...'

'मथुरा तीन लोक से न्यारी !'

बहुत रात गये तक मैं और मेरा मित्र यमुना के उस पार खेतों में घूमते रहे। जन्माष्टमी की रात थी। फूस के झोंपड़ों में जिनमें ग़रीब मज़दूर और किसान रहते थे मिट्टी के दीये जल रहे थे। और यमुना के दूसरे किनारे घाटों पर बिजली के बल्ब जगमगा रहे थे, और ब्राह्मणों के क़हक़हों की आवाज़ें वायु में गूँज रही थीं। फूस के झोंपड़ों के बाहर मरियल-सी आहार-वंचित गायें बंधी थीं और अधनग्न लड़के धूल में खेल रहे थे। कुएँ की जगत पर एक बूढ़ी औरत आहिस्ता-आहिस्ता डोल खेंच रही थी। दो बड़ी-बड़ी गागरें इसके पास पड़ी थीं। कुएँ से आगे आम के वृक्षों की कतार थी, जो बहुत दूर तक फैली हुई चली गई थी। आम के वृक्ष और आँवले के पेड़ और खिरनी के गोल छतनारे। यहाँ गहरा सन्नाटा छाया हुआ था। वायु में एक हल्की उदास-सी सुगन्ध थी और सितारों की रोशनी ऐसी जिसमें सफ़ेदी की बजाय स्याही अधिक घुली हुई थी। जैसे यह रोशनी खुलकर हँसना चाहती है परन्तु शाम की उदासी को देखकर रुक जाती हो।

मेरे मित्र ने आहिस्ता से कहा—मैं और वह कई बार इन खिरनी के वृक्षों की

छाया में एक दूसरे के हाथ में हाथ दिये घूमते रहे हैं...कितनी ही जन्माष्टमियाँ इस तरह गुजर गईं...और आज...!'

मैं चुप रहा।

'चन्द दिन हुए,' मेरा मित्र कह रहा था। 'मुझे क़त्ल के एक मुक़दमे में पेश होना पड़ा। क़ातिल ( ) को मक़तूल ( ) की पत्नी से प्रेम था...और अब उस फाँसी का हुक्म सुनाया गया तो अपराधी किसान ने जिन हसरत भरी निगाहों से अपनी प्रियतमा की ओर देखा उन निगाहों की उद्भ्रांति और मूक अभी तक मेरे दिल में तीर की तरह चुभती जाती है...'

वह दोनों बचपन से एक दूसरे को चाहते थे, वर्षों एक दूसरे को प्यार करते रहे। फिर लड़की के मा-बाप ने उसका विवाह किसी दूसरी जगह कर दिया...यह यमुना पर लोग प्रेम के दीये किसलिये जलाते हैं ?...बड़े होकर अपने ही बेटों और बेटियों के गलों पर किस तरह छुरी चलाते हैं...वह किसान स्त्री अब पागलखाने में है !...'

मैंने कहा—मुहब्बत भी अक्सर बेवफ़ा होती है, राधा को कृष्ण से प्रेम था लेकिन राधा और कृष्ण के बीच में राजतत्व की दीवार आ गई।'

उसने कहा—शायद तुम्हें राधा-कृष्ण के प्रेम का परिणाम मालुम नहीं।

'नहीं !'

वह कुछ क्षणों तक चुप रहा, फिर आहिस्ता से कहने लगा :

...कृष्णजी ने वृन्दावन की गोपियों से वादा किया था कि वह एक बार फिर वृन्दावन आयेंगे और हरएक गोपी के घर का दरवाज़ा तीन बार खटखटायेंगे। जिस घर में प्रकाश होगा और जो गोपी द्वार खटखटाने पर उनका स्वागत करेगी, वह उसी के प्रेम को सच्चा जानेंगे—इस बात को कई वर्ष गुजर गये। एक अँधियारी तूफ़ानी रात को जब बिजली कड़क रही थी और मूसलाधार वर्षा हो रही थी, किसी ने वृन्दावन के द्वार खटखटाने शुरू किये। स्याह लबादे में लिपटा हुआ कोई अनजान व्यक्ति हरएक द्वार पर तीन बार दस्तक देता और आगे बढ़ जाता।...परन्तु सब मकानों में अँधेरा था। सब लोग सोये पड़े थे। किसी ने उठकर दरवाज़ा न खोला।

अजनबी निराश होकर वापिस जानेवाला था कि उसने देखा—एक झोंपड़े में मिट्टी का दीया टिमटिमा रहा है। वह उस झोंपड़े की ओर तेज़-तेज़ पगों से बढ़ा। उसे द्वार खटखटाने की भी आवश्यकता न हुई। क्योंकि द्वार खुला था। झोंपड़े के अन्दर दीये की रौशनी के सामने राधा बैठी थी, अपने प्रियतम की प्रतीक्षा में, राधा के सिर के बाल सफ़ेद हो चुके थे, चेहरे पर अगणित झुर्रियाँ...

कृष्ण ने रुँधे कंठ से कहा—राधा, मैं आ गया हूँ।

परन्तु राधा स्तब्ध बैठी रही, दीये की लौ की ओर तकती रही।

'राधा मैं आ गया हूँ !' कृष्ण ने चिल्लाकर कहा।

परन्तु राधा ने न कुछ देखा, न सुना। अपने प्रियतम की राह तकते-तकते उसकी आँखें अंधी हो चुकी थीं और कान बहरे।

...जीवन से परे, मृत्यु से परे, इन्साफ़ से परे...

मेरी आँखों में आँसू आ गये। मेरा मित्र अपनी बाहों में सिर छिपाकर सिसकियाँ लेने लगा। जैसे किसी ने उसकी गर्दन मे फाँसी का फंदा डाल दिया हो, जैसे पागल औरत प्रेम करने के अपराध में सलाखों के पीछे बन्द कर दी गई हो। जर्द चेहरेवाली लड़की विश्रामघाट पर हसरत भरी निगाहों से मिट्टी के दियों की लौ की तरफ तक रही थी। उसकी हैरान पुतलियाँ मेरी आँखों के आगे नाचने लगीं। अंधे साधु क़तारों में खड़े थे, और खड़तालें बजाते हुए गा रहे थे—राधेश्याम, राधेश्याम, राधेश्याम...लेफ्ट राइट, लेफ्ट राइट, लेफ्ट राइट...पुराने खुदा अभी तक मन्दिरों, बैंकों, फैक्टरियों, और खेतों पर अधिकार जमाये बैठे थे, अपने वहीखाने खोले हुए, आलती-पालती मारे हुए, उनकी तोंदों पर जनेऊ लहरा रहे थे और वह अत्यन्त आत्म-विश्वास से उन लाखों आवाजों को सुन रहे थे जो वायु में चारों ओर शहद की मक्खियों की तरह भिनभिना रही थीं... राधेश्याम,...राधेश्याम...

☆

भारतीय समाज पद्धति : उत्पत्ति और विकास

●

[डा० भूपेन्द्रनाथ दत्त]

[२]

अब प्रश्न उठता है—दस्यु कौन है? इस प्रश्न का अनुसन्धान करने के पहले फारस की प्राचीन पुस्तक में जाति के सम्बन्ध में अनुसन्धान करने की आवश्यकता है; फारस की सबसे पुरानी भाषा 'जेन्द्र' में लिखित 'अवेस्ता' में हमें 'आइरिया' या आइरान[३१] नामक एक जाति का उल्लेख देखने में आता है। इसी 'आइरान' शब्द ने ही 'पहलवी' भाषा में 'इरान' का रूप धारण कर लिया और आजतक उसी नाम से फारस देश अपना परिचय दे रहा है। 'आइरान' वेद के आर्य के ही अनुरूप है; अवेस्ता में 'दह' और प्राचीन फारसी में 'दहियाउस' (Dahyaus) प्राचीन बक्रिय भाषा में 'दनहु' (Danhu), 'दक़ु' (Daque)[३२] नाम मिलता है। इस शब्द का[३३] पहले अर्थ था—'शत्रु को ध्वंस करनेवाला', बाद में इससे (आइरिन शब्द) 'जिला, जनपद या प्रान्त'

३१—Darmesteter—जेन्द भाषा की पुस्तकों का अनुवाद देखिए। Encyclopaedia Br. Vol. XVII P. 565 : 1929 Edn. देखिये।

३२—Zimmer—'Altindisches Liben', pp. 110, 112.

३३— " " "

समझा जाने लगा। 'इरान' लोग पहले अपने शत्रुओं को इसी नाम से पुकारते थे; बाद में इस नाम से पराजित शत्रुओं के जनपद को एक 'प्रान्त' कहते थे। उदाहरण के लिए, दरायूस 'क्षयथिय पार्से, क्षायथिय दाहिउनाम'[३४] (Kshayathiya Parssay Kshayathiya Dahyunam) कहकर अपना परिचय प्रदान कर रहा है। यहाँ पर 'दाहिउनाम' का अर्थ 'प्रान्तों' का सूचक है। इन 'दह' लोगों को बाद में इरानी किसान[३५] शक (Scythian) कहते थे। फारस की सीमा के बाहर जो असभ्य खानाबदोश जातियाँ (Nomadic tribes) घूमती फिरती थीं, वे इसी नाम से पुकारी जाती थीं। लेकिन काला सागर और कैस्पियन सागर के बीचवाले स्थान में 'स्कलेटि' नामक जो शक रहते थे, उनकी भाषा के कुछ शब्द हेरोडोटस की रचनाओं संरक्षित हैं। ज़्यूस (Zeuss) और मुलेनडर्फ नामक जर्मन पण्डितों के अनुसन्धान और गवेषणा के फलस्वरूप यह निश्चित हो गया है कि ये शब्द इरानी भाषा के अन्तर्गत हैं।[३६] कई वर्ष पहले चीनी-तुर्किस्तान के तुरफान नामक स्थान में जर्मन पण्डितों के अनुसन्धान से भारत पर आक्रमण करनेवाली शक जाति की भाषा भी इरानी भाषा के अन्तर्गत है, यह सिद्ध हो गया है। इससे यह प्रमाणित होता है कि 'दह' या 'दक्कु' और ईसा के जन्म की परवर्त्ती शताब्दी के ऐतिहासिक शकलोग भी इरानीय आर्य भाषा के लोग थे। इसी के साथ अउरेल स्टाइन आदि कहते हैं कि मध्य एशिया की आदिम मूल जाति[३७] (basic race) इरानी भाषा-भाषी 'अलपिन'[३८] मूल जाति की थी।

इससे हम देखते हैं कि मध्य एशिया के अधिवासी आर्य भाषा-भाषी और श्वेत-वर्ण थे। वे आधुनिक नरतत्वविद् की भाषा में अ-श्वेत (Non-white), अ-ककेसीय (Non-Caucasian), प्राश्च एशिया के मंगोलीय या दक्षिण एशिया के 'अस्ट्रोलयड' (Astroloid) अर्थात् अस्ट्रेलिया के आदिम अधिवासियों की तरह की कोई जाति नहीं थी। अवेस्ता के धर्मानुष्ठानों में विश्वास रखनेवाले सभ्य इरानी लोग मरुभूमि या अपनी कौम के बाहर के लोगों को 'दह', 'दक्कु', 'शक' आदि घृणासूचक विशेषणों से विशेषित करते थे। वास्तव में यह भिन्नता संस्कृति की भिन्नता या पार्थक्य से पैदा हुई थी। फारस का 'दह' और 'दक्कु' लोगों में वेदोक्त कृष्णवर्ण के 'दस्यु' या 'दास' लोगों को हम नहीं पाते हैं।

वेद में 'अ-मानुष', पर्वत के 'दस्यु' (८, ७०, ११) और 'दास' (१०, ६२, १०) का उल्लेख देखने में आता है। इन 'दस्युओं' को 'आर्यगण' देवताओं की सहायता से जीतते थे; अपनी विद्या-बुद्धि तथा शक्ति-सामर्थ्य से इन पर विजय प्राप्त करना वैदिक लोगों

३४—Zimmer—'Altindisches Liben', pp. 110, 112.

३५—Encyclopaedia Britannica—Vol. XVII, P. 565: 1929 Edn.

३६— ,, ,, ,, ,, ,,

३७—(a) Joyce—I. A. I. BR. (b) Ripley—European Races. Vide Chapter. on Central Asia. ३८—F. W. K. Mueller—'Toxri und Kuisan, in Sitz d. Kgl. Pr. Akad. d. w.

के लिए सम्भव नहीं होता था। वेद में 'दास वर्ण' नामक एक वर्ण का वर्णन है (सांख्य २, १२, ४ और श्रौत सूत्र ८, २५, ६); अनेक स्थानों में उन्हें 'कृष्णत्वक' (१, ३०, ८; ९, ४१, १) कहा गया है। किसी-किसी का अनुमान है कि 'दास' लोग पराजित होकर गुलामी करने के लिए बाध्य हुए थे—इसीलिए 'दास' शब्द का अर्थ बाद में 'गुलाम' हुआ (७, ८६, ७, ९, ५६, ३, १०, ६२, १०)। इस दास जाति की स्त्रियाँ उपपत्नी भी बनाई जाती थीं। कवष ऋषि को 'दास्यया पुत्रा' कहकर मजाक करने का उल्लेख भी मिलता है (ऐतरेय ब्राह्मण २।१९; कैषितकी ब्राह्मण १२।३)।

किसी-किसी के मतानुसार इरानी 'दनहु' (Danhu), 'दक्कु' और वैदिक 'दस्यु' शब्द इनकी उत्पत्ति एक थी। पहले इसका अर्थ था 'शत्रु'; बाद में इरानियों ने इस शब्द का अर्थ 'पराजित देश' या 'प्रान्त' कहकर व्यक्त किया। वैदिक लोग इसका प्रथमोक्त अर्थ रखकर उससे अमानुषिक 'शत्रु' (demon and foe) भी समझते थे[३९]। संस्कृत भाषाभिज्ञ पण्डित रथ के मतानुसार देवता और असुरों के विवाद को मानव समाज में प्रयोग करके इसका अर्थ 'मनुष्य का शत्रु' समझ लिया गया है। लुडविग (Ludwig) ने लिखा है कि[४०] दास राजाओं का हिन्दु ग्रन्थों में दानव या असुर कहकर वर्णन किया गया है। दूसरी ओर लासन ने लिखा है कि जिस प्रकार संस्कृत 'देव' और अवेस्ता के 'देवा' या 'दायेरा' में सम्बन्ध है, उसी प्रकार 'दक्कु' और 'दस्यु' शब्द में भी सम्बन्ध है। उनका अनुमान है कि इसके द्वारा एक धर्म सम्बन्धी झगड़े को राजनैतिक क्षेत्र में लाया गया है। प्रारम्भ में इस शब्द का एक सम्मानजनक अर्थ था, बाद में असम्मान-सूचक अर्थ हो गया।

पण्डितों का अनुमान है कि 'दस्यु' शब्द की तरह 'दास' शब्द का एक इरानी प्रतिशब्द भी है। लासेन आदि का कहना है कि—'दास' शब्द इरानी 'दह' या 'दाह' (Daha) शब्द के ही अनुरूप है। कैस्पियन सागर के दक्षिण वाले शकों को हेरोडोटस 'दह' नाम से ही जानते थे[४१]। रोमन लेखक प्लिनि (Pliny) भी इन्हें 'दाहे' (Dahae) नाम से जानते थे[४२]। फारस के धर्मग्रन्थ में (बुन्देहेस, १५) इनके जनपद का वर्णन है। इसीलिए जिमर कहते हैं कि[४३]—यह सन्देह से परे है कि 'शत्रु' का साधारण 'इण्डो-इरानी' नाम 'दास' था। इस नाम को बाद में इरानियों ने एक निर्दिष्ट तुरानी जाति (मध्यएशिया की जाति) के प्रति प्रयोग किया। इससे 'दस्यु' शब्द का इण्डो-इरानी अर्थ भी निस्सन्देह रूप से निर्द्धारित होता है।'

अब हम इस तथ्य पर पहुँचे कि आर्यगण जिस प्रकार अपने समाज का तथा प्राचीन काल की क़ौमगत अवस्था का संस्कार करने के उद्देश्य से अपने शत्रुओं को 'दनह' वा 'दक्कु' वा 'दाहे' कहते थे, उसी प्रकार वैदिक आर्यगण भी इन दोनों शब्दों का

३९—Zimmer—Altindisches Leben : P. 110.

४०—L wig—Nachrichten: P. 3[illegible]. ४१—Herodotus—I. 126. ४२—'दाह' ऐतिहासिक जाति है। Vide Encyclopaedia Vol. 17. 1929, P. 579, 565. ४३—Zimmer—P. 112.

थोड़ा-सा संस्कार करके अपने समाज के बाहरवाले शत्रु के लिए काम में लाते थे[४४] लेकिन इससे 'दस्यु' या 'दास' लोगों के सम्बन्ध में कोई नर-तात्विक खबर नहीं मिलती है। यद्यपि पण्डितों का कहना है कि वेद में इसकी खबर मिलती है। वेद में 'आर्यम् वर्णं' और 'दासं वर्णम्' कहकर दो जातियों का अलग-अलग वर्णन किया गया है। ऋक्वेद में कहा गया है 'जिसने 'दासवर्ण' जय किया है, हे मनुष्यगण वह इन्द्र हैं' (२।१२।४), फिर 'उसने दस्युओं पर विजय प्राप्त कर 'आर्यवर्ण' की सहायता की है' (३।३४।९)। जिमर ने कहा है, दूसरा कोई विशिष्ट अर्थ नहीं रहने के कारण और स्पष्ट विरुद्धता रहने के कारण 'वर्ण' शब्द का 'अर्थ' [४५] 'जनगण' (people) समझना होगा। यथा;—'देवताओं ने दासों का क्रोध दबाया था; वे हमारे आदमियों को (ना वर्णम्) सौभाग्यशाली अवस्था में ले जायँगे (ऋक् १।१०।४२)।' इससे 'वर्ण' का अर्थ 'जनगण' मिलता है; शायद शरीर के रंग से इस अर्थ की अभिव्यक्ति हुई है। इसका कारण यह है कि इन्द्र ने अपने पूजक आर्यों को सभी युद्धों में सहायता की है...(आर्य) लोगों के लिए विधिशून्य लोगों को दण्ड दिया है और कृष्णवर्ण लोगों को (त्वकं कृष्णं) पराजित किया है (१।१३०।८)। और आर्यों के देवताओं के सम्बन्ध में कहा गया है—'उसने दस्यु और सिम्यु की प्रचलित उपाय से हत्या की है...उसने अपने श्वेत मित्रों के साथ जमीन पर दखल किया है (१।१००।१८)।' जो आर्य-कौमें अपने को 'यदुवंशीय' होने का दावा करती थीं, वेद में उनका भी उल्लेख है और इनके साथ प्रथमागतों का झगड़ा भी हुआ था।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि देवताओं के सम्बन्ध में जो लक्षण दिये गये हैं, उन्हीं शारीरिक लक्षणों को उनके भक्त-वृन्दों के लिए प्रयोग करना बिलकुल अवैज्ञानिक है। इतालीय नरतत्वविद् सर्गि ने [४६] यूनान और रोम के देवदेवियों को उत्तर-यूरोपीय जर्मन भाषी भाषा-तत्वविदों की चेष्टा 'blonde teutonic' अर्थात् नर्डिक बनाने की है, इसके लिए दुःख प्रकाश किया है। उन्होंने इस प्रचेष्टा को भाषा के अर्थ का अपव्यवहार और अपप्रयोग कहा है। भारतीय देव-देवियों के सम्बन्ध में भी वही बात हुई है। किसी-किसी ने [४७] देवताओं को 'ब्लण्ड टिउटन' (blonde teutonic) कहकर वर्णन करने की प्रचेष्टा की है; और किसी-किसी ने उसी के साथ समग्र वैरी जाति को स्वीडन [४८] उत्तर-जर्मनी या बाल्टिक समुद्र के तटवर्ती किसी स्थान से आये हैं, ऐसा लिखा है।

यह एक बहुत बड़ा वैज्ञानिक सत्य है कि भारत के आदिम अधिवासी अ-श्वेत अर्थात मलिन (मैले) वर्ण के ब्राउन (Brown) या काले रंग के लोग हैं। यह भी सच

४४—फारसी 'ह' का उच्चारण संस्कृत भाषा में 'स' होता है, क्या इसीलिए इरानी 'दह' या 'दाह' संस्कृत में 'दास' हो गया है?

४५—Zimmer—P. 113. ४६—Sergi—Mediterranean Rase.

४७—(क) Zenaide Ragozin—Vedic India, (ख) Samuel Johnson—Vedic India (विशेष बात:—आर्य को आदर्श जर्मन बनाने की हास्यकर प्रचेष्टा के सम्बन्ध में Encyclopaedia Britannica—Vol. XII. pp 263—264 : 1929 देखिये)

४८—Penka—'Der Arier'; Much, Von Luschan, Pocche, Wilser आदि की राय देखिये।

हो सकता है कि वैदिक कौमें उपर्युक्त प्रकार के लोगों के सम्पर्क में आई थीं। और यह भी सम्भव हो सकता है कि इनमें से कुछ लोगों ने हारकर अधीनता स्वीकार कर ली थी। इसीलिए 'दास' का अर्थ 'कृतदास' 'गुलाम'[४९] समझा गया है। फिर भी यह प्रमाणित नहीं होता कि जिस दस्यु और दासों के 'आयसी' पुर का वर्णन किया गया है— जिनका वर्णन पढ़कर उन्हें वैदिक जातियों से अधिकतर स्पष्ट मालूम होता है, वे ही काले रंग के आदिम अधिवासी जिन्हें आजकल के नरतत्वविद् लोगों ने Proto-Austroloid (आस्ट्रेलिया के आदिम अधिवासियों के पुरखे) या Austroloid Proto-Veddaid या Proto-Dravidian वेद्दा द्राविड़ जाति के पहलेवाली जाति) आदि कहा है।

वेद तथा संस्कृत साहित्य की व्याख्या के प्रसंग में इन पैन-जर्मनिस्ट (Pan-Germanist) पण्डितों के हाथ में पड़कर यूनान और इतालो के देव-देवियों की तरह भारतीय देव-देवियों की भी दशा हुई है। उसी के साथ प्राचीन भारत के आर्य-भाषा-भाषियों की दशा भी उपर्युक्त दोनों देशों के लोगों की भाँति हुई है। इसका अर्थ यह है कि जर्मन भाषा-भाषी पण्डितों के हाथ में जिस तरह एथेना देवी और वीर अखिलिउस नील आँख और लाल केशवाले बन गये थे, और इसीलिए प्राचीन हेलेनिक जाति भी उत्तर-यूरोप की नर्डिक जाति बन गई, भारत के प्राचीन देव-देवीगण भी उसी प्रकार जर्मनी के वोडिन देव के सम्बन्धी बन गये थे; और प्राचीन वैदिक जाति भी प्राचीन जर्मन अर्थात् टिउटनिक नर्डिक लोगों के रिश्तेदार बन गये हैं। इसी ताल पर कुछ भारतीय पण्डित भी नाच रहे हैं!

संस्कृतज्ञ उत्तर यूरोपीय पण्डितों ने जिस प्रकार वेद में नर्डिक जाति का आविष्कार किया है, भारत सरकार के सिविलियन मि० जार्ज ग्रियर्सन ने[५०] उसी प्रकार भारत में दो आर्य जातियों के अभिमान का आविष्कार किया है। एक को वह मध्य देशीय Mid-Land कहते हैं और दूसरी को मध्यदेश के बाहर वाली (outer-group) कहा है। उन्होंने संस्कृत भाषा से निकलनेवाली भाषाओं में भिन्नता दिखाकर निर्णय किया है कि

४९—अंधकार युग (Dark Age) यूरोप में टिउटन अथवा जर्मन जाति के लोग पूर्व-यूरोपीय लोगों को पकड़कर अथवा जीतकर कृतदास बनाकर बेचते थे। इसीलिए उन्हें लैटिन भाषा में Scalva (गुलाम या कृतदास) कहते थे। उसी समय से पूर्व-यूरोप के श्वेत वर्ण की और इण्डो-यूरोपीय या आर्य भाषा में 'शातेम' (Satem) विभाग के भाषा-भाषी लोगों का मूल जातीय नाम आज तक Scalve Slave, Slav, Serv आदि हुआ है। इस तरह सन्देह होता है कि, यह भी हो सकता है कि उपर्युक्त तरीके से इरानी 'दाह' के अनुरूप भारतीय 'दास' लोग पराजित होकर 'गुलाम या 'कृतदास' हो जाते थे, इसीलिए समग्र जाति उसी नाम से पुकारी जाने लगी। लेकिन जिस प्रकार पुर्व-यूरोप के कुछ लोग बन्दी होकर 'कृतदास' बनाये जाने पर आधे यूरोप के लोग 'गुलाम' नहीं हो गये थे, उसी तरह 'दास' जाति के कुछ लोग हारकर 'कृतदास' हो जाने पर भी समग्र दास जाति गुलाम नहीं बन गई थी। 'दासों' पर विजय प्राप्त करने के लिए आर्यों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। नरतत्व की दृष्टि से देखने से यही कहना पड़ेगा कि 'शुक्लवर्ण' आर्य ही भारत से लुप्त हो गये हैं। काले रंग की प्रधानता आज तक भारत में प्रबल है। दासों का प्रताप और शक्ति वेद से ही प्रत्यक्ष हो जाती है; कण्व ऋषि काले रंग के थे; कवष ऋषि दासी के पुत्र थे। वेद में के कुछ राजा भी तथाकथित शूद्र थे।

५०—George Grierson—Linguistic Survey of India.

आर्यों का एक समूह अफगानिस्तान के रास्ते भारत में आया था। एक दूसरा समूह बलूचिस्तान से होकर पहले समूह के आर्यों की बस्तियों के चारों ओर उपनिवेश स्थापित किया था। अगर यह बात सच है तो हम किस आर्य जाति का विवरण वेद में पढ़ते हैं, और कौन-सी आर्य जाति को नर्डिक या 'शुक्लवर्ण' वाली सिद्ध करने की प्रचेष्टा पचासों वर्ष से चल रही है [५१] ?

इससे सन्देह दूर नहीं हुआ : बल्कि गड़बड़ी और भी बढ़ गई। साहित्य से उद्धरण देकर नरतत्व की शरीर सम्बन्धी कोई बात सिद्ध नहीं होती। इसके लिए प्रत्यक्ष प्रमाण की जरूरत होती है। जो लोग वेद के श्लोक से 'अ-नासा' और 'कृष्णवर्ण' के लोगों से वर्त्तमान भारत के तथाकथित 'अस्ट्रोलायड' या द्राविड़-पुर्व (Pre-Dradidian) जाति को आयसी-पुरवासी जाति से शिनाख्त करना चाहते हैं, वे स्वयं परस्परविरोधी मत को मानते और व्यक्त करते हैं । वेदपाठ से मालूम होता है कि आर्यों के शत्रु समृद्धिशाली थे और दोनों वर्णों के (जाति के) लोगों के ऐश्वर्य का तथ्य और विवरण तुलनात्मक पाठ से विचार करने से हमें दिखाई पड़ता है कि आर्य-शत्रुओं की सभ्यता अपेक्षाकृत उच्चकोटि की थी। तब हम किस हिसाब से उन्हें वेदा-पुर्व या द्राविड़-पूर्व जातियों से शिनाख्त करते हैं ? शेषोक्त जातियाँ आज तक अपनी सभ्यता को विकसित नहीं कर सकीं—क्या वे ही वेदोक्त आयसीपुर के अधीश्वर थीं ?

[असमाप्त]

★

५१—नार्डिक-पन के सम्बन्ध में सब जर्मन पण्डितों का मत एक नहीं है। जर्मनी के एडवर्ड मायर, फाइट फ्रिडरिस, ब्राउन आदि ; फ्रांस के ब्रोका, मार्टियर का दल ; इटली के सर्गि ; इङ्गलैण्ड में टेलर आदि मनीषियों की राय कुछ दूसरी है।

शिवरात्रि आई*

●

[शिवदानसिंह चौहान]

वर्षा और बिजली कड़कने का रिकार्ड।

...   .

नाच   [नृत्य का रिकार्ड]

ढोल, मृदंग, डमरू को आवाज़।

[बन्द]

नैरेटर—शिवरात्रि की अँधेरी रात्रि...कैलाश पर्वत...शिव का तांडव-नृत्य...

[नृत्य का रिकार्ड]

[ढोल, पखावज, डमरू की आवाज़...]

[धीमा]

—कैलाश की चोटियाँ बर्फ से ढकी हैं...बादल गरज रहे हैं...बिजली कड़क रही है...पवन के वेग से आग की चिनगारियाँ फूट रही हैं...बरफ की चट्टानें टूट कर नीचे गिर रही हैं...शिव का अखंड तांडव जारी है, मानो वे झंझा और तूफ़ान से लड़ने की कला का विकास किये जा रहे हैं...और दूर दुनिया में रहनेवाले मनुष्य...कैलाश की स्वर्गीय चिर-शान्ति की कल्पना कर उसके सुख और आनन्द को पाने के लिए.....

GONG

[भीड़ के कहीं जाते हुए पैरों की चाप...]

आज से हज़ारों साल पहले...जब कि मनुष्य खोहों में रहता था...जंगलों में आखेट कर खाता था...एक दिन...

[बिजली कड़कने की आवाज़]

एक पुरुष—आ...आ...।

[भय से भागते हुए पैरों की आवाज़]

कई मनुष्य—कुलपति...! कुलपति...!

[बिजली कड़कने की आवाज़]

कई स्त्री-पुरुष एक साथ—आ...! आ...!

कुलपति—क्या है ? क्या है ?

---

* १३ फ़रवरी '४२ को शिवरात्रि के अवसर पर दिल्ली रेडियो से ब्राडकास्ट किया गया विशेष फ़ीचर।

एक पुरुष घबराया हुआ—कुलपति, देवता नाराज़ हो गये...। आखेट का क्या होगा ?

एक स्त्री—हम लोग क्या खायेंगे ! बच्चे भूखे पड़े हैं। (रुआँसी आवाज़ में) हे देवता, दया करो...!

[बिजली कड़कने की आवाज़]

कुलपति घबरा कर—आह ! अब क्या होगा ? हे भगवान ! यह कैसा कोप है ? आकाश से यह कैसा वज्रपात हो रहा है ?

एक पुरुष—कुलपति, जंगल के सारे वृक्ष आपस में टकरा रहे हैं...। सिंह, गज, हरिण, पशु, पत्ती भयंकर चीत्कार कर शरण खोज रहे हैं...। दिशायें काँप रही हैं...। क्या यह महानाश का साज है कुलपति ?

दूसरा पुरुष—कितने देवताओं का कोप है कुलपति...? कोई उपाय बताइये, बताइये आर्य !

एक स्त्री—देवताओं को प्रसन्न करने का उपाय बताइये...। मौन क्यों हैं कुलपति, बोलिये......!

कुलपति—तुममें से किसी ने देवताओं के विरुद्ध दुर्वचन कहे हैं ?

सब—नहीं कुलपति।

कुलपति—तुममें से किसी ने यदि पाप किया हो तो वह इन्द्र भगवान के वज्र के नीचे जाकर अपनी बलि दे दे...। देवता प्रसन्न हो जायँगे। अभी गुफा के बाहर चला जाय वह......।

[खामोशी]

कुलपति—कोई बाहर नहीं गया ? किसी ने पाप नहीं किया है ?

सब—नहीं कुलपति।

कुलपति—(चिन्तामग्न-सा) फिर देवताओं का कोप क्यों है ? कारण मैं नहीं जानता...। उपाय मैं नहीं जानता। देवता रुष्ट हैं...प्रलय होगी...प्रलय होगी।

[बिजली कड़कने की आवाज़]

कुलपति और सब—आह ! भगवान दया करो !...

[शिव दौड़े आते हैं।]

शिव—क्या हुआ कुलपति ? यह मौन क्यों ? सबके अंग जकड़ कर काँप क्यों रहे हैं ?

कुलपति—कौन ?

शिव—मैं शिव हूँ, कुलपति।

एक वृद्ध—यह इस कुल का नहीं है कुलपति।

कुलपति—तुम किस कुल के हो शिव ?

शिव—नहीं जानता कुलपति।

कोई पुरुष—यह विधर्मी कुल का लगता है कुलपति। इसके आने ही से तो कहीं देवता क्रुद्ध नहीं हुए हैं?

कुलपति—तुम ठीक कहते हो...। शिव, तुमने हमारे देवताओं को कुपित किया है...। देखते नहीं हो मेघों की सेना सजाकर इन्द्र भगवान ने चढ़ाई की है। तुम्हें इसका दंड भोगना पड़ेगा।

शिव—मैं तैयार हूँ, कुलपति। लेकिन इस समय रक्षा का क्या उपाय सोचा है आपने?

[बिजली कड़कने की आवाज़]

कुलपति और सब—आह...।

शिव—डरने से काम नहीं चलेगा कुलपति। भय से हाथ पैर जकड़ जाते हैं। लेकिन जिस तरह आखेट करते समय हमें सिंह और अन्य हिंसक जन्तुओं से एक साथ मिलकर संघर्ष करना पड़ता है, उसी तरह इस झंझा और तूफान से भी लड़ना पड़ेगा। यह देवता तो नित्य अप्रसन्न होते रहेंगे। हमारे बच्चे भूखे मरते रहेंगे।

कुलपति—(क्रोध से) खामोश! छोटे मुँह बड़ी बात! जानते हो शिव, देवताओं को दुर्वचन कहना पाप है?

कुछ स्त्रियाँ—(भयभीत-सी) हे भगवान। दया करो। शिव ने जो कहा है हमने नहीं सुना।

शिव—(दृढ़ स्वर में) : कुलपति, देवता हमारे शत्रु हैं या मित्र?

कुलपति—मित्र।

शिव—तो मित्र हमारे ऊपर कोप नहीं कर सकते। राक्षस ही हमारे काम में विघ्न डाल सकते हैं। इसलिए यह झंझा और तूफान राक्षसों का उठाया हुआ है, और हमें इसका वीरतापूर्वक सामना करना चाहिये।

कुछ लोग—क्या यह सच है कुलपति?

कुलपति—(सोचता-सा) मैं नहीं जानता, मैं नहीं जानता।...अच्छा शिव, तुम्हारी बात अगर सच है तो कोई उपाय बताओ। नहीं तो दंड भोगने के लिए तैयार हो जाओ। देवताओं को अप्रसन्न कर हम जीवित नहीं रह सकते।

शिव—कुलपति, तुम सबमें डर समाया हुआ है। इस झंझा और तूफान में आखेट को निकलने के लिए तुम्हारे अंगों में गति, हृदय में उत्साह, और शरीर में बल नहीं रहा है। आओ, मैं उपाय बताता हूँ।

[नृत्य का रिकार्ड]

नैरेटर—और शिव ने तांडव-नृत्य करना शुरू किया। सब स्तब्ध देखते रहे। शिव के नृत्य ने तूफान का समाँ पैदा कर दिया...पूरी भयंकरता के साथ...और फिर जब दुर्घर्ष उत्साह और रोष के साथ वे उस तूफान के समाँ पर हावी होने लगे तो कुलपति और दूसरे लोगों के अंग फड़क उठे...क़मानों पर तीर चढ़ गये...और...

सब—आखेट! आखेट! चलो...! बढ़ो...! चलो...! बढ़ो...!

[बाहर दौड़कर जाते हुए पाँवों की आवाज़]

नैरेटर—कुल के बच्चों और स्त्रियों के वास्ते आखेट कर भोजन लाने के लिए पुरुष तूफान की थपेड़ों में कूद पड़े। शिव तन्मय हो नाचते ही गये। बादल फट गये। सूरज निकल आया। पवन शान्त हो गया। तब...

कुलपति—शिव, इन्द्र और मरुत से भी तुम्हारी शक्ति महान् है। तुम्हें शत-शत बार नमस्कार है।

कई स्त्रियाँ—तुम हमारे कुल के नहीं हो। फिर भी कितने सुन्दर हो! कितने शक्तिमान हो...!

गाना (कोरस)

जय शिव भय हर जय शिव निर्भय
कम्पित तुमसे मरुत मेघगण
वरुण इन्द्र यम केहरि वारण
अंग-अंग का नृत्य मनोहर
भरता शक्ति कौन-सी दुर्जय
जय शिव... ... ...
तुम मंगल साधक जनपद के
हुए अनार्य आर्य इस क्षण से
चलो नृत्य कर संग-संग हम
करें विजय पा नूतन गति लय
जय शिव... ... ...

GONG

नैरेटर—इसके बाद...आर्य पतितपावनी गंगा और यमुना के किनारे बस गये... मानव बस्तियाँ उठ खड़ी हुईं...खेती लहलहा उठी...तब शिव की काशीपुरी में...शिवरात्रि के दिन.....

[घण्टा घड़ियाल की आवाज़]

...बसंत, ऋतु-उत्सव मनाने के लिए...नागरिक एकत्र हुए.....

[शोरगुल। चहल-पहल की आवाज़]

कई लोग—शान्त, प्रजापति बोल रहे हैं।

प्रजापति—नागरिको, नटराज शिव इस उत्सव में पधार रहे हैं। हमारे श्रम से इस वर्ष खेती लहलहा उठी है। अनावृष्टि, पाले, ओले से भगवान ने हमारी रक्षा की है। देवता प्रसन्न हैं। और धरती माता ने सोना उगला है। सामने उन खेतों को देखो। मन्द-मन्द वायु से उनमें कैसी लहरें उठ रही हैं। गेहूँ और जौ की बालियों के दानों का मधुर दूध पक चला है, पीली सरसों मन में वासन्ती मादकता भर रही है। यह उल्लास और हर्ष का दिन है। हमारे श्रम की सफलता का दिन है। लेकिन...अभी काम पूरा नहीं हो गया...। राक्षसों के उपद्रव हो सकते हैं। आओ नटराज के नृत्य से हम अपने अन्दर वह शक्ति, वह उल्लास, वह लगन उत्पन्न कर लें कि राक्षस हमारे उत्साह को देखकर दहल

जायँ। फिर हम अदम्य साहस से कृषि की सम्पदा बटोरने के लिए अपनी-अपनी हँसिया पैनी कर तैयार रहें।

[दूर डमरू की आवाज़]

प्रजापति—नटराज शिव आ रहे हैं।

[डमरू की आवाज़ निकट आती जाती है]

पार्वती—देखो रमा, नटराज की छवि कैसी सुन्दर है।

रमा—पार्वती, नटराज के वेष को तुम सुन्दर कहती हो!

पार्वती—क्यों, उसमें क्या दोष है? शिर पर जटा, भाल में चन्द्राकार त्रिपुंड्र, कानों में कुण्डल, कमल नयन, अरुण अधर, गौर वर्ण, अहा, कैसा मोहक रूप है! आज मैं भी उनके साथ नृत्य करूँगी, रमा!

रमा—मति भ्रष्ट हुई है पार्वती? हृदय दान करने के लिए क्या तुम्हें और कोई नहीं मिला?

पार्वती—नटराज से श्रेष्ठ और कौन हो सकता है, रमा? उनके गौरव के आगे प्रजापति भी शीश झुकाते हैं।

[डमरू का स्वर निकट आता है, शिव नृत्य करने प्रवेश करते हैं]

प्रजापति के साथ सब—नटराज शिव की जय हो।

पार्वती—(उद्वेगपूर्वक) नटराज, यह गिरिकन्या आज आपके संग नृत्य करने की अभिलाष रखती है।

शिव—तथास्तु कल्याणि।

[नृत्य का रिकार्ड, साथ में डमरू, मृदंग आदि की आवाज़]

[नृत्य के साथ गीत। शिव और पार्वती नृत्य करते हैं और एकत्र नागरिक कोरस में पहली पंक्ति दुहरा कर भाग लेते हैं।]

पहले शिव-पार्वती फिर सब लोग—

लहराती कृषि झुक-झूम-झूम
बहती बयार लो बार-बार
तृण तरु पल्लव दल चूम-चूम
लहराती कृषि झुक झूम-झूम
श्रम की खेती है वह तैयार
काटेंगे सब मिल झूम-झूम
लहराती कृषि झुक-झूम-झूम
सब विघ्न टले, हैं देव सदय
सब मोद भरी यह धूम-धूम
लहराती कृषि झुक-झूम-झूम

[नृत्य जारी है। नृत्य का रेकार्ड।]

कुछ लोग—(भय से) राक्षस! राक्षस!!

प्रजापति—कौन गजासुर? हे भगवान, इस बलशाली राक्षस से रक्षा करो।

पार्वती—(चीखकर) नटराज रक्षा कीजिये ! रक्षा कीजिये ! राक्षस मुझे हरण करना चाहता है।

[बचाव के लिए इधर-उधर दौड़ती है। नटराज शिव अपने नृत्य में लीन हैं। उनका ध्यान भंग नहीं होता।]

जनपद का स्वर—प्रजापति, पार्वती की रक्षा कीजिये !

[पार्वती के चीखने की आवाज़]

प्रजापति—नटराज ! नटराज !!

[नटराज अपने नृत्य में तल्लीन हैं। डमरू का स्वर और भी ऊँचा हो जाता है]

गजासुर—आज तुम्हें कोई नहीं बचा सकता। तुम आज से मेरे साथ रमण करोगी व्यर्थ भागो मत।

[पीछा करते पावों की आवाज़]

पार्वती—[चीख कर गिरने की आवाज़] नटराज, मेरी रक्षा करो ! चरणों में आई इस दासी की टेर सुनो !

[नृत्य और डमरू बन्द हो जाता है]

शिव—गजासुर, तुझे अपने बल का इतना घमंड हो गया है ?

गजासुर—देह मटकानेवाले नट, मेरे बल की थाह लेने की शक्ति तुझमें नहीं है। ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र और वरुण भी मुझसे भय खाते हैं, तेरी क्या बिसात है ? पार्वती अब मेरी है, तू मौन रह।

शिव—घमंड का सर नीचा होता है गजासुर। ले मेरे त्रिशूल का वार झेल...।

[एक क्षण तक घमासान-सा होने की आवाज़। फिर गजासुर का चीत्कार कर गिरने की आवाज़।]

प्रजापति और सब—नटराज महादेव की जय हो !

पार्वती—नटराज, आपने मेरे शरीर और आत्मा की रक्षा की, यह आपको समर्पित है। स्वीकार कीजिये देव !

नटराज शिव—देवि, इस समय मैं क्रोध के आवेश में हूँ। हृदय के कोमल रागों के स्वर मन्द पड़े हैं। इस समय क्षमा करो, मैं जाता हूँ।

[जाते हुए पैरों की आवाज़]

पार्वती—(प्रेम और विरह से कातर होकर) प्राणनाथ, इस दासी को स्वीकार करो। ठहरो मैं भी आती हूँ।

[जाते हुए पैरों की आवाज़]

नैरेटर—पार्वती शिव के साथ चली गयीं...। इधर शिवजी के पराक्रम से आश्चर्य-चकित लोग सकपकाये-से खामोश खड़े देखते रह गये...। जिससे ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र वरुण भय खाते हों उस राक्षस को हरानेवाले नटराज में कौन-सी अलौकिक शक्ति है...? क्या नटराज शिव उनसे भी महान हैं...? वे यही सोचते रह गये...

GONG

[घण्टा घड़ियाल की आवाज़]

नैरेटर—नटराज शिव पार्वती के साथ कैलाश की ओर चले गये...फिर कभी वापस नहीं आये...और उसके हजारों वर्ष बाद...नटराज शिव त्रिदेवों में से एक देव बन गये...नटराज शिव को अनार्यों के प्रजनन का देवता मानकर लिंग महादेव की पूजा होने लगी...उनके नाम पर सहस्रों मन्दिर खड़े हो गये...सम्प्रदाय बने और...वैष्णव और शैवों में वाद-विवाद, संघर्ष शुरू हो गया......और तब...एक शिवरात्रि के दिन... मन्दिरों में...

[घण्टा घड़ियाल के साथ स्तुति हो रही है। कोरस]

ओम् नमः शम्भवाय च मयोभवाय च
नमः शंकराय च मयस्कराय च
नमः शिवाय च शिवतराय च

[भक्तों के जाने से पाँवों की आवाज़]

एक भक्त—महन्तजी सेवक की भेंट स्वीकार कीजिये।

महन्त—क्या लाया है पुत्र ?

भक्त—फल फूल, बेलपत्र, धतूरा और चन्दन। भगवान पर चढ़ाने की आज्ञा दीजिये। वाणिज्य को घाटा हो रहा है महात्मन् !

महन्त—(क्रोध से थाल फेंकने की आवाज़) मूर्ख, भोले बाबा इतने से प्रसन्न नहीं होते। गाँजा, चरस और दूधिया शिवबूटी के बिना जटाधारी शंकर की तृप्ति नहीं होती।

भक्त—(भय से काँपता हुआ) महात्मन, क्षमा कीजिये। पाँच सेर गाँजा, पाँच सेर चरस, और एक कुण्ड दूधिया शिवबूटी का आयोजन करके लाया हूँ, पिता।

महन्त—(प्रसन्न होकर) आनन्द करो वत्स। भगवान् शंकर तुम्हारी मनोकामना पूरी करेंगे।

[भक्त जाता है]

एक स्त्री—पिता !

महन्त—कौन है ?

स्त्री—सेठ कुबेरपति की भार्या। मेरे यहाँ इतना धन-भंडार भरा है, परन्तु मेरी गोद सूनी है, उसका उपभोग कौन करेगा ? पुत्र दान दीजिये महात्मन् ! भगवान सदाशिव तक मेरी प्रार्थना पहुँचा दीजिये।

महन्त—रमणी, काशीपुरी में भागीरथी के तट पर एक लक्ष पंचाक्षर मंत्र का जप होने पर तुम्हारी प्रार्थना पूरी होगी। एक लक्ष मुद्रा व्यय होगी। और तुम्हें नित्य तीन प्रहर रात्रि बीते यहाँ एकान्त में आकर एक मास तक शिवलिंग की उपासना करनी होगी।

स्त्री—मैं तैयार हूँ महात्मन्।

महन्त—तुम्हारा सौन्दर्य अक्षुण्ण रहे। गोद भरी-पूरी हो। नमःशिवाय, नमः शिवाय।

[भक्त जाते हैं, पाँवों की आवाज़]

एक पुरोहित—बूटी तैयार है महात्मन्। विलम्ब हो रहा है, चलिये प्रसाद पान कीजिये।।

[बर्तन में से भाँग ढालने की आवाज़। आप लीजिये, और छानिये का स्वर]

[कोरस]

बम बम भोला जय शिव शंकर
जय महादेव
गाँजा कंकर औ चरस भाँग
पावन प्रसाद
इनके सेवन से तर जाते हैं भवसागर पापी पामर
बम बम भोला जय शिवशंकर
जय महादेव
जय डमरूधर
सब विश्वनाथ की माया है
बम बम भोला जय शिवशंकर

[घंटा घड़ियाल की आवाज़]

नैरेटर—और दूसरी ओर सभाओं में...

[भीड़ एकत्र है। धीमा जनरव]

वैष्णव—सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप भगवान विष्णु और महादेव की तुलना कैसी? शंख, चक्र, गदा, पद्म, धारण करनेवाले विष्णु जगत्पालक हैं, वे सर्वोच्च देव हैं। भभूत रमाये, जटाजूटधारी, गले में मुंडमाल और व्याल लपेटे शिव के पास वह वैभव और गौरव कहाँ? दक्ष ने क्या यों ही तुम्हारे भूत, पिशाच, वैतालों के शिरोमणि को यज्ञ में नहीं बुलाया था और उनके नाम से आहुति नहीं दी थी? बोलो शैव आचार्य क्या कहते हो?

शैव—वैष्णव, देखता हूँ तुम मिथ्या प्रचार करने में निपुण हो गये हो। तुम्हें नहीं मालूम, सृष्टि निर्माण और संहार के भगवान शिव ने उन राक्षसों के गर्व चूर्ण किये हैं जिनके नाम से विष्णु थरथर काँप उठते थे। कामदेव विजयी शिव के त्रिपुर-वध का स्मरण है तुम्हें?

वैष्णव—भस्मासुर से शिव का त्राण किसने किया था?

शैव—(उत्तेजित होकर) जब-जब देवताओं पर संकट पड़ा है, तुम्हारे विष्णु ने मोहिनी स्त्री का रूप धारण कर कुचालें ही चली हैं, शिव की तरह कालकूट हलाहल का पान भी किया है उन्होंने?

[दोनों ओर से महादेव शंकर की जय और भगवान विष्णु की जय के नारों की एक साथ आवाज़।]

नैरेटर—और इधर फसल उगानेवाली उस जनता के यहाँ... जिसके श्रम संगठन में नटराज शिव की कला योग और आत्मबल देती थी...

पहला किसान—भैया, भैया, कल रात खेतों में पाला पड़ गया। गेहूँ और जौ के पौधे ठिठुर कर पीले पड़ जा रहे हैं।

दूसरा किसान—(निराश स्वर में) तो मै क्या करूँ ? सभी के खेतों पर पाला पड़ा है। गाँव के कुँए ग्रामपति के हैं। वह हमें क्यों सिंचाई करने देगा ? मेरे पास इतनी मुद्रायें कहाँ हैं ? प्यारे पौधे प्यासे ही मर जायँगे।

पहला किसान—भैया फिर क्या किया जाय ?

दूसरा किसान—भगवान पर भरोसा रखो। आज शिवरात्रि है। भगवान् शंकर का नाम जपो, वे ही रक्षा करेंगे।

स्त्री—भगवान क्या सिंचाई कर देंगे ? कहती तो हूँ तुम लोग अपने कुँए क्यों नहीं खोद लेते। ग्रामपति का मुँह देखते-देखते तो मेरा एक लाल भूख-प्यास से बीमार होकर चल बसा।

दूसरा किसान—चुप, चुप, तू बड़ी सिर चढ़ गई है। कोई ऐसा कहता है ? जा भीतर जा, भगवान् शंकर की मनौती मना।

GONG

नैरेटर—और आज फिर शिवरात्रि आई है... संसार में नये और पुराने के बीच जीवन मरण का संघर्ष छिड़ा है ... मनुष्य के तरल राग और भाव... अंधविश्वास और निराशा, स्वार्थ और शोषण की ताक़तें उन्हें पुराने की ओर खींचती हैं... आशा, ज्ञान और स्वतंत्रता, समानता की ताकतें उन्हें नये की ओर खींचती हैं... और दोनों की रस्सा-कशी जारी है... यह संघर्ष राजनीति, समाज, संस्कृति और भावनाओं में सभी जगह चल रहा है... और इन उथल-पुथल के दिनों में आज फिर शिवरात्रि आई है...

[घंटा घड़ियाल की आवाज़]

...शिवजी के भक्त सब काम-धाम भूलकर इस पुण्य त्योहार को मनाने में लगे हैं... एक ओर...

पहला पुरुष—अरे शिवदास, शिवबूटी तैयार हो गई ? किशमिश-केसर डाली है ?

दूसरा पुरुष—दूधिया ही छन रही है पंडाजी। केशर डाल दूँ ?

पहला पुरुष—हाँ रे, इतने बादाम से क्या होगा ? आध सेर तो डाल और देख बूटी भी गहरी पड़े, आज तो इसी का महातम है।

नैरेटर दूसरी तरफ मन्दिरों में... शिवजी के निर्गुण रूप की आराधना...

[घंटे घड़ियाल की आवाज़ धीमे-धीमे]

कोरस

नमामी शमीशान निर्वाणरूपं
विभुं व्यापकं ब्रह्म वेद स्वरूपं

अजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहं
चिदाकाशमाकाश वासं भजेहं

नैरेटर—लेकिन...दीन-हीनों की झोपड़ियों में बीमार पुत्र के आरोग्य के लिए एक या ऐसी अनेक माताएँ...

माँ—

रक्षा करो, देव शंकर, हे
तुम जीवन के स्वामी
। के अवलम्बन,
मेरा जीवन धन
आँखों का तारा
छीन रहा है काल
बचा लो उसे दयाधन
विश्वनाथ हे दयानिकेतन
घट—घट अन्तर्यामी

नैरेटर—और इन श्रद्धालु जनों से दूर किसी कालेज की गोष्ठी में भौतिकवादी प्रकाश धुँआधार भाषण दिये जा रहा है...

प्रकाश—नटराज शंकर का अपमान क्यों करते हो? इतिहास की सच्ची परम्पराओं पर पर्दा क्यों डालते हो? पुरातन आज हमारा दामन पकड़कर पीछे खींच रहा है और हमने एक मिथ्या सन्तोष पाने के लिए नटराज शिव से उनका मानवत्व छीनकर उनके गले में देवत्व की माला पहना रखी है। लेकिन यह खोखला देवत्व है। हमने कहानियाँ पढ़ी और सुनी हैं कि युगों-युगों पहले कभी शिव भगवान ने इस राक्षस को मारा, उस पापी का उद्धार किया, इस उपासक को वरदान दिया, उस दुष्कर्मी को शाप दिया। यदि यह सच भी हो तो उस समय शिव भगवान के कृत्यों का सामाजिक उपयोग था, और वे मनुष्य के सामाजिक जीवन में तब के लोक-कल्याण के आदर्शों के अनुसार हस्तक्षेप करते थे। लेकिन आज? आज के सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप करने का क्या कोई उदाहरण है? फिर खोखला देवत्व और अमरत्व देकर क्या हम शिवजी का अपमान नहीं करते? यह आराधना-उपासना क्या लोक-कल्याण-विरोधी मिथ्या-भावनाओं की जड़ें मजबूत करने के लिए ही नहीं हैं? उत्तर दीजिये।

[सुननेवालों में हलचल की लहर। जरूर है, जरूर है की आवाज। मेज पर घूँसा मारने की आवाज]

शिव हमारे पूर्वज मानव के एक नेता थे, एक महान् कलाकार थे, एक महान् पुरुष थे। और आज उनके इस रूप को छिपाकर उनकी सफलताओं से हमें वंचित रखा गया है।

[धिक्कार-धिक्कार की आवाजें।]

शिव एक कलाकार थे। ऐसे कलाकार जिनके नृत्यों में उस समय के मनुष्य के सामाजिक जीवन के प्रश्नों का भावात्मक समाधान हुआ था। जिनके नृत्यों ने मनुष्य की आत्मा को सामूहिक रूप से प्रकृति के अन्ध-प्रकोपों से संघर्ष करने का साहस प्रदान किया था, सामाजिक जीवन का संगठन किया था। और हमें शिव के सामाजिक नृत्य की इस

क्रान्तिकारी परम्परा को भुलाने के लिए सदियों से मजबूर किया गया है। क्या यह इतिहास की अवज्ञा नहीं है ?

[जरूर है, जरूर है की आवाजें]

आज उदयशंकर के ताण्डव-नृत्य में सामाजिक जीवन को संघर्ष के लिये प्रेरित करने की शक्ति क्यों नहीं है ? क्योंकि उसमें ऐतिहासिक महत्व को भुलाकर कला के पुराने रूपों का उद्धार किया गया है, पर इससे क्या होना है ? आज के सामाजिक जीवन के दूसरे ही प्रश्न हैं और इन नये प्रश्नों को दृष्टि में रखकर करने से ही शिव के ताण्डव का विकास हो सकता है। इसलिए अगर शिव का हमें सच्चा आदर करना है तो हमें शिव को जनपद के प्रथम कलाकार के रूप में, सामाजिक मनुष्य के रूप में अपनाना होगा, देवता और भगवान के रूप में नहीं।

[तालियाँ]

और उनके ताण्डव का नयी परिस्थितियों के अन्दर नया विकास करना होगा। हमारी अगली शिवरात्रियाँ नटराज शिव के प्रथम नृत्य की तिथि मनाने के उपलक्ष में होना चाहिये।

[तालियाँ]

नैरेटर—यह नये पुराने के संघर्ष का युग है...अन्धविश्वासों की जड़ें हिल रही हैं...चारों ओर खींचातानी है...नयी चेतना जन्म ले रही है...इस वर्ष की शिव-रात्रि इस संघर्ष के अन्तिम परिणाम को देखने के लिए आई है।

★

कविवर नरेन्द्र की कविता-धारा

●

[रामप्रताप त्रिवेदी]

हिन्दी के वर्तमान श्रेष्ठ कवियों में अभी नरेन्द्र को स्थान दिया जा सकता है, या नहीं, इसका निर्णय तो वे ही लोग करेंगे जिनके ऊपर स्थान निर्धारण का दायित्व है, अथवा साहित्यिक-समाज जिनकी बातों को मूल्यवान समझता है। संयोग कुछ ऐसा है कि न तो मैंने अभी किसी कवि या लेखक के विषय में कुछ कहकर इतनी प्रसिद्धि प्राप्त कर ली है कि जो कुछ कहूँ उससे पाठकवृन्द सद्यः प्रभावित हो जाँय और न ही नरेन्द्र की कविता पर अभी किसी उत्तरदायी आलोचक ने अपने कृपा-लोचन ही दिये हैं कि उनका मार्ग हिन्दी-पाठकों के सम्मुख कुछ निर्दिष्ट हो चला हो। तीसरी कठिनाई यह भी है कि जीवित कवियों—विशेषकर तरुण कवियों के विषय में जिनका अभी कविता-काल संक्रान्ति से गुजर रहा हो, या पूर्ण विकास पर न पहुँच पाया हो, कुछ कहना अनधिकार से रिक्त

नहीं ; बहुत सम्भव तथा स्वाभाविक है कि उनके विषय में जो कुछ भी निर्णय किया जाता है, वह या तो प्रचार के लिए या निन्दा के लिए, पर इन सब बातों से क्या ? नरेन्द्र जो कुछ हैं, जैसे कुछ हैं, इसे थोड़े ही दिनों में जो नहीं जानते वे जानेंगे, जो जानते हैं वे अपनी सहमति या विमति के लिए मेरे दृष्टिकोण की अवहेलना न करेंगे ; ऐसा मुझे विश्वास है।

नरेन्द्र की कविताओं के पहले दो प्रकाशन 'कर्णफूल' और 'शूलफूल' नाम से हिन्दीजगत् के सन्मुख आये थे ; पर बाद के प्रकाशन 'प्रभातफेरी' में उक्त दोनों की श्रेष्ठ रचनाएँ संगृहीत करके सदा सर्वदा के लिए वे बन्द कर दिये गये। सम्भवतः कवि को अपनी आदर्शगत उच्चता पर जिसे लेकर वह पहले-पहल हिन्दी में अवतीर्ण होना चाहता था, विशेष ध्यान था ; अथवा अपने भविष्य के उज्ज्वल विकास की तुलना में अतीत के वे चित्र कुछ धुँधले प्रतीत हुए होंगे। जो हो, पर 'प्रभातफेरी' के गानेवाले तरुण कवि नरेन्द्र के कलरव ने अपने प्रथम उत्थान में ही हिन्दी के तन्द्रित साहित्य-प्रेमियों को अपनी ओर विशेष आकर्षित किया। 'प्रभातफेरी' के प्रकाशन के पूर्व ही नरेन्द्रजी की कुछ कविताएँ विशेष प्रसिद्धि पा चुकी थीं और हिन्दी के वर्तमान तरुण कवियों की गणना में 'निराला', 'पंत', 'बच्चन' आदि के साथ-साथ नरेन्द्र भी कनिष्ठिका के रेखाचिह्नों में अधिरोहित होने लगे थे। विश्वविद्यालय के छात्र और छात्राओं तथा अन्य तरुण साहित्य-प्रेमियों ने नरेन्द्र को विशेष पसन्द किया। उसका एक विशेष कारण है और वह है नरेन्द्र की व्यक्तिनिष्ठ विशेषता। नरेन्द्र का मधुर एवं सरल व्यक्तित्व बिलकुल उनकी कविताओं की भाँति सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। अन्य तरुण कवियों की भाँति न तो नरेन्द्र में स्वयं न तो उनके 'कवि' में अहम्मन्यता की कोई छाप है, जिसे सुन या देखकर कोई आतंकित हो जाय और बहुत बड़ा या बहुत छोटा मानकर उधर देखना ही बन्द कर दे।

नरेन्द्र का कवि अपने यौवन के संधिद्वार से ही वेदना की मार्मिक पीड़ा से पीड़ित था ; सम्भवतः अब तक वह पीड़ा हृदय के एक कोने से रह-रह कर कभी झाँकी दे देती है और उसकी तड़पन बिलकुल बन्द नहीं हुई है। यह पीड़ा ऐसी-वैसी नहीं है कि लोगों को बनावटी मालूम हो और दुःखी न बना दे ; उसकी तड़पन के स्वरों में स्वाभाविकता का बल है और अनुभूति की शक्ति। चिन्तन और भावुकता से नरेन्द्र को अभी तक तर्क या निश्चय करने की विशेष फुर्सत नहीं मिल सकी थी, यही कारण था कि उनको इस संसार में कुछ प्रेम, स्नेह, नारी, सौन्दर्य आदि भ्रामक (?) पदार्थों के पर्यवेक्षण और यथार्थ निरूपण में अधिक समय लगा : कठिनाइयाँ भोगनी पड़ीं : कुछ धोका भी हुआ। पर युवक-सुलभ इस परिस्थिति का उन्होंने जैसा कटु या सत्य अनुभव किया वह सर्वसाधारण के लिए था। यह भी एक कारण है कि उनके कवि का क्षेत्र या स्तर तरुणों के जीवन के साथ-साथ चलता है। और सहानुगामिता के इस सुन्दर चित्रकार के चित्रों के प्रति उनके वयस्कों की ममता है। पंत की उच्च सौन्दर्यानुभूति और रहस्यात्मकता तथा 'निराला' की दार्शनिक पृष्ठभूमि से ऊबनेवाले पाठक नरेन्द्र को अपने जीवन के साथ-साथ विचरते देखकर विशेष प्रभावित होते हैं। नरेन्द्र को समय एवं स्वदेश की

आवश्यकताओं का भी विशेष ध्यान था और इसका प्रभाव बाद में चलकर इतना घना हो गया कि रवि-किरणों की दुर्गमता में विचरनेवाले कवि के स्वरों को सुनकर ब्रिटिश सिंह भी भयभीत हो गया और उसे अराजकवादी समझकर नज़रबन्द करने की आज्ञा देने लगा। जो हो; पर हम तो इस सामयिक और दैशिक प्रभाव को भी कवि की पीड़ा का प्रभाव मानेंगे। उसके विशाल हृदयांगण में निर्जीवों से लेकर सजीवों तक की विवशताओं के प्रति ममत्व है, सहानुभूति है, और यथाशक्य उसे दूर करने की अन्तरप्रेरणा भी जागरूक है। अपनी 'प्रभातफेरी' का प्रथम गान वह नतशिरबन्दी को सम्बोधित करके सुनाता है और प्रोत्साहित करता है कि

> आओ हथकड़ियाँ तड़का दूँ, जागो रे नतशिरबन्दी!
> उन निर्जीव शून्य श्वासों में आज फूँक दूँ लो नव-जीवन,
> भर दूँ उनमें तूफानों का, अगणित भूचालों का कम्पन।
> प्रलयवाहिनी हों, स्वतंत्र हों, तेरी ये साँसें बन्दी!

नरेन्द्र एकाकी होने पर भी स्वयं निराशावादी नहीं हैं। निराशा के घने अन्धकार में जब जीवन का पथ कुछेक क्षण के लिए तमसावृत हो जाता है तो अन्य तरुण कवियों की भाँति उनमें अकर्मण्यता को आत्मसमर्पण करने की धुन नहीं सवार होती। निरीह विवशता में भी उन्हें शंका या भय जैसे कायरोचित विभूषणों का स्मरण कभी नहीं आता। उसमें भी गति ढूँढ़ लेने के वह व्यसनी हैं। वह कहते हैं

> दिग्मण्डल थर थर भय कातर,
> लहरों पर फेनों के पहाड़, वे उसे निगलने को धाईं,
> अगणित भीषण मुख फाड़-फाड़, पर भय कैसा चिन्ता कैसी।
> डर से डरता है कौन धीर!

जीवन की अगाध यमुना में उसका तैराक कूदकर जो कुछ करता है ज़रा उसे भी तो सुनिये—

> आतीं लहरें मुख फाड़-फाड़
> करने वक्षस्थल पर प्रहार
> वह बढ़ता अंक मिलन करने
> हँसमुख निर्भय बाँहें पसार,
> टकराकर लौट लौट जाता, भयभीत विजित-सा सरित नीर।

और भी, कवि को असफलताओं से सफलता की विशेष प्रेरणा मिलती है; सच्ची पहचान मिलती है। सच्ची लगन एवं धुन की उसकी एक अपनी परिभाषा है। देखिये उसमें कितना तत्व है:

> हो गई किसी को यदि विरक्ति,
> फूलों के कुम्हला जाने से,
> तो जीवन के मधुमय फल से
> उसको सच्ची आसक्ति न थी।

वैराग्य हुआ यदि प्रेमी को
बुझ गया लगन का दीपक यदि,
निश्चय भर्त्तृहरि की भाँति उसे
प्रियतम से सच्ची भक्ति न थी।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, नरेन्द्र में पीड़ा एवं वेदना की अनुभूति अविरल है। अपने कवि-जीवन के स्वर्णिम प्रभात में उसने जो प्रेम भरे गीत गाये थे, वे आज के नवीन गीतों के सम्मुख कुछ भिन्न से अवश्य हो गये हैं, उसका कारण है, कवि का जीवन बदला, क्षेत्र भी बदल गया है, विचारों की प्रौढ़ि में अनुभव एवं पर्यवेक्षण का मापदण्ड भी बदल गया है, एक समय था जब वह भी :

खोलो, अवगुण्ठन खोलो।
प्यासे नयन भ्रमर से व्याकुल, कमलनयनि दर्शन को आकुल,
अधर अधीर मधुर चुम्बन को, श्रवण तृषित कोकिल कूजन को,

कहकर अपना उद्‌गार प्रकट किया करता था। सौन्दर्य और प्रेम सरलता और स्नेह की चाह में वह वस्तु-जगत् का दर्शन करता था। प्रेम की मधुवेला की उस भी कभी इच्छा होती थी; पर आज उसे यह मालूम हो गया कि इस एकाकी जीवन का साथी कोई नहीं। अपने एकाकी मन से वह कहता है :—

इस धूप छाँह की दुनिया में
मन, सदा अकेली ही घूमो!
घूमो चाहे जंगल जंगल,
चाहे उड़ तारों को चूमो!

आगे चलकर वह उसे समझाता है

बस एक बात लो गाँठ बाँध
जिससे न कभी फिर हाथ मलो,
वह याद रही तो छुट्टी है
फिर चाहो जो रस्ता पकड़ो!

वह क्या?

तुम भूल न जाना दुनिया में
है सदा अकेली ही रहना।
एकाकीपन को सह न सको,
फिर भी एकाकी है रहना!

अपने तरल मन को सम्बोधित करके वह कहता है कि :

अब पत्थर बन जा, मन मेरे!—
जिससे तुझको घन और हथौड़ा तोड़े!
खन खन का लगना, जी दुखना छूटे,
तू भी अपना रोना धोना छोड़े!

इस प्रकार नरेन्द्र को अपनी इस कमज़ोरी का पता जिसे वे 'मिट्टी और फूल' में आकर छोड़ना चाहते थे बहुत पहले भी था, और उसे वे कमज़ोरी मानकर भी 'पलाश-

वन' तक अपने से एकदम अलग नहीं कर सके। जीवन-सरिता की रंगीन तरंगें विक्षुब्ध मानस से उठकर कभी इस किनारे कभी उस किनारे सन्तोष एवं आनन्द की लालसा में और शान्ति की भूख में लहराती हुई आती हैं और निर्मम कूलों से ठोकरें खाकर लौट जाती हैं! कवि वहाँ विषण्ण हो उठता है, क्षुब्ध हो उठता है। उन कूलों को परख भी लेता है; पर तरंगों के हृदयंगम अस्थिरता के कारण शान्त नहीं कर पाता। थोड़ी दूर तक हृदय के निराश होने पर उत्पन्न होनेवाली क्षणिक शान्ति पुन: अशान्ति में परिणत हो जाती है। तरंगें पुन: उत्पन्न होकर गतिशील हो जाती हैं और फिर वही व्यापार चलता है। इसका एक कारण है और वह है यौवन बेला की मधुमयी बरसात। सरिता कोई भी हो, मुक्तिप्रदायिनी सुरसरी हो अथवा उभयलोक विनष्टकारिणी कर्मनाशा: पर दोनों का जल बरसात में आविल होगा। धार में तरंगें होंगी। पर इसमें क्या? कोई भी नवयुवक चाहे वह कवि हो या कुछ और, यौवन की इन अनिवार्य मन:स्थितियों से प्रयत्न करने पर भी वह परे नहीं हो सकता। समय एवं विवेकातिशय्य ही इस सामयिक प्रभाव को बन्द कर सकते हैं। यही कारण है कि 'प्रवासी के गीत' से ही प्रगति की ओर अपना गन्तव्य निश्चित करनेवाला कवि 'पलाशवन' में पहुँचकर भी पूर्ण प्रगतिवादी नहीं है। पर मेरे इस कथन का यह तात्पर्य नहीं कि अब भी उसकी वही गति-विधि है जो 'प्रभातफेरी' के गान के समय थी। नहीं, आज कवि में अपनी उस कमजोरी और विचारधारा का पूर्वज्ञान ही नहीं प्रत्युत उनके परिवर्तन का भाव भी जागरूक हो उठा है, और परिकरबद्ध होकर अपनी दिशा बदलने की ओर चल खड़ा हुआ है। पर इस दिशा परिवर्तन की भावना का विशद एवं प्रशस्त रूप हम 'पलाशवन' से पूर्व नहीं मान सकते। यह अन्य बात है कि उसमें उस समय अपनी स्थिति एवं दिशा के प्रति जागर्ति की भावना अवश्य उत्पन्न हो गई थी, उस समय भी उसे यह पता था कि—

'अगम नभ-सा मार्ग मेरा, शून्य नभ-सा मार्ग मेरा।
हृदय खंडित इन्दु-सा है
इन्दु पागल इन्दु चंचल इन्दु-सा है,
सदा घटता और बढ़ता,
प्रिय उसे जग की तरलता।
चेतना की प्यास लेकर
सदा चल जल पर मचलता!

जग की तरलता पर अब भी (पलाशवन में) उसका दिल मचल उठता है। क्यों न मचले! मानव जो है: तरुण जो है: ईमानदार और सरल जो है, वह बार-बार ठोकरें खाने पर इस स्वार्थी जग को भलीभाँति पहचान जाने पर भी छोड़ नहीं पाता, निश्चय बनाकर भी अपना हुए को एकाएक ओझल नहीं कर पाता, आगे चलकर उसी गीत में वह स्वयं स्वीकार करता है:

नित-अनिश्चित घूमती-फिरती नदी-सा मार्ग मेरा!

भूमि की उतराई और चढ़ाई में सरिता भले ही उत्तर से दक्षिण या पूर्व से पश्चिम

घूम ले ; पर जाना है उसे अपने गन्तव्य समुद्र में ही। इसी प्रकार प्रगति पथ का पुजारी कवि अब सचेष्ट है, पहले भी था। उसे ज्ञान है कि मैं क्या हूँ, संसार क्या और कैसा है, और मुझे कहाँ चलना चाहिये। अपने संतप्त मन को विदिशा की ओर मोड़ता हुआ वह समझाता है :

चींटी की आँखों से देखी,
तुमने महाप्रलय जल-कण में
की अनन्त की विशद कल्पना
तुमने अचिर क्षुद्रतर क्षण में
महाशून्य में ताक रहे थे, था सब कुछ संचित इस भू पर।

उसने अब तक अपने उस लक्ष्य को जो महाशून्य में बिल्कुल आकाश की नीलिमा की भाँति प्रतिभासित हो रहा था, उतना नहीं पहचान पाया था, जितना अब। उसे जगत का वास्तविक बोध हुआ है। अपने पूर्वकृत पर आँखें फेरकर वह कहता है :

उठो मुक्तिपथ के अनुगामी,
अब न कभी पीछे पग धरना,
मन अब सोच फिकर मत करना,
जीवन को निर्धन न समझना!

इतने दिनों तक किसी को अपना सर्वस्व देकर प्रतिदान की आशा में वह समझे बैठा था कि उसे भी किसी का सर्वस्व मिला है। पर एकाएक उसके छिन जाने पर अपने वंचित होने का उसे बोध होता है:—

'जिसने दिया लिया भी उसने,
मन, तुमको क्यों पीड़ा होती!
टिकता भी कितने दिन प्यारे,
ममता का वह मोमी मोती!'

नरेन्द्र की एक असामान्य विशेषता है उनके हृदय की सरलता और निश्छलता। स संसार में उत्पन्न होकर भी अपनी की भाँति सब में वे इस विशेषता को देखते थे, देखना भी चाहते थे। मत्सर एवं दुराव से उन्हें घृणा थी ; पर नियति की कठोर प्रवंचना और निर्मम ईर्ष्या ने उन्हें कभी इस सरलता और निश्छलता के व्यापार में लाभ नहीं होने दिया, सर्वत्र निराशा एवं असफलता ही, उन्हें मिली। जिसके लिए वे अपना सर्वस्व खोले तैयार थे, उसने उधर दृष्टि देकर भी मुख मोड़ लिया। पर कवि अब इन प्रवंचनाओं को समझने लगा है। उसके सरल हृदयाङ्गण में अब इस प्रवंचना के कटु या सत्य अनुभव के पदचाप अंकित हैं ; सम्भवतः हृदय की वेगवती तरलता अब पुनः उसे न धो सकेगी। संसार में सुख-दुःख, सरल-कुटिल और भले-बुरे को समझने की शक्ति उसके सीधे मन ने अनुभूतियों के सहारे से पा लिया है। उसे अब यह भली-भाँति विदित हो गया है कि :

सब खेल खतम हो जायेगा, है कुछ ही दिन की बात और
मैं जिसका मन रखता आया, अब रूठ गया मुझसे वह मन,
सब कुछ सहता आया जिसके कारण, वह अब गया जीवन,
पर कुछ ही दिन का नाता है, है कुछ ही दिन की बात और।

स्वार्थी संसार में उसने पहले यह जाना था कि बिछुड़ा हुआ साथी फिर से मिल जायेगा। दिन और रात : रात और दिन के क्रमिक परिवर्तन को देखकर ही उसने यह तर्क किया था, पर बाद में चलकर उसे जो अनुभव हुआ, उसे सुनिये :

फिर फिर रात और दिन आते फिर फिर आता सांझ सवेरा
मैंने भी चाहा फिर आये, बिछुड़ा जीवन साथी मेरा
पर मेरे जीवन का साथी छूट गया सो छूट गया।

... ...

कच्चे धागे-सा सुख सपना टूट गया सो टूट गया।

इसी प्रकार नरेन्द्र के काव्य में उनके व्यक्तिगत जीवन का उभार स्पष्ट हो जाता है, और अपनी निजी बातों के कहने में उन्हें सङ्कोच भी नहीं होता। 'प्रवासी के गीत' अधिकतर उसके वियोग के गीत हैं ; पर उसका सम्बन्ध मानव-जीवन की शिराओं तक से सम्बन्धित है। युग की पीड़ा का भी नरेन्द्र के कवि में विशेष प्रभाव है इसे हम पहले ही कह चुके हैं, यही कारण है कि वह अपने प्रभातकाल से ही प्रगति की ओर अग्रसर हुआ। वह यह पहले ही से जानता था कि यह उसका 'संक्रान्ति कालीन जीवन शाश्वत नहीं केवल सामयिक है।' उसे अपनी रक्षा के लिए सामाजिक और राजनीतिक प्रगति के साथ चलना होगा। दोनों क्षेत्रों में उसे क्रान्ति उपस्थित करने के लिए पूरे मनोयोग के साथ सहयोग दान करना होगा। उसकी प्रारम्भिक रचनाओं में जैसे 'विज्ञान', 'रूढ़िवाद', 'इतिहास', 'बबूल', 'वेश्या' और 'पापी' आदि में उसका समाज के प्रति क्रान्तिदर्शी दृष्टिकोण स्पष्ट है, उन सबों में जीवन के प्रति एक भिन्न भावना पाई जाती है। कवि का भविष्यमाण रूप उनकी पंक्तियों में बहुत कुछ भासित हो उठता है। इसी प्रकार राजनीति के क्षेत्र में क्रान्ति की प्रेरणा उसमें कवि-जीवन के पूर्व से ही थी, पर उसका रूप 'प्रभातफेरी' के समय में उतना स्वस्थ एवं विशद नहीं था, कारण यह कि तब वह यौवन के द्वार से प्रवेश कर रहा था, जब आँखों की ज्योति में रंगों का मूल्य अधिक होता है। तब उसके दृष्टिकोण उतने परिपक्व नहीं थे जितने आज। वह स्वयं अपनी इस भूल को स्वीकार करता है। नारी का विगत रूप अपने हृदय-पट्ट पर से जिसे अनेक संकटों, कठिनाइयों के बावजूद भी वह अंकित कर लेने के बाद हटा नहीं पाया था अब उसे छोड़ता है :

'बाहुओं के प्रतनु दो पतवार अब मैं छोड़ता हूँ !
छोड़ता हूँ तट, तरी मझधार में अब छोड़ता हूँ !
आज मैं मुँह मोड़ता हूँ प्रेम की अलकापुरी से !
केश आसों की सुरभि दृग-देश श्यामल छोड़ता हूँ !

... ...

पौ फटी फटती यवनिका मोहमाया यामिनी की।
फटी मेरी राह मन से हटी मूरत कामिनी की
प्रगति पथ पर किरण छिटकाती चली अब मुक्तिहासिनि
वह नहीं-पर्यंक, प्रिय की अंक की जो शायिनी थी!

आज तक तुम फूल, तितली गीति थी—वह छोड़ता हूँ।
प्रीति कवि कृति प्रेयसी की प्रीति थी—वह छोड़ता हूँ।
विश्व मधु का कुण्ड था, मन तरी थे पतवार भुजद्वय,
सुनो नारी निरादर की रीति थी—वह छोड़ता हूँ!

नारी के प्रति नरेन्द्र के ये दृष्टिकोण कितने प्रशस्त हैं, इसे कोई भी स्वीकार कर सकता है (?)। उसके इस अभिनय संकल्प से उसके उज्ज्वल भविष्य एवं स्वस्थ भावधारा का भलीभाँति अनुमान लगाया जा सकता है। अपनी पुरानी चिन्ताधारा को बदलता हुआ वह कह रहा है कि सारे संसार का प्रलोभन, सारे लोभों का आकर्षण और सारी प्रबल शक्तियों का बन्धन अब मेरी इस अभिनव धारा को विशृंखलित नहीं कर सकता, रोक भी नहीं सकता। वह अपने गन्तव्य को अब सीधी जायगी और पहुँचकर ही रहेगी।

छोड़ मेरी हृदयकारा बह चली यह मुक्त धारा।
मैं स्वयं पथ रोक हारा, रोक हारा लोभ मारा।
सब दिशा हँस हँस बुलातीं, बुलातीं नभ बीच तारा।
किन्तु पीछे छोड़ सबको, बह चली यह मुक्त धारा,
ध्येय अब तो और ही कुछ, गेय अब तो और ही कुछ,
मत बुलाओ पास कोई, प्रेय अब तो और ही कुछ।
अंक में भरने अवनि नभ, बढ़ी मेरी मुक्त धारा!

नरेन्द्र के इस अभिनव दृष्टिकोण एवं भावधारा की परिवर्तित दिशा से निश्चय उसका उद्देश्य सफल और सुफल होगा, जिससे साहित्य और समाज दोनों का लाभ है।

नरेन्द्र में कवियों के कई अच्छे गुण जो विरले ही मिलते हैं; पाये जाते हैं। भाषा पर उनका कुछ असाधारण-सा अधिकार है। गद्य एवं पद्य दोनों उनके एक दूसरे की प्रतिद्वन्द्विता में खरे उतरेंगे। माधुर्य एवं ओज की पूँजी के लिए उन्हें आयास नहीं करना पड़ता। कल्पना की सूक्ष्मता एवं रंगीनी, भावनाओं की बंकिमा एवं माधुर्य भी उनमें पर्याप्त है। उनकी अनुभूतियाँ—विशेषकर दुःख की, बड़ी ही स्वाभाविक एवं प्रभावोत्पादिनी हैं। उनके ऊपर केवल मनोरम शब्दों के विचित्र आवरण ही नहीं होते; प्रत्युत सजीवता भी साँसें लेती है, करवटें बदलती रहती है।

हिन्दी को अपने इस तरुण पुत्र से बड़ी आशाएँ पूर्ण होंगी।

★

कफ़न

●

[रशीद जहाँ]

[प्रेमचन्दजी की कहानी 'कफ़न' का यह नाटक मैंने विद्यार्थी-संघ की 'कल्चरल कान्फ्रेंस' के लिए लिखा था। इसमें कोई ख्याल अपनी तरफ़ से नहीं बढ़ाया, और न घटाया। जहाँ-जहाँ कहानी में बातचीत थी वह ज्यों की त्यों रहने देने की कोशिश की, और जहाँ कहीं प्रेमचंदजी ने बयान की सूरत दे दी थी, उसको मैंने नाटक की सूरत दे दी। यह नाटक ९ फरवरी १९४२ को लखनऊ में विद्यार्थी-संघ की 'कल्चरल कान्फ्रेन्स' में खेला गया। यह पूरा नाटक जिसके तीन सीन हैं खुले रंगमंच पर (Open air theatre) खेला गया था। यानी एक आदमी आकर स्टेज पर अलाव रख गया। फिर दोनों चमार आकर अपनी-अपनी जगह पर बैठ गये और अपना पार्ट अदा करने लगे। जब वह अपना पार्ट कर चुके तो चले गये। और स्टेज ठीक करनेवाला आदमी एक कुरसी लाकर रख गया और अलाव उठाकर ले गया। जब जमींदार अपना पार्ट करके चला गया तो वही आदमी कुरसी उठाकर ले गया।

—लेखिका]

[पहला दृश्य]

[गाँव से बाहर एक चमार की टूटी कोठरी के सामने अलाव है। घीसू चमार और उसका लड़का माधो वहाँ पर बैठे चिलम पी रहे हैं और आलू भून-भून कर खा रहे हैं। एक औरत के दर्द से चीखने की आवाज़ कोठरी के अन्दर से आती है]

घीसू—जा! जाकर बहूको देख। सारा दिन चीखते तड़पते गुजर गया, जा। उठ।

माधो—जाकर क्या करूँ? क्या मेरे पास जादू रखा है, जो जाकर उसको अच्छा कर दूँ? कल्लू की मा की बड़ी खुसामद की। वह चार आने माँगती है।

घीसू—चार आने कहाँ से आये? बड़े जुल्मी हैं ये लोग। अब मेहतरानियों को भी सान लगी है। ला आलू। इधर दे।

माधो—तुमने बहुत खाया है दादा। मेरे लिए भी कुछ छोड़ोगे?

घीसू—चल बे। किसने स्यामू को बातों में लगाया था?

माधो—मैं तो वैसे ही खोद लाता। सुबह उठकर स्यामू ने बहुत गाली-गलौज दी होगी। आधा खेत उखाड़ लाया था।

घीसू—तू इसे आधा खेत कहता है! दो दिन भी तो ना चले आलू।

माधो—चलें भी तो कैसे चलें, तुम खाते भी तो अनगिनत हो।

[दर्द से चीखने की आवाज़]

घीसू—जा बे, उठ न देख। तेरी जोरू दरद में चीख रही है, तू बैठा यहाँ आलू

खा रहा है ! इस बहू ने बड़ा सुख दिया। साल भर से घर में आई, एक दिन भी भूखे न रहे। कहीं न कहीं मेहनत मजूरी से सबका पेट ही पाला। और तू जवान आदमी किसी काम का नहीं। पड़ा ऐंडा करता है।

माधो—दादा, काम तो तुमने भी कभी नहीं किया ?

घीसू—नहीं किया तो क्या हुआ ? हम तो हमेसा गाँव के खेतों से पेट पालते रहे। यह साले तो जब सारा दिन मेहनत करो तो सेर भर नाज दिखलाते हैं। और जो बगैर मेहनत के इन सालों के खेत उजाड़ने को मिल जायँ तो क्यों हम मेहनत करें ?

[एक और चीख]

माधो—तो दादा, हम भी तो तुम्हारे ही लड़के हैं। हम क्यों दो पैसे की मजूरी करें ?

घीसू—बनिया हरामजादा भी अब करज नहीं देता। देगा एक रुपया तो लिखेगा दस रुपया। आज सामको मैं गया था, साले ने साफ मना कर दिया।

माधो—कल्लू की मा भी नहीं आई।

घीसू—अरे कोई आए तो कहाँ से। कुछ पैसे दो पैसे की उम्मीद हो तो कोई आए भी।

[चीख]

घीसू—जा बे ! जाता क्यों नहीं ? वह तो मर रही है, तू यहाँ मजे में बैठा है !

माधो—देखकर क्या करूं ? जो मरना होगा मर जायगी।

घीसू—तू बड़ा बेदर्द है, पापी। साल भर जिस औरत के साथ जिन्दगानी का सुख भोगा उसके साथ इतनी बेवफाई ?

माधो—मुझसे उसका तड़पना नहीं देखा जाता, ऐसे हाथ पाँव पटकती है।

घीसू—(गर्म आलू छीलते हुए और गर्म आलू मुँह में रखकर) जा, जाकर देख तो ले, पानी ही माँगती हो। उस पर चुड़ैल की फिसाद होगा। यहाँ तो सयाना भी एक रुपया माँगता है।

माधो—मैं ना जाता, मुझे तो डर लगता है।

घीसू—डर किस बात का, मैं तो यहाँ हूँ ही।

माधो—तो तुम ही जाकर देख लो दादा !

घीसू—मेरी औरत जब मरी थी तो मैं तीन दिन उसके पास से हिला भी नहीं था। और वह मुझसे लजायगी कि नहीं। कभी उसका मुँह नहीं देखा, आज उसका अकड़ा हुआ बदन देखूँ ? उसे तन की सुध भी तो ना होगी। मुझे देख लेगी तो खुलकर हाथ पाँव भी तो ना पटक सकेगी।

माधो—जो कोई बाल-बच्चा हो गया तो क्या होगा दादा ? सोंठ, गुड़, तेल कुछ भी तो नहीं है घर में।

घीसू—सब कुछ आ जायगा, भगवान बच्चा तो दे। और बहू के हाथ-पाँव

छुटाए। देख लीजियो जो अभी एक पैसा नहीं दे रहे हैं वही तब बुलाकर देंगे। मेरे नौ लड़के हुए, घर में कुछ नहीं था। इसी तरह काम चल गया।

माधो—जो दादा किसी ने ना दिया ?

घीसू—ऐ देख लीजियो जो बच्चा हो गया तो कल ही बनिये की बीबी अपने लल्लू का पुराना कुरता लाकर देगी और ठकुरायन जो आज घर में घुसने नहीं देती गुड़ और तेल दे जायगी। अरे हमारी उमर साठ बरस की है, हम इन सबको जानते हैं। आज दो गाली देते हैं, कल चार दे लेंगे। गाली से हमारा क्या बिगड़ता है। गाली हम वैसे भी खाते हैं, तो क्यों गाली भी खायें और साथ ही मजूरी भी करें। लेकिन भइया पहले बहू के बच्चा भी तो हो। बाकी का इन्तजाम तो सब भगवान कर देंगे।

[आलू खाते रहते हैं]

घीसू—यह आलू खाते-खाते तो मन भर गया। अरे माधो वह भोज नहीं भूलता। कोई बीस बरस की बात है ठाकुर की सादी थी। तब से इस किसम का खाना और पेट भर नहीं मिला। लड़कीवालों ने सबको पूरियाँ खिलाई थीं ! सबको ! छोटे-बड़े सबने पूरियाँ खाईं और असली घी थी। चटनी। रायता। तीन तरह के सूखे साग। एक रसेदार तरकारी। दही। मिठाई। अब क्या बतलावें उस भोज में कितना सुवाद मिला। कोई रोक नहीं थी, जो चीज चाहो माँगो, और जितना चाहे खाओ। लोगों ने ऐसा खाया, ऐसा खाया कि किसी से पानी ना पिया गया। मगर परोसनेवाले भी अच्छे थे। सामने गरम-गरम महँकती हुई पूरियाँ डालते जाते हैं। मना करते हैं कि बस नहीं चाहिए, पत्तल को हाथ से रोके हुए हैं, मगर वह हैं कि अड़े जाते हैं। और जब सबने कुल्लाकर लिया तो एक बीड़ा पान भी मिला। मगर मुझे पान लेने की सुध कहाँ थी। खड़ा भी नहीं हुआ जाता था, चटपट जाकर अपने कम्बल पर लेट रहा। ऐसा फैयाज था वह ठाकुर।

माधो—अब हमें कोई ऐसा भोज खिलाता !

घीसू—अब कोई क्या खिलायेगा। वह जमाना दूसरा था। अब तो सबको किफायत सूझती है। सादी बियाह में मत खरच करो। किरिया-करम में मत खरच करो। पूछो गरीबों का माल बटोर-बटोर कर कहाँ रखोगे। मगर बटोरने में तो कमी नहीं है, हाँ खरच में किफायत सूझती है।

माधो—तुमने बीस पूरियाँ तो खाई होंगी दादा ?

घीसू—बीस से ज्यादा खाई थीं।

माधो—जो मैं होता तो पचास खाता।

घीसू—पचास से कम तो मैंने भी ना खाई होंगी। अच्छा पट्ठा था। तू तो उसका आधा भी नहीं है।

माधो—(माधो अँगड़ाई लेकर लेट जाता है) तो दादा ऐसा भोज...

[घीसू चिलम पीता रहा और फिर लेट गया]

(दूसरे दिन सुबह)

माधो—उठो दादा, उठो सबेरा हो गया !

घीसू—(घबराकर उठ बैठता है) बहू कैसी है ?

माधो—मैं तो अभी अन्दर गया नहीं।

घीसू—जा अब तो जाकर देख। अब डर काहे का है अब तो सबेरा है।

[माधो उठता है, कम्बल ओढ़कर अन्दर जाता है और वहीं से चीख-चीखकर रोना शुरू कर देता है।]

माधो—हाय रे दादा, बहू मर गई !

[दोनों बहुत चीखते हैं। एक दो पास-पड़ौसी आ जाते हैं]

घीसू—हे राम क्या करूँ ? घर में कौड़ी नहीं। बहू का कफन कहाँ से लाऊँ। लकड़ी जलाने को कहाँ से लाऊँ।

[माधो बैठकर रोता है]

घीसू—[बिसूरते हुए] तू यहीं बैठ मैं जमींदार के घर जाता हूँ। कफन के लिए कुछ माँगने !

[आँसू पोंछता हुआ चल देता है]

माधो—दादा, ठहरो मैं भी चलता हूँ।

[घीसू कुण्डी लगाने को कोठरी में जाता है]

(दूसरा दृश्य)

[जमींदार का घर। कुरसी पर जमींदार बैठा है। नीचे मुंशी बैठा है। घीसू के रोने की आवाज़ आती है।]

घीसू—दुहाई है सरकार की ! दुहाई है सरकार की !

जमींदार—मुंशीजी, यह कौन है ?

मुंशी—मालूम नहीं हजूर ! बुला लूँ सरकार ?

[जमींदार सिर हिला देता है]

मुंशी—इधर आ बे, वहाँ क्यों शोर मचा रहा है ?

[घीसू घुसते ही सिर जमीन पर टेक देता है। माधो हाथ बाँधकर खड़ा रहता है]

जमींदार—अच्छा तू है बे घीसू, रोता क्यों है ? अब तो सूरत ही नज़र नहीं आती। ऐसा मालूम होता है तुम इस गाँव में रहना नहीं चाहते। न तुझ पर मार का असर न प्यार का। चोर कहीं का। सारा गाँव बेगार करे और तू गायब रहता है ! अब आया है शोर मचाता हुआ।

घीसू—(सर जमीन पर से उठाकर) सरकार बड़ी बिपत में हूँ। माधो की घरवाली रात गुजर गई। दिन भर तड़पती रही सरकार। आधी रात तक हम दोनों उसके

सरहाने बैठे रहे। दवा-दारू जो कुछ हो सका, सब किया। पर वह हमें दगा दे गई। अब कोई रोटी देनेवाला भी नहीं रहा। मालिक, हम तो तबाह हो गये। घर उजड़ गया। आपका गुलाम हूँ। अब आपके सिवा मिट्टी को कौन पार लगायेगा।

जमींदार—चल दूर हो यहाँ से। लाश घर में गले या सड़े। यूँ तो बुलाने से भी नहीं आता। आज जब गरज़ पड़ी तो आकर खुशामद कर रहा है, हरामखोर कहीं का। बदमाश !

घीसू—मालिक अब कहाँ जाऊँ ? हमारे हाथ में जो कुछ था वह सब दवादारू में उठा दिया। सरकार ही की दया होगी तो उसकी मिट्टी उठेगी। अब आपके सिवाय और किसके द्वार पर जाऊँ ?

जमींदार—चल दूर हो यहाँ से ! (दो रुपया निकालकर फेंकता है, और घीसू उठाकर चल देता है।)

[तीसरा दृश्य]

(बाज़ार)

घीसू—बाज़ार गाँव से कितनी दूर है माधो ?

माधो—हाँ दादा।

घीसू—जमींदार साहब ने जो दो रुपये दिये तो औरों ने भी थोड़ा-थोड़ा दिया। पाँच रुपये जमा हो गये। और लकड़ी तो गाँववालों ने जमा कर दी है। जलाने भर को तो मिल ही गई है। क्यों माधो ?

माधो—हाँ, लकड़ी तो बहुत है, अब कफन चाहिए।

घीसू—तो कोई हलका-सा कफन लेलें।

माधो—हाँ दादा और क्या। मिट्टी उठते-उठते रात हो जायगी। रात को कफन कौन देखता है ?

घीसू—कैसा बुरा रिवाज है कि जीते जी तो तन ढाँकने को कपड़ा ना मिले, उसे मरने पर नया कफन चाहिए।

माधो—कफन तो लाश के साथ जल ही तो जाता है।

घीसू—और क्या ? क्या रखा रहता है ? यही पाँच रुपये पहले मिल जाते तो कुछ दवादारु ना करते।

माधो—दादा, अब तो बहुत देर हो गई। बजार में घूमते-घूमते थक गये। देखो दादा, वह सामने क्या है ?

घीसू—चलोगे ?

माधो—चलें।

घीसू—पाँच रुपये तो बहुत होते हैं। सबका कफन थोड़ा ही खरीदना है।

[माधो और घीसू अन्दर जाते हैं, वहाँ से शराब और कज़क लेकर निकलते हैं ।]

घीसू—कफन लाने से क्या मिलता ? आखिर जल ही तो जाता। कुछ बहू के साथ तो ना जाता ।

माधो—(आसमान की तरफ़ देखकर) दुनिया का दस्तूर है। यही लोग बाह्मनों को हजारों रुपया क्यों देते हैं ? कौन देखता है कि परलोक में मिलता है या नहीं ।

घीसू—बड़े आदमियों के पास धन है, फूँके । हमारे पास फूँकने को क्या है ?

माधो—लेकिन लोगों को जवाब क्या दोगे ? लोग पूछेंगे कि कफन कहाँ है ।

घीसू- (हँसता है) कह देंगे कि रुपया कमर से खिसक गया। बहुत ढूँढ़ने पर मिला नहीं ।

माधो—(हँसता है) बड़ी अच्छी थी बेचारी बहू । मरी भी तो खूब खिला-पिला के ।

घीसू—जा माधो। जाकर दो सेर पूरी तो ले आ। और देख गोस भी लायो। और उधर पीछे तली हुई मछली भी बिकती है, चटपटी। ले एक रुपया, देर ना लगाना। (बोतल में से निकालकर पीता रहता है। फिर उठकर दो बोतलें लाता है। इतने में माधो भी पत्ते पर रखकर सब चीज़ें लाता है)

[घीसू और माधो खाते रहते हैं और शराब पीते रहते हैं]

घीसू—हमारी आत्मा परसन हो रही है तो क्या उसे पुन ना होगा ?

माधो—(सिर हिलाकर) जरूर से जरूर होगा। भगवान तुम अन्तरयामी हो। उसे बैकुण्ठ में ले जाना। बैकुण्ठ में। हम दोनों के हिरदय भरनेवाली को दुआ दे रहे हैं। (ठहरकर और मुँह फेरकर) दादा ! ऐसा भोजन तो मुझे उम्र भर ना मिला था।

[घीसू सिर हिला देता है और खाता जाता है]

माधो—क्यों दादा, हम लोग भी तो एक दिन परलोक जाएँगे, क्यों ?

[घीसू खाता रहता है।]

माधो—जो वहाँ हम लोगों से वह पूछेगी कि तुमने हमें कफन क्यों नहीं दिया, तो क्या कहोगे ?

घीसू—कहेंगे तुम्हारा सिर ?

माधो—पूछेगी तो जरूर ।

घीसू—तू कैसे जानता है कि उसे कफन ना मिलेगा ? तू मुझे अब गधा समझता है। मैं साठ साल दुनिया में घास खोदता रहा हूँ ? उसे कफन मिलेगा और बहुत अच्छा मिलेगा, जो हम देंगे।

माधो—कौन देगा ? रुपया तो तुम चट कर गये।

घीसू—(बिगड़कर) मैं कहता हूँ उसे कफन मिलेगा। तू मानता क्यों नहीं ?

माधो—कौन देगा, बताते क्यों नहीं ?

घीसू—देगा कौन ! वही लोग जिन्होंने अबकी दिया। हाँ अबकी बार वह रुपये हमारे हाथ ना आएँगे। और अगर किसी तरह आ जाएँ तो फिर हम इसी तरह बैठकर पीएँगे और कफ़न तीसरी बार मिलेगा।

[खाते रहते हैं और पीते रहते हैं]

माधो—दादा यह बोतल सब दुख भुला देती है। देखो उधर वह लोग क्या तमासा कर रहे हैं ?

घीसू—यही बोतल है जो सब कुछ भुला देती है। याद नहीं पड़ता कि हम जिन्दा भी हैं कि मर गये। खाने को है भी या नहीं।

माधो - अब नहीं खाया जाता दादा। खूब खाया। (जूठी पत्तल उठाकर एक भिखारी के सामने फेंक देता है।) ले यह तू भी खा ले।

घीसू—ले जा खूब खा ले, और आसीरबाद दे। जिसकी कमाई है वह तो मर गई मगर तेरा आसीरबाद उसे जरूर पहुँचेगा। रोयें-रोयें से आसीरबाद दे, बड़ी गाढ़ी कमाई के पैसे हैं।

माधो—(आसमान की तरफ देखकर) वह बैकुण्ठ में जायगी दादा, वह बैकुण्ठ की रानी बनेगी !

घीसू—हाँ माधो, बहू बैकुण्ठ में ना जायगी तो क्या वह मोटे-मोटे लोग जाएँगे जो दोनों हाथों से गरीबों को लूटते हैं और फिर अपने पाप धोने के लिए गंगा में नहाते हैं, मन्दिर में जल चढ़ाते हैं ?

माधो—दादा ! बेचारी ने जिन्दगी में बड़ा दुख भोगा। मरी भी तो कितना दुख झेल के। (रोने लगता है)

घीसू—क्यों रोता है ? खुस हो खुस कि वह माया जाल से मुक्त हो गई। जंजाल से छूट गई। बड़ी भागवान थी कि इतनी जल्दी माया के बन्धन तोड़ डाले ! उठ। उठ !

[माधो खड़ा हो जाता है, और बाद में घीसू भी खड़ा हो जाता है। दोनों एकदम हँसने लगते हैं और गाना शुरू कर देते हैं]

ठगनी क्यों नैना झमकावे,
ठगनी...

[फिर गाते-गाते गिर जाते हैं।]

*

मूक मानव का प्रतिनिधि रवीन्द्रनाथ

●

[बैजनाथ सिंह 'विनोद']

गुरुदेव के सम्बन्ध में अब तक जितनी आलोचनाएँ मैंने देखी हैं, उन सब में उनके एक ख़ास अंश का अभाव मुझे खटका है। यह खास अंश यद्यपि उनका प्रधान स्वर नहीं है, पर भविष्य के लिए यह उनकी विशेष सम्पदा है। सभी आलोचकों ने अपनी इच्छानुसार विषयों की आलोचना की है। मैं यहाँ गुरुदेव के ऐसे रूप का दर्शन करूँगा, जो आनेवाले युग की दृष्टि से महान होते हुए भारतीय साहित्य के इतिहास में अभूतपूर्व है।

इतिहासकारों का खयाल है कि आर्यों के आने के पहले भी इस देश में ब्राह्मण और राजन्य दो क्रियाओं के समुदाय थे। पीछे से उसमें आर्यों का शासक का गौरव, कुलीनता का अभिमान और सामाजिक शक्ति का केन्द्र में आना तथा फिर उस शक्ति का केन्द्र में ही रखने का स्वार्थ मिल गया। इन्हीं भावों के घात-प्रतिघात ने ब्राह्मण और राजन्य समुदाय को गुण कर्म से खींचकर जन्म परम्परा के साथ जोड़ना शुरू किया। पर वह शुरू में ठीक से जम न सका। वशिष्ठ और विश्वामित्रों के संघर्षों और सहस्रार्जुन तथा परशुराम के युद्ध के रूप में गुण कर्म का विद्रोह जारी रहा। पर आगे चलकर ब्राह्मणों ने क्षत्रियों को शासक-श्रेणी और क्षत्रियों ने ब्राह्मणों को भूदेव क़बूल कर लिया। ब्राह्मण और राजन्य समुदाय के लम्बे संघर्ष-काल में ही उपनिषदों की रचना हुई। उपनिषद् के रचयिता ब्राह्मणवादी मनोवृत्ति के नहीं थे। इन उपनिषदों में जो कुछ व्यक्त हुआ है, वह रवीन्द्रनाथ की साहित्य सृष्टि का एक और प्रधान पृष्ठ-भाग है।

उपनिषदों में मनुष्य को मनुष्य के रूप में देखा गया है। मनुष्य को ऊँच-नीच के बन्धनों में बाँधकर उसके विकास और सामाजिक मर्यादा को खत्म नहीं किया गया है। गुण को श्रेष्ठ माना गया है, लिङ्ग-शरीर को नहीं। अपने को ही कर्ता माना गया है। यही कारण था कि उपनिषद् कर्मकाण्ड के ढोंग से ऊपर हैं। और रवीन्द्रनाथ के सम्पूर्ण साहित्य की धारा भी इससे मिलती-जुलती है। यह एक अचरज की बात है कि उपनिषदों के होते हुए भी भारतीय साहित्य में शूद्रों के प्रति सहानुभूति के दो शब्दों को कौन कहे; बराबर उनको नीचे गिराने की, दबाकर रखने की और मनुष्यता के अधिकारों से भी वंचित कर रखने की प्रवृत्ति पाई जाती है। चारों तरफ शूद्रों के लिए घृणा और लाञ्छन ही विकीर्ण किया गया है। उनके विकास के लिए जिस आन्तरिक सहानुभूति और सद्भाव

की जरूरत है; वह प्राचीन भारतीय साहित्य में दुर्लभ है। वाल्मीकि रामायण में तपस्या करने पर राम द्वारा शम्भूक (शूद्र) का सिर काटने की व्यवस्था है, जिससे ईसा की चौथी शताब्दी तक की मनोवृत्ति का पता लगता है। शंकराचार्य सरीखे उपनिषद् के पंडित और वेदान्ती ने भी वेद सुनने पर शूद्रों के कान में पिघला शीशा डालने और जिह्वाच्छेदन की व्यवस्था करके, उनके विकास को खत्म कर दिया है।* शूद्रों को नागरिकता के अधिकारों तक से वंचित कर दिया गया। आर्थिक दृष्टि से शूद्रों को एकदम से हीन कर दिया गया। शूद्रों का परमधर्म बताया गया सेवा और उस सेवा के अन्दर से भी आर्थिक महत्व का गला घोंट दिया गया। मनु की व्यवस्थानुसार न तो शूद्र की जान पर उसका अधिकार था और न उसकी कोई सम्पत्ति थी।

शूद्रों के प्रति सहानुभूति और सद्भावनापूर्ण व्यवहार किया भगवान बुद्ध ने। बुद्ध ने जन्मजात के अभिमान और ऊँच-नीच के सम्पूर्ण भेदभाव को अस्वीकार किया। बुद्ध ने सभी मनुष्यों को समान बताया। सारे बौद्ध साहित्य में जन्मजात के ऊँच नीच का विरोध है। पर साफ शब्दों में ९वीं शताब्दी में (जो शंकर का भी समय है), वज्र सूचिकोपनिषद में, जिसके रचयिता अश्वघोष कहे जाते हैं (?) जातिवाद का घोर विरोध है। इसके बाद स्वामी रामानन्दजी के शिष्य गोस्वामी तुलसीदास के रामायण में वाल्मीकि के शम्भूक काण्ड का अभाव है, जिससे जाना जाता है कि तुलसीदासजी शूद्रों के प्रति वैसे क्रूर नहीं थे। फिर उसी काल के कबीर ने, जो नीचकुलोत्पन्न थे, भेद-भाव के विरुद्ध आवाज़ उठाई। पर शूद्रों के सम्पूर्ण महत्व को समझा कवि गुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने।

रवीन्द्रनाथ इतिहासकार नहीं, कवि थे। पर इतिहास के सम्पूर्ण काल से वह परिचित थे। यही कारण है कि उनके साहित्य का ऐतिहासिक-क्रम तक मिल जाता है। रवीन्द्रनाथ मध्यकाल की उस मनोवृत्ति से परिचित थे, जो वज्रमान के साथ ही बौद्ध-धर्म के पतन से सम्बद्ध थी। वह इतिहास के उस युग से भी परिचित थे, जिसमें बौद्ध-धर्म के पतन के बाद बहुत-से शूद्र, नाथपन्थी, जोगी आदि इसलाम में दीक्षित हुए थे। उन्हें इसका पता था कि हिन्दू-धर्म के सामाजिक जुल्म के कारण ही हिन्दुस्तान में इसलाम अपनी जड़ जमा सका। इसलाम में दीक्षित हो जाने के बाद यहाँ के शूद्र आदि मुसलमान के रूप में एक संगठित शक्ति हैं, इसे भी उन्होंने समझ लिया था। उनका यह मत था कि जब तक हिन्दुस्तान के शूद्रों, पतितों आदि को मनुष्यता के वे अधिकार नहीं मिल जाते, जिससे वे अपना सामाजिक, मानसिक और सांस्कृतिक विकास कर सकें, तब तक भारतीय समस्या का समाधान असम्भव है। पर शूद्रों को यह अधिकार सवर्ण हिन्दुओं को उदार बनाने से मिलेगा या हरिजन आन्दोलन के हृदय-परिवर्तन द्वारा मिलेगा, इस मनोवृत्ति का समर्थन रवीन्द्रनाथ के साहित्य में नहीं मिलता। रवीन्द्रनाथ का मत है कि यदि विश्वास के साथ सब शूद्र और पतित समझी जानेवाली जाति संगठित होकर अपने

---

* देखिये ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य, अ० १।३।३८

हक़ के लिए खड़ी हो जायगी, तो उन पर सामाजिक अत्याचार करनेवाली मनोवृत्ति रास्ते के कुत्ते के भाँति भाग जायगी।*

एक विराट मानव-समुदाय को मानवता के अधिकारों से वंचित करने से, उसे सब कुछ से हीन करके पतित और शूद्र की श्रेणी में डाल देने से भारतवर्ष का कितना बड़ा नुकसान हुआ और यदि उसे उठाया न जायगा, उसे मनुष्य बनाकर अपने समान न किया जायगा, नागरिकता के पूरे अधिकार उसे न दिये जायँगे, तो भारतवर्ष की कैसी दुर्गति होगी, इसे रवीन्द्रनाथ बहुत अच्छी तरह से समझते थे। उनका यह विश्वास था कि जिस मानव-समुदाय का अपमान करके, उसको अज्ञान के गाढ़ अन्धकार में ढँककर रखा गया है, वही आज भारतवर्ष का पैर पकड़ कर पीछे खींच रहा है। महाभारत में पृथ्वी ने कर्ण के रथ का पहिया पकड़ लिया था, जिससे उसका नाश हुआ और मौजूदा भारत को अछूतों और पतितों की समस्या ने पतन के गड्ढे में रोक रखा है। जिसे पैरों से दलित करके दबाकर रखा था, आज उसी ने पैर पकड़ कर चलना बन्द कर दिया है। इन सारी भारतवर्ष की चिरन्तन समस्याओं का अंग्रेजी कूटनीति के साथ याद करके उन्होंने कहा है—'देखते नहीं हो, मृत्यु-दूत तुम्हारे दरवाज़े पर खड़ा है ; और उसने तुम्हारे जातीय अहंकार पर अभिशाप की मुहर लगा दी है। अब भी यदि सबको (एक साथ) बुलाओगे, इस समय भी यदि अपने को चारों तरफ से अहंकार में बाँधकर रखोगे, तो मरकर चिता की राख में सबके बराबर होना पड़ेगा।' (उस समय तो ऊँच नीच सब एक हो ही जायँगे।) 'गीताञ्जलि' में गुरुदेव की यह 'अपमानित' शीर्षक कविता भारतवर्ष की राष्ट्रीय समस्या के मूल को लक्ष करके है।

भारतवर्ष के इतिहास में वैदिक-काल से श्रेणी-संघर्ष है। वर्णाश्रम व्यवस्था में श्रेणी-संघर्ष का मूल और उसकी चरम परिणति है। इस श्रेणी-संघर्ष में आर्थिक कारण ऋग्वेद काल से ही है। आर्यावर्त्त की भाँति भौगोलिक चौहद्दी में भी आर्थिक कारण निहित है। 'ईश्वर' शब्द के मूल में (जगतनियन्ता 'भगवान' या 'परमेश्वर' नहीं) साम्पत्तिक सामर्थ्य है, जिसका दार्शनिक रूप भले ही सर्वव्यापक भगवान आगे चलकर हुआ। गुप्त-काल से ही भारतवर्ष के इतिहास में सामन्तवाद के विकास का क्रम शुरू है। और उसके भी कुछ पहले से वर्ण-धर्मवादी-व्यवस्था में हमें राजा ईश्वर का अवतार मिलता है। प्राचीन संस्कृत नाटक-काव्य आदि ग्रन्थों का नायक राजा, कुलीन, उच्चवंश का आदि-आदि मिलता है। मानों सम्पूर्ण मानवीय गुण धन को केन्द्र में करके ही हों। ग़रीबी का चित्र जहाँ कहीं भी है, वह भी राजा, कुलीन या उच्चवंश के महत्व को बढ़ाने के लिए ही है, मानव कल्याण के लिए नहीं। मानो धनी, राजा, ब्राह्मण और उच्चवंश के व्यक्ति में ही प्राण है, जान है और वही मनुष्य हैं, बाकी मानव-समुदाय या तो जानवर अथवा उपर्युक्त लोगों की सेवा और वन्दना के लिए है।

रवीन्द्रनाथ ने 'दुई बीघा जमी' नामक कविता में एक किसान का चित्र खींचा

* देखिये 'सञ्चयिता' में—'एबार फिराउ मोरे।'

है। इस किसान के पास सिर्फ दो बीघा जमीन है, जिसे राजा (जमीन्दार) अपने बागीचे को समकोण करने के लिए खरीदना चाहता है। दरिद्र किसान के पास वही जमीन गुजर-बसर के लिए है, उसमें उसकी ममता भी है। उस जमीन को वह नहीं देना चाहता है; पर जमीन्दार झूठे कर्ज की डिक्री में उस जमीन को नीलाम कराकर ले लेता है। फिर गरीब किसान बेचारा बे-घरबार का कंगाल हो जाता है। कविता लम्बी है और अनेक समाजतात्विक तथ्यों से परिपूर्ण है। उस कविता का कुछ अंश हम यहाँ देते हैं :

शुधू बिघा दुई छिल मोर भुँई आर सबि गेछे ऋणे।
बाबू बलिलेन 'बूझेछ उपेन, ए जमी लइब किने।'
कहिलाम आमि 'तूमि भू स्वामी, भूमिर अन्त नाई,
चेये देखो मोर आछे बड़ो-जोर मरिवार मतो ठाँई।'

शुनि राजा कहे 'बापू जानत हे, करेछि बागानखाना,
पेले दुई बिघे प्रस्थे ओ दीघे समान हइबे टाना,
उई दिते हबे।' कहिलाम तबे बक्षे जुड़िया पाणि
सजल चक्षे, 'करुन् रक्षे गरीबेर भिटे खानि।

सप्तपुरुष जे थाम मानुष से माटि सोनार बाड़ा,
दैन्येर दाये बेचिब से माये एमनि लक्ष्मीछाड़ा।'
आँखि करि लाल राजा क्षणकाल रहिल मौनभावे,
कहिलेन शेषे क्रूर हासि हेसे, 'आच्छा से देखा जावे।'

परे मास देड़े भिटामाटि छेड़े बाहिर हइनू पथे,
करिल डिक्री, सकलि बिक्रि मिथ्या देनार खते।
ए जगते, हाय, सेई बेशी चाय आछे जार भूरिभूरि।
राजार हस्त करे समस्त काङालेर धन चुरि।
... ... (चित्रा)

यह कविता किसी वाद को लक्ष करके नहीं है, इसमें एक किसान के बे-जमीन-जायदाद का होने के समय का चित्र है और जमीन्दार का अपने मनोरंजन या सुख के लिए एक किसान को उजाड़ने की सहज बात है। और यह बात ऐसी है जिसके अन्दर भारतीय किसानों की समस्या निहित है; साथ ही यह भी कि किस प्रकार जमीन्दार कंगालों का धन चोरी करता है, यह दिखाकर कवि ने क्रान्ति की भावना भी दी है।

अनेक लेखकों ने कविगुरु रवीन्द्रनाथ को हिन्दू, ब्राह्मण, साधक, सर्वधर्म-समभाववादी आदि-आदि कहा है। पर रवीन्द्रनाथ आदर्शवादी मानवता और व्यक्तिसत्ता के श्रेष्ठ कवि थे तथा वह अनेकांशों में असाधारण भी थे। उन्होंने कहा है—'स्वर्ग को थाम, जानि नासे', इस प्रकार वह स्वर्गवादी नहीं थे। उन्होंने कहा है—'वैराग्य साधने मुक्ति से आमार नय', वह असंख्य बन्धनों के अन्दर मुक्ति का स्वाद लेना चाहते हैं; अर्थात रागों से मुक्ति चाहते हैं। वह जातिवाद को माननेवाले नहीं थे। जन्मजात वर्ण-व्यवस्था को उन्होंने कभी भी नहीं माना; वह मनुष्य मात्र को समान समझते थे। उन्होंने सत्य को

स्वीकार करने में कहीं भी समझौता नहीं किया और बिना समझौता के सब धर्मों का समन्वय कुछ अर्थ नहीं रखता। रवीन्द्रनाथ मनुष्य को ही सर्वोपरि मानते थे और सम्पूर्ण मानवता की महान् शक्तियों की एकीभूत कल्पना को महामानव मानते थे। रवीन्द्रनाथ का धर्म था मनुष्य मात्र का विकास। और उस विकास में अपने सब कुछ से सहायता करना ही उनकी श्रेष्ठतम साधना थी। मानव प्राणों के अपमान, मानव शक्तियों की अवहेलना या मनुष्य पर अविश्वास करने को वह महा पाप समझते थे। उनका विश्वास था कि मनुष्य कभी भी पीछे नहीं जाता; हाँ, यदि वह अपने जड़ स्वार्थों में बँधा न हो। इसीलिए उन्हों अपने 'मानव धर्म' (मानुषेर धर्म) में मनुष्य को 'अनागरिक' कहा है। उनका कहना था कि 'जानवरों को मिला है वास; पर मनुष्य को मिला है विचार।' रवीन्द्रनाथ मनुष्य के अन्दर ही भगवान की चरमाभिव्यक्ति मानते थे। रवीन्द्रनाथ का भगवान मनुष्य से परे नहीं था; बल्कि मनुष्य के अन्दर था। यही नहीं जहाँ मनुष्य सारी विसंगतियों से जूझता हुआ प्राणों की रक्षा करता है, वहीं उन्होंने भगवान का श्रेष्ठ रूप देखा है। उन्होंने कहा है—

> 'ये थाय थाके सबार अधम दीनेर हते दीन
> सेइखाने ये चरण तोमर राजे
> सबार पीछे, सबार नीचे, सब-हारन्देर माझे।'

प्राचीन लोगों ने ज्यादा से ज्यादा भक्तों के हृदय को भगवान का आसन बताया है। लेकिन रवीन्द्रनाथ इससे कहीं आगे हैं। उन्होंने भगवान के लिए 'धूलार-मन्दिर' (गीताञ्जलि) का निर्माण किया है। इस कविता में उन्होंने पुजारी और भक्त सभी से कहा है कि—देवता तुम्हारे मन्दिर में नहीं हैं, वह तो वहाँ हैं, जहाँ किसान जमीन तोड़कर खेत बना रहा है, जहाँ पर मजदूर पत्थर तोड़कर रास्ता बना रहा है। और मुक्ति? मुक्ति कहाँ है? भगवान तो खुद ही सृष्टि और बन्धनों के अन्दर हैं। इसलिए ध्यान, फूल की डाली और मन्दिर आदि छोड़कर किसानों और मजदूरों की तरह होकर उन्हीं से मिलो तो भगवान मिलेंगे।' इस प्रकार रवीन्द्रनाथ किसानों और मजदूरों के जीतोड़ परिश्रम में भगवान या सृष्टिकर्ता को पाते हैं।

रवीन्द्रनाथ सदैव ही दीनों और दलितों के अन्दर से प्रेरणा प्राप्त करते थे। रवीन्द्रनाथ मेघ की भाँति अपने समस्त ज्ञान-विज्ञान द्वारा दलितों और दीनों के प्राणों की पीड़ा को आत्मसात करके उन्हीं के हित और सुख के लिए उनका उपयोग करते थे। इसीलिए वह शुरू से ही सोवियट रूस के मित्र रहे। वह प्रगतिशील साहित्य-सेवियों के गुरुस्थानीय थे, देश के प्रत्येक प्रगतिशील आन्दोलन के साथ वह सम्बन्धित और सहानुभूति-सम्पन्न थे। सोवियत सुहृद संघ का संरक्षक होना उन्होंने स्वीकार कर लिया था। पीड़ित चीन का एक मन्दिर तो उन्होंने अपने घर में बसा लिया था। स्वदेशी आन्दोलन के वह सूत्रधार थे। कांग्रेस के वह सबसे बड़े समर्थक थे। शूद्रों और पतितों पर होनेवाले जुल्म को मिटाये बिना भारत का कल्याण नहीं है, यह तो उनका महामन्त्र था। भारतीय स्वाधीनता का आदर्श निश्चित करने में कांग्रेस और गान्धीजी दोनों घबड़ाते हैं; पर

रवीन्द्रनाथ ने 'नैवेद्य' की प्रार्थना शीर्षक कविता में भारतीय स्वाधीनता का एक आदर्श उपस्थित कर दिया है। इस कविता में उन्होंने कहा है—

> '(हे पिता) भारत को ऐसा स्वर्ग बना दो, जहाँ लोगों का चित्त भय-शून्य हो, मस्तक ऊँचा उठा हो, ज्ञान उन्मुक्त हो ; जहाँ घर की चहारदीवारी दिन-रात अपने ही आँगन के नीचे पृथ्वी को टुकड़े कर क्षुद्र बनाकर न रखे, जहाँ वाक्य हृदय के झरने से उच्छ्वसित होते रहें, जहाँ कर्मधारा नाना प्रकार की सफलताओं से गुजरती हुई देश-विदेश में और दिग्-दिगन्त में बिना रोक-टोक के अविराम गति से बहती रहे, जहाँ तुच्छ आचार की मरुभूमि विचार की निर्मल धारा को ग्रास न कर लेवे और उसके पौरुष को सौ टुकड़ों में विच्छिन्न न कर दे ; जहाँ समस्त कर्म, समस्त विचार और समस्त आनन्द के नेता तुम स्वयं बने रहो—हे पिता अपने निर्दय हाथों से निष्ठुर आघात करके तुम इस भारत में ऐसा ही स्वर्ग जगा दो ।'

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि समस्त भारतीय साहित्य में रवीन्द्रनाथ ग़रीबों, दलितों, दीनों, शूद्रों और मूक मानव के सर्वप्रधान गायक हैं। रवीन्द्रनाथ के साहित्य में दलित मानवता के लिए आशा, आश्वासन और विश्वास है। और इसीलिए रवीन्द्रनाथ सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में अभूतपूर्व हैं।

मैं एक कहानी लेखक हूँ....

●

[शमशेरबहादुर सिंह]

—१—

उत्तर में आज मैं उसके पत्र की नक़ल उतार कर उसको भेजे दे रहा हूँ।

—२—

मैं एक कहानी लेखक हूँ।...

कहानी के लिए—आप जानते हैं, क्या जोश, क्या 'इंस्पिरेशन' हम कहानी लिखनेवालों के हाथ में क़लम को आग बना देता है जिससे हम दिलों के पन्नों को सुलगाने लगते हैं ?

नहीं जानते।

वह, हो सकता है, किसी दुर्घटना में हम स्वयं फँसे हों...चले जा रहे हैं, चले जा रहे हैं, एकाएक (जब कि दिल किन्हीं यादों की लहरियों में गोते खा रहा है)—

एकाएक चीथड़ों में लिपटी कोई बुढ़िया हमारी साइकिल या रिक्शा या ताँगे की—या कार की भी—झोंक में आ जाती है (हालाँकि हम लेखकों की किस्मत में मशीनवाली दुर्घटनाएँ नहीं होतीं)...हाँ, वह घटना हो जाती है, और फिर शेष दिन के लिए वह हमें लपेट लेती है।

...शाम को शायद कोई हँसता हुआ सलोना चेहरा हमें मानो चूम लेता है ?—नहीं : हम लेखकों के जीवन में यह सब कुछ नहीं होता।

होता है क्या ?—वही, जो सब पाठकों के मस्तिष्क में, सुबह की करवटों से लेकर रात की उलझी नींद तक होता रहता है : यानी यह चिन्ता—कि पैसा किस तरह हाथ में आए, जेब किस तरह गर्म हो। क्यों ?

क्योंकि, फलाँ दोस्त के यहाँ चाय पर धुली हुई, जरा कुछ सफ़ेद-सी धोती पहन कर जाना है। अमुक बहनजी जो मुझे देखकर मुस्करा उठती हैं, उनके आगे कोट बिना बटन का, या कम से कम बीसियों सिकुड़न से भरा हुआ न हो। फलाँ स्थान पर कुछ बातचीत, कुछ बहस, होनी है; और चित्त बीमार है : उसे ताज़ा करने, उकसाने, कल्पनाशील बनाने को ज़रा कोई चीज़ चाहिये—न और कुछ सही तो एक प्याला गर्म-गर्म चाय। और इस सबके लिए कुछ आने, कुछ पैसे !

नहीं, नहीं...बहुत मामूली-मामूली उलझनें जिनका ब्योरा देते भी शर्म आती है, हृदय को पकड़कर काग़ज़ और क़लम की तरफ झुकाती हैं।

दो महीने से मकानवाला बिचारा चुप रहा है। शराफ़त का लिहाज़ करके—कि मुंशीजी 'अख़बार' में लिखते हैं;—वह जब मिला है, मुस्करा ही दिया है—हम दोनों समझ गये हैं कि मतलब क्या है। फिर भी मानो कुछ नहीं, कुछ नहीं।

और कल जो नौकर ने नख़रा दिखाया था, उसका इलाज भी खाली डाँट या गुस्से से नहीं हो सकेगा। उसकी तनख़ा का तक़ाज़ा कई बार हो चुका है।

ऐसे में बार-बार दिल में यही तय होता है, कि बाहर कितनी मुद्दत से कहीं नहीं गये—अब ज़रा हो आना चाहिये। ज़रूरी है। दिल कहता है, हाँ; और लगे हाथ एकाध सप्ताह के लिए इन लोगों से पिंड भी छूट जायगा। यूँ तो ये सब मुंशीजी की शराफ़त के बहुत क़ायल हैं, और ज्यों-ज्यों दिन बीतते जाते हैं, शराफ़त का तक़ाज़ा और मिलने-जुलने का तपाक दोनों ओर से बढ़ता ही जाता है। एक दिन (यही डर लगता है) यह दबा हुआ ठंडा मनोहर ज्वालामुखी फट पड़ेगा, अवश्य. (मन दुहराता है) अवश्य... तब, तब क्या होगा ?

कहानी लिखना उसी का जवाब है। और इस सवाल को और इस जवाब को लेकर लेखक की आँखें इतनी पैनी और तेज हो जाती हैं, कि वह जिसकी तरफ़ घूरकर देखता है वह एक बार तो डर ही जाता है। लेखक उसके दिल से कुछ कुरेदकर, खोदकर, एक ही नज़र में, निकाल लाना चाहता है—कुछ झपट लेना चाहता है। कुछ भाव। और उनके साथ कुछ पैसे।

'अरे भाई मेरे पास कुछ माल-मता नहीं है—मैं ग़रीब, मज़दूर अपढ़, और सिर्फ़ काम-काजी आदमी हूँ—मुझे क्यों इस तरह घूर रहे हो ?' उसकी आँखों और

उसके बन्द होंटों से उसकी आत्मा चिल्ला उठती है। 'या कि, मेरे अन्दर कौन-सा नुक़्स है, मेरे चेहरे में क्या ख़राब है!'

'क्या बात है, साहब ?' वह ग़रीब पूछ ही बैठता है।

और लेखक साहब शरमाकर—कितने भोले, सीधे-सादे, दयनीय बनकर, सिर्फ़ कह उठते हैं: 'अइ,—अ-कुछ नहीं: माफ़ कीजिये, मैं यूँ ही—सोच...'

'आप क्या करते हैं ?'

लेखक साहब कितनी ही बार अजनबी लोगों के इस प्रश्न का जवाब दे चुके हैं ? क्यों सब यही सवाल उनसे पूछते हैं ? वह अपमानित-सा अनुभव कर, सोचते हुए कि लेखक की मजबूरी है, कहते हैं:

'मैं—मैं फ़लाँ जगह काम करता हूँ, प्रेस में !'

'आच्छा !! अच्छा !!! माफ़ कीजियेगा।'

और वह बेचारा बेपनाह आदमी घबरा कर उनसे पीछा छुड़ा अपना रास्ता लेता है।

—३—

लेखक दुनिया को देख नहीं सकता। उसके और दुनिया के बीच कितनी चीज़ें, कितनी बातें, हायल हैं, जो एक शीशे का पर्दा-सा बन जाती हैं।

कारण यह है कि वह एक 'असाधारण' मनुष्य है। असाधारण जन्तु है वह, यह मेरा आशय नहीं। मगर यह कि—उसका हँसना-रोना, उसकी हाय-हाय और वाह-वाह और तरह की—और ही रंग की—कुछ निराली और अजीब-सी होती है...

जहाँ और सब लोग हँसेंगे, दिल्लगी करेंगे, वहाँ वह खीजा हुआ-सा, अपने से रूठा हुआ, बुत्त बना बैठा रहेगा; या इस तरह से मुस्कराता रहेगा, मानो, सारी दुनिया को बेवक़ूफ़ समझता है। शायद वह समझता भी है—कौन जाने! एकाएक जब और सबों की हँसी-ख़ुशी का जोश कुछ ठंडा होने लगेगा, तब वह एकाएक ज़ोर से हँसने लगेगा—न जाने क्या बात उसको इस तरह गुदगुदा गई। अब उसकी सबों पर फ़तेह है। बहुत कम लोग मज़ाक़ के 'इस प्वाइंट को' समझे। मगर क्या बात थी! हा-ह-ह-ह !!! और फिर—ह-ह-ह...!!

सचमुच सब लोग उल्लू बन गये।

हम लोग दुनिया के साहित्यकों से—मेरी मुराद है ख़ास तौर से हिन्दी के साहित्यकों से—घबराते हैं। यों तो, यक़ीन मानिये उर्दू या अंग्रेज़ी—अंग्रेज़ी क्या, बल्कि किसी भी भाषा के 'असली साहित्यिक' को ले लीजिये—आप यही सिफ़त उनमें पायेंगे—कि लोगों को उनकी रचनाओं से तो प्रेम रहा है, मगर उनके रचयिताओं से बेहद अरुचि। बल्कि घृणा।

वह दुनिया की अपनी एक अलग लायब्रेरी में रहता है। उसका अपना एक झरोखा और ज़ीना है; जहाँ से वह सबों को झाँका करता है, और जहाँ से वह बहुत

बेवक्त, शाम की झुटपुटे में, या रात को, जब पक्की चाँदनी छिटकी हो—या जब पतझड़ के पत्ते सरसराते हुए खड़खड़ करते सड़कों और गलियों में गिर-गिरकर उड़ते हों।

यानी आप समझे नहीं : वह एक ऐसा बेचारा अजीब बोली का कौआ है, जो अपनी बिरादरी से कुछ अलग-सा कर दिया गया है। शायद, क्योंकि वह वयस्क न होते हुए भी, सबों में विशेष बुजुर्ग-सा और साथ ही विशेष रूप से अहदी, अनोखे चाल-चलन का जीव है।

—४—

मेरी शादी इसीलिए नहीं हो रही।

मैंने कुछ यह व्यसन छोड़ने की कब-कब इच्छा नहीं की।

किताबों पर और कापियों की जिल्दों और मासिकपत्रों की फ़ाइलों और सूखी दवात और जंग लगी कुछ मुड़े निब की क़लम पर हफ़्तों मैंने धूल जमने दी है; और केवल धूप का सरकना निहार-निहार कर ही या अपने मकान के आगे की पतली सड़क में चलती-फिरती मूर्तियों का निजी-काल्पनिक हिसाब-किताब रखते हुए—या बन्द पलकों पर दाहिना हाथ मोड़कर रखकर सपनों की नींदें लेते हुए ही महीने के बाद महीने गुज़ार दिये हैं। कहीं-न-कहीं से—कभी भाई के यहाँ से, कभी एक मेहरबान पड़ोसी की जबरदस्ती कृपा से—ज्यादा उधार देनेवालों के रूखे पर अनवरत एहसान के हलके बोझ के नीचे ही जीवित रहने के सामान उपस्थित होते चले गये हैं— ठीक-ठीक पता नहीं कैसे।

हाँ, सब महीनों के प्रथम सप्ताहों में ही कुछ दिक़्क़त और उलझन और ट्रैजेडी और छोटे-मोटे ड्रामे से हो जाते रहे हैं—न जाने क्यों। इन पहली और आठवीं और दसवीं और पन्द्रहवीं तारीखों में आखिर क्या रखा है जो 'वादों' की टेक उन्हीं के कंधों पर रहते हैं! अस्तु यह तमाम सवाल ही एक पचड़ा है—जिसको मैं अपने जागते जीवन से दूर, अलग, बाहर ही रखना चाहता हूँ और रखता हूँ। ऐसा सहज ही मैं कर सकता हूँ, यही शायद मुझमें और शेष संसार में एक खास फ़र्क है। दुनिया ऐसे आदमी से खीजती है। खीजे! मेरे लेखे, वह भी 'एक पचड़ा' है। दुनिया की वह तमाम खीज।

मैं उसको बेकार सा लगता हूँ जो, बेकार।

और मुझे वह पचड़ेवाली दुनिया—जब मैं उसको अपने से ज़रा दूरी पर रख कर देखता हूँ—रंगीन और बड़ी सुन्दर दिखाई देती है। उसका एक-एक काम। उसके एक-एक भाव, एक-एक संकेत। प्रत्येक उलझाव। पाँसे—जाल—सम्बन्ध...उसकी हँसी-खुशी और रोना-गाना—यह सब राग-रंग तब मैं कितनी उत्सुकता, कितनी पैनी दृष्टि से, पागल-सा आत्म-विस्मृत-सा होकर, देखता हूँ। इस समस्त व्यापार को समझना तब मुझे बच्चों के खेल की तरह आसान और आमोदपूर्ण लगता है। कुछ भी मुश्किल नहीं। सब नियम-क़ानून उस अखिल व्यापार के तब मुझे अपने सम्मुख जीवित—सद्यः-चित्रित और अतीव मोहक लगते हैं। हाँ, वही सब— यह दुनिया, और इसके सारे खेल, तब मुझे मोह लेते हैं, और चूँकि मैं वह मोह, वह मस्ती किसी प्रकार अपने अंग-अंग के ऐसे नृत्य में भरकर व्यक्त

नहीं कर सकता जिसे मैं फिर भी स्थिर देखकर पहचान सकूँ, इसलिए दवात के आगे सिर झुकाकर, क़लम हाथ में लेकर बैठ जाता हूँ, आँखों-देखी बात को दिल की भावना के रंगों में भरकर...आप जानते हैं वह सब।

शादी का—एक प्रेयसी का—राग भी, हाँ, है इस सब साहित्यिक लेखे-जोखे के साथ।

सुना होगा आपने—फ़लाँ कवि महोदय अपनी कविता में खाली-खाली और सूना-सूना सा अनुभव करते हैं। कभी आपने 'इनकायरी', जाँच-पड़ताल, की?...वह कारे या बाल-विधुर हैं। और सुना होगा आपने—कि अमुक नये साहित्यिक की भाषा बड़ी भड़कती हुई आग है, बड़ी जलन और पीड़ा है—बस, आह आह आह। आपने किसी से पूछा नहीं? आपको कदाचित पता चल जाता कि वे पाँच साल पूर्व मिस अप्सराबाला से 'ठुकराये'—जी हाँ, 'ठुकराये'—जा चुके हैं। और फ़लाँ महान साहित्य-सेवी जो 'अमर कलाकार' हैं उनका स्वाभाविक भोलापन ऐसी भोली-सी चीज़ नहीं है जैसी वह फ़ोटो में या 'इन्टरव्यू' में लगती है। उसके पीछे एक पूरी महाभारत खोई-दबी हुई है। उनके साहित्यिक जीवन से लगे कुछ पूर्व, प्रथम वर्षों में एक महान नाटक खेला जा चुका है, जिसकी यवनिका वह स्वयं भी नहीं उठा सकते। वह अति गम्भीर, अति गम्भीर चीज़ है। उस पर कानाफूसी भी बहुत कम की जा सकती है।

तो मैं भी शादी करूँगा कभी या नहीं, नहीं कहा जा सकता।

क्योंकि वैवाहिक जीवन पर मेरे अपने जो विचार हैं, वह विचार नहीं—एक फ़िलासफ़ी है, जिस पर मेरा जीवन ही आलंबित है। यूँ मैं किसी नव-यौवना को देखकर मोहित हो जाऊँ, उसके सौन्दर्य और आशित प्रेम की व्याख्या कर डालूँ—उसकी झाँकियाँ लेने भी कई बार उसकी गली में टहल आऊँ—लेकिन एक बहुत भारी और ऊँची 'लेकिन' उसके साथ है।

'क्या है वह?'

'वह क्या है?'

'हाँ, क्या है वह?'

'हम भी सुनें?'

—लेकिन आप हताश होंगे। मैं उसको नहीं बता सकता। बात वैसे मामूली है—इतनी मामूली, कि मैं इसी कारण सहसा नहीं बता सकता।

'आपने किसी से मरणान्तक प्रेम किया है, ऐसा—कि अब आप किसी और की दुनिया के हो नहीं सकते?' (पूछनेवाले एक लगभग अन्तरंग सज्जन हैं; मित्र कह लो उन्हें।)

'नहीं हाँ; भई, यह सवाल ही नहीं उठना चाहिये।'

'आप दुनिया में हैं, तो यह सवाल उठेगा, और हज़ार बार उठेगा।'

'तो उठे।'

८

'तो उठे !! हाँ आपके सर पर चढ़कर यह सवाल उठेगा। आप क्यों अपनी जिन्दगी के तौर-तरीक़े से इस सवाल को हम लोगों के बीच उठने के लिए मजबूर करते हैं ?'

'...हाँ, यह—सही बात है।'

'तो उस प्रश्न का जवाब दीजिये ना, सीधे-सीधे।...'

'मेरा मतलब था—कि पब्लिक में यह सवाल नहीं उठाया जा सकता—ईमानदारी की जमीन पर इस सवाल का वजूद नहीं पाया जा सकता !'

और बात आगे नहीं बढ़ती। बढ़ नहीं सकती।

'पूरे 'हमबग' हैं आप,—माफ़ कीजियेगा ; बस।' और एक गहरी नाराज़गी उन दो या एक दोस्तों के और मेरे बीच स्थापित हो जाती है—जिनके सामने मैं अपने अन्दर की हँसी हँस सकता और अन्दर की बेवकूफ़ियों को खोल सकता या उन पर रो सकता हूँ—लेकिन 'यह सवाल' एक दुखता हुआ फोड़ा है जो बेढब जगह पर है।

असली वजह यह है—मैं अपने हृदय से और हृदय मुझसे कहता है—कि वह मेरी हार होगी। मैं दुनिया के सामने हार जाऊँगा। लगता है—कि मुझे हारना पड़ेगा शायद एक दिन, लेकिन तब तक नहीं, जब तक मेरा बस है।

हार। लेखक का व्यक्तित्व, उसकी ताक़त, जो चीज़ बन गई है, वह—आप देखिये तो, वही उसका अकेला समरथ है, जीवन में,—हाँ जो चीज़ उसको हँसाती है—जिसके बल पर वह खड़ा होकर ऊँचा—ऊँचा उठता हुआ अपने आपको महसूस करता है, वह उसकी यही अकेली, अपने पंजर में बन्द, स्वाधीनता है। उसका अपने में पूर्ण होने का यह आग्रह। यह आग्रह ही उसकी साँस, उसका जीवन है।

—६—

और अगर आप इस जीवन को भी अपने दिल का दामन ज़रा बचाकर कुछ दूर से देखें तो यही भोला-भाला आग्रह उसका, यही एक 'सूना खालीपन' है : बहुत सुन्दर, बहुत मोहक। और इस आकर्षण में स्वयं जो गुदगुदी है, कितना बचाव और सफ़ाई और एक मुक्ति-सी लिये हुए है—क्योंकि वह है कहाँ, वास्तव में कहीं नहीं है।

तब उस लेखक का वह संसार जो उसके दामन पर अपना साया नहीं डाल रहा है—और इसीलिए अपनी विविध नाटकीय रसपूर्णता में मात्र एक झिलमिल सौंदर्य है—'शाश्वत, मंगल, और परम सत्य'—वह भी कहाँ है ? वह ज्योति की झाँई ?—देखने वाला उसकी परिधि में कहाँ खड़ा है ? कहीं नहीं। उसमें जितनी ही वस्तुएँ, जितने ही नये-नये खोज, नया-नया ज्ञान, नया-नया अनुभव शामिल होता है, उतनी ही वह दुनिया—कवि और लेखक की दुनिया—'सुन्दर' और 'महान' और 'विश्व'-ग्रस्त होती जाती है। उस 'विश्व' में द्रष्टा कहाँ है ? वह विश्व उसके जीवन में कहाँ है ?

कहाँ है ?—वह स्वयं तो खाली, सूना एकाकी, मौन-स्वरूप 'शून्य' है : केवल उसकी भावुकता की दृष्टि में, एक उस व्यवधान में, जो उसने अपने चारों तरफ़ रच लिया

है—वह चमकता अखिल कला और ज्ञान का अक्षय विभूति-सम्पन्न संसार है। क्या?—

उसके बाहर, उसको खाली करके, उसको सूना और नीरव करके, यह 'उसकी' दुनिया सज गई है। कितनी सुन्दर !!!—फिर वह क्यों अपने इस जीवन के असाधारण सुख में हिस्सा देने किसी को जाय? क्यों वह शादी करे?

—७—

यह संसार उसका नहीं मिटेगा।

क्योंकि इसी पर उसको जीवित रखनेवाले रीझते हैं। इसी के एवज़ उसे, मजबूर होकर, उससे हार मानकर, प्यार करते हैं। यह उनकी हार है—अतः वह उससे मन जाते हैं। इतना असाधारण जो वह है, वह खाली व्यक्तित्व।

—८—

मैं शादी कर भी लूँगा, फिर भी यह दुनिया नहीं बदलेगी। दुनिया संतुष्ट हो जायगी। अपना बदला चुका लेगी। खीज और ईर्ष्या उसकी मिट जायगी। लेकिन क्षणिक काल के लिए। मैं वही रहूँगा। दुनिया मुझसे जीत नहीं सकेगी।

—९—

हाँ, एक डर मुझको होता है, कभी-कभी। और वही मुझको जीत सकता है।... मैंने एक प्राणी को देखा है, जिसमें यही सूनापन और गहरी, दूर की, भोली-भाली परख है—यही खालीपन है।

वह रूखे से बालोंवाली। साँवली। खोई-खोई। उसकी भोली पलकों में जो एक खोई नींद के आने-आने का भाव है, वह ठहरा हुआ है: उसीको लेकर वह जागती और अपने सब कार्य करती है। उसकी अपनी चेष्टा कुछ नहीं। उसकी अपनी अनुरक्ति अजान है। है नहीं। उसका स्वभाव एक गति है, केवल एक गति। वह इस गति को कितना सब प्रकार की रंगीनियों से अलग रखती है! सहज ही! कि मुझे आश्चर्य होता है। वह इस दुनिया की पहेली हो सकती है, दुनिया उसके लिए पहेली नहीं है। वह इस जन्म के आगे के पर्दों में आ गई है और वहीं हँसती और बतलाती है।

मैं सिर्फ़ उससे डरता हूँ।

—१०—

और आज उसको मैंने चार वर्ष के अन्तर पर देखा है और आज उसकी एक छोटी सी चिट्ठी भी आई है—जिसमें केवल एक पंक्ति—बल्कि, एक ही प्रश्न है।

प्रश्न उत्तर की ओर से निश्चयात्मक है।

चार वर्ष पूर्व मिट्टी के एक धूल भरे घरौंदे-से घर में वह पली थी—उसका, शहर के ही दूसरे मोहल्ले में रहनेवाले एक लड़के से (वह रंगसाज़ का लड़का था; वह स्वयं बढ़ई की लड़की थी) विवाह हो गया था। बहुत साधारण-सी धूम के ढोल और ताशों की बरात उसे उसके मा-बाप के घर से पालकी में बिठाकर दूसरे नये घर ले गई थी।

मैंने उसके पति को नहीं देखा। नहीं जानता (जानने से विरक्ति भी है) कि उस लड़के यानी उसके पति का क्या हुआ, या कि वह अब भी ज़िन्दा है।

—११—

पर रम्भा अब उसके घर में नहीं रहती। मा-बाप के घर वह आ गई थी।

उसमें एक महान अन्तर आ गया था। वह पहलेवाली लड़की थी ही नहीं।

पर मुझे देखते ही वह फिर मानो वही हो गई—उसकी समस्त मुद्रा पिछली जैसी हो आई—जैसी वह पहले थी।

यह मेरे मन ने उस लड़की का दर्शन करते ही कहा था: 'यह एक चीज़ है जो अब से एकाध साल बाद नहीं रहेगी।...अगर मेरी भी शादी हो जाती, तो ?...ओह !'

'यह कितनी मुझ-जैसी है उस क्षण में। और मुझसे कितने ही लोक और युग आगे इस बात में, कि वह अपने इस गहरे विलगाव के सूने-सूने भोलेपन की क़ीमत से अनजान है। मेरा दिल कहता है, यह संसार को मेरी ही जैसी दृष्टि से देखती है, बहुत कुछ, बहुत कुछ: किन्तु वह केवल मौन है, और अपनी इस एकाकी विभूति-सम्पन्नता से अनजान।

मैं ही केवल इसको आँकता, समझता और जानता हूँ।

यद्यपि वह पुस्तक का एक अक्षर, देश का कोई एक समाचार और नाम को भी सभ्यता के इतिहास की कोई एक कड़ी तक नहीं जानती: पर...उसका यह एकाकी खालीपन मेरी ही—कुछ मेरी ही आन्तरिक भावना के समान है। इतना ही उपहास्य और करुण, और अपनी इस मुक्ति से सशक्त।

सोचता हूँ, अगर केवल वही मुझको समझ सकी है, तो...

उसका आज एक पत्र मुझे मिला है, जो वह स्वयं ही मेरी खिड़की के सामने से निकलते हुए मेरे आगे फेंक गई है।

आज उसका जवाब दे देना...था। इसीलिए (और भी जो कारण हो) इतनी बहस हुई।

उस पत्र में दो मिली हुई मूर्तियाँ अंकित थीं, जैसी स्त्रियाँ दीवारों पर बनाती हैं। एक पुरुष की थी, दूसरी नारी की। उनके नीचे कई लकीरें खिंची हुई थीं। और यही उसका पत्र था।

★

नृत्यकला के उपकरण

●

[जितेन्द्रकुमार]

जड़-चेतन के सुमधुर सम्मिलन से होनेवाले प्रकृति के नाना खेलों में से कोई भी खेल, अकस्मात्, अनजान में किसी तरह कलाकार को खटक जाता है। इसके उपरान्त, उसके चिन्तन उसके दैनिक-कर्म और उसकी आदतों में एक नवीनता आ जाती है जो निरन्तर उसके मस्तिष्क और हृदय को स्पंदित करती रहती है उस खटकनेवाली बात की ओर ले जाने के लिए। यह क्रम उस समय तक सीमित रहता है, जब तक वह उस भाव को किसी रूप में व्यञ्जना कर व्यक्त न कर दे। नृत्यकार की दशा भी ठीक वैसी ही है बल्कि उससे भी कठिन, क्योंकि उसको अपने हृदय-भावों को व्यक्त करने के लिए एक कठिन माध्यम का सहारा लेना पड़ता है। वह अपने विचार आन्तिरिक प्रेरणा से चालित शरीर की भिन्न-भिन्न आकृतियों द्वारा दर्शकों के सम्मुख रखता है। अपने विचारों की निधि मस्तिष्क और अपने माध्यम शरीर में उसे एक सम्बन्ध स्थापित करना होता है। जो कुछ वह सोचता है, उसका शरीर, नृत्य-भाषा में उसको दूसरों तक पहुँचा देता है। यही नृत्यकला है।

इस नृत्यकला की शैली कोई भी क्यों न रहे पर नृत्यकार को अपने साधारण जीवन में अपने वाह्य वातावरण की ओर सदैव जागृत और सतर्क रहना चाहिए। किस आदत का, किस आयु का, कौन प्राणी, किस समय, किस रस को किस प्रकार व्यक्त करता है, किस प्रकार कौन अंग कैसी गति करता है—उसको यही देखना है और सीखना है। और अपने भावों को व्यक्त करते समय इसी की सहायता लेनी है। बिना इसके सब शैलियों (कथाकाली, भारत नाट्य, कथक मनीपुरी आदि) का वर्षों तक अध्ययन करने पर भी वह सफल नृत्यकार या अभिनेता नहीं हो सकता। अच्छी से अच्छी, प्रयत्न से याद की गई मुद्राओं और विभिन्न ताल संयुक्त अंग-भंगी दिखाने पर भी, भाव और रसहीन होने के कारण असन्तुष्ट दर्शकों की ओर से उसे यही सुनना पड़ेगा—'कुछ नहीं साहब! कुछ मजा नहीं आया, आना बेकार हुआ।' इसकी सहवासिनी है दत्तचित्तता जो कुछ कम महत्व की नहीं। कलाकार को कभी भी इसे हाथ से न जाने देना चाहिए नहीं तो वह सब किये-कराये पर पानी फेर देगा। रंगमंच से परिचित होते हुए भी यदि उसके ध्यान का केन्द्रीकरण—नृत्य में न हो कहीं और अटक जायेगा तब न तो वह उपयुक्त भाव ही नृत्य में ला सकेगा और न दूसरे दृष्टिकोणों से ही उसे सफल बना सकता है। यही कारण है कि दर्शकों की तालियों की प्रतीक्षा करनेवाले या

अपने अन्य सहकारियों से कुछ अधिक विशेषता दिखाने के प्रयत्न में रहनेवाले नृत्यकार अपने विज्ञापन में की गई निज प्रशंसा के ठीक विपरीत निकलते हैं।

आत्मचेतना कला की जितनी घातक है उतनी ही आवश्यक और जीवन-संचारिणी भी। जहाँ यह अपने को विज्ञापित करने में नियोजित हो वहाँ अहंकार का रूप धारण कर लेती है पर कला के अभ्रान्त और शुद्ध क्षेत्र में उसका प्रयास सावधानी के रूप में सहायक हो जाता है। यह नृत्यकलाविद् को उसके विषय से कहीं दूर ले जाकर फेंक देती है और वह पात्र के स्थान पर स्वयं कथानक में आ घुसता है। यही नहीं आत्मचेतना उसको रंगमंच पर बिना झिझक के साथ जाने में भी बाधा डालेगी और वह स्वयं नृत्य में अहंभाव का ध्यान रख रंग में भंग कर देगा। पर यदि उसने आत्मचेतना पर विजय पाई और अपने को भुला दिया तब उसको सफलता के सुन्दर स्वप्न भी भुला देने पड़ेंगे। 'बोल हरि, बोल हरि...' की रट लगा हरिकीर्तन में मस्त हो आत्मचेतना खो भले ही वह प्रशंसा-पात्र बन बैठे पर रंगमंच पर कभी भी सफल न हो सकेगा। वहाँ उसको अपना ही नहीं परन्तु अन्य सहकारियों, ताल, वाद्ययन्त्रों, कथानक और अन्य बहुत-सी वस्तुओं का भी ध्यान रखना पड़ता है। उसे आत्मचेतनाशील न होकर भी आत्मचेतना को कभी भी न खोना चाहिए।

नृत्य का प्राण है उसकी अनुभूति। यदि नृत्य-साधक का मन किसी कारण ठीक चिन्तन करने पर भी किसी पात्र विशेष की स्थिति में अपने को न रख सका तब वह जो कुछ भी दिखाएगा वह अवश्य अस्वाभाविक होगा। इसके विपरीत यदि वह उसको पा गया और स्थायी भाव को विकसित कर सका तब भूल होने पर भी उस अनुभूति के द्वारा वह अपने नृत्य को सफल बना ले जायेगा और किसी को कुछ कमी का आभास न होगा। अनुभूति ही से वह अपनी कथा का प्रसार, वातावरण की सर्जना और दर्शकों के हृदय में उनके स्थायी भाव को जागृत कर रस की निष्पत्ति कर सकता है।

नृत्यकार का शरीर जिसपर चित्रपट की नाईं क्रम से उसके मनोगत भाव अंकित होते और छिपते रहते हैं नृत्यकार के स्थान पर नृत्यकला का शरीर है उसपर पूर्ण अधिकार होने की आवश्यकता है। इस अधिकार के साथ ही साथ उसमें सुन्दरता (grace) भी लानी पड़ेगी। चित्र पर की सुन्दरता है उसके तनाव और स्वच्छता में, लेखक की लेखनी की महत्ता है उसकी शैली के साथ-साथ लेख ओतप्रोत ध्वनी के तरल प्रभाव में, इसी प्रकार नृत्यकार की भी उसकी आंगिक चेष्टाओं की वैचित्र्यता में प्रशंसा है जिनका परिवर्तन एक ऐसी सुन्दरता से होना चाहिए जो रहस्य का निर्माण करती हुई दर्शकों की मनोमंजूषा को मधुरता और कौतूहल से भर दें। परिवर्तन में ही आकर्षण है जो मनोहर और मौलिक कला का जन्मदाता है। परन्तु यदि इन सुन्दर आंगिक क्रियाओं और पद-विन्यासों में अनुभूति के संचालन का अभाव रहा तब यही मनोहर होने के स्थान पर एक असमय और थकानेवाली हो जायेगी।

रंगमंच को जो वर्तमान युग में नृत्य के लिए अनिवार्य है, वास्तविकवादिता

का अनुगामी न बना सादा ही रखा जाए तब ही ठीक होगा। चित्रित पर्दों से रस की परिपक्वता में सहायता लेनी नृत्यकार की कमजोरी ही नहीं दिखाती, परन्तु साथ ही में नृत्य को गौण बना दर्शकों के नेत्र रंगमंच के वैचित्र्य पर केन्द्रित हो जाते हैं। हाँ, सरल रूप से रंगमंच को सजाने में कोई हानि नहीं। उद्दीपन विभाव के लिए पृष्ठ-दृश्य में यह सजावट संकेत मात्र ही के रूप में (impressive) होनी चाहिए जो कुछ इङ्गितों द्वारा नृत्य को और भी प्रभावशाली बना सके। पर यदि इस सीमा से बाहर यह व्यंजक के रूप में (expressive) हो गई तब नायक या नर्तक इसमें खो जाएगा और यह स्वयं मुख्य बन बैठेगी। पर प्रकाश के विषय और रसानुसार कोण और रंग में परिवर्तन करना अत्यावश्यक है। वह समय अब नहीं जब किसी कथाकालिक मुख्य पात्र के आने पर दो बड़ी-बड़ी मशालों को उसके मुँह के पास लाकर ही सन्तोष कर लिया जाता था। और वह काल भी कालकवलित हो गया जब कथक नर्तकी के साथ मशालची ठुमक-ठुमककर महफिल के मुसाहबों का मनोरंजन कर, उनको श्वेत दाढ़ी के बीच में ताम्बूलरचित अरुणाभ अकर्मित दन्तावलि निकालने को विवश कर देता था।

परिधान और शृंगार में भी हमें अपनी पुरानी और वर्तमान प्रथाओं को तिलाञ्जलि देनी होगी। न तो 'पाउडर' और 'लिपस्टिक' के लेपों से ही काम चलेगा न कथाकाली प्रथागत भ्रकुटी की मोटी-चौड़ी भद्दी रेखाओं से। हरे-पीले और लाल रंग पोतकर भी अब हम दर्शकों को सन्तुष्ट नहीं कर सकते। शृंगार स्वाभाविक हो जिसमें आदमी आदमी जान पड़े मिट्टी का पुतला या चीनी की गुड़िया नहीं। परिधान और शृङ्गार कथा के काल-क्रमानुसार प्रचलित प्रथाओं और पद्धतियों से मेल खानेवाले होने चाहिए। रावण का ब्रिचेज में आना, कृष्ण के वियोग में राधा का हाथ में रूमाल लेकर रोना, प्रतिहारी का पेटी (cross belt) लगाकर आना हास्यप्रद के साथ ही घृणाप्रद भी है। इससे नृत्य-कला ही नहीं बिगड़ती परन्तु हमारी सभ्यता और ऐतिहासिक मूल को भी ठेस पहुँचती है। आजकल नर्तकों को लहराता हुआ वस्त्र बहुत पसन्द है। हाथों के नीचे तितली के परों के सदृश महीन वस्त्र बाँधने, बहुत दूर तक घिसटनेवाला कोई और परिधान पहनने में वह मोहित करने की शक्ति समझते हैं। मूल्यवान वस्त्र और आभूषणादि नृत्य को सुन्दर बना देते हैं यह भी उनकी बनी-बनाई धारणा है। पर यह सब बातें उनकी मूर्खता को प्रगट करने के अतिरिक्त कुछ सार नहीं रखतीं।

इधर हमारी भारतीय नृत्यरसिक जनता ही नहीं बड़े-बड़े नृत्यकार भी घूँघुरुओं के पीछे इतने लट्टू हैं कि अपने नृत्य का आदर्श सब उसी में शेष कर देते हैं। बिना घुँघुरुओं के भी नाचा जा सकता है यह सोचना तो समझाने पर भी आसानी से मानने में राजी न होंगे। पैर से तबले के बोल निकालने में (कथक) की चाहे परिश्रम के मारे मुँह की आकृति कितनी ही भयानक और वीभत्स क्यों न हो जाए, वह सच्ची कला का आभास पाते हैं। यह भ्रम हमको दूर करना होगा। घुँघरू नृत्य का एक अंग अवश्य है पर वह मुख्य नहीं। इसी प्रकार वाद्ययन्त्र भी नृत्य-रस को पूर्ण विकसित होने में केवल सहायक

मात्र ही हैं। एक-दम से बहुत से यन्त्र बजा देने में कोई कला नहीं, परन्तु वह है ठीक समय पर कुछ विशेष यन्त्रों के परिवर्तन और बजाने में जिनकी विभिन्न ध्वनि मिलकर कथानक के स्थायी भाव से मेल खाती हो। विभिन्न यन्त्रों का परिवर्तन उसी प्रकार होना चाहिए जैसे किसी मशीन के पुर्जे निश्चित समय पर आकर अपना कार्य पूरा करने पर फिर अपने पूर्व स्थान पर लौट जाते हैं।

यही नृत्यकला की साधना है। कलाकार एक साधक है जो इन सब बातों पर दृष्टि रख वीणापाणी सरस्वती के आराधक का स्थान पा सकता है। नहीं तो अपनी भक्ति केन्द्रिका कला को दूर ही से नमस्कार कर और कोई अन्य काम-धन्धा देखने में ही उसकी भलाइ है। जो ऐसा नहीं करते वह अपने भाग्य को दोष देने में ही अपना जीवन नहीं बिताते कला को भी दोषी और संकुचित बना देते हैं।

*

नरक

●

[अकलंक मेहता]

मैं मरकर अभी नरक में आई हूँ। पिछले जीवन की याद अभी ताज़ा और सम्पूर्ण है इसलिए सोचती हूँ कि उस क़िस्से को क्यों न क़लमबन्द कर दूँ? मुमकिन तो नहीं है कि यह क़िस्सा उस दूसरी दुनिया में पहुँच सके जहाँ लोग पढ़ते-लिखते हैं, जहाँ से मैं अभी यहाँ आई हूँ, जहाँ मेरे दो बच्चे सुरेश और महेश हैं, जिन्हें यद्यपि मैंने अपने गर्भ से पैदा किया है लेकिन जिनके प्रति मैंने कभी सच्ची ममता महसूस नहीं की और जिनसे मैं आन्तरिक घृणा करती रही और उस घृणा के कारण ही इतनी जल्दी यहाँ आ पहुँची। आपको बता दूँ कि इस समय मैं केवल २१ वर्ष की हूँ और तपेदिक के बहाने लखनऊ के एक सरते मकान से यहाँ पहुँचा दी गई हूँ। उस दूसरी दुनिया के प्रति अब मुझमें मोह नहीं है—सम्भव है दो-चार वर्ष बाद जागे। उसके बारे में लिखने के लिए फिर मैं चिन्तित क्यों हूँ? क्यों न वह सब भूल जाऊँ? भूलने की चेष्टा तो मैं अवश्य करूँगी, वह सब जो एक स्वप्न की भाँति था। लेकिन क्या सकूँगी? न हो उसमें कुछ मिठास, लेकिन उसका विष शरीर के रोम-रोम में इतना भर गया है कि उससे नजात नरक की इस भट्टी की जलन में भी नहीं हो सकती। और सबसे तलख़ याद सुरेन की है जिनके कारण मेरी यह दशा हुई और जो दुनिया की निगाहों में मेरे आक़ा, मेरे मालिक, मेरे पति हैं। पूरा क़िस्सा ही आपको सुना देती हूँ। यहाँ ज्यादा सोचने-समझने का अवकाश तो मिलता नहीं है; और यहाँ अगर कोई कुछ लिखते हुए पा लिया जाता है तो उसके हाथ

काट लिये जाते हैं। इसलिए, मेरी पुरानी दुनिया के दोस्तो, संक्षेप में जितना कुछ भी सकूँगी बयान कर दूँगी और कभी अगर यह ज़मीन के अन्दर से होकर आप तक पहुँच जाय तो आप में से जिस यह मिले वह इसे छपवा दे ताकि मुझे तसल्ली हो जाय कि लोगों को मेरा क़िस्सा मालूम हो गया है, मैं जो इस वक्त नरक में भेज दी गई हूँ। मेरा तो कोई फ़ायदा इससे होने से रहा। मैं फ़ायदा चाहती भी कब हूँ। मैं यहाँ कम ख़ुश नहीं हूँ। इससे अच्छी जगह से तो आई नहीं हूँ कि यहाँ पहुँचने पर कुछ भी यादें दिल पर चोट करतीं। ऐसा होता तो मैं स्वर्ग में भेजी गई होती, नरक का द्वार क्यों देखा होता। न भाई, मैं यहाँ बहुत आराम से हूँ। मुझे यहाँ से निकलने की बिल्कुल भी इच्छा नहीं है।

× × ×

मेरा नाम क्या है यह जानने से आपको कोई सरोकार नहीं है। इतनी शर्म अभी बाक़ी है कि नाम न बताऊँ। लेकिन शायद मेरे नाम की वजह से आपको मुझमें ज़्यादा दिलचस्पी हो और इसलिए भी कि यह आपकी ख़ुशी है, मैं अपना नाम बताती हूँ। मेरा नाम है पद्मिनी। प्यारा नाम है न ? मेरा घर संयुक्तप्रान्त, भारतवर्ष के एक छोटे-से नगर मिर्ज़ापूर में था। मेरे पिता एक अतिशय व्यवहार-कुशल व्यक्ति हैं और मेधावी भी कम नहीं हैं। इस समय उनकी आयु ५० वर्ष की है और यह मेरी तीसरी माँ हैं जो उनकी पत्नी हैं। मेरी अपनी माँ के बाद मेरी एक और माँ मर चुकी हैं। यह मेरी तीसरी माँ देखने में असुन्दर, व्यवहार में कर्कश और आदतों में घिनौनी है। ऐसी बातें अपनी माँ के विरुद्ध, चाहे वे सौतेली ही क्यों न हो, कहने का मुझे क्या अधिकार है ; लेकिन नरक में आकर आपको मानना होगा कि सभी अधिकार मिल जाते हैं। इन मेरी माँ की आयु इस समय २४ वर्ष है, मुझसे तीन वर्ष अधिक, और इनसे मेरे पिता का विवाह हुए सात वर्ष हो चुके हैं ; अर्थात् ये उस समय आईं जब मैं १४ वर्ष की थी। मेरी अपनी माँ की मृत्यु उस समय हुई जब मैं ६ वर्ष की थी ; छः से लेकर चौदह वर्ष की आयु तक मुझे अपनी दूसरी माँ के अधीन बिताने पड़े थे जो किसी भी मापदण्ड से मृदु नहीं कही जा सकतीं। अपनी माँ की मैं अकेली सन्तान थी, दूसरी माँ के दो लड़कियाँ थीं जो मेरी बहनें थीं और तीसरी माँ निस्सन्तान थीं। पिता मेरे एक सेठजी के यहाँ नौकर थे जहाँ से तनख़्वाह के अलावा गेहूँ-चावल के बोरे, घी के टिन, और बड़े-बड़े त्योहारों पर मेवे-मिठाई भी आ जाते थे, जिनके बारे में मेरा अपना ख़्याल है कि वे हिसाब के अलावा थे और टेढ़े तौर से हमारे यहाँ पहुँचाए जाते थे। लेकिन पिताजी बहुत कुशल व्यक्ति हैं और उनके बारे में कुछ भी अनुचित कहना मुझे नहीं सोहता क्योंकि मेरी उस छोटी ज़िन्दगी में सिर्फ़ उनकी ही एक ऐसी याद है जिसे मैं तोड़-मरोड़कर किसी तरह मीठी कह सकती हूँ। तनख़्वाह सुनती थी उन्हें १००) महीने मिलते थे, कभी-कभी कुछ ऊपर से मिल जाता था, घर बाप-दादों का था ; रसद सेठजी का था और बाबू (पिताजी) हमेशा यह १००) बेदाग़ बचा लिया करते थे। उस रुपए को छूना वे किसी जघन्य पाप से कम न समझते थे। सुबह बारह बजे भोजन करके बाबू सेठजी की कोठी पर जाते थे और रात को दस-ग्यारह बजे लौटते थे जब हम सभी सो चुकी होती थीं। रात का ब्यालू वह घर पर नहीं करते थे और इस-

लिए हमारे घर में रात को खाना शायद ही कभी बनता हो। हाँ, जब कोई मेहमान आ जाता था तो मजबूरी हो जाती थी। वही सुबह का खाना बचाकर रख लिया जाता था, जो हम बच्चे दिन भर और माँ रात को खा लेती थीं। दिन में कभी-कभी हमारी निगाह बचाकर माँ चाट, तिकोने, बुँदियाँ या ऐसी ही कोई और मिठाई या चरपर अँचार या चूरन खाने की जब कभी चेष्टा करतीं तो वे पकड़ ली जातीं और फिर धौल-धप्प के साथ जो दृश्य उपस्थित होता उससे अच्छा मैं अपने को बिना चाट के ही समझ लेती और घर के तीन कमरों में से एक सबसे अँधेरे में एक पुराने तख्त पर जाकर पड़ रहती और न जाने क्या सोचा करती। लेकिन मेरी दो दूसरी बहनें मार-पीट के बाद मरहम-पट्टी के तौर पर एकाधा अधसड़ा लड्डू और घाव पर नमक-मलहम के रूप में थोड़ा-सा चरपरा चूरन-अँचार पाकर नाचती-कूदती प्रसन्न होती हुई बाहर चली जाती थीं और मुझसे ऐसे भद्दे इंगित-संकेत करती थीं कि मैं शर्म से गड़ जाती थी—ये जो मेरी छोटी बहनें थीं, यह आठ और दस बरस की छोकरियाँ। पिताजी जब कभी बहुत खुश होते, और ऐसे मौके कम ही होते थे, तो मैं भी साहस करके दो-चार पैसे माँग लेती और वे दे भी देते क्योंकि मैंने उन्हें कहते सुना था कि उनको मेरी गोल-गोल बड़ी आँखें और खिंची हुई पलकें बहुत मोहक लगती थीं; फिर उनको शायद यह खयाल भी आ जाता था कि मेरी अपनी माँ मर चुकी थी।

मैं ठीक से नहीं कह सकती, सेठजी के यहाँ रात के खाने से, माँ की भद्दी आदतों से या रात को पूरी तरह नींद न आने के कारण या अन्य किसी ईश्वरीय कारण से जब वे सवेरे ९ बजे सोकर उठते थे तो बहुत ही बुरे मिज़ाज में होते थे और उठते ही एक बीड़ी जलाकर पीते, फिर शौच जाते और दातों को प्राय केवल उँगली से रगड़कर उनकी सफाई का भरोसा कर लेते थे और तब ताज़ी गरम जलेबियों का नाश्ता करते थे जो उनके लिए खास तौर पर चार पैसे की रोज़ सुबह मँगाई जाती थीं। इसके थोड़ी देर बाद वे एक लाल रंग का अँगोछा बाँधकर अपने हाथों से कड़वा तेल बदन में मलते थे और कभी-कभी हम बहनों से मदद लेते थे जिसके एवज़ में कभी अगले दिन एक जलेबी या कभी एक पैसा हमको देते थे। फिर नहाते थे और बाद में कुछ रुक्के-पुर्जे लेकर हिसाब करने बैठ जाते थे या माँ को अपने कमरे में बुलाकर कुछ बातें करते थे। उस कमरे में जाने की हममें से किसी को इजाज़त न थी। ११ बजे खाना खा लेते थे और तब हुक्का लेकर चारपाई पर लेट जाते थे और गुड़-गुड़ करते हुए अम्माँ के साथ गुपचुप न जाने क्या बातें करते रहते थे। उम्र पचास की थी लेकिन स्वास्थ्य बहुत अच्छा था और चालीस के अन्दर ही लगते थे।

ऐसे वातावरण में, ऐसे घर में मैं पैदा हुई और बड़ी हुई। यहाँ पढ़ाने-लिखाने की कोई परंपरा ही न थी; केवल घर पर अक्षर-ज्ञान कराया गया और अपने स्वाभाविक विद्यानुराग से मैं बराबर प्रयत्न करती रही और किताबें बड़ी आसानी से पढ़ लेती थी। यहाँ तक कि आगे चलकर मुझे पढ़ने से विशेष प्रेम हो गया और तब मैं इधर-उधर से माँगकर पत्रिकाएँ पढ़ने लगी। इन पत्रिकाओं में प्रेम के किस्से होते थे, भली स्त्रियों और

लड़कियों के विषय में लेख होते थे। इनमें से बहुत-सी बातें मेरे लिए बिल्कुल नई होतीं थीं। मुझे ताज्जुब होता था कि दुनिया में क्या ऐसी बातें भी हो सकती हैं? उन बातों का मेरे जीवन से कहीं कोई दूरदराजी सम्बन्ध भी न था।

पुराना किस्सा थोड़ा फिर दुहरा दूँ। जब छः वर्ष की थी, तभी माँ की मृत्यु हो गई। तब मैंने क्या अनुभव किया होगा इसकी याद तो मुझे नहीं लेकिन बिना माँ की मैं अधिक दिन रहने नहीं दी गई क्योंकि सुनती थी, साल भर के अन्दर ही बाबू मेरे लिए दूसरी माँ ले आये। कह नहीं सकती उन माँ से मुझे कोई सन्तोष उस समय मिला या नहीं। बाद की जो बातें मुझे याद हैं उनसे तो यही कहना होता है कि मैं बिना माँ के ही ज्यादा अच्छी थी। हो सकता है, जब तक उनकी खुद की लड़कियाँ न आई हों वे मुझपर अपना स्नेह खर्च करती रही हों, यद्यपि इसकी आशा करने की कोई मज़बूत दलील मेरे पास न कभी थी, न अब है। घर में एक प्रकार से अजनबी की भाँति मैं पड़ी रहती थी, इतना मैं कह सकती हूँ क्योंकि तबियत से ही मैं सौम्य और शान्त रही हूँ। मुझे घर के लोगों से कम ही सरोकार था, केवल वहीं तक जहाँ तक कि मेरी मा मुझे सही या ग़लत तौर पर गालियाँ दिया करती थीं और कभी-कभी ऐसी गन्दी बातें मुँह से निकाल दिया करती थीं जिन्हें सोचने में मुझे अब भी लज्जा आती है—अब जब मैं नरक में आ पड़ी हूँ। लेकिन सरोकार न रखने के मेरे पास साधन बहुत ही कम थे। पैत्रिक घर में सिर्फ तीन कोठरियाँ, एक रसोईघर, परिवार भर का सम्मिलित शौच-गृह और आँगन हमारे कुटुम्ब को मिला था। इन तीन कोठरियों में से एक अम्मा के लिए सुरक्षित थी, एक बाबू के लिए और बाकी एक में भानमती का पिटारा था, सभी प्रकार के सामान का कबाड़खाना जिसमें पहले शायद मैं दुनिया से मुँह मोड़ने के लिए अकेली छिपती रही होऊँगी और बाद में एक-एक करके अपनी दो और बहनों के साथ उसी नेक काम में लगती थी। शर्म के साथ क़बूल कर लूँ कि मेरी इन दो बहनों की अनेक बातें आज भी मुझे शर्म से लाल कर देती हैं।

इसी कोठरी में मेरी निजी सम्पत्ति थी—यथा, एकाध टूटे-फूटे खिलौने, एक-दो शोख रंगों में रँगी हुई धोतियाँ जिन्हें मैं बहुत सम्हालकर रखती थी, एक तख्ती, दो-तीन सरकंडे की कलमें, एक स्लेट और पेंसिल और एक-दो बच्चों के पढ़ने की किताबें। इससे अधिक सामान मुझे तेरह वर्ष की उम्र तक नहीं दिया गया। मुझे बालों में लगाने के लिए तेल अम्मा से माँगना पड़ता था, जो इस माँग को इतना अनुचित समझती थीं कि कभी मुझे यह भला काम करने का साहस ही न होता था और मैं सप्ताह या दस दिन में जब कभी उन्हें बहुत खुश पाती या अपनी सेवा से खुश कर लेती तब बालों में तेल पड़ जाता। कभी-कभी जब उनके सिर में तेल लगाने का अवसर मुझे मिल जाता तब मैं यह नेक काम कर डालती और वे नाराज़ न होतीं क्योंकि उन्हें मेरा उनका सिर दबाना पसन्द था। मेरे बालों में कहे जानेवाले कुछ जीव-जन्तु भी थे जिनसे अपना बचाव करने का मेरे पास कोई साधन न था। आपको यह सब अजीब लगता है? जी हाँ, आपकी अपनी बहन परी-सी साफ़-सुथरी है तो आप क्या जानें कि दुनिया में और भी छोकरियाँ हैं जो गन्दी हैं।

तेरह वर्ष तक की मेरी दिनचर्या भी आपको अजीब मालूम होगी अगर आप अजीब दुनिया में रहते हैं। अगर मेरी ही दुनिया में रहते हैं तो इससे शायद तकलीफ़ भी हो क्योंकि यह हम आप जैसों के घरों की रोज़ की कहानी है और यद्यपि मैं अब आपकी दुनिया से बहुत दूर हूँ और मुझे यह सब बहुत धुँधला प्रतीत हो रहा है लेकिन इस सबकी याद मुझे अच्छी तरह है और अब यह याद तकलीफ़ पहुँचा रही है।

सोकर लगभग छः बजे उठती थी। बिस्तर के नाम एक टूटी चारपाई और उस पर जर्जरित दरी मुझे मिली थी। रात को अगर मच्छर काटते तो अपनी धोती में अपना शरीर छिपा लेती थी। उठने पर घर में झाड़ू लगाती। तब तक साढ़े सात बजते। फिर थोड़ी देर अपनी कोठरी में वक़्त जाया करती और फिर चौके में पहुँच जाती थी, जहाँ से लगभग १ बजे छुटकारा पाती थी। तब से लेकर पाँच बजे तक मेरी अँधेरी बदबूदार कोठरी थी, मैं थी, मेरी दो फ़ोहश बहनें थीं जो न मालूम कहाँ से गन्दे गाने और उनसे भी अधिक गन्दे हाव-भाव सीखकर आती थीं और उनका प्रदर्शन मेरे सम्मुख करती थीं; मेरी स्लेट-पेंसिल, एकाधी पुरानी किताब या पत्रिका होती थी और फ़र्श होता था जिस पर मैं बड़े इतमीनान से सो सकती थी। मैंने कहा न कि अपनी तबियत से मैं एकान्तप्रिय थी अन्यथा मुझे कुछ और भी शुभ कर्म करने को मिल सकते थे जैसे पड़ोस की लड़कियों का साथ और खेल-कूद; गन्दे हाव-भाव और चाट-चटपटा, गन्दे गाने और उछल-कूद। वह सब मुझसे कभी स्वीकार न हुआ। इस तरीक़े से दिन गुज़र गये। बीच-बीच में अम्मा की भद्दी गालियाँ और मार; बाबू की बढ़ती हुई तोंद और घटते हुए प्यार की याद भी साथ रह गई है।

फिर एक दिन यह अम्माँ भी मर गईं। मैं भी अपनी दो बहनों के साथ रो ली क्योंकि वैसा करना ज़रूरी था और फिर धीरे-धीरे उनको भूल चली, क्योंकि यह भी उतना ही करणीय था। मेरी और दो बहनें जिनकी माँ असल में मरी थीं मुझसे अधिक दुःखी थीं लेकिन जल्दी ही वे फिर अपनी पुरानी हालत को पहुँच गईं और माँ के घर में न रहने के कारण और भी मनमानी करने लगीं। उससे मुझे कोई सरोकार न था, न है। एक दिन बिल्कुल दूसरे की तरह था—अँधियारा, बेमानी, निराश, निस्पंद। यह सब अब सोच सकती हूँ। तब तो यही समझती थी कि इसके बाहर या इसके अतिरिक्त और कोई जीवन है ही नहीं। पत्रिकाओं में ज़रूर कभी-कभी कुछ ऐसी लड़कियों के किस्से पढ़ती थी जो स्कूलों में पढ़ने जाती हैं, रंग-बिरंगे चमकदार कपड़े पहनती हैं और हमेशा खुश ही नज़र आती हैं। ऐसी लड़कियों के प्रति मेरे मन में बड़ी इज़्ज़त थी। (अब वह नफ़रत में बदल गई है।) उन लड़कियों की तसवीरें भी कभी-कभी छपी हुई मैंने देखी थीं। वे मुझसे बहुत भिन्न थीं, यह मेरा अपना विचार था। दो-चार मर्तबा कुछ ख़ूबसूरत लड़कियों को मोटरों या अन्य सवारियों पर अपने सामने जाते हुए भी देख चुकी थी लेकिन उनसे आँख मैं कभी न मिला सकती थी—मैं, जो गंदे कपड़ों में उससे भी अधिक गंदे शरीर को छिपाए हुए थी। मैं आँखें नीची कर लेती। यह सब तो यों ही होता आया है। मैं इसके ख़िलाफ़ कुछ न कहती थी। मेरी बुद्धि ही इतनी कहाँ थी?

फिर एक बार साल भर भी मैं बिना माँ के न रहने दी गई। बाबू को बराबर यही चिंता बनी रहती थी कि हम तीन बहनों का क्या होता है जब वे सेठजी की कोठी पर चले जाते हैं। और यह चिंता उन्हें परेशान किये हुए थी जो यह बताने की शायद अब जरूरत नहीं कि बिना माँ के हमारा अस्तित्व अधिक सुखी था। लेकिन होनी होकर ही रहती है। मैं बिना माँ के न रहने दी गई।

यह नई अम्माँ आईं। उनको भी मैंने नई अम्माँ संबोधन किया। वे विवाह के समय १७ वर्ष की थीं—मुझसे तीन साल बड़ी। देखने में जैसी कुछ वे हैं, मैं पहिले ही बता चुकी हूँ। यहाँ नख-शिख के वर्णन का अवकाश किसे है?

इन माँ के छत्र-छाया में मैं रहने लगी। हमारा और सबसे अधिक मेरा स्वतंत्र अस्तित्व था ही कहाँ। जब मौका पड़ा मालिक बदल दिया गया और मुझे उसकी इच्छानुसार अपने को ढालना पड़ा।

अब सोचती हूँ कि बाबू का स्नेह मुझ पर से क्यों गायब होने लगा। बताने की तो आपको आवश्यकता नहीं होनी चाहिये। समझ लीजिये कि अगर आप यों ४७ वर्ष की उम्र में १७ वर्ष की युवती ब्याह लावें तो आपकी भी वही दशा होगी। सच मानिये।

जिन्दगी से यों बेखबर, आशाहीन, सुखहीन, जीवन के दिन कट रहे थे। अब मैं विवाह के योग्य भी हो ही गई थी और बाबू को पहली मर्तबा मेरी चिंता इतनी तीव्रता से अनुभव हुई। नई अम्माँ भी चाहती थीं कि जल्दी से जल्दी इस मुसीबत से छुटकारा मिले। एक जवान लड़की को घर में रखना किसी साँप को पालने से किसी भी प्रकार कम नहीं है। अम्माँ की सारी बातचीत में मैं देख सकती थी कि उनको मुझसे कितनी व्यापक घृणा है तद्यपि इसका कारण मैं आज तक भी नहीं समझ सकी हूँ। मेरा यौवन उनकी दृष्टि में एक बड़ा पाप था। भला इसमें मेरा कुसूर क्या हो सकता था? मैंने कभी अपने यौवन का प्रदर्शन न किया था न मुझसे इस प्रकार का कोई भय ही था।

इन दिनों की सिर्फ एक घटना सबसे ज्यादा उभार से मन पर घर किये बैठी है और उसकी याद से इतना सुख, इतना आनन्द मिलता है कि रोमांच हो आता है। पर वह कोई करणीय कर्म न था। मन से भूखी मैं, तन से भूखी मैं, करणीय और अकरणीय का अन्तर न देख सकी। अब भी सोचती हूँ कि आज भी वह अन्तर देखना न चाहूँगी। जिस समाज ने मुझे आज नरक में भेजा है और जीवन में जिस समाज ने मुझे नरक से भी अबतर हालत में रखा उसके विधानों की मान्यता स्वीकार करूँ मैं? न, अब यह न हो सकेगा। इतना दंभ मुझमें नहीं है। इतना पाखंड भी मुझमें नहीं है। संसार में रहती तो शर्म से चाहे इस मान्यता को, इस व्यवस्था को, इस पाखंड को स्वीकार कर लेती और अपनी जबान न खोलती, लेकिन नरक में पहुँचकर इस सबका विचार नहीं रहता। नहीं रहना चाहिये।

जब मैं १६-१७ साल की थी और मेरे विवाह के विषय में अम्माँ और बाबू बहुत चिन्ता और सरगर्मी दिखा रहे थे, उसी समय का जिक्र है। बाबू को सचमुच मेरे

विवाह की चिंता थी; अम्माँ को मुझसे गला छुड़ाने की सचमुच बड़ी फ़िक्र थी और इसलिए, अनजाने में ही, वर न मिलने के कारण, न मिलनेवाले वर के साथ मुझे भी लगभग रोज़ ही दो-चार गालियाँ खानी पड़ती थीं। मेरे मुहल्ले में मेरे पिता के एक मित्र का लड़का था। उसका नाम नहीं लूँगी क्योंकि वह आज आपकी दुनिया में है और अपने साथ उसे मैं डुबाना नहीं चाहती क्योंकि मेरे छोटे-से जीवन में, सचमुच ही क्षणभंगुर जीवन में उसकी ही याद मीठी है। मेरा नाम जानने से ही आप उसका नाम हठात् शायद न जान सकें। जानते हों तो आपसे प्रार्थना करूँगी कि किसी से उसका नाम बतावें नहीं। वह बेचारा कभी-कभी हमारे घर आता था। बाबू से दस-पाँच मिनट बातें करता; अम्माँ से बातें करता; हमसे हँसता-बोलता; मेरी बहनों के साथ खेलता। बहुत ही भला लड़का था। उम्र मुझसे तीन-चार साल ज्यादा थी। अपने घर से वह भी मेरी ही तरह तिरस्कृत था। न मालूम क्यों उसका ध्यान मेरी ओर आकर्षित हुआ। देखने में मैं अवश्य ही असुन्दर हूँ। वर्ण की काली, चेहरे-मोहरे से बेढंगी हूँ लेकिन अपनी उम्र में सभी में आकर्षण होता है। उसने मुझमें अधिक और अत्यधिक दिलचस्पी लेनी शुरू की और मुझे जीवन में पहली मर्तबा एक हमदर्द मिला। मैं उसकी सूरत देखते ही खिल उठती और शर्म से लाल हो जाती; वह मुझे देखते ही अंदर-अंदर खिल उठता और शर्म से बौखला जाता। शुक्र यही था कि अम्माँ ने हमारी निगाहों को शुबहे से नहीं देखा क्योंकि उनका ख़याल था कि मैं इस क़दर बदसूरत हूँ कि मैं किसी की नीयत में फ़ितूर पैदा ही नहीं कर सकती। उन्हें क्या मालूम कि दुनिया में एक जवान लड़की से ज्यादा कोई भी चीज़ नीयत की ख़राबी के लिए जिम्मेदार नहीं है। बहरहाल मुझे उसके आने का इन्तिज़ार रहता और उसको मुझे देखने की बेताबी। यही मेरे प्रेम का उदय था और यही अस्त। उन दिनों की याद से मैं अब भी सिहर उठती हूँ—वे खुमारी के दिन थे, मदहोशी के दिन थे। फरवरी का महीना था और हवा में नए जीवन की मादकता थी और बाग़ों में आम के बौर लगे थे जिनकी सुगंध मुझको बचपने से ही बहुत प्यारी थी। और मैं ख़ुशी से झूम उठती थी। मैं उसके साथ एक-दो रोज़ शाम को घूमने भी गई थी। और तभी एक दिन उसने बाबू से मुझे सिनेमा दिखाने ले जाने की इजाज़त ले ली और मैं उसके साथ ज़िन्दगी में पहली बार सिनेमा देखने गई। उस दिन की खुशी मेरे अन्दर समाती न थी। उसने जीवन में मुझे वह कुछ दिया जिसकी मैं भूखी थी—सब चीज़ों से अधिक भूखी थी—प्रेम। जब लौटा तो वह मुझे घर तक पहुँचाने आया। रात के ९-३० बजे थे और हल्की-हल्की खुन्की के साथ मस्ती से भरी हवा डोल रही थी—उस दिन की याद मुझे इतनी अच्छी तरह है जैसे यह अभी कल का ही जिक्र हो। जब किवाड़ खोलकर मैं अन्दर के बरामदे में दाख़िल हुई वैसे ही यकायक बिजली की तेज़ी के साथ उसने मुझे अपनी बाहों में भर लिया और भावना के आवेग में अपने पास खींच लिया और मेरे होंठ चूम लिये। मैं शर्म से झिझकी नहीं; मैंने चाहा कि वह मुझे एक बार और भी चूम लेता। आज भी होंठ उस चुम्बन से जल रहे हैं। उस चुम्बन के बाद जीवन सचमुच मेरे लिए भयावह हो गया। प्रेम का उदय हो चुका था और अब

मैं मानसिक और शारीरिक यंत्रणा सहने लगी। इस चुम्बन में मेरा हाथ कहाँ तक था, कहना कठिन है। मैं सच्चे प्रेम से इनकार नहीं करूँगी। मैं नरक में आकर भी और आकर ही कहती हूँ कि मैं उसे चाहती हूँ, अपने जी-जान से चाहती हूँ, अपनी जिन्दगी की हर चीज़ से ज्यादा उसे चाहती हूँ, अपने बच्चों से, अपने पति से, अपनी माँ से, अपने बाप, दुनिया की सब चीज़ों से अधिक उसे चाहती हूँ। आज भी अगर मैं दुनिया में वापस भेजी जाऊँ तो मैं उसी के साथ जिन्दगी बसर करना चाहूँगी। और उस चुम्बन की याद जब तक दुनिया में रही अपने साथ रखे रही और इसी लिए मौत के भी क़रीब गई और यहाँ पहुँचने पर भी उसकी याद ताज़ा है। उसे न भूल सकूँगी। उस चुम्बन के अंदर जो कुछ छिपा था दुनिया में उससे बड़ी कोई शक्ति, कोई यथार्थता, कोई और बल मुझे मालूम नहीं। फिर क्यों उससे इनकार करूँ ? क्यों ? क्यों ?

× × ×

इसके चार महीने बाद मेरी शादी हो गई। उस रात की घटना के बाद वह शर्म से कई दिनों तक नहीं आया। जब आया तो उसने मुझसे आँखें न मिलाईं। मैं उसकी शर्म समझती हूँ। फिर अचानक बाबू को सुरेन मिल गये। और यह कच्ची मुहब्बत अपनी क़ब्र में जा सोई जहाँ से मैं आज उसे उखाड़कर और उघाड़कर आपके सामने रख रही हूँ क्योंकि नरक में आने के बाद शर्म का क्या प्रयोजन ? यों अगर मेरी दुनिया में अम्माँ को यह क़िस्सा मालूम हो जाता तो अपनी ज़बान से वह मेरी बोटी-बोटी काट डालतीं।

बाबू मेरे विवाह में कुछ पैसा ख़र्च भी करना चाहते थे लेकिन अम्माँ की राय न थी। बाबू की ज्यादा चल न सकती थी क्योंकि वे दुनियादार आदमी हैं और उनकी दो लड़कियाँ ब्याहने को और बैठी हैं। सबसे बड़ी बात तो यह कि विवाह में रुपया ख़र्च करने की बात में अम्माँ की रज़ामंदी न थी। उनकी निगाह में हम बहनों के विवाह में ख़र्च की गई सारी रक़म पानी में डुबाने के बराबर थी क्योंकि हम उनकी लड़कियाँ न थीं। उनकी रज़ामंदी बहुत बड़ी चीज़ है क्योंकि बाबू जिन्दगी में उन्हें देर से लाये हैं तो उनका अधिकार यों भी बढ़ जाता है और चूँकि उनकी उम्र में और बाबू की उम्र में खासा फ़र्क़ है इसलिए वैधव्य की तकलीफ़ों से बचाव के लिए बाबू एक ही इलाज कर सकते हैं, और वह है पैसा। पैसा हर मर्ज़ का इलाज यों भी है। इससे बड़ा इलाज लुक़मान के पास भी नहीं होगा।

सुरेन घर के खाते-पीते आदमी हैं। बाप कहीं नौकर हैं, घर पर जमींदारी है। उनके पिताजी भी इस बहुविवाह के मर्ज़ से बरी नहीं हैं। कई शादियों से उनके भी कई बाल-बच्चे हैं। सुरेन को शिक्षा उन्होंने अच्छी दिलाई है और उस शिक्षा से अधिक सुरेन को उसका दंभ है और अपनी सुन्दरता का घमण्ड है। रङ्ग उनका मुझ-जैसा है जो कि किसी भी मापदण्ड से साफ़ नहीं है लेकिन चेहरे की बनावट सुन्दर है और ख़ास तौर पर बड़ी, लम्बी खिंची हुई आँखें उनके सौन्दर्य का भेद हैं, जिनकी लाली मोहक

है। खैर, मैं हर किसी के अपने सुन्दर होने का दावा मेट भी कैसे सकती हूँ और खास-कर अपने ही पति का। मुझे ऐसा करने की इच्छा कभी न थी। हाँ, सौन्दर्य का दम्भ मुझे खाता है। शायद मैं कुरूप हूँ इसीलिए। फिर सुनती हूँ कि दुनिया में भेजने से पहिले हमारा परमात्मा (जिसका अस्तित्व इस नरक में कोई स्वीकार नहीं करता) हर आदमी के कान में फूँक देता है कि उससे अधिक सुन्दर और बुद्धिमान पुरुष संसार में कोई है ही नहीं।

मैं अपने पिता के घर से स्नेह की भूखी, प्रताड़ित, लांछित अपने पति के घर और उनके पास इस आशा और विश्वास से आई कि मुझे अब मेरे जीवन का आसरा और सहारा और अपना सच्चा बसेरा मिल गया। जैसे भी होगा अब अपनी जिन्दगी काट लूँगी और खुशी से काट लूँगी। लेकिन भाग्य ने कभी मेरा साथ न दिया और यहाँ पर भी उसने मेरे साथ रहम नहीं किया।

विवाह के अवसर पर ही लेन-देन की बात को लेकर वर-पक्ष के लोगों से हमारे घरवालों का झगड़ा हो चुका था। हमारे समाज में पारिवारिक-कलह का प्रारम्भ यहीं से होता है। एक आदर्शवादी नवयुवक की हैसियत से सुरेन का इससे क्षुब्ध होना सर्वथा न्यायोचित था। लेकिन सबसे बड़ी बात जो हुई वह थी उनका मुझसे असन्तोष: मैं फूहड़ हूँ; अनपढ़ी हूँ, कुरूप हूँ—जी हाँ, निश्चय ही कुरूप हूँ। मैं चौंक पड़ी। मैंने इन बातों के बारे में तो कुछ सोचा ही न था कि मैं अशिक्षित हूँ, बेशहूर हूँ और बदसूरत हूँ। मुझे कभी बताया ही न गया था कि बीसवीं शताब्दी के छत्तीसवें साल का नवयुवक सौन्दर्य की माँग सबसे पहिले करता है। फिर मुझमें 'कविता' बिल्कुल न थी जब कि मेरे पतिदेव केवल कविता लिखते ही न थे बल्कि कविता के स्वरूप थे—लम्बे बाल, सुन्दर गोल आँखें और गोल चेहरा। वे मेरी इस खामी को कभी माफ़ न कर सके। मैं मर मिटी और वे मुझमें कविता ढूँढ़ते रहे। न मुझमें कविता जागी, न मैं उनके स्नेह का भाजन बनी।

शादी के बाद सुसराल जाने के कुछ ही दिन बाद वे मुझसे बेज़ार हो गये। दो महीने सुसराल रहकर मैं घर आई। तभी हमारे मन फट चुके थे। मैं तबियत से ही एकान्तप्रिय थी और मैंने कभी सुरेन के अधिक पास उनकी इच्छा के विरुद्ध नहीं जाना चाहा। वे मुझसे बचते भी रहे और मेरी ओर खिचते भी रहे। खिचते यों रहे कि उनकी सारी 'कविता' के बावजूद मेरी जवानी उन पर एक-दो पराजयों के बाद विजय पाती जाती थी और उस दौरान में वे मुझे थोड़ा स्नेह दे देते थे। और मैं भी यह समझती थी कि कुछ न सही तो इतने स्नेह के सहारे ही पड़ी रहूँगी। यहाँ कम से कम गाली और फोहश लफ्जों और अम्माँ की कटूक्तियों से तो नजात है। इसलिए जब अपने पिता के घर आई, जहाँ उम्र के सोलह-सत्रह साल गुजारे थे तो उस मकान और उस समस्त वातावरण के प्रति मन में बड़ी घृणा थी। अम्माँ ने इस भावना को पहचाना और ताने दिये और मैं जल्दी से जल्दी वापस सुसराल जाने के लिए मजबूर कर दी गई। पिता

के घर लगभग एक महीने रही होऊँगी। इसी बीच मैंने देखा कि मुझमें परिवर्तन होने लगा है। इस दफ़ा जब मैं अपनी अँधेरी कोठरी में बैठी या लेटी तो मेरा दिमाग़ खाली न था, शान्त न था। मैं सोचती थी कि इसमें मेरा क्या कुसूर है कि मैं ऐसे घर में पैदा हुई जिसमें बाद में सौतेली माएँ आने को थीं; इसमें मेरा क्या कुसूर है कि बाबू ने मुझे पढ़ने के करीब नहीं जाने दिया; और मुझे अपना घर ऐसा मिला जिसमें सिवा गन्दगी और बेशऊरी के मैं और कुछ सीख ही न सकती थी। यही क्या कम था कि मैं अपनी दो और लायक़ बहनों की तरह ज़बान की उतनी ही तेज़ और गालियों की कला में उतनी पटु न थी वर्ना सुरेन बाबू को मालूम हो जाता कि फूहड़ और बदशहूर कहते किसे हैं। इसमें भी मेरा क्या कुसूर कि मैं बदसूरत पैदा हुई या सुरेन की निगाहों में बदसूरत लगी—मेरा अपना विचार अब भी यही है कि मैं कुरूप नहीं हूँ वर्ना क्यों मेरा वह रसिया मुझे अचानक यों चूम लेता। खैर, जब मैं पैदा हुई हूँ, या सही तौर पर कहिये कि जब मैं पैदा की गई हूँ तो चाहे मैं काली हूँ या गोरी, स्वस्थ हूँ या बीमार, पढ़ी-लिखी हूँ या मूर्ख, सुन्दर हूँ या कुरूप, समाज को, दुनिया को, बाबू को, अम्माँ को, सुरेन को और सबको मुझे जीने देना होगा। मैं मर तो नहीं सकती। क्यों मरूँ? मेरा भी तो पृथिवी पर, घर पर, सुरेन पर अधिकार है। कैसे वे मुझे इस अधिकार से वंचित कर सकते हैं? उनको यह अधिकार ही किसने दिया कि मुझ पर अपना फैसला दें। उनके दर्द-सर का इलाज मेरे पास नहीं है: इलाज करना है तो वे दवा का सेवन करें। मैं क्यों किसी के इलाज के लिए दवा बनूँ या दवा खाऊँ? मैं अपना अधिकार स्वीकार कराऊँगी और उसके बल पर जमकर बैठूँगी। हटा सकें तो आप हटा दें; लेकिन अगर हटूँगी तो एक मुसीबत खड़ी कर जाऊँगी।

इस प्रकार के उग्र और विस्फोटक विचारों को मैं अपने दिमाग़ में पकाती रही और मैंने ही सुरेन को ख़त लिखा कि वे आकर मुझे ले जायँ क्योंकि यहाँ मेरी तबियत नहीं लगती है।

पहला नुस्ख़ा कारगर हुआ; सुरेन मुझे आकर ले गये।

अपने घर पर सुरेन ने भी एक नई मुसीबत खड़ी कर ली थी। बाप ने कहा, भई, कहीं नौकरी ढूँढ़ो। अब तुम्हारी शादी भी हो गई है और अब तुम्हें काम से लग जाना चाहिये। बात तो यह कई दफ़ा उठ चुकी थी लेकिन सुरेन के पिताजी बड़े भले आदमी हैं और उन्होंने कभी इस पर ज़ोर नहीं दिया और सुरेन बाबू अपनी 'कविता' और बारीक धोती की चुन्नटों को सँभालते रहे। अब जब से मैं आ गई थी, यह काम ढूँढ़नेवाला तक़ाज़ा बढ़ गया था और है। सुरेन ने कहा, मनचाही नौकरी या काम मिले तो कर लूँ। पिता ने कहा, भई मनचीता नौकरी किसे मिली है जो तुम्हें ही मिल जायगी। इस पर सुरेन और उनके पिता कुछ खिच गये। एक महीने के अन्दर यह खिंचाव ख़ासा बढ़ गया और इस तनाव में आकर मैंने जो और ज़ोर दिया तो वह टूट ही गया।

अपने अधिकारों की भूखी मैं; अपने अस्तित्व को स्वीकार कराने जो मैं निकली तो पहिली ही शुरुआत बुरी हुई। मैं तो इसे बुरी शुरुआत नहीं मानती थी क्योंकि मेरा

कहना यह था कि मुझे तो अपने ससुराल में रहने का शास्त्रदत्त और सनातन अधिकार है ; तुम कहीं जाकर काम देखो या चैन करो। लेकिन सुरेन के आदर्शवाद को यह गवारा नहीं हुआ कि जिसको पत्नी के रूप में ग्रहण किया है उसे वे घर के ज़िम्मे या अपने बाप के ज़िम्मे डाल दें, गो यह भी सच है कि उन्हें मुझसे कभी दिली मुहब्बत पैदा न हुई। उनके नवोदित आदर्शवाद को यह ठेस बहुत बड़ी मालूम हुई और उन्हें अपनी वीरता में मुझे अपने साथ रखने में गौरव और साहस का अनुभव हुआ। मैं जानती थी कि घर में मेरे लिए कोई स्थान न था लेकिन मैं यह भी जानती थी कि नाक की रक्षा के लिए कोई मुझसे कुछ न कहेगा।

नई जवानी, नया आदर्शवाद, सुरेन को पता न था कि दुनिया आदर्शों से नहीं समझौतों से चलती है। इस क़िस्से के तीन महीने बाद जब तीन सौ रुपए लेकर सुरेन मेरे साथ दुनिया में अपने बूते पर निकले तो हम दोनों के अलावा एक कोई और भी था— मेरे पेट में मेरा सुरेश ; तीन महीने का पेट में सुरेश मेरे अधिकारों का सबसे बड़ा रक्षक था ; और सुरेन ने आवेश में जो कर डाला था उससे मुझे आश्चर्य हुआ था। झगड़े के वक़्त हम दोनों साथ हो लिये थे ; पर लखनऊ आने पर हमने देखा कि तीन सौ रुपए की रक़म में घटती के साथ-साथ हमारा साथ भी ढीला पड़ने लगा और पुरानी दरारें चौड़ी और अधिक चौड़ी मुँह फैलाती चली आने लगीं ; और उस पर से तुर्रा यह कि मेरे अपने अधिकारों की रक्षा और सुरेश का बोझ मेरे पेट में था। यह स्थिति बड़ी भयावनी और बड़ी कड़वी हो गई। दर्प के साथ अब मुझमें कटुता आने लगी। कटुता में मैंने नीचता की सड़क पर पैर रख दिया यद्यपि मैं अपने स्वभावजन्य चरित्र-बल के कारण उस रास्ते पर दूर तक नहीं गई।

मानती हूँ कि उपन्यास के आदर्श पात्र-पात्रियों की भाँति मुझे भी पतिपरायण और शीलवान होना चाहिये था। और अगर कोई कहानी-लेखक मेरी कहानी लिखता तो मुझे इसी रोशनी में पेश करता। लेकिन अस्लियत अस्लियत रहेगी और जीवन की अनिवार्यताओं से कोई बचाव नहीं है। मैं जवान थी, नारी थी ; मैं शरीर से भूखी थी, मैं मन से क्षुधित थी। लखनऊ आकर कुछ दिन तो मैंने स्वतन्त्रता का अनुभव किया और बड़ी खुश रही। सुरेन भी अपनी तबियत के बावजूद मुझे लेकर घूमने निकले ; हम सिनेमा भी देखने गये ; बाज़ार भी गये, चीज़ें भी खरीदीं और मैंने कुछ दिनों के लिए स्वामित्व का अनुभव किया यद्यपि पैसे सुरेन ही रखते थे। लेकिन जब पैसे ख़त्म होने को आये और सुरेन को कहीं नौकरी न मिली तो ज़िन्दगी का सारा मज़ा किरकिरा हो गया और इतनी गन्दगी ज़िन्दगी में घुस आई कि अब उसके ख्याल से चौंक पड़ती हूँ। नरक में वैसी कोई यातना नहीं है जैसी कि ऊपर की दुनिया में बिना पैसेवाले पढ़े-लिखे आदमी और उसके परिवार के लिए है। रोज़ घर में झगड़े होने लगे ; सुरेन मुझे जली-कटी सुनाने लगे ; मैं गालियों पर उतर आई। सबसे बड़ी मुसीबत मेरे गर्भ की थी। मैं बीमार रहने लगी ; स्वास्थ्य बिल्कुल गिर गया और मैं काले और पीले का ऐसा घिनौना मिश्रण हो गई कि सुरेन को घर आने में भी एतराज़ होने लगा और कभी-कभी मैं रात को बिल्कुल अकेली

अपने तीन कमरेवाले लखनऊ के सस्ते मकान में पड़ी रहती थी—बीमार, असहाय और साधनहीन। किसी तरह दिन पूरे हुए और सुरेश दुनिया में आया। इतनी यातना देकर वह आया कि मैं उससे घृणा करने लगी। वैसे भी वह घृणा के योग्य है। बदसूरत हद दर्जे का है और फिर हाथ-पैर उसके लुंज-से हैं। मालूम होता है, बिना प्रेम की सन्तानें कुरूप ही हुआ करती हैं। और तब मैंने तै कर लिया था कि बच्चे जनने की ग़लती कभी नहीं करूँगी और जैसी कुछ हूँ अब जीवन को अधिक व्यवस्थित बनाने की चेष्टा करूँगी।

कह चुकी हूँ कि पाशविक आवश्यकताओं का कोई जवाब नहीं है और ख़ासकर जब और भी सभी आवश्यकताएँ ही आवश्यकताएँ हों तो यह आदमी के अन्दर का जानवर सबसे पहिले वह आवश्यकता पूरी किया चाहता है जो सबसे बाद में आनी चाहिये। सुरेश के जन्म के छः-आठ महीनों बाद मैंने पाया कि फिर एक बार मैं उसी मुसीबत में मुब्तला हो गई हूँ जिसे लेकर मैं सुसराल से निकली थी। और सुरेन की हालत दिन-दिन गिरती जाती थी। आदर्श सब उनके धूल में जा मिले; बाप से बड़ी याचनाओं के बाद सौ-पचास रुपए आये जिसके लिए मैं सुरेन से इतना झगड़ी कि बल-प्रयोग तक नौबत पहुँच गई और किसी तरह पाँच-दस रुपए मैंने ले ही लिये। ख़ैर, इसे ही तो आपकी दुनिया में ज़िन्दगी का सुख और परिवार का आनन्द कहते हैं। इसी के लिए तो सारी व्यवस्था की जाती है। यह सुख मैं आवश्यकता से अधिक मात्रा में भोगती रही और मैंने दूसरे बच्चे को जन्म दिया जिसे हमने महेश के नाम से पुकारना शुरू किया। मुझे ताज्जुब है कि यह बच्चा स्वस्थ कैसे पैदा हुआ क्योंकि इसकी दफ़ा तो मैं मन और शरीर से पहिलेवाले की अपेक्षा कहीं गिरी हुई दशा में थी। मालूम होता है कि इसके पैदा करने में मैंने अपनी सारी शक्ति जो मुझमें थी खर्च कर दी और इसके बाद मुझमें कुछ न बच रहा। मैं ऐसी खोखली हो गई जैसे ढोल का पोल।

चन्देक दिन तो मैं कमज़ोरी से खाट पर पड़ी रही और फिर उठी; लेकिन कमज़ोरी मैं बराबर महसूस करती रही। सुरेन से भी मैंने अपनी बढ़ती हुई कमज़ोरी की बात कही लेकिन उन्होंने हँसकर टाल दिया। तीन-चार महीने मैं जीते-मरते उठ-बैठकर घर-गिरस्ती का काम सँभालती रही और अपने इन दो छौनों का जीवन भी अपने रक्त से चलाती रही। फिर एकाएक खाट पर पड़ी और ज्वर और खाँसी से ग्रसित हुई।

पहले सुरेन ने सोचा मामूली ज्वर और कमज़ोरी है, शीघ्र ही अच्छा हो जायगा। और डाक्टर की दवा लाते रहे।

अब उनकी मुसीबतों की कोई इन्तिहा न थी। बच्चों का पालन, घर की सम्भाल, मेरी चिन्ता, और पैसों की चिन्ता ने उन्हें घुला डाला। वे अब अजहद चिड़चिड़े और ज़लील हो गये थे। बात-बात पर मुझे गाली दे बैठते; बच्चों को मार बैठते। ऐसे एक परिवार को आपको ज़रूर देख लेना चाहिये क्योंकि तब, आप में से वह जो दुनियावी दृष्टियों में पापी की श्रेणी में आते हैं, अन्दाज़ मिल जायगा कि नरक क्या है और आपकी पृथ्वी पर भी नरक की कमी नहीं है। और मरने के बाद मेरी ही तरह उन्हें भी यहीं आना होगा।

कुछ के महीनों के बाद मैं अस्पताल में भरती कराई गई क्योंकि घर पर इलाज के लिए साधन न थे और कोई सुव्यवस्था भी न थी। अस्पताल में चले जाने से सुरेन की चिन्ताओं में थोड़ी कमी हो जायगी। अस्पताल में मैं पन्द्रह-बीस दिन रही और वहाँ के अधिकारियों ने मुझे तपेदिक़ का रोगी क़रार कर दिया और सलाह दी कि मैं किसी पहाड़ पर ले आई जाऊँ। सुरेन ने अपने पिता को लिखा; मेरे पिता को लिखा। कहीं से कोई नहीं मिनका। दोनों ही सज्जन अपनी जवान बीवियों के चंगुल में थे और इस सारे क़िस्से को अभिनीत नाटक समझा। और मेरी पुरानी दुनिया इस नरक से एक मायने में जो और भी बुरी है वह यह कि वहाँ जिनके पास पैसा है वे नरक की तकलीफ़ों से अछूते रहकर स्वर्ग का अनुभव कर सकते हैं। यहाँ ऐसा कोई विभाजन नहीं हो सकता। ग़रज़ यह कि पैसे के अभाव में मैं अस्पताल में तीन-चार महीने और पड़ी रही और बाद में उन्होंने मुझे लाइलाज मरीज़ क़रार दे दिया और मैंने यही बेहतर समझा कि अपनी कोठरियों में, अपने घिनौने बच्चों और शास्त्र-दत्त पति के सम्मुख और उन्हीं की छत्र-छाया में मरना अधिक पुण्यकारी और श्रेयस्कर होगा। अगर यह दुनिया न सुधरी तो अगली तो सुधार लूँ। अब समझती हूँ कि सुधारना हो तो आदमी वही दुनिया सुधारे, अगली को सुधारना महज़ ख़ामख़ियाली है।

घर आई और वहाँ की हालत बयान करने की ताक़त मेरी क़लम में नहीं है। सुरेन का बुरा हाल; बच्चों का और भी बुरा; घर का उससे भी बुरा। कैसे बड़े-बड़े शहरों में इतनी गंदगी रहने दी जाती है? वही तीन कमरे थे लेकिन सब में से दुर्गन्ध आती थी। लाकर मैं एक चारपाई पर लिटा दी गई और बच्चों ने बिलखते हुए माँ, माँ सम्बोधन किया। इससे मुझ पर बिल्कुल असर नहीं हुआ। मैं उनकी दुर्गति देखकर संज्ञाहीन हो गई थी। सचमुच मैं उनकी माँ थी। पर इतनी नफ़रत मैंने इन दो बच्चों के प्रति महसूस की कि मैं जल उठी और ग़ुस्से से बेक़ाबू हो गई। तो क्या ये कीड़े मुझे ख़ुशी से मरने भी न देंगे? ज़रूर इनको देखने की ताक़त मुझमें ज्यादा नहीं बची थी।

जी हाँ, मरना आसान नहीं है। ख़ुशगवार तो वह और भी कम है। तपेदिक़ का मरीज़ यों भी घिसटने के लिए मशहूर है लेकिन मैं जानती हूँ कि इतनी नफ़रत दिल में रखकर कोई ताज़ा-तगड़ा जवान भी कुछेक महीनों में घुल जायगा। मेरी क्या बिसात थी। मैं तो यों भी पस-मुर्दा थी। परमात्मा का नाम लेकर आठ-दस दिन इस घर में और ज़िन्दा रही। जितने दिन ज़िन्दा रही लगभग बेहोश रही। और एक दिन इस बेहोशी ने मामूल से ज्यादा वक़्त ले लिया और दुनियावालों ने क़रार दे दिया कि मैं मर गई। फ़ना हो गई। क़िस्सा पाक हो गया। तो फिर मुझे मरना ही पड़ा। तब मैं कह भी न सकी कि मैं अभी मरना नहीं चाहती; अभी ज़िन्दगी का कोई सुख तो मुझे मिला ही नहीं। परिवार का सुख तो मिला ही नहीं जिसके लिए पण्डितों ने विवाह के समय सारी तैयारी की थी और जिसके एवज़ में पूरा मुआविज़ा चन्देक सिक्कों की शक्ल में पा चुके थे।

इतनी कमीनी नहीं हूँ कि अब कहूँ कि सुरेन ने मुझे मरने से नहीं बचाया। इतनी नीचता की कल्पना मैं सुरेन के मामले में नहीं कर सकती। वे पढ़े-लिखे, भावुक,

आदर्शवादी नवयुवक हैं। सौंदर्य की उपासना उनका क़ुसूर नहीं है। इसलिए जो कुछ भी वे कर सकते थे, उन्होंने किया। इस कोशिश में उन्होंने अपने को तोड़ दिया। बच्चे मेरे मरते दम तक साँसें खींचते रहे थे ; अब का हाल नहीं जानती।

उसके बाद मैं यहाँ लाई गई और अब यहीं रहूँगी। किस्से को बहुत मुख्तसर में रख देती हूँ : ग़रीब और उससे भी ज्यादा लावारिस बचपन ; जवानी, एक मधुर चुम्बन और विवाह ; दो बच्चे ; तपेदिक ; मौत। मौत के वक्त उम्र २१ वर्ष।

★

जेल का फाटक

[प्रकाशचन्द्र गुप्त]

[आगरा सेन्ट्रल जेल का फाटक। संतरी संगीन चढ़ाये अन्दर टहल रहा है। खाकी वर्दी, ओवरकोट, साफ़ा, पट्टी, देसी जूती। घनी मूछें। गठा, विशाल शरीर। बाहर खाट पर कुछ सिपाही बैठे, कुछ खड़े धूप खा रहे हैं और धीमे स्वर में बात कर रहे हैं। कुछ मिलनेवाले प्रतीक्षा में खड़े हैं। फाटक के अन्दर एक विचित्र सनसनी है। जेल की वर्दी पहने क़ैदी लकड़ी काट रहे हैं और कम्बल गिन रहे हैं।

फाटक के बाहर एक सफ़ेदपोश भेंट की प्रतीक्षा में।

समय सुबह लगभग दस बजे]

संतरी—बाबूजी, आज तो आपकी भी ड्यूटी हो गई !

बाबूजी—हाँ भाई, क्या करें ! भेंट तो करनी है।

संतरी—आपका नाम तो भिजवा चुका हूँ। अभी परमिशन नहीं आई।

बाबूजी—कितनी देर में मिलने की उम्मेद है ?

संतरी—अभी साहब राउन्ड पर हैं। दसखत करेंगे, और हम फ़ौरन खबर भेज देंगे।

बा०—साहब क्या देर से अन्दर हैं ?

सं०—जी हाँ, आज देर तक रहे हैं। (स्वर नीचा करके) रात एक क़ैदी जाड़े से ठिठुर कर मर गया !

बा०—ओफ़-फ़ो ! सचमुच।

सं०—जी हाँ, उसी की तहक़ीक़ात हो रही है।

बा०—क्या क़ैदियों को कंबल वग़ैरा नहीं मिलते ?

सं०—ग़रीब की कौन परवा करता है ? राम भी नहीं !

बा०—अब क्या होगा ?

सं०—अब कंबल बटेंगे ; आग जलाई जावेगी। बड़े इन्तज़ाम होंगे।

[क़ैदियों की एक क़तार टोकरियों में तरकारी सर पर लादे आती है। संतरी दीवार से एक भारी गुच्छा उतार कर फाटक खोलता है। क़ैदियों की ऊँचे स्वर से गिनती करता है : एक, दो, तीन, चार...आदि। उनके पीछे फाटक बन्द कर एक किताब में कुछ लिखता है। कुछ पल टहलता है। बाहर बैठे सिपाहियों से ज़ोर-ज़ोर से दो-एक बात करता है : 'क्यों रामसिंह, अभी डाक नहीं आई ?'...'सर्दी ख़ूब कड़ाके की पड़ी है न ?' उत्तर पहले 'न' फिर 'हाँ'। खाँसता है। फिर बाबूजी की ओर मुख़ातिब होकर :]

सं०—बाबूजी, थक गए होंगे ? बैठ जाइये।

बा०—नहीं, ठीक है।

सं०—बैठें भी कहाँ ? सरकार बहादुर ने कुछ इन्तज़ाम भी किया हो !

बा०—सरकार को हमारे आराम-दुख से क्या मतलब ?

सं०—(स्वर दबाकर) ठीक, बाबूजी। हम लोगों का कुछ बस नहीं। (कुछ देर रुककर) आप कहाँ काम करते हैं ?

बा०—यहीं कालिज में पढ़ाता हूँ।

सं०—(आदर और आश्चर्य से) आप प्रोफ़ेसर हैं ?

बा०—हाँ। लेकिन प्रोफ़ेसर बड़ी बात है।

सं०—कितने साल आपको काम करते हो गये ?

बा०—करीब दस साल।

सं०—ओफ़-फ़ो ! आपकी उमर कितनी होगी बाबूजी ?

बा०—तीस से ऊपर।

सं०—अच्छा ! (कुछ और रुक कर) तनख़ा कितनी होगी, बाबूजी ? माफ़ करें !

बा०—नहीं, नहीं। डेढ़-सौ मिलते हैं।

सं०—अच्छा ! ख़ूब बाबूजी ! कुछ लोग तो सुना है हज़ार-हज़ार पाते हैं ? क्या सच है ?

बा०—हाँ, हमारे यहाँ भी बड़े-छोटे का भेद ख़ूब है।

सं०—यह सब जगह दुनिया में रहेगा। (सोचते हुए) मेरी तनख़ा अठारह रुपया है। बीवी है, तीन बच्चे हैं। खाने-पीने का शौक़ है। बच्चे पढ़ते हैं। आगे पढ़ाना चाहता हूँ। बड़ी दिक़्क़त होती है, बाबूजी। पूरा नहीं पड़ता।

बा०—हाँ-हाँ, पूरा कैसा पड़ेगा ? हम लोगों को ही लो। अच्छे कपड़े पहनने, अच्छा घर चाहिए। किताबें चाहिए। रुपया पानी की तरह हाथ से निकल जाता है।

सं०—बाबूजी, मैं अपने बड़े लड़के को भेजूँ, कुछ बता देंगे ?

बा०—हाँ-हाँ, भेज देना।

संतरी—पता तो आपका यही है न ? (कागज़ उठाकर पढ़ता है : 'भदिया कटरा')

बा०—हाँ, ठीक है।

सं०—आपकी दुआ करेंगे।

[पोस्टमैन आता है। संतरी चिट्ठियाँ लेता है, ज़ोर-ज़ोर से नाम पढ़ता है : नरेन्द्र शर्मा, मैथिलीशरण गुप्त, आचार्य नरेन्द्रदेव, रामधन, मोतीलाल। एक ओर रख देता है।]

सं०—आप तो नरेन्द्र शर्मा से मिलने आये हैं ?

बा०—हाँ।

सं०—वह खुर्जे के हैं ?

बा०—हाँ।

सं०—मैं भी एक बार बुलन्दशहर रहा था। वहीं पहली बार पढ़े-लिखे लोगों से साबक़ा पड़ा। लिखने-पढ़ने का शौक़ भी हुआ। स्कूल से लौटते हुए लड़के मेरी कोठरी पर रुक जाते थे ; उधर से रास्ता था। खूब गाना-बजाना होता था। शायरी का भी शौक़ हो गया। अकेला था, जवानी की उमंग थी। खर्च की तंगी न थी।

बा०—तुम शायर हो ?

सं०—जी, अब तो छूट गया सब :

'मंदिरों में, मस्जिदों में ढूँढ़ता था मैं खुदा,
ढूँढ़ना उसको मैं खुद मैं था हमेशा भूलता।'

बा०—(सिर हिलाकर) अच्छी चीज है। अब नहीं लिखते ?

सं०—जी नहीं, ग़रीबी और शायरी साथ नहीं चलती।

बा०—नरेन्द्र शर्मा हिन्दी के शायर हैं।

सं०—अच्छा ? सुनेंगे उनसे। वही हैं न छोटे से, दुबले से ?

बा०—ठीक। अच्छा पढ़ते हैं। (गुनगुनाते हुए : 'शान्त है पर्वत समीरण मौन है यह चीड़ का बन भी :..'

सं०—इनको क्यों पकड़ लिया बाबूजी ? यह तो बहुत सीधे-से हैं !

बा०—हैं तो। लेकिन आज़ाद-तबियत हैं। गुलामी पसन्द नहीं।

[कुछ क़ैदी ख़ाली टोकरियाँ लिये निकलते हैं। पीछे वार्डर है। संतरी ज़ोर-ज़ोर से गिनता है : एक, दो, तीन, चार...आदि। गिनती किताब में दर्ज कर देता है।]

सं०—आपको आज बड़ी देर हुई, बाबूजी !

बा०—हाँ, बहुत देर हो गई।

सं०—अब साहब आते ही होंगे। वह शायद आ रहे हैं।

[फाटक के अन्दर खलबली। क़ैदी खड़े हो जाते हैं। संतरी तनकर पत्थर की मूर्त्ति बन जाता है। बाहर सिपाही सँभलकर खड़े हो जाते हैं। बाबूजी फाटक से अलग हटकर आकाश देखते हैं।

मामूली अँग्रेज़ी कपड़ों में सुपरिंटैण्डैण्ट का प्रवेश। पीछे वर्दी में जेलर और दो-एक सिपाही। सन्तरी तपाक से फाटक खोलता है। सुपरिंटैण्डैण्ट अपने ऑफिस में चला जाता है, जो फाटक के अन्दर एक ओर को है। सन्तरी रुक जाता है।]

सन्तरी—(मन्द स्वर में) : आपके परमिशन पर दस्तख़त हो रहे हैं!

बाबूजी—(सिर हिलाकर खुशी से) अच्छा!

[फिर सनसनी। सुपरिंटैण्डैण्ट बाहर निकलता है। सन्तरी फाटक खोलता है। सब तपाक से सलाम करते हैं। सुपरिंटैण्डैण्ट बाहर निकल जाता है।]

संतरी—बस अब नरेन्द्र शर्मा आते ही होंगे।

बा०—हाँ भाई, अब तो काफ़ी तपस्या कर ली।

सं०—(हँसकर) यह खूब कही। तपस्या की, बाबूजी!

बा०—यह लोग देवली कब जायँगे?

सं०—(सतर्क) हमें नहीं मालूम, बाबूजी।

बा०—कुछ नहीं मालूम?

सन्तरी—जी नहीं। (दूर पर एक दुबला-पतला नवयुवक सिपाहियों से घिरा मुस्कराता आ रहा है) देखिये, वह आपके दोस्त आ गये!

[दोनों दूर से हाथ जोड़कर नमस्कार करते हैं। सन्तरी धड़ से फाटक खोलता है। प्रोफेसर साहब फाटक के अन्दर जा कवि से गले मिलते हैं।]

[पटाक्षेप]

★

बाबू गुलाबराय की असफलता*

●

[स० ही० वात्स्यायन]

हिन्दी साहित्य में जीवनियाँ बहुत कम हैं, जीवनियों में आत्म-जीवनियाँ बहुत कम ; आत्म-जीवनियों में हास्य की मात्रा बहुत कम है और हास्य में साहित्यिक अथवा बौद्धिक हास्य बहुत कम । इसलिए बाबू गुलाबराय की पुस्तक 'मेरी असफलताएँ' जो कुछ समय पहले आगरे से प्रकाशित हुई है, अपना एक विशेष महत्व रखती है, क्योंकि इसमें एक सुलझे हुए और सुपठित व्यक्ति का आतमचरित विनोद के प्रकाश से आलोकित होकर सामने आया है । आत्मचरित लिखने की प्रेरणा अन्तत: एक प्रकार के परिष्कृत अहंकार से ही मिलती है ; पर बाबू गुलाबराय की विनोद-प्रियता स्वयं अपनी ओर उन्मुख होकर उस अहंकार को कहीं भी उभरने नहीं देती, और बार-बार चरित-नायक की अकिंचनता और सामान्यता पर आग्रह करती चलती है । हम तो यह कहेंगे कि इस पुस्तक का नाम 'मेरी असफलताएँ' कई तरह से सफल है, क्योंकि गुलाबरायजी एक असफल जीवनी लिखने में भी असफल हुए हैं । उन्होंने भूमिका में आग्रह किया है कि वह एक अतिशय सामान्य, 'मीडियोकर' प्राणी हैं, और इसी सामान्यता के नाते उन्होंने सार्वजनिक यानी 'युनिवर्सल' होने का दावा किया है । पर उनका आत्म-चरित तो सामान्य अथवा मीडियोकर नहीं हो सका है ; और हम कह सकते हैं कि यह उसकी सबसे बड़ी असफलता है !

पर वास्तव में यह पुस्तक जीवन-चरित है भी नहीं । यह तो एक घरेलू ढँग के निबन्धों का संग्रह है, जिसमें व्यक्तिगत संस्मरण का पुट इतना गहरा है कि वही सम्बन्ध का एक सूत्र पैदा कर देता है, जिससे निबन्ध फुटकर न रहकर एक लड़ी में गुँथ जाते हैं । पुस्तक के पूर्वार्ध में यह सम्बन्ध-सूत्र काफ़ी स्पष्ट है, उत्तरार्ध में वह शिथिल पड़ गया है या पड़ जाने दिया गया है । भूमिका में गुलाबरायजी ने बड़े संकोच से कहा है कि उनके जीवन में असाधारणता नहीं थी, पर उन्होंने जानबूझ कर अपने जीवन में से ऐसे ही प्रकरण चुने हैं जिन्हें साधारण कहा जा सकता है । ऐसा करके उन्होंने गहरे विवेक का परिचय दिया है, क्योंकि ऐसे प्रकरण हर किसी के जीवन में आते हैं तो उनमें व्यापकता (युनिवर्सेलिटी) का आकर्षण हो सकता है, जो हास्य के आवरण में हृदय-ग्राही हो उठता है । उदाहरणतया स्कूलों-मदरसों में पिटे तो बहुत-से लोग होंगे, पर गुलाबरायजी ने इस व्यापक अनुभव का वर्णन जिस निजी दृष्टिकोण से किया है, वह उनके व्यक्तित्व की देन है । इसी प्रकार बीमा एजंट भी सभी के घर आते हैं पर उनकी इस अवाञ्छित कृपा से सब लोग वैसा रस नहीं पाते जैसा गुलाबरायजी ने पाया है ।

---

* मेरी असफलताएँ, लेखक बाबू गुलाबराय एम० ए०, प्रकाशक—साहित्यरत्न भण्डार आगरा ; पृ० सं० १७६ ; मूल्य १)

अगर व्यक्तित्व पर हास्य की छाप होती है, तो हास्य पर भी व्यक्तित्व की छाप हो सकनी चाहिए। गुलाबरायजी के हास्य की विशेषता यह है कि उसमें सहज भाव का आभास होता है। पर, जैसा कि कोई साहित्यिक घाघ कह गया है, कला कला को छिपाने में है। पुस्तक के 'मेरी कलम का राज़' नामक परिच्छेद में गुलाबरायजी ने स्वयं अपने टेकनीक की वैसी सुन्दर और निरपेक्ष (आब्जेक्टिव) विवेचना की है* उसे पढ़कर भाँप सकते हैं कि इस सहज भाव के पीछे एक तर्कसंगत प्लान है, कि गुलाबरायजी अनुभव से जानते हैं कि उनका स्वभाव ही ताबड़तोड़ के आक्रमण के अनुकूल नहीं है, वह अहेरी की तरह घात लगाकर ही पाठक को अभिभूत कर सकते हैं। आधुनिक युद्ध के मुहावरे से शब्द उधार लें तो कहेंगे कि उनका स्वभाव 'ब्लिट्ज़' के अनुकूल नहीं है, लचकीले युद्ध ('डिफेन्स इन डेप्थ') के अनुकूल है। उनके मानसिक संगठन में एक अद्भुत लचकीलापन है—समूची पुस्तक ही इस अदम्यभाव का नमूना है। एक उदाहरण लीजिये—बोर्डिङ्ग हाउस का वर्णन करते हुए गुलाबरायजी बताते हैं कि उनकी चारपाई की अदवाइन नौकर की लापरवाही के कारण सदा ढीली रहती थी। आप भी कभी न कभी ढीली खाट पर सोये होंगे, पर क्या आप उस समय अपने आपको यह कहकर सन्तोष दिला सके हैं कि अगर सोते में कोई आप पर लाठी चलायेगा तो वह आपको न लगकर पाटियों पर रुक जायगी ?

एक धुरन्धर आलोचक ने गुलाबरायजी को निर्जीव कहा है, पर इस आक्रमण का यह पुस्तक बहुत अच्छा उत्तर है। इतना अच्छा, कि पाठक यह जान भी नहीं पाता कि कब कहाँ किस अभियोग का उत्तर दिया जा रहा है। 'मेरे जीवन की अव्यवस्था' शीर्षक लेख अपने ढंग का मास्टरपीस है। गुलाबरायजी निर्जीव नहीं हैं, उनकी सजीवता वितरित (डिफ्यूज्ड) है, जैसे धुन्ध में बसा हुआ आलोक। इसीलिए जहाँ उनका हास्य किसी को अछूता नहीं छोड़ता, वहाँ वह द्वेष-दूषित भी नहीं है। दर्शन ने उन्हें गम्भीरता न भी सिखाई हो, पर उदार सहिष्णुता तो स्पष्ट झलकती है। कालेज जीवन के गुरुओं का वर्णन इसका सुन्दर प्रमाण है। उनकी विनोद-प्रियता चोट नहीं पहुँचाती, द्रवित करती है। रूपक की शरण लें तो कहेंगे कि वे ओले नहीं बरसाते, हलकी अदृश्य फुहार की तरह वातावरण में छा जाते हैं और उसे स्निग्ध कर देते हैं।

उदाहरण देने का लोभ होता है, पर यही सोचकर संवरण कर लेना ठीक है कि चुनाव करना कठिन होगा। पूरी पुस्तक की ओर ध्यान आकृष्ट करना ही अधिक उचित होगा।

★

---

* 'संक्षेप में कह सकता हूँ कि मुझे चोरी की कला आ गई है।... मैंने चोरी के मूल-सूत्र जान लिये हैं। वे इस प्रकार हैं : (१) माल की ताक लगाना, (२) मालिक को बिना जगाए माल को हथियाना, (३) हथियाए हुए माल का रूप बदल कर उसे बाज़ार में चला देना...।' (पृ० १६२-३)

और

'अब मैं अपने हास्य का टेकनीक समझ-सा गया हूँ और कभी-कभी उसे सप्रयत्न भी उपस्थित कर सकता हूँ। मेरे हास्य में ख़ास बात यह है कि...' आदि ((पृ० १६४-५)

सात कविताएँ

लाल निशान

[नरेन्द्र शर्मा]

खोलो लाल निशान !
हो सब लाल जहान !
खोलो लाल निशान !

दुनिया के मज़दूरो आओ,
सब मिल दल बल से छा जाओ !
खोलो लाला निशान !
हो सब लाल जहान !

पूरब-पच्छिम, उत्तर-दक्खिन,
धरती के चारों कोने गिन,
घेरो दुश्मन को घिर आओ,
उमड़ समन्दर-से लहराओ !
खोलो लाल निशान !
हो सब लाल जहान !

एक ज़ोर का रेला आवे,
गढ़-गुम्बद सब तोड़ गिरावे !
तोड़ो ऊँची दीवारों को,
तोड़ो लोहे के तारों को !
खोलो लाल निशान !
हो सब लाल जहान !

ऊँच-नीच का भेद ग़लत है !
क्या है अमीरी, क्या ग़ुरबत है !
वह आज़ाद समाज बनाओ,
सभी जिओ, सब ही सुख पाओ !
खोलो लाल निशान !
हो सब लाल जहान !

आओ, सब मेहनतकश साथी—
लिए हथौड़ा और दराँती !
जो मेहनत से पैदा करते
मालिक हैं वह दुनिया भर के !
खोलो लाल निशान !
हो सब लाल जहान !

जल जंगल औ आसमान क्या—
सब कुछ इन्सानों के बस में !
एक बार सब मिल भर जाओ—
एक ख़ून सब की नस नस में !
खोलो लाल निशान !
हो सब लाल जहान !

आओ, भूखे-टूटे आओ !
आओ, भूखे नंगे आओ !
देखो बदल रही है दुनिया,
अपनी नई बनाओ दुनिया !
खोलो लाल निशान !
हो सब लाल जहान !

जाय रोग, दुख-दर्द, कसाला ;
ज़ोरो-ज़ुल्म का हो मुँह काला ;
बेकारी के घर पर ताला,
मुफ़्तख़ोर को देशनिकाला !
खोलो लाल निशान !
हो सब लाल जहान !

इन्क़लाब की सेना में
अदना भी दुनिया का रखवाला,
निधड़क आगे बढ़ आएगा
वह जैसे लोहे का भाला!
खोलो लाल निशान!
हो सब लाल जहान!

प्राणों से प्यारा निशान वह,
इसका रङ्ग न होगा फीका,
इसके नीचे जो आएगा
देगा लोहू दिल देही का!
खोलो लाल निशान!
हो सब लाल जहान!

यह झण्डा सब पर छा जाए,
ऊँचा ही ऊँचा फहराए,
ऊपर लाल सितारा झलमल,
नीचे खड़ा सर्वहारा-दल!
खोलो लाल निशान!
हो सब लाल जहान!

मिट्टी की राख

[शमशेरबहादुरसिंह]

'सोते वक्त या क़ब्रिस्तान में पहुँचने के बाद तो
राजा-परजा, अमीर-ग़रीब, आक़ा-ग़ुलाम, मज़दूर-
सरमायादार, क़िसान-ज़मींदार—ग़रज़ सबके
सब
एक हद तक मसावी दरजे पर होते हैं,...'
—नया अदब

नहीं, नहीं
उन सोती हड्डियों,
झड़ते काली मट्टी के से बालों,
गलती अँतड़ियों,
बैठती आँखों, सूखती जीभ,
सुकुड़ते, ग़ायब होते होंठ,
भवों के बल, कलाइयों की भी ऐंठन,
और रानों की रगें,

और तलवों की कम या अधिक बेवाइयाँ ;
स्तन का पानी,

. . . .

. . . .

कमर के बल, कूल्हों की लचक, और गर्दन के मोड़
—जिन्हें मिट्टी, दरिया या आग
बना लेती हैं अपना तत्व :

कहाँ सब के ये तत्व
एक-से नव-निर्मित ?!!

सूखा चना बना था उसका तन।
मांस और मदिरा की लाली उसकी आँखें,
उसके होंठ
उसके कामुक अंग।

ताड़ी चरस कोयला धुँआ कपास
और दमा, जूड़ी, कुनैन, उपवास
और देवों, देवियों, ओझाओं-औलियों के भूतों का वास
उसकी खाली खोपड़ी।

डाक्टरों, रंडियों, मिसों, क्लब-नाचघरों, गृह-अत्याचारों
अपनों से नीचों (?) से दुर्व्यवहारों

का—था टूटा खंगड़ 'सेफ़'
उनका हृदय।

आहें—आहें—आहें...थी वह नारी।

वह बचा था सूखा मिट्टी का चिराग।

ऊँचे विद्यालय की वह निर्धन विद्यार्थिनी

अपने धनी कुमार प्रेमियों के हाथों
माता-गति पाकर,
हस्पताल में छूटी भव-बन्धन से।

वे, धन चूस गया है जिनका अन्तर
फटे बमों के नर-मुंडों से बोये खेत,
गर्म तेल से सींचे मानव-हृदयों के उद्यान :

इन सब के
भव-तत्व-रसायन
कहाँ एक से हो सकते नव-निर्मित ?

भला नींद में फिर इनका आराम (?)—
इनके सपने—
हो सकते हैं कभी एक-से निर्मित ?

★

आज

●

[केदारनाथ अग्रवाल]

ढोल चौड़ी कड़ी छाती को प्रतिक्षण
अब नगाड़े कब कड़कते।
ढोल ढीले बोल को ऊपर बढ़ाने
अब नहीं दम जोर भरते।
अंग-अंग उमंग में नव रंग लेकर
अब न ढंग मृदंग करते।
ठंढ से ऐंठे हुए, ठिठुरे बहुत हों
अब न तबले ही ठनकते।

प्यार पारावार बारम्बार पाकर
अब न तार सितार तनते।
लीन अन्तर्गीत के मद-पीन में हो
वीन के न बिहाग तिरते।
राग-रंगी, भाव-भंगी, केलि-संगी
स्वर सरंगी के न सजते।
आज बर्बर क्रूर कर्कश विश्व भर में
सभ्यता के गाल बजते।

★

नारी*

●

['अञ्चल']

पृथ्वी की रंगस्थली-सी, ओ स्वयंवरा,
मानव जगती का प्रकाश, जीवन की स्रोत तुम,
विश्व के प्रथम प्रात की तुम हिम-कणिका
सूखी नहीं मानवता के रूख पर जो अभी।
रात की श्रमअर्जित मीठी नींद-सी मधुर,
नभ-चुम्बी एक महाज्योति की अमर तेज,
चुम्बन-सी अधरों के प्रान्तर की नव शिखा,
आग और सोने के पहाड़ों बीच, बहती पार्वत्य-सरिता की रक्तधारा-सी, बेगुनाह,
किरणों के बाण लिये, शारदीय ऊषा-सी निष्कलंक !
मृत्यु भय-ग्रस्त, चिन्तित स्नायुओं में
शुभ्र जल स्रोत-सी जीवन का सुख तुम।

* आल इंडिया रेडियो, लखनऊ के सौजन्य से।

उड़ती बालू-सी मृग-तृष्णा में तुम एक 'ओसिस'-सी!
इससे अधिक कोई और कहे क्या—युवती हो तुम!
निश्चल सागर की आत्मा-सी शान्त हो,
युग युग के अतृप्त प्रेम की इच्छा चाँदनी-सी, अधरों में छिटकी,
रति की स्थिर, दीर्घ, एकान्त छाया-सी।
छवि के सपनों की रम्य शयन शिला,
शान्त मधुवन की निःशेष स्मित कामना,
सुन्दर, सजीली, सौम्य,
वेतस निकुञ्ज-सी सलज बल खाती हो,
इन्द्र धनुषों के पथ में चल आती हो।
तृण-तृण में तुहिन बिन्दु-सी सुअङ्कित
गर्वोन्नत यौवन-किरीटिनी!
चपला—शत-शत बादलों की प्रेयसी
वारुणी से सिक्त अङ्गों की ये वल्लरियाँ
जैसे हों तुम्हारे अभिनन्दन की लड़ियाँ,
रूप सिन्धु की निवासिनी तुम चिर-उर्वशी!
ओ जगतरंगिनी!
ओ पुलकपंखनी!
जीवन वसन्त के विभव की पिक सारिका,
प्रेमियों की सिद्धि और ऋद्धि की सफल कला,
तुम प्रति निशि में बनती हो नववधू,
नित-नित नूतन हो।
प्रतिदिन सार्थक है होती सीमंत की सिंदूर रेख।
धरा और प्रकृति, मनोज की दो सहचरी, तीसरी तुम।
लक्ष्यवेध करती हो जब मनहर के,
सद्य उगते नवल चन्दन की बाड़ी-सी
मुझसे अनेक युवकों का पथ निःसंबल, फिर से बनेगा दीप्त
पा तुम्हारा पंथदान।
ओरी अभिमानिनी,
ओरी प्रतिगामिनी,
आज फिर निकलो—रजनी के कवि की साधना कुटी से तुम,
मसृण सघन वन के उस अँधियारे से, रम्य उस तलहटी से,
उस नपुन्सकता के क्षुद्र जाल-बाल से!
और आँखें फाड़ देखो जीवन का यह नरक,
देखो यह अनय, अनादर औ अविश्वास,

सुनो यह हाहाकार, नवयुग के करवट लेने का यह निनाद,
देखो युवकोचित हमारी स्फूर्ति और दीप्ति !
आओ आज हमसे विद्रोहियों के कैम्प में !
शोलों से करो सत्कार, क्रान्ति के इस महामंगलमय युग का।
उगलो तुम ज्वालामुखी ।
और फिर बाद में—
हम हों—हो तुम और जीवन का यह संग्राम !
कन्धे से कन्धा मिला, छाती से छाती सटा
रात जो बनी थीं तुम गीली और रंगीली,
किन्तु दिन में बनो अखण्ड युद्ध की करालिका,
दिन में पुकारकर, ललकारकर, कहो—
मुक्ति चाहती हैं हम—
धन के असम औ' अनियमित वितरण से
मानव द्वारा मानव के नारकीय शोषण से,
दुःख गरीबी और बढ़ती बेकारी से
और युगों से बँधे, सड़ते, घिनावने पुन्सत्वहीन प्रेम से,
इन्द्रियों के विकृत, विकारमय निग्रह से,
अपने अवांछनीय 'सेक्स' के दमन से,
होगी नवयुग की अवतारणा धरा पर तब ।

★

मज़दूर

●

[सुरेन्द्रकुमार श्रीवास्तव]

पिस रहे हो बैन्त से मज़दूर !
मौन होकर चुन रहे हो ईंट की दीवार,
रक्त से निर्मित करोगे एक दिन आगार,
पर मिलेगा क्या तुम्हें ? शोषण तुम्हारा शुल्क,
कुछ न होगा, रो पड़ोगे, दुसह अपना भार,
शुष्क हाथों ही फिरोगे शाम को मजबूर।

बैठ इंजिन के तवे पर जल रहे हो आज,
शोषकों को देख आई कब तुम्हें है लाज ?
अस्थि-पञ्जर शेष जैसे क्षीण धूमिल रेख,
वे मिटाने पर तुले हैं, जान लो यह राज़ ।
फिर न कहना आह भर 'हूँ वेदना में चूर'।

लाल सुर्खी में रँगा कुर्ता फटा सौ चीर,
जीविका ही हो गई है आह टेढ़ी खीर;
एक ताँबे का हुआ टुकड़ा तुम्हें अनमोल,
तोड़ते पाषाण छाती पर अड़ा कर धीर!
लड़खड़ाते पाँव श्रम से, स्वेद से भरपूर।

खट-खटायी सीकड़ी, फट से खुला गृहद्वार,
मौन, नतवदना खड़ी थी सामने ही नारि।
कुछ न बोली, लोचनों में था भरा कुछ नीर,
बस लिपट कर रो लिये औ' सो रहे उस बार।
दुधमुहा भी गत हुआ जब तुम रहे मजबूर।

रात तो बीती उनींदी, उठ बड़े ही प्रात,
चल पड़े डगमग पथिक! कंपित तुम्हारे गात;
हाथ करनी और बँसुली, मौन सूनी राह,
शून्य से क्या कह रहे हो निज हृदय की बात?
तुम कहो सौ बार, सुनता कुछ नहीं वह क्रूर।

प्रश्न जब उनका कि कैसे
कलश मंदिर का सजायें?
कह रहा अंतर तुम्हारा
किस तरह ज्वाला बुझायें?

यह विषमता देख लो, इस करुण में शृङ्गार!
देख लो अपनी चिता पर दानवी व्यवहार।
चूस जायँगे तुम्हारा रक्त स्नायु निचोड़,
मिल न पायेगा कभी टूटा हृदय का तार।
स्नेह क्या, उठना नहीं अब भी तुम्हें मंजूर?

कौड़ियों को बिके सोने की जवानी, आन!
लुट गये उनके तमाशे में तुम्हारे प्राण।
जब किसी के एक इंगित पर निछावर विश्व,
दब गये कितने तुम्हारे अभिलषित अरमान।
श्री सुहागिन का न भर पाये कभी सिंदूर।

उधर श्वानों के लिए साबुन, मधुर पकवान
और मानव के लिए फ़ाक़ाकशी, व्यवधान!
यह न होगा, अब न काग़ज़ की चलेगी नाव,
निकट झंझा में छिपा है जगत का निर्माण।
मर मिटो बस एक धुन के आज बन मंसूर।

चिर कला के हे सपूतो !
ताज है अब भी निशानी।
जब मिटेंगे वे, तुम्हारी
फिर नयी होगी कहानी।

नये जग में, नयी विधि से, नवलपन का वेष,
रह न जायेगी तनिक भी कालिमा अवशेष।
जगेंगे किशलय नये, भर जायगी जग डाल,
प्रति-पवन में उड़ेगा तब साम्य का संदेश।
मुक्त जीवन क्रान्ति से होगा दुखों से दूर।

★

युगपरिवर्तन

['मधुप']

मेरे समीप इस आँगन में निस्सीम नियति की दौड़धूप
युग की इस तरल त्रिवेणी में यह बुद्बुद-सा जीवन अनूप
आशा के कुसुम कलेवर में जलता भविष्य का द्वारदीप
युग-युग से चलता यह विधान युग से उलझे मंगल महीप
मेरे असीम अरमानों की जल रही चिता-दिन-रात यहाँ
झुलसे, सूखे कितने निरीह युग से रूठी बरसात यहाँ
निस्सीम नियति की बेला पर जीवन लहरी के नर्तन में
कण-कण में सुधा बरस जानेवाले नूतन परिवर्तन में
घन-सघन पिघल जिसमें ढरते, फरसे अँधेरा के आँगन में
मैं अपनापन लघु मिला सकूँ दुखियों के आकुल क्रन्दन में
जग के जलते अंगारे पर पद बिखर चलें मेरे निःस्वन
हँस-हँसकर यह पग तोड़ चलें ये जीवन के निर्मम बन्धन
इन साँसों की कंकालों में मर जाय प्रलय तूफ़ान प्रबल
दुख सुख की धूमिल धूप छाँह संघर्ष मिले बनकर बादल
डमरू से पिघल बहे ताण्डव हो गये चरण युग के चंचल
इस नील परिधि के आँगन में बरसेगा फिर नव युग बादल
जग के अभिशापों में लुक छिप आयें जीवन वरदान नये
जलते जीवन के साथ पिघल बह जायँ यहाँ पाषाण नये

★

कैसे कहो मौन हो जायें ?

[सागरसिंह]

यौवन की मदमाती आँखें
भी कहतीं जब दे दे दाता,
और मुसाफिर निज में डूबा
उसको जिस क्षण राह बताता
ऐसा हमें ज्ञात होता तब आसमान भी कँप-कँप जाता।
कैसे कहो मौन हो जायें ?

हाँफ-हाँफ यों ही सो जाता
सड़क किनारे रिक्शावाला
पैसे बिन भूखा रह जाता
तिल-तिल कर जब मिटनेवाला
हममें ऐसी प्यास उमड़ती पी सकती जो विष का प्याला।
कैसे कहो मौन हो जायें ?

निज गृह में रौरव का दुख सह
कट जाती जब मधुर जवानी
व्यथा ज्वाल में जल पत्थर—
बन जाता जब नयनों का पानी
नाच-नाच उठती नंगी हो जब समाज की यह शैतानी।
कैसे कहो मौन हो जायें ?

शोषित अन्धा बन अपने
शोषक को जब पहचान न पाता,
उसकी स्वार्थ-साधना को जब
समझ न पाता, दान बताता।
दान ? महा अपमान श्रमिक का, श्रम का हमें शूल बन जाता।
कैसे कहो मौन हो जायें ?

अपने को अपमानित लखकर
कवि जब अपना नीड़ बनाता,
पहुँच न पाता जग का क्रन्दन
वही अकेला उसमें गाता।
अपने क्षीण स्नायुयों के बल एकाकी विद्रोह मचाता।
कैसे कहो मौन हो जायें ?

★
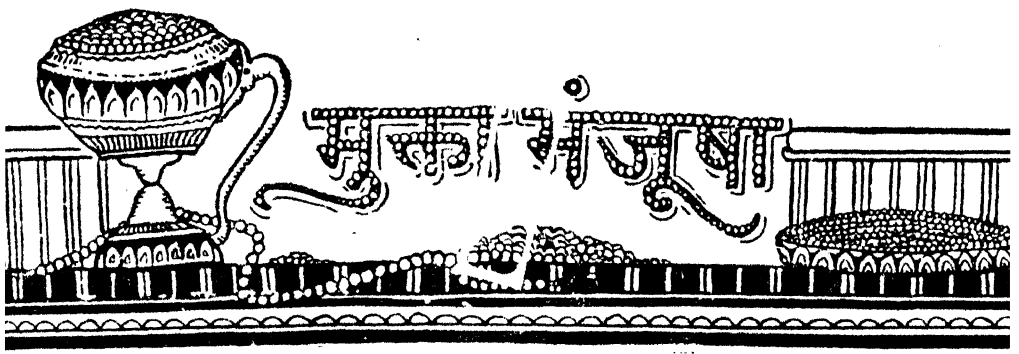
हिन्दी

● फरवरी की 'साधना' में श्री सत्येन्द्र एम० ए० का एक लेख 'हिन्दी नाटकों में एक नयी शैली' प्रकाशित हुआ है। उपयोगी है अतः उद्धृत किया जा रहा है—सं० ●

★ हिन्दी का अपना रंगमंच नहीं, अस्थायी रंगमंच नौसिखिये कॉलेज के अथवा स्कूलों के विद्यार्थियों ने अपने कॉलेजों तथा स्कूलों में जब-तब मनोरंजन करने के लिए स्थापित किये हैं। इनमें जो विविध नये प्रयोग हो लेते हैं, वे वहीं मर जाते हैं। उनका कहीं उल्लेख नहीं हो पाता। उसके आयोजक सभी असाहित्यिक होते हैं प्रायः; अतः वे बाबू गुलाबराय अथवा पं० बनारसीदास चतुर्वेदीजी की भाँति अपने संस्मरणों में भी अपने उन रंगमंचीय उद्योगों को स्थान नहीं दे जाते। कॉलेजों अथवा स्कूलों के अधिकारी शिक्षा-विभाग के मूढ़ ग्रहों में फँस रहते हैं, मौलिकता और जीवन-स्फूर्ति—कला के विकास में उन्हें नाम को भी रुचि नहीं हो पाती। बाहर की जनता इस प्रकार की बातों का ध्यान रखना 'सरदर्द' समझती है, और किसी साहित्यकार की आराम से नाटक लिख देने में ही कर्तव्य की इति श्री प्रतीत होती है। अधिक हुआ, तो वह पत्रों-द्वारा इस बात पर बहस कर लेगा कि हिन्दी में रंगमंच नहीं, अतः नाटकों की आवश्यकता नहीं; और सिनेमा ने रंगमंच को परास्त कर दिया—रंगमंच का पराभव हो गया। पर, रंगमंच में जो व्यक्ति-सत्ता का क्षेत्र है, वह सिनेमा में नहीं; अतः विविध कला-केन्द्रों के द्वारा नाटक और रंगमंच के उद्योग होते रहेंगे। तो, इन उद्योगों में से एक उद्योग हमें देखने को मिला—

★ वह उद्योग 'अभिनय-कला' की दृष्टि से अपूर्व चाहे न हो; पर उसमें नाटक का एक नया रूप उपस्थित किया गया था। जनवरी १९३९ की बात है। मथुरा के एक कॉलेज में केवल साधारण कपड़े तानकर एक काम चलाऊ रंगमंच बनाया गया था; और उसमें वह नाटक खेला गया। वह नाटक बाद में ३१ जनवरी ३९ और ७ फरवरी ३९ के 'सैनिक' में क्रमशः प्रकाशित हुआ। उसका नाम था 'स्वतंत्रता का अर्थ'। वह यों आरम्भ हुआ था:—

[स्थान—एक मैदान। जहाँ-तहाँ तिरंगे झण्डे दीख रहे हैं। बड़े उत्साह से भरा हुआ एक विद्यार्थियों का दल आता है। उसके हाथों में तिरंगे झण्डे हैं। मुख उत्साह से

लाल हो रहे हैं। कुछ नंगे सिर हैं। कुछ पर गांधी टोपियाँ हैं, मिले-जुले कपड़े पहने हैं। वह दल गाता हुआ निकल जाता है। वह गीत गाता है :—

विजयी विश्व तिरंगा प्यारा।

...दल चला जाता है गाने की ध्वनि मन्द से मन्दतर होती चली जाती है। अभी बिलकुल विलीन नहीं हो पाई :—

भारतकुमार का थोड़ी मुग्धावस्था में प्रवेश]

★ अब मुग्ध भारतकुमार उस प्रदर्शन से जोश में भर गया है। एक वृद्ध पुरुष आते हैं, वे भारतकुमार के गुरु हैं। वे भारत को इस प्रदर्शन से विमोहित न होने के लिए कहते हैं—और उसके अर्थ को समझने का आदेश करते हैं और तब वे उसे स्वतन्त्रता का अर्थ समझाने के लिए कई दृश्य दिखाते हैं—वे हट जाते हैं और पहले हालैण्ड का एक दृश्य दिखायी पड़ता है, जिसमें उन्होंने अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए आत्मोत्सर्ग किया। उस दृश्य के उपरान्त—भारत और उसके गुरु में फिर थोड़ा संवाद होता है—और तब जापान का वह दृश्य आता है, जहाँ उसका एक-एक वीर रूस से लड़ने के लिए प्राणोत्सर्ग को तत्पर है। उस पर भी गुरु-शिष्यों की कुछ टिप्पणियाँ होती हैं—तब भारत के कॉलेजी विद्यार्थियों का दृश्य आता है—जिनके लिए विलास मुख्य है और स्वतन्त्रता एक तमाशा। अब के फिर गुरु ने भारत को स्वतन्त्रता का उत्तरदायित्वपूर्ण अर्थ बतलाया और चेतावनी दी है। इस नाटक-प्रणाली में प्राचीन अथवा नवीन परिपाटियों में से किसी भी प्रणाली का अनुसरण नहीं किया गया। यह 'Drama within Drama' नाटकान्तर्गत नाटक के प्राचीन रूप में भी स्थान नहीं पा सकता। नाटक की दृष्टि से जो कथासूत्र चलना चाहिए वह कहीं नहीं।

★ इसी कॉलेज में एक दूसरा नाटक 'वसन्त स्वागत' १९४० में 'वसन्त' के दिन देखने को मिला। उसका नाम था—'वसन्त स्वागत' वह कहीं प्रकाशित नहीं हुआ, पर कॉलेज ने ही उसे छपवा दिया था। इसकी प्रणाली में यद्यपि उपरोक्त नाटक से बहुत भेद था, फिर भी विविध दृश्यों का नियोजन कुछ वैसा ही जैसा ऊपर के नाटक में। इसका पहला दृश्य इस प्रकार था—

[पहला]

(दृश्य खुलता है। एक सूखा पेड़, पत्तियाँ गिर रही हैं। उस पेड़ की छाया लम्बी पड़ रही है। नीचे रंग-बिरंगे फूल वसन्त की अवाई में फूले नहीं समा रहे हैं।)

★ एक बालक—अरे! ये फूल खिल रहे हैं। वसन्त आ रहा है, उसके स्वागत में इनकी यह तड़क-भड़क!

(वृक्ष की ओर देखकर, कुछ उदास होता हुआ)

★ पर...पर...ये वृक्ष कंकाल की भाँति अपनी-अपनी मलिन दीर्घ छाया इस कोने में डालता हुआ अब भी वसन्त के प्रेत-सा खड़ा है।

(एक कदम पीछे हटकर)

★ उफ़ ! उफ़ ! इसने मेरा सारा कवित्व नष्ट कर दिया—फूलों को देखकर जो संगीत फूटना चाहता था, वह अवरुद्ध हो गया—क्या वसन्त नहीं आया ?

★ खिले फूलों ! क्या वसन्त आ गया ?

★ ऐ महावृक्ष ! ऐ पत्र-पुष्प-हीन अभागे ! क्या वसन्त नहीं आया ?

★ बताओ ! कोई बताओ ! मेरी द्विविधा दूर करो। बताओ ! वृक्षराज ! जर्जर वृक्षराज ! क्या तुम ऐसे शुष्क खड़े रहोगे ? क्या मेरी कविता-सी कोंपल तुममें नहीं फूटेंगी ? क्या मेरे संगीत-सी कोकिल तुम्हारी इन हरी शाखाओं पर कूकेगी नहीं ? क्या मेरी नयी उमंग-सी हरीतिमा तुम्हें नव-जीवन और नवयौवन नहीं देगी ? बोलो, अरे क्या तुम अभी से बुड्ढे हो गये क्या ? या अभी वसन्त नहीं आया ?

(दूर से किसी के गाने की आवाज़ आ रही है)

सूख गये पत्ते डालों पर,
झंझा ने झकझोर दिया
ठूँठ खड़ा है मेरे जग में,
नव-जीवन से शून्य, पिया।
मधु बरसा दे, रँग सरसा दे, पचरंग साड़ी मुझे रँगा दे,
गादे फाग सुहाग, पिया रे !

होली जलती है जलने दे,
लपट उठे ऊँची ऊँची।
चित्रकार ! जग-भर को रँग दे,
लाल लाल तेरी कूँची॥
बसुरी ला दे, ढोल बजा दे, मञ्जीरों की धुन गमका दे,
गा दे फाग सुहाग, पिया, रे !!

(गीत पास आता प्रतीत हो रहा है। बालक कुछ विकल होता है।)

★ बालक—यह गीत ! अरे, यह भी क्या गीत है ? मेरी विकलता बढ़ती जाती है। देखूँ तो, वसन्त की किसी और को भी खबर है या नहीं ?

(बालक धीरे-धीरे चला जाता है। एक गड़रिया एक कुल्हाड़ी कंधे पर रखे, एक बकरी का रस्सा पकड़े गाता हुआ आता है।)

★ गा दे फाग सुहाग पिया, रे ? गा...(एक दम चौंककर) कौन है रे ? क्या इस वृक्ष पर किसी और की भी नज़र है ? बड़ा बुरा जमाना है भाई ! अच्छे भले मनुष्य दूसरों की वस्तुओं पर मन ललचाते रहते हैं। इस वृक्ष के हरे-हरे पत्ते हमारी बकरी के बच्चों ने खाये। इसकी लकड़ी माँगी है हमारी घरवाली ने। चूल्हा जलेगा इससे ! कल है बसन्त-पञ्चमी। केसरिया भात कैसे पकेगा।

मेरा पके केसरिया भात—ए हां रे ! पके केसरिया भात।

(गाता जाता है और कुल्हाड़ी मारता है।)

(पर्दा गिरता है)

★ यह दृश्य अन्तर की वस्तु से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं रखता—इसमें प्रतीकात्मकता (Symbolism) है। पर हम यहाँ इस नाटक की प्रणाली की बात नहीं कह रहे हैं। 'स्वतन्त्रता के अर्थ' में जिस प्रणाली का अवलम्बन किया गया, वह प्रणाली संभवत: नाटकों में 'व्याख्या-प्रणाली' कही जा सकती है। किन्तु, इस प्रणाली का यह प्रयोग इस कॉलेज के बालकीय प्रयत्नों में बहुत सफलता-पूर्वक हुआ, और होकर वहीं मर गया।

★ पर १९४१ में साहित्य-सम्मेलन ने एक नया नाटक प्रकाशित किया है 'विकास'। यह सेठ गोविंददासजी का लिखा हुआ है—उसकी भूमिका में सेठ श्री गोविंददासजी ने लिखा है—

★ 'विकास' को मैंने 'नाटकीय सम्वाद' कहा है। हिन्दी में उपयुक्त रंगमंच होने पर अन्य नाटक खेले जा सकते हैं ; लेकिन यह दावा मैं 'विकास' के सम्बन्ध में नहीं कर सकता।'

★ विकास १२३ पृष्ठों में समाप्त होनेवाला एक पूरा नाटक है, और बिलकुल उस नयी प्रणाली का मार्गद्रष्टा है, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यह नाटक 'सम्मेलन' जैसी संस्था ने प्रकाशित कर इस नयी प्रणाली को साहित्यकारों के समक्ष उपस्थित कर दिया है और अब इस पर विचार किया ही जाना चाहिए।

★ नाटकों में उपयोगिता अथवा कलावादिता में से किस पक्ष को ग्रहण किया जाना चाहिए, हम इस पर विचार करने को यहाँ प्रस्तुत नहीं। पर, जिस नयी प्रणाली के नाटकों का यहाँ उल्लेख हुआ है, उन्हें अवश्य ही उपयोगी होना होगा।

★ इन नाटकों में विविध दृश्य अलग-अलग दानों की भाँति माला में पिरोये हुए-से होते हैं। ये दृश्य 'झाँकियों' की भाँति स्वतन्त्र होते हैं, परस्पर एक दूसरे से यों असम्बद्ध। इस विकास नाटक में—कहीं सिद्धार्थ (भगवान बुद्ध) के जीवन के दृश्य मिलते हैं, तो कहीं 'अशोक' के धर्म-प्रसार के, कहीं पतन में जाते हुए संघाराम के, कहीं ईसा मसीह के शैतान द्वारा फुसलाये जाने और उनके अपने विश्वास पर अटल रहने की झाँकी के, तो शैतान द्वारा कहीं दिखाये गये विविध देशों की समृद्धि और विलास के, कहीं ईसा को मृत्यु दण्ड के, कहीं कांस्टेन्टाइन के, कहीं पोप और वेटीकन के, कहीं जर्मनी के रौरव युद्ध के—ये सब परस्पर असंबद्ध दृश्य मनिकों की भाँति 'आकाश और पृथ्वी' के सम्वाद-सूत्र में पिरोये हुए हैं। ये मानो आकाश-पृथ्वी के विवाद के मध्य आये हुए प्रमाणों के दृष्टान्तों को मूर्त करने के लिए हैं। और इस सब में चित्रपटीय प्रभावात्मकता लाने को जहाँ अन्य विविध सुन्दर चित्र-दृश्य उपस्थित किये गये हैं, वहाँ आरम्भ में एक गृह का शयनागार और उसमें दो सुप्तप्राणी दिखाकर अन्त में इस दृश्य को दुहराकर पुरुष-द्वारा इस सारे

नाटकीय प्रबन्ध को स्वप्न बना दिया गया है। ये बाद में कही गई बातें, इस नई प्रणाली के नाटकों के लिए अनिवार्य नहीं कही जा सकतीं। ये तो उसके अर्थ में विशेषता लाने के विविध साधन हैं। इस प्रणाली के नाटक पहले तो यह चाहते हैं कि कोई एक सूत्र हो— यह कथा न होकर किसी विषय का विवेचन हो, अथवा यदि कथा हो तो उसमें एक-दो या अधिक पात्र ऐसे हों जो शृंखला बनानेवाले हों। एक सूत्र ऐसे कि शृंखला में बाँधनेवाले पात्र एक ही स्थान पर खड़े हों, विचार कर रहे हों, उपदेश दे रहे हों, या विवाद कर रहे हों। उदाहरण के लिए, 'स्वतन्त्रता के अर्थ' में भारतकुमार और उसके गुरु तथा 'विकास' में पृथ्वी और आकाश। ये पात्र एक स्थान पर खड़े होकर विविध दृश्यों का वहीं अवलोकन करते हैं। कथा शृंखला जोड़नेवाले पात्र एक स्थान पर खड़े न रहकर विविध स्थानों पर जायँ, दृश्य अपने-अपने स्थानों पर रहें, पर वे समान पात्र उन दृश्यों के पास गाते फिरते हैं; उदाहरणतः 'वसन्त-स्वागत' नाटक में कुछ क्रान्ति के सेवक अथवा नवयुग के प्रसाधक विविध प्रतिक्रियावादी क्षयग्रस्त प्रतीक-पात्रों के आडम्बरावृत दृश्यों और स्थलों पर उपस्थित होकर अपने कार्य को साधते हैं—एक के बाद दूसरे तीसरे ऐसे कई स्थानों पर वे जाते हैं। अतः यह एकसूत्रता आवश्यक है।

★ दूसरे दृश्य की विविधता भी अभीष्ट होती है। इन दृश्यों के चुनाव में ही इस नाटककार का कौशल दर्शनीय होता है। वे दृश्य स्वयं दृश्य और झाँकी की भाँति अपने रूप में अर्थ और महत्त्व तथा आकर्षण रखनेवाले होने चाहिएँ, तथा उनसे वह 'अभिप्राय' अवश्य स्पष्ट प्रकट होना चाहिए, जिसके लिए वे चुने गये।

★ इन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात इसमें (Cumulative Effect) संगृहीत प्रभाव की है। सारे दृश्य अलग-अलग भी और एक सूत्र में पिरोये हुए होकर भी सब मिलकर 'एक वस्तु' लगने चाहिए। इन दृश्यों का महत्त्व केवल उनके अपने रूप में ही कहीं अधिक न हो जाय, यह बात ध्यान में रखनी होगी। और इन नाटकों में विविध दृश्यता होते हुए भी (Climax) चरमोत्कर्ष मिलेगा, वह चरमोत्कर्ष कथा-सूत्र अथवा दृश्य-चयन में नहीं, वरन् सम्पूर्ण वस्तु के संग्रहीत प्रभाव के उत्थान में। निश्चय ही इस नाटक में प्राचीन परिपाटी के नाटकों की इकाइयाँ (unities) काम नहीं आ सकतीं।

★ तो हम आज साहित्य के विचारकों के समक्ष यह प्रश्न रखते हैं कि क्या यह प्रणाली कोई प्रणाली है और वह मान्य हो सकती है, और कला की दृष्टि से उसका क्या कोई स्थान बन सकता है? और क्या इस शैली को नाटक के अन्तर्गत माना भी जा सकता है?

✱

मेरी मुक्ति की कहानी—लेखक लियो टॉलस्टॉय (अनुवादक रामनाथ 'सुमन', परमेश्वरीदयाल विद्यार्थी) प्रकाशक—सस्ता-साहित्य मंडल, नई दिल्ली। मूल्य ॥)

यह पुस्तक लियो टॉलस्टॉय के 'My confessions and My recollections' का हिन्दी अनुवाद है, इसमें टालस्टॉय ने अपने हृदय के अंतर्द्वंद का चित्र बड़े ही रोचक ढंग से चित्रित किया है। उनके जीवन में भी वही संघर्ष तथा समस्याएँ वर्तमान थीं जो आज के अभिजातवर्ग के जीवन में प्रायः देखने को मिलती हैं। और जिन्हें ठीक-ठीक न सुलझा पाने के कारण अधिकांश मध्यम-वर्गीय जनता निष्प्राण एवं प्रतिक्रियावादी हो जाती है। जिस प्रकार आज का समझदार सहृदय व्यक्ति (sensitive man) अपने चारों ओर समाज के पतनोन्मुख एवं अस्वास्थ्यवर्धक विकृत स्वरूप को देखकर घबड़ा उठता है और किसी सुलझी हुई विचार-धारा को न समझने के कारण जीवन से निराश हो उठता है और पलायनवादी बन जाता है, उसी प्रकार टालस्टाय के प्रारम्भिक जीवन में भी यह अंतर्द्वंद अपने पूर्ण स्वरूप में उपस्थित था। उनके समय तक मार्क्सवादी विचार-धारा का इतना व्यापक स्वरूप स्पष्ट नहीं हो सका था। अतएव जीवन में कई बार उन्हें हम आत्महत्या की ओर उन्मुख पाते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि टालस्टाय धनीमानी संपन्न गृह के लाड़ले थे, जिनके यहाँ हज़ारों दास, दासप्रथा के जीवित स्वरूप का प्रमाण दिया करते थे। उनका ऐसा सहृदय एवं प्रतिभाशील लेखक पूँजीवादी-वर्ग और श्रमिकवर्ग के इस वैमनस्य को देखकर घबड़ा उठता था। किसी वैज्ञानिक विचारधारा के अभाव में बुद्ध के समान उनकी भी करुणा निर्वाण की ही ओर भाग खड़ी होती थी। या कह सकते हैं कि गांधीजी के समान दोनों दलों का हितू कहलाने के कारण वे भी किसी सामंजस्य की खोज में व्यग्र हो उठते थे।

टालस्टाय ने इस वर्गयुद्ध को सुलझाने के लिए सुकरात, शापनहावर, सुलेमान तथा बुद्ध आदि दार्शनिकों की शरण ली, किन्तु वहाँ उन्हें जीवन से विरक्ति होने के सिवा और कुछ न मिला। उन्होंने आखिरकार श्रद्धा को मानव-जीवन का असली तत्व माना और अपनी सारी चिन्ताओं का समाधान ईश्वर के तत्व पर समाप्त कर दिया। हाँ वे हिंसा अहिंसा की गुत्थी ठीक तरह नहीं सुलझा पाए थे। उनका कहना था कि 'मानवीय स्वार्थों की पूर्ति के लिए हिंसा आवश्यक हो उठती है, सर्वथा उसका प्रयोग हुआ है और होता रहेगा।'

अनुवाद के विषय में अवश्य कहना होगा कि अनुवाद सुन्दर बन पड़ा है। हाँ, जान-बूझकर भाषा को हिन्दुस्तानी बनाने का प्रयत्न अवश्य किया गया है। यह प्रवृत्ति कुछ सुन्दर नहीं मालूम पड़ती है, भाषा सरल हो पर उसका अपना स्वाभाविक विकास हो, जान-बूझकर किसी प्रकार का बोझ न लादा जाय। यों प्रवाह काफ़ी है। मंडल इतने सस्ते दामों पर इतनी महत्वपूर्ण पुस्तक उपस्थित करने के लिए बधाई का पात्र है।

नटी की पूजा—लेखक रवीन्द्रनाथ ठाकुर (अनुवादक—भगवतीप्रसाद चन्दोला) प्रकाशक—विश्वभारती—ग्रन्थालय, २१०, कार्नवालिस स्ट्रीट कलकत्ता।

यह पुस्तक कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर की 'नटीर-पूजा' का हिन्दी रूपान्तर है। यह समस्या नाटक है। सबसे बड़ी विशेषता जो अन्य नाटकों से इसकी भिन्नता प्रदर्शित करती है, पुरुषपात्रों का पूर्ण बहिष्कार है। केवल नारीपात्रों द्वारा संपूर्ण कथावस्तु का तथा नाटक के अन्य अङ्गों का सुन्दर निर्वाह किया गया है। कथानक बौद्ध-कालीन युग की समृद्धि एवं उसके एकांगी विकास का स्वरूप हमारे समक्ष उपस्थित करता है। यह वह समय था जब 'बुद्धं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि' की ध्वनि चारों ओर प्रतिध्वनित हुआ करती थी। बड़े-बड़े राजा महाराजा सहर्ष बुद्धधर्म को स्वीकार कर राजकीयधर्म से विमुख होते जा रहे थे। नाटककार का असली मन्तव्य

यह दिखाने का है कि जिस प्रकार जहाँ एक ओर बौद्धधर्म के कारण करुणा, दया, एवं विरक्ति का प्रसार हो रहा था वहाँ दूसरी ओर संसार के स्वाभाविक भाव, ममता, स्नेह, वात्सल्य और आत्मीयता का आकर्षण स्वरूप भूखों मर-मर कर लुप्त होता जा रहा था। इस एकांगी स्वरूप का व्यंग चित्र दिखाने के लिए रवीन्द्र को नारी से बढ़कर और कोई आश्रय नहीं मिला, जो स्वयं स्नेह, ममत्व और वात्सल्य की मूर्ति होती है। नाटक को ऐतिहासिक स्वरूप देने के लिए महाराज बिम्बिसार के पुत्र को बचपने में ही भिक्खु बना देनेवाली घटना का आधार लिया गया है।

महाराज बिम्बसार की महारानी लोकेश्वरी में नारी हृदय का वात्सल्य एवं इस इच्छारहित निर्वाण के प्रति विरोध प्रदर्शित करने में टैगोर की कला पूर्ण सफल हुई है। तारीफ़ यह है कि कहीं उत्तेजनापूर्ण अथवा अश्लील दृश्यों का प्रवेश नहीं हो पाया है। यद्यपि महाराज बिम्बसार की मृत्यु एवं उनके पुत्र अजातशत्रु का पुनः बौद्धधर्मग्रहणवाला स्वरूप दिखलाकर नाटक को और अधिक सनसनादार बनाया जा सकता था। किन्तु बड़ी सफाई से इस घटना को बचाते हुए उन्होंने अपने आदर्श को सुरक्षित एवं नाटक को सुरुचिपूर्ण ढाँचे में ढाला है।

नाटक में कथावस्तु, चरित्र, संवाद, भाषा, प्रयोजन आदि सभी नाटकीय तत्वों का सुन्दर और सफल निर्वाह हुआ है। शास्त्रीय दृष्टि से कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण नाटक में रस का पूर्ण परिपाक हुआ है। गीत तो बहुत ही सुन्दर और उपयुक्त बन पड़े हैं, जिन्हें बंगला न जाननेवाला भी पढ़कर समझ सकता है और उसकी स्वर लहरों में रसमग्न हो सकता है।

अनुवाद बहुत ही सफल हुआ है। कहीं-कहीं तो बिलकुल मौलिक रचनावाला ही आनन्द आ जाता है। अच्छा होता यदि गीतों का अनुवाद भी गीतों में दिया जा सकता। कारण इतनी सरल भाषा का तो हिन्दी में सरलता से अनुवाद किया जा सकता था, बिना उसका ओज और प्रवाह नष्ट किये। फिर भी टैगोर की सुन्दर कलाकृतियों को इस रूप में हिन्दी पाठकों को सहज लभ्य करने के लिए हम प्रकाशक और चन्दोलाजी दोनों के कृतज्ञ हैं और भविष्य में टैगोर के अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थों का भी हिन्दी में शीघ्र रूपान्तर पा सकने की आशा करते हैं।

—शिवमंगलसिंह 'सुमन'

● ● ●

निर्वाचन-पद्धति—ले० प्रो० दयाशंकर दुबे, श्रीभगवानदास केला ; मूल्य ।।✓)

नागरिक कहानियाँ—ले० श्री सत्येन्द्र एम० ए० मूल्य ।।=)

नागरिक शिक्षा—ले० श्रीभगवानदास केला ; मू० ।।=)

तीनों पुस्तकें भारतीय ग्रन्थमाला, वृन्दावन द्वारा प्रकाशित हैं।

श्रीभगवानदास केला की अध्यक्षता में भारतीय ग्रन्थमाला वृन्दावन के अन्तर्गत सन् १९१५ से अब तक लगभग २४-२५ उपयोगी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। उनमें से दसवीं, ग्यारहवीं, और तेरहवीं पुस्तकें हमें समालोचनार्थ मिली हैं।

दसवीं पुस्तक 'निर्वाचन-पद्धति' के लेखक इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के प्रो० दयाशंकर दुबे तथा केलाजी हैं। पुस्तक का यह तीसरा संस्करण है। इसका पहला संस्करण १९२६ ई० में हुआ था। सोलह वर्ष में तीन संस्करण किसी अन्य विषय की पुस्तक के लिए ऐसा कुछ गर्व का विषय न होता पर 'निर्वाचन' के प्रति लोगों में अभी भी कुछ विशेष रुचि नहीं है—कम से कम उसके नियम और पद्धति के अध्ययन के लिए तो आज भी औसत भारतीय उदासीन है। ऐसी अवस्था में तीसरा संस्करण कुछ महत्व रखता ही है।

एक सौ बीस पृष्ठ की छोटी-सी पुस्तक में संक्षेप में निर्वाचन विषय से सम्बन्ध रखनेवाली आवश्यक प्रणालियाँ और सिद्धान्त तो दिये ही गये हैं। इनके अतिरिक्त 'नवशक्ति' से उद्धृत लेखवाला मतगणना प्रणाली वाला अध्याय साधारण पाठक के लिए विशेष उपयोगी है।

भारतीय समस्या से विशेष सम्बन्ध रखनेवाले संयुक्त तथा प्रथक निर्वाचन पर दो अलग अध्याय दिये गये हैं और वे महत्वपूर्ण हैं।

एक बड़ी कमी जो मुझे खटकी वह भारतीय व्यवस्थापिका के प्रान्तीय तथा केन्द्रीय निर्वाचन नियमों का सर्वथा अभाव है। इसके लिए आशा है कि केलाजी अगले संस्करण में एक परिशिष्ट अवश्य जोड़कर पुस्तक को बिना मूल्य बढ़ाये प्रकाशित करेंगे। अभी पुस्तक का मूल्य नौ आना है।

माला की ग्यारहवीं पुस्तक 'नागरिक कहानियाँ' है।

बहुत दिन हुए अंगरेज़ी में A. G. Gardiner का On the rule of the road एक लेख मैंने पढ़ा था। लेख होने पर भी वह किसी कहानी से कम मनोरंजक न था। साथ ही उसमें नागरिकता के मूल सिद्धान्त को बड़े सुन्दर रूप में व्यक्त किया था। हिन्दी में प्रेमचन्द की 'काश्मीरी सेब' 'मोटर के छींटे' तथा अन्य कई कहानियाँ कला और विषय की उपादेयता की दृष्टि से कहीं अच्छी थीं। इसी प्रकार अन्य कहानी लेखकों की भी ऐसी कहानियाँ मिल सकती थीं जो प्रस्तुत संग्रह की कहानियों की जगह प्रकाशित होकर नागरिक समस्याओं पर प्रकाश डालतीं, साथ ही उनमें टेकनिक के अभाव के लिए क्षमा याचना के समान विद्याभूषणजी अग्रवाल की भूमिका की आवश्यकता न पड़ती।

खेद है कि पुस्तक की कहानियाँ कला की दृष्टि अलग रखकर भी अपने उद्देश्य में सफल न हो सकी हैं। अन्त में दिया 'स्वतंत्रता का अर्थ' शीर्षक एकांकी अवश्य ऐसा है जो इस पुस्तक से अलग ही रहता तो अच्छा था।

'नागरिक शिक्षा' माला का तेरहवाँ प्रकाशन है। इसके लेखक श्री भगवानदास केला हैं और इसका मूल्य है दस आना। यह संस्करण तीसरा है। पहला संस्करण पता नहीं कब हुआ था।

पुस्तक में नागरिक जीवन से लेकर सेना, पुलिस, अदालत, जेल, तार-डाक शिक्षा, कृषि-सिंचाई... आदि उपयोगी विषयों का अच्छे ढंग से वर्णन किया गया है। हाई-स्कूल के विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तक बड़ी अच्छी होती यदि इसमें शिक्षा-विभाग के पाठ्यक्रम के विषय भी सम्मिलित कर लिए जाते। वैसे भी 'ग्राम और नगर-प्रबन्ध' तथा 'हमारे देश का राज्य-प्रबन्ध' अध्याय इसमें रहना ही चाहिये था। आकार के भय के लिए पुस्तक दो भागों में की जा सकती थी। इसके सिवा पार्लमेंट, सम्राट, भारत मंत्री और देशी रियासतें भी ऐसी पुस्तक में रहना आवश्यक था। जब कि प्रकाशक को किसी पुस्तक को पाठ्य पुस्तक बनाने की अभिलाषा हो तब तो यह अनिवार्य हो जाता है। मेरा विचार है कि पाठ्यक्रम के अनुसार परिवर्द्धन करने पर इस विषय की अन्य किसी पाठ्य-पुस्तक से यह कहीं उपयोगी सिद्ध होगी।

—ज० शङ्कर

● ● ●

दुनिया की शासन-प्रणालियाँ और आज का यूरोपीय युद्ध—प्रथम एवं द्वितीय भाग। लेखक, श्रीरामचन्द्र वर्मा; प्रकाशक, सस्ता साहित्य मण्डल, कनाट सर्कस, नई दिल्ली। मूल्य बारह आना प्रत्येक भाग का।

प्रस्तुत पुस्तक में संसार की शासन-प्रणालियों के इतिहास को संक्षिप्त रूप में हिन्दी-जनता के समक्ष रखने का प्रयास किया गया है। पुस्तक दो भागों में पूर्ण हुई है। प्रथम खण्ड में ग्रेट ब्रिटेन, फ्रान्स, संयुक्त राज्यों, इटली और जर्मनी की तथा द्वितीय खण्ड में सोवियट रूस, टर्की, जापान और ब्रिटिश भारत की राजनीतिक-प्रणाली का वर्णन है।

यह पुस्तक श्री रामचन्द्र वर्मा का मौलिक राजनीतिक ग्रन्थ नहीं है। प्रसिद्ध अँग्रेजी चिन्तक जी० डी० एच० कोल की प्रशंसनीय पुस्तक Modern Polities के Political System of the World के आधार पर यह लिखी गई है।

हिन्दी में राजनीति सम्बन्धी पुस्तकों की बड़ी कमी है। आज से पहिले कुछ साहित्य यदि इस क्षेत्र में लिखा भी गया तो उनका उद्देश्य नागरिक शास्त्र पर स्कूली पाठ्य-क्रम के अनुसार बाज़ारू किताबें तैयार करना था। आज भी भारतीय विश्व-विद्यालयों के अध्यापक अपनी मातृभाषा में राजनीति सम्बन्धी पुस्तकें न तो लिखते हैं और न प्रोत्साहन देकर अपने विद्यार्थियों से ही लिखवाते हैं। इधर अवश्य कुछ पुस्तकें स्वतंत्र रूप से लिखी गई हैं, किन्तु उनकी संख्या अभी बहुत नगण्य है। श्रीयुत वर्माजी ने इस पुस्तक को तैयार करके हिन्दी-पाठकों को अपना आभारी बना लिया है। अब वे संक्षिप्त रूप में संसार के प्रमुख राष्ट्रों की शासन-प्रणाली को तो अवश्य ही समझ जायँगे।

फैसिस्ट और नामी कलाकारों तथा चिन्तकों ने अटूट घृणा के उस प्लेग में वृद्धि की है जिससे यूरोप और उसके साथ ही साथ समस्त विश्व की देह और आत्मा को निगल जाने का संकल्प किया है। उसी पाशविक मनोवृत्ति के फलस्वरूप आज बीसवीं सदी में पुनः हिटलर के रूप में मानवता का महान शत्रु उत्पन्न हो गया है। आज हम रक्त की होली खेल रहे हैं। इस चित्र का वर्णन भी पुस्तक में सही ढंग से किया गया है।

निस्सन्देह प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी-पाठकों के लिए आवश्यक है क्योंकि उन्हें भी यह ज्ञात होना चाहिए कि जिस विश्व में वे रह रहे हैं उसका रंग-रूप कैसा है?

—राजवल्लभ

● ● ●

स्वाति—(गुजराती कविता) लेखक: कोलक; प्रकाशक: मगनभाई लालभाई देसाई, कविता कार्यालय, गुरुनिवास, नेहरू रोड विले पारले, बम्बई; मूल्य डेढ़ रुपया; पृष्ठ संख्या १२४; छपाई-सफ़ाई उत्तम।

गुजराती कविता की विशेषता उसका संगीत और बोल-चाल के शब्दों में भावों को प्रकट करना है। अधिकांश गुजराती कवि लोकगीत के छन्दों में और कुछ संस्कृत छन्दों में, जो सफलतापूर्वक गाये जा सकते हैं अपनी काव्य-रचना करते हैं। 'स्वाति' के कवि 'कोलक' अपवाद नहीं।

श्री मगनलाल लालभाई देसाई 'कोलक' गुजराती के एक नवयुवक कवि हैं। 'कोलक' एक नदी है जो गुजरात के दक्षिण प्रान्त में बहती है और वहीं कवि का घर है। उसी नदी के नाम पर कवि ने अपना यह उपनाम रखा है। 'स्वाति' का प्रारम्भ भी 'फ्लाईंग क्वीन ट्रेन में से देखी सन्ध्या' कविता से आरम्भ होता है। कवि अपने घर जा रहा है। ट्रेन में साँझ हो आती है। चलती गाड़ी में से वन-प्रदेश पर उतरती साँझ कवि को प्रेरणा देती है और उसके मन के भाव छन्दों में व्यक्त हो जाते हैं। भावों के उतार-चढ़ाव के अनुरूप कवि अनुष्टुप, शालिनी-मंदा क्रांता-स्रग्धरा, वसंततिलका, आदि छन्दों की सहायता लेता है। कवि सफलतापूर्वक प्रकृति के सुरम्य शब्द-चित्र खींचता है। कोलक नदी के किनारे उतरती संध्या का बालरूप में ध्यान करता है। संध्या को क्षणभर रुक रहने की प्रार्थना करता है। उसे अपने गाँव के घर में रहनेवाले बालक याद हो आते हैं। वे बड़े खिलाड़ी और ऊधमी हैं इसलिए कवि पूछता है कि क्या वे तेरे साथ खेलते भी हैं? और क्या तूने कभी उन्हें अपने हाथ के चाँद-सूर्य के खिलौने भी दिये हैं? कवि संध्याकाल से जो प्रेरणा चाहता है वह उसे पूर्णरूप से नहीं मिलती और तब वह निराश तथा क्षुब्ध होता जाता है। न तो वह संध्या से मिलनेवाली प्रेरणा में पूरी तरह तल्लीन हो पाता है और न उससे छुटकारा ही पाता है। अन्त में क्षुब्ध होकर कह उठता है:

तू ये किनारे सूने छोड़कर चली आ
गाँव की सीमा पर बहती मेरी मधुर नदी
श्यामवर्णी चूँदरी ओढ़ लेती।
संध्या, उस वियोग काल में तेरे आँसू
उस श्याम चूँदरी पर बूँद-बूँद

जमकर प्रकाशित नभ-तारक बन जायेंगे।
मैं एकान्त में अपना गीत अलापूँगा—
अपने प्यारे बच्चों के साथ किनारे पर घूमूँगा
सन्ध्या, तेरा ध्यान उसी समय भूल सकूँगा।

आरम्भ में पाठक यह धारणा लेकर चलता है कि कवि छन्दों का जानकार है और छन्दों के चमत्कार में ही वह अपनी सारी प्रतिभा लय कर देगा। लेकिन इस प्रथम कविता के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते उसे मान लेना पड़ता है कि कवि में जीवन और जीवन के सतत संघर्ष के प्रति सचाई है। और वह सफलतापूर्वक अपने आन्तरिक संघर्ष को व्यक्त कर सकता है।

मगनभाई पारिवारिक व्यक्ति हैं। उन्हें अपने परिवार से प्रेम है। उनका कवि भी एक पारिवारिक कवि है। वह परिवार से आगे बढ़कर संसार से प्रेम करता है और विश्व की वेदना के गीत गाता है।

'साम्ध्यगीत' और प्रस्तुत संग्रह पर से मालूम पड़ता है कि कवि सन्ध्याकाल से प्रेरित होता है। दिवस का अवसान उसके लिए अनन्त प्रेरणा का स्रोत है परन्तु कवि उस स्रोत को झेल नहीं सकता, पकड़ नहीं पाता और तब क्षुब्ध हो उठता है। यही कवि का संघर्ष है। कवि के शब्दों में—

इस विषादी स्वाति नक्षत्र में
मेरी आंखों से जीवन में जो कभी आँसू चू पड़े
वही काव्य-मौक्तिक बने
मेरी रस-आर्द्र उर सीप में।

'स्वाति' में कवि ने चारेक अँग्रेजी कविताओं के अनुवाद भी दिये हैं। सही मानी में वे अनुवाद नहीं हैं। कवि ने उन कविताओं से प्रेरणा पाई है और तब उन्हें अपने भावों में रंग कर व्यक्त किया है। इस तरह वे चीजें काफ़ी भारतीय हो गई हैं। यदि मूल अँग्रेज़ी कविताएँ भी दी गई होतीं तो तुलना करने में काफी सहायता होती।

बारीत्याग, बाबू काका, बुढ़िया की मृत्यु और मच्छर-दानी पर गिरे पतिंगे सफल चित्रण है। कवि अपने अड़ोस-पड़ोस से आँख-मूँदकर नहीं चलता। बारीत्याग याने खिड़की छोड़ना। कवि, कवि-पत्नी और बालक उपनगर से शहर में सीनेमा देखने आ रहे हैं। पत्नी खिड़की पर बैठ जाती है तो कवि वहाँ से उठने के लिए उसे कहता है। वह मना कर देती है। कवि कहता है—शास्त्र में लिखा है कि पत्नी को पति की आज्ञा माननी चाहिये। पत्नी झट से उत्तर देती है—इतिहास इस बात का साक्षी है कि पुरुष ने नारी के लिए राजगादी भी छोड़ दी फिर तुम मेरे लिए खिड़की तक नहीं छोड़ सकते और मुस्करा दी।

प्रस्तुत संग्रह में कवि ने अपनी विविध प्रकार की कविताएँ संग्रहीत की हैं। कुछ कविताएँ बालकों के लिए भी हैं।

'कोलक' में भावुकता है और कई बार इसलिए वह भावुकता में बहकर वास्तविकता से आँखें मूँद लेते हैं। 'तीसरे दर्जे में यात्रा करती परी से' कविता में एक अति सुन्दरी स्त्री को देख कवि का भावपक्ष जाग उठता है। उसे अचरज होता है कि यह इतनी सुन्दरी स्त्री तीसरे दर्जे में यात्रा क्यों कर रही है? मानो कवि के मन में सौन्दर्य उच्च मध्यवर्ग और उच्चवर्ग के लिए ही है, निम्नवर्ग में सौन्दर्य की कल्पना भी उसे असह्य है, मानो ग़रीबों के घर सुन्दरी स्त्रियाँ हो ही नहीं सकतीं!

और ऐसी ऐसी भूलें एक नहीं अनेक हैं। 'कोलक' में भूलें हैं क्योंकि अभी वह नवोदित कवि है। उसका दृष्टि-कोण परिपक्व नहीं हुआ है। वह बिगाड़ता है और बनाता है। भावुकता के कारण उसके मस्तिष्क में कुछ सीमा तक उलझनें हैं। लेकिन वह विकास के पथ पर है और उसका भविष्य आशास्पद है।

—श्यामू सैन्यासी।

★

हम आक्रमणकारी के सामने आत्म-समर्पण न करेंगे

पत्र-प्रतिनिधियों के बीच नेहरूजी का भाषण

भारत आज युद्ध की एक कठिन समस्या है। दूसरा महत्वपूर्ण क्षेत्र रूसी रणक्षेत्र है। यही दो महत्वपूर्ण रणक्षेत्र हैं, बाकी का कोई ऐसा विशेष महत्व नहीं है। आगामी दो-तीन महीनों में रूस-जर्मन युद्ध पर बहुत कुछ निर्भर करता है। आगामी तीन चार महीनों में भारत युद्ध की एक कठिन समस्या होनेवाला है। उससे युद्ध की मियाद और भीषणता में भी कुछ अन्तर होगा। संसार का प्रत्येक देश यह बात समझता है—केवल नयी दिल्ली और ह्वाइटहाल के बड़े लोग यह नहीं महसूस करते—और इसीलिए जर्मनी और जापान से रेडिओ के द्वारा घबराहट से भरी अपीलें सुनी जाती हैं।

प्रत्येक दल यह जानता है कि भारत तभी अच्छी तरह काम कर सकता है जब भारतवासी अच्छी तरह काम करेंगे। फौजी टोपीवाले चाहे जितना जोरों में काम करें, पर इससे कुछ नहीं होता। यदि आज भारत की राष्ट्रीय सरकार यह कहे कि हम भारतीय जनता को सशस्त्र करेंगे, तो हमारे पास भले ही आधुनिक युग के टैंक और विमान न हों, पर हम उन्हें ऐसी-ऐसी तोपों से सुसज्जित कर देंगे जैसी कि हम बना सकते हैं। ख्याल कीजिये कि इसका संसार पर क्या असर पड़ेगा, जर्मनी, जापान और मित्र राष्ट्रों पर क्या असर पड़ेगा?

कांग्रेस ब्रि० युद्ध-प्रयत्नों में बाधा न उपस्थित करेगी

यह स्वाभाविक है कि औसत भारतीय पर इस वार्ता के असफल होने की प्रतिक्रिया नाराज़ी की होगी। फिर भी देश के सामने जो प्रश्न उपस्थित हैं वे इतने गम्भीर हैं कि किसी भी जिम्मेदार व्यक्ति में घटनाओं की कटुतापूर्ण प्रतिक्रिया नहीं हो सकती। हम कटुता नहीं धारण कर सकते क्योंकि कटुता से विचारों पर परदा पड़ जाता है और गम्भीर संकट के समय निर्णयात्मक बुद्धि पर उसका अच्छा असर नहीं पड़ता। इसलिए यह निश्चय है कि जो कुछ भी हुआ है उसके बावजूद हम ब्रिटिश युद्ध प्रयत्नों में बाधा उपस्थित करने नहीं जा रहे हैं। हम चाहते हैं कि देश का उत्पादन पूरी रफ्तार से आगे बढ़े। हम चाहते हैं कि लोग जिस काम पर जाते हैं उसे छोड़कर भागें नहीं। हम ब्रिटेन के युद्ध-प्रयत्नों में भाग नहीं ले सकते लेकिन हमारे सामने जो समस्या उपस्थित है वह यह है कि किस प्रकार युद्ध के प्रयत्नों में भाग न लिया जाय, ब्रिटिश युद्ध प्रयत्नों में बाधा न डाली जाय तथा स्वयं अपने स्वतन्त्र भारत के आधार पर अपने युद्ध-प्रयत्नों का संगठन किया जाय। मैं आशा करता हूँ कि अ० भा० कांग्रेस कमेटी की आगामी बैठक में कांग्रेस इस समस्या पर विचार करेगी और हम लोगों को यह बतायेगी कि हमें क्या करना चाहिये।

कांग्रेस आक्रमणकारी का कैसे सामना करेगी

केवल सरकार ही देश की रक्षा कर सकती है। हम नागरिकों की सेना नहीं तैयार कर सकते। फिर भी चूँकि यह संकट हमारे सामने आ पहुँचा है इसलिए हमने आत्म-निर्भरता और आत्मरक्षा का जोरदार कार्यक्रम आरम्भ कर दिया है। आत्म-रक्षा

और भोजन-वस्त्र के सम्बन्ध में आत्म-निर्भरता के लिए हम देहाती और शहरी क्षेत्रों को और सम्भवतः देहाती क्षेत्रों का विशेष रूप से संगठन करने का प्रयत्न कर रहे हैं। हमने यह कार्यक्रम इसलिए आरम्भ किया है ताकि रेल और मोटर द्वारा यातायात बन्द हो जाने पर भी इस कार्य को चलाने के लिए स्थानीय आत्म-निर्भर दस्ते तैयार कर सकें। स्वभावतः ये दस्ते आक्रमणकारी सेनाओं का मुकाबला नहीं कर सकते। वे केवल अव्यवस्था फैलने से रोक सकते हैं, उत्पादन में सहायता पहुँचा सकते हैं तथा लोगों में आतंक नहीं फैलने दे सकते हैं और भविष्य में वे ऐसे साधन बन सकते हैं जिनसे आक्रमण का विरोध करनेवाले दस्ते तैयार किये जा सकते हैं और उन्हें ट्रेनिंग दी जा सकती है। यदि हमने सरकार कायम की होती तो हम तत्काल इस समस्या को इस तरीके से हल करते और इस दिशा में हम न केवल जापानियों का बल्कि अंग्रेजों का भी सामना करते। अगर भारत सरकार बुद्धिमत्ता से काम ले तो वह इस कार्यक्रम में बाधा न डालेगी। यह आन्दोलन कानून को भंग करने के लिए नहीं है. यह एक ऐसा आन्दोलन है जो अप्रत्यक्ष रूप से रक्षा-कार्य में सहायता प्रदान करनेवाला है।

हम आक्रमणकारी के सामने आत्म-समर्पण न करेंगे

मैं इस तरह के विचार को कभी नहीं सहन कर सकता कि एक ओर जब कि भारत के लिए विदेशी सेनाओं में लड़ाई हो रही है और जब कि जापानी लोग हमारे देश पर हमला कर रहे हैं उस समय मैं हाथ पर हाथ रखकर बैठा रहूँ अथवा लोग अपने घरों में पड़े रहें। मैं किस प्रकार कार्य कर सकता हूँ यह परिवर्तित परिस्थितियों पर निर्भर करता है। लड़ाई के वास्तविक क्षेत्र में सम्भव हो सकता है कि मैं जिस तरीके से कार्य करूँ उससे भिन्न तरीके से अन्य क्षेत्रों में करूँ। लेकिन इस कार्य का मुख्य आधार यह होगा कि हम आक्रमणकारी के सामने आत्म-समर्पण करने नहीं जा रहे हैं।

कांग्रेसजन छापेमार सैनिकों की तरह लड़ेंगे

यह हमारा तथा कांग्रेस-जनों तथा अन्य लोगों का कर्तव्य है कि वे इस आत्म-रक्षा तथा आत्म-निर्भरता के कार्यक्रम को यथा-सम्भव अधिक से अधिक हद तक कार्यान्वित करें। यह मुमकिन हो सकता है कि हमें छापेमार सैनिकों (गुरीला) का-सा युद्ध करना पड़े। मैं यह नहीं जानता कि कांग्रेस क्या निर्णय करेगी। मेरी साधारण सलाह यह है कि 'सर न झुकाओ अथवा आत्मा-समर्पण न करो। शत्रु को रसद मत पहुँचाओ। आक्रमणकारी से असहयोग करो तथा उसके कार्य में हर तरह से बाधा उपस्थित करो। लड़ाई का काम सशस्त्र सेनाएँ करेंगी।'

आक्रमणकारी को परेशान करने का निश्चय

ब्रिटिश युद्ध-प्रयत्नों के सम्बन्ध में महात्मा गांधी तथा अन्य नेताओं द्वारा निर्धारित कांग्रेस की नीति यह रही है कि युद्ध के प्रयत्नों में बाधा न डाली जाय। जापानी आक्रमण के सम्बन्ध में हमने आक्रमणकारी को अधिक से अधिक परेशान करने का निश्चय कर लिया है।

★

'हंस' के मई अङ्क की विषय-सूची

नोट:— विषय-सूची में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया जा सकता है ।—सं०

अन्तरप्रान्तीय साहित्यिक प्रगति का परिचायक

वर्ष : १२ :: अंक : १—६

लेखकवार-सूची

★

सेठ जमनालाल बजाज चले गये।

किन्तु—

अन्तिम साँस तक भी
पराधीन भारत के अभ्युत्थान
की लगन उनमें बनी रही। वे यह न
भुला सके कि भारत माता की बेड़ियाँ
काट डालनेवाले शस्त्रास्त्रों को प्राप्त
कर भी यथेष्ट रूप में उनका
उपयोग करने से पहले ही
उन्हें दुनिया से उठा
लिया गया
है।

एक सम्पन्न व्यक्ति होकर भी गरीबों तथा नंगे-भूखों के लिए अनेक प्रकार से कष्ट सहने का व्रत लेकर वे गो-सेवा, खादी और सत्य अहिंसा के अमर सन्देश मानव जगत के लिए छोड़ चले हैं। अब आवश्यकता है कि स्वर्गीय बजाज तथा उनके कार्यों और प्रतिज्ञाओं को निकट से देखा जाय

इसी लिए हमारा निश्चय है कि—

जीवन साहित्य का अप्रैल अङ्क
जमनालाल स्मृति-अंक
होगा
राष्ट्र कर्मियों, लेखकों व पाठकों बल्कि विज्ञापन दाताओं को भी इस अङ्क का उपयोग करना चाहिए।

सेठ बजाज की शीघ्र ही
एक प्रामाणिक जीवनी
प्रकाशित होगी
मूल्य, प्रकाशन तिथि आदि
विवरण की प्रतीक्षा कीजिए

सस्ता साहित्य मण्डल कनॉट सर्कस, नई दिल्ली।

शाखायें—दिल्ली, लखनऊ, इन्दौर, कलकत्ता, वर्धा और प्रयाग।

कुछ पुस्तकें, जिन्हें आप अवश्य खरीदें

बरगद—छोटा-सा गाँव है। गाँव के छोर पर है बरगद। बरगद की घनी-ठण्डी छाया में थके मुसाफिर विश्राम लेते हैं। ग्वालिन अपने पति को दुपहरी का भोजन देने जाती है तो छनभर सिर का बोझ हलका करती है बरगद की छाया में। अगणित पंक्षियों का रैन-बसरा है बरगद की डालियों में। गाँव भर के बच्चे बरगद की लम्बी जटाएँ पकड़कर ही तो झूलते हैं। और खुद आपका थका मन भी तो आज उस बरगद की शीतल छाया के लिए लालायित हो उठा होगा। क्योंकि आपके बचपन और प्रथम यौवन के क्रीड़ा-कलापों का एक वही तो मौन-साक्षी है! तो 'बरगद' को अपने निकट पाने के लिए, उसकी शीतल छाया का मन-ही-मन मजा लूटने के लिये हमें चौदह आने भेज दीजिये। पत्र और पैसा मिलते ही चौथे दिन आप बरगद के पास होंगे।

आधी रात—मेवाड़ वीरों की भूमि कहा जाता है। सामन्त युग में वहाँ कई युद्ध हुए। चित्तौड़ वहाँ का ऐतिहासिक स्थान है। चित्तौड़ के एक राजा उदा का चरित्र इतिहासकारों के लिए एक जटिल मनोवैज्ञानिक समस्या है। उसके मनोभावों और मनोविकारों ने एक युग तक चित्तौड़ के राजकीय जीवन पर अपना प्रभाव डाला है। वहाँ के लोक जीवन पर उसके चरित्र और शासन का प्रभाव लेखक ने बड़े ही सफल ढंग से चित्रित किया है। व्यक्ति का जीवन समाज और राष्ट्र को किस तरह प्रभावित करता है यह जानने के लिए यह नाटक पढ़ना आवश्यक है। मूल्य १॥)

प्रेम की वेदी—प्रेम के लिए पुरुष क्या नहीं करता? प्रेम के लिए नारी क्या नहीं करती? प्रेम का नाम बूढ़ी नसों में गरम रक्त प्रवाहित करता है। लेकिन धर्म और समाज का झूठा बन्धन इस स्वाभाविक झुकाव में रोड़े अटकाता है। योगराज हिन्दू है। मिस जेनी क्रिस्तान। उनके बीच में एक संबंध स्थापित होता है। वह शरीर का नहीं आत्मा का पवित्र संबंध है। उसी आकर्षण में बहनेवाले दो प्राणी और हैं मिसेज़ गार्डन और मिस्टर विलियम। प्रेम का इतना उदात्त और भव्य चित्रण केवल स्व० प्रेमचन्दजी की लेखनी द्वारा ही संभव था। मूल्य केवल ॥)

मेरा हक़—'हंस' पिक्चर्स का 'मेरा हक़' देखा? बाबूराव पेंढारकर, दामूअण्णा, मालवणकर और मीनाक्षी द्वारा अभिनीत 'मेरा हक' का कथानक मालूम है? मराठी के यशस्वी उपन्यास लेखक श्री वि० स० खांडेकर अपने पात्रों द्वारा जीवन के बारे में क्या राय रखते हैं? क्या सचमुच ही जीवन एक विज्ञापन है? या जीवन एक युद्ध है? या जीवन एक जुआ है? या जीवन एक आराधना है? या जीवन एक उपन्यास है? मेरा हक़ क्या है? मेरा हक़ मुझे मिलना चाहिये या नहीं? केवल सवा रुपए में 'मेरा हक़' मिल सकता है। साथ में कई छाया चित्र।

विचित्र लाश—हिन्दी और अंगरेज़ी जासूसी उपन्यासों में मिस्टर राबर्ट ब्लेक का नाम सुप्रसिद्ध है। जासूसी उपन्यासों की अपनी विशेषता होती है। उनका घटना प्रवाह कुछ इतना रोचक होता है कि पाठक उसमें डूब सा जाता है। पद-पद पर उसकी उत्सुकता बढ़ती जाती है। घटनाओं की तीव्रता उसके मस्तिष्क में बिजली की तरह उत्तेजना पैदा कर देती है। विचित्र लाश इसी श्रेणी का एक जासूसी उपन्यास है। १०७ पृष्ठ मूल्य सात आने।

अनुभूति—हम जो कुछ अनुभव करते हैं उस क्रिया का नाम अनुभूति है। नाम भ्रामक नहीं है। लेखक जो कुछ अनुभव करता है उसे अपनी अनुभूति द्वारा कलात्मक रूप देता है। श्री बलदेवप्रसाद मिश्र ने जीवन में जो कुछ देखा, जाना और अनुभव किया उसे 'अनुभूति' नामक कहानी संग्रह में प्रकाशित किया है। यह लेखक का प्रथम कहानी संग्रह है। सभी कहानियाँ ऊँचे दर्जे की हैं। सवा रुपए मूल्य में यह संग्रह सर्व-साधारण द्वारा संग्रहणीय है।

सरस्वती-प्रेस, बनारस, इलाहाबाद, लखनऊ।

[Approved by the Governments of the U. P., Behar, C. P., Kashmir and Bombay Presidency for use in Colleges, Schools and all other educational institutions]

अन्तर्प्रान्तीय साहित्यिक प्रगति का अग्रदूत

: सम्पादक :

श्रीपतराय : शिवदानसिंह चौहान

सलाहकारी सम्पादक मण्डल

★ उर्दू—मौलाना अब्दुलहक़

★ मराठी—वि० स० खाण्डेकर

★ गुजराती—रा० वि० पाठक

★ उड़िया—कालिन्दीचरण पाणिग्राही

★ बँगला—श्रीनन्दगोपाल सेनगुप्त

★ पञ्जाबी—प्रो० मोहनसिंह

★ राजस्थानी—नरोत्तमदास स्वामी

★ कन्नड़—प्रो० अश्वत्थनारायणराव
मिट्टूर श्रीनिवासराव

वार्षिक मूल्य ६) | विदेश में १२ शिलिंग | बर्मा के लिए ८)
अर्ध-वार्षिक मूल्य ३) | ,, ७½ ,, | ,, ५)
एक अंक का आठ आना

हंस

वर्ष : १२ :: मई, १९४२ :: अंक : ८

टिप्पणियाँ—

फासिस्ट-विरोधी सांस्कृतिक मोर्चा *

भारतीय लेखकों, कलाकारों और वैज्ञानिकों की राष्ट्रीय कांग्रेस

साथियो,

भारतीय नगरों पर जापान के हवाई हमले शुरू हो गये हैं, और फौजी हमले भी किसी भी क्षण शुरू हो सकते हैं, क्योंकि बर्मा एक प्रकार से जापानियों के हाथ में जा चुका है। ऐसे संकट काल में भी देश के राजनीतिक हलकों में बहसें चल रही हैं—मेरे कहने का यह अर्थ नहीं कि ये बहसें नहीं होनी चाहिये, जरूर होनी चाहिये क्योंकि इनका सम्बन्ध कुछ बुनियादी सिद्धान्तों से है, और कोई भी क़दम उठाने के पहले किसी चीज के हर पहलू की जाँच जरूरी होती है। लेकिन फिर भी इन बहसों में समय लगता है, लग रहा है मगर आक्रमणकारी इस बात का इन्तज़ार तो नहीं करता कि आप अपनी बहसें ख़त्म कर किसी निर्णय पर पहुँच जाएँ, एक कार्यक्रम और योजना के अनुसार तैयारियाँ कर डालें तब वह आप पर आक्रमण करे। आक्रमणकारी इस बात का भी इन्तज़ार न करेगा कि भारतीय जनता का सहयोग पाने के लिए मजबूर होकर ब्रिटिश सरकार पहले भारत को एक राष्ट्रीय सरकार दे दे, उसके बाद वह भारत पर आक्रमण करे। अगर ऐसा इन्तज़ार वह करता तो हमें अपनी बहसों को अनन्तकाल तक चलाने में भी कोई आपत्ति न होती, क्योंकि तब हमारे देश की निरीह जनता को आसमान से बरसती आग में तो न भुनना पड़ता। और हमारी बहसें चाहे कभी ख़त्म हों या न हों, यह एक क्रूर सत्य है कि हमारी जनता पर मुसीबत के पहाड़ टूटनेवाले हैं, टूट रहे हैं, और जो पहला बोझ था वह अलग। मलाया, सिंगापुर और बर्मा से लौटे लोगों की असह यातनाओं के दर्दनाक किस्से हम सुन चुके हैं, उनके प्रति हम अपनी सहानुभूति भी प्रकट कर चुके हैं और उनके साथ होनेवाले दुर्व्यवहारों के प्रति अपना रोष भी। लेकिन अभी हमने इस

* प्रगतिशील लेखक संघ, बनारस की बैठक में १० मई को दिया गया वक्तव्य।

बात को महसूस नहीं किया कि कल यही दशा भारत के अनेक नगरों, गाँवों और प्रान्तों के लोगों की होनेवाली है, उन पर भी बम-वर्षा होगी, उनके खेत-खलिहान, कल-कारखाने नष्ट होंगे, उनके मासूम बच्चों, और निरीह स्त्रियों का रक्त बहेगा। और ऐसी-दशा में जनता को जो हृदय-विदारक पीड़ा और यन्त्रणा सहन करनी पड़ेगी उसका अनुमान हम आप अभी नहीं कर सकते। फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि ऐसे समय पर एक असंगठित और भयभीत जनता की पीड़ा संगठित और निडर जनता की अपेक्षा कई गुनी होती है, और भारतीय जनता असंगठित और भयभीत है।

राष्ट्रपति मौलाना आज़ाद ने अपने एक भाषण में कहा है, 'ब्रिटिश सरकार अगर हमें राष्ट्रीय सरकार देती तो हम अपने लाखों नौजवानों की लाशें तड़पा देते, लेकिन वह न हमें इज्ज़त से जीने देती है और न इज्ज़त से मरने देती है।' ब्रिटिश सरकार की साम्राज्यवादी नीति के कारण हम जापान का मुक़ाबला करते हुए अपने नौजवानों की लाशें चाहे न तड़पा पाएँ, लेकिन बिना मुक़ाबला किये ही हमारे लाखों बच्चों, बूढ़ों और स्त्रियों की लाशें जरूर तड़प जाएँगी, इसे हम नज़रअन्दाज़ नहीं कर सकते, और इज्ज़त से न सही तो लाखों को बेइज्ज़ती से मरना भी पड़ेगा। हमारे राजनीतिक नेताओं के लिए यह चाहे संभव हो कि वे ब्रिटिश सरकार के रुख़ पर अपना तटस्थता का रुख़ बनावें और स्काउट समितियों की तरह अपने कार्य को राजनीतिक क्षेत्र से अलग कर केवल युद्ध-पीड़ितों की सेवा तक ही सीमित कर लें, और युद्ध के परिणाम में कोई गहरी क्रियात्मक दिलचस्पी न दिखाएँ, लेकिन क्या हम लेखकों और विचारकों के लिए भी ऐसा करना संभव है? वैसे, ऐसे संकट काल में जनता अपने नेताओं से भी तटस्थता के दृष्टिकोण की आशा नहीं करती, क्योंकि उसके तो जीवन-मरण का प्रश्न होता है और लक्ष्यहीन जनता की घबराहट का आप अनुमान लगा सकते हैं। अतः जनता अपने नेताओं से यह भी माँग कर सकती है कि ब्रिटिश सरकार एक साम्राज्यवादी सरकार है, और वह अपने से भारत को आज़ादी नहीं दे सकती; अगर आज़ादी दे दे तो उसे इस महायुद्ध में पड़ने की जरूरत ही क्या है? लेकिन साम्राज्यवाद स्वयं ख़त्म हो रहा है, इस पेचीदा युद्ध का तर्क ही कुछ ऐसा पेचीदा है, अतः साम्राज्यवादी ब्रिटेन के रुख़ के अनुकूल ही आप भी अपना दृष्टिकोण बनाएँ, आप जो साम्राज्यवाद के नहीं बल्कि जनता के प्रतिनिधि हैं तो इससे बड़े आश्चर्य की बात नहीं हो सकती और जनता में आपका विश्वास भी कुछ डगमगाता-सा दीखता है। क्योंकि यह सच है कि ब्रिटिश सरकार आपको राष्ट्रीय सरकार नहीं दे रही, लेकिन क्या आप इस बात से तटस्थ हो जाएँगे, आप जिन्होंने चीन और रूस की जनता के प्रति हमदर्दी दिखाई है, संकट काल में सहायता देने के वादे किये हैं, आप जो फासिज्म की विजय को संसार का दुर्भाग्य मानते रहे हैं, आप जो फासिज्म से लड़ने के लिए ही राष्ट्रीय सरकार की माँग करते रहे हैं ताकि आप विश्व की प्रगतिशील जनता की आज़ादी के लिए देश के नौजवानों की लाशें तड़पा सकें? राष्ट्रीय सरकार आपको नहीं मिल रही हो तो आप अपने सारे वायदे और सिद्धान्त तो नहीं भूल सकते, और न हाथ पर हाथ रखकर बैठ ही सकते हैं, बल्कि आपको तो और भी ज्यादा

ताक़त से इस माँग को दुहराना चाहिए, इस माँग के लिए लड़ना चाहिए। ब्रिटिश सरकार हमें राष्ट्रीय सरकार नहीं देती तो हम देश में ज़बदस्त एका कर उसे देने के लिए मजबूर कर दें क्योंकि हमें अपनी जनता के प्रति अपना कर्तव्य निभाना है। अपनी और विश्व की जनता के प्रति अपना कर्तव्य पालन करने के लिए क्या हम ब्रिटिश साम्राज्यवाद का मुँह ताकेंगे? और इस समय जब कि आप फासिज्म की हार चाहते हैं, आप ब्रिटिश सरकार की युद्ध की तैयारियों से असहयोग के तरीक़े पर नहीं लड़ सकते, उस तरीक़े से शत्रु को लाभ होता है, अतः लड़ने का तरीक़ा बदलना होगा और आज की राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ कुछ ऐसी हैं कि युद्ध में सहयोग करने का तरीक़ा ही राष्ट्रीय आज़ादी पाने का सबसे प्रभावशाली तरीक़ा है। लेकिन यह एक लक्षहीन असंगठित जनता का सहयोग न होना चाहिए, बल्कि एक संगठन, अपने लक्ष्य के प्रति सचेत जनता का सहयोग होना चाहिए। और कोई भी साम्राज्यवाद उसकी आज़ादी की माग को ठुकरा नहीं सकता, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का तर्क भी ऐसी जनता के हक़ में है। अतः हमारे राजनीतिक नेता इस मार्ग को छोड़कर तटस्थता के मार्ग पर क्यों मुड़े हैं? क्योंकि जनता की चेतना अभी इतनी अस्पष्ट है कि इस मार्ग पर मुड़ना संभव है, और यह भी कहना संभव है कि हमें जापान से कोई दुश्मनी नहीं है, चाहे पीछे से यह पुछल्ला क्यों न जोड़ दिया जाय कि हम किसी भी बाहरी ताक़त की गुलामी करने को राज़ी नहीं हैं। लेकिन एक तटस्थ आदमी की राज़ी और नाराज़ी का विचार करके आक्रमणकारी आगे नहीं बढ़ते, और जब हमारे नेता कहते हैं कि हम जापान से भी अहिंसात्मक असहयोग के तरीक़े पर लड़ेंगे तो वे एक हद तक यह अनुमान कर ही लेते हैं कि जापानी जीत जाएँगे और अपनी सरकार भारत में क़ायम करेंगे, तब हम उनसे अपने पुराने असहयोग के अस्त्र से लड़ेंगे क्योंकि आक्रमणकारी सेनाओं से वे इस तरह नहीं लड़ सकते, और लड़े भी क्यों? ब्रिटिश सरकार ने उन्हें इज्ज़त से मरने का हक़ भी कब दिया है? और इसलिए जापान के जीतने पर ही, हालाँकि नेतागण उसकी जीत नहीं चाहते, अहिंसात्मक असहयोग का अस्त्र प्रयोग में लाया जा सकेगा। जापानियों की जीत में हमारे नेताओं का भीतर से विश्वास बढ़ता जाता है, इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो फिर यह कहने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता कि हम सहयोग करके ब्रिटिश साम्राज्य को विजय ही दिलाएँगे और उसे मजबूत ही करेंगे, और यह कभी वाञ्छनीय नहीं। इस तर्क के पीछे तस्वीर में न सचेत, संगठित जनता रहती है और न विश्व को प्रगतिशील शक्तियों की विजय-कामना ही। अतः केवल मौखिक सहानुभूति कई अप्रत्याशित कठिनाइयों से बचाव करने का आवरण मात्र बनकर रह जाती है। लेकिन क्या हम लेखक भी जापान की जीत का इन्तज़ार करेंगे, अपनी आज़ादी की लड़ाई लड़ने के लिए? हम लेखकों के तर्क का दायरा अधिक व्यापक होता है क्योंकि हमारा सम्बन्ध संस्कृति के निर्माण से है। अतः किसी भी दशा में जापान जीत जाय, इसकी कल्पना हम नहीं करना चाहते, क्योंकि जापान की जीत के मूल में एक सांस्कृतिक प्रश्न भी छिपा है और वह प्रश्न हमारे राजनैतिक नेताओं के प्रश्नों से कहीं ज्यादा गहरा है। इस प्रश्न का एक छोटा-सा लेकिन

चमकता हुआ अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास भी है, और एक चमकती हुई त्याग और बलिदानों की परम्परा भी है।

जापान जीते या हारे भारत की जनता को तो दोनों दशाओं में अपना रक्त बहाना पड़ेगा, क्योंकि भारत पर आक्रमण होगा, तो हमारे नेता चाहे तटस्थ रहें, लेकिन ब्रिटिश सरकार ने युद्ध में भारत को घसीट दिया है और अब इस हक़ीक़त से छुटकारा नहीं। और अगर जापान जीत गया तो उसके कुछ ऐसे सांस्कृतिक परिणाम होंगे जो हमारे अहिंसात्मक असहयोग के मासूम सपनों को भी कभी कामयाब न होने देंगे—क्योंकि जापान की सरकार एक फासिस्ट सरकार है, और जापानी फासिज़्म नाज़ी या इटालियन फासिज़्म से भिन्न प्रकार का नहीं है, एक अर्थ में वह नाज़ी फासिज़्म से अपेक्षाकृत ज़्यादा क्रूर और निर्दय और बर्बर है। जब से फासिज़्म का उदय हुआ है विश्व के श्रेष्ठ और ईमानदार कलाकारों, लेखकों, विचारकों और वैज्ञानिकों से उसकी शत्रुता रही है, क्योंकि फासिज़्म साम्राज्यवाद का सबसे विकृत, वीभत्स और ख़ूँख़ार रूप है और कला, साहित्य, संस्कृति का शत्रु है अर्थात् मनुष्य की आज़ादी और प्रगति का दुश्मन है। यह एक सत्य है और इससे आप सभी परिचित हैं, अतः यह दुहराने की ज़रूरत नहीं है कि फासिज़्म इतिहास को किस तरह तोड़ता-मरोड़ता है, और जो लेखक और कलाकार फासिज़्म के 'intellectual storm-troops' नहीं बन सकते और ईमानदारी से अपने अनुभव को चित्रित करना चाहते हैं उन्हें किस तरह यातनाएँ देकर नज़रबन्द करता है या देश से निर्वासित कर देता है, किस तरह अपने देश के पुराने महान लेखकों या कलाकारों या वैज्ञानिकों—जैसे गेटे और आइन्स्टीन—की पुस्तकों की प्रतियाँ एकत्र कर सड़कों पर होली जलाता है, किस तरह नाज़ी जर्मनी के फिलासफर हन्स जोहूस्ट का हाथ 'संस्कृति' शब्द के सुनते ही रिवाल्वर पर पहुँच जाता है, किस तरह जापान के महान कहानी लेखक ताकाजी कोबायाशी को सैनिक घर में घुसकर मार डालते हैं और फिर सड़कों पर घसीट कर प्रदर्शन करते हैं क्योंकि वह एक ईमानदार और सचेत लेखक था। फासिज़्म के इन कारनामों को दुहराने की ज़रूरत नहीं। अगर यह सच न होता तो दो बातें न होतीं। पहले तो यह कि जर्मनी, इटली और जापान के सभी श्रेष्ठ लेखक और कलाकार और वैज्ञानिक आज दूसरे देशों में निर्वासित जीवन न व्यतीत करते होते, और गत दस वर्षों में इन फासिस्ट देशों के साहित्य का नाम आपने भी सुना होता। दूसरी बात यह है कि इन निर्वासित लेखकों और वैज्ञानिकों ने, जिनमें टामस मान और आइन्स्टीन जैसी महान प्रतिभाएँ भी हैं फासिज़्म के ख़िलाफ़ स्वर ऊँचा न किया होता और स्पेन में जब फासिज़्म ने आक्रमण किया था तो जर्मनी, इटली, फ्रांस, इंगलैण्ड, हालैण्ड और अमेरिका के श्रेष्ठ लेखक मशीनगनें चलाने और सैनिक दस्तों का संचालन करने न जाते और दर्जनों की तादाद में अपना बलिदान न हो जाने देते। लेकिन उन्होंने ऐसा किया, क्योंकि वे जानते थे कि संस्कृति का सृष्टा बनना ही काफ़ी नहीं है, जिस समय साहित्य और संस्कृति ख़तरे में हो तो उन्हें उसका सबसे प्रबल रक्षक भी साबित करना चाहिए। और फासिज़्म ने यदि मनुष्य के मस्तिष्क की उच्चतम सफलताओं के प्रति उपेक्षा और शत्रुता दिखाई है तो विश्व

के श्रेष्ठतम लेखकों और विचारकों ने विचारों की स्वतंत्रता, और मनुष्य की संस्कृति के लिए प्राणों की बाज़ी देकर एक महान परम्परा की नींव भी डाल दी है।

भारत के स्वतंत्र विचारकों ने भी इस परम्परा को अपनी सहानुभूति से सींचा है। स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ ठाकुर पहले भारतीय लेखक थे जिन्होंने भारत के साहित्यकारों—कलाकारों के प्रतिनिधि के रूप में जापानी साम्राज्यवाद की निन्दा की और उसके चाटुकार कवि यान नागुची की भर्त्सना की। भारत के सभी प्रगतिशील लेखकों ने फ़ासिज़्म की निन्दा की है और विश्व के उन लेखकों और विचारकों के प्रति सहानुभूति प्रकट की जो अपना रक्त बहाकर एक फ़ासिस्ट विरोधी सांस्कृतिक मोर्चा बना रहे थे। और यह सब तब, जब फासिज़्म के आक्रमण यूरोप के देशों या चीन पर हो रहे थे और भारत पर आक्रमण की कोई सम्भावना न थी। अतः लेखक अपनी इस परम्परा को आज त्याग दें, मानव मस्तिष्क की स्वतन्त्र चेष्टाओं की सबसे पवित्र विरासत को छोड़ दें, यह कैसे सम्भव हो सकता है? सम्भव हो भी सकता है यदि हम यह निश्चय करलें कि संस्कृति के निर्माण से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है, फासिज़्म यदि हमारी रामायण की होलियां जलाए तो हमें कोई आपत्ति नहीं, यदि पन्त और जोश को निर्वासित कर दे या नज़रबन्द कर दे तो हमें प्रतिवाद करने की ज़रूरत नहीं, यदि, और यह 'यदि' अधिक विचारणीय है, यदि जापानी फासिज़्म हमारे सारे नागरिक अधिकार छीनकर, हमारी राष्ट्रीय संस्थाओं को ग़ैरक़ानूनी घोषित कर, जनता का क्रूरतापूर्वक दमन कर और अपने प्रचार के ज़हर से प्रभावित कर हमारे नौजवानों को भी फ़ौज में भर्ती करे और चीन और रूस की जनता के विरुद्ध लड़ने के लिए भेजे तो हमें इसका विरोध करने की ज़रूरत नहीं; यदि हम इन संभाव्य परिस्थितियों में जड़ बने रह सकने की क्षमता अपने अन्दर पाते हैं तो निश्चय ही इस समय तटस्थ रह सकते हैं। खेद है कि यह क्षमता हमारे अन्दर नहीं है, शायद कुछ लोगों में हो, और वे सच्चे लेखक नहीं हैं। अतः भारतीय लेखकों को जापानी फ़ासिज़्म का मुक़ाबला करना है और विश्व के फ़ासिस्ट-विरोधी लेखकों की परम्परा से हम अनेक सबक़ सीख सकते हैं कि मुक़ाबला कैसे किया जाय।

पराजय की भावना ने सभी के दिलों पर असर किया है, और अक्सर फासिस्ट-विरोधी लेखक भी प्रश्न कर बैठते हैं कि लेखक कर ही क्या सकते हैं। उनके पास तो काग़ज़ और क़लम के सिवाय कोई दूसरा अस्त्र भी नहीं, और कोरी बातों, वक्तव्यों या कविता-कहानियों से तोप, मशीनगन, टैंक और बम-वर्षक हवाई जहाज़ों से लैस फ़ौज का मुक़ाबला नहीं किया जा सकता। एक हद तक बात सच भी है। लेकिन इससे भी बड़ा सत्य यह है कि कला और साहित्य का दुश्मन फ़ासिज़्म भी विचारों की लड़ाई लड़ता है, प्रॉपेगेण्डा द्वारा अपनी जनता को अपने असली उद्देश्य से बेख़बर रखता है और झूठ के पहाड़ खड़े कर अन्य देशों की जनता की आँखों के आगे अपनी नग्न प्रकृति को छिपा लेता है, और झूठी आशाएँ भी पैदा करता है। अगर 'शब्द' के अन्दर इतनी शक्ति न हो तो जर्मनी और जापान के रेडियो दिन-रात क्यों दहाड़ते रहें? अगर 'शब्द' के अन्दर

इतनी शक्ति न हो तो जर्मनी और जापान के रेडियो को सुनने के लिए हमारे देश के लोग क्यों उत्सुक रहें और क्यों बहुत-से लोग विश्वास करने लगें कि सचमुच जापान भारत को स्वतन्त्र करने के लिए आ रहा है ? इसलिए आज के युद्ध में अस्त्र-शस्त्रों की जितनी जरूरत पड़ती है उतनी ही प्रोपेगेण्डा की भी, जनता के साहस को क़ायम रखने के लिए उसके हृदय में सही या ग़लत लक्ष्य की ज्योति जलाये रखने के लिए। निश्चय ही फासिज्म एक ग़लत जन-विरोधी लक्ष्य के लिए शब्द की शक्ति का दुरुपयोग कर रहा है, और भरपूर दुरुपयोग कर रहा है। अतः यदि हम लेखक होकर भी उसकी शक्ति की महानता न समझें तो इससे बड़ी पराजय की भावना दूसरी नहीं हो सकती। और जिस प्रकार फासिज्म से जनता के तरीक़े पर लड़ने के लिए, जनता को अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित करने के लिए भारत में एक राष्ट्रीय सरकार की आवश्यकता है, क्योंकि मौजूदा सरकार लोक-प्रिय नहीं है और उसमें एक जन-युद्ध लड़ने की क्षमता भी नहीं है, उसी प्रकार वर्तमान सरकार प्रभावपूर्ण प्रोपेगेण्डा भी नहीं कर सकती, वह जनता को विश्वास नहीं दिला सकती कि यह लड़ाई जनता की लड़ाई है। अतः प्रभावपूर्ण प्रचार का दायित्व देश के सचेत प्रगतिशील लेखक ही उठा सकते हैं। और सरकार के रुख़ के बावजूद हमें यह भार उठाना है।

इस युद्ध ने हमारे ऊपर अगर नई जिम्मेदारियाँ डाली हैं, तो कई एक नई संभावनाएँ भी उत्पन्न कर दी हैं, और हमें उन संभावनाओं से पूरा लाभ उठाना चाहिए। राजनीतिक क्षेत्र में जिस प्रकार हिन्दू-मुस्लिम एकता का आधार दिखाई पड़ने लगा है उसी प्रकार समस्त कलाओं के परस्पर सहयोग और संगठन का भी आधार इस युद्ध ने तैयार कर दिया है। और जापानी प्रचार के ज़हर को दूर करने के लिए, जनता के पस्तदिलों में नया जोश भरने के लिए, और उसकी रग-रेशों में एक जन-स्वातंत्र्य की भावना की धड़कन पैदा करने के लिए, उसकी आँखों में एक स्पष्ट लक्ष्य की कल्पना बैठाने के लिए यह जरूरी है कि इस आधार पर एक विशाल प्रकाश-स्तम्भ खड़ा किया जाय। और मेरा प्रस्ताव है कि हम फ़ौरन फासिज्म से संस्कृति की रक्षा करने के लिए भारतीय लेखकों, कलाकारों और वैज्ञानिकों की राष्ट्रीय कांग्रेस बुलावें। इस विशाल कांग्रेस में देश की सारी प्रतिभा का जमाव हो, लेखक, चित्रकार, व्यंग-चित्रकार, संगीतज्ञ, नृत्यकार, नाटककार, अभिनेता, प्रेस-सञ्चालक, फिल्म-डाइरेक्टर और उत्पादक, वैज्ञानिक, सम्पादक, संवाददाता आदि सभी प्रकार की प्रतिभाओं को निमंत्रित किया जाय, और भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के कलाकारों के जो अपने संगठन हैं वे सामूहिक रूप से उस कांग्रेस से सम्बन्धित हो जाएँ अर्थात् फासिज्म से लड़ने के लिए यह कांग्रेस एक ऐसी राष्ट्रीय संस्था हो जिसमें देश के सारे सांस्कृतिक संगठन शामिल हों, जैसे अखिल भारतीय विज्ञान-परिषद्, प्रगतिशील लेखक संघ, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, उर्दू की अंजुमन और प्रान्तीय भाषाओं के सम्मेलन, फिल्म कारपोरेशन्स, संगीत परिषद् आदि। कांग्रेस में एक स्पष्ट कार्य-क्रम बनाया जाय कि किस प्रकार प्रत्येक क्षेत्र के विद्वान् अपना सहयोग देकर प्रचार-कार्य को अधिक से अधिक प्रभावशाली बनाएँ, कैसे फिल्म तैयार हों, कैसे नाटक लिखे जाएँ, कैसे गाने तैयार हों,

कैसी नाटक मंडलियाँ बनें जो गाँव-गाँव घूमकर जापान-विरोधी नाटक खेल सकें, किस तरह के कार्टून तैयार हों और पोस्टर बनें और किस तरह कहानी लेखक युद्ध-स्थलों पर जाकर रिपोर्टाज लिखें, वैज्ञानिक आत्मरक्षा के सस्ते और सुलभ साधनों का अन्वेषण करें आदि। इन सबका उद्देश्य एक ओर तो जनता के जापान-विरोधी निश्चय को दृढ़ बनाना होगा, दूसरी ओर जनता में आज़ादी की ऐसी जबर्दस्त चेतना उत्पन्न करना होगा कि कोई भी शक्ति उसे गुलाम न बनाये रख सके। इस कांग्रेस का एक स्थायी दफ्तर या सेक्रेटेरियट भी होना चाहिए जो एक भाषा के लिखे नाटक, रिपोर्टाज, गीत आदि को दूसरी भाषाओं में भी अनुवाद करा सके, और प्रान्तीय संगठनों को हिदायतें दे सके। प्रान्तों और नगरों में भी इसकी शाखाएँ रहें, और हर नगर की कमेटी पर जापान-विरोधी प्रचार करने का भार हो। इस सारे कार्य का संगठन करने के लिए एक संक्षिप्त बुलेटिन की आवश्यकता पड़ेगी, जो कि कांग्रेस की ओर से प्रति सप्ताह प्रकाशित हुआ करे। इस प्रकार का संगठन ही जनता में नई चेतना पैदा कर सकता है, आँधी और तूफान की तरह जनता के हृदय को झकझोर सकता है, उसमें आत्मविश्वास, स्वाभिमान, स्वतंत्र बनने की आकांक्षा, फासिज्म का नाश करने का निश्चय उत्पन्न कर सकता है, क्योंकि लेखक और कलाकार भावनाओं की भाषा में लिखते, बोलते और चित्रित करते हैं, और वे अगर प्रचार-कार्य अपने हाथ में ले लेंगे तो प्रोपेगेण्डा को भी वे कला बना देंगे, जिस ढंग से बात कहेंगे वह तीर-सी जनता के हृदय में उतर जायगी।

कुछ लोग कह सकते हैं कि लेखक और कलाकारों से प्रचार का साहित्य और कला उत्पन्न कराना कला और साहित्य के प्रति अन्याय होगा, और वे अपने हाथों अपनी कला के साथ ऐसा अन्याय नहीं कर सकते। लेकिन यदि हम इस बात को ध्यान में रखें कि पहले तो फासिज्म की विजय के बाद कला और संस्कृति नष्ट की जायगी अतः इस अनिष्ट को रोकने के लिए प्रयत्न करना हमारा कर्तव्य है, दूसरे यह कि युद्ध सदैव न चलता रहेगा, हम जीतें या हारें, अगर इस बीच हमने अपने अस्त्र का भरपूर उपयोग किया है, जनता में साहस और आत्मविश्वास उत्पन्न कर दिया है तो इस सारे प्रचार कार्य से हम लेखकों और कलाकारों में स्वयं एक नई चेतना का उदय हो जायगा, एक नई कलात्मक प्रतिभा का उदय होगा, जो वर्तमान जीवन की वास्तविकता से हाथापाई किये बिना, कोटरों में बन्द रहने से शायद कभी न होती, और इस कारण हमारा इस दायित्व को सम्हालना कला और साहित्य के लिए लाभप्रद ही होगा। हम इस कार्य में जितना अनुभव प्राप्त कर सकते हैं वह क्या कभी किसी अन्य प्रकार से संभव है, और इतने व्यापक अनुभव का असर क्या हमारी कला पर न पड़ेगा? अतः इस तूफान और बवंडर के बाद हमारे साहित्य, हमारी कला में एक नई प्रौढ़ता, एक नया प्राण-रस होगा जो आज नहीं है।

अन्त में मैं भारतीय लेखकों, कलाकारों और वैज्ञानिकों की राष्ट्रीय कांग्रेस बुलाने का प्रस्ताव दुहराना चाहता हूँ, क्योंकि मेरा विचार है कि यह कांग्रेस ही फिल्म, रेडियो, नाटक, कार्टून, गायन और रिपोर्टाज आदि की कलाओं में सहयोग स्थापित कर

इस संकट काल में जनता को अपने कर्तव्य और लक्ष्य के प्रति सचेत बना सकती है। अगले १५ सप्ताह भारत के इतिहास के अत्यन्त अनिश्चित और संकटपूर्ण सप्ताह होंगे, इस बीच ही हमें यह संगठन तैयार कर देश की करोड़ों जनता तक पहुँच जाना चाहिए। साधनों की इस समय कमी न होगी, यदि प्रभावशाली व्यक्ति और संस्थाएँ इस कार्य को उठा लें। दिल्ली में १९, २० मई को अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक कान्फ्रेन्स हो रही है। उसमें मैं इस आशय का प्रस्ताव रखूँगा और मेरा विश्वास है कि देश के प्रगतिशील लेखक उसका स्वागत करेंगे और उत्साहपूर्वक इस कार्य का भार उठाएँगे और फासिज्म के विरुद्ध एक जबर्दस्त सांस्कृतिक मोर्चा तैयार कर देंगे। हम लेखक अन्धकार युग को पुनः नहीं अपना सकते। फासिज्म का आक्रमण उस अन्धकार युग का रक्त की स्याही से लिखा निमंत्रण है।

अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक कान्फ्रेन्स

अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ का तीसरा अधिवेशन १९ और २० मई को दिल्ली में होगा। इस कान्फ्रेन्स का आज की परिस्थितियों में विशेष महत्व है। जापानी फासिज्म का खतरा भारत के लिए बढ़ता ही जाता है, ऐसी परिस्थिति में भारत के प्रगतिशील लेखकों को न केवल जापानी या अन्य प्रकार के फासिज्म के प्रति अपना दृष्टिकोण स्पष्ट शब्दों में घोषित कर देना है बल्कि यह भी निश्चित कर लेना है कि वे इस खतरे का सामना करने के लिए किस तरह क्या संगठित प्रयत्न करेंगे। भारतीय लेखकों के सामने आज यही सबसे बड़े प्रश्न हैं। और यह कान्फ्रेन्स इन्हीं प्रश्नों का हल पाने के लिए बुलाई गई है।

अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के प्रधान मंत्री डा० अब्दुल अलीम ने लेखकों के पास जो निमंत्रण-पत्र भेजा है, उससे हम परिस्थिति की गम्भीरता का और लेखकों का क्या दृष्टिकोण होना चाहिए, इन बातों का अनुमान लगा सकते हैं। डा० अलीम ने लिखा है, 'हम प्रगतिवादी लेखक फासिज्म की हक़ीक़त जानते हैं। हमारे साथी लेखकों ने फासिज्म की बर्बर विचार-धारा के विरुद्ध चीन, जापान, जर्मनी, स्पेन और दूसरे देशों में स्वर ऊँचा किया है और इसके लिए उन्होंने असह यातनाएँ और मृत्यु तक को दावत दी है। मनुष्य की सांस्कृतिक कामयाबियों को नष्ट कर उसे गुलामी के बन्धन में बाँधने-वाले फासिज्म की तलवार आज भारत की जनता की गर्दनों पर भी गिरनेवाली है। ऐसी दशा में भारत के प्रगतिशील लेखक तटस्थ नहीं रह सकते। हमें अन्य देशों के सजग लेखकों की तरह ही यह साबित करना है कि हम केवल कला और संस्कृति के स्रष्टा ही नहीं हैं बल्कि यदि कला, संस्कृति और प्रगति खतरे में पड़ती हैं तो हम उनकी रक्षा के लिए लड़ने में भी अग्रिम रहेंगे। इस समय भारत पर जो संकट छाया है उसने ऐसी ही परिस्थिति उत्पन्न कर दी है।'

हम इस कान्फ्रेन्स का हृदय से स्वागत करते हैं, और आशा करते हैं कि यह कान्फ्रेन्स फासिज्म के विरुद्ध एक जबर्दस्त सांस्कृतिक मोर्चा बनाने में सफल होगी।

—शिवदानसिंह चौहान।

★

साहित्य-समस्या--

—१—

साहित्य में अश्लीलता

●

[प्रकाशचन्द्र गुप्त]

हिन्दी साहित्य में श्लीलता और अश्लीलता के प्रश्न पर अकसर बहस छिड़ती रहती है। 'निराला'जी की कहानी 'बिल्लेसुर बकरिहा' को लेकर, छायावादी कवियों की शृंगार-भावना लेकर अथवा प्रगतिवाद में अश्लीलता के क़िस्से को बढ़ाकर। हिन्दी साहित्य के पीछे एक बड़ी उदार और सहनशील संस्कृति की परम्परा है, कोणारक और दक्षिण के मन्दिरों की, संस्कृत-काव्य की, अजन्ता की स्थापत्य और चित्र-कला की। मनुष्य की प्रजनन-शक्ति को धर्म-व्यवस्था में रखा गया है और उसे आदर की दृष्टि से देखा गया है।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार भी 'सेक्स' का जीवन में एक महत्वपूर्ण स्थान है और उसका अतिशय निरोध खतरे से खाली नहीं। फ्रॉयड के अनुसार तो कला 'सेक्स' भावना का ही एक विशिष्ट रूप है। किसी भी कला का काम-भावना में डूब जाना अस्वस्थ होने की निशानी है, किन्तु स्पष्ट और निर्भीक विचार-विनिमय प्रौढ़ कला गढ़ने के लिए आवश्यक है। एक ओर रीति-कालीन शृंगार-काव्य का नख-शिख वर्णन हमें ग्राह्य है, किन्तु पन्त की लाइन :

'उभरे अंगियों से उरोज --'

हम नहीं पचा पाते, जबकि पन्त की समस्त विचार-धारा एक निर्मल और स्वच्छ धरातल पर है!

साहित्य में नीची नैतिकता की पुकार अन्य देशों में भी उठी है। इस पुकार के पीछे कला की किसी क्रान्तिकारी धारा को रोकने का प्रयास रहता है। इबसन का नाटक Ghosts और बर्नर्ड शॉ का Mrs. Warren's Houses इसी कारण शिकार बने थे। इन कृतियों के पीछे जमी हुई समाज की पोल खोलने की क्षमता थी।

'सेक्स' का सम्बन्ध कला में त्याज्य नहीं, किन्तु उसका निरूपण उत्तरोत्तर ऊँचे धरातल पर होगा। आज का प्रगतिशील कलाकार पूँजीवादी समाज में नारी का शोषित रूप दिखाने के लिए बाध्य होगा और उसका चित्रण तभी सफल होगा, जब वह अवकाश-

भोगी-वर्ग की वासना का चुभता चित्र पेश कर सके। यहाँ शासक-वर्ग अपने निषेध अथवा 'टैबू' व्यवहार में लायेगा।

नरेन्द्र शर्मा की कहानी 'सुन्दर' में नारी की दुर्दशा और दुरुपयोग का हवाला है। शोषित-वर्ग सुन्दरता का भूखा है। किन्तु आज के समाज में उसके पनपने की कोई गुंजाइश नहीं। कहानी के अन्त में लेखक का प्रश्न है :

हे भारत के देव! हे भारत के ग्राम, क्या आज तुम्हारे पास इतनी शक्ति है कि सुन्दरता को अपनी गोद में स्थान दे सको?'

नारी चिरकाल से समाज में विलास का साधन रही है। आखेट जीवन में उसने पुरुष का साथ दिया था, उसके बाद परिवार की सीमाओं के अन्दर ही उसके व्यक्तित्व का विकास अथवा ह्रास हुआ। फ्रांस की राज्यक्रान्ति के अवसर पर वह परिवार की प्राचीरों के बाहर निकली, किन्तु फिर वहीं लुप्त हो गई। नारी की शक्ति के इतिहास में अनेक उदाहरण हैं, गार्गी, देवी जोन, सुल्ताना रज़िया, एलिज़बेथ, रानी लक्ष्मीबाई आदि। किन्तु रूसी क्रान्ति के बाद ही नारी का सामाजिक रोल हमारी समझ में आ रहा है। युद्ध के बाद विलायत में और सत्याग्रह आन्दोलन के बाद भारत में नारी की शृङ्खलाएँ कमजोर पड़ी हैं। किन्तु कला में अभी नारी का पुराना 'प्रेयसि' रूप ही चला आ रहा है। पुरुष की भाँति स्त्री के जीवन में प्रणय का स्थान है, किन्तु उसके अतिरिक्त वह सामाजिक प्राणी भी है और भविष्य के समाज-निर्माण में उसका हाथ होगा। यदि इस सत्य के चित्रण में प्रगतिशील कलाकार को अश्लील कहा जाय, तो यह कलंक उसे अपने माथे सहर्ष स्वीकार करना होगा।

संस्कृत-साहित्य में अनेक विवाह-प्रथाओं का वर्णन है। इनमें सबसे पुराना 'राक्षस' विवाह भारत के आदिम निवासियों में प्रचलित था। श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी और अर्जुन ने सुभद्रा का बलपूर्वक हरण किया था। यह समाज में विवाह का प्राचीनतम रूप है। भीष्म ने भी अम्बा आदि का हरण किया था। गोचर समाज में नारी को अधिक स्वाधीनता मिली और इसका आकर्षक रूप हम वेदों की ऋचाओं में पाते हैं। इस समाज में स्वयंवर की प्रथा प्रचलित थी। कृषि-समाज की स्थापना के साथ गृह-देवी का रूप हमारे सामने आता है। सामन्ती संस्कृति के अन्तर्गत स्त्री का कला में अतिशय चित्रण हुआ। रीतिकाल के काव्य में इसकी झलक हमें पूरी तौर से मिलती है। अवकाश-भोगी-वर्ग के लिए स्त्री इन्द्रिय-लिप्सा का साधन बन चुकी है। यही मुग्धा, प्रौढ़ा, परकीया का नायिका-भेद है।

भारतीय पूँजीवाद का इतिहास अभी छोटा और विकासमान है, किन्तु आज कोई भी समाज विश्व की आर्थिक और राजनैतिक तरंगों से अपने को बचाकर नहीं चल सकता। भारतीय पूँजीवाद की रूप-रेखा बन रही है, किन्तु पराधीन होने के कारण वह प्रगतिशील शक्तियों का साथ देता रहा है। अतएव इस संस्कृति में पूँजीवाद का विषैला रूप नहीं भर पाया। पूँजीवादी साहित्य में हमारे निम्न-मध्य-वर्ग की असफलता और अतृप्त आकांक्षाओं की ही प्रतिध्वनि है। वह विफलता काव्य में वासना का रूप लेकर

आई है। नया कवि आधुनिक दिल्ली की हलचल से घबरा अतीत की स्मृतियाँ सहेजता है :

'उसने देखा चित्रित वैभव !
जब नीलम के अवगुण्ठन में झिलमिल तारों से लदी रात
मांसल पौरुष पर मुग्ध लुटा जाती थी अपने शिथिल गात
नीचे रंगीन शिलाओं पर यौवन की मादकता—!
मद से विह्वल, मधु में लिपटी, सौरभ से अंधी सुरा-स्नात।

मेरी आँखों में भूम गए
हम्मामों के वे मूक दृश्य !

जल की चल लहरों से लिपटीं
जब नंगी परिमल की परियाँ

सहमी-सी नहानेवाली को
हँस कर देतीं थीं आमन्त्रण।

लो, पल में खिसक गया आँचल
खिसका तरुणी का अधोवसन

जल चंचल हुआ परस पाकर
जगमगा उठा एकान्त भवन।...'

इतने में ही एक आधुनिक वायुयान ने बेचारे छायावादी कवि की मोह-निद्रा आकर भंग कर दी। उसका रेशमी तार टूट गया और रंगीन स्वप्न उड़ गये।

पूँजीवादी कवि नारी की स्वतंत्रता की कामना करता है, तो इसलिए कि उसे प्रणय व्यापार में आसानी रहेगी। इसके विपरीत प्रगतिवादी पन्त नारी की स्वाधीनता चाहते हैं कि वह सामाजिक प्रगति में पुरुष के साथ क़दम मिलाकर बढ़ सके। 'ग्राम्या' में पन्त ने नारी का यही रूप सामने रखा है। 'ग्राम-युवती' का बाढ़-सा यौवन दो दिन में ढल जाता है :

'रे दो दिन का
उसका यौवन !
सपना छिन का
रहता न स्मरण !
दुःखों से पिस,
दुर्दिन में घिस,

जर्जर हो जाता उसका तन !
ढह जाता असमय यौवन धन !
बह जाता तट का तिनका
जो लहरों से हँस-खेला कुछ क्षण !!'

इस परिस्थिति की विषमता दिखाने के लिए यह भी आवश्यक है कि ग्राम-युवती के यौवन की प्रखर शक्ति दिखाई जावे। यह कवि ने निस्संकोच समर्थ शब्दों में किया है :

'उन्मद यौवन से उभर
घटा-सी नव असाढ़ की सुन्दर,
अति श्याम वरण,
श्लथ, मन्द चरण,
इठलाती आती ग्राम युवति
वह गजपति
सर्प डगर पर!'

ग्राम-नारी के दो-एक और चित्र मार्मिक हैं, जो स्मृति में पत्थर की लकीर से खिच जाते हैं :

'बिना दवा दर्पन के गृहिनी
स्वरग चली, - आँखें आतीं भर,
देख-रेख के बिना दुधमुँही
बिटिया दो दिन बाद गई मर!

'घर में विधवा रही पतोहू,
लछमी थी, यद्यपि पति घातिन,
पकड़ मँगाया कोतवाल ने,
डूब कुँए में मरी एक दिन!
खैर, पैर की जूती, जोरू
न सही एक, दूसरी आती,
पर जवान लड़के की सुध कर
साँप लोटते, फटती छाती!'

अपनी सबल कविता 'नारी' में पन्तजी ने प्रगतिवादी दृष्टिकोण की व्याख्या की है :

'सदाचार की सीमा उसके तन से है निर्धारित,
पूत योनि वह : मूल्य चर्म पर केवल उसका अंकित;
अंग अंग उसका नर के वासना-चिह्न से मुद्रित,
वह नर की छाया, इंगित संचालित, चिर पद लुण्ठित!
'वह समाज की नहीं इकाई,—शून्य समान अनिश्चित,
उसका जीवनमान मान पर नर के है अवलंबित।
मुक्त हृदय वह स्नेह प्रणय कर सकती नहीं प्रदर्शित,
दृष्टि, स्पर्श, संज्ञा से वह हो जाती सहज कलंकित!
'योनि नहीं है रे नारी, वह भी मानवी प्रतिष्ठित,
उसे पूर्ण स्वाधीन करो, वह रहे न नर पर अवसित।'

आज रूस की खलिहानों, फैक्ट्रियों और युद्ध-भूमि तक में नारी पुरुष के साथ है। इसी कारण रूस की शक्ति आज अक्षय है। इतिहास में पहली बार मानवी सहचरी और सामाजिक प्राणी के रूप में आगे आई है। इस लक्ष्य-साधन के लिए भारतीय कलाकार को श्लीलता और अश्लीलता के पचड़े से उदासीन रहना होगा, किन्तु वह एक उच्च नैतिक दृष्टि बनाने के लिए अस्त्र-प्रहार अवश्य करेगा।

*

एक वितण्डावाद का उत्तर

●

[श्रीचन्द्र अग्निहोत्री]

मेरी कहानी 'मालिश' को लेकर 'वीणा' के सम्पादकजी ने एक वितण्डावाद खड़ा कर रखा है। फ़रवरी की वीणा में वह अश्लील क़रार दी गई, और अप्रैल की वीणा में उस पर अश्लील एवं अप्रगतिशील होने का फ़तवा दिया गया। साथ ही प्रगतिशील साहित्य भी घसीटा गया। और श्री शिवदानसिंह चौहान के 'कथा साहित्य की समस्याएँ' नामक अभिभाषण के कुछ वाक्यों को लेकर प्रगतिशील साहित्य का एक मापदण्ड भी तैयार कर लिया गया। वीणा के सम्पादक ने मेरी कहानी को किस आधार पर अश्लील कहा है, यह नहीं बतलाया, इसलिए मुझे अँधेरे में ही तीर मारना है। और यह सब कुछ 'मालिश' कहानी की सफ़ाई के लिए नहीं, बल्कि प्रगतिशील साहित्य के सम्बन्ध में अपने कुछ विचार प्रकट करने के लिए करना पड़ रहा है।

मेरी कहानी में केवल एक शब्द ऐसा है, जिसके कारण समूची कहानी को अश्लील बतलाया गया है। यदि वह शब्द न होता, तो मालिश करनेवाले लड़के की दरिद्रता का जैसा करुण चित्र कहानी में है, उसे कोई भी अश्लील न कहता। अश्लीलता के लिए वहाँ गुंजाइश नहीं। सूखे बाल, सूखा मुँह, फटी क़मीज़, और मैला हाफ़पैण्ट, यह है लड़के की हुलिया। चार आने रोज़ की कमाई, जिसके लिये बारह-तेरह साल की उम्र में मुर्गीहट्टा से लेकर (कलकत्ते में) सफ़र (क़रीब पाँच मील), दो प्राणियों का निर्वाह, एक टीन की खोलाबाड़ी में रहना जिसका मासिक किराया दो रुपया। यह चित्रण लड़के के प्रति सहानुभूति ही पैदा करता है। यदि एक वर्ज्य शब्द न होता, और मोटर ड्राइवर बैठा-बैठा लड़के की स्थिति पर विचार करता, तो इस कहानी को और कुछ, प्रचार आदि भले कहा जाता, अश्लील नहीं।

अब प्रश्न है कि क्या एक दो शब्दों का प्रयोग ही किसी रचना को अश्लील बना देता है, या समग्र रचना में लेखक की नीयत देखी जाती है? यदि कुछ वर्ज्य शब्दों का प्रयोग ही किसी रचना को अश्लील बना सकता है, तो आयुर्वेद, एलोपैथी, होमियोपैथी आदि वैद्यक के ग्रन्थ तथा शरीर-विज्ञान के सारे के सारे ग्रन्थ अश्लील हो जायँगे, जिनमें स्त्री पुरुषों के गुप्तांगों का बहुत ही विशद, स्पष्ट और विस्तृत वर्णन ही नहीं रहता, बल्कि चित्र तक रहते हैं। ताजीरात हिन्द, मनु, पराशर या याज्ञवल्क की रचनाएँ भी अश्लील हो जायँगी, जिनमें बलात्कार, अप्राकृतिक व्यभिचार या दुराचार सम्बन्धी धाराओं, या प्रायश्चित्त प्रकरणों में बहुत खोलकर सारी बातें लिखी गई हैं। वीणा सम्पादक ताजीरात हिन्द की बलात्कार तथा अप्राकृतिक व्यभिचार सम्बन्धी धाराओं की नज़ीरें पढ़ें। लेकिन इन सभी वर्णनों में लेखक की नीयत प्रधान है। लेखक की मंशा उस

विषय को स्पष्ट करना है, न कि गन्दगी का प्रचार करना। ठीक इसी तरह मेरी कहानी में प्रयुक्त शब्द गन्दगी का प्रचार नहीं करता, बल्कि जैसे वातावरण की सृष्टि मैंने की है, और वैसे वातावरण का लड़का मालिश जैसे घृणित पेशे को करता है, उस पर एक प्रहार है; और मोटर ड्राइवर गुस्सा दिखाकर चला जाता है, गन्दगी में फँसता नहीं। इस तरह सारी चीज को एक ऊँचे आदर्श पर रखा गया है। ड्राइवर मोटर में बैठकर सोचता है, 'कलकत्ते में रहना, दो प्राणियों का निर्वाह, चार आने कमाई, और पेशा मालिश।' यहीं कहानी का अन्त होता है, जैसे इस प्रकार सारी चीज को दुहराकर समाज से एक बड़ा प्रश्न किया जाता है कि आखिर इस गन्दगी के लिए कौन जिम्मेदार है? क्या वह लड़का जो ऐसी परिस्थिति में फँसा है, या वह वातावरण, वह सामाजिक और आर्थिक ढाँचा जो इस गिरावट की तरफ़ लिये जा रहा है?

अब दूसरा प्रश्न है कि क्या ऐसी रचनाएँ प्रगतिशील हैं? श्री शिवदानसिंह का यह कथन निर्विवाद सत्य है कि प्रगतिशील लेखक को मजदूरों किसानों की ओर नजर दौड़ानी चाहिए। प्रगतिशील साहित्य हानिकर पुरातन का विनाश और मंगलकारी नूतन की सृष्टि चाहता है, इसलिए प्रगतिशील लेखक यदि वह महज फैशन के लिए प्रगतिशील नहीं है, लाल टाई लगाकर कामरेड बननेवाला नहीं है, तो उसे क्रान्तिकारी शक्तियों को पहचानना होगा, उन्हें उद्बुद्ध करना होगा, उनका चित्रण करना होगा। किन्तु वेश्याएँ, भिखमंगे, मालिश करनेवाले लड़के, अपाहिज और गिरहकट भी आज के पूँजीवादी समाज की उपज हैं। उनकी स्थिति का स्वस्थ और वैज्ञानिक विवेचन प्रगतिशील साहित्य की सीमा के भीतर है, बाहर नहीं। पाप क्यों होते हैं, कुछ औरतों को वेश्या का घृणित जीवन क्यों अंगीकार करना पड़ता है, गिरहकटों की जिन्दगी कैसी है, और क्यों, भिखमंगों की समस्या क्या है, ये भिखमंगे आखिर इस जलील जिन्दगी में क्यों हैं, ऐसे प्रश्न क्या हमारे समाज में पूछे नहीं जाते, ऐसी जिज्ञासा क्या हममें जाग्रत नहीं होती? तो इसका उत्तर कौन दे? पुराना युग दे देगा, 'अपना-अपना भाग्य।' तो क्या हम इन पर विचार करना छोड़ दें, ताकि जन-साधारण इनके सम्बन्ध में वही बाबा आदम के जमाने के खयालात लिये बैठे रहें? ऐसा करना सर्वथा अवांछनीय है। इनकी समस्याओं का विवेचन न तो त्याज्य है, और न प्रगति विरोधी। शर्त यह है कि वह विवेचन परम्परा और संस्कारों की लकीर पीटना मात्र न हो, और न महज उनके गन्दे जीवन की झाँकी; बल्कि हो उनके उस गन्दे जीवन के कारणों का वैज्ञानिक विवेचन। आप पूछेंगे 'निराकरण के उपाय?' उत्तर है, 'निराकरण का उपाय है क्रान्ति, और वह क्रान्ति करने की क्षमता इन वेश्याओं, मालिश करनेवालों, भिखमंगों में नहीं है; वह है इस्पात को गलाकर पानी कर देनेवाले, पत्थर की छाती फाड़कर उत्तर और दक्षिण ध्रुवों को जोड़नेवाले, मरु को मालव बनानेवाले मजदूरों और किसानों में। इसीलिए इन क्रान्तिकारी शक्तियों को उन्मुख करनेवाले साहित्य के सृजन की नितान्त आवश्यकता है। लेकिन जिस दिन इन शक्तियों का वह महत् कार्य (क्रान्ति) सफल होगा, उस दिन से आरम्भ होगा एक नूतन समाज, एक नयी सभ्यता और संस्कृति, एक उदात्त नैतिकता का निर्माण, और उस दिन मानवता के अति निम्न

स्तर में पड़े इन मानवों—वेश्याओं, मालिश करनेवालों, अपाहिजों, भिखमंगों को भी ऊपर उठाना होगा, सही अर्थ में मानव बनाना होगा। आज की इनके सम्बन्ध की रचनाएँ हैं उस काल की भूमिका मात्र, समाज के समक्ष इनकी समस्याओं को ठीक ढंग से पेश करने का उपक्रम। जो लेखक वेश्याओं, मालिश करनेवालों या भिखमंगों की यूनियन बनवाकर उन्हें क्रान्ति के लिए अग्रसर करने की योजनाएँ बनायें, या उपदेशक मण्डली बनाकर इनके सुधार का बीड़ा उठायें, मेरी राय में वे प्रगतिवादी न होंगे, बल्कि प्रगति विरोधी, सुधारक, क्रान्ति के मार्ग में चलने वालों का ध्यान मूल समस्या से हटाकर गौण में ले जानेवाले, इसलिए क्रान्ति विरोधी होंगे। मालिश कहानी में ड्राइवर ऐसा कोई काम न करके सिर्फ समस्या को दुहरा देता है जैसे वह समाज से कह रहा हो, 'सोचो ज़रा इस गिरावट का कारण क्या है?' लेखक सर्वथा जागरूक है कि जब तक वर्तमान सामाजिक और आर्थिक ढाँचा न बदलेगा, तब तक इनका सुधार हो नहीं सकता। इनकी समस्या को सहानुभूति-पूर्वक समझने का वातावरण ही बनाया जा सकता है।

यह है थोड़े में 'मालिश' कहानी सम्बन्धी मेरी सफ़ाई। वीणा-सम्पादक कृपाकर बतलायें कि मेरी कहानी कैसे अश्लील है, और क्यों प्रगतिशील नहीं? परन्तु एक बड़ा प्रश्न वीणा-सम्पादकजी से है कि मेरी रचना पर अश्लीलता का इतना आरोप तो आप लगा रहे हैं, आपके मापदण्ड से अप्रैल की वीणा में प्रकाशित श्री विजय वर्गीय का 'ग्वालिन' चित्र अश्लील है या शालीनतायुक्त? ग्वालिन का सिर खुला है, दोनों कुच खुले हैं, और दाहिनी जाँच आधी से ज्यादा खुली है।

प्रगतिशील साहित्य के सिलसिले में एक बात और। श्री चौहान ने जहाँ कथाकारों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया है कि वे मजदूरों, किसानों की समस्याओं पर ध्यान दें, वहाँ उन्होंने ऐसा व्यापक दृष्टि से ही लिखा है। मैंने उसे पढ़कर यही अर्थ निकाला है, लेकिन वीणा के सम्पादकजी ने उसे काफ़ी संकुचित कर दिया है, और यह दिखलाने की कोशिश की है कि बस मजदूर-किसानों पर लिखा जानेवाला साहित्य ही प्रगतिशील है। यदि इस तर्क को संकुचित दृष्टि से देखा जायगा, तो साहित्य का वृत्त बहुत ही सँकरा हो जायगा, क्योंकि किसानों की अपेक्षा मजदूर अधिक क्रान्तिकारी होते हैं, इसलिए किसानों की समस्याओं पर लिखने की अपेक्षा मजदूरों पर लिखना क्रान्ति के लिए ज्यादा उपयुक्त होगा। मजदूरों में गैर कल-कारखानों के मजदूरों से कल-कारखानों के मजदूर क्रान्ति के लिये ज्यादा उपयोगी होते हैं, और कल-कारखानेवालों में बिजली तथा यातायात (transport) वाले और भी अधिक। इसका परिणाम यह होगा कि इन्हीं पर लिखा जानेवाला साहित्य क्रान्तिकारी रह जायगा। लेकिन चौहानजी की मंशा यह नहीं है, यह बात उनके समूचे अभिभाषण से स्पष्ट है। फिलहाल वीणा के सम्पादकजी को अपनी पुष्टि के लिए यह कसौटी प्रिय लगी, उन्होंने ग्रहण कर ली। जब प्रगतिशील साहित्य को किसी दूसरे ढँग से गिराना होगा, तब चौहानजी के इसी कथन पर संकुचित मनोवृत्ति का आरोप लगायेंगे। लेकिन इस तरह खण्ड-खण्ड करके किसी के कथन से मनचाहे अर्थ निकालना कहाँ तक उचित है, यह विज्ञजन ही बतलायें।

शीराज़ी

●

[नरेन्द्र शर्मा]

शीराज़ी ने अपने बलिष्ठ शरीर को झोला देकर अपने को सीधा किया और फिर मुड़कर उस ओर देखा। बड़े ताज्जुब से उसने जवाब दिया—ओ-हो! तुम हो मसीता काका?

मसीता काका का पोपला मुँह आधा खुला और उनके ओठों पर संकोच की एक हल्की-सी मुस्कराहट थी। किसने सोचा था वह और शीराज़ी यों बन्दरगाह के मुसाफिरखाने में बरसों बाद मिलेंगे। लम्बा-तगड़ा शीराज़ी, यह वही शीराज़ी है जो उनके गाँव में छुटपन से जवानी तक पला था, वही आवारा शीराज़ी, वही शराबी शीराज़ी, राजा साहब की ईरानी रखैल का लड़का वही शीराज़ी—ईरान की भूमि में पैदा हुआ यह गोरा-चिट्टा शीराज़ी मसीता काका के गाँव में बिखरी धूल-मिट्टी, कीच-कादों और धूप-ताप से बिल्कुल भी तो मैला नहीं हुआ; बल्कि हम्माल की इस फटी-पुरानी नीली पोशाक ने उसके गोरे रंग को और भी निखार दिया है। हाँ, गालों पर भी वही लाली है।

शीराज़ी ने फिर अपने अगल-बगल देखा। पुकारा—झुनकू शेख़, तुम भी हो!...और...और...शेर ख़ाँ, तुम कहाँ छिपे खड़े थे?

बाड़े से जैसे भेड़-बकरियाँ निकलती हैं, हज करके लौटे हुए यात्री भी जहाज़ के मुसाफिरख़ाने से निकल पड़े। कहीं किसी की खुली गठरी से—उनके अव्यवस्थित जीवन की तरह—चीज़-बस्त बिखरी पड़ी थीं, जैसे पुराने-धुराने पिंजड़ों से अधमरे पंछी ढुलक पड़े हों। कहीं किसी के पिचके हुए—उस ग़रीब के गालों की ही तरह—टीन के बक्स से भानमती के पिटारे की झाँकी मिल रही थी। कहीं अपने बिखरे सामान की तरह खोये-खोये से मुसाफिर अस्त-व्यस्त चीज़-बस्त की पातों में फँसे खड़े थे।

हम्मालों की पाँति से वह भी एक हम्माल हाजियों के एक छोटे झुंड की ओर लपका था। नहीं, किसी विशेष उत्सुकता से नहीं, यों ही जैसे रोज़ की आदत से। आँधी के बाद जैसे आम तरकारी-बाज़ार में आते हैं या जैसे बरसात की हुमस के साथ मच्छर या जैसे चैत के महीने में मक्खियाँ, हर जहाज़ के साथ वैसे ही ये डेक के मुसाफिर आते थे। शीराज़ी को उन्हें यों आते-जाते देखने की आदत-सी पड़ गई थी।

शीराज़ी किसी मुसाफिर की पेटी उठाने के ख़याल से झुका ही था कि उसकी दाहिनी बग़ल से किसी ने उसे नाम लेकर पुकारा। ना, यह उसके किसी साथी का स्वर नहीं था—वह चुस्त-दुरुस्त करारा स्वर नहीं, जो वह अपने साथी हम्मालों से सुनने का आदी था। आवाज़ थी पोपले मुँहवाले मसीता काका की।

पास-पड़ोस के गाँवों के और दूसरे हाजी लोग उसी दिन रेलगाड़ी पर सवार हो जाना चाहते थे, लेकिन मसीता काका, भुनकू शेख़ और शेर ख़ाँ को शीराज़ी ने दो-एक दिन के लिए रोक लिया। वह तीनों भी अपने साथी हाजियों के साथ जाने के लिए बहुत लालायित नहीं थे ; कारण, इन तीनों को छोड़कर बाक़ी सब ही खाते-पीते असासादार आदमी थे, परदेस में वह दुभाँत करते न चूके सो अब देश में तो वह इन्हीं तीनों से गाड़ी में सामान रखायेंगे, स्टेशनों पर खाना-पानी मँगवायेंगे और न जाने और कैसी-कैसी गुलामी करवायें! और शीराज़ी ? वह कैसा ही आवारा क्यों न हो, है तो एक ग़रीब मेहनतकश, दया-धर्म तो उसके मन में है। शीराज़ी से उनकी उन्सियत की एक और भी वजह थी—

शीराज़ी का वतन, ईरान भी अब उनकी आँखों देखा है। ईरान ! वह भी एक अजीब मुल्क है। लोग वहाँ सचमुच मलक होते हैं, ख़ासकर औरतें। और वह औरतें होती भी कैसी हँसमुख और मनचली हैं। तीनों सोच रहे थे, सरे-आम उनका हाथ पकड़-कर वह मसख़री ईरानी औरतें न जाने क्या-क्या कहती थीं !—

'आग़ा, ख़ुशामदीद !
अज़ कुजामी आयद ?
आग़ा, शुमा हिन्दी अस्त ?
आग़ा, शुमा ख़ानम मी ख़ाई ?
आग़ा, शुमा ख़ानम नमी ख़ाई ?'

और इन तीनों सीधे-सादे देहातियों के बुद्धूपन पर वह खिलखिलाकर हँसती थीं। तब इनके मन में भी ख़ुशी के फ़व्वारे उछलने लगे थे। पोपले मुँह वाले मसीता काका के दिल में भी तो आइस-क्रीम गलने लगी थी।

इस शीराज़ी की माँ भी तो उन्हीं जैसी रही होगी। उसके बारे में यह कहावत कि गले से उतरती पान की पीक दीख पड़ती थी, ज़रूर-ज़रूर सच रही होगी। मसीता काका की आँखों ने शीराज़ी की माँ को कभी देखा नहीं था ; लेकिन आज वह मन-ही-मन ख़ुश थे आँखों में उसकी मनोहर मूर्त्ति ढालकर।

अवध के मशहूर शहर लखनऊ में चिड़ियों और दूसरे प्राणियों का सुन्दर रनवास, बनारसी बाग़ जैसा है, वैसा ही था अवध के मशहूर ताल्लुक़दार, राजा—का रनिवास। कहते हैं वहाँ हिन्दुस्तान के सब सूबों की ही सुन्दरियाँ नहीं, बरन विदेश के देशों से भी कई सुन्दर स्त्रियाँ उन्होंने रक्खी थीं। हिन्दुस्तानी स्त्रियों में विशेष प्रिय उन्हें थीं—सुदूर सरहदी सूबे की छरहरी लाँबी नाज़नी जिसकी भाषा जीवनपर्यन्त न राजा साहब ही समझ पाये, न जो राजा साहब की ही भाषा को सीख सकी (पर प्रेम की भाषा दोनों समझते थे, समझते रहे और कभी न भूले) ; वह कर्नाटकी जिसकी अटपटी बोली में वही चटपटापन था जो दक्षिण की भूमि में उगनेवाले मिरच-मसालों में होता है ; कुमायूँ गौरांगना नायक कन्या जो अपने लिए हमेशा पुल्लिङ्ग वाचक शब्दों से कभी मोह ही न छोड़ सकी थी ; बुन्देलखण्ड की वह कुमारी जिसकी माँस-पेशियाँ उस देश की चट्टानों

की तरह दृढ़ और वहाँ की रातों की तरह ही कोमल थीं, बुन्देलखण्ड की तारों-भरी रात के समान उसका साँवला सलोनापन आँखों को चमत्कृत कर देता था ; मालवा की कोमलाङ्गी मालती जिसके श्वासों में मादक सौरभ था, अहिफेन के लाल फूलों को चूमकर बहने वाली वासन्ती समीर का और जिसकी भावनाओं को भरा-पूरा बनाया था वहाँ के पावस ने और जिसकी मन्थर-गति, मधुरवाणी और इंगित में साकार हो उठा था सम्पूर्ण मालवा प्रान्त, इतिहास जिसकी मादक सुन्दरता का साक्षी है। स्थूलकाय अधेड़ पंजाबिन जिससे उनका परिचय जीवन के उषःकाल में ही हो चुका था, वह आज भी रनिवास गुँजाती रहती। रसगुल्ले-से मीठे और गोल-गोल बोल-बोलनेवाली बनारसी बंगालिन भी उनके प्रारम्भिक पराक्रमों द्वारा ही जीती हुई मणि थी—इस मौनिका नाम की गणिका के प्रति राजासाहब आज भी श्रद्धालु थे। किन्तु सर्वोपरि स्थान इन अवकाश-प्राप्त नायिकाओं में सदैव से बड़े बाप की बेटी, कुल-लक्ष्मी और गृह-स्वामिनी रानी साहिबा ब्रजकुँवर को ही मिलता रहा है। अधेड़ पंजाबिन तथा बनारस की मौनिकाबाई और स्वयं रानी साहिबा भी उस श्रेणी में थी, जिस श्रेणी में उन स्त्रियों की गिनती होती जिनके साथ राजा साहब प्रीति की रीति भर निबाहते। इस श्रेणी को वह श्रेय के अन्तर्गत रखते थे। प्रेम के अन्तर्गत आतीं देश-विदेश की वह सुन्दरियाँ जिनमें से कुछ का हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं।

देशी सुन्दरियों में एंग्लो-इंडियन वारांगना मिसेस कटलेट का उल्लेख करते हुए हम हिचके थे ; कारण, कि यद्यपि मिसेस कटलेट का जन्म इसी भारत-भूमि में हुआ था किन्तु उन्हें भारतीय कहलाने से सख्त एतराज़ था। यह भी सच है कि राजकुमार की अँगरेज़ गवर्नेस मिस स्मिथ मिसेस कटलेट को हिक़ारत की नज़र से देखतीं और अपनी बिरादरी में न लेतीं ; लेकिन फिर भी मिसेस कटलेट भारत-भूमि को अपनी जन्मभूमि कहकर कभी गौरवान्वित न करतीं। हमारे लिए मिसेस कटलेट उस इन्द्र-धनुषी पुल के समान चिरस्मरणीय रहेंगी जो भारत-भूमि को स्वर्गादपि विलायत-भूमि से जोड़ता था। इस पार की भारतीय सुन्दरियों का उल्लेख हम कर चुके हैं। उस पार स्वर्ग की एक अप्सरा मिस स्मिथ का भी आप परिचय प्राप्त कर ही चुके हैं। उनके अतिरिक्त रनिवास में प्रमुख, शस्य-श्यामला-गोरी पिंडलियोंवाली मदालसा यहूदी-कन्या थी जो इटैलियन गायिका सिनौरिटा बौटिचैली से तो सदैव प्यार-मोहब्बत का बर्ताव करती और रस से अधिक पैसे की लोभिन फ्रांसीसी मैडेम के बाल नोचने पर हर घड़ी उतारू रहती। मोटी-ताज़ी जर्मन-वीरांगना का ज़िक्र हम नहीं करेंगे, क्योंकि वह एक वर्ष भी रनिवास में जीवित न रह सकी। उसके कमरे में तुर्की-महिला ने बसेरा किया था, तुर्की महिला की बग़ल में पेवड़ी से पीली और मोम से चिकनी त्वचावाली चीनी तरुणी रहती और उसके पास रनिवास का वह हिस्सा था जहाँ सोने के तार-सी लचकीली देहवाली वह ईरानी युवती थी, जिसे राजा साहब अपनी पिछली विदेश-यात्रा के स्मृति-चिह्न के रूप में ले आये थे। उसे देखकर कौन कहता कि वह दो बच्चों की माँ है। निरी सोलह बरस की-सी दुबली-पतली इस हँसमुख काञ्चना ने सभी की आँखें चौंधिया दीं। काली-काली बड़ी पुतलियाँ जैसे दिन की उज्ज्वल ज्योति का पान कर यौवन की मस्ती में हँसती रहतीं, पुतलियों से भी काले केश, घने लहराते काले

केश, आम की एक डाल से दूसरी डाल पर फुदकते हुए मदमत्त मोर के बर्हभार-से लगते, और राजा साहब के हाथ और उनकी आँखें दिन-दिनभर, रात-रातभर उन केशों को दुलराने में ही लगे रहते। राजा साहिब को यह ईरानी सुन्दरी सबसे अधिक प्रिय थी; किन्तु वह रनिवास में सर्वप्रिय नहीं थी। रनिवास की सुन्दरियाँ उसके अत्यधिक दुबलेपन की ओर कटाक्ष करते हुए उसे खपंच कहा करतीं। राजा साहब उसकी तरफ़दारी लेते और जवाब देते कि हाँ, वह खपंच-सी लचकीली है ज़रूर; लेकिन वह खपंच है दूज के चाँद की।

राजा साहब के बारे में अवध के लोगों ने बहुत कुछ सुना था, मसीता काका ने और झुनकू शेख़ ने तो बहुत कुछ देखा भी था। शीराज़ी हम्माल अपने दोनों बलिष्ट कांधों पर सामान लादे आगे-आगे चल रहा था। शेर खाँ उसी का हमउम्र, शीराज़ी से सटकर बत्ते मिलाता साथ-साथ जा रहा था और दोनों बूढ़े पीछे-पीछे लुढ़कते चल रहे थे। अपने जीवन में उन्होंने जो कुछ देखा था वह ख़्वाब बनकर आँखों में धुन्ध छा रहा था और उन्होंने जो सुना था वह सब एक अनजाना अफ़साना बन हाँफते हुए उन दोनों बूढ़ों के अध-खुले ओठों से आह बनकर निकल जाता।

बिजली की रफ़्तार से दौड़ती हुई मोटरों, चिंघाड़-चिंघाड़कर भागने और भागते-भागते रुक जानेवाली ट्रामों, ऊपर बिजली के तारों की छूम-छननन, बाज़ार की चहल-पहल, मर्दों के साथ कन्धा भिड़ाकर चलनेवाली अँग्रेज़ और हिन्दुस्तानी मेमें और सूट-बूटधारी काले-गोरे साहब—इन सबने मिलकर एक ऐसा ज़ोर का रेला मारा कि मसीता काका और झुनकू शेख़ के पिछले ख़्वाब और अफ़साने न जाने कहाँ गुम हो गये।

दोनों ने देखा हृष्ट-पुष्ट उस अलमस्त शीराज़ी को जो बैल के-से अपने मज़बूत कन्धों पर सामान लादे साबुत-क़दमी से बढ़ा चला जा रहा था। शीराज़ी के मुक़ाबले, साथ चलनेवाले शेर खाँ के पाँव कैसे खोखले-खोखले पड़ रहे थे। बड़ी सड़क से हटकर अब वह एक ग़रीब गली में घुस पड़े थे, जहाँ न मोटरों की आवाज़ थी न ट्रामों की और पत्थर की जिसकी ऊबड़-खाबड़ सड़क पर अब शीराज़ी के भारी बूटों से ठप-ठप की आवाज़ निकलने लगी थी। शीराज़ी के पाँव ज़रा भी तो नहीं हिचकिचाते। क्या यह वही लड़का है जो शराब में धुत नालियों में पड़ा रहता था? पोपले मसीता काका को याद आई बीस बरस पहिले की वह बात जब कुँवर साहब की नई हवेली की नीव खुद रही थी और शीराज़ी नीव की उन खाइयों में दिन-दिनभर नशे में डूबा पड़ा रहता। पन्द्रह साल के इस बिगड़े हुए लड़के के प्रति किसी के भी मन में तो सहानुभूति नहीं थी। लड़के उसे ढेलों से मारते, और नीव से खुदी मिट्टी उस पर डालते—शराब के नशे में चूर शीराज़ी को लड़के नीव में जिन्दा ही दफ़ना देते अगर उन्हें कुँवर साहब की इस नाराज़ी का डर न होता कि खुदी हुई नीव को फिर से अटा देने पर वह शरारती लड़कों की खाल ही खिंचवा लेंगे। राजा साहब तब तक मर चुके थे। रनिवास—चिड़ियाघर का वह बड़ा पींजड़ा—खुलवा दिया गया था और उसकी सब चिड़ियाँ तितर-बितर हो चुकी थीं।

फिर एक दिन कुँवर साहब ने शीराज़ी की इस क़दर पिटाई कराई कि प्रहारों की धू-धू आवाज़ सुनकर पास के हाते में बँधा हुई भैंस भी रस्सा तुड़ाकर और खूँटा

उखाड़कर भाग निकलीं, कुत्ते भौंकने लगे, लेकिन शीराज़ी उस सबको सह गया—इतना ज़रूर हुआ कि उसका नशा काफ़ूर हो चुका था। उसने अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से फिर कुँवर साहब को एक बार घूरकर देखा था, उनके मोटे-मोटे लाल कान की ओर सहसा उसका हाथ बढ़ गया था और दूसरे हाथ का थप्पड़ पड़ा था कुँवर साहब की थूथड़ी पर और उसके बाद शीराज़ी नौ-दो-ग्यारह हो गया था।

हम सचमुच नहीं जानते इन पिछले पन्द्रह बीस वर्षों में शीराज़ी ने क्या किया और उस पर कैसी बीती। इतना ज़रूर जानते हैं कि वह लुक-छिपकर बीच-बीच में अवध के उस ताल्लुक़े की झाँकी लेता रहा है, शायद इसी वजह से मसीता काका भुलक्कड़ देहाती ने भी शीराज़ी को एक आन में पहचान लिया था।

वह पाँचों शहर की गन्दी अँतड़ियों जैसी गलियों से गुज़रते जाते थे और शीराज़ी हम्माल के ठिकाने तक पहुँचते जा रहे थे। सामने ताड़ी और देशी शराब की एक छोटी-सी दूकान थी, जिसकी ओर शीराज़ी ने बस मुड़कर एक बार देख-भर लिया और बनिये की दूकान पर सामान उतार कर रख दिया। दूकान के ऊपर जो छोटा-सा एक अड्डा है वहीं शीराज़ी के महमानों ने डेरा डाला। यह शीराज़ी का निवास-स्थान नहीं, वह तो और दूसरे हम्मालों के साथ कहीं भी पड़ रहता है—सड़क के फ़ुटपाथ पर, जहाज़ के मुसाफ़िर-खाने में या वहाँ जहाँ उसके सींग समायें।

शीराज़ी ने हफ़्ता-भर मेहमानों की ख़ूब ही ख़ातिर-तवाज़ह की, खिलाया-पिलाया और ख़ूब ही घुमाया। तीनों देहातियों का शहर में मन भी ख़ूब रम गया। रात को वह मज़दूरों की गाती-बजाती टोलियों में जा मिलते और दिन में सैर को निकल जाते या मज़दूरिनों के लड़ाई-झगड़ों और फ़ोश हँसी-ठट्ठों को देख-सुनकर मन बहला लेते।

शायद अभी वह यहाँ से चल देने का नाम भी न लेते अगर मसीता काका अपने अधखुले पोपले मुँह से सहसा एक दिन यों न कह उठते—'झुनकू दादा, ठंडक...!' झुनकू शेख़ के घबराकर पूछने पर मसीता काका ने अपनी खोजबीन का नतीजा कह सुनाया कि हाजियों को प्राणों से प्यारे, आबेज़मज़म से पाक किये हुए थानों में से दो थान गुम हो गये हैं। तब तो तीनों को थानों की चोरी का और हफ़्ते-भर की उस भरी-पूरी ख़ातिर-दारी का रहस्य समझते देर न लगी। थोड़ी ही देर में झुनकू शेख़ और शेर ख़ाँ को यह भी पता चल गया कि तीन में से जो एक थान बच गया है उसे पोपले मुँह के मसीता काका ने हथिया रक्खा है।

बचा हुआ थान किसकी मिल्कियत है इसका फ़ैसला करने के लिए कशमकश शुरू हुई। तीन अभिन्न साथियों में हाथा-पाई की नौबत आ गई। तीनों ही चाहते थे कि मरने के बाद कफ़न बने आबेज़मज़म में पाक किया हुआ वह एक बचाखुचा थान, वह थान जिसमें हाजी का सम्पूर्ण संचित पुण्य बसा होता है—आक़बत की सब आपदाओं से बचाने के लिए वह थान ही तो छत्र बनेगा। जान भले ही जाये पर आबेज़मज़म में डूबा हुआ वह थान हाथ से न निकल जाये।

सहसा इन तीनों की चीख़-पुकार बाहर के गुल-गपाड़े में डूब गई। जहाँ बोतलें

तड़क रही हों, शीशे की आलमारियाँ फट रही हों, जहाँ शराबियों का शोरो-गुल हो, दसियों के सर फट रहे हों—जहाँ दो शराबियों के आपसी झगड़े ने हिन्दू-मुसलिम दंगे का भयंकर रूप धारण कर लिया हो, वहाँ इन तीन देहातियों की तू-तू मैं-मैं को कौन सुनता ? नक़्क़ारख़ाने में तूती की आवाज़ बंद हो गई। तीनों ने अड्डे के दरवाज़े से मुँह निकालकर देखा सड़क पर ख़ून की फाग खेली जा रही है और भड़की हुई आग उनके नज़दीक, बहुत नज़दीक, आ रही है। नीचे किसी दंगाई ने दूकान में बैठे हुए मोटे-झोटे लालाजी का टख़ना पकड़कर बाहर खींच ही तो लिया। पीठ के बल धरती पर पड़े लालाजी के पेट पर वह मचक-मचक कर कूदने लगा जैसे वह कोशिश कर रहा हो कि वर्षों से लालाजी उससे जो नफ़ा ले रहे हैं वह उसे यहीं की यहीं उगलवा ले। सामने शराब की दूकान के सब अंजर-पंजर ढीले हो चुके थे। शराब की बोतलों में दमकनेवाला पियक्कड़ों का रंगीन स्वप्न टूट चुका था, कीचड़ बन चुका था। ग़रीब पारसी दुकानदार माथे पर पड़े भारी गूमड़े को सहला रहा था और पास खड़ा नौजवान साक़ी, लतीफ़ अपने जबड़ों को पकड़े नीचे बैठा था, सर की चोट का उसे ख्याल भी न था जिससे ख़ून की एक पतली धार निकलकर सूख चुकी थी।

बनिये की दूकान लुट गई और आग लगा दी गई सब बचे-खुचे माल में शीराज़ी हड़बड़ाता हुआ आ निकला। 'मसीता काका, झुनकू शेख़ उतरो, उतरो भाई। वरना तीतर से भुन जाओगे'—वह चिल्लाने लगा और लगा जीने की किवाड़ें पीटने। न जाने कब तक यह तमाशा होता रहता अगर नीचे का धुँआ ऊपर तीनों देहातियों को अपना विषैला सन्देश न सुनाने लगता। मय अपने साजो-सामान के वे दिहाती निकले और उजड़ी हुई गलियों में मौत के व्यापारियों की तरह शीराज़ी के पीछे-पीछे फेरी लगाने लगे।

मुसलमानी बस्ती के नुक्कड़ पर पहुँचते ही मराठी हिन्दुओं के एक दल से उनकी मुठभेड़ हो गई। भेड़-से बेवकूफ़ इन तीन दहक़ानियों की बचत का जब कोई और दूसरा रास्ता शीराज़ी को न सूझा तो उन्हें गली में ठेलकर वह ख़ुद दंगाइयों के दल से आ भिड़ा, ताकि वह इन्हें रोके रहे और उसके तीनों महमान मुसलमानी बस्ती में पहुँच जायें।

घर-फूँक तमाशा देखनेवाली पुलिस को आख़िर तवज्जह इधर देनी ही पड़ी और फिर दंगे के शान्त होते, आग बुझते देर न लगी।

मुसलमानी बस्ती के नुक्कड़ पर नाली में पड़ी शीराज़ी की भी लाश मिली। मसीता काका, झुनकू शेख़ और शेर ख़ाँ ने शीराज़ी को पहचान लिया। कहते हैं आबे-ज़मज़म में पाक, उस बचे हुए एक थान ने गुनहगार आवारा शीराज़ी के सब गुनाहों को ढँक लिया। मसीता काका ने अपने हिस्से का संचित पुण्य शीराज़ी को दिया, पोपले मुँह से उस आवारे के गुनाहों की माफ़ी के लिए इबादत की और अपनी चुन्धी-चुन्धी धुँधली आँखों से मरे हुए को अंजलि दी।

*

उपन्यास का ऐतिहासिक विकास

●

[श्रीचन्द्र अग्निहोत्री]

मध्यकालीन सामन्तवाद के ध्वंस के साथ-साथ जब नयी पूँजीवादी सभ्यता अपनी प्रभात रश्मियाँ फैलाकर उदित हुई, तो उस युग-सन्धि-काल में राबेला (Rabelais) और सरवाँते (Cervantes) ने उपन्यास को नया जीवन दिया। एक ओर नूतन युग के क्रान्तिकारी तूफ़ान में पड़कर मध्ययुग के सामन्तवाद का जीर्ण ध्वंसावशेष नष्ट हुआ जा रहा था, गलित आभाहीन सामन्तवाद नवजात पूँजीवाद के सामने घुटने टेक कर विदा माँग रहा था; दूसरी ओर नये भावों, नये विचारों और नये आदर्शों की जयध्वनि, मनुष्य और सभ्यता के नवजीवन का शखनाद हो रहा था। इसी लिए राबेला और सरवाँते ने जहाँ एक ओर पुरातन पर व्यंग के तीर ताने हैं, दूसरी ओर नूतन का श्रद्धापूर्ण स्वागत भी किया है। शेक्सपियर ने भी यही किया है, और रेनेसाँ युग के कलाकारों की यही कार्यकुशलता और विशेषता है।

अठारहवीं शताब्दी के औपन्यासिकों को जो सम्पत्ति मिली थी, वह साधारण और सहज लभ्य नहीं। राबेला और सरवाँते के परवर्ती युग के कलाकारों ने उसका किस प्रकार सद्-व्यवहार किया, देखना ज़रूरी है। इंग्लैण्ड के औपन्यासिकों ने इस सम्पत्ति की मर्यादा आधी शताब्दी तक अक्षुण्ण रखी है। यद्यपि वे फ्रांसीसी या स्पेनीय कलाकारों की भाँति उसे उत्कर्ष के शिखर पर नहीं ले जा सके। अठारहवीं शताब्दी के औपन्यासिकों के सम्बन्ध में सबसे उल्लेखयोग्य बात यह है कि उन्होंने अपने आस-पास के नर-नारियों के चरित्रों को आँख खोलकर देखा था, और उनका अध्ययन किया था। उपन्यास राजनीति का प्रधान अस्त्र होते हुए भी प्रचार का साधन नहीं बनाया गया था। स्वस्थ परिस्थितियों में उपन्यास बढ़ा, और बुर्जुआ श्रेणी के कल्पना प्रबल कलाकारों के हाथ की सुन्दर निधि बना। अठारहवीं शताब्दी के औपन्यासिकों ने मानव को देखकर भय से आँखें नहीं बन्द कर लीं, आत्मगोपन नहीं किया। मनुष्य के साथ चलना उन्हें अनुचित नहीं लगा, मनुष्य की शक्ति पर उन्हें सन्देह नहीं हुआ। मनुष्य की दृढ़ता, मनुष्य की विजय, और शक्ति पर उनका अटूट विश्वास था। अवश्य ही वे उस समय के अन्याय, अविचार तथा निष्ठुरता के प्रति अन्यमनस्क नहीं रहे।

अठारहवीं शताब्दी के औपन्यासिकों में डेनियल डिफो, सैमुएल रिचर्डसन, हेनरी फील्डिंग, जार्ज स्मालेट, लारेंस स्टर्न आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन सभी की विशेषता थी चरित्रों का जीवन्त विश्लेषण और सुसम्बद्ध घटना-ग्रन्थन।

समालोचक हेनरी फील्डिंग के सम्बन्ध में व्यंग करते हुए कहते हैं कि उसने

उपन्यासों में उपदेश (sermon) दिया है, और इसीलिए रस-सृष्टि में व्याघात पहुँचा है। अवश्य ही किसी भी कला में उपदेश देना वांछनीय नहीं, क्योंकि डंका पीटने के उद्देश्य से कलाकार किसी कलाकृति की सृष्टि नहीं करता ; लेकिन फील्डिग के उपदेश को अलग कर देने पर भी उसके उपन्यासों में जो सामाजिक समालोचना है, उसके चरित्रों में जो विचार और विश्लेषण है, उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। फ्लाबेयर और हेनरी जेम्स के पहले कला की आराधना करने के कारण फील्डिग को पता न था कि उपन्यास रचना के लिए साहित्यिक समाज के किन-किन नियमों का पालन करना पड़ता है। शायद हेनरी फील्डिग ही प्रथम अंग्रेज़ औपन्यासिक है, जो मानव जीवन के सत्य को निर्भीक रूप से प्रकाशित करना ही उपन्यास का आदर्श समझता था। और ऐसा समझने के कारण ही उसने अपने अनुसार सत्य का वर्णन किया है। उसने जोनैथन वाइल्ड के जीवन चरित्र में उस सत्य को निर्मम रूप में प्रकाशित किया है, और उसके तीखे श्लेषों और बाँके विद्रूपों के सामने स्विफ़्ट को भी सिर झुकाना पड़ेगा। उसका क्रोध निष्ठुर और भयंकर है, क्योंकि वह है मनुष्य की अवनति के प्रति जीवित मनुष्य का क्रोध।

एक और श्रेणी के समालोचकों ने फील्डिग में कल्पना शक्ति के अभाव को लेकर कटूक्तियाँ की हैं। यह ठीक है कि फील्डिग ने आधुनिक औपन्यासिकों की भाँति मनुष्य के चरित्र का फ्रॉयडीय विश्लेषण नहीं किया, किन्तु इसी कारण उसका कोई भी चरित्र फीका नहीं पड़ा। फील्डिग औपन्यासिक को मुख्यतया इतिहासकार मानता था, और वहिर्जगत् ही उसकी अनुप्रेरणा का उद्गम था। उसकी नायक-नायिकाएँ परिस्थितियों के घात-प्रतिघात से जीवन्त रूप लेती हैं। वह जिस युग में पैदा हुआ था, वह युग निष्ठुर युग, विजयी पूँजीवाद का संग्राम कातर युग, औद्योगिक क्रान्ति का पूर्ववर्ती लुंठित धन संचय का युग था। इसलिए विद्रूप की जो कर्कशवाणी बीच-बीच में उसके कण्ठ से निकली है, वह सर्वथा असमर्थनीय और तिरस्कार-योग्य नहीं है। लेकिन फील्डिग ने कभी अपने प्रति विश्वासघात नहीं किया, अर्थात् कलाकार होकर उसने कभी मानव या जीवन की अवज्ञा नहीं की। यही है उसके कलात्मक जीवन, उपन्यासकार के जीवन की सार्थकता।*

रिचर्डसन ने मनुष्य के अन्तःकरण में प्रवेश कर वहाँ की अनेक गम्भीर अनुभूतियों को खोज निकाला। सम्वेदनशील उपन्यासों का वह अग्रदूत था। पामेला, क्लैरिसा, और सर चार्ल्स ग्रैण्डीसन प्रभृति उपन्यासों को नायक-नायिकाओं के चरित्र जीवन्त और स्वच्छ हैं। क्लैरिसा की करुण कथा ने एक दिन इंग्लैण्ड के प्रत्येक व्यक्ति के नेत्रों को सजल किया था। फील्डिग की भाँति यदि रिचर्डसन भी वास्तव जगत् के सम्बन्ध में सचेत होता, तो उसका स्थान संसार के श्रेष्ठ उपन्यासकारों में होता। रिचर्डसन ने वास्तव की उपेक्षा करना आरम्भ किया, और बाद में स्टर्न में वह मनोवृत्ति और भी स्पष्ट रूप से व्यक्त हुई। रिचर्डसन की दृष्टि नायक-नायिकाओं के मनोराज्य की तरफ़

---

* फील्डिग ने जोसेफ़ एण्ड्रूज़, जोनैथन वाइल्ड, टाम जोन्स, अमेलिया आदि उपन्यास लिखे हैं। ब्लैंचर्ड की 'फील्डिग द नावेलिस्ट' (आक्सफोर्ड यू० प्रेस) पुस्तक फील्डिग की कला पर अच्छा प्रकाश डालती है।

आकृष्ट होती थी, फिर भी उसमें एक विशेषता थी कि वह अच्छी तरह कह सकता था, लेकिन स्टर्न में वह विशेषता न थी। स्टर्न में श्लेषज्ञान था, बुद्धि थी, मनुष्य के प्रति श्रद्धा थी, लेकिन उसमें वास्तव जगत् के पट पर नायक-नायिकाओं के चरित्रचित्रित करने की क्षमता न थी। स्टर्न अपने को राबेला और सरवाँते के समान समझता, लेकिन रचनारीति और भाषा में नवीनता होते हुए भी वह राबेला और सरवाँते के समान शक्तिमान कलाकार न हो सका। बायरन कहता कि स्टर्न 'preferred whining over a dead ass to relieve a living mother.' और प्रोफेसर क्रास स्टर्न की रचनारीति, भाषा, श्लेष आदि के सम्बन्ध में अत्यधिक प्रशंसा करने पर भी यह स्वीकार करने को बाध्य हुए कि a man of finer grain होने के कारण और भी मूल्यवान साहित्य-रचना सम्भव थी।*

फील्डिंग, रिचर्डसन और स्टर्न में से कोई भी वास्तव को पूर्ण रूप से समझ नहीं सका। यदि मनुष्य के अन्तर्जगत् में प्रवेश करने के लिए आवश्यक कल्पना-शक्ति का अभाव हो, तो केवल बहिर्मुखी दृष्टि होने से चरित्र का पूर्ण विश्लेषण करना सम्भव नहीं। और यदि दृष्टि केवल अन्तर्मुखी हो, तो उपन्यास का महाकाव्य सम्बन्धी गुण नष्ट हो जाता है। इसलिए इन दोनों के समन्वय से वास्तव के पूर्ण रूप की प्राप्ति हो सकती है। सरावाँते इस प्रकार के विभेद की कल्पना भी नहीं कर पाता था। पूँजीवादी समाज के विकसित होने पर यह दृष्टि-भेद उपस्थित हुआ था, और कलाकारों ने व्यक्ति को समाज से अलग देखने की चेष्टा की थी। यह चेष्टा बाद की दो शताब्दियों के बीच, विक्टोरियन युग पार करने के बाद बीसवीं शताब्दी में भयंकर रूप में दिखलाई पड़ी है। श्रम विभाजन जितना ही जटिल हुआ है, कलाकार ने व्यक्तित्व के सूक्ष्मतर विश्लेषण की ओर उतनी ही अधिक दृष्टि डाली है। अठारहवीं शताब्दी का सच्चा कलाकार रूसो था। रूसो उपन्यास लेखक न था, वह था कल्पनाप्रवल गद्य-लेखक। रूसो फ्रांस के भौतिकवाद से प्रभावित होकर यह विश्वास करने लगा था कि शिक्षा मनुष्य की प्रकृति में परिवर्तन कर सकती है। रूसो कहता कि एक मात्र प्रकृति ही मनुष्य में परिवर्तन कर उसकी उन्नति कर सकतीहै। रूसो की यह धारणा भ्रांत होने पर भी उसने कला की उपेक्षिता प्रकृति को फिर सम्मान-पूर्वक कला के राज्य में प्रवेश का अधिकार दिया। रूसो की इस देन को कलाकार कृतज्ञता-पूर्वक याद रखेंगे।

अठारवीं शताब्दी उपन्यास का स्वर्णकाल है। सरवाँते और राबेला के समान कला के उच्च शिखर पर न चढ़ सकने पर भी, और कल्पना की प्रचण्ड शक्ति के सहारे वास्तव को रूपान्तरित करना साध्यातीत होने पर भी, अठारहवीं शताब्दी के उपन्यासकारों ने जीवन और मनुष्य के सम्बन्ध में निर्भीकतापूर्वक दृढ़ स्वर में सच्ची बात कही है। उनमें हास्य और विद्रूप की शक्ति थी, उनमें श्लेष ज्ञान था, और उन्होंने यह महसूस करने को बाध्य किया कि प्रत्येक मनुष्य का जिस प्रकार बहिर्जगत् है, परिस्थिति है, उसी प्रकार अन्तर्जगत् है, अन्तः परिस्थिति है इन दोनों में से कोई भी उपेक्षणीय नहीं। एक को अस्वीकार कर दूसरे को स्वीकार नहीं किया जा सकता। कलाकार इन दोनों जगतों

---

* स्टर्न की विस्तृत आलोचना के लिए देखिये एल० क्रास लिखित 'द लाइफ एण्ड टाइम्स आव लारेंस स्टर्न।'

में रहता है। जिस प्रकार परिवर्तनशील बहिर्जगत् सत्य है, अन्तर्जगत् का विनाश-निर्माण भी सत्य है। इन अन्तर्जगत् का विनाश-निर्माण भी सत्य है। इन दोनों जगतों के पारस्परिक प्रभाव द्वारा गठित मनुष्य है जीवन्त मनुष्य, सच्चा मनुष्य।

उन्नीसवीं शताब्दी से उपन्यास लेखकों के मन में मनुष्य के सम्बन्ध में, संसार के सम्बन्ध में शंका उठने लगी। सन्देह जगने लगा, और उन्होंने इस संसार को छोड़कर मुक्ति का मार्ग खोजना आरम्भ किया। मोटी तोंदवाले पूँजीवाद का सर्वग्रासी शोषण आरम्भ हो गया था। इसलिए चारों ओर से क्षीण स्वर में 'त्राहि, त्राहि' का शब्द आ रहा था। आज उसी के प्रतिनिधि, हेनरी जेम्स के नैराश्यवाद और त्राहिवृत्ति की जारज सन्तान हैं इस युग के अलडस हक्सले, और एच० जी० वेल्स।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथमार्ध में वाल्टर स्काट, और द्वितीयार्ध में चार्ल्स डिकेन्स इङ्गलैंड के प्रमुख उपन्यासकार हुए हैं। स्काट ने औद्योगिक युग की विषाक्त वायु से मुक्त होकर काल्पनिक, स्वप्नमय अतीत में आश्रय लिया था, परन्तु एक दृष्टि से स्काट ने उपन्यास में युगान्तर उपस्थित किया था, क्योंकि पहले उसी ने मनुष्य के सम्बन्ध में इतिहास की पृष्ठभूमि पर विचार करने की आवश्यकता समझी थी। उसने समझा था कि मनुष्य का जिस प्रकार वर्तमान है, उसी प्रकार उसका अतीत भी है। और उसने इन दोनों के समन्वय की चेष्टा की थी—जो चेष्टा अठारहवीं शताब्दी में सम्भव नहीं हुई। जीवन के काव्य और गद्य दोनों का समन्वय होगा उपन्यास में; रूसो के नैसर्गिक प्रेम के साथ फील्डिंग की भौतिक बलिष्ठता और स्टर्न का सम्वेदन भी सम्मिलित रहेगा—यह था स्काट का आदर्श। स्काट का यह आदर्श सफल नहीं हुआ, फिर भी असलफलता में उसका गौरव है। स्काट असफल क्यों हुआ?

स्काट प्रतिभावान कलाकार था, फिर भी उसकी दृष्टि पैनी न थी। परिणाम यह हुआ कि उसने जिन नारी-नरों की रचना की, वे इतिहास के चरित्र न होकर निज की काल्पनिक सृष्टि हो गये। उसने उन्नीसवीं शताब्दी की उच्च-मध्य-वित्त-श्रेणी (upper middle class) और व्यवसायी अभिजात वर्ग (industrial aristocracy) के चरित्र पर अपनी कल्पना का रंग चढ़ाया था। इसीलिये स्काट के उपन्यासों के चरित्र काल्पनिक हैं। फील्डिंग ने टाइप चरित्रों की सृष्टि की थी। स्वाभाविक रूप में उन्नीसवीं शताब्दी के उपन्यास लेखक के लिए मनुष्य के चरित्र का ठीक-ठीक सोचना कठिन हो गया था। थैकरे बुर्जुआ श्रेणी से घृणा करता, और उसका विद्रूप किये बिना न रहता था। लेकिन किसी ने वास्तव जगत् के साथ मनुष्य के सम्बन्ध पर ठीक से विचार करके उसे पूर्ण रूप से उपन्यास में रूपान्तरित करने की चेष्टा नहीं की।

इस अक्षमता का कारण यह है कि विक्टोरियन युग में चारों ओर अशान्ति और विशृङ्खलता थी। चार्टिस्ट आन्दोलन के कारण समस्त देश क्रान्ति की ओर अग्रसर था, सशस्त्र विद्रोह की आशंका से वातावरण काँप रहा था। गर्हित अर्थपुजारिणी बुर्जुआ श्रेणी की सफलता, कारखानों के धुँए से प्राकृतिक सौन्दर्य की मलिनता, व्यक्तिगत जीवन की दानवीय वस्तुप्रीति (material lust) को आदर्शवाद के आवरण में

छिपा रखने की नीच प्रवृत्ति, यह है विक्टोरियन युगीय इंग्लैण्ड का रूप। किन्तु इतनी प्रतिकूल परिस्थिति में भी यह नहीं कहा जा सकता कि विक्टोरियन युग के उपन्यासकारों ने मनुष्य को सम्यक् रूप में पाने की चेष्टा नहीं की। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में अंग्रेजी उपन्यासों की अवनति का जो स्पष्ट प्रमाण मिला था, उसे दूर करने की चेष्टा विक्टोरियन युग के उपन्यास लेखकों ने की थी, और इसमें वे सफल भी हुए थे। चार्ल्स डिकेन्स उपन्यास का महाकाव्यवाला गुण फिर ले आये, और अपनी प्रतिभा की बदौलत जीवन के मर्मस्थल में प्रवेश कर मनुष्य को फिर सत्य और जीवन्त रूप में चित्रित किया।

डिकेंस अपने युग का वेजोड़ कलाकार था, उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। व्यक्तिगत जीवन में दुःख और कष्ट पाने पर भी उसने जीवन पर श्रद्धा और आशा नहीं खो दी। उसकी पैनी दृष्टि समाज के अन्तस्तल तक पहुँची थी, और इसीलिए दुर्बल के प्रति उसने मानवीय सहानुभूति दिखलायी। अत्याचार और अन्याय के विरुद्ध उसने निर्मम् होकर प्रहार किये। उसके उपन्यासो में निम्न मध्य-श्रेणी का चित्रण हुआ डिकेन्स की रसिकता बीच-बीच में कर्कश होने पर भी उसका हास्यरस-बोध प्रशंसनीय है। सैमवेलर, बेट्सी ट्राट्उड, जो गार्गेरी यह सभी अँग्रेजी साहित्य में अमर हैं। डिकेन्स की इसी विशिष्टता के कारण चेस्टरटन ने कहा था, 'इंग्लैण्ड में निर्धन व्यक्ति संसार के सबसे मनोरंजक और हँसोड़ प्राणी हैं, जिनमें हास्ययुक्त प्रेम और ईर्ष्या तथा व्यंग भरा है। वास्तव में जनता डिकेन्स के चरित्रों से बनी है, क्योंकि डिकेन्स स्वयं भी जनता ही में से एक था।' लेकिन डिकेन्स की देन अन्य दृष्टि से भी कम मूल्यवान नहीं। डिकेन्स के साहित्य ने उस समय के मनुष्यों के मन में जो शुभ प्रभाव फैलाया था, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। श्रेणी विषमता को भुलाकर समग्र श्रेणी के मनुष्यों पर विश्वास प्रतिष्ठित करने का गुरुतर भार डिकेन्स ने लिया था। इसीलिए अपने समय के समाज की दोष-त्रुटियों, व्यभिचार, कुसंस्कार आदि के प्रति उसकी प्रखर सतर्क दृष्टि कभी चंचल नहीं हुई। उसने उद्देश्य मूलक उपन्यासों की भी रचना की है। आलिवर ट्विस्ट की पुअर ला (निर्धनों का कानून) व्यवस्था, लिटिल डोरिट की रेड टैपिज्म (बेहद कानूनी पाबन्दी), निकोलस निकलबी की प्राइवेट स्कूल व्यवस्था आदि में उसने अपने समय के समाज के घाव की ओर ठीक इशारा किया है, इसके लिए समाज पर ज़ोर का आघात करने में भी हिचकिचाहट नहीं दिखलायी।

सभी श्रेणियों के नारी-नरों का अद्भुत चरित्र-चित्रण, असंख्य घटना-मन्थन, कल्पनाशक्ति, काव्य आदि डिकेन्स की साहित्यिक विशिष्टताएँ हैं। फिर भी डिकेन्स और स्काट दोनों के चरित्रों में हमें जैसे किसी चीज़ का अभाव जान पड़ता है। उनके नायक-नायिकाओं में महान् अनुभव की कमी जान पड़ती है। वे महान् चरित्रों की सृष्टि क्यों नहीं कर सके ? उन्होंने अपने युग को गतिशील नहीं समझा, इसीलिए काल की बहती हुई धारा में नायक-नायिकाओं के चरित्र पूर्ण रूप में प्रकाशित नहीं हुए। विजयी मध्य-वित्त श्रेणी की अन्तःसार शून्यता के सम्बन्ध में यथेष्ट सचेतन थे, उनके अन्तःसार शून्य जीवन को भी संसार के सामने रखने में उन्हें भय नहीं लगा, किन्तु इस सब के भीतर

निहित वृहत्तर शक्ति की क्रिया उनमें नहीं दिखलायी पड़ती। पूँजीवादी समाज की हीनता और दैन्य के अन्धकार को फाड़कर प्रकाशपुंज लाने में वे असमर्थ रहे। इस ओर फ्रांसीसी उपन्यासकार निष्ठावान थे। उन्होंने सम-सामयिक युग का अकपट रूप में चित्रण करने की चेष्टा की है।

कार्ल मार्क्स ने १८५४ सन की न्यू यार्क ट्रिब्यून पत्रिका में विक्टोरियन युग के उपन्यासकारों का उल्लेख किया था:

'राजनीतिक प्रचारकों तथा नीति-वागीशों के वर्णन से कहीं अधिक स्पष्ट राजनीतिक और सामाजिक सत्य विक्टोरियन-युग के उपन्यासकारों के सुन्दर वर्णन और चरित्र-चित्रण के द्वारा प्रकाशित हुआ है। इन सभी उपन्यासकारों ने मध्यवित्त श्रेणी का चित्रण किया है। सरकारी स्टाक मालिक से लेकर छोटे दूकानदार और वकील के मुहर्रिर तक किसी को नहीं छोड़ा। इस श्रेणी की अज्ञता, उत्पीड़न, अहम्मन्यता, आदि का जीवन्त वर्णन विक्टोरियन-युग के उपन्यासकारों की विशिष्टता है। सभ्य संसार ने उनके मत का समर्थन किया है, और मध्य-वित्त श्रेणी पर एक ही निर्णय दिया है कि वह उच्च-श्रेणी की दास और निम्न श्रेणी की उत्पीड़क है।' मार्क्स के इस कथन की पुष्टि के लिए थैकरे के वैनिटी फेयर, द हिस्ट्री आव हेनरी इसमाण्ड, डिकेन्स के आलिवर ट्विस्ट, द पिकविक् पेपर्स, ब्लीक हाउस, हार्ड टाइम्स, ए टेल आव टू सिटीज, ग्रेट एक्सपेक्टेशन्स ब्रण्ट का जेन आयर, एमिली की विदरिंग हाइट्स पठनीय हैं।

इस समय फ्रांस के कलाकारों में एक मात्र बालजक क्रान्तिकारी कलाकार थे। बालजक ने अपने कमेडी ह्यूमन में अपने युग के मनुष्य जीवन के वृहत पट पर जो क्रान्तिकारी चित्र अंकित किया है, वह जितना ही गहरा, उतना ही व्यापक, चित्रात्मक, चित्ताकर्षक और जीवन्त है। १८१६ से १८४८ सन तक के फ्रांसीसी समाज का इतिहास इतनी समग्रता के साथ अंकित करना किसी इतिहासकार के लिए भी सम्भव न था। बालजक के राजनीतिक विचार प्राचीन सामन्तवादी फ्रांस के थे, लेकिन मनुष्य के प्रति उसके मनोभाव, मनुष्य के जीवन के प्रति श्रद्धापूर्ण धारणा, यह सभी कुछ क्रान्तिकारी था। जेकोबिनों ने जिस समय निर्मम रूप से फ्रांसीसी समाज के बन्धनों को काटा था, जिस समय यूरोप में नेपोलियन के शौर्य का जयगान हुआ था, नेपोलियन ने जिस प्रकार सामन्तवाद को धूल में मिला दिया था, उसी प्रकार फ्रांस के साहित्यिक नेपोलियन बालजक ने साहित्यिक सामन्तवादी मनोभावों को ध्वस्त किया था। इसीलिए बालजक को अपनी राजनीतिक और श्रेणीगत सहानुभूति के विरुद्ध अभिजात-वर्ग के पतन का समर्थन करने और नूतन युग के मनुष्य का अभिनन्दन करने के लिए बाध्य होना पड़ा था। यही है वास्तव की विजय और क्रान्तिकारी कलाकार बालजक की विशिष्टता। मार्गरेट हार्कनेस को लिखे एक पत्र में फेडरिक एंगेल्स ने बालजक की कलात्मक प्रतिभा के सम्बन्ध में यही बात लिखी थी। एंगेल्स का कहना है:—

'बालजक जिसे मैं जोला आदि से बड़ा वास्तववादी समझता हूँ, अपने 'कमेडी ह्यूमेन' में १८१६-४८ तक के फ्रांसीसी समाज का बहुत मनोरंजक और वास्तविक चित्र

खींचता है। अभिजात श्रेणी के ऊपर बुर्जुआ किस प्रकार धीरे-धीरे अधिकार जमाता है। वह बतलाता है कि उसके ख्याल से आदर्श समाज के यह अन्तिम चिह्न किस प्रकार धनिकवर्ग के उदय के साथ नष्ट हो गये, या धनिकवर्ग ने कैसे उन्हें भ्रष्ट कर दिया।

इसी को केन्द्र बनाकर वह समूचे फ्रांसीसी समाज का इतिहास रचता है, जिससे मैंने आर्थिक विवरण भी जैसे क्रान्ति के बाद व्यक्तिगत जायदाद का बन्दोबस्त, किसी इतिहास से, अर्थशास्त्री या आँकड़ों का हिसाब बतलानेवाले से जानने की अपेक्षा अधिक जाना है। बालजक राजनीतिक रूप में विधानवादी था, और उसकी महानकृति श्रेष्ठ समाज के पतन का मरसिया है। उसकी सहानुभूति उस वर्ग के साथ है जिसे नष्ट हो जाना है। परन्तु यह होते हुए भी उसके व्यंग कभी भी इतने तीखे नहीं हैं, उसका विद्रूप कभी भी इतना मार्मिक नहीं है, जितना उस समय जब वह उसी अभिजात-वर्ग के नारी-नरों को कार्यरत करता है। और वह जिनके साथ सहानुभूति दिखलाता है, वे होते हैं उसके सबसे बड़े राजनीतिक विरोधी, गणतंत्रवादी वीर जो १८३०-३६ तक जनता के प्रतिनिधि थे। इस प्रकार बालजक को उस वर्ग के खिलाफ जाना पड़ा, जिसके साथ उसकी सहानुभूति थी। उसने यह आवश्यक समझा कि अभिजात श्रेणी का नाश हो, और उसके सम्बन्ध में मत दिया कि वह इसके सिवा और किसी लायक नहीं। उसने देखा कि भविष्य किनके हाथों में है, और यही वास्तववाद की सबसे बड़ी विजय है। और बालजक में यही सबसे बड़ी विशेषता है।'

बालजक के बाद दूसरा स्मरणीय नाम गुस्टव फ्लाबेयर का है। लेकिन इन दोनों में महत् अन्तर है। बुर्जुआ श्रेणी के प्रति फ्लाबेयर में अपार घृणा थी। एक बार उसने अपने दैनिक जीवन के सम्बन्ध में अपने मित्र लुई बुइलेट को लिखा था, 'Laxatives, purgatives, derivatives, leaches, fever, diarrhoea, three nights without sleep, a gigantic annovance at the bourgeios.' इस कथन से उसके मनोभाव का पता चलता है। फ्लाबेयर ने लिखा था, 'I would drown humanity in my vomit.' (मैं अपनी कै में सारी मानवता को डुबा दूँगा।) यहाँ उसने समूचे मानव समाज के प्रति यह घृणा नहीं प्रकट की, बल्कि सन् १८७१ के पेरिस कम्यून के बाद उन्नीसवीं शताब्दी के पूँजीवादी समाज को लक्ष्य करके ही फ्लाबेयर ने ऐसी बात कही है। बुर्जुआ श्रेणी के प्रति फ्लाबेयर के हृदय में घृणा का यह असीम सागर उमड़ने पर भी वह गणतंत्र को श्रद्धा की दृष्टि से न देखता था। जन साधारण के प्रति भी उसको वैसी ही घृणा थी। वह जनता से बहुत डरता, इसीलिए उसने कला की साधना की थी अपनी संगमरमर की मीनार पर बैठकर, क्षुद्र जनता के पाशविक चीत्कार से बहुत दूर जहाँ दु:खद वातावरण की हवा भी न छू सकती, जहाँ सिर्फ आत्मतृप्ति की विलासिता थी। इस प्रकार अपने मनोराज्य में बन्दी बनकर आत्माभिमानी फ्लाबेयर ने कला के सर्वथा बहिरंग स्वरूप से अपना मन खींच लिया था। मैडम बोवरी के टैवर्न के दृश्य को चित्रित करने में उसे तीन महीने का समय लगा था, (उपन्यास में जिसे पढ़ने में पाठक को तीन घण्टे का समय लगेगा।) अनेक यह कहेंगे कि फ्लाबेयर शैली के उत्कर्ष का पक्षपाती था। यह बात ठीक होते हुए

भी उसमें रचना-रीति की ऐसी कोई उल्लेखनीय विशिष्टता नहीं, जिसके लिए आज उसे याद किया जाय।

फ्लावेयर जिस फ्रांस का कलाकार था, वह था १८४८ सन् का फ्रांस, तृतीय साम्राज्य का फ्रांस, फ्रांस-प्रशिया युद्ध का फ्रांस, पेरिस कम्यून का फ्रांस। इसीलिए निष्ठुर फ्रांस को त्यागकर फ्लावेयर ने जीवन को संग्राम से दूर हटा लिया था। जीवन को प्रकट करने के लिए, युग सत्य को व्यक्त करने के लिए फ्लावेयर बहुत उत्सुक था, फिर भी वह अन्ततोगत्वा पीठ फेर चुका था। जीवन के सामने खड़े होकर वह मनुष्य का, सत्य का, वास्तव का वरण नहीं कर सका। उन्नत मस्तक विशुद्ध कलाकार बनकर उसने जीवन यापन किया। बीसवीं शताब्दी के अधिकांश कलाकारों ने फ्लावेर का पदानुसरण करके कला का जीवन और समाज से नाता तोड़ दिया है, ऐसा कहना गलती न होगी।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में एक और कलाकार ने पूँजीवादी समाज के घात-प्रतिघात से मर्माहत होकर मनोजगत में अपना नीड़ बनाया था। वह है हेनरी जेम्स। यूरोप का पूँजीवादी समाज ध्वंसोन्मुख है, और उस समाज में कलाकार के लिए कोई नयी वस्तु नहीं जिसकी सृष्टि करे। इस सम्बन्ध में जेम्स सचेत था। इसके बाद आत्म-शक्ति पर श्रद्धा बढ़ने के साथ-साथ उसने अतीत की ओर दृष्टि फेरी। सभ्यता के अतीत गौरव ने उसे मुग्ध किया। जेम्स ने अपने व्यक्तिगत विश्वास तथा अविश्वास के मापदण्ड से संसार की सभी वस्तुओं को नापा। इसीलिए जेम्स की रचनाओं में विरोध (contradiction) विशेष रूप से स्पष्ट दिखलायी पड़ा है। यह विरोध प्रायः सभी आधुनिक लेखकों की विशिष्टता है। जेम्स ने एक ओर पूँजीवादी समाज-व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह किया, और दूसरी ओर दुर्दम आत्माभिमान के कारण व्यक्ति की अलग दुनिया बसाई, और परिस्थिति को अस्वीकार कर परोक्ष रूप से उसी पूँजीवादी व्यवस्था को स्वीकार किया। जेम्स का यह मनोभाव इस युग के जेम्स ज्वायस, विण्डहम लेविस आदि कलाकारों में स्पष्ट रूप से दीख पड़ता है।

कुछ तरुण कलाकारों का दल पूँजीवादी दृष्टिकोण की इस सौमित्ररेख से बाहर आकर मानव और समाज को स्वस्थ दृष्टि से देखने लगा है, और उसके द्वारा अंग्रेजी उपन्यासों में एक नये युग का सूत्रपात हुआ है। उनका परिचय फिर कभी।

★

पुरखों की देहली

●

[गंगाप्रसाद मिश्र]

मिशन स्कूल के चपरासी बरारू के बारे में वहाँ के लोगों की दो बिल्कुल विरोधी राएँ हैं। हेडमास्टर और मास्टरों की राय में वह बड़ा ही मक्कार काम चोर, मुँह का मीठा और परले सिरे का चोर है, परन्तु विद्यार्थी लोग उसे बड़ा ही मिलनसार, फायदेमन्द, नम्र और मेहनती आदमी समझते हैं। बरारू इस स्कूल में तभी से काम कर रहा है जब से यह खुला है यानी तीन साल से और इसी कारण इस स्कूल के दैनिक जीवन में वह इस प्रकार घुल मिल गया है कि इतनी बुराइयों के देखने पर भी हेडमास्टर साहब उसकी नौकरी को बरकरार रखे हुए हैं।

यदि यह पूछा जाय कि बरारू स्कूल में कौन काम करता है तो पीर बवर्ची भिश्ती खरवाली कहावत याद आती है। अपनी उस कोठरी में से जो मैनेजर साहब ने बड़ी कृपा करके हेडमास्टर साहब के पयखाने के बराबर बनवादी थी, बरारू अपना स्याह मँझोला शरीर, चमकती हुई काली आँखें और चिन्ता की रेखाओं से चित्रित मस्तक लिये हुए सुबह चार बजे निकल आता है। नित्यकर्म से छुट्टी पाकर वह हेडमास्टर साहब की गाय भैंसों-को दुहता है, वर्तन माँजता है, झाड़ू-बुहारू करता है, सौदा-सुलुफ लाता है तब स्कूल में पहुँचता है। स्कूल में सफाई रखना, घण्टा बजाना, चिट्ठी लगाना इत्यादि इत्यादि काम सब उसी के जिम्मे हैं। स्कूल का वक्त खत्म होने पर फिर हेडमास्टर साहब के बँगले पर उसकी ड्यूटी शुरू हो जाती है जो उस वक्त खत्म होती है जब वह उनके सोने के बिछौने बिछा चुकता है। रात के नौ साढ़े नौ बजे आकर बरारू रोटी बनाता है, सिर्फ रोटी ही, जो नमक-मिर्च के साथ पानी की सहायता से वह गले से उतार लेता है। दाल-तरकारी तो कहीं साल में दो-एक बार बन पाती है जब हेडमास्टरनी कृपा करके एकाध बार के लिये दे डालती है।

इतना अधिक काम होने पर भी बरारू कभी झींखता या चिड़चिड़ाता हुआ नहीं दिखलाई देता, सदा एक हल्की-सी मुस्कराहट उसके चेहरे पर दिखाई देती है और जहाँ काम के लिए उसे बुलाया गया वह हेडमास्टर साहब को सर्कार, मास्टरों को बाबू और लड़कों को भैया कहकर फौरन उनका हुक्म बजा लाता है, कभी किसी प्रकार की ढील नहीं डालता। तलब उसे सिर्फ आठ ही रुपए मिलती है, जिसमें से तीन रुपए तक खाने-पीने में खर्च हो जाते हैं, और बाकी वह कोठरी में गाड़कर रखता है अगर कभी उसकी तक़दीर ने ज़ोर मारा और अपनी पहुँच के अन्दर उसे किसी के रुपए-पैसे मिल गये तो वह उन्हें बिना किसी तरह की हिचकिचाहट के गायब कर देता है और अपनी कोठरी के

उसी गड्ढे में फौरन पहुँचा देता है। शाहखर्ची करते हुए वह कभी नहीं देखा जा सकता, बड़ा ही कंजूस है, एक-एक पैसा दाँत से पकड़ता है। कभी कोई नया कपड़ा पहने हुए उसे किसी ने नहीं देखा, हमेशा लड़कों के दिये हुए फटे-पुराने कपड़े ही उसके शरीर पर दिखलाई देते हैं। लेकिन दिन पर दिन उसके मुख पर चिन्ता की रेखाएँ गहरी ही होती चली जाती हैं इतनी गहरी की सदा मुख पर रहनेवाली मुस्कराहट उन्हें छिपा नहीं पाती।

इसी तरह बरारू का जीवन रूपी ठेला ढिच्चर-ढिच्चर करके आगे बढ़ता जाता है, कहा जा सकता है कि सुचारु रूप से और अक्सर एक रस। उसमें परिवर्तन होने की सम्भावना तभी मालूम होती है जब बरारू कहीं हाथ की सफाई दिखला देता है और सर्कार खफा हो जाते हैं, वे धमकी देते हैं—नौकरी से बरखास्त करने की, कभी-कभी मन में ऐसा निश्चय भी करते हैं पर फिर उसकी सेवाओं का ख्याल करते हैं, और उसे धक्का देकर कहते हैं—जा बाहर अपना काम कर बेईमान चोट्टा।' इसके बाद कहते हैं—वह अपनी आदत से मजबूर है तो तुम लोग अपने रुपए-पैसे से होशियार क्यों नहीं रहते, कितनी बार तो तुम लोगों को समझा चुका।

× × ×

अप्रैल का महीना था, स्कूल में इम्तहान हो रहे थे, आजकल काम और ज्यादा बढ़ गया था। रात के बारह बज रहे थे परन्तु बरारू की आँखों में नींद न थी वह अपनी कोठरी के सामने पड़ी हुई खाट पर लेटा हुआ आसमान की ओर देखता हुआ न जाने क्या सोच रहा था। उसकी वह चिन्ता ही उसकी नींद में बाधक हो रही थी। इतने में उसे पैरों की चाप सुनाई पड़ी, सिर उठाकर देखा तो ओमप्रकाश चला आ रहा है।

ओमप्रकाश स्कूल का सबसे अच्छा खिलाड़ी, सबसे खराब पढ़नेवाला और बड़ा ही मुँहज़ोर लड़का है। स्कूल वह इसलिए आता है कि यह उसका एक प्रकार का व्यसन हो गया है अथवा इसलिए कि यहाँ उसके मनोरंजन का सामान काफी इकट्ठा रहता है। दिन भर में एकाध घंटे किसी क्लास में चला गया तो चला गया वर्ना वह भी नहीं, हमेशा किसी न किसी मैच का प्रबन्ध करता होता है। इम्तहान के दिन उसके लिए बला के दिन होते हैं; अगर किसी तरह पेपर आउट होने का जुगाड़ लग गया तब तो कहना ही क्या है वर्ना बड़ी सफाई से नकल करता है और इस तरह अगर तकदीर चेत गई तो दर्जा पा जाता है वर्ना फिर उसी में पक्का होने के लिए रुक जाता है। आज ऐसे ही कुछ फेर में वह इस समय स्कूल आया है।

बरारू ने उसे देखते ही कहा—पायँ लागी भैया, एह बखत कहाँ भूलि परेव ?

'बात यह है बरारू !' ओमप्रकाश ने बड़ी लापरवाही से उत्तर दिया— कि आज एक गोरे से अभी लड़ाई हो गई, उसको हम लोगों ने मार के गिरा दिया। चलते वक्त जेबों की तलाशी ली तो उसमें एक अद्धा दारू का मिला। हम तो तुम जानते हो कि ब्राह्मण आदमी दारू छू नहीं सकते, सोचा चलें बरारू ही को दे दें। तुम तो दारू पीते होगे बरारू !'

बरारू की आँखों में प्रसन्नता और प्रेम के आँसू झलकने लगे। गदगद कण्ठ से

वह बोला—अरे भैया कहाँ मिलती है दारू अब ! जब बापू जिन्दा थे, हमको घर की फिकिर न थी तब फादिल पैसे मिल जाने पर कभी-कभी कलवरिया जाकर सराब-ताड़ी पीते थे, अब इसकी गुंजाइस कहाँ, चार-पाँच साल हो गये एक बूँद आचमन करने तक को नहीं मिली। आपने बड़ी किरपा की भैया जो हमारे ऐसे गरीब आदमी का ख्याल रखा, आपके ऐसे गरीबपरवर न होयँ तो हम लोग कैसे जियैं। यह कहकर लगभग झपट के ही बरारू ने शराब का अद्धा ओम के हाथ से ले लिया और काग निकालकर गट-गट पीने लगा।

जब खाली करके उसने बोतल रखी तो ओम बोला—क्यों बरारू हमारा भी कुछ काम कर सकते हो ? पाँच रुपए और देंगे।

'पाँच रुपिया, एक, दो, तीन, चार, पाँच। कौन काम है भैया ? करबै काहे न, आप हमारा इतना ख्याल रखौ तो हमौंका तो कुछ करैं का चही, बताओ का हुकुम है ?'

'अच्छा, तो जरा सीढ़ी लैके दफ्तर तक चलो।'

× × ×

दूसरे रोज सबेरे जब हेडमास्टर साहब को बरारू के झाड़ू देने की आवाज न सुनाई पड़ी तो उन्हें कुछ चिन्ता हुई। इतने साल उसे नौकरी करते हो गये थे, पर आज तक कभी ऐसा न हुआ था। वे भरभराकर उठ पड़े। उसकी कोठरी के सामने जाकर देखा तो चारपाई खाली पड़ी थी, स्कूल की ओर बढ़े तो देखा मैदान में बरारू एक सीढ़ी लिये पड़ा हुआ है। सीढ़ी देखकर उनका माथा ठनका, दफ्तर तक पहुँचे वहाँ देखा वेन्टीलेटर (हवा जाने के लिए ऊपर बनी हुई खिड़की) के पास से दीवार का चूना गिरा है, शक और भी बढ़ा। दफ्तर खोला, सब ठीक था, आलमारी खोली तो नवें दर्जे के आज के हिसाब के पर्चेवाला लिफाफा फटा हुआ था और उसमें एक पेपर कम था। पलक मारते ही उनकी समझ में सब माजरा आ गया।

दफ़्तर बन्द करके वे फिर बरारू के पास पहुँचे, और उसे जगाने की कोशिश की, तब उन्हें न मालूम हुआ कि वह नशे में है। बड़ी देर में बुरबुराकर बोला—हम कुछ नहीं जानित, सोइत हैं, दारू थोड़े ही पिये हैं नशे में नहीं है ओम भैया दारू दिहिन हैं।

उस रोज हेडमास्टर साहब के तीन हुक्म निकले- नवें दर्जे का हिसाब का इम्तहान आज नहीं होगा, उसकी तारीख की सूचना बाद में दी जायगी, नवें दर्जे का ओमप्रकाश शुक्ला आज से इम्तहान नहीं दे सकता और बरारू चपरासी नौकरी से बर्खास्त किया जाता है।

× × ×

दोपहर का वक्त था, गर्मी जी खोलकर पड़ रही थी। कमरे में पड़ा हुआ ओमप्रकाश सोच रहा था कि अब की बार पिताजी को दर्जा न मिलने का क्या कारण बताएगा कि बाहर से आवाज आई—भैया !

बाहर निकलकर देखा बरारू खड़ा हुआ है, उसका टूटा सन्दूक और उसकी

छोटी-सी गिरस्ती सब उसके कन्धे पर है। ओमप्रकाश को देखने ही वह चबूतरे पर धक से बैठ गया और उसके पैर पकड़कर बोला—नौकरी छूट गई भैया, हम गरीब आदमी अब कैसे पार होई, खाय का ठिकाना नहीं अब आपै का सहारा है। ओमप्रकाश ने उसे कमरे में आने का इशारा किया और आरामकुर्सी पर पड़कर सोचने लगा—यह गरीब मेरी ही वजह से तो हलाल हुआ है, मुझी को चाहिए इसकी रोजी का इन्तजाम करूँ। पचास साठ रुपये हर महीने फूँक देता हूँ थोड़ा समझ-बूझ के रहूँ तो इसका भी गुजारा हो सकता है। इसके रहने से आराम भी बहुत हो जायगा। बोला—अच्छा बरारू रहो यहाँ, जो तलब स्कूल में तुम्हें मिलती थी वही मैं भी दे दिया करूँगा। खाना तो तुम बना लेते हो न? हमारे लिए भी बना लिया करना। रुपए मुझसे लो और बाजार से सामान लाकर रख लो।

'आप हमारा बनावा भवा खैहौ भैया?'

'हाँ हाँ, खायँगे क्यों नहीं जब होटल में खा लिया तो बाकी क्या रह गया?'

उसी रोज से बरारू ओमप्रकाश के यहाँ रहता है, स्कूल को देखते हुए यहाँ उसके पास बहुत थोड़ा काम है। एक डील का काम ही कितना, और वह भी ओम ऐसे सैलानी आदमी का। जब जी में आती है कह देता है 'बरारू आज रोटी का झंझट हटाओ, बाजार से पूरी ले आओ जाके।' तब बरारू अपने भैया के साथ-साथ पूरी ही छकते हैं। थोड़ा सुख, आराम और अच्छा खाना-पीना पाकर वह अब कुछ मोटा भी हो चला है लेकिन उसकी दो बातों में अन्तर नहीं आया—एक तो उसकी कञ्जूसी नहीं जाती दूसरे उसके मस्तक पर की वे चिन्ता-रेखाएँ, वे दिन पर दिन गहरी ही होती जाती हैं।

× × ×

पाँच साल बीत गए।

ओम हाईस्कूल पास करके अब अजगैन में असिस्टेण्ट स्टेशन मास्टर हो गया है। भले आदमी की संज्ञा चाहे अब भी उसे न दी जा सके पर गृहस्थ अब उसे पूर्णतया कहना ही होगा, क्योंकि कल ही वह विवाह करके लौटा है।

शाम के वक्त बरारू की जरूरत पड़ी, अपने गाँव के बड़े मकान के पिछवाड़े जाकर ओम ने देखा—बरारू एक पुराने कपड़े पर बहुत-से रुपए और रेजगारी लिए हुए उसमें उलझ रहा है।

'ये इतना रुपया तू काहे के लिए इकट्ठा कर रहा है, बरारू?'—ओम ने पूछा।

'मूरखता है भैया और क्या कहैं।'

'आखिर बता तो।'

'बात ये है भैया कि हमारे बापू जरा खरचीले आदमी रहे। परिवार भी हमारा बहुत बढ़वारा रहा। दुइ बिटियन का बियाव भी किहिन ओही में कर्जा हुई गया। महाजन घर-दुआर सब लैलिहिस। हमरे बापू अपनी जिन्दगी में ऊ न छुड़ाय पाए। जब मरै लगे तो बोले—'बेटा तुम हमार सराध तेरही चाहे न किहेव लेकिन अपने पुरखन की देहली महाजन के हाथ ते जरूर छुड़ाय लिहेव, जब तक ई न होई हमरी आत्मा का

शान्ती न मिली।' आज आठ बरसन से हम ओही के लिए रुपया जुटाय रहेन है। देखौ कब भगवान ऊ दिन दिखावत है। एही के वास्ते धरम-अधरम सब किया, दीन-इमान सब छोड़ दिया।'

'तुम्हें कुल चाहिए कितना रुपया ?'

'नौ सौ भैया !'

'और है कितना तुम्हारे पास ?'

'पान सौ पन्द्रा।'

'अच्छा बाकी मैं दूँगा, तुम अपना घर छुड़ा लेव।'

'सच ! भैया सच !!' कहकर बरारू ओमप्रकाश के पैरों में लिपट गया।

× × ×

पन्द्रह रोज़ बाद बरारू अपना सूखा हुआ मुँह लिये हुए फिर ओम के सामने आ खड़ा हुआ।

'क्यों रे घर छूट गया तेरा ?'

बरारू धम्म से वहीं बैठ गया, उसके नेत्रों से आँसू बह रहे थे, बड़ी देर में उसने कहा—नहीं भैया।

'क्यों ?'—ताज्जुब से ओम ने पूछा।

गला साफ करके बरारू बोला—महाजन कहता है भैया, कि तुम पर अब व्याज समेत हमारे चौदस सौ रुपए निकलते हैं, पूरे दे तो घर छूट सकता है।

'तो वह रुपए वापिस ले आया है न ?'

'वह तो उसने पहिले ही ले लिये थे तब अपना खाता निकाला था।'

★

अहिंसा : एक विवेचन

●

[नेमिचन्द्र जैन]

हिंसा की ज्वालाओं से आज जब संसार में हाहाकार मचा हुआ है तो किसी भी मनुष्य के मन में हिंसा के प्रति विद्रोह होना स्वाभाविक ही है। आँख खोलते ही आज दिखाई पड़ता है कि मनुष्य के भीतर के दानव को कैसा खुल खेलने का अवसर मिल गया है और अपनी उन्मत्तता में उस दानव ने देवत्व तो दूर मनुष्यत्व तक को भुला दिया है। यह देखकर आदमी फिर आँखें मूँदता है और मन में कहता है कि दानव झूठ है, देवत्व ही सही। और क्योंकि आँखों से दीखनेवाले वास्तव प्रवाह में बह जाने का उसे डर है इसलिए वह ज़ोर से चिल्लाकर कहता है कि मार्ग देवत्व है, दानव कुछ नहीं है। और इस

प्रकार अपने कहने के जोर से मानो यह सिद्ध कर देना चाहता है कि दानव है ही नहीं। असल में अपने विकास के क्रम में मनुष्य ने पशुत्व से चाहे कितना ही कम छुटकारा पाया हो, कम से कम उसकी आँखें—बुद्धि की आँखें— अवश्य ही आसमान की ओर (अर्थात् देवत्व की ओर) लगी रही हैं। अपनी बुद्धि से उसने अपने पशुत्व से इन्कार करके देवत्व को ही महत्व देने का प्रयत्न किया है, चाहे फिर उस पशुत्व का दावा उसके ऊपर कितना ही अधिक क्यों न रहा हो। बहुत बार इसीसे अपने उत्साह में उसने यहाँ तक कह डाला है कि दानव माया है, भ्रम है वास्तव तो देवता ही है। अपने इस देवता को आदमी कुछ भाव-वाचक अमूर्त्त प्रतीकों द्वारा व्यक्त करता है और 'अहिंसा' भी उसका एक ऐसा ही देवत्व का भाव-वाचक प्रतीक है। उसके द्वारा वह अपने देवत्व के चरम आदर्श की घोषणा करता है ; उस शब्द के सहारे (और साथ ही उस शब्द के पीछे के concept के सहारे भी) वह बार-बार अपने देवत्व को याद करना चाहता है।

और सच पूछा जाय तो 'अहिंसा' नामक इस शब्द का तथा concept का महत्व ही यह है कि वह मनुष्य की देवत्व की खोज का परिचायक है, उसकी देवत्व की कल्पना का एक विशिष्ट और महत्तम भाग है। इससे यह भी स्पष्ट है कि अहिंसा अभी तक मनुष्य के ध्येय और आदर्श को ही सूचित करती रही है। सत्य यह है कि वह ध्येय के अतिरिक्त और कुछ सूचित नहीं कर सकती। वह मनुष्य के विकास की गति में क्रम से विकसित होनेवाला एक अमूर्त्त तत्व मात्र है। अपने अधिक चैतन्य और जागरुक पलों में अहिंसा की भावना से आदमी अपने को अधिक उन्नत (elevated) अनुभव कर सकता है। क्योंकि अहिंसा का अर्थ है व्यक्ति व्यक्ति के पारस्परिक संघर्षों का अभाव तथा अपने आस-पास के व्यक्तियों से, समाज से विरोध का अंत—जब वह अपने विकास में दूसरों से नहीं टकराता न दूसरे ही उसके कारण अपने विश्वास में बाधा अनुभव करते हैं। किंतु ईमानदारी से आदमी आज केवल यही अनुभव नहीं करता कि वह ऐसी अवस्था से काफ़ी दूर है, बल्कि वह यह भी अनुभव करता है कि ऐसी अवस्था लाना लाख प्रयत्न करने पर भी संभव नहीं हो पाती। क्योंकि निश्चित ही उस आदर्श की ओर चाहे जितनी दृष्टि लगाये रखने पर भी अपने विकास-क्रम में वस्तु-जगत (objective world) पर उसका इतना प्रभुत्व अभी नहीं हो पाया है कि उस आदर्श का एक वास्तव सत्य बनना संभव हो सके। अधिकांश अहिंसा के चिंतक इसी बात को बिलकुल भूल जाते हैं—कि मनुष्य को अभी और भी कई मंजिलें पार करनी होंगी जब वह पूरे और अबाध विश्वास के साथ अहिंसा के अपने सपने को वास्तव में उतार सकेगा ; कि अभी बहुत कुछ शेष है जिसके पहले 'अहिंसा' एक आँख मूँदकर देखने का सपना मात्र ही बना रहेगा। इसी लिए ऊपर कहा कि अहिंसा भाव-वाचक तत्व है। अभी आप उसे वास्तव में उतारने का लगिये तो वह कपूर की भाँति उड़ने लगता है। यहाँ तक कि थोड़े ही काल में आँख खोलकर देखने पर आपको नहीं मिलेगा। तब तक उसने आपको नाना प्रकार के नये-नये रूपों और स्वरूपों में बदल लिया होगा। कभी-कभी तो वह घोर हिंसा तक हो चुकी होगी। इस युग के अहिंसा के सबसे बड़े

पैगम्बर गाँधीजी ने भी बार-बार यही पाया कि अन्ततः उनकी कल्पना की अहिंसा वास्तव को छूते ही बदल जाती है। कारण वही है कि अहिंसा को वास्तव जगत में उतारने तथा पाने योग्य मनुष्य तथा उसका समाज अभी नहीं बन सका है। आज के समाज में तो अहिंसा का सिद्धान्त केवल wishful thinking मात्र है क्योंकि बात यह है कि आदमी के विचारों के तर्क से बाहर की घटनाओं का तर्क नहीं चलता। आदमी के विचारों के तर्क को घटनाओं का भी तर्क बनने के लिए जिन विशिष्ट परिस्थितियों की आवश्यकता होती है, अहिंसा के लिए वे अभी बन नहीं पाई हैं, चाहे आज के हिंसा से त्रस्त संसार को अहिंसा की कितनी भी आवश्यकता क्यों न हो। मात्र आवश्यकता के अनुभव से ही किसी वस्तु का हो सकना संभव नहीं होता।

विचारों के इस तर्क या उनकी गति का बाह्य परिस्थिति की गति के साथ दोहरा सम्बन्ध है। एक ओर तो मानव समाज में पूर्ण रूप से आमूल परिवर्तन होने के बहुत पहले ही उस परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव होने लग जाती है। कोई भी सामाजिक संगठन मनुष्य की जीविका के साधनों के अनुरूप ही होता है। किन्तु जीविका के साधन सामाजिक संगठन की अपेक्षा अधिक पहले और शीघ्र गति से बदलते हैं। साथ ही इन साधनों के साथ ही साथ मनुष्यों की विचार-धारा भी बदलती है। इसीलिए विचारों की अपेक्षा सामाजिक संगठन की गति अधिक धीमी होने के कारण, उसमें परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव हो जाने के बाद भी, यद्यपि वह धीरे खिरता तो रहता है पर उसमें कोई विशिष्ट अथवा आमूल परिवर्तन तब तक नहीं होता जब तक कि यह धीरे-धीरे होनेवाला परिमाण-सम्बन्धी (quantitative) परिवर्तन एक झटके—जिसको ही हम क्रान्ति कहते हैं—के साथ गुण सम्बन्धी (qualitative) परिवर्तन का रूप नहीं ले लेता। इसीलिए एक हद तक यह सत्य है कि प्रत्येक प्रकार का सामाजिक परिवर्तन मानसिक परिवर्तन के पीछे-पीछे चलता है। बात ध्यान में रखने की यह है कि परिवर्तन की मानसिक आवश्यकता भी बाह्य आवश्यकता का ही एक reflex मात्र है।

इसके अतिरिक्त दूसरी ओर यह भी होता है कि सामाजिक परिवर्तन हो जाने के बाद भी पुराने विचार संस्कारों के रूप में हमारे साथ लगे ही रह जाते हैं। या कि आमूल परिवर्तन होने के पहले उस परिवर्तन की तीव्र आवश्यकता अनुभव करने पर भी संस्कारवश तथा परिस्थितियों के प्रभाव के कारण हम परिवर्तन का विरोध ही करते हैं।

हिंसा-अहिंसा की समस्या को ऊपर कही बातों के प्रकाश में समझें तो जान पड़ता है कि एक ओर तो अभी भी मनुष्य की सामाजिक तथा अन्य बाह्य परिस्थितियों के विकास द्वारा किसी ऐसे समाज की स्थापना नहीं हो सकी है जिसमें अहिंसा को प्रत्येक व्यक्ति एक व्यवहार्य सत्य मानकर चल सके। क्योंकि अपने जीवन के प्रत्येक क्षण में वह ऐसी परिस्थितियों का सामना करता है जहाँ वह अहिंसा द्वारा जीवन के साधनों को अपने वश में नहीं रख सकता। अभी भी प्रत्येक मनुष्य का अपने कार्यों का मापदंड अहिंसा नहीं है और जब तक अधिकांश मनुष्य उस मापदंड को स्वीकार न कर लें तब तक उसके अनुसार किये गये कार्य इच्छित फल की प्राप्ति कराने में सफल नहीं हो सकते। और

क्योंकि ऊपर से एक ही काल में सब व्यक्तियों को वह मापदंड स्वीकृत नहीं कराया जा सकता इसलिए आवश्यकता इस बात की है ऐसी बाह्य परिस्थितियाँ और सामाजिक संगठन उपस्थित किया जाय जब वह मापदंड सबको एक साथ मान्य हो सके। दूसरी ओर हिंसा की भावना संसार में अभी भी इतने शक्तिशाली रूप में—परिस्थितितों के, मूलत: सामाजिक संगठन के कारण ही—वर्तमान है कि उसकी चुनौती के आगे अहिंसा सामूहिक रूप में तो निरर्थक और अशक्त जान पड़ती है। बात यही है कि अभी भी परिस्थितियों का तर्क हिंसा को ही रस देता है, इसलिए अशरीरी अहिंसा कोरी भाववाचक बन कर ही रह सकती है।

सत्य यह है कि अहिंसा की समस्या को (जो वैसे मनुष्य की एक महत्व-पूर्ण समस्या है) गलत रीति से देखा गया। अहिंसा को सदा ही बाहर से संसार पर, व्यक्ति पर थोपने की चेष्टा की गई, उसके पनपने योग्य बाह्य परिस्थितियों को उत्पन्न किये बिना ही उसका उपदेश दिया गया। फलत: बुद्ध और महावीर जैसे मनीषी भी असफल हुए और एक सच्चे मानव धर्म के स्थान पर एक खोखले आडम्बरपूर्ण सम्प्रदाय के अतिरिक्त और कुछ न बना पाये। गाँधीजी भी इसीलिए एक अव्यवहार्य, अस्पष्ट 'गाँधीवाद' के अतिरिक्त और कुछ न बना सके। असल में ये सब चिन्तक उलटी दिशा से अहिंसा की ओर पहुँचे हैं। उसको उन्होंने परिस्थितियों के तर्क के द्वारा नहीं मन के तर्क के द्वारा पाया है। इसीलिए परिस्थितियों का सत्य वह नहीं है, मन का सत्य हो तो हो; समष्टि का सत्य नहीं है एक व्यक्ति का सत्य हो तो हो। उसमें आधार की इतनी कमी है कि वह हमेशा हवा में रहता है—जहाँ पर आप चाहें तो उसकी प्रशंसा तो कर सकते हैं पर उसे अपना नहीं सकते।

अहिंसा को अपनाने और उसे साधन मानने की व्यर्थता हिन्दुस्तान के राजनैतिक आन्दोलन की ओर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाती है। उस रूप में उसके अर्थ में एक प्रकार की रहस्यमय दुर्बोधता तथा अनेक प्रकार की असङ्गतियों (contradictions) के अतिरिक्त हम देखते हैं कि शायद ही दो अहिंसावादी कांग्रेसी उसके एक अर्थ पर सहमत होते हैं—यह बात तो अलग ही है कि उनमें से कोई भी उसे उस प्रकार नहीं समझता जैसे गाँधीजी समझते हैं। अधिकांश लोगों के निकट वह इसीलिए मान्य है कि हमारे पास दूसरा और कोई साधन नहीं है। जापानी राजकवि की बात कि 'अहिंसा एक पराजित देश की कविता है' (Ahimsa is the poetry of a defeated nation) बिल्कुल सत्य है। वह आज हमारे लिए अवसर के तर्क के कारण ही उपादेय है। कुछ भाव विचारकों को छोड़कर बाकी कांग्रेस के सभी सदस्यों, स्वयं वर्किङ्ग कमेटी का अहिंसा के प्रति नितान्त अवसरवादी दृष्टिकोण है। उनके लिए निश्चय ही अहिंसा अपने आप में महत्वपूर्ण नहीं है और वे उसे छोड़ने के लिए कभी भी प्रस्तुत हो सकते हैं यदि अपने स्वार्थसाधन ('स्वार्थ' शब्द को अधिक संकीर्ण अर्थ में न लीजिये तो भी काम चल सकता है) के लिए उनके सामने कोई अन्य मार्ग हो। इसीलिए जब भी उसे छोड़ने का अवसर उन्हें दिखाई पड़ता है तो गाँधीजी को कांग्रेस से अलग होना पड़ता है। किन्तु जब कांग्रेस के संचालकों को पता चलता है कि अहिंसा को छोड़ने से भी कोई विशेष लाभ नहीं है तो

फिर अहिंसा में अपने अटल विश्वास का इजहार करके वे कांग्रेस की बागडोर गाँधीजी के अहिंसात्मक हाथों में सौंप देते हैं और इस प्रकार उस राजनैतिक आन्दोलन के साथ एक दर्शनीय खिलवाड़ चलता रहता है। स्वयं गाँधीजी अपनी अहिंसा के सम्बन्ध में अधिक स्पष्ट हों यह बात नहीं है। कम से कम अहिंसात्मक मार्ग के लिए उन्हें प्रायः एक आन्तरिक प्रकाश के ऊपर निर्भर रहना पड़ता है जो परिस्थितियों से परिचालित होकर उनको समझने और उनका सामना करने का मार्ग प्रस्तुत करे ही ऐसा आग्रह आप नहीं कर सकते। वह अतर्क्य (unquestionable) है अर्थात् वह कोई मार्ग नहीं है!

मुश्किल यही है कि साधन के रूप में अहिंसा के कोई मानी होते ही नहीं। क्योंकि अहिंसात्मकता अभिप्राय से नहीं परिणाम से आपको जाननी होगी। अहिंसात्मक अभिप्राय से भी आप किसी को मार डाल नहीं सकते। इसी प्रकार आप अपने अधिकार को माँगने में भी यदि किसी को दुःख पहुँचाते हैं तो आपका कार्य अहिंसात्मक नहीं है। चाहे आपके अधिकार की दृष्टि से वह ठीक (justifiable) हो। उसको अहिंसात्मक कहकर आप निश्चित ही अहिंसा के अर्थ को विकृत करते हैं। यह ठीक है कि दूसरा व्यक्ति आपका अधिकार छीनकर आपके प्रति हिंसा कर रहा है किन्तु आपका अधिकार छीनने से उसे मिलनेवाले उसके सुख में बाधा डालकर आप भी यह नहीं कह सकते कि आप अहिंसात्मक मार्ग ग्रहण करते हैं। उस समय निश्चित ही अपने कार्य को अन्य कारणों से सर्वथा उचित मानकर हिंसा का हिंसा से ही सामना करते हैं।

भारतवर्ष की स्वतंत्रता की माँग को भी हम जब अहिंसात्मक कहते हैं तो एक विरोध को हम भूल जाते हैं। स्पष्ट ही उस माँग के यही तो अर्थ हैं कि स्वतंत्रता हमारा अधिकार है और हम इस अधिकार की बात को अंग्रेजों के हृदय पर अङ्कित कराकर उनसे यह आशा कर सकते हैं कि मनुष्य होने के नाते उन्हें हमारा अधिकार हमें वापिस दे देना चाहिए। मनुष्य मनुष्य सब समान हैं और इस बात को स्वीकार करना ब्रिटेन को उचित है। अब प्रश्न यही है कि क्या उसके उचित होने मात्र से उसका होना संभव हो सकता है? हम कहते हैं कि नहीं हो सकता। क्योंकि वह भारतवर्ष के लिए इस समय उचित होने पर भी ब्रिटेन के लिए हितकर नहीं है। इंगलैंड एक उद्योग-प्रधान (Industrial) देश है और इसलिए कच्चे माल की खरीद के लिए और तैयार माल की खपत के लिए उसे उपनिवेश चाहिए ही ताकि वह संसार की आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता में खड़ा रह सके, अपना अस्तित्व बनाये रख सके। वर्तमान आर्थिक और सामाजिक संगठन के रहते भारतवर्ष की स्वतंत्रता उसके अस्तित्व का प्रश्न बनकर उसके सामने आती है। एक ओर तो एक प्रकार के नैतिक औचित्य और अनौचित्य का प्रश्न है और दूसरी ओर इंगलैंड की महत्ता और उसके जीवन-मरण का प्रश्न। निश्चित ही अपने औचित्य के लिए ब्रिटेन के नष्ट होने की माँग अहिंसात्मक नहीं मानी जा सकती। सत्य यह है कि आज ब्रिटेन और भारतवर्ष के हित परस्पर विरोधी हैं। इसलिए आप बिना हिंसात्मक हुए अपना अधिकार प्राप्त नहीं कर सकते और इसी से जब आपके अपने अधिकारों का प्रश्न है तब आपके सामने यह विचार

उठता कि हमारी माँग और हमारा मार्ग हिंसात्मक है अथवा अहिंसात्मक सर्वथा अनावश्यक और निरर्थक है। मुख्य बात यही है कि हमें अपने अधिकार चाहिए और हम चिन्ता नहीं करते कि वे हमें कैसे मिलते हैं। कम से कम अपने साधन के विचार में साध्य को तो भुलाया नहीं जा सकता। और वह भी जब कि हिंसा-अहिंसा का प्रश्न साधनों के विचार में भी निरर्थक है।

अहिंसा का राजनैतिक अन्दोलन में निरर्थक होने के अतिरिक्त एक और भी प्रश्न है कि क्या वह हमारे साध्य की प्राप्ति के लिए उपयोगी हो सकती है? ब्रिटेन के जिस शासकवर्ग से हम अहिंसात्मक ढंग से अपनी स्वतन्त्रता के लिए भीख माँगते हैं और उसे उसके मनुष्यत्व की याद दिलाते हैं, वह क्या स्वयं ब्रिटेन के सभी व्यक्तियों के प्रति उदार है? जिस प्रेम को हम उस वर्ग में भारत के प्रति उत्पन्न करना चाहते हैं वह क्या उनमें सभी ब्रिटेन निवासियों के प्रति भी है? निश्चित ही नहीं है। भारत से अपेक्षाकृत अच्छा होकर भी ब्रिटेन का जन-समुदाय सुखी अवस्था में नहीं है। साम्राज्य से प्राप्त होनेवाले धन से केवल कुछ ही मुट्ठी भर पूँजीपतियों की जेबें गर्म हो रही हैं। ऐसी अवस्था में क्या कभी भी उस शासक-समुदाय से अपना स्वार्थ छोड़कर भारत के हित के लिए कुछ करने की अपेक्षा की जा सकती है जब कि वह शासक-समुदाय स्वयं अपने देश-वासियों के लिए भी अपने स्वार्थ को तिलमात्र भी कम करने को तैयार नहीं है। ऐसी समाज-रचना में हिंसा-अहिंसा के प्रश्न को उठाना केवल घोर बौद्धिक दिवालियापन का ही चिन्ह हो सकता है। (यद्यपि वह बौद्धिक दिवालियापन इतना निरर्थक नहीं है यह हम आगे देखेंगे)। आवश्यकता इस बात की है कि वह समाज-रचना टूटे, और फिर से नये ढंग से हम अपने सामाजिक और आर्थिक शक्तियों को संगठित करें। हिंसा और अहिंसा का प्रश्न आज बिल्कुल बेमानी है।

ऊपर की सब चर्चा अहिंसा को मानवत्व का आदर्श मानकर की गई है। जैसा पहले कहा गया है, इस संदर्भ में अहिंसा का अर्थ है शोषण का अभाव। एक व्यक्ति का दूसरे के ऊपर अम्बरबेल के समान जीना ही सबसे बड़ी हिंसा है। इसका यह अर्थ नहीं है कि व्यक्ति सर्वथा आत्मनिर्भर होने का दावा करेगा। आत्मनिर्भरता तो एक स्वप्न है। समाज का अस्तित्व ही इसलिए है कि सामूहिक क्रिया के बिना व्यक्ति अपने को सुरक्षित और सफल अनुभव नहीं करता। इस दृष्टि से पूर्ण अहिंसात्मक अर्थात् व्यक्ति द्वारा व्यक्ति के शोषण से रहित—समाज में व्यक्ति की समष्टि के ऊपर आश्रितता बहुत ही अधिक होगी क्योंकि तब व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिए दूसरों का उपयोग न करके उनके साथ मिलकर सर्वहित के लिए जी सकेगा। और इसमें वह अपने निजी हित को नष्ट नहीं पायेगा बल्कि तब वह अपनी चरम सार्थकता इसी में अनुभव करेगा कि वह अधिक से अधिक व्यक्तियों—अन्ततः सम्पूर्ण मानव-समाज के हित के लिए तत्पर है। साथ ही तब उसका यह मिथ्या दंभ छूट जायेगा कि वह समाज से कुछ नहीं चाहता। उसे अनुभव होगा कि अपनी प्रत्येक सुख-सुविधा के लिए, अपने जीवन तक के लिए—वह मनुष्य मात्र का ऋणी है। सामाजिक सम्बन्धों की यह अवस्था आने पर भी वह अपनी सम्पूर्णता में

अबोध होकर तथा बिना दूसरों को बाधा पहुँचाये विकसित होगा। उस समय मानव-समाज आवश्यकता की दुनिया (world of necessity) में से निकलकर स्वतंत्रता की दुनिया (world of freedom) में पहुँच चुकेगा। उसी क्षण मनुष्य पायेगा कि उसका अहिंसा का स्वप्न वास्तव में उतर रहा है।

स्पष्ट ही अहिंसा का यह दृष्टिकोण उसके अवसरवादी दृष्टिकोण से मौलिक रूप में भिन्न है। अहिंसा की, शान्ति की जीवन में उपादेयता और आवश्यकता तो है किन्तु यह ग़लत है कि आज की समाज-रचना में तथा उसमें उत्पन्न होनेवाले व्यक्ति-व्यक्ति के सम्बन्ध तथा उनकी मानसिक पृष्ठभूमि में आमूल परिवर्तन, या कि क्रान्ति के बिना अहिंसा को प्राप्त किया जा सकता है। साथ ही अहिंसा आज किसी भी रूप में हमारे कार्यों का मापदण्ड नहीं हो सकती क्योंकि वह मापदण्ड आज की परिस्थितियों में कोई अर्थ नहीं रखता ; न ही अहिंसा को हम किसी भी प्रकार से किसी वस्तु के लिए साधन मानकर चल सकते हैं। विशेष रूप से राजनैतिक आन्दोलन पर अहिंसा के आरोप के पीछे जाने-अनजाने स्वार्थ और अन्ततः हिंसा का ही समावेश नहीं है यह नहीं कहा जा सकता।

★

श्मशान

[रहबर]

तीसरे दर्जे का वह डिब्बा मुसाफिरों से खचा-खच भरा था और गाड़ी अपनी पूरी रफ़्तार से चल रही थी।

क्रान्तिकुमार बैठा सोच रहा था। विज्ञान का कथन है कि जितनी रफ़्तार से घोड़ा, गाड़ी अथवा साइकिल चल रही हो उतनी ही गति सवार की भी होती है। लेकिन जब वह अपने साथ बैठे मुसाफिरों पर दृष्टि डालता था तो उसे उनमें कोई हरकत—कोई जिन्दगी दिखाई न देती थी। चेहरों पर रौनक न आखों में चमक—मलिन उदासीनता का आत्महीन दृश्य !

अगरचे गाड़ी में '३२ यात्रियों के लिए' स्पष्ट अक्षरों में लिखा हुआ था, मगर वहाँ चालीस-पैंतालीस से कम यात्री न थे। शायद रेलवे की गाड़ियाँ सन् १९३२ की जन-संख्या के अनुसार तैयार की जाती हैं ; उसके पश्चात आबादी जिस क़दर अधिक हो गई है उसी अपेक्षा से यात्री अधिक भी बैठ सकते हैं। औरतों के डिब्बे यद्यपि अलग लगाये जाते हैं, फिर भी जिस तरह गाड़ियों में आकर छूतछात कुछ समय के लिए भूल जाती है उसी प्रकार औरतें भी मर्दों के शाना-बशाना बैठना पसन्द करती हैं। आखिर वे बेचारी

हैं भी तो मजबूर। उनके साथ बच्चे इस अधिकता से होते हैं कि पति की सहायता के बिना सँभालने मुश्किल हो जाते हैं।

क्रान्ति के सामने ही जो स्त्री बैठी थी उसकी दाहनी काँख में ढाई-तीन साल का बच्चा, बाईं काँख में कोई दो-डेढ़ साल का दूसरा, तीसरा लगभग पाँच-छः मास का गोद में और चौथा—शायद चौथा भी दुनिया देखने की तैय्यारी कर रहा हो। उसका पति भी पास की सीट पर सुकड़ा-सा बैठा था। उसकी उम्र पच्चीस साल से अधिक न होगी। जब कोई बच्चा किसी चीज़ के लिए मचलता था तो वह कभी पुचकारकर और कभी डपटकर चुप कराता था। पति की उम्र के अनुसार औरत की उम्र—यद्यपि वह देखने में अधेड़ उम्र दीख पड़ती थी—बीस-बाईस वर्ष से अधिक न होगी। पन्द्रह-सोलह वर्ष की अवस्था में उसकी शादी हुई। शादी से लेकर अब तक पाँच-छः साल के विवाहित जीवन में उसने अपनी जवानी की सर्व-शक्ति 'बच्चे बनाने' में खर्च कर दी। अब वह स्त्री की परछाईं-मात्र शेष रह गई थी। बच्चे भी क्या थे?--मास के लोथड़े—बेडौल शरीर—असुन्दर अंग—सिर बड़ा शरीर सूखा हुआ—मस्तिष्क तंग और नाक बड़ी—नीरस चित्रकार की टेढ़ी-मेढ़ी रेखायें।

'बेटी! ये बच्चे तेरे हैं?' निकट बैठी हुई एक वृद्धा स्त्री ने दरियाफ़्त किया।

'हाँ माईजी, मेरे हैं।' स्त्री ने उत्तर दिया।

'अच्छा बेटी, तू बड़ी भागवाली है। ईश्वर इनकी उम्र बढ़ाये! हम लाख यत्न करके हार गये हमारी बहू के एक भी बच्चा न हुआ। अगर ठहरा भी तो जाता रहा। साधू-सन्तों के पास गये, धागे-तावीज़ बनवाये। पर सन्तान का मुँह देखना नसीब न हुआ। बेटी! बच्चे भी हमारे भले कर्मों का फल हैं।' और आदमी की तरफ़ इशारा करके पूछा—वह तेरा आदमी है?

औरत ने गर्दन हिलाकर हाँ भरी, वृद्धा ने फिर कहना आरम्भ किया :

'बेचारा बिलकुल ही देवता मालूम देता है। क्या काम करता है बेटी?'

'एक गोटे की दूकान पर मुनीम हैं पन्द्रह रुपये मिलते हैं। कोई ऐब नहीं। छल नहीं। महीने के महीने सारी तनखाह मुझे लाकर पकड़ा देते हैं।'

'तभी तो ईश्वर भाग लगाता है। आजकल के जमाने में तो जिसे पन्द्रह रुपये महीना मिलें वह तो राजा है बेटी—राजा!'

'फिर बँधी तनखाह।' एक तीसरी औरत ने इस प्रसंग में भाग लेने के उद्देश्य से बात में बात मिलाई और कहा—मेंह जाये आँधी जाये किसी बात का डर नहीं।—लाभ की चिन्ता न हानि का भय।

'देवता आदमी, बच्चे और तनखाह—एक औरत के लिए इससे बढ़कर और क्या सुख हो सकता है? बेटी तू तो रानी बनी है। किसी के धन है तो बच्चे नहीं, बच्चे हैं तो धन नहीं। दोनो बातें हैं तो आदमी का दुःख है। सारा-सारा दिन रोते गुज़रता है।'

'बहन! इस ज़माने में भला आदमी मिलना मुश्किल है।' तीसरी औरत ने कहा, 'हमारे शहर में एक पण्डित आया था। काशीजी का रहनेवाला था। बड़ी धर्मशाला

में ठहरा था। वह कहता था कि संसार में पाप बहुत बढ़ गया है। इस माघ की सक्रान्त को जो रात पड़ेगी वह तेरह दिन तक रहेगी।'

'तेरह दिन की रात! क्या लोग तेरह दिन तक सोते ही रहेंगे?' बच्चोंवाली औरत ने आश्चर्य प्रकट किया।

'भगवान जाने, सोयेंगे या क्या करेंगे! वह तो यही कहता था कि तेरह दिन की रात होगी। पण्डित का कहना झूठ थोड़ी होगा। फिर वह तो किताबें बाँट कर गया है।'

'जब किताबें ही बाँट गया तो झूठ क्या होगा। तेरह दिन की रात कौन बड़ी बात है। इस कलियुग में जो भी हो सच है।' वृद्धा ने निर्णय किया।

क्रान्ति बैठा सब कुछ सुना किया। वह इस प्रकार की बातें सुनने का इतना आदी हो गया था कि उनका समर्थन-असमर्थन करना तो अलग रहा, उसे इन पर आश्चर्य अथवा दुख भी नहीं होता था। लेकिन यह तेरह दिन की रात उसे प्रभावित किये बिना न रह सकी। वह मुसकराहट छिपाने के लिए समाचार-पत्र देखने लगा।

'बाबूजी आज की ख़बर क्या है?' उस स्त्री के पति ने प्रश्न किया और आगे पूछा—लड़ाई कहाँ हो रही है? अब क्या...

गाड़ी एक स्टेशन पर रुकी। उसका सवाल उतरने-चढ़नेवालों के कोलाहल में गुम होकर रह गया।

कुछ फासले पर एक लालाजी बैठे थे। उनके शहर का एक आदमी सवार हुआ, जिसे उन्होंने 'पंडितजी, पंडितजी' कहकर पुकारा। और पंडितजी उसके पास ही जा बिराजमान हुए।

'सुनाओ पंडितजी शहर से कब आये थे? कोई नई बात?'

पंडितजी ने बताया कि वे सुबह की ही गाड़ी से यहाँ किसी कार्यवश पधारे थे और अब वापस जा रहे हैं। नई बात यह बताई कि काशी नाई का लड़का मर गया और शोक प्रकट करते हुए कहा कि बेचारे के साथ बड़ा अत्याचार हुआ। बुढ़ापे में दूसरी शादी की। बड़ी कोशिशों से एक लड़का हुआ और भगवान ने वह भी न रहने दिया।

'और पंडितजी, यह भी सुना है कि सरकार ने क़ानून बना दिया कि भंगी-चमार भी कूओं पर चढ़ सकते हैं। क्या यह दुरुस्त है?'

'दुरुस्त क्यों न हो। कलियुग में सभी कुछ दुरुस्त है। अभी क्या हुआ है तेरह साल की लड़की नानी कहलायेगी। और कहलाने में कसर क्या रह गई, दस-दस साल की लड़कियाँ तो बच्चे जनने लगीं। अब तो भगवान ही धर्म को ग्लानि से बचाये तो बच सकता है। देखें, वह गीता का प्रण कब पालन करता है।'

लालाजी पंडितजी के समर्थन में कोई घटना सुनाने ही लगे थे कि ग्यारह-बारह वर्ष का एक लड़का फटा-पुराना और अत्यन्त मैला कुर्ता पहने डिब्बे में दाखिल हुआ। उसने आते ही संसार की असारता पर एक करुणा-उत्पादक गाना गाया। और कबीरदास और तुलसीदास के ये लोकप्रिय दोहे—चिड़िया चोंच भर ले गई, और दया धर्म का मूल है, होंटों से उच्चारण करते हुए पैसे माँगना आरम्भ किया।

लड़का अपना काम समाप्त भी न करने पाया था कि टिकट देखनेवाला बाबू आ गया। लोग अपना अपना टिकट दिखाने लगे। चार-पाँच मुसाफिर स्थान न मिलने स फर्श पर ही बैठ गये थे वे बाबू को देख बहुत घबराये। उनके पास टिकट नहीं थे। चुनांचे बाबू ने उन्हें किराया अदा करने को कहा और मेमो काटने के लिए कापी निकाली। मगर उन्होंने बाबू के चरणों में लेट कर अनुनय-विनय आरम्भ की। वे गिड़गड़ाये कि उनके पास पैसे नहीं। वे हिसार प्रान्त के अकाल-पीड़ित कृषक हैं। भूखे मरते घर से निकले हैं और मज़दूरी करने लुधियाना जा रहे हैं।

'यह है भारत की निर्धनता।' क्रान्ति ने बाबू से कहा।

'यह निर्धनता नहीं बदमाशी है। जो निर्धन होते हैं वे गाड़ी में नहीं बैठते, पैदल चलते हैं।'

'पैदल! बाबूजी पैदल जाना तो बहुत मुश्किल है।'

'मुश्किल क्या है पहले सब लोग पैदल जाते थे।'

'पहले की और बात है।'

'और कुछ नहीं। बात वही है। जानेवाले अब भी पैदल जाते हैं। ये तो साले बदमाश हैं। रात को चोरी करते हैं, डाके डालते हैं और बनते हैं इतने कि हम मज़दूरी करते हैं—चलो उतरो नीचे जल्दी!—जल्दी!!'

गाड़ी स्टेशन पर रुक गई थी। बाबू उन्हें उतरने की ताकीद कर रहा थी। उन्होंने फिर मिन्नत-समाजत शुरू की और बाबू से दया के प्रार्थी हुए। लेकिन बाबू ने उन्हें देर करते देख एक को बूट की ठोकर और दूसरे को गाल पर थप्पड़ रसीद करते हुए कहा—

'उतरते हो सीधी तरह कि बुलाऊँ पुलिस को?'

वे गरीब ग़लीज़ कपड़ों की पोटलियाँ सँभालते हुए उतर गये।

गाड़ी फिर चली। मुसाफिरों की बातचीत फिर शुरू हुई। 'हमारे यहाँ आर्य-समाज का काम बहुत उन्नति कर रहा है। अगले महीने वैदिक सप्ताह मनाया जायेगा। लाहौर से उपदेशक बुलाये हैं।'

'वेद प्रचार ही इस अन्धकार को दूर कर सकता है। वेद ही ईश्वर का सच्चा ज्ञान है। संसार की कोई दूसरी पुस्तक उसका मुक़ाबला नहीं कर सकती।'

एक मौलवी साहब निकट ही बैठे थे। उन्हें शायद गाड़ी की बातों से कोई दिलचस्पी नहीं थी। वे अपनी तस्बीह फेरने में तल्लीन थे। मगर उन्होंने जब यह बात सुनी तो चौंक उठे और तस्बीह छोड़कर सुर्ख दाढ़ी को खुजलाने लगे। उन्हें इस कथन की सत्यता पर एतराज़ था। लेकिन उनके गर्दन उठाते-उठाते ही बात आगे निकल गई और वे मन-ही-मन में ऐंठकर रह गये। शायद समझ लिया हो कि खुदाताला काफ़िरों से स्वयं समझ लेगा।

उनकी बातचीत जारी थी।

'मैंने 'रेफार्मर' में दो लेख भेजे हैं। रेफार्मर ही आपकी समाज में भी आता है। वे लेख ज़रूर पढ़ना, बहुत अच्छे हैं।'

'क्या लेख हैं?'

'एक है कि 'हम आर्य हैं अथवा हिन्दू' और दूसरा है 'आत्म-ज्ञान'। मैंने ये लेख बड़ी मेहनत से लिखे हैं। वेदों और शास्त्रों के हवाले दिये हैं।'

दूसरे ने वे लेख पढ़ने का वादा किया और अपने मित्र की योग्यता की सराहना की। फिर उनमें और-और बातें होती रहीं।

क्रान्ति के पास एक बाबू आकर बैठा और उसके निकट पड़ा मुंशी प्रेमचन्द का उपन्यास 'गोदान' उठाकर देखने लगा।

क्रान्तिकुमार इन लोगों को देखते-देखते और इनकी बातें सुनते-सुनते उकता गया था। वह खिड़की से सिर निकालकर बाहर की तरफ देखने लगा।

दिन छिप रहा था। वृक्ष, खम्बे और टीले पीछे की तरफ भाग रहे थे। जंगल का विस्तृत वातावरण भी बोझिल-बोझिल-सा दीख पड़ता था और आसमान से अवसाद बरस रहा था। ऊबड़-खाबड़, बंजर भूमि ना-हमवारी का नरानन्द दृश्य पेश कर रही थी। यों दीख पड़ता था कि मुद्दतों से इसमें कोई भूकम्प अथवा तूफान नहीं आया—किसी ने हल तक नहीं चलाया। उलट-पलट न होने से इसकी हरयावल, उर्वरता और सुन्दरता सर्वथा नष्ट हो गई है। इसे मिटाकर नए सिरे से बनाने की जरूरत है। फिर खेत और मैदान तो ऐसे चटियल और सफेद गोया अपनी पस्ती पर रुदन कर रहे हों। रेलवे केलेंडर देखते हुए क्रान्ति की नजर भारत के नक़शे पर पड़ गई थी। वह नक़शा इन खेतों, मैदानों और जंगलों में फैलने लगा। और उस पर अन्धकार का आवरण क्षण-क्षण गहरा होता गया। उसे यों महसूस होने लगा कि मानो धर्मशाला के पंडित की बात सच होती जा रही है। तमाम भारतवर्ष पर एक अविरल रात—अँधियारी रात आच्छादित है। तेरह दिन, इससे भी अधिक दो-डेढ़ सदी तवील—खौफ़नाक और भयानक रात!

इस दीर्घ रात्रि में उसके देशवासी सोये पड़े हैं। उन पर इतनी घोर निद्रा छाई है कि करवट तक भी नहीं लेते। ये इन्सान हैं या लाशें—यह मालूम करना बहुत मुश्किल है। इतिहासकारों ने तैमूर और चंगेज़ को इसलिए बर्बर और वहशी लिखा है कि एक मानव-खोपड़ियों के मीनार बनवाया करता था और दूसरा बस्तियों-की-बस्तियाँ जलाकर राख कर देता था। उनके कृत्य हैं भी तो इतने नग्न कि उनमें सभ्यता का नाम तक नहीं। दरअसल उनमें सभ्यता होना क्रान्ति सोच रहा था, है भी तो असम्भव। सभ्यता तो बीसवीं सदी की ही उपज है। आज अगर चंगेज़ आये तो वह एक मीठी हँसी हँसकर कह सकता है—'बर्बरता! आप इसे बर्बरता कहते हैं? सुनिये साहब ये सुन्दर इमारतें—ये तंगो तारीक मकान तो मानव निर्बलता का ही प्रदर्शन मात्र हैं। मैं चाहता हूँ कि मनुष्य मधुर प्रकृति की गोद में रहकर अभय जीवन व्यतीत करना सीखे। यह ऊँची-ऊँची दीवालें जीवन का सारा रस चूसकर मनुष्य को निर्बल और आलसी बना देती हैं और ये बस्तियाँ ही आपस की फूट का कारण हैं। मैं चाहता हूँ कि इन्हें जलाकर सर्व मनुष्य जाति को प्रेम और उदारता से रहना सिखाओ'—सुन्दर शब्दजाल। कृत्य और शब्द—सभ्यता का प्रसार। संयुक्त भारत—न्याय और शान्ति—अटूट और अखण्ड—और अतीत का इतिहासकार।

क्रान्ति ने इस प्रकार सोचते-सोचते नज़र आगे दौड़ाई। एक किसान रेल की पटरी के साथ-साथ जा रहा था। उसके पाँव कीचड़ से लथपथ थे और कन्धे पर रस्सी थी।

गाड़ी उसके निकट से गुज़रती गई—गुज़रती गई और वह पीछे-पीछे—बहुत पीछे रहता गया।

जब क्रान्ति ने पुनः अन्दर देखा तो उस बाबू ने उपन्यास वहीं रख दिया था।

'क्यों, पसंद नहीं आया ?' क्रान्तिकुमार ने यों ही दरियाफ़्त किया।

'पसन्द तो खैर क्यों नहीं आया। देहातियों की बाबत लिखा है।' उसने विद्वानों के ढंग से उत्तर दिया और तनिक ठहर कर फिर कहा—मैंने बहुत-से नावल पढ़े हैं। पर जो मज़ा 'चन्द्रकान्ता' में आया और किसी नावल में नहीं आया।—चन्द्रकान्ता तो आपने भी पढ़ा होगा ?

'जी नहीं।' क्रान्ति ने जवाब दिया।

'वाह जी वाह ! चन्द्रकान्ता भी नहीं पढ़ा ! वही तो एक पढ़ने की चीज़ है। अब उसे जरूर पढ़ना। आप देखेंगे लेखक ने उसे किस खूबी से लिखा है। एक मर्तबा शुरू करके बिना खत्म किये आदमी छोड़ ही नहीं सकता।'

'बहुत अच्छा जनाब, इस मशिवरा के लिए धन्यवाद, अब मैं उसे ज़रूर पढ़ूँगा।'

यह कहकर क्रान्ति फिर बाहर की तरफ़ देखने लगा।

× × ×

अब उसके उतरने का स्टेशन आ रहा था। मगर गाड़ी अकस्मात ठहर गई। सिगनेल नहीं हुआ था। क्रान्ति उस नाले का पुल देख रहा था जिससे वह बखूबी वाक़िफ़ था। नाला साफ़-सुथरे पानी से भरा चल रहा था और एक आदमी बैठा मुँह धो रहा था। पास ही एक छप्पर था जिसमें वर्षा का जल इकट्ठा हो गया था। और अब वह जल पड़े पड़े इस क़दर सड़ गया था कि उसमें दुर्गन्धि और मच्छर उत्पन्न हो गये थे। उसके कुछ फ़ासले पर बाबा रामदास की समाधि थी, जहाँ हर बुधवार को स्त्रियाँ बच्चे माँगने आया करती थीं। ये माँगे के बच्चे थोड़े दिन मा-बाप का जी बहलाकर उस श्मशान में आ, आबाद होते थे जो इस समाधि के पूर्व में दो-तीन फर्लांग पर स्थित था।

हाँ, दो-तीन फर्लांग के फ़ासले पर श्मशान था। जो रात के अन्धकार में दूर—बहुत दूर तक फैलता चला गया था। क्रान्तिकुमार चंद मिनट तक उस तरफ़ देखा किया और गीदड़ों की आवाज़ें सुनने लगा जो संध्या होते ही वहाँ मँडराने लगते थे। वे चीखते, चिल्लाते और मुर्दों की हड्डियाँ चबाते थे। धीरे-धीरे ये चीखें बलुन्द-से-बलुन्दतर होती गईं। क्रान्तिकुमार को यों महसूस होने लगा कि वह एक विस्तृत श्मशान से घिरा हुआ है और उसके चारों तरफ़ बेबस चीख-पुकार हो रही है। वह अत्यंत अधीरता से इस बात की प्रतीक्षा करने लगा कि कब सिगनल हो और कब गाड़ी चले।

★

भारतीय समाज-पद्धति : उत्पत्ति और विकास

●

[डा० भूपेन्द्रनाथ दत्त]

[३]

प्राचीन पुस्तकों से श्लोक उद्धृत करके हम प्राचीन अधिवासियों के सम्बन्ध में सच्ची खबरें नहीं जान सकते हैं। दोनों जातियों में होनेवाले झगड़े जाति-सम्बन्धी नहीं थे, बल्कि वह धर्म-सम्बन्धी थे ऐसा मालूम होता है। सीमार ने लिखा है[१] इन दोनों जातियों में विशेष पार्थक्य के सम्बन्ध में ऋषियों ने बारम्बार जो कुछ कहा है वह केवल धर्म के क्षेत्र में ही सीमित था। इन जातियों के लोग आर्य देवताओं की पूजा नहीं करते हैं, देवताओं को खौलता हुआ जल नहीं चढ़ाते हैं (३।५३।१४) ऋकवेद में किकट[२] जाति को इसीलिए गाली दी गयी है। दस्यु और पणि लोगों को भी इसी प्रकार (ऋक् ७।६।३) गाली दी गयी है। ऋकवेद में (१।५।३७) स्पष्ट ही कहा गया है—आर्य और दस्यु को विभाग (पृथक्) कर दो, निष्ठावान (वहिसमन्त) से अलग कर दो, देवताहीनों को (अव्रत) शास्ति देने के लिए पराजित कर दो।

इन देवताहीनों का धर्म क्या था, इसका कोई भी विवरण वेद गायकों ने नहीं लिखा है। केवल दो जगहों में 'शिश्नदेवाः' (७।२१।५; १०।९९।३) शब्द मिलता है। यूरोपीय पण्डित रथ ने[३] इसका अर्थ किया है—'दुमदार देवता'। लेकिन शयनाचार्य ने इसका अर्थ 'कामुक' लिखा है। जर्मन मनीषी लुडविग[४] ने इसे बहुव्रीहि-समास समझकर इसका अर्थ किया है—'लिङ्गोपासकगण' (Phallus Worshippers) अगर इस अर्थ को हम ठीक मान लेते हैं तो इनके धर्म की कुछ खबरें हमें मिल जाती हैं। ऋकवेद कहता है—'लिङ्ग उपासक लोग (शिश्नदेवा) हमारे पवित्र स्थानों में (यज्ञस्थलों) में नहीं आ

१—Zimmer—p. 115.

२—निरुक्तकार यास्क ने किकट जाति के सम्बन्ध में लिखा है—'कीकटा नाम देशो अनार्य निवासः (६।३२)। संस्कृत साहित्य में अनार्य शब्द का प्रयोग यहाँ सर्वप्रथम दिखाई पड़ा। ऐसा अनुमान किया जाता है कि मगध का प्राचीन नाम 'कीकट' था। लेकिन इस पर किसी-किसी को सन्देह है। वेबर ने यास्क के इस 'अनार्य' शब्द को अदीक्षित अर्थ में लिया है। (Indian Studies 1, 186) उनका अनुमान है कि यह शब्द 'अब्राह्मण्य', धर्मवादियों (Heretic) का सूचक है। यास्क का जन्म ईसा पूर्व ५ वीं सदी में हुआ था। प्रायः इसी समय बुद्धदेव ने मगध में अपने धर्म का प्रचार किया। क्या इन्हीं अब्राह्मण्य बौद्धों के लिए ही अनार्य शब्द का प्रयोग किया गया है? किसी-किसी का अनुमान है कि कीकट लोग आर्य बौद्ध थे। अगर यह अनुमान सच है तो 'अनार्य' और आर्य कलह धर्म-सम्बन्धी था। इससे संस्कृति की विभिन्नता का ही बोध होता है।

३—Roth—Erlaent. Zur Nirukta—p. 47. ४—Ludwig—Nachrichten-p. 50.

सकते' (७।२१।५), 'वह युद्ध में गया, विजय अनिवार्य है, आलोक को जीतकर उसने (इन्द्र) अपने शत्रुओं को घेर लिया, जब वह शिश्नदेवायों को मारेगा तब वह अप्रतिद्वन्द्वी होगा'. . (१०।९९।३) । लासेन का कहना है कि[५] ये शिश्नदेव लोग शिवपूजा से सम्बन्ध रखते हैं ; क्योंकि शिव को लिङ्गमूर्ति के रूप में पूजा किया जाता है। ब्राह्मण्य परम्परा में दस्यु या दानव सभी को शिवभक्त कहकर वर्णन किया गया है।[६] दूसरी ओर महेन-जो-दोड़ा की सभ्यता का आविष्कार होने पर देखा जाता है कि लिङ्गपूजा सिन्धु उपत्यका की सभ्यता से सम्बन्ध रखनेवाले लोगों में विशेषरूप से प्रचलित थी। इस दशा में हम शिश्नोपूजक दस्यु और दास लोगों को किस दृष्टिकोण से देखेंगे ?

इस प्रसंग में सिन्धु उपत्यका में आविष्कृत महेन-जो-दाड़ो और हरप्पा की सभ्यता के सम्बन्ध में कुछ खोज की जरूरत है। प्रत्नतत्व विशारदों द्वारा सिन्धु उपत्यका के आविष्कार से भारत के प्राचीन इतिहास और सभ्यता सम्बन्धी पहले की धारणाएँ परिवर्त्तित होने के लिए बाध्य है। प्रत्नतत्व के पण्डित मार्शल का कहना है कि उपर्युक्त दोनों स्थानों में एक ही प्रकार की सभ्यता का निदर्शन प्राप्त हुआ है। इसका सिन्धु नामकरण इसलिए किया गया है कि यह नद और इसकी शाखा-प्रशाखाओं से घिरा हुआ मध्यवर्त्ती देश के साथ इस नवाविष्कृत सभ्यता का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह सभ्यता सिन्धुप्रदेश और पंजाब में बद्धमूल हुई थी। उत्तर-पूर्व में सिमला पहाड़ के नीचे शतद्रु नदी के तीर पर भी इसका निदर्शन प्राप्त हुआ है। यह सभ्यता एक बृहत्तर आन्तर्जातिक सभ्यता के अन्तर्गत थी। ईसा से चार हजार वर्ष पहले जब महेन-जो दाड़ो और हरप्पा सभ्यता और समृद्धि के सर्वोच्च शिखर पर थे, तब इनसे पश्चिम एशिया की सभ्यता का घनिष्ठ, अन्तरंग सम्बन्ध और आदान-प्रदान था।[७] मार्शल का अन्दाज है कि महेन-जो-दाड़ो शहर की उम्र ई० पू० ३२५० और २७५० के बीच होगी[८]।

इस शहर के खण्डहरों में आविष्कृत नरकंकालों और नरकरोटियों की परीक्षा नरतत्व के पण्डित सवेल और डा० बी० एस० गुह ने की है। इनमें उन्होंने[९] चार प्रकार के शारीरिक लक्षणवाली मूल जाति के अस्तित्व का आविष्कार किया है। यथा—(१) प्रोटो-अस्ट्रोलायड[९क], (२) मेडिटेरानियन (भूमध्यसागरीय), (३) अल्पियन मूल

५—Lassen—Part II p. 924. ६—Marshall—Mahenjo-Daro and the Indus Civilisation.

७—Sir John Marshall—Mahenjo—Daro and the Indus Civilization. p. 92-

८—वही p. 102

९—इनकी परीक्षा पर किसी का सन्देह है। देखिये—Asul Sur in 'Indian Culture' Vol. III, 1933 and D. Mackay—'Mohenjo-Daro and Ancient Civilizatin in the Indus Valley' in Annual Reports of the Smithsomian Institute, 1932

९ क—१९३१ की मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट (Census Report) में डा० गुह ने अपने पहलेवाले मत को बदलकर इसका नामकरण किया है ककेसीय जातीय Caucasian Megalith करोटी। यह Megalith संस्कृति की जाति के अन्तर्गत लोग हैं। लेकिन इसके बहुत पहले ही इलियट स्मिथ ने कहा है उत्तर अफ्रिका। 'मेगालिथ' संस्कृति के लोग पश्चिम एशिया से होकर सिन्धुप्रान्त में आये थे। उनकी राय है कि यह प्रभाव मध्य से

जाति की मंगोलीय शाखा * (४) अलपिन पंजाब के हरप्पा में मिलनेवाली नरकोटियाँ भी विभिन्न लक्षणयुक्त हैं। सेवेल के मतानुसार ये आलपियन मूलजाति की अरमेनी की तरह (Armenoid) जातीय शाखा के अन्तर्गत यहाँ (हरप्पा) में एक नरकोटि मिली है जिसका दूसरी मूल जातीय होने का सन्देह किया जाता है।

इन नरकंकालों की परीक्षा के उपरान्त मार्शल लिखते हैं - जहाँ तक इतिहास का अनुसरण किया जा सकता है उससे मालूम होता है कि सिन्धु और पंजाब के अधिवासी नाना जातियों के समिश्रण से उत्पन्न हुए हैं और जिस समय की बात हम कह रहे हैं उस समय भी यही बात थी[१०]। इससे देखा जाता है कि पाँच हजार वर्ष पहले ऋषियों की पवित्र देवभूमि 'ब्रह्मावर्त्त' (वर्तमान अम्बाला' जिला) विभिन्न जातियों का संमिश्रण स्थल थी। उस समय की जिन नरकरोटियों की परीक्षा की गई है नरतत्व-विशारदों को उसमें 'नर्डिक' जाति या रिजली के 'इण्डो-आर्य' का पता नहीं मिला है।

अब प्रश्न उठता है—सिन्धु सभ्यता की जाति का वैदिक आर्यों से क्या सम्बन्ध है? सिन्धु सभ्यता और वैदिक सभ्यता का तुलनात्मक विचार करके मार्शल ने लिखा है कि 'दोनों सभ्यताओं में कोई सम्पर्क नहीं है। उन्होंने दावे के साथ कहा है कि आविष्कृत प्रत्नतात्विक चीजों से यह स्पष्ट ही समझ में आ जाता है कि ई० पू० चार हजार और तीन हजार वर्ष के मध्य में वे उच्च और उन्नत संस्कृति सम्पन्न थे। लेकिन उपसंहार में वह लिखते हैं—ई० पू० दो हजार वर्ष के मध्य में 'इण्डो-आर्य' लोगों ने पंजाब में प्रवेश किया था महेन-जो-दाड़ो और हरप्पा में मिलनेवाले प्रत्नतत्व सम्बन्धी निदर्शन इस मत की प्रतिस्पर्द्धा नहीं करते हैं। लेकिन वेद में आर्य पूर्व जाति का जो विवरण मिलता है उससे मुझे ऐसा मालूम होता है कि सिन्धु सभ्यता उस समय पूर्ववर्तीरूप की छाया की तरह हुई थी। लेकिन उन्होंने यह भी कहा है कि सिन्धु सभ्यता की बहुत-सी चीजें वैदिक सभ्यता में मिलती हैं[११]। इस लेख का लेखक समझता है कि सिन्धु सभ्यता में शव-सत्कार करने की प्रथा वैदिक व्यवस्था से अच्छी तरह मिलती है[१२]। वैदिक आर्यों के सम्बन्ध में यूरोपीय पण्डितों की जो धारणा अर्द्ध शताब्दी के ऊपर से रही है, उससे कुछ सामञ्जस्य दिखाने के उद्देश्य से ही मार्शल ने उपर्युक्त बात लिखी है, ऐसा अनुमान किया जाता है। लेकिन यह बिल्कुल अवैज्ञानिक और गड़बड़ी पैदा करनेवाली

उत्तरभारत में भी एक धारा में आये थे। Vide (1) Ancient Egyptions and their Influence upon the Civilization of Europe—Elliot Smith : pp. 176
(2) Elliot Smith—Diffusion of Culture.

* इस सम्बन्ध में निस्सन्देह प्रमाणों का अभाव है। उपर्युक्त नरतत्व-विशारदों के मतानुसार यह एक 'सम्भावना' (probablity) मात्र है। इस सम्बन्ध में Dr. B. N. Datta—Races of India, Cal. Univ., Journal of the Department of Letters. Vol. XXV देखिए।

१०—Marshall—Mahenjo-Daro and Indus Valley Civilization—p. 109.

११—वही p. 122. १२—Dr. B. N. Datta—Vedic Funeral Customs and Indus valley Culture 'in Man in India.' Vol. 16. No. 4. and Vol. 17 Nos. 1 and 2.

बात मालूम होती है। वेद के आर्यों के शत्रुओं और सिन्धु सभ्यता के लोग एक और अभिन्न हैं—इस बात का प्रमाण उन्हें कहाँ से मिला ? उन्हीं द्वारा आविष्कृत तत्कालीन सभ्यता के सर्वोच्च शिखर पर समारूढ़ एक जाति को एक खानाबदोश, अर्द्ध-सभ्य, अर्द्ध-कृषक और पशुपालक जाति के द्वारा विलुप्त कराया गया। जिस जाति की सभ्यता उनके मतानुसार आन्तर्जातिक बृहत्तर सभ्यता के अन्तर्गत थी उसका नामोनिशान तक भारत से लुप्त हो गया—यह बड़े अचम्भे की बात है। इससे क्या हमें यही समझ लेना चाहिए कि दुनिया के दूसरे स्थानों की तरह भारत में भी इतिहास दोहराया गया है ? अर्थात् असभ्य इण्डो-यूरोपीय लोगों ने सभ्यतर जातियों को पशुबल से जीत लिया था। लेकिन बादवाले समय में इन लोगों ने उनकी सभ्यता और संस्कृति को ग्रहण करके इतिहास का नवीन अध्याय आरम्भ किया।

पाश्चात्य इतिहासकारों के मतानुसार असभ्य 'इण्डो-यूरोपीय हेलेनिक' (ग्रीक) जाति सभ्यतर पेलासगीय लोगों को जीतकर बाद में इसी पराजित जाति की सभ्यता के द्वारा ही प्रभावित और विजित हुई थी। असभ्य इण्डो-यूरोपीय कास्यु लोगों ने भी (Cassites), बैबिलन और असिरिया को जीतकर अन्त में उन्हीं की उन्नत सभ्यता और संस्कृति को ग्रहण किया था। सर्जि के मतानुसार नवीन प्रस्तर युग (Neolithic Age) में असभ्यों ने एशिया से यूरोप पर आक्रमण करके वहाँ की तत्कालीन सभ्यता को ध्वंस किया था। क्या भारत में भी इसी का पुनराभिनय हुआ था ? किसी-किसी जगह पर इन असभ्य इंडो-यूरोपीय आक्रमणकारियों ने लोहे के बने हुए अस्त्रों की सहायता से सभ्यतर और उन्नतर जातियों को जीत लिया था।[१३] भारत के वैदिक आर्य लोग घोड़े से काम लेते थे ; यजुर्वेद और अथर्ववेद के समय लोहे से उनका परिचय हुआ। लेकिन सिंधु सभ्यता के लोग घोड़ा तथा लोहे से बिल्कुल अपरिचित थे।[१४] क्या इसीलिए ही वैदिक आर्य उन्हें जीत सके थे ? इतिहासकारों का कहना है इण्डो-यूरोपीय जातियों ने ही प्राचीन सभ्य जगत में अश्व और लोहे से बने हुए अस्त्रों को चलाया था। शायद सर्वत्र इन्हीं दोनों चीजों की सहायता से आर्य-भाषी जातियों ने अन्य विषयों में उनसे भी सभ्य जातियों को जीत लिया था। लेकिन इसके प्रमाण के लिए अब भी कहीं कोई चीज नहीं मिली है। दूसरी ओर ऋकवेद में लोह के प्रचलन की बात सन्देहजनक है। पण्डितों ने कहा है कि ऋकवेद के आर्य लोग 'कृष्णायस'[१४] के अर्थात् लोहे का व्यवहार नहीं जानते थे। अतएव ऋकवेद के आर्यगणों द्वारा सिन्धु सभ्यता की जाति को ध्वंस करने की कहानी ठीक नहीं मालुम होती।

वर्त्तमान भारत में शारीरिक नरतत्व की (Physical Anthropology) गवेषणा का श्रीगणेश मात्र हुआ है। महादेश तुल्य इस देश को नरतत्व-सम्बन्धी अजायबघर कहा जाय तो कुछ अत्युक्ति नहीं होगी। इस विशाल भूखंड में नाना प्रकार के लोगों का वास है। उनके शारीरिक लक्षणों के सम्बन्ध में अच्छी तरह अनुसंधान अभी तक सम्पूर्ण नहीं

१३—H. R. Hall—The Ancient History of the Near East. p. 74.

१४—Marshall—p 122.

हुआ है। हरबर्ट रिजली ने पहले पहल विशेषरूप से एक अनुसंधान किया और उसी के आधार पर 'विशुद्ध आर्य', 'आर्य-द्राविड़ीय' 'मंगोल-द्राविड़ीय' 'सिथिय-द्राविड़ीय' आदि मिश्रित जातियों की सृष्टि की। उनका मत सम्पूर्णरूप से अवैज्ञानिक होने के कारण आजकल के नरतत्व-विशारदों ने उसे अग्राह्य कर दिया है। यह सच है कि इस भूखंड में नाना मूल-जातीय (Bio-type) के लोग बसते हैं। ये मूल जातियाँ एक दूसरे से मिल गई हैं। इसीलिए किसी भी देश की जाति में एक विशुद्ध मानव समष्टि नहीं मिलती है (जीव-जगत में कहीं भी आजकल विशुद्ध जीव समष्टि नहीं मिलती है।) प्राचीन काल से नाना मूल-जातीय लोग इस भूखंड में वास कर रहे हैं। जो जातियाँ बाहर से इस देश में आयी हैं, वे भी आगमन के समय विशुद्ध थीं (unmixed), इसका भी निश्चित प्रमाण नहीं है।

एक भाषा या धर्म अथवा एक सभ्यता का होने से ही शारीरिक लक्षण में भी एकता दिखाई पड़ेगी ऐसी कोई बात नहीं। शारीरिक नरतत्व (Physical Anthropology) एक निर्दिष्ट जन-समूह में शारीरिक लक्षण की एकता देखकर, उनकी एकता (Homogeneity) और इसीलिए उस जन समूह की विशुद्धता का निरूपण करता है। जहाँ सभी एक ही प्रकार के शारीरिक लक्षणयुक्त हैं वहाँ रक्त की विशुद्धता है यह समझना होगा। आजकल जीवतत्व और नरतत्व में भी Biometric गणित शास्त्र का प्रयोग किया जा रहा है। इसके प्रयोग से किसी एक जीव-समष्टि की एकता (Homogeneity) तथा वैचित्र का निरूपण किया जाता है। भारत में शारीरिक नरतत्व (Physical Anthropology) के नाप-जोख तथा उसमें Biometry नामक संख्या गणित पद्धति को प्रयोग करके विश्लेषण करने से यही प्रमाणित होता है कि भारतवर्ष में सभी एक ही लक्षणयुक्त नहीं हैं। एक ही वर्ण, जाति, धर्म अथवा देश या भाषा-भाषी लोगों में नाना प्रकार के लक्षणयुक्त लोग हैं। और भिन्न धर्मावलम्बी जाति अथवा भाषा-भाषी लोगों में एक ही जाति का लक्षण विराजमान है। अर्थात् एक ही मूल-जातीय लोग भिन्न-भिन्न धर्म, जाति या भाषा से विभाजित होकर दुनिया के कोने-कोने में वास कर रहे हैं।

एक विशेष लक्षणयुक्त मनुष्य के शरीर में अगर उसकी जाति में मिलनेवाले सभी लक्षण सम्पूर्ण रूप में मौजूद हैं तो उसे उस जाति का निदर्शन (Type) कहते हैं। पहले ऐसी हालत में कहा जाता था कि यह व्यक्ति अपनी मूल जाति (Race) का नमूना (Type) है। अब इस तरह के मनुष्य को एक मूल-जातीय नमूना (Bio-type) कहते हैं। इस तरह का नमूना किसी देश के नाना स्थानों में मिलने पर ऐसा कहा जाता है कि अमुक लक्षणयुक्त Bio-type उस देश में है। भारत में इस तरह के अनेकों Bio-type हैं। पुरातन-पद्धति के अनुसार नाना प्रकार का नामकरण करके भारत में race (मूल जाति) निरूपण नहीं करके निम्नलिखित शारीरिक लक्षणयुक्त Bio-type समूहों का परिचय यहाँ दिया जाता है।

(:) अफगानिस्तान और भारत के उत्तर-पश्चिम सीमान्त-स्थित पठान जातियों में बलुचिस्तान के वानेचि-अफगान, हिन्दुकुश पर्वत की जातियों में बलुचिस्तान के 'लरी'.

शिवि के जाठ और पंजाब के बलुचियों में अधिकांश ही लम्बा मस्तक, पतली नाक (dolichoid-leptorrhins) युक्त मूल जातीय लोग हैं (२) बलुचिस्तान के मंगोल, कलान-द्रानि, मिर जाठ, छुट्टा, सांगुर, बान्दिजारा, आचकजाह, तारिन, मेड, बलुचि लोग अधिकांश में गोल मस्तक और पतली नाकवाली (brachycephal-leptorrhins) मूल जातीय हैं। (३) अफगानिस्तान के हजारा, पामीर की इरानी भाषा-भाषी जातियाँ (फैसा-बादी को छोड़कर) सारिकोलि, वारिव, सारावान ब्राहुइ, डोवारों में अधिकांश गोल मस्तक तथा मध्यमाकृति की नाकवाली (bracycephal-mesorrhins) युक्त होती हैं। (४) मरि और बगति पर्वत के बलुचि, पाणि-पठान लोग लम्बा मस्तक तथा मध्यमाकृति की नाक वाले (dolichoid-mesorrhins) होते हैं।

ब्रिटिश भारत के अन्तर्गत लोगों की रिसली द्वारा गृहीत पैमाइश (measurement) से विश्लेषण करके यह देखा जाता है कि पंजाब की अनेकों मुसलमान कौमें तथा जाट सिख लोग अधिकांश में लम्बा शिर पतली नाकवाले (dolichoid-leptorrhins) होते हैं। अड़ोरा तथा अस्पृश्य चुड़ा लोग भी अधिकांश में लम्बा सिर और मध्यमाकृति की नाकवाले (dolichoid mesorrhins) होते हैं। संयुक्त-प्रान्त में ब्राह्मण, क्षत्रिय, बनिया, कायस्थ, लोहार, ग्वाला, कुर्मी, केवट जाति के अधिकांश लोग भी उपर्युक्त लक्षणवाले, तथाकथित अस्पृश्य मुसहर अधिकांश में लम्बा मस्तक और चौड़ी नाकवाले (dolichoid-chamœrrhins) होते हैं। बंगाल के ब्राह्मण, कायस्थ, चण्डाल, सद्गोप, ग्वाला, कैवर्त्त आदि अधिकांश में लम्बा मस्तक तथा मध्यमाकृति (मझोले क़द) की नाकवाले होते हैं। दक्षिण भारत में भी द्राविड़ भाषा-भाषी ऊँची जातियाँ लम्बा मस्तक और मध्यमाकृति की नाकवाली होती हैं। लेकिन पानियान, कादिर, कुरुम्बा, मालाभेदाम, उरूला, कानिहार आदि तथाकथित नीची जाति के लोग लम्बा मस्तक, चौड़ी नाक (dolichoid-chamœrr-hin-short-stature) छोटे कद के होते हैं। इन्हें द्राविड़-पुर्व (Pre-Dravidian) जाति कहते हैं। इनमें से कादिर जाति को कोई-कोई 'निग्रटो' होने का सन्देह करते हैं। लेकिन इस विषय में जबरदस्त मतभेद है[१५]।

मध्य-भारत की कोलारीय भाषा के लोग मुण्डारी भाषा में बातचीत करते हैं। आजकल बहुत-से लोगों का अनुमान है कि यह दक्षिण-पूर्व एशिया की मन-ख्मेर (Mon-khmer) भाषा है। लेकिन इनकी भाषा में काफी संस्कृत शब्द हैं। हैडन के मतानुसार नरतत्व की दृष्टि से विचार करने से इन्हें केवल द्राविड़-पुर्व जाति में गिनना पड़ेगा। करवा, मुण्डा, खरवार, संथाल, भूमिजा आदि जातियाँ लम्बा सिर और चौड़ी नाकवाली होती हैं। ओरांव लोग द्राविड़ भाषा में बातचीत करने पर भी द्राविड़-पुर्व जातियों में गिने जाते हैं। राजमहल के माल और मालपहाड़िया लोग ओरांवों से सम्बन्ध रखनेवाली जातियाँ हैं। गुजरात से कुर्ग तक बहुत से गोल सिरवाले लोग मिलते हैं। यथा :—नागर ब्राह्मण, प्रभु, मरहठा, कोडागा। लेकिन इनकी नाक मध्यमाकृति की होती है यद्यपि दक्षिण भारत की दूसरी जातियों से ये क़द में लम्बी होती हैं। हैडन

१५—इस सम्बन्ध में Eickstedti की Report देखिये।

कहता है कि ये जातियाँ मध्यमाकृति (मझोले कद) तथा मझोले नाकवाली होती हैं यद्यपि इनमें कोई 'मंगोलीय' नहीं मिलता है।

पूर्वी भारत के आसाम आदि की खासी, कुकी, मणिपुरी, मिके, काछारि आदि जातियों में प्राचीन द्राविड़-पूर्व लम्बा सिर, चौड़ी नाकवाले लोगों के नमूने type विद्यमान हैं, ऐसा अनुमान किया जाता है। हट्टन ने लिखा है कि इनमें 'निग्रटो' नमूना (type) पाया गया है। आसाम के हिन्दुवों में लम्बा सिर, पतली नाकवाले लोग अच्छी संख्या में मिलते हैं। लम्बा सिर और मध्यमाकृति की नाक तथा गोल सिर और मध्यमाकृति की नाकवाले लोग भी हैं। लेकिन गोल सिर और चौड़ी नाकवाले लोग भी विरले (दुर्लभ) नहीं है।

हिमालय पर बसनेवाली लेपचा, मुर्मि आदि जातियों का सिर लम्बा और नाक मध्यमाकृति की होती है; गोल सिरवाला मंगोलीय नमूना भी सर्वत्र बहुतायत से पाया जाता है।

*

काली छाया

●

[कमल जोशी]

रात्रि का प्रथम प्रहर और भी साफ था। बगीचे में एक स्निग्ध मादकता। देवदारू के गगनस्पर्शी वृक्ष उर्द्धबाहु होकर मानो आकाश से आत्म-निवेदन कर रहे हैं। रात के प्रथम प्रहर में जब विशाखा छत पर आकर खड़ी हुई तब आकाश के एक कोने में चाँद था। रजनी की उस निस्तब्धता में चन्द्रमा की फीकी रोशनी से एक अपूर्व स्वप्न-सा हो रहा था। विशाखा की इच्छा हुई, इन देवदारू वृक्षों की तरह वह भी अपने दोनों हाथ ऊपर उठाकर आकाश से आत्मनिवेदन करे—जिसका अन्त अश्रुओं में होता है। ऐसी ही थी उस दिन की वह दीर्घ, स्तब्ध, एकाकी रजनी।

सारी रात विशाखा चहलक़दमी करती रही, एक ओर से दूसरी ओर तक। उसके शरीर पर पीले पड़े हुए चाँद की रोशनी पड़ रही थी। काफी वक्त इस तरह कटा—विशाखा को आशा थी कि विनोद शहर से लौटकर आयेगा, वहाँ का काम खतम होते ही वापस आयगा। सरकारी काम होने पर भी, कोई जरूरी काम नहीं है, और शहर ही कौन बहुत दूर है! अगर जोर से ड्राइव किया जाय, विशाखा के साथ समय बिताने की इच्छा हो, तो ऐसी शुभ्र रजनी में वह किसी भी तरह दूर नहीं रहेगा। बगीचे में सैकड़ों गेंदा के

फूल खिलेंगे, और वायु उन फूलों की सुरभि फैलायगी। प्रथम मिलन के दिन ऐसे ही आनंददायक थे। चाँद डूबने के पहले ही शायद विनोद आ जाय।

आकाश की ओर से आँखें हटाकर विशाखा ने एक बार सड़क पर अच्छी तरह नजर दौड़ाई, और फिर चाँद पर आँखें जमाकर चहलकदमी करना शुरू किया। आज की यह हवा बड़ी अच्छी लगती है, चंपा के फूल खिले हैं और बीच-बीच में उनकी सुगंध हवा अपने साथ ले आती है। इस सन्नाटे में झिंगुरों का संगीत भी जारी है। रात की निस्तब्धता को भेदती हुई यह कर्कश आवाज़ विधाता से क्या प्रार्थना करती है, कौन जानता है ..। कुछ और दूर पर दरबानों के कमरे में रोशनी जल रही है। उस ओर विशाखा की दृष्टि पड़ते ही मानो वह रोशनी शर्म से बुझ गई। शायद कोई लैंप को उठाकर वहाँ से ले गया। ढोल की आवाज भी सुनाई पड़ती है, लेकिन आज यह आवाज अच्छी नहीं लगती। विशाखा ने सोचा, दरबान की पत्नी की तरह यदि आज वह इस मजलिस में शामिल हो सकती, तो उसकी यह रात ऐसी नीरस और प्राणहीन न कटती। छत के इस कोने से दो मंजिलवाला ड्राइंग-रूम साफ़ नज़र आता है, मशाल की तरह तीव्र और तीक्ष्ण प्रकाश है।

यह कमरा उनका है। आधुनिक सभ्यता के कृत्रिम साधनों से सजा हुआ यह कमरा मानो विशाखा का मज़ाक उड़ा रहा है। ब्रेकेट के ऊपरवाली जर्मन क्लाक की टिक-टिक ध्वनि छत तक साफ़ सुनाई पड़ती है। विनोद की फोटो पर रोशनी पड़ रही है, और उसकी भौंहें रोशनी से और भी चमक रही हैं। रजनी के इस फीके प्रकाश और अन्धकार के आगमन में सफेद साड़ी से ढकी हुई विशाखा की दीर्घ देह को सहसा देखकर शायद एक बार आदमी सिहर उठे, ऐसा ही एक विषादमय, दुःखी भाव सारी देह में छाया हुआ है।

एक सिंगापुरी बेंत की कुर्सी खींचकर क्लान्त विशाखा छत के पश्चिमवाले कोने में बैठ गई। चाँद धीरे-धीरे आकाश में छिपता जा रहा था, इस चाँद के डूबने के पहले क्या विनोद नहीं आ सकता, क्या मालूम! एक चिमगादड़ विशाखा के गाल पर डैने मारता हुआ उड़ गया। इस जानवर के प्रति स्वाभाविक चिढ़ के कारण उसने फौरन ही अपना मुँह फिरा लिया। लेकिन चिमगादड़ का कोमल स्पर्श उसे बुरा नहीं लगा। इस चाँदनी रात की माया ने चिमगादड़ को भी चन्द्राहत कर दिया, शायद विशाखा के कमरे की रोशनी में वह रास्ता खो बैठा था।

उस पश्चिम के बरामदे में बैठे-बैठे ही विशाखा ने देखा कि उसका और चिमगादड़ का चाँद देवदारू वृक्षों की आड़ में चला गया। म्लान आकाश ने उसके चारों ओर एक वृत्त बनाकर आडम्बरहीन विदा के अभिनन्दन की आयोजना की है। रजत-शील देवदारू के वृक्षों की खुशी का कोई ठिकाना नहीं है। झिंगुर पुकारते पुकारते अब थककर एकाएक चुप हो गये। फिर अखण्ड स्तब्धता।

सीढ़ियों पर श्यामा दासी के पैरों की आवाज सुनाई दी। चारों तरफ की रोशनी बुझाकर वह छत का दरवाजा बंद करने आई है। विशाखा ने कहा, दरवाजा खुला रहने दो, मैं अभी यहाँ हूँ।

चारों ओर अंधकार है। सिर्फ विशाखा के कमरे में हरी रोशनी जल रही है। चंद्रमा के अंतिम मुहूर्त, मानो स्थिर होकर चंद्रमा खड़ा है, पृथ्वी उसके साथ रहने के लिए मानो क्रमशः उसके निकट आ रही है।

तंद्रातुर विशाखा ने नींद का जाल काटते हुए फिर टहलना शुरू किया। उसके शरीर पर पीले चाँद की ज्योति एक अपूर्व शोभा दे रही है। लघु मृदु पदों से संचरण-शीला विशाखा की वह स्वप्न जैसी मूर्ति मानो किसी देवी की प्रतिमा की तरह स्वर्गीय ज्योति से चमक रही है। अन्धकार से ढका हुआ सारा मकान प्रेतपुरी की तरह स्तब्ध है। शायद आस-पास कहीं बारिश हुई है, हवा में गीली मिट्टी की गंध है, रात भी ठंडी है। बीच-बीच में हवा का झोंका जोर से आकर पेड़ों के पत्ते हिला देता है और पत्तों का स्वर झंकृत हो उठता है। ऐसी ज्योत्सना में एक पक्षी एकाएक पुकार उठा और फिर चुप हो गया। अमृत का पात्र मानो क्षण भर में ही विषाक्त हो गया, और फिर वही स्तब्धता। उत्कंठ आग्रह से आकाश की ओर विशाखा देख रही है। बीच-बीच में सड़क पर जाने-वाली दो एक मोटरों की आवाज़ भी सुनाई दे जाती है। दूर, बहुत दूर, जहाँ आकाश पृथ्वी से मिल रहा है वहाँ एक रोशनी जलती है और फिर बुझती है, शायद किसी विज्ञापन का कौशल है, और नहीं तो दृष्टि भ्रम है। वहीं तो शहर की सीमा है। शहर में विनोद को क्या काम है, यह विशाखा जानती है। काम जरूरी नहीं है, असली बात तो वह औरत है। एक दिन कुछ देर के लिए ही उसने उस औरत को देखा था। माथे के बाल घुँघराले, पतले-पतले होंठ, कपाल पर छोटी सी लाल बिंदी, कानों में सोने के रिंग, सुरमा लगी हुई आँखों में करुणा और कल्याण की झलक भी नहीं, उनमें है मादकता की उतप्त आग। गले में सोने की पतली नेकलेस।

इस मायाविनी के जाल में पड़कर विनोद सब कुछ भूल गया है, सब कुछ खो बैठा है।

दूसरी रात को भी विशाखा छत पर आई, लेकिन आज आकाश वैसा निर्मल नहीं है। सफेद मेघों से ढका हुआ आकाश मानो परियों का देश जैसा हो रहा है। मेघों के ऊपर मेघ आकर चाँद को ढक रहे हैं। लेकिन चूँकि आकाश में चाँद है, इसलिए ही मेघों का रंग सफेद है।

आज विशाखा तेजी से टहल रही है। दरबान के कमरे में रोशनी है, हँसी का शब्द भी बीच-बीच में सुनाई पड़ता है। हर रोज़ वे इसी तरह हँसते हैं, शोर मचाते हैं, महाभारत पढ़ते हैं, और प्रेम के गीत गाते हैं। दिन के दासत्व के खत्म होने पर यही मुक्ति का आनन्द है। पर आज विशाखा को यह कलरव अच्छा नहीं लगता। विनोद को चाहिये था कि गैरेज से भी दूर इन लोगों का कमरा बनवाता, ताकि इन लोगों की सूरत भी नजर नहीं आती और कुछ सुनाई भी न पड़ता।

आज मेंढक और झिंगुरों की आवाज और भी तीक्ष्ण और तीव्र है। एक पक्ष अपनी आवाज से दूसरे की आवाज़ दबाना चाहता है। बहुत कुछ युक्तिहीन मानवीय तर्क की क्लान्तिकर पुनरावृत्ति की तरह।

आज पेड़ों के पत्तों पर अभी तक चन्द्रमा की छाया नहीं उतरी है। अपने हाथ ऊपर उठाकर विशाखा ने आज चाँद पकड़ने की कोशिश नहीं की। उस दिन रात को विशाखा की आँखों के कोने में अश्रु छिपे हुए थे, क्योंकि विनोद के लौटकर आने की आशा थी। इस रात में उसके पद द्रुत और चञ्चल हैं। शिशु की तरह आवेग न सँभाल सकने के कारण वह रो पड़ी। आज वह जानती है कि, विनोद लौटकर नहीं आयेगा। इस वक्त वह किसी एक सुसज्जित कक्ष में (जिस कमरे को शायद विशाखा कभी नहीं देख सकेगी) विनोद उस औरत के मोह में समाज, परिवार, संस्कृति और सब कुछ को भूलकर आनन्द में उन्मत्त हो रहा है, सब कुछ भूल गया है।

विशाखा का यह कमरा कौन-सा खराब है। साफ-सुथरा, सजा हुआ यह कमरा विद्युत के हरे प्रकाश से उद्भासित है। खिड़कियों के आस्मानी रंग के पर्दे हवा में उड़ रहे हैं, शुभ्र बिछौना माँ की गोद की तरह कोमल और रमणीय है। फिर विशाखा—शरीर में कान्ति, आँखों में स्निग्ध मधुरिमा, परिधान में आडम्बरहीन सफेद साड़ी, और इसके भीतर है शुभ्र, शुचि हृदय। उसका मन जैसा निर्दोष है, वैसा ही उसके शरीर का रंग उज्जवल है—मानो ग्रीष्म सन्ध्या के रजनीगन्धा का अर्द्धप्रस्फुटित कुसुम।

तो भी, वह इस दुनिया में एकदम प्रयोजनहीन और अकिंचितकर है। यह मकान, साज-सामान—सब कुछ उस तृतीय प्राणी का है, अर्थात् विशाखा की अपेक्षा उस औरत का अधिकार ही ज्यादा है। शायद एक दिन वह इस मकान पर भी अधिकार कर लेगी। इस छत पर उसी की पदध्वनि सुनाई पड़ेगी।

कैसी खराब और स्तब्ध रात है। झिंगुरों की आवाज इस स्तब्धता को भेद नहीं सकी है। चिमगादड़ का वह कोमल स्पर्श कहाँ है, यह रात तो मानो अपने आप में ही परिपूर्ण है। बहुमूल्य गहनों के अन्तराल में दुखी स्त्री अपने हृदय की दीनता छिपाने की कोशिश करती है, बाहर का आकर्षण बढ़ाने के लिए ही तो उसको प्रसाधनों की जरूरत होती है, उसी तरह इस खराब रात की वीभत्सता छिपाने के लिए ही तो इन फूलों की सुगन्ध का प्रयोजन था। पर फूलों की सुगन्ध को दबाती हुई ड्रेन और डस्टबिन तथा मरे हुए चूहे की गन्ध एक न एक वक्त आत्म प्रकाश करेगी ही।

आज की रात बहुत गम्भीर और खोयी हुई सी है। विशाखा के मन की चंचलता और द्रुत पदचालना उसे थका रही है। उसका माथा, बगल, और वक्ष पसीने से भीग रहा है।

आज रात को श्यामा के रोशनी बुझा देने पर सारा मकान प्रेतपुरी की तरह हो गया, परियों की राजपुरी जैसा नहीं—संपूर्ण मृत दरबानों का शोर-गुल बन्द हो चुका है—शायद वे भी सो गये हैं। इस रात की यह अनन्त शाति विशाखा को अभिभूत कर रही है, और वह स्वयं को अत्यन्त दुर्बल, एकदम असहाय समझ रही है। पर जो दुर्बल प्राणी विशाखा के नाम से परिचित है, उसकी दुर्बल देह में क्रमशः शक्ति और सामर्थ्य आ रही है—इन देवदारू और चहारदीवारी से पार निकलकर और एक प्राणी ने उसके मन पर अधिकार जमा रखा है।

जो सुन्दर शरीर, जो निर्दोष मन लौकिक जगत में विशाखा के नाम से परिचित है, उसे क्या शङ्कर की गन्दी और असुन्दर नारी ने ग्रास कर लिया आज दो दिन से, दो रातों से वह कलंकी प्रेतात्मा विनोद की तरह, उसके कन्धों पर भी आ गयी है ।

इसीलिए आज नौकरानी के रोशनी बुझा देने पर फूलों की सुगन्ध को पार करती हुई ड्रेन की नारकीय गन्ध जिसके मन में आई, उसका नाम शायद किसी दिन भी विशाखा न था. विशाखा का वह सरल निर्दोष मुँह अस्वाभाविक कठोरता से पूर्ण है, उसके मन में एक अशान्त संग्राम शुरू हो गया है, और उस निशब्द संग्राम की कलंकमूर्ति मानो इस अन्धकार में प्रगट हो रही है । जो नारी दूसरों की स्नायु और अन्तर्वेदना की बातें भूलकर अपनी कामना की अग्नि में दूसरे का सुख, शान्ति भस्मीभूत करती है, उसी के उस अदृश्य आत्मा के निष्ठुर आघात से विशाखा जर्जरित है ।

विशाखा अब एक पैर भी आगे नहीं बढ़ा सकी, अवसन्न शरीर से थके हुए की भाँति बरामदे के रेलिंग पकड़कर बड़ी मुश्किल से खड़ी हुई, मानो पैरों के नीचे से सारी जमीन खिसकी जा रही है ।

सारे शरीर में पसीना आ गया है, मानो वह अभी-अभी चूल्हे के सामने से उठकर आ रही हो । एक अदृश्य शक्ति के प्रभाव से वह संपूर्णतः अवसन्न हो गई है । इस स्तब्धता में सिर्फ उसके वक्ष की द्रुत स्पंद ध्वनि सुनाई पड़ती है ।

इसी तरह श्रांत भाव से विशाखा बहुत देर तक खड़ी रही । और ऐसे ही दो रात बीत गईं, विधाता के निष्ठुर परिहास और आँखमिचौनी के खेल में, व्यथा और वेदना में दिन कटे । विचारों का प्रवाह अब मन में तरंगित नहीं होता, अब उसे कोई चिन्ता नहीं है । वह अन्धकार में रास्ता खो बैठी है ।

चाँद डूब गया है । रात के कुहासे से ढका हुआ आकाश प्रभात के प्रकाश के स्पर्श से उज्जवल और निर्मल हो उठा है । श्रांत और अवसन्न शरीर से वह कमरे में आई । विशाखा तेजी से बिछौने पर पड़ गई ।

श्यामा नौकरानी हर कमरे में घुसकर खिड़की और दरवाजा बन्दकर रोशनी बुझा रही थी, रात के ग्यारह बज गये हैं । तृतीय रात्रि भी सन्ध्या को छोड़कर मध्यरात में आ पहुँची । आज भी सारे मकान में खामोशी है, अतिथि या अभ्यागतों के आगमन से मकान के दु:खी चेहरे पर जरा भी हँसी नहीं आई है । नौकरानी को डर लग रहा है, नहीं तो इतनी जल्दी-जल्दी और आश्चर्य के साथ वह रोशनी क्यों बुझा रही है । अन्धकार से इतना डर !

विशाखा को ऐसा लगा कि इस दीप-निर्वाण के साथ-साथ ही मकान की सारी आत्मा का भी अवसान हो गया । और संग-संग ही विशाखा की मृत्यु हो गई । रात का अन्धकार देवदारू के वृक्षों से मिल रहा है, और वही अन्धकार सारे आकाश में फैल गया है, इन सबके मिलन से ही तो रात की यह अखण्डता है । ऐसी अँधेरी रात विशाखा ने कभी नहीं देखी, अगर हवा न होती तो शायद पेड़-पत्ते भी न पहचाने जाते,

पश्चिम दिशा में झुण्ड के झुण्ड काले बादल जमा हैं और बीच-बीच में बिजली चमक जाती है।

इस अन्धकार में विशाखा के गोरे-गोरे हाथों को कोई नहीं खोज सकता, साड़ी के साथ-साथ वे भी अन्धकार में मिल गये हैं। अन्धकार, पुरातन पृथ्वी की अपेक्षा भी प्राचीन—कितनी सैकड़ों रातों के बाद, तब सृष्टि की प्रथम उषा का अभ्युदय हुआ था, रवि-रश्मियों के ज्योतिर्मय प्रकाश से समस्त अन्धकार दूर हुआ है। रात की यह वीभत्स भयानक मूर्ति, यह आकृतिहीन विराट दैत्य मानो शून्य में अपना सञ्चालन कर रहा है। विशाखा ने डरकर आँखें मूँद लीं—किन्तु वही अन्धकार मानो उसे चिढ़ा रहा है, विशाखा ने फिर आँखें खोलीं।

ऐसी रात में कुत्ते इधर-उधर भोंकते हुए घूम रहे हैं। बड़े रास्ते पर दो मोटरें तेजी के साथ चली गईं। बहुत आवाज हो रही थी। सहसा विशाखा को ऐसा लगा कि किसी ने गेट खोला, अस्पष्ट छाया मूर्त्ति आँगन के भीतर आकर चुप खड़ी हो गई।

विशाखा खुशी में फूल गई। इस अन्धकार की तीव्रता भूल गई, भूल गई गत तीन रातों की असह्य ज्वाला, विनोद लौट आया है, इस आनन्द से विशाखा पागल हो गई। दरबान महाभारत पढ़ रहा है, और इधर 'साहब' आकर खड़े हुए हैं—इसका ख्याल ही नहीं, विद्युतगति से विशाखा नीचे उतर आई। विशाखा के आँसू सूख चुके हैं, वह घृणा और ईर्ष्या कहीं खो गई, विनोद आ गया है—इसी में उसे आनन्द है।

गेट के नजदीक आकर विशाखा ने चारों ओर अच्छी तरह देखा, कहीं भी कोई नहीं है। छिः तो क्या वह पागल हो गई! अपने भ्रम से वह इतनी दूर चली आई है, छायामूर्ति उसका एक भ्रम था, इसमें संदेह नहीं। उदास होकर विशाखा लौटी जा रही थी, कि उसी वक्त सामने के नीम के पेड़ के नीचे किसी भारी चीज के गिरने की आवाज हुई और उसके साथ-साथ ही यन्त्रणा-कातर स्वर में न जाने किसने आर्तनाद किया और फिर चुप हो गया।

विशाखा ने तेजी से नीम के पेड़ की ओर बढ़कर अपरिचित व्यक्ति को गौर से लक्ष्य किया। फिर कड़ी आवाज में पूछा—इस वक्त यहाँ क्या कर रहे हो, क्या मतलब है?

अपरिचित व्यक्ति ने करुण स्वर में जवाब दिया—मेरी गलती हुई है, यह मैं जानता हूँ। पर मैं सिर्फ खतरे में ही नहीं हूँ, बल्कि हर तरह से लाचार हूँ। इसी कारण इच्छा न होते हुए भी इस बँगले में घुसना पड़ा। मेरे पीछे इस जगह के सब पुलिसवाले दौड़ रहे हैं—पकड़ने के लिए।

'पर यह पुलिस सुपरिंटैण्डैंट का बँगला है।'

'ठीक से पता नहीं था, कुछ शक था। अब अच्छी तरह मालूम हो गया।'

'आप क्या चाहते हैं?'

'कुछ नहीं चाहता। चार महीनों से पुलिसवालों ने मुझे नजरबंद कर रखा है,

मेरी पत्नी बीमार है, उसकी ओर से दर्जनों दरख्वास्त दी गई पर उनका कोई जवाब नहीं मिला। छूटने की कोई आशा नहीं, और वह मौत की घड़ियाँ गिन रही है—इसी लिए...'

'भाग आये, पर पैदल कैसे वहाँ तक पहुँचोगे ? स्टेशन पर ही पकड़ लिये जाओगे !'

'इसका अब ख्याल आया।'

'भागते वक्त यह नहीं सोचा था ? मोटर बाइसकिल चलाना जानते हैं ?'

'जानता हूँ, लेकिन आप...?'

'मैं एस० पी की पत्नी हूँ। पर इस प्रश्न की जरूरत नहीं, मेरे साथ आइये।'

विस्मित हो वह व्यक्ति विशाखा के पीछे चला। उस वक्त तक वह आशा और निराशा के झूले में विचलित था।

गैरेज का दरवाजा खोलकर विशाखा ने दृढ़ कंठ से कहा—जाइये। खड़े क्यों हैं ?

मंत्रमुग्ध की तरह उस व्यक्ति ने विशाखा की आज्ञा का पालन किया। धन्यवाद देने के लिए जबान खोलते ही विशाखा ने रोकते हुए कहा—जरा भी वक्त नहीं है, अभी कुछ देर बाद भीषण वर्षा होगी। अब आप देर मत करिये।

जोर की आवाज से वायुमंडल को विदीर्ण कर वह व्यक्ति बाईक सहित अन्धकार में अदृश्य हो गया।

विशाखा दौड़ती हुई लौटी और बिछौने पर आकर गिर पड़ी।

थकावट और अवसाद से उसका शरीर अवसन्न पहले ही था, और अब एक अनजान शंका से वह और भी घबड़ा गई।

पर उस रात को विशाखा को नींद आई। कालीछाया जैसा घना अंधकार है—इस अन्धकार में विशाखा को रास्ता नहीं मिलता, यह अंधकार मानों विशाखा के सारे जीवन को धीरे-धीरे ग्रास करने आ रहा है।

भय से, आतंक से विशाखा चिल्ला उठी।

★

स्वयंगति-वस्तुवाद

●

[दि० के० बेडेकर]

मार्क्स का दार्शनिक सिद्धान्त या विश्वकल्पना 'डायलेक्टिकल मटीरिअॅलिज्म' है। इस शब्द के पर्याय हिन्दी, मराठी, बँगला, गुजराती आदि भाषाओं में भिन्न-भिन्न हो रहे हैं। मसलन :

क्षणिकवाद	पंडित राहुल सांकृत्यायन
द्वंद्वात्मक भौतिकवाद	हिंदी में रूढ़
द्वंद्वात्मक वस्तुवाद	बँगला में रूढ़
विरोधविकासवाद	मराठी में कुछ रूढ़
विवादात्मक भौतिकवाद	कुछ लेखकों के बनाये हुए शब्द
जड़वाद	
संघर्षवाद	
संघर्ष-जनित गतिशीलवाद	

यह सभी पर्याय कुछ हद तक रूढ़ हो गये हैं और मार्क्सवादी विश्वकल्पना का एक या दूसरा पहलू इनसे स्पष्ट भी किया गया है, मसलन अखंड गति की कल्पना क्षणिकवाद से आती है। मैं यह भी मानता हूँ कि किसी व्याख्या या शब्द के छोटे दायरे में मार्क्सवादी दर्शन के सभी पहलू नहीं आ सकते। फिर भी मैं अपनी तरफ से एक नया पर्याय शब्द पाठकों के सामने रख रहा हूँ, इसलिए कि हो सके तो एक ही शब्द हिंदी, मराठी बँगला, गुजराती आदि भाषाओं में अपनाया जाय और वह शब्द ज्यादा से ज्यादा अर्थ भी बतला सके।

मेरा पर्याय शब्द है, स्वयंगति-वस्तुवाद।

इस शब्द के बारे में अपनी दलीलें पेश करने के पहिले मैं दो बातें स्पष्ट करना चाहता हूँ: १—पर्यायशब्द बोलचाल की भाषा से बनाना कम सम्भव होता है, इसलिए ऐसा आसान शब्द न मिलने पर हमें एक नया शब्द बना लेना चाहिये जो कि लाज़िमी तौर पर संस्कृत से बन सकेगा। इस तरह कठिन, अपरिचित और 'पण्डिताऊ' शब्द बनना हम टाल नहीं सकते, २—ऐसे संस्कृत शब्द बनाने में हमें देखना यह चाहिये कि पर्याय शब्द का प्राचीन हिन्दू, बौद्ध-जैन दर्शनों में कुछ ऐसा अर्थ न हो जो कि नये दिये जानेवाले अर्थ से टकराये। इस लेख के आखिर में मैंने दार्शनिक पर्याय शब्दों का एक संग्रह दिया है, उससे यह बात स्पष्ट होगी।

अब हम 'स्वयंगति-वस्तुवाद' के बारे में सोचें।

प्रथम 'स्वयंगति' पद को लीजिए।

मार्क्स की विश्वकल्पना का जन्म इस तरह हुआ: आधुनिक युरोपीय दर्शन ने जड़वस्तुवाद और चैतन्यवाद (Mechanical Materialism & Idealism) इन दो रास्तों से प्रगति की लेकिन दोनों की विश्वकल्पना विकास या गति को समझ नहीं सकी। हेगेल ने यहाँ आगे का रास्ता बतलाया और अपनी 'डायलेक्टिक' प्रणाली सामने रखी। लेकिन हेगेल की 'डायलेक्टिक' प्रणाली चैतन्यवादी होने की वजह से उलटी थी शीर्षासन किये हुए आदमी की तरह माथे के बल पर (चैतन्य के बल पर) खड़ी थी। मार्क्स ने उसी प्रणाली को सीधा पैरों पर, याने वास्तविकता की पक्की बुनियाद पर, खड़ा किया।

इससे मालूम होगा कि विकास या गति की कल्पना मार्क्सवाद का प्राण है।

लेकिन, गति मार्क्सवादी दर्शन का प्राण है इतना कहने पर हम रुक नहीं सकते, बल्कि यहीं से मार्क्सवाद की कठिनाइयाँ शुरू हो जाती हैं। गति की कल्पना जितनी आसान मालूम होती है उतनी ही जटिल है और उसकी इस जटिलता को न समझ कर गति को समझना एक ऐसी ग़लती है कि जिससे 'मार्क्सवाद' की अनेक विकृत, ग़लत और आपत्तिजनक शक्लें पैदा हो चुकी हैं।

मार्क्सवाद में 'गति' शब्द की या कल्पना की एक खास व्यापकता है, साथ-साथ गति और गतिमान वस्तु या विश्व इनमें एक खास 'डायलेक्टिकल' सम्बन्ध है। दोनों ही बातें महत्व की और पूरी समझने की हैं।

मार्क्सवादी 'गति' को समझने के लिए सबसे अच्छा तरीका यह है कि उसका विकासवादियों के 'प्रगति' से और साथ-साथ जड़वस्तुवादियों के 'अणुगत गति से' (Moleculor Motion) या 'यन्त्र गति' से (Mechanical Motion) मुकाबला किया जाय और उनमें फरक देखा जाय। इस दुतरफा मुकाबले से हम मार्क्सवादी 'गति' का पूरा अर्थ समझ पाएँगे। साथ-साथ चैतन्यवादी और जड़वस्तुवादी दर्शनों की अपनी गति-कल्पनाओं के आधार पर बनायी हुई विश्वकल्पना से मार्क्सवादी विश्वकल्पना की भिन्नता भी समझ लेंगे।

(पर्यायशब्द के बारे में सोचने के लिए इन सब दार्शनिक समस्याओं को देखना जरूरी है, यह मैं समझता हूँ सभी महसूस करेंगे।)

मार्क्सवादी गति, प्रगति और यन्त्रगति इनमें क्या फरक है ? संक्षेप में कहा जा सकता है :

प्रगति : स्थिर, एकरूप वस्तुओं में किसी दैवी या नैसर्गिक प्रभाव से, शक्ति से, आगे बढ़ने का या विकास के तरफ जाने का गुण होता है।

यन्त्रगति : स्थिर, एक रूप वस्तुओं में किसी अज्ञेय कारण से अणुगत गति भी है और एक दूसरे के असर से, धक्के से या संघर्ष से वस्तुओं में यन्त्रगति भी पैदा होती है।

मार्क्सवादी गति : कोई वस्तु एकरूप और स्थिर इसलिए नहीं है कि हर एक वस्तु का बनाव ही विरोधी साथ-साथ परस्पराश्रयी घटकों से है। नतीजा यह है कि हर

एक वस्तु की गति, यानी जन्म, स्थिति, विकास और नाश, इन घटकों के परस्पराश्रय और विरोध से है। गति पैदा नहीं होती बल्कि वस्तुओं के अस्तित्व का ही तरीका* है।

इस से मालुम होगा कि विश्व की अखण्ड गतिमानता को मानते हुए भी प्रगतिवादी, जड़वस्तुवादी और मार्क्सवादी इनका आपस में मतभेद है। एक तरफ गति को विश्व की वस्तुओं में (या अणुओं में) पैदा होनेवाली अवस्था माना जाता है जैसे कि चाभी देने से किसी घड़ी में गति पैदा होती है। इस जड़वस्तुवादी मत के अनुसार मैटर और गति को अलग करना भी संभव है। लेकिन, दूसरी तरफ मार्क्सवाद गति को विश्व की हर एक वस्तु के अस्तित्व का तरीका मानता है, जैसा की परिंदों के अस्तित्व का तरीका हवा में उड़ना है, या समाज के अस्तित्व का तरीका श्रम से उपयोगी वस्तुओं का उत्पादन है और प्राणिजात के अस्तित्व का तरीका अन्नग्रहण (Metabolism) और प्रजोत्पत्ति (Reproduction) है।

मार्क्सवादी गति की जो व्याख्या हम ऊपर देख चुके हैं उसका और एक महत्त्व-पूर्ण पहलू अब हमें देखना चाहिये। वह भी उतना ही महत्त्व रखता है जितना मार्क्सवादी गति का वस्तुगत होना। और वास्तव में इसी बात से वह पहलू सामने भी आता है। जब गति वस्तुगत है, याने वस्तु के अस्तित्त्व का ही तरीका है, तब वस्तु की बनावट में ही ऐसी कुछ खास बात होनी चाहिये जिससे इस गति को हम समझ सकें। वह खसूसियत है वस्तु का द्वन्द्वात्मक होना, माने एक दूसरे के विरोधी साथ-साथ आश्रित घटकों से बनना।

'गति' कल्पना की तरह 'द्वंद्व' की कल्पना भी मार्क्सवादी तरीके से समझना आसान नहीं है और उसको रूढ़ या 'आसान' तरीके से 'समझने' से वही आपत्तियाँ और गलतफहमियाँ पैदा हो चुकी हैं जो कि 'गति' को गलत समझने से। 'द्वंद्व' को मार्क्सवादी तरीके से समझने के लिए हम यह कह सकते हैं कि दो विरोधी शक्तियों की टक्कर मार्क्सवादी द्वंद्व का ठीक रूप नहीं है, बल्कि एक ही वस्तु में रहनेवाला विसंवाद डायलेक्टिक प्रणाली में द्वंद्व का सही अर्थ है। इस चीज को साफ समझना चाहिये। एन्गल्स ड्यूअरिंग के खिलाफ बतलाते हैं कि ड्यूअरिंग इस बात को मानने पर भी कि विरोधी शक्तियों का संघर्ष विश्व की घटनाओं की बुनियाद है हेगेल के (और मार्क्स के भी) द्वंद्व सिद्धान्त को समझते नहीं हैं। एन्गल्स कहते हैं कि वस्तु के अन्तर्गत तत्व (Theory of Essence) का हेगेल का सिद्धान्त जिस द्वंद्व-कल्पना को सामने रखता है उसको न समझकर ड्यूअरिंग छिछली बात कहते हैं कि शक्तियाँ एक दूसरे के खिलाफ बढ़ती हैं।'†

'द्वंद्व' शब्द से जो बात स्पष्ट नहीं होती वह यह है कि यह द्वन्द्व दो वस्तुओं में आपस में नहीं है बल्कि एक ही वस्तु में है, अन्तर्गत या वस्तुगत ही है। 'विरोध' या 'संघर्ष' शब्दों से भी यह बात स्पष्ट नहीं होती।

---

* 'Motion is the mode of existance of Matter.' Engels in 'Dialectics of Nature', p. 35.

† '...reduced Hegel's Theory of Essence to the platitude of forces moving in opposite direction', Engels 'Anti Duhring' p. 139.

द्वन्द्व वस्तुगत होने का अर्थ क्या है ?

मार्क्सवाद बतलाता है कि हरएक वस्तु की बनावट ऐसे घटकों से होती है कि जिनमें अटल विरोध और साथ-साथ एक दूसरे पर पूरा अवलंबन भी है। कोई वस्तु एक-रूप नहीं हो सकती बल्कि घटकों का परस्पर विरोध और आश्रय ही वस्तु है।* इस जगह हम देख सकते हैं कि मार्क्सवादी द्वन्द्व-कल्पना घटकों के परस्पर संघर्ष को देखती है और साथ-साथ परस्पर आश्रय को भी, बल्कि इसी दुहरे सम्बन्ध को समझकर ही हम द्वंद्वात्मकता या वस्तु की व्याख्या बना सकते हैं। नहीं तो सिर्फ संघर्ष देखने से या आश्रय को देखने से हम ड्यूअरिंग के रास्ते पर या जड़वस्तुवाद के रास्ते पर बह जाएँगे।

वस्तु का द्वन्द्वात्मक होना और गति का वस्तु के अस्तित्व का तरीका होना, यह दो बातें हम ऊपर देख चुके हैं। लेकिन क्या यह दो अलग बातें हैं ? नहीं, वास्तव में एक ही विश्वकल्पना के यह दो पहलू हैं। अब हम समझ सकते हैं, कि इस विश्वकल्पना में वस्तु-जात का गतिमान होना क्या है ? वस्तु के द्वन्द्वात्मक होने से ही, अपने स्वरूप से ही, वस्तु जन्म-स्थिति-विकास-नाश इस क्रमप्रणाली में फँस जाती है। हम यही बात इस तरह से बतला सकते हैं कि वस्तु सिर्फ गतिमान नहीं बल्कि स्वयंगतिमान है।

यही 'स्वयंगति' मेरा 'डायलेक्टिक' के लिए पर्याय है।

'स्वयं' पद से वस्तु के स्वरूप में ही गति का रहना स्पष्ट होता है और यही 'डायलेक्टिक' प्रणाली की आत्मा है। पहिले ही मैं बता चुका हूँ कि एक तरफ 'प्रगति' का और दूसरी तरफ 'यन्त्रगति' का निषेध मार्क्सवाद करता है, और 'स्वयंगति' शब्द से इस दुतरफा निषेध को भी हम बतलाते हैं। स्थिर-अस्थिर, अचेतन-सचेतन, सामाजिक संस्था-विचार-प्रणालियाँ इत्यादि सभी वस्तुओं की द्वन्द्वात्मकता और स्वयंगति मार्क्सवाद के व्यापक दार्शनिक सिद्धान्त में बतलायी गई है और मैं समझता हूँ कि उस सिद्धान्त को 'स्वयंगति' शब्द से अच्छी तरह निर्देशित किया जाता है।

'स्वयंगति' शब्द के प्रयोग के बारे में मैं अपनी दलीलें ऊपर दे चुका हूँ। सवाल यह आता है कि क्या 'द्वन्द्वात्मक' शब्द से बेहतर अर्थ नहीं निकलेगा ?

मेरा ख्याल है कि 'द्वन्द्व' से गतिमानता का भी निर्देश नहीं किया जाता और न इस बात का कि द्वन्द्व वस्तुगत है, और वस्तुओं के अस्तित्व का तरीका ही गति होने के सिद्धान्त का ही दूसरा पहलू वस्तु की द्वन्द्वात्मकता है। द्वन्द्व का और गति का वस्तुगत होना 'स्वयं' पद से सूचित किया जाता है इसलिए मैं 'स्वयंगति' शब्द को उपयुक्त समझ रहा हूँ।

साथ-साथ, जहाँ हो सके और जरूरी समझा जाय वहाँ हमें स्पष्ट भी करना चाहिये कि स्वयंगति वस्तुवाद द्वन्द्वात्मकता को इस स्वयंगति का कारण या आवश्यक पहलू समझता है।

प्रत्यक्ष व्यवहार में लाने में 'स्वयंगति' शब्द कुछ दिक्कतें पेश नहीं करेगा। मसलन,

---

* इसी तत्व को अंग्रेजी में 'Unity of opposites' कहते हैं और 'On Dialectics' नाम के अपने लेख में लेनिन ने स्पष्ट किया है कि यही तत्त्व 'डायलेक्टिक' प्रणाली की बुनियाद है।

हम कह सकते हैं 'इतिहास की स्वयंगति समाज को कम्यूनिज्म की तरफ ले जा रही है।' यहाँ 'स्वयंगति' की जगह सिर्फ 'गति' या 'द्वंद्वात्मकता' शब्द उपयोग में लाने से ठीक-ठीक अर्थ नहीं निकलता। दूसरा उदाहरण मैं स्टॉलिन के 'डायलेक्टिकल एण्ड हिस्टॉरिकल मटीरिएलिज्म' से लेता हूँ। उसमें स्टॅलिन कहते हैं, 'इसलिए स्वयंगति प्रणाली (Dialectical) की निगाह में उन्नति की तरफ होनेवाला विकास का क्रम घटनाओं की क्रमशील अभिव्यक्ति की तरह नहीं होता, बल्कि वस्तुओं के और घटनाओं के स्वाभाविक अंतर्गत विरोधी गुणों का सामने आना और इन विरोधों की बुनियाद पर उत्पन्न होनेवाली विरोधी प्रवृत्तियों का 'संघर्ष' होना इस तरह होता है।' * इस अनुवाद में भी 'स्वयंगति' शब्द 'द्वंद्वात्मकता' शब्द से इसलिए अच्छा है कि इस वाक्य में एक विशिष्ट क्रम (Dialectical process) बतलाया जा रहा है और 'द्वंद्वात्मकता' यह उस क्रम का तरीका या विशेषता बतलाया गया है। तो उस क्रम को ही 'द्वंद्वात्मकता' कहने से 'स्वयंगति' कहना क्या बेहतर नहीं है ?

'स्वयंगति' शब्द के बारे में मुझे और कुछ कहना नहीं है, सिर्फ मैं यह मानता हूँ कि 'द्वंद्वात्मक' शब्द को भी जोड़कर 'स्वयंगतिमान द्वंद्वात्मक वस्तुवाद' कहा जा सकता है और जहाँ जरूरत हो वहाँ इतना दीर्घ प्रयोग भी किया जाय। लेकिन आमतौर पर सिर्फ 'स्वयंगति' शब्द काफी समझना चाहिये।

अब हम 'वस्तुवाद' शब्द को देखें।

डायलेक्टिकल मटीरिएलिज्म का जन्म और विकास एक तरफ चैतन्यवाद से और दूसरी तरफ जड़वस्तुवाद से मुकाबला करने से हुआ, और इस मटीरिएलिज्म के 'मैटर' की व्याख्या करने का सबसे अच्छा तरीका यही है कि इस दुहरे मुकाबले में 'मैटर' को जो व्यापक अर्थ मिला है उसको हम समझ लें। पर्याय शब्द भी इसी तरह हम निश्चित कर सकेंगे।

चैतन्यवाद के खिलाफ मार्क्सवाद इस बात को स्पष्ट करता है कि निसर्ग (Nature) और चैतन्य (Spirit) या अचेतन मैटर और विचार, इन्द्रियानुभव आदि चेतनता की क्रियाएँ इनमें अचेतन मैटर या निसर्ग चेतनता से प्रथम और स्वतन्त्र रहा है, चेतनता इसी अचेतन 'मैटर' की स्वयंगति क्रम से बनी हुई अवस्था या रूप है, और अचेतन पर चैतन्य आश्रित है।

जैसा आगे बतलाया जाएगा, अचेतन और सचेतन दोनों को मार्क्सवाद 'मटीरियल' विश्व की वस्तु मानता है—एक ही सत्ता के मातहत सभी चीज़ें आती हैं। लेकिन अचेतन और सचेतन को अलग-अलग करना और दोनों में आश्रित कौन और आश्रय कौन यह सोचना मार्क्सवाद के लिए इसलिए जरूरी हो जाता है कि चैतन्यवाद इसी फर्क को सामने रखकर चैतन्य को बुनियाद साबित करने की कोशिश करता है। मार्क्स-वाद जबाब देता है कि ऐतिहासिक क्रम में प्रथम अचेतन 'मैटर' रहा है और उसमें स्वयं-

---

* Page 8.

गति होने के कारण उसका सचेतन 'मैटर' में विकास हो सका है।

लेकिन मार्क्सवाद यहाँ रुकता नहीं है। वैसा करने से उसमें और जड़वस्तु में फर्क ही नहीं रहता, दोनों एक ही मुकाम पर रह जाते। मार्क्सवाद ने अचेतन 'मैटर' के ऐतिहासिक विकास क्रम को—स्वयंगति को—देखकर उसकी प्राथमिक, मूलभूत और स्वतन्त्र सत्ता को माना और इसमें विज्ञान और जड़वस्तुवाद की परम्परा अपना ली। लेकिन, मार्क्सवाद ने चैतन्यवादी हेगेल का भी शिष्यत्व किया और माना कि 'मैटर' को जड़ और सिर्फ यन्त्रगति से या अणुगत गति से चलनेवाली सत्ता मानने में जड़वस्तुवादियों ने गलती की है और विश्व के 'मटीरियल' होने का अर्थ एकतरफा, संकुचित और गलत समझा है।

जड़वस्तुवाद के खिलाफ मार्क्सवाद बतलाता है कि 'मैटर' एक दार्शनिक जातिकल्पना (Category) है जिसका अर्थ है सभी वास्तव में रहनेवाली वस्तुजात याने वस्तुजगत् या विश्व। इस वास्तविकता की पहचान आसान है। वास्तविकता हमारे विचार, इन्द्रियानुभव आदि का आधार बन सकती है लेकिन वह उनसे स्वतन्त्र* होती है, और चेतनता से स्वतन्त्र होना यही वस्तु की पहचान है, यही वस्तु और कल्पित अवस्तु में फर्क है।

इस तरह मार्क्सवाद अपने 'मैटर' के दायरे में अचेतन के साथ ही साथ सचेतन वस्तुओं को भी शामिल करता है, चूँकि जिस तरह जड़ अचेतन पत्थर पहाड़ किसी की कल्पना में ही केवल नहीं रहता उसी तरह प्राणिजात, उसके व्यापार, समाज, सामाजिक सम्बंध, विचार और घटनाएँ इत्यादि भी केवल काल्पनिक चीजें नहीं हैं बल्कि पत्थर या पहाड़ की उतनी ही वास्तविक चीज़ हैं—वस्तु हैं।

अचेतन-सचेतन के परंपरागत द्वंद्व को 'मैटर' की एक ही सत्ता के मातहत रख कर मार्क्सवाद कहता है, 'विश्व 'मटीरिअल' है।' इस मार्क्सवादी विश्व में हरएक वस्तु गतिमान होने का अर्थ क्या हो सकता है यह बात पहिले हम देख चुके हैं। 'स्वयंगति' शब्द की उपयुक्तता देखने के लिए और 'मैटर' के बारे में हमारा ख्याल पक्का करने के लिए एन्गल्स ने इस विषय में कुछ कहा है वह पाठकों के सामने रखता हूँ। 'डायलेक्टिक्स ऑफ नेचर' ग्रंथ में वे कहते हैं 'लेकिन, वस्तु की गति का अर्थ केवल कलपुर्जों की यंत्रगति या स्थानांतर की गति नहीं है, उसका अर्थ है उष्णता, प्रकाश, विद्युत और लोहचुम्बक के क्षेत्र में पैदा होनेवाला दबाव (stress) रासायनिक संयोग और वियोग की प्रक्रियाएँ, प्राण (life) और सब के आखिर में चेतना' पृष्ठ २१। और कहते हैं, 'वस्तु का अंगभूत गुण या अस्तित्व का तरीका गति है। और इस व्यापक अर्थ से देखा जाय तो केवल स्थानांतर से एकदम चेतना तक विश्व के जितने परिवर्तन और घटनाक्रम होते हैं वे सब 'गति' हैं।' पृष्ठ ३५।

---

* पहिले जिसका नाम ले चुके हैं उस ग्रन्थ में स्टालिन कहते हैं मैटर 'independent of consciousness, objectively real being' है। पृष्ठ २३ देखिये।

ऊपरी विवेचन की बुनियाद पर हम पर्याय शब्द के बारे में अब सोचेंगे।

क्या 'जड़वाद' पर्याय शब्द हो सकता है? बिलकुल नहीं, चूँकि, 'जड़वाद' मार्क्सवाद को जड़वस्तुवाद के सतह पर पहुँचाता है।

'भौतिकवाद' शब्द के बारे में दो चीजें हैं। 'भौतिकता', 'पञ्च महाभूत' इनसे रूढ़ परंपरागत अर्थ है जड़ अचेतन वस्तु, और यही अर्थ ध्यान में रखकर 'भौतिकवाद' शब्द भी इस्तेमाल होता है। दूसरी तरफ 'भौतिक' शब्द का मूल सांख्य-दर्शन में विशिष्ट अर्थ है।

पहला यानी रूढ़ अर्थ देखा जाय तो यह शब्द जड़वाद की तरह है और इसलिए सदोष है कि वह 'मैटर' की संकुचित व्याख्या करता है।

दूसरा सांख्य-दर्शन में जो अर्थ है वह तो बिलकुल हमारे काम का नहीं है। सांख्यों के पञ्च महाभूत, पञ्च अतीन्द्रिय 'तन्मात्रों' से पैदा होते हैं और यह 'तन्मात्र' 'अहंकार' से और 'अहंकार' 'महान' से पैदा होता है। इसका मतलब साफ है कि पञ्च महाभूत विज्ञान के मूल वस्तु घटकों की तरह या अणु-परमाणुओं की तरह वास्तविक या मटीरिअल नहीं है बल्कि 'महान' के आधार पर वह खड़े हैं। वैसे भी पञ्च महाभूत केवल मनुष्य के पाँच इंद्रियों के अनुभव के आधार पर कल्पित चीजें हैं। इसलिए 'भौतिकवाद' शब्द को मैं कुछ अच्छा नहीं समझता।

'पदार्थ' शब्द 'जड़' और 'भौतिक' से बेहतर है, सिर्फ इतना ही है कि न्याय-दर्शन में 'पदार्थ' दार्शनिक जाति-कल्पना (category) को कहते हैं इसलिए इस शब्द को भी हम टाल सकें तो अच्छा होगा। और यह भी है कि 'वस्तु' शब्द से जिस तरह वास्तविक, वस्तुतः, वास्तव इत्यादि शब्द बन सकते हैं उस तरह 'पदार्थ' से बनाना मुश्किल है।

'वस्तु' शब्द के बारे में ज्यादा कुछ अब हमें कहना नहीं रहा है। इस शब्द का उपयोग इसी अर्थ से प्राचीन दर्शनिकों ने भी किया है, जैसे कि बौद्ध दार्शनिक कहते हैं 'अर्थ क्रिया क्षणम् वस्तु'।

'वस्तुवाद' शब्द अब बंगला में तो रूढ़ हो चुका है और उसको दूसरी भाषाओं में अपनाना कठिन नहीं है।

'स्वयंगति-वस्तुवाद' इस पर्याय के बारे में मैंने अपनी दलीलें पाठकों के सामने रखी हैं। साथ-साथ, इस लेख को समाप्त करते हुए मैं एक पर्याय शब्दों का संग्रह वाचकों के सामने रख रहा हूँ। मेरा यह अनुभव है कि अनुवाद करने में या पर्याय शब्द बनाने में आप एक शब्द या कल्पना लेकर अलग से उस पर सोच नहीं सकते—सोचते हैं तो ग़लती होने का डर रहता है। करना हमें यह चाहिए कि एक कल्पना, उसकी विरुद्ध कल्पना और उसके करीब लेकिन अलग चलनेवाली कल्पनाएँ इस सब परिवार को एक साथ लेकर हमें पर्याय शब्दों का भी ऐसा परिवार बनाना चाहिये।

मैंने नीचे इसी तरह कुछ 'परिवार' दिये हैं और मैं चाहता हूँ कि इन पर्याय शब्दों के बारे में हम लोग अच्छी तरह छानबीन करें और उनमें जो जरूरी समझी जायँ तबदीलियाँ की जायँ।

१

पर्याय शब्दों के परिवार :

(१)

Materialism	वस्तुवाद
Mechanical Materialism	जड़वस्तुवाद
Dialectical Materialism	स्वयंगति-वस्तुवाद

(२)

Matter	वस्तु
Physical Matter	जड़ वस्तु
Inorganic Matter	अचेतन वस्तु
Organic Matter	सचेतन वस्तु
Dialectically moving Matter	स्वयंगतिमान वस्तु

(३)

Idea (as in Hegel's 'Absolute Idea')	चैतन्य
Spirit (as opposed to Matter)	
Consciousness (as opposed to Matter)	
Ideal	आदर्श
Thought	विचार
Rationality	विवेक
Mind	मन
Soul	आत्मा
Self	जीवात्मा
Faculty of thought	बुद्धि
Faculty of knowledge	प्रज्ञा
Sensation	इंन्द्रियानुभव

(४)

Illusion	भास
Reality	वास्तव
Phenomenon	घटना
Appearance	दृश्य
Objective	वस्तुनिष्ठ, वास्तव, वस्तुगत, बाह्य
Subjcctive	कल्पनानिष्ठ, काल्पनिक
Phenomenal Reality	संवृत्ति सत् , वास्तवता
Ultimate Reality	परमार्थ सत् , सत्ता

(५)

Idealism (Philosophical)	चैतन्यवाद
Idealism (in the popular sense)	आदर्शवाद
Empiricism	अनुभववाद
Realism	वास्तववाद
Rationalism	विवेकवाद
Pragmatism	क्रियावाद
Scepticism	संशयवाद
Vitalism	प्राणवाद
Subjective Idealism	आत्मवाद
Solipsism	अहंवाद
Animism	दैवतवाद (बन्धुतावाद, अगर हम वैदिक 'बन्धु' शब्द को ले सकें।)
Theism	ईश्वरवाद
Monism	एक सत्तावाद ('अद्वैत' शब्द केवल शांकरमत के लिए रखा जाय)
Dualism	सत्ताद्वन्द्ववाद
Pluralism	बहुसत्तावाद

(६)

Metapyhsics	वस्तुनिर्णयशास्त्र
Epistemology	प्रमाणशास्त्र
Cosmology	विश्वरूपनिर्णयशास्त्र
Philosophy	तत्वज्ञान, दर्शनशास्त्र
Philosophical system	दर्शन
Universe	विश्व (प्रकृति शब्द सांख्यदर्शन के लिए रखा जाय)

(७)

Process	क्रम
Causal process	परिणाम-क्रम
Rapititive process	चक्राकार-क्रम
Spiral process	भँवर-क्रम
Evolutionary process	विकास-क्रम
Dialectical process	स्वयंगति-क्रम

(८)

Motion	गति

Molecular Motion	अणुगति
Mechanical Motion	यन्त्रगति
Dialectical Motion	स्वयंगति

(९)

Thesis	वस्तु-स्थिति
Unity of opposits	परस्पर विरोध और आश्रय से सम्बन्धित घटकों का वस्तु में होना
Contradiction	वस्तुगत घटकों का संघर्ष
Quantitative development	मात्राविकास
Nodal point	परिसीमा
Antithesis	वस्तु-स्थिति का नाश
'Leap' in the dialectical process	क्रान्ति
Qualitative change	नवीन गुणोत्पत्ति
Synthesis	नवीन वस्तु-समन्वय

नियति के चक्कर में

●

[दत्त रघुनाथ कवठेकर]

[अनुवादक : दिगम्बरराव पराड़कर]

—लेकिन, इसमें उसका कोई दोष नहीं था !

वह अपराधिनी नहीं थी। उससे अनजाने भी कोई भूल नहीं हुई थी। उसकी अन्तरात्मा भी चिल्ला-चिल्लाकर यही कह रही थी। परन्तु कोई भी उसकी बातों पर विश्वास नहीं करता था, और कोई करे भी कैसे ?

वह युवती थी, शिक्षिता ग्रेजुएट ! दीखने में भी वह अप्सरा हो, सो बात नहीं। किन्तु मोहक थी वह अवश्य। यौवन उसमें अँगड़ाइयाँ ले रहा था। यही कारण था कि वह और भी आकर्षक प्रतीत होती थी।

उसकी नीली सलोनी आँखें, आभापूर्ण सतेज चेहरा, सस्मित ओष्ठ-युग्म, और सोभार सुडौल वक्ष-प्रदेश देखते ही कोई भी शीघ्र ही उसकी ओर आकर्षित हो जाता। आन्तरिक सुप्त भावनाओं के उत्कर्ष से ही, जो कि उसकी आँखों में उतराती हुई प्रतीत होतीं, उसकी वे धुन्धी छाई हुई मतवाली आँखें—उसकी वह निर्भय दृष्टि जितनी स्निग्ध और प्रेममयी, उतनी ही उन्मादक और आकर्षक प्रतीत होती। उत्कटता एवं उदासता

का मधुर संगम उसकी चाल-ढाल ही में नहीं, वरन् आँखों में भी था। कितनी सराहना होती थी उसके भाग्य की !

—और आज...?

—स्वप्न में भी उसने जिस प्रसङ्ग की कल्पना नहीं की थी, आज वही साकार होकर उसके समक्ष खड़ा था।

कितना विस्मयजनक—भीषण प्रसङ्ग था वह ! वह घबरा गई थी !

—वह कुमारी थी। और इसीलिए इस अकल्पित प्रसङ्ग से वह अत्यन्त घबरा गई थी।

जिस घर में ससम्मान वह पली थी—जिस घर में वह प्रत्येक को प्रिय थी ; उसी घर में, सबकी आँखों में खटकने लगी थी। जिस घर में कला की हँसी-मज़ाक में आनन्दोर्मियाँ लहराती प्रतीत होतीं ; जहाँ कला के रूप में प्रत्यक्ष सौंदर्य, आनन्द और नितान्त रम्यता का साम्राज्य था—वहीं आज श्मशान-शान्ति फैली हुई थी।

'जहर खाकर मर भी नहीं जाती...कलङ्क-कालिमा से तो छूटती...।'

प्रत्यक्ष उसकी माँ की कटु जिह्वा ने ही ये जहरीले शब्द उगले थे। उसकी भी जहर खाकर आत्म-हत्या करने की इच्छा थी। लेकिन...अब भी उसे जीवित रहने की आशा थी ! कहीं—दूर उसे एक क्षीण सुख-किरण दीख रही थी। उस सुख-किरण की ओर ही उसकी आँख लगी हुई थीं।

अपने भावी जीवन के विषय में कितनी मधुर कल्पनाएँ थीं उसकी ! अपनी उन्हीं कल्पनाओं में वह अपने को खो बैठती। क्योंकि चार-पाँच महीने में ही सुहास से उसका विवाह होनेवाला था। लेकिन अचानक यह विपत्ति का पहाड़ उस पर आ पड़ा। और इससे उसके हृदय में कितनी उथल-पुथल मच गई थी। प्रतिक्षण तरह-तरह की शंका कु-शंकाएँ उसके हृत-पटल पर आँखमिचौनी-सी खेलती हुई दिखाई देतीं। कितनी शोचनीय अवस्था थी उसकी। तीन दिन से रो-रोकर उसने आँखें सुजाली थीं। उसकी वे सलोनी आँखें अब अश्रुहीन हो गई थीं।

उसकी वह नित्य की निर्भय-चुभनेवाली दृष्टि आज तेजहीन होकर पथरा गई थी। उसका आनन्द, उसका उत्साह, उसकी आशा—उसकी आकांक्षाएँ धूल में मिल चुकी थीं।

वह आज एक गौ—गौ से भी दीन असहाय अवस्था में थी।

उसकी पलकें सदा के लिए झुक गई थीं।

इन तीन-चार दिनों में ही एक बीमार व्यक्ति सदृश उसकी हड्डियाँ दीखने लगी थीं। वह शक्तिहीन हो गई थी।

संकटों से घिरी हुई थी बेचारी !

आज चौथा या पाँचवा दिन था।

सुबह उठते ही दोहद भावनाएँ उसे सताने लगीं। मुँह में अगुलियाँ डालकर

उसने जबरन क़ै की। क़ै कर-करके उसकी आँतें और गला दरद करने लगा। वह उसी दशा में पलंग पर जा लेटी।

हृदय में तूफान का वही उत्कर्ष। सामने भव्य दर्पण की ओर दृष्टि जाते ही भयातिरेक से उसने आँखें बन्द करलीं—यहाँ तक कि करवट भी बदल ली। वह दुःख उसे असह्य था। कितनी बार उसके मन में आया कि खूब चिल्लाकर, खूब रोकर और आक्रोश करके दुनिया पर यह जाहिर कर दूँ कि मैं निष्कलङ्क हूँ। लेकिन—स्वयं उसकी मा का जब उस पर विश्वास नहीं था—दुनिया कैसे उस पर विश्वास कर लेती?

'कलाऽऽ!'

मा को कमरे में आया देखकर उसने अपना मुँह दीवाल की ओट में कर लिया।

'कला—कलाऽऽ!'

'व्यर्थ ही क्यों चिल्लाती हो मा? मुझे अपनी मौत मरने दो न! मैंने मुँह में कालिख पोती न तुम्हारे...? फिर—फिर मा—जहर क्यों नहीं ला देती मुझे? जहर न हो...अफीम मँगवा दो...खाकर पड़ी रहूँगी। आपके सिर का बोझ हलका हो जायगा...।'

'कला, तू उलटा हम पर ही नाराज होती है! कितनी बेचैनी है मेरे दिल में—तुझे क्या उसका? इतना पढ़ाया-लिखाया, स्वतन्त्रता दी, अपनी जान से भी ज्यादा तुझे समझा—और कला, तू अपना शील भी सुरक्षित न रख सकी...!'

'आह! मा, कौन-सी गलती की है मैंने? मैं अपना कौमार्य भी कायम न रख सकी—यह कैसे कहा तुमने? बोलो—बोलो न—कौन-सी गलती हुई मुझसे जो मैं अपना शील भी कायम न रख सकी?'

कला का स्वर जितना तीव्र उतना ही कातर भी था। घूमकर उसने अपनी मा की ओर देखा। कितनी आर्तता थी उसकी उस दृष्टि में। मानो उसकी अन्तरात्मा ही उसकी आँखों से झाँक रही हो।

'इसे कौमार्य-भंग न कहें तो क्या कहें? चुल्लू भर पानी में डूब मरना चाहिये तुझे तो। बोल, अब भी अपनी मा से सच-सच कह दे—उसे कम-से-कम तुझसे विवाह-बद्ध होने के लिए राजी किया जाय। चाहे जो भी हो उसे तुझसे विवाह करना ही होगा। सुहास नहीं?.. फिर कौन...?'

कला क्रोधातिरेक से आपाद-मस्तक लाल हो गई। उसकी उस उग्र मूर्ति की ओर देखने का मा में साहस ही न रहा। उसकी आँखें मानो अग्नि के शोले बरसा रही थीं।

मा की बात से वह जितना चिढ़ी, उतना ही उसे दुःख भी हुआ। वे शब्द उसके कलेजे में तीर से जा चुभे। कितनी शोचनीय दशा थी उसकी। मानो उसकी मा उसके तप्त, दग्ध, मर्माहत हृदय को निर्दयता से अपने जहरीले वाग्बाणों से टुकड़े-टुकड़े कर रही थी! कितनी दुःखी थी वह, केवल वह अन्तर्यामी ही जान सकता है। दुःखातिरेक से पीड़ित उसका हृदय फटा जा रहा रहा था! उसकी जिह्वा की वाक्-शक्ति भी कुछ क्षण के लिए लोप-सी हो गई थी।

'वैसी नहीं हूँ मैं, मा! फिर क्यों मेरे दुःखी हृदय को सुइयाँ चुभोती हो...?'

'फिर, कौन जवाबदार है इसके लिए? कोई न कोई...किसी-न-किसी से तेरा प्रेम-सम्बध...?

कला को अब भी फीमेल-डॉक्टर के निर्णय में शंका ही थी। उसकी यही धारणा थी कि यह सब पेट की विकृति का ही फल है। अब भी वह यही समझ रही थी। और मा के पुनः वही प्रश्न पूछने पर वह झल्ला उठी, मानो अब मा को निगल ही जायगी। तैश से उसने कहा—

'मा, तुम जाती हो या नहीं यहाँ से?—मैं कुछ नहीं जानती...यह सब अनुचित प्रश्न पूछकर मुझे सताओ मत—मैं फिर भी कहे देती हूँ, सुहास के अतिरिक्त मैं किसी भी पर-पुरुष से हँसी-बोली नहीं; उतनी आत्मीयता का किसी से मेरा सम्बन्ध भी नहीं था...'

इस समय उस पर क्रोध न आते हुए उसकी मा को उसकी शोचनीय हीनावस्था देखकर दया आ गई! उन्हें एक क्षण ऐसा प्रतीत हुआ मानो उन्होंने उसकी संतप्त मुद्रा पर पवित्रता की झलक देखी हो! उस समय उस निष्पाप कोमल-हृदया पाप-भीरू माता को यही प्रतीत हुआ कि उसकी कन्या निष्कलंक पवित्र है। एकदम उनकी आँखें छलछला आईं।

'कला, तेरी भलाई के लिए ही न हम अपनी आँतें उमेस रहे हैं। तुझ सदृश्य बराबरी की लड़कियाँ यदि अपनी मा से ही अपने दिल की न कहेंगीं तो फिर किससे कहेंगी......?'

उसे कुर्सी पर बिठालकर उसकी लम्बी काली मोहक केशराशि पर सप्रेम हाथ फेरते हुए स्निग्ध, प्रेमोत्कट, सहानुभूति-पूर्ण स्वर में वे बोलीं—

'सच बता...शर्माने की बात नहीं है यह, डर भी मत...किसी को कानों-कान खबर तक न होगी...तुझे कभी सुहास के स्वप्न दीखते हैं? वे आते हैं कभी तेरे स्वप्न में?'

कला का दम घुटने लगा। उसका मर्माहत हृदय विदीर्ण होने ही को था। उसने पलकें झुका लीं—कुछ बोली नहीं।

'बता न, उनकी चिट्ठियाँ आतीं हैं तुझे...उन्होंने कभी अतिप्रसंग किया था तुझसे?'

कला ने एकदम मा की ओर देखा। उसकी आँखें सात्विक क्रोध से चमक रही थीं। देखते-देखते ही उसके गालों पर लाली चढ़ गई। स्त्री-सुलभ लज्जा से उसके कपोल आरक्त हो गये। कुछ कठोर हो उसने पूछा—

'मा! यह तुम्हीं कह रही हो?'

'तो...फिर?'

उन्हें आगे कुछ कहने का अवकाश न देते हुए कला ने कहा—

'मा, कम से कम तुम्हें तो अपनी लड़की पर विश्वास होना था। लेकिन देखो तो उलटा तुम्हीं मेरे मुँह में कालिख पोत रही हो।...तुम भी पढ़ी-लिखी हो और मैं तुम्हारी ही लड़की हूँ न। मुझसे ऐसा कुकर्म होगा, तुम्हें विश्वास ही क्योंकर हो सका? हम, पढ़ी-लिखी लड़कियों में आत्म-संयमन ही नहीं होता? यही धारणा है

तुम्हारी ? नानी की बात जाने दो— वह रूढ़ियों की पुजारिन है, लेकिन तुम—तुम भी...?'

उसका गला भर्राने लगा। वह आगे कुछ भी न बोल सकी। उसकी पलकें आँसुओं से तर हो गईं। उसकी आवाज के उस विचित्र कम्पन से मा के हृदय में सनसनी फैल गई।

'तो फिर यह सब हुआ कैसे ?' पुनः वे अपनी ही बात पर आ गईं।

'वह भी मैं नहीं जानती, कैसे मान लिया जाय कि आप धज्जी का साँप नहीं बना रही हैं ? आप सुहास को बुला लीजिये। वे अच्छे अनुभवी डाक्टरों में से हैं। आपको मेरी बातों पर विश्वास न आता हो ; परन्तु वे विश्वास कर लेंगे—उनका विश्वास है मुझ पर।'

'विश्वास है !' मा ने एक दीर्घ निश्वास लिया, 'अभी तुम बच्ची हो कला ! मर्दों सरीखी शक्की जात नहीं होती दूसरी, केवल शक पर से ही वे तुमसे विवाह के लिए राजी न होंगे...'

'तुम वैसा समझती होगी मा, लेकिन वे ऐसे नहीं हैं। उन्हें विश्वास है मुझ पर। और मैंने वैसा कोई अनुचित काम भी नहीं किया है।'

मा के मन में दूसरे ही विचारों का उत्थान हुआ, वे बोलीं—मैं समझती हूँ...दिवाली की छुट्टियों में...सुहास यहाँ न आ सके इसलिए तुम...कोई स्वप्न देखा होगा तुमने...वे कह रहे थे...'

मा के दिल में कौन-से विचार उथल-पुथल मचा रहे थे, कला ताड़ गई थी ! उसने 'Men Never Knew' इस उपन्यास में पढ़ा था कि स्वप्न-भ्रम के कारण नायिका का ऋतुकाल बन्द होकर अत्यन्त अनुकम्पनीय दशा हो गई थी उसकी। इस बात पर तीन-चार दिन पूर्व ही वह अपनी सखी female-doctor से निर्णय पा चुकी थी।

कला अत्यन्त घबरा गई थी।

'तुम्हारा उतरा हुआ चेहरा और आँखों में पानी देखकर हृदय में कैसी टीस-सी उठती है कला...!'

कला का अश्रुबाँध टूट गया। एक असहाय की भाँति उसने अपनी मा के गले में अपनी दोनों भुजाएँ डाल दीं और उसके वक्षस्थल पर अपना सिर टेककर वह सिसकने लगी।

'मा तुझे भी यह सच नहीं मालूम। मुझे किसी दूसरे अच्छे डाक्टर को दिखाइये...नहीं तो कम से कम सुहास को...।

जाने कितनी देर तक मा-बेटी अश्रु बहाती रहीं।

× × ×

दूसरे दिन उसकी मा के कहने से उसकी एक दूसरे Lady Doctor से जाँच करवाई गई। उसका भी निर्णय वही निकला। दुःख मिश्रित क्रोध से उसके माता-पिता की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई थी—उनके हृदय पर मानो कोई आरा चला रहा हो।

कला की आँखों के आगे अँधेरा छा गया। अब भी उसे यह सब असत्य

प्रतीत होता। लेडी-डॉक्टर की बातों पर, उसके निर्णय पर, उसका विश्वास ही नहीं था, यह बात नहीं थी—लेकिन, उस पर विश्वास करने के लिए उसका मन मानता ही न था।

और उसी समय से जाने कितनी दुर्भावनाएँ उसके हृदय-सागर में हिलोरें ले रहीं थीं।

वह सोचने लगी—कहीं मेरी मोह निद्रा में तो यह नहीं हो गया...! या सुप्तावस्था में किसी ने...? अन्यथा यह कैसे सम्भव हो सकता है? उसे अब स्वयं पर ही भरोसा न रह गया था।

अभी कोई आठ-दस दिन हुए होंगे उसे सुहास का पत्र मिला था। किन्तु आश्चर्य अभी तक उसने उस पत्र का कोई जवाब ही न दिया था।

सुहास का प्रेम में सना हुआ वह पत्र पढ़ते समय उसकी आँखों में पानी जारी ही था।

बचपन से ही सुहास उसे बहुत चाहता था और उसका भी सुहास से उतना ही उत्कट प्रेम था! और मधुमालती का -सुहास की सहोदरा का हाल ही में आया हुआ पत्र पढ़कर तो उसका हृदय ही विदीर्ण हो गया।

मधुमालती ने लिखा था—

'तुम्हारी कोई चिट्ठी न पाकर सुहास कितनी बेचैनी महसूस कर रहा है! प्रति सप्ताह नियमित रूप से पत्र लिखनेवाली तुम—उसकी चिट्ठी का जवाब दिये बगैर न रहतीं, घर आते ही उसकी यह रट लगी रहती है। मैं उसे चिकोटी काटती हूँ।

'अरे अब तो वह ग्रेज्युएट हो गई है—चारों ओर से वह अभिनन्दन और स्तुति के भार-सुमनों से दबी जा रही होगी। अब वह तुम्हें क्योंकर याद करने लगी? इस पर वह ख़ुश होकर हँसने लगता है।

'कला, वह तुमसे कितना प्रेम करता है, तुम्हें कल्पना तक न होगी उसकी। जब देखो तुम्हारी ही याद करता रहता है। यह कला को प्रिय है...वह कला को प्रिय है... फलाना रंग उसे बहुत भाता है—हज़ारों बातें हैं—क्या-क्या याद कर-करके लिखूँ? तुम्हें फीका हरा रंग बहुत पसन्द है न? बस दिन-भर उसी रंग की नेकटाई की गले में फाँसी लगाए रहता है...।

'फ़िलहाल ही नया बँगला लिया है किराए से—तब से नई-नई चीजें ला-लाकर घर में भरने लगा है। और वे सब तुम्हारी पसन्द की रहती हैं, समझीं? अभी विवाह भी नहीं हुआ है, कितना हैरान कर छोड़ा है तुमने उसे। अभी से जब यह हाल है तो आगे की खुदा जानें। भैया को इंगित करके कभी-कभी मैं 'इनसे' कहती हूँ—कि, 'प्रेम हो तो ऐसा हो।' दोनों ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगते हैं और उलटा मुझे ही बनाते हैं। लेकिन कुछ भी कहो भाग्य बहुत ऊँचा है तुम्हारा। अभी छः महीने ही हुए हैं न उसे डिस्पेन्सरी खोले? लेकिन इन छः महीनों में ही उसने गिरस्ती यों जमाली है कि बस।

'पत्र बहुत बढ़ गया। नहीं? बस अब थोड़ा ही रहा है—कुछ भी क्यों न हो पत्र का उत्तर शीघ्र ही देना, नहीं तुम जानो। सुहास तुम्हें देखने, तुमसे मिलने पूना आया

ही समझो। उसे इस प्रकार सताने में चाहे तुम्हें आनन्द आता हो लेकिन उसके दिल की वही जानता है। स्त्री-जाति को इस प्रकार खींचातानी शोभा नहीं देती। . .'

× × ×

कला को पाने के लिए सुहास कितना आतुर था, यह उस चिट्ठी से ही मालूम हो सकता है। सुहास सदृश सहायक होते हुए उसे इतना डरने की आवश्यकता नहीं थी। सुहास पर उसका विश्वास भी था।

एक क्षण के लिए वह अपना दुःख भूल-सी गई। वह अपने अन्तः-चक्षुओं से सुहास की सजीव प्रतिमा देखने लगी। सुहास की वह धीर, गम्भीर, शान्त और प्रेममयी प्रतिमा कितनी देर तक उसकी आँखों के आगे नाचती रही।

'—कला! कला!!'

वह सोचने लगी—सुहास ही उसे पुकार रहे हैं—नहीं-नहीं वे उसे हृदय से चिपकाये हुए हैं, सान्त्वनायुक्त शब्दों में उसका समाधान कर रहे हैं। उसके बालों पर हाथ फेर रहे हैं। और उसके इस भोलेपन पर वे मुग्ध भी हैं।

'—कला, तुम कितनी शुद्ध और निष्कलंक हो।'

वह सोचने लगी सुहास ही उससे यह कह रहे हैं। उसके मुखचन्द्र को ढँकने-वाले काले केशों को वे अपने एक हाथ से पीछे की ओर फेर रहे हैं। वह अपने स्वप्निल सुहास में लीन हो गई थी।

उसकी यह मोह-निद्रा जब दूर हुई, काफी रात व्यतीत हो चुकी थी। विचार-मग्न अवस्था में वह पलंग पर लेटी हुई थी।

पार्श्व के कमरे में ही उसके माता-पिता थे। शायद वे धीरे-धीरे कोई सलाह-मशविरा कर रहे थे।

उनकी वह फुसफुसाहट सुनते ही वह चकरा गई।

उसके माता-पिता, किस प्रकार यह कलंक-कालिमा दूर हो, और किसी को कानों-कान खबर भी न हो, इस पर विचार-विनिमय कर रहे थे। कितने भयंकर विचार थे वे!

वे दोनों ही कला के उदरस्थ गर्भ को ठिकाने लगाने की सोच रहे थे।

भय से कितनी विचित्र दशा हो गई थी उसकी। उसका सम्पूर्ण शरीर भयातिरेक से रोमांचित भी हो गया था।

अचानक उसके मन में कोई विचार आया—वह मृत-प्राय हो गई। अन्त में निश्चय करके उसने तय किया।

सुबह उठते ही मा ने उसके कमरे में जाकर देखा—वैसे ही वे अपने पति के पास दौड़ी गई।

दोनों हाथ से अपना सिर पकड़कर नीचे बैठते हुए वे बोलीं—'आखिर चुड़ैल भाग ही गई! अच्छी तरह कालिमा पोत गई।

× × ×

कला जो घर से निकली वह सीधे सुहास से मिलने के लिए।

जिस प्रकार वह सुहास को अपने जी-जान से चाहती थी, उसका उसपर असाधारण विश्वास भी था। मा-बाप भले ही उसे त्याग दें, लेकिन सुहास उसे प्राणांत तक नहीं त्यागने का—उसे विश्वास था! उस पर आया हुआ यह संकट जितना अनैसर्गिक उतना ही असंभव था। और यही उसकी धारणा भी थी। स्वयं की निर्दोषता विषयक उसे पक्का विश्वास था। और यदि कुछ हो भी तो वह केवल स्वप्न भ्रम का विकार है। सुहास सरलता से उसे इस संकट से मुक्त कर सकता है। इसी विश्वास के कारण वह सुहास से मिलने गई थी।

परन्तु स्टेशन पर पहुँचते ही उसके मन में डर पैठ गया। वह धैर्य खो बैठी; उसके हाथ-पैर काँपने लगे।

डरते हुए ही वह सुहास के यहाँ गई। सुहास उस समय डिस्पेन्सरी में न था। उसका मन कुछ शान्त हुआ! उसे अचानक अकल्पित तौर से आया देखकर मधुमालती को अत्यंत आश्चर्य हुआ। उसके चेहरे की ओर देखकर उसके आश्चर्य में और भी वृद्धि हो गई।

कला बहुत देर तक अवाक थी।

लेकिन मधुमालती के सांत्वनायुक्त शब्दों ने उसके अश्रुबाँध को तोड़ दिया।

दुःखातिरेक से कला ने रुक-रुककर मधुमालती से जो भी कुछ कहा, वह सुनकर वह हैरान हो गई।

'कितने दिन हो गये इस बात को...?'

'चार...महीने।' कला की मानो साँस ही रुक गई थी।

'और इतने दिन तक तुमने इस विषय में कुछ लिखा भी नहीं?'

'सोचा—पेट की विकृति का कारण है और तुम्हें न लिख पाई।'

'सुहास को ही बुलाती हूँ मैं—' कहते हुए वह खड़ी हो गई।

कला के हृदय में पुनः धक-धक शुरू हो गई।

हृदय की तरह-तरह की भावनाओं के उत्थान से उसकी दशा एक विक्षिप्त-सी हो गई।

और सुहास को प्रत्यक्ष सामने देखकर तो वह अत्यंत घबरा गई। उसकी ओर देखने का भी उसमें साहस न रह गया था।

सुहास सशंक दृष्टि से उसकी ओर देख रहा था—

'मधुमालती ने जो कुछ भी मुझसे कहा है—क्या वह सच है?'

कला का सम्पूर्ण शरीर रोमांचित हो उठा। बोलने के लिए उसके ओंठ फड़क रहे थे लेकिन इच्छा होते हुए भी उसकी जिह्वा जवाब दे रही थी—वह लड़खड़ाने लगी थी, उसकी वाक-शक्ति ही लोप हो गई थी।

एक क्षण में ही उसके माथे पर प्रस्वेद की नन्हीं-नन्हीं बूँदे चमकने लगीं। शरीर काँपने लगा।

'देखो... ऊपर... मेरी ओर देखो! अपनी आँखें देखने दो मुझे। निष्पाप युवती के मुखपर चमकनेवाला तेज तुम्हारी आँखों में है या नहीं—मैं जानना चाहता हूँ...'

कला पलकें झुकाए हुए ही खड़ी थी।

सुहास की ओर देखने का उसमें साहस ही न था।

सुहास ने उसकी ठुड्डी पकड़कर उसका मुँह ऊपर उठाया, उसकी आँखों मे देखते हुए वह उनसे हृदय की आंतरिक शुद्धता की थाह लेना चाहता था।

कला यद्यपि ग्रेजुएट थी—वह दुनिया से अनभिज्ञ ही थी। स्त्री-स्वभाव की वह एक बार जानकारी हासिल कर लेगी लेकिन पुरुष हृदय की थाह पा लेना उसके सामर्थ्य के परे था। किसी युवक के हृदय में किसी युवती विषयक चाहे कितना ही आदर क्यों न हो, उससे कितना ही प्रेम हो, उसे वह अपने प्रेम की आराध्य देवी ही क्यों न समझता हो, इस प्रकार की शंका से उसका विश्वास उड़ जाना संभव रहता है। लेकिन कला यह सब कैसे जान पाये! सुहास से मिलते ही मधुमालती ने उससे सब कुछ कहकर, क्रोध के वशीभूत न होकर, उससे सहानुभूति-पूर्वक बर्ताव रखने को कहा था। किन्तु उसी समय उसके अचल प्रेम के देवता—उसकी अचल निष्ठा कम होकर तरह-तरह की शंका कुशंकाओं से उसके हृदय में तूफान मचा हुआ था।

कला सोचने लगी उसने सुहास के पास आकर भूल की। सुहास के विश्वास विषयक उसे शक पैदा हो गया।

वह जान मान की परीक्षा लेने ही तो आई थी। दीन—लाचार हो उसने तिरछी चितवनों से सुहास की ओर देखा।

सुहास उसकी ओर तिरस्कारयुक्त दृष्टि से ही देख रहा है, इस भ्रम से उसने पलकें पुनः झुका लीं।

उसे कमरे में अन्दर ले जाकर सुहास ने उसकी डॉक्टरी तरीके से जाँच की और... और... उसका विश्वास और भी पक्का हो गया। जिसे मैं देवता, पावित्र्य की मूर्तिमन्त प्रतिमा समझता था, जिसके चरित्र पर मुझे गर्व था, वही मेरी हृदय देवी एक चंचल तितली सिद्ध हो, यह सोच-सोचकर उसे अत्यन्त दुःख होता। यदि कोई दूसरा, उसके पास कला की चाहे कितनी ही बुराई क्यों न करता—उसे कभी विश्वास ही न होता। लेकिन आज—आज वही कला अपने पाप की प्रदर्शनी ले उसके सामने खड़ी थी। और इस अवस्था में उसका सहारा चाहती थी। कितनी धृष्टता!

उसके दिल में एक बार आया कि इसे हाथ पकड़कर घर के बाहर निकाल दूँ। उसके क्रोध की पराकाष्ठा हो चुकी थी। युवक कितना ही शांत क्यों न हो—ऐसे अवसरों पर उसकी विचार-शक्ति धोखा दे जाती है और वह मनुष्य न रहकर पशु बन जाता है।

कला ने आकर उसके हृदय में तूफान उठा दिया था, इतना भयकर तूफान कि उसकी मृदु भावनाएँ जलकर खाक हो चुकी थीं। क्रोधातिरेक से वह विचित्र तौर से अपने हाथ घुमाकर कमरे में इधर से उधर चक्कर मारने लगा।

अचानक वह कला के सामने रुका और एक विचित्र रीति से दाँत किटकिटाते हुए बोला—

'नीच, बेहया, बदज़ात! दिल में तो आता है कि तुझे गला दबाकर मार डालूँ!'

सुहास इतनी जोर से चिल्लाया कि बाहर खड़ी हुई मधुमालती एकदम किवाड़ खोलकर अन्दर आ गई।

वह दृश्य देखकर वह एकदम झेंप गई।

उसे देखते ही सुहास ताव से बोला—

'देखो अपनी सखी की करतूत...पेट बढ़ाकर यहाँ आई है...सोचती होगी मैं उसे मुक्त कर दूँगा...और इसने यह पाप का घड़ा फोड़ा होगा मेरे ही माथे पर...सच बोल, अपने मा-बाप से मेरा ही नाम बतलाया न ?'

मधुमालती दिङ्मूढ़ खड़ी ही रही। वह करुण दृष्टि से कला की ओर देख रही थी। इसके सिवा वह और कर ही क्या सकती थी बेचारी।

यह कला के सहनशीलता की पराकाष्ठा थी। सुहास की जिह्वा जितना भी जहर उगल रही थी, वह सब पी गई। क्षण-प्रतिक्षण सुहास का क्रोध बढ़ता ही जा रहा था। अत्यधिक क्रोध में वह अपना अस्तित्व भी भूल बैठा था और एक विक्षिप्त की भाँति जो भी उसके मन में आता बकता चला जा रहा था।

मर्माहत होकर कला ने कहा—

'सुहास, मुझसे चाहे जिसकी सौगन्ध ले लो...मैं पवित्र हूँ...'

'पवित्र है ? झूठ बोलते हुए शर्म भी नहीं आती ? फाहशा कहीं की। अब और कितना बनेगी ?—यह तो असत्य नहीं कहेगा ? प्रकृति तो झूठ नहीं बोलेगी ? निर्लज्जा...कुलटा...!'

यह मान-हानि कला न सह सकी। वह तिलमिला उठी।

वह सोच रही थी मधुमालती उसका पक्ष लेगी। लेकिन उसे अब मालुम हो चुका था कि घर से निकलकर कितनी भूल की है उसने! आग से निकलकर वह भभूदर में जा पड़ी थी।

फिर भी अत्यन्त क्षीण कातर स्वर में, बेशर्म बनकर वह बोली—

'सुहास, सच्चे हृदय से कह रही हूँ मैं। आज तक मैं तुमसे कभी भी झूठ नहीं बोली—इस समय यह मेरी आत्मा ही बोल रही है तुमसे।...मधुमालती तुम भी तो कुछ कहो......!'

'भैया, कभी-कभी यह स्वप्न-भ्रम से भी होता है न...' बीच ही में मधुमालती ने अपनी शंका प्रदर्शित की।

'हाँ, वह बात नहीं है यह। समझी ? गर्भ-हृदय-ध्वनि भी स्पष्ट सुनाई पड़ने लगी...' मॉन्टगेमरीज फॉलिकल्स भी दीखने लगे...यह 'हल्युसिनेशन' का स्वप्न भ्रम नहीं है। कला पर बाज की तरह झपटते हुए वह बोला।

'मेरा इस प्रकार तिरस्कार न करो सुहास...मैं...' कंठावरुद्ध होने से वह आगे

न बोल सकी। उसने एकदम सुहास के पैर पकड़ लिये। डूबते को तिनके का सहारा, यह उसके लिए अब अन्तिम उपाय था। किन्तु...सुहास ने उसे लतिया ही दिया।

अब कला एक मर्माहत सर्पिणी थी। वह एकदम उठ खड़ी हुई और सुहास की आँखों से आँखें मिलाते हुए कहा—

'यही है तुम्हारा प्रेम...पुरुष जाति सब ऐसी ही होती है।...केवल भ्रमवश...'

वह जाने और क्या-क्या कहती, किन्तु उसी समय सुहास ने तड़ से उसके श्रीमुख में एक चपत जड़ दी।

'भैया, भैया ! यह क्या किया तुमने ?' कहते हुए मधुमालती ने एकदम उसका हाथ पकड़ लिया। सुहास की आँखें मानो शोले बरसा रही थीं। क्रोध से उसका सम्पूर्ण शरीर काँप रहा था।

'भैया, अब क्या कहा जाय तुम्हें ? वह तुम्हारी कोई...यह नहीं है। क्रोध के उतना वशीभूत हो जाना शोभा नहीं देता तुम्हें...यह उचित नहीं किया तुमने।—चलो हटो वहाँ से !'

इस बलात्कार से कला का अश्रुसागर शुष्क हो गया। वह अपनी कठोर तीव्र दृष्टि से सुहास की ओर देखती रही। यह अपमान उसे असह्य था। क्रोध और दुःख की भावनाओं से वह तिलमिला गई।

उसी प्रकार भारी हृदय से; लड़खड़ाते हुए वह वहाँ से चल पड़ी।

उसके बाहर जाते ही सुहास के हृदय के मानो टुकड़े-टुकड़े हो गये। दोनों हाथों से अपना मुँह ढाँपकर वह वहीं सोफा पर गिर पड़ा।

'कला ! कला !' चिल्लाते हुए मधुमालती उसके पीछे लपकी।

लेकिन, कला अपनी तीव्रगति से चली जा रही थी। दौड़ते हुए जाकर वह उसे मना लाये, इसी इच्छा से वह उसके पीछे भागी थी।

कला ने न पीछे ही देखा न वह कुछ बोली ही। प्रसंग और भी विकट न हो इस डर से वह लौट पड़ी और आकर देखती है तो सुहास बच्चों की भाँति रो रहा था।

'मधुमालती, वह क्या कहती होगी अपने मन में...?'

'बुद्धू हो...नालायक हो तुम ! और क्या ! वह गर्भवती थी, होगी, तो तुम्हें उससे क्या ! उसे तुम मार बैठे यह ठीक नहीं किया। वह यदि यह जानती कि—उसके पेट में गर्भ है तो वह भूलकर भी यहाँ न आती। मैं नहीं समझती भैया वह ऐसी व्यभिचारिणी होगी। वह पवित्र है।'

× × ×

ट्रेन में बैठते ही यह मायावी दुनिया उसकी आँखों के आगे नाचने लगी।

सुहास...सुहास ! वाहरे सुहास ! वह निष्कारण ही खिलखिला पड़ी। आखिर उसकी मा ने सच ही कहा था ! पुरुषों का प्रेम कितना स्वार्थी होता है ! सौन्दर्य के इच्छुक होते हैं वे—सौन्दर्य के आत्मा की उन्हें कोई आवश्यकता नहीं होती।

ट्रेन वायु वेग से चली जा रही थी।

उसकी विचार-सरिता की गति भी कुछ कम न थी। चलती ट्रेन से नीचे कूद-कर आत्महत्या करने का भयंकर विचार उसे सताने लगा।

बाहर चारों ओर रजनी का साम्राज्य था। उसका हृदय भी अन्धकार-पूर्ण था। खिड़की का पल्ला उसने ऊपर उठा दिया; और वहाँ से कूद पड़ने के लिए वह बाँक पर दरवाजे के समीप आ बैठी। उसने अपने चारों ओर देखा—सब अपनी निद्रा में मस्त थे। वह ज्योंही नीचे कूदने के लिए उठी; उसके मनःचक्षुओं के आगे उसकी मा की प्रतिमा आ खड़ी हुई।

उसे भ्रम हुआ कि वह उसे पुकार रही है। उसकी आँखों से आँसू बह रहे हैं। वह गलित धैर्य हो वहीं पर बैठ गई।

उसकी अन्तरात्मा कह रही थी—

'कला इस समय भी यदि तुम किसी को प्रिय हो तो वह अपनी मा को...यदि कुछ अनुचित कर गुजरो तो वह रो-रोकर प्राण ही छोड़ देगी।'

इस विचित्र दशा में ही उसके पैर उसे उसकी मा के पास ले आये।

× × ×

यह घटना हुए करीब पन्द्रह-बीस दिन व्यतीत हो चुके थे।

उसके मा-बाप के सिर का बोझ तो हलका हो गया।

लेकिन, कला ?

उस दिन से वह क्षीणकाय होती चली। उसके शरीर का रक्त दिन-ब-दिन कम होने लगा।

वह कहने को तो संकटमुक्त, पर निन्दा से बच गई, परन्तु अब वह पहिले की कला न रह गई थी।

वह निःसत्व रक्तहीन हो गई थी।

कार्य विशेष के अतिरिक्त न वह किसी से बोलती ही थी न कमरे से बाहर ही निकलती थी। वह यन्त्र-चलित सजीव मूर्ति हो गई थी। निर्विकार, शून्य-जो कि विक्षिप्तता का लक्षण है, दृष्टि से घण्टों जाने कहाँ और क्या देखती रहती थी!

उसकी वह करुण दशा देखकर उसकी मा को रोना आने लगता।

उसे प्रसन्न रखने की उन्होंने जी-जान से कितनी कोशिश की, लेकिन सब व्यर्थ।—किन्तु, आश्चर्य, उसकी इसी अवस्था में सुहास एक दिन 'अलख' करके उसके सामने आ खड़ा हुआ।

उसके पार्श्व में ही कला के बाबूजी खड़े थे—और मा भी अपने पति के पीछे खड़ी थी; नानी भी वहीं पास ही खड़ी थीं।

सबकी यही अपेक्षा थी कि सुहास को देखकर वह अवश्य कुछ न कुछ बोलेगी।

वह यद्यपि सुहास की ओर निर्निमेष दृष्टि से देख रही थी, उसकी दृष्टि उसी प्रकार निर्विकार शून्य थी। वह बिलकुल निश्चल थी—मूर्ति सदृश।

उसकी उस दृष्टि ने सुहास के हृदय के टुकड़े-टुकड़े कर दिये।

कुछ क्षण के लिए वह बाह्य जगत से परे, अपने को खो बैठा था।

'कला—कला ऽऽ'! अत्यन्त कातर स्वर में कहते हुए वह उसके पास गया। उसके कन्धों को स्पर्श करके उसने उसे जोर से हिलाया भी, परन्तु फिर भी वह न बोली—उसकी दृष्टि की शून्यता भी उसी प्रकार कायम थी।

'देखो...यह देखो...यह पत्र तुम्हीं ने लिखा था न? कला, तुम कितनी पवित्र हो। क्षमा नहीं करोगी मुझे?'

कला के पिता ने वह पत्र लेकर जोर से पढ़ना शुरू किया।

उस पत्र को लिखे चार-पाँच महीने हो चुके थे। पत्र के रेखांकित स्थान पर उनकी दृष्टि गड़-सी गई थीं। वे बार-बार उसी को पढ़ रहे थे।

'...लता यहाँ चार-छः दिन के लिए ही आई है—परन्तु वह अपने साथ रंग-बिरंगी पूरी एक दर्जन साड़ियाँ लाई है। तुम यदि वह एक डिजाइन देख लो तो पागल ही हो जाओ उसके लिए। उसके यहाँ आए दिन से मैं उसकी साड़ियाँ पहनती हूँ। उसके पतिदेव भी यहाँ आये हुए हैं। दोनों ही फैशन के अत्यन्त शौकीन हैं।

मुझे उसकी साड़ियाँ पहिनते देख नानी बहुत नाराज होती है। और परसों तो उसके क्रोध की पराकाष्ठा ही हो गई। बात यह थी, कि लता ने अपने पहिनने के लिए एक नई साड़ी निकाली थी। साड़ी थी तो साधारण ही, किन्तु उसकी डिझाइन कितनी अच्छी! वह उसी को पहनकर रात को सोई थी—उसमें कई झुर्रियाँ भी पड़ गई थीं किन्तु उसे पहिनने का मोह मैं संवरण न कर सकी। मुझे वह साड़ी पहिने देख नानी का टॅंपरेचर जो चढ़ा—कुछ कह नहीं सकती। वह कहती है कुमारिकाओं को अन्य स्त्रियों की पहनी हुई साड़ियाँ न पहननी चाहिये...परन्तु क्यों? यह वह कुछ नहीं बताती...लता हमें क्या कोई पराई है?'

'पिताजी, उसे बताइये—इसमें उसका दोष नहीं था...उसके भाग्य में नियति का यह कठोर दण्ड सहना था उसे।' सुहास ने कहा।

'जभी, मुझे शंका हुई थी,' नानी बीच ही में फुदक उठीं—उससे मैंने कई बार कहा भी...लेकिन ये फिर भी हमें रूढ़ियों के गुलाम ही समझती हैं...'

'बहन' की पहनी हुई साड़ी वह पहनती क्या है, उस पर यह भयानक प्रसंग क्या आता है। लाखों में यह उदाहरण घटित होता है—लेकिन ऐसा होता है अवश्य! यदि वह अपनी नानी का कहा मान लेती तो—फिर यह क्योंकर होता।'

पिताजी सुहास की ओर मुँह बाए देखते रहे।

'और मैंने उसी को दोषी ठहराया, उसकी भर्त्सना की। कला-कलाऽऽ क्षमा करो मुझे!' कितना करुण था सुहास का स्वर।

भावनाविवश परिस्थिति में कंठावरुद्ध होने के कारण वह आगे कुछ भी न बोल सका।

फिर भी कला अवाक्, निश्चल थी। उसकी दृष्टि में कुछ परिवर्तन अवश्य हो गया था।

'परसों जाकर कहीं यह बात मेरे ध्यान में आई। मधुमालती के समक्ष मैंने अपनी शंका प्रदर्शित की, उसने उसी समय कला की यह चिट्ठी मुझे दिखाई। मेरी शंकाओं को अब कहीं कोई गुंजाइश ही न रही– मैं वैसे ही दौड़ता हुआ यहाँ आया।'

'अर्थात, आप कहते क्या हैं, यही मेरी समझ में नहीं आ रहा है।'

'आपके जँवाई अपनी भार्या के साथ यहाँ आये हुए थे न ?'

'हाँ, तो फिर ?'

'और आप क्या चाहते हैं ? अब और कितना स्पष्टीकरण करूँ ? स्त्री-पुरुष के संसर्ग से गर्भ रहना यह स्वाभाविक ही है। परन्तु, यह प्रसंग न आते हुए भी गर्भ रह सकता है। विवाहित स्त्रियों की पहिनी हुई साड़ियाँ दूसरी स्त्रियों को न पहनने के लिए जो मनाई है वह इसलिए...अब बिलकुल ही साफ तौर से कहना याने—

Reproduction can occur only when the female element is fertilzed by the male element ; and this is of course effected by the act of copulation, which, while being normal way, is by no means essential... for, authentic instances are recorded where a virgin has been impregnated by...or after contact with clothes or sheets which had been 'Wet' with semen ❀.

सुहास के इतना कहते ही कला विक्षिप्त की भाँति जोर से हँस पड़ी। परन्तु वह हास्य इतना भयानक था कि सबके हृदय एक बारगी दहल उठे।

कला को हृदय से चिपकाते हुए कातर स्वर में मा ने कहा—

'कला, देखो ; यह तेरे सुहास आये हुए हैं न ? तुझसे मिलने आए हुए हैं वे। वे नाराज नहीं हैं तुझसे, हम कोई तुझसे रुष्ट नहीं हैं। सुन तो, वे क्या कह रहे हैं ?

परन्तु कला का वह भयानक विक्षिप्तता सूचक हास्य जारी ही था।

हँसते-हँसते ही वह रो पड़ी और रोते-रोते पुनः हँसने भी लगी।

★

(* vide 'Anomalies and Curiosities of Medicine'. Gould and Pyle, pp. 40-45.)

हिन्दी-साहित्य में चित्तौड़ का स्थान *

●

[कान्तिचन्द्र सौनरिक्सा]

हिन्दी-साहित्य में चित्तौड़ को जो गौरव और सम्मान प्राप्त है, वह भारत के अन्य किसी स्थान को नहीं। साहित्य में अक्सर ही अनेक नगर बिना अपनी किसी विशेषता और प्रयोजन के आ जाते हैं; विषय विशेष से उनका कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं होता। कानपुर, बनारस, प्रयाग, लखनऊ, दिल्ली आदि अनेक ऐसे प्रमुख नगर हैं, जिनसे हिन्दी-साहित्य का घनिष्ट सम्बन्ध है, लेकिन मैं अक्सर देखता हूँ कि उनसे सम्बन्ध रखनेवाले साहित्य में उनका अपनापन नहीं बोलता। अनेक कहानियाँ हैं, उपन्यास हैं, जिनमें कानपुर या बनारस घटनाओं के स्थल हैं, परन्तु यदि मैं उनमें कानपुर की जगह बनारस या बनारस की जगह लखनऊ लिख दूँ, तो कोई अन्तर नहीं पड़ता। मेरे कहने का मतलब है कि कहानियों और उपन्यासों में तत्संबन्धी नगरों की स्थानीयता व्यक्त नहीं होती। पर यह बात चित्तौड़ विषयक साहित्य के लिए नहीं कही जा सकती, सिवा इसके कि हिन्दी-साहित्य में जहाँ इस महान दुर्ग की आत्मा और आदर्श सजीव और मूर्तिमान-से हो उठे हैं, वहाँ उसके शरीर की सर्वथा उपेक्षा की गई है। इस उपेक्षा का कारण है: चित्तौड़ पर रचना करनेवालों में से अधिकांश ने न तो स्वयं उसे देखा है और न तत्संबन्धी डिंगल एवं राजस्थानी साहित्य का अध्ययन किया प्रतीत होता है। फिर भी चित्तौड़ की रक्तसिंचित भूमि के कण-कण में वह इतिहास समाहित है, जो उससे एक क्षण के लिए भी विलग नहीं किया जा सकता: गोरा बादल की वीरता, पन्ना धाय का विलक्षण बलिदान, महाराणा प्रताप की प्रतिज्ञा और अकबर से निरंतर संघर्ष—चित्तौड़ की ही वीर-गाथाएँ हैं; इन्हें हम रणथम्भौर या सिंहगढ़ की कथाएँ नहीं बना सकते। चित्तौड़ एक ऐतिहासिक दुर्ग है, और इतिहास में स्थूल कल्पना की उड़ान के लिए बहुत कम जगह होती है। वहाँ तो कल्पना केवल अपने सूक्ष्म रूप में सौंदर्य और मनोविज्ञान के सहारे इतिहास की बिखरी हुई घटनाओं को पिरोती हुई उनकी आत्मा को वाणी देती चलती है। तो इस प्रकार चित्तौड़ भी ऐतिहासिकता में सीमित होकर साहित्य में निखरा रूप पा गया है। वह आज दिन भी कलाकार के लिए कला की प्रेरणा है—स्वयं भी एक महान और अमर कला है। महान् संस्थाओं की तरह उसका क्षेत्र भी दुर्ग की प्राचीरों में सीमीत न रहकर समस्त मानवता में व्याप्त है।

चित्तौड़ इतना ही प्राचीन है, जितनी स्वयं प्राचीनता। इसके आदि निर्माण को

---

* डायरेक्टर आल इंडिया रेडियो, दिल्ली, के सौजन्य से प्राप्त।

खोज इतिहासकार अभी तक नहीं कर सके हैं। राम की अयोध्या, सत्य हरिश्चन्द्र की काशी, कृष्ण की मथुरा और विक्रमादित्य की अवन्ती (वर्तमान उज्जैन) ऐसे प्राचीन नगर हैं, जो हिन्दी के प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य में अमर हो गये हैं और हिन्दू जनता के लिए शुभ तीर्थ-स्थान बन गये, किन्तु चित्तौड़ ही एक ऐसा स्थान है, जो विदेशी जातियों और उनके वीरों के लिए भी तीर्थ बन गया है। कर्नल जेम्स टाड ने 'राजस्थान का इतिहास' (The Annals of Rajasthan) जो सम्मान और विश्वख्याति प्राप्त की है, वह आज सुविदित है। चित्तौड़ सम्बन्धी साहित्य के लिए लेखकों को सामग्री देकर जो महत्वपूर्ण कार्य हिन्दी के लिए टाड के राजस्थान ने किया है, वह अन्य किसी व्यक्ति या पुस्तक ने नहीं किया। टाड केवल इतिहासकार ही नहीं थे, वरन कला-प्रेमी भी थे। उनकी कल्पना प्रखर थी। यही कारण है कि वे अक्सर ही इतिहासकार के कठोर वैज्ञानिक कर्तव्य को भूलकर वीर-भूमि मेवाड़ की प्रशंसा करने लगते हैं, और इसलिए टाड का 'राजस्थान' आज भी इतना धनी है कि सैकड़ों ही नई पुस्तकें लिखने के लिए प्रेरणा और सामग्री प्रदान करने की अद्भुत क्षमता रखता है। चित्तौड़ की ही एक हल्दीघाटी के लिए नहीं, बल्कि समूचे राजस्थान के लिए टाड ने लिखा है—'...There is not a petty state in Rajasthan that had not its Thermopalœ and scarcely a city that has not produced its Leonidas× हिंदी साहित्य का इतिहास लिखने में आरंभ से ही रामचन्द्र शुक्ल को 'टाड के राजस्थान' से बड़ी मूल्यवान् सहायता मिली है। इसलिए हिंदी साहित्य में टाड और उनके राजस्थान दोनों का ही महत्वपूर्ण स्थान है।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास का आरम्भ वीरगाथा-काल से होता है, जो लगभग सन् ६४७ से शुरू होता है। सन् ७६४ से ८५४ ई० तक चित्तौड़ पर रावल खुमानवंश के तीन राजाओं* ने राज्य किया। खुमान द्वितीय के राजकाल में अब्बासिया वंश के अल-मामून+ की सेना में सन् ८१४ से ८३४ ई० तक सिंध की ओर से चित्तौड़ पर लगातार रह-रहकर आक्रमण किये, किन्तु वे बराबर हारते ही रहे, क्योंकि खुमान राजा का बल और पराक्रम अद्भुत था। भाट दलपत विजय ने 'खुमान रासो' लिखकर खुमान की प्रशंसा के गीत गाये हैं। ईसा की सत्रहवीं सदी में किसी अज्ञात भाट ने 'खुमान रासो' में कुछ गीत और बढ़ा दिए। शिवसिंह सरोज तो दलपत विजय को 'खुमानरासो' का लेखक तक नहीं मानते, फिर भी मैं इसे चित्तौड़ पर हिन्दी साहित्य की पहली पुस्तक मानता हूँ। इसके बाद इस सम्बन्ध में जिस दूसरी पुस्तक का नाम मैं ले सकता हूँ, वह है प्रसिद्ध सूफी कवि मलिक मुहम्मद जायसी की पद्मावत, जो शेरशाह के काल में हिजरी ९४७

× राजस्थान में कोई भी ऐसा छोटे से छोटा राज्य नहीं है, जिसमें एक थर्मोपली न हो, और शायद ही ऐसा कोई शहर हो, जिसने लियोनीडास जैसा वीर न पैदा किया हो।

* टाड का कहना है कि केवल एक रावल खुमान ने राज्य किया, लेकिन रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं कि ९० वर्ष तक एक ही राजा का राज्य संभाव्य नहीं है। इसलिए वे तीन खुमान राजाओं की कल्पना करते हैं। लेकिन उन्होंने उनके नामों की खोज नहीं की, क्योंकि मेरा मत है कि हिन्दू राजाओं में एक ही नाम से एक ही वंश में कई राजा नहीं होते थे।

+ रामचन्द्र शुक्ल ने 'अलमा मूँ' लिखा है, जो अशुद्ध है।—लेखक

या सन् १५४० ई० के आस-पास लिखी गई थी। इस काव्य-ग्रंथ का अनुवाद सन् १६५० ई० में अराकान राज्य के प्रधानमंत्री मगन ठाकुर ने कवि आलो-उजालो से बंगाली में कराया। शायद हिन्दी-साहित्य की यही सबसे पहली पुस्तक है जिसका अनुवाद सबसे पहले बंगला भाषा में हुआ। जायसी न केवल एक महान कलाकार थे बल्कि पहुँचे हुए फ़क़ीर * भी थे। कहते हैं कि वे काने, बहरे और कुरूप थे।—मेरी अपनी राय है कि अब तक चित्तौड़ पर जितनी भी रचनाएँ हुई हैं, उन सबमें कला की दृष्टि से 'पद्मावत' ही सर्वश्रेष्ठ है। समूचे हिन्दी-साहित्य में 'रामचरित मानस' के बाद यही दूसरा सर्वोत्तम प्रबन्ध-काव्य माना जाता है। यों तो प्रेम-मार्ग द्वारा निर्गुण भगवान की प्राप्ति के लिए गीत गानेवालों में कुतबन, मंझन, उस्मान, शेखनबी, नूरमुहम्मद और क़ासिमशाह भी हुए हैं, लेकिन पद्मावत लिखकर जो कमाल जायसी ने हासिल किया है, उसकी तुलना नहीं की जा सकती। उनकी प्रेम-वेदना को रामचन्द्र शुक्ल ने तुलसी की प्रेम वेदना से भी अधिक गहरा माना है। नागमती की वियोग गाथा तो हिन्दी साहित्य में एक क्लासिक हो गई है। 'पद्मावत' की भाषा अवधी है, लेकिन जितनी भी इसकी हस्त-लिखित प्रतियाँ मिली हैं, वे सब फ़ारसी लिपि में और मसनवी-शेरों में लिखी गई हैं। ये प्रतियाँ अधिकतर मुसलमान घरों में पाई गईं। कहा जाता है कि उन घरों में पद्मावत की बड़ी पूजा होती थी, हालाँकि लोग इसे समझते तक न थे। सबसे अधिक महत्व की बात यह है कि इस महाकाव्य के छन्द दोहे और चौपाई हैं, जिन्हें लगभग चौंतीस वर्ष बाद तुलसी ने अपनी रामायण लिखने के लिए अपनाया।

यों तो पद्मावत चित्तौड़ की विश्वविख्यात अनिंद्य सुन्दरी महारानी पद्मिनी की ऐतिहासिक गाथा है लेकिन इस गाथा का प्रथम भाग नितान्त कल्पित है और दूसरा किसी क़दर ऐतिहासिक। सूफी रहस्यवाद के एकान्त प्रेम को अङ्कित करने के लिए जायसी ने अपनी उर्वर कल्पना का सहारा लिया है। टाड के 'राजस्थान' में चित्तौड़ पर अलाउद्दीन खिलजी की चढ़ाई के जो वृत्तान्त मिलते हैं, उन्हें देखने से विदित होता है कि 'पद्मावत' के द्वितीय ऐतिहासिक खण्ड में भी जायसी ने प्रथम खण्ड के रूपक की संगति रखने के लिए यत्रतत्र अनेक परिवर्तन किये हैं। संक्षेप में 'पद्मावत' की कहानी यह है:—

चित्तौड़ के राजा रत्नसिंह हीरामन तोते से सिंहलद्वीप की राजकुमारी पद्मिनी के रूप-सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर उसे पाने के लिए व्यग्र हो उठते हैं। अपनी रानी नागमती को चित्तौड़ में ही छोड़कर कुछ साथियों और हीरामन तोते को साथ लेकर राजा रत्नसिंह सिंहलद्वीप जा पहुँचते हैं। वहाँ पहुँचकर उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, किन्तु अनेक युक्तियों और भगवान शिव की सहायता से वे पद्मावती के साथ अपना विवाह करने में सफल हो जाते हैं। चित्तौड़ लौटते समय राह में समुद्र के तूफान से राजा रत्नसिंह का जहाज़ डूब जाता है। सारे साथी मर जाते हैं और पद्मिनी बिछुड़

---

* जायसी की मृत्यु के विषय में यह दन्तकथा प्रचलित है कि उन्होंने पहले ही कह दिया था कि मैं शिकारी के हाथ से मारा जाऊँगा। जिस जंगल में वे रहते थे, वहाँ शिकार करना निषिद्ध था। जायसी ने सिंह का रूप धारण किया और एक शिकारी ने उन्हें मार डाला।

जाती है। राजा की इस दुर्दशा पर समुद्र के राजा को बड़ी दया आती है, और वे अपनी दैवी सहायता से पद्मिनी से उनका पुनर्मिलन करा देते हैं और उनके सभी मृत साथियों को अमृत पिलाकर जिला देते हैं। तत्पश्चात् राजा रत्नसिंह चित्तौड़ कुशलतापूर्वक पहुँच गये और अपनी दोनों रानियों के साथ सुख-पूर्वक रहने लगे। कुछ समय बाद उनकी सभा के राघवचेतन नामक एक सिद्ध पण्डित से उनका वैर हो गया। राघव खिलजी सम्राट अलाउद्दीन के पास दिल्ली चला जाता है और उसे पद्मिनी के रूप का लालच देकर चित्तौड़ पर चढ़ाई करने के लिए उकसाता है। फलस्वरूप अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर आक्रमण कर दिया और छलपूर्वक राजा रत्नसिंह को मरवा दिया। महारानी पद्मावती और महारानी नागमती दोनों ने अपने प्रियतम की मृत्यु का समाचार सुनकर अपने सतीत्व की रक्षा करने के लिए जौहरव्रत किया और अग्नि में जलकर सती हो गईं। अलाउद्दीन के हाथ कुछ न लगा।

इस कथा के रूपक की आध्यात्मिकता को जायसी ने 'पद्मावत' को समाप्त करते हुए इस प्रकार स्पष्ट किया है :—

'तन चितउर, मन राना कीन्हा ; हिय सिंघल, बुधिपद्मिनी चीन्हा।
गुरु सुआ जेहि पन्थ दिखावा, बिन गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया धन्धा, बाँधा सोई न एहि चित बाँधा।
राघवदूत सोई सैतानू, माया अलाउद्दीन सुल्तानू॥

[अर्थात् तन चित्तौड़ है, और मन उसका राजा। हृदय सिंघलद्वीप है और पद्मिनी आत्मा। हीरामन तोता गुरु का प्रतीक है, जिसकी सहायता बिना निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति असम्भव है। नागमती संसार के मोह-बंधन का रूप है और अलाउद्दीन खिलजी माया का जाल।]

पद्मिनी के सौंदर्य-चित्रण में जायसी ने काव्य-कला के सर्वोत्तम चित्र अंकित किये हैं। सरोवर में खड़ी हँसती हुई सुन्दरी पद्मिनी की केवल एक झलक देखिए—

'बिकसा कुमुद देखि ससि रेखा। भई तहँ ओर उसा जो देखा॥
पावा रूप, रूप जस चाहा। ससि मुख सहुँ दरपन होइ राहा॥
नयन जो देखा कमल भा, निर्मल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन ज्योति नग हीर॥'

आधुनिक हिंदी-साहित्य में चित्तौड़ पर कई खंड-काव्य और कुछ फुटकर कविताएँ लिखी गई हैं। रामकुमार वर्मा की 'चित्तौड़ की चिता', श्यामनारायण पाँडे की 'हल्दीघाटी' और सुधीन्द्र की 'जौहर' अच्छे खंडकाव्य हैं। महाराणा संग्रामसिंह पर गुजरात के शासक बहादुरशाह ने चढ़ाई की। महारानी करुणावती ने चित्तौड़ की रक्षा के लिए हुमायूँ से सहायता माँगी, किन्तु किन्हीं कारणों से हुमायूँ समय पर न पहुँच सका और राणा हार गये। बालक उदयसिंह को पन्ना धाय को सिपुर्द कर महारानी करुणावती ने जौहर-व्रत किया। जब वे जलकर राख हो चुकी थीं, तभी हुमायूँ आ पहुँचा और उसने बहादुरशाह से युद्ध किया और उसे पराजित कर गुजरात भगा दिया। वर्माजी की 'चित्तौड़ की चिता' की यही कथा है, जो बड़े प्रभावशाली छंदों में लिखी गई है और

सरल तथा सुन्दर है। श्यामनारायण पांडे की 'हल्दीघाटी' चित्तौड़ की महानतम थर्मोपली पर खड़ी बोली में प्रथम और श्रेष्ठ प्रबंधकाव्य है। आदर्श वीर प्रताप और मुगलों की सेना के परस्पर युद्ध के जो दृश्य पांडेजी ने अपनी ओजस्विनी शैली में चित्रित किये हैं, वे अति सजीव और सुन्दर हैं।

हिंदी में जो फुटकर कविताएँ चित्तौड़ पर लिखी गई हैं, उनमें भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, सोहनलाल द्विवेदी और उदयशंकर भट्ट की उल्लेखनीय हैं। भारतेन्दु बाबू ने तो जैसे अपने हृदय की कसक मूर्तिमती कर दी है :—

'हाय चितौर निलज तू भारी!
अजहुँ खरो भारतहि मझारी।'

यह बड़े आश्चर्य और दुःख की बात है कि चित्तौड़ पर अभी तक कोई अच्छा उपन्यास नहीं लिखा गया और न कहानियाँ ही। यों बच्चों के लिए तो चित्तौड़ पर बहुत-सी छोटी-छोटी कहानियाँ हैं और शिक्षाप्रद नाटक भी। हिन्दी में चित्तौड़ पर सबसे अधिक नाटक-साहित्य मिलता है। हमारी भाषा में पहले नाटक संस्कृत और बँगला से अनूदित होकर आये। रूपनारायण पांडे ने चित्तौड़ सम्बन्धी द्विजेन्द्रलाल राय के दो नाटकों का हिन्दी में रूपान्तर किया है : राठौर वीर दुर्गादास और मेवाड़ पतन। ये दोनों नाटक पारसी रंगमञ्च पर अनेक नाटक मंडलियों द्वारा भारत की जनता के समक्ष इतनी बार खेले गये हैं (और आज भी खेले जाते हैं) कि बच्चा-बच्चा इनसे परिचित है। आज भारत के सन्मुख प्राचीन भारत की जीती-जागती गौरव-गरिमा और आदर्श प्रस्तुत करने का सारा श्रेय द्विजेन्द्र बाबू को है। महाराणा प्रताप के पुत्र अमरसिंह ने चित्तौड़ पर पुनः अधिकार प्राप्त करने के लिए उस पर आक्रमण किया। दुर्ग उस समय मुगल सम्राट जहाँगीर के अधिकार में था और उसकी रक्षा का भार महावत खाँ की कमान में। द्विजेन्द्रबाबू ने 'मेवाड़ पतन' में महाबतखाँ को राणा प्रताप के छोटे भाई राणा सगरसिंह का पुत्र बतलाया है और उसका हिन्दू से मुसलमान होना लिखा है। यह तथ्य रनिवास और चित्तौड़ की परम्परा के बिलकुल विरुद्ध है, और बंगाली नाटककार की कोरी कल्पना है। लेकिन 'सगर-पुत्र' महाबत खाँ ही इस नाटक का प्राण है। मुगल सेनापति और अमरसिंह को इस प्रकार भाई-भाई दिखला कर द्विजेन्द्रबाबू ने हिन्दू-मुस्लिम एकता की वकालत करनी चाही है। अपने दूसरे नाटक में उन्होंने दुर्गादास को मर्यादा पुरुषोत्तम दिखाकर राम की तरह का एक धीरोदात्त चरित्र चित्रित किया है। मारवाड़ के राणा जसवन्तसिंह और उनके दोनों निरीह बालकों की हत्या औरंगजेब ने करा दी थी। उनकी मृत्यु के बाद महारानी महामाया के एक और पुत्र हुआ। तब महारानी दिल्ली में ही थीं। औरंगजेब ने इस नवजात शिशु की भी हत्या करके मारवाड़ की जड़ खोदनी चाही, लेकिन मारवाड़ के वीर सेनापति दुर्गादास राठौर ने अपने प्राणों की बाजी लगाकर उस शिशु और महारानी महामाया को दिल्ली से औरंगजेब के पंजे से निकाल लिया और अपने स्वदेश मारवाड़ की रक्षा की।

हिन्दी के मौलिक नाटकों में जयशंकर 'प्रसाद' का 'महाराणा का महत्व',

जगन्नाथ प्रसाद मिलिंद का 'प्रताप-प्रतिज्ञा', उपेन्द्रनाथ अश्क का 'जय-पराजय', गोविन्द वल्लभ पंत का 'राजमुकुट' और हरिकृष्ण प्रेमी का 'रक्षा-बन्धन' उल्लेखनीय हैं। इनमें 'प्रताप-प्रतिज्ञा', 'जय-पराजय', और 'राजमुकुट' हिन्दी के नाटक-साहित्य की मूल्यवान निधियाँ हैं। मिलिंद ने अपने नाटक में एक भी स्त्री-पात्र नहीं रखा है; शायद इसलिए कि इसे उन्होंने लड़कपन में लिखा था, पर इसके गीत बहुत सुन्दर हैं। इसी में आप शाहजहाँ को गाते सुनेंगे---

'जागो जागो हे अनजान! हे अनजान, हे नादान।
देख-देख सोने की कड़ियाँ! मत समझो वैभव की लड़ियाँ—
भोले बन्दी खोलो अँखिया! आखिर है यह भी हथकड़ियाँ।
बन्धन है जिनकी पहिचान!—जागो-जागो हे अनजान?'

प्रेमी के 'रक्षा-बन्धन' का वही कथानक है जो रामकुमार वर्मा की 'चित्तौड़ की चिता' का है। इसमें भी द्विजेन्द्र बाबू की तरह हिन्दू-मुस्लिम एकता की वकालत करने के लिए ही महाराणी कर्मवती से लेखक ने हुमायूँ को राखी भिजवाकर भाई बनवाया है। अश्क के 'जय-पराजय' में नाटक के प्रमुख संघर्ष का आधार मनोविज्ञान और राजस्थान की परम्परा के विपरीत होने के कारण कमजोर है, लेकिन वेश्या भारमती और युवराज चण्ड के चरित्रों की सृष्टि अवश्य ही हिन्दी-साहित्य को उनकी देन है। पंडित गोविन्द-वल्लभ पंत के राजमुकुट का आधार वीर-रमणी पन्ना धाय का वह महान अमर बलिदान है, जो उसने महाराणा संग्रामसिंह के अनाथ-पुत्र और राज्य के उत्तराधिकारी उदयसिंह के प्राण बचाने के लिए क्रूर बनवीर की तलवार को अपने कलेजे के लाल का खून पिला-कर किया था।

राणा उदयसिंह के प्राण न बचते, तो वीर-प्रसू चित्तौड़ में भारत के वीर-श्रेष्ठ उनके पुत्र महाराणा प्रतापसिंह न उत्पन्न हुए होते। पन्ना धाय भी चित्तौड़ के घर-घर में देवी-माता की तरह पूजी जाती है।

तो ऐसी है हिन्दी-साहित्य में चित्तौड़ की रूपरेखा, जिसमें भविष्य के कलाकार अनंतकाल तक रंग भरते रहेंगे। चित्तौड़ ही हमारे साहित्य-संसार का ऐसा अमर वीर है, जिसके भव्य रक्तरंजित अतीत के प्रति हमारी वाणी मौन हो जाती है, मस्तक झुक जाता है और हृदय अभिमान से फूल उठता है।

★

'अज्ञेय' : एक व्यक्तित्व

[प्रकाशचन्द्र गुप्त]

हिन्दी साहित्य में आज जो मुट्ठी-भर शक्तियाँ जागरूक और विकासमान हैं, 'अज्ञेय' उनमें महत्वपूर्ण हैं। उनका व्यक्तित्व गम्भीर और रहस्यपूर्ण है। उनको पहचानना कठिन है।

ऊपर से शान्त किन्तु अन्तर में धधकती अग्नि छिपाये हिम से ढके ज्वाला-मुखी सदृश यह व्यक्तित्व है। 'अज्ञेय' के पीछे शताब्दियों की पुरानी कुलीन संस्कृति है और इसका सुनहरी चमकता मुलम्मा आपके शान्त, मधुर व्यक्तित्व पर चढ़ा है। किन्तु हम जानते हैं कि इस कोमलता और स्निग्ध मिठास के पीछे एक उग्र, उद्धत उपेक्षा का भाव है और विद्रोह की आग है। इसका साक्षी आपका जीवन और रचनाएँ हैं।

'अज्ञेय' एक उच्च-मध्य कुल की सन्तान हैं। आपके परिवार में संस्कृत शिक्षा की परिपाटी चिरकाल से चली आ रही है। आपके पिता पुरातत्व-विभाग में ऊँचे ओहदे के कर्मचारी हैं। किन्तु 'अज्ञेय' ने यह विरासत त्याग दी है। आप घर छोड़ आतंकवादी दल से मिले और भारतीय चिन्ता-धारा को तज एक नवीन सांस्कृतिक प्रयोग की ओर मुड़े। आपने कठिन कारावास सहा है और समाजवाद की विद्रोही धाराओं यानी ट्राटस्कीवाद और रॉयिज्म से आपने नाता जोड़ा है। फिर भी 'अज्ञेय' का व्यक्तित्व एक समन्वय अवश्य है, केवल न-कार नहीं।

जेल में 'अज्ञेय' ने कहानियाँ लिखनी शुरू कीं जो अब 'विपथगा' नाम से छप चुकी हैं। आपकी कविताओं का संग्रह 'भग्नदूत', आपके बृहत् उपन्यास 'शेखर' का पहला खण्ड और 'चिन्ता'—गद्य-गीत और कविताओं की एक मुक्ता-माल—यह रचनाएँ प्रकाश में आ चुकी हैं। 'अज्ञेय' पैनी दृष्टि के आलोचक भी हैं। 'विशाल भारत' का एक वर्ष का सम्पादन-काल स्मरणीय प्रयास था। देहली रेडियो से नई किताबों के रिव्यू अपनी निर्भीकता और रसज्ञता के लिए ख्याति पा चुके हैं। आलोचना-साहित्य को आपकी देन 'त्रिशंकु' प्रकाशित होनेवाली है। हम देखते हैं कि सर्वतोमुखी प्रतिभा से सम्पन्न यह व्यक्तित्व प्रकाशमान पुच्छल तारे के समान हिन्दी के आकाश में उदय हुआ।

यह भी लगता है कि यह व्यक्तित्व अपने में ही रमा, खुल नहीं पाता और कुण्ठित होकर रह जाता है। बूर्जुवा संस्कृति की पराकाष्ठा से घुटकर वह अन्तर्मुखी हो रहा है :

'मैं क्यों इस प्रकार अपने हृदय को चीरकर देखता हूँ? उसमें प्रेम है या व्यथा, सुख है या दुःख, आशा है या निराशा, प्रशस्ति है या तिरस्कार, यह जानने की

चेष्टा क्यों करता हूँ ! अपने को बहुत अधिक जानने से कोई लाभ नहीं होता, केवल क्लेश ही क्लेश होता है...' ['चिन्ता', पृष्ठ १३]

फिर भी वह जितना ही जग को पहचानने का प्रयास करता है, केवल अपने को ही पहचान कर रह जाता है !

'कभी-कभी—शायद सदी में एक बार—एक व्यक्ति ऐसा उत्पन्न हो जाता है जिसकी कामना की अपेक्षा उसका विवेक अधिक क्रियाशील होता है और रहता है। ऐसा व्यक्ति संसार में तहलका मचा देता है, किन्तु सुखी कभी नहीं हो पाता...संसार भर के दैन्य, दारिद्र्य, दुःख में छिपा हुआ नित्य भैरव तथा उसकी आँखों के आगे नाचता रहता है, और उसे वास्तव को भुलाकर इच्छित की स्थापना का समय नहीं देता। संसार उसके काम को देखकर समझता है कि उसने बहुत कुछ किया, किन्तु इसी विवेक के आधिक्य के कारण, संसार की त्रुटियों की निकटतम अनुभूति के कारण, वह अपने आपको ऐसा विश्वास नहीं दिला पाता। वह आजीवन वैसा ही क्षुब्ध और अशान्त चला जाता है जैसा जीवन के आरम्भ में था··

'मैंने समझ लिया, मैं भी ऐसा ही प्राणी हूँ।' [चिन्ता', पृष्ठ १५]

'अज्ञेय' की अनुभूति परम कोमल और परिमार्जित है। विश्व के कण-कण ने उन्हें स्पर्श किया है। वह मोम के समान कोमल हैं और स्फटिक के समान कठोर भी। वह झुकना भी जानते हैं और तनना भी ! वह नम्र भी हैं और उग्र भी :

'फूला कहीं एक फूल !
विटप कि भाल पर,
दूर किसी एक स्निग्ध डाल पर,
एक फूल—
खिला अनजाने में।
मलय-समीर उसे पा न सकी,
ग्रीष्म की गरिमा झुका न सकी
सुरभि को उसकी छिपा न सकी
शिशिर की मृत्यु धूल !
फूल था या आग थी जली जो अनजाने में !
जिसकी लुनाई देख विटप झुलस गया—
सौरभ से जिसके समीरण उलझ गया,
भव निज गौरव को भूल गया,
सुमन के तन्तु की ही फाँसी से झूल गया !'

ऐसे फिर
जग की विभूतियों को छान कर
एक तीखे घूँट ही में पान कर
लाख-लाख प्राणियों के जीवन की गरिमा
—हाय उस सुमन की छोटी-सी परिमा !—
मूर्च्छित हो कुसुम स्वयं ही वह चू पड़ा—
जानने को आने किस जीवन की महिमा !'

'अज्ञेय'जी का जीवन जग की वेदना से विकल संतप्त और अभिशप्त है। वह इस पीड़ा का प्रतिकार चाहते हैं और सतत् इस चिन्ता में लीन हैं। उनकी कला आज की लड़ाई में चमकता अस्त्र भी है।

किन्तु फिर भी 'अज्ञेय' का व्यक्तित्व एक विफलता और अवसाद का भाव लिये है। इसका क्या कारण हो सकता है? क्यों आपकी कला में पीड़ित मानवता के लिए आशा की गूँज नहीं? क्यों तृषित के लिए आपकी रचना ओस की बूँद मात्र है?

'अज्ञेय'जी को शायद मानव की सामूहिक शक्ति पर भरोसा नहीं। आप व्यक्तिवाद के क़ायल हैं और विद्रोही व्यक्ति को त्राण का उपाय समझते हैं, विद्रोही समाज नहीं—ट्रॉटस्की को, क्रान्तिकारी रूस को—प्रतिनिधि स्टालिन को नहीं :

'जाने किस दूर वन-प्रान्तर से उड़कर
आया एक धूलिकण।
ग्रीष्म ने तपाया उसे,
शीत ने सताया उसे,
भव ने उपेक्षा के समुद्र में डुबाया उसे,
पर उसमें थी कुछ ऐसी एक धीरता—
जीवन-समर में थी ऐसी कुछ वीरता,
जग सारा हार गया,
डाल हथियार गया ;
अपने कलंक की ही कालिमा के बिन्दु में
डूबा वह, या कि आत्म-ताड़ना के सिन्धु में !...'

फिर भी शेखर की ही भाँति 'अज्ञेय' का व्यक्तित्व घोंघे के अन्दर रहता है और उससे बाहर निकलने में घबराता है। आज कलाकार की कुलीन परम्परा अधिक पके फल के समान टूटकर गिरने वाली है। किन्तु अभी तक उसका संकोच और संयम एक अभिशाप बना है। आज की समाज में परम्परा और मर्यादा विहीन मज़दूर ही क्रांति का अग्रदूत बन सकता है। शिष्ट वर्ग केवल 'भग्न-दूत' है !

★

क: कविताएँ

बन्द करो द्वार

●

[उदयशङ्कर भट्ट]

बन्द करो द्वार—
आ रही है बदबू तुम्हारे इन महलों से
उठती है सड़ायँद बुसे हुए फूलों की,
जिनमें न है सुगन्ध आज अब कहीं कोई :
नालियों में कीचड़ है।
कमरों में अगर धूप की है टूटी डंठलें ही
बुझी हुई, सीलन से दरी भरी,
रोमहीन कालीन।
बिखरे हुए लवेण्डर, क्रीम और पामेड की
पुरानी सी गन्ध मन्द।
आ रही है दुर्गन्ध
तुम्हारे इन कपड़ों से पिए से पसीने की।
अंडी के तेल से मिली हुई नीम की सी ;
और जो कि बार-बार की है नाक साफ तुमने
शर्ट के कफों से तथा दूध के हैं दाग़ जहाँ
गीले-गीले मक्खियों का ले गिरोह।
हो रहा है मोह, अरे, थेगड़ी की अचकन पर
अब भी कि जब शुद्ध यद्यपि है सस्ता पट,
किन्तु वह सस्ता ही सुलभ सदा होता और
होता है समस्त का भी ध्येय उस ही में पूर्ण।
जीर्ण का न होगा पूर्ण कभी नव उद्धार
बन्द करो द्वार
बाँचता है वेद, उपनिषद, गाथाएँ कोई
नाराशंसी औ' पुराण या कि जिंदाबस्ता, बाइबिल ओल्ड और न्यू
कुर-आन झुक-झुक
अपने ही ध्यान में
या कि जोर-जोर से सुनाने को है उत्सुक,

और तुम्हें बाँध लेने को है सन्नद्ध क्रुद्ध
एक भी न पग ताकि हिल सको, डुल सको,
एक भी विचार हो न भिन्न
उस पंथा से ही, सीमा से
विचार से ही जिसकी सीमाएँ
आज भी हैं बाँधती जगत्
और जिनकी नीवों में है रूप, व्यर्थ प्राचीन,
जीर्ण तर्क, प्रतिहिंसा, घृणा, व्यंग्य, नीतिवक्र
स्वार्थ, भेद, भूरि-भूरि पुञ्ज अभिान मैल।
है न जहाँ कोई भी कहीं भी पर भावना का
मानव की कामना का विघ्न
और पूर्ण ध्येय,
पूत औ' पुनीत लक्ष्य
लक्ष-लक्ष पर-हित में निहित संहार
बन्द करो द्वार—
सुनो, सुनो खोल दो वे खिड़कियाँ औ'
दरवाजे, स्काई लाइट, वेण्टिलेशन
भर जाने दो प्रकाश नव
सूरज है उग रहा मत डरो
पूरब से या कि वह पच्छिम से
उगने दो, बढ़ने दो, भरने दो
नव हास, नव विलास
हर्ष-हर्ष, नव वर्ष
तोड़ दो कंगूरे सब गुम्बद औ' मीनार
खोल दो द्वार—
आज सब टूट गईं चीनी की रकाबियाँ वे
पिर्च और प्याले मैले, पीतल के, काँसे के
ताँबे के पात्र छिन्न।
जूठन है, सड़ा हुआ अन्न औ, मिठाइयाँ हैं
लड्डुओं का भूरा, बुसी दाल-भात, केक, टोस्ट
खाके छोड़ गये हैं बुजुर्ग सभी अच्छा-अच्छा
बची अब जूठन है खाओगे क्या उसे हीन ?
फैल गई हैजा, प्लेग, तपेदिक, खाँसी
क्योंकि सड़ा है समाज का विधान ;
ढाँचा ठोक-ठोक कर बनाओ मत उसे नव।

है पुराना-पुराना ही और नया-नया ही है
नए और पुराने को मिलाकर, घोल-घोल
मत उसे भ्रष्ट करो, मत नव नष्ट करो
गढ़ो-गढ़ो नई ईंट, नया-नया गारा करो
खड़ा करो, बड़ा करो एक नव भव्य गृह
जीर्ण न आदर्श वहाँ, शीर्ण न संघर्ष वहाँ
नव हर्ष नव वर्ष—
मूढ़ 'माइथोलोजी' व्यर्थ आइडियोलोजी
रहने न पावे सड़ा देने को विचार नर
कहीं कोई मूढ़ ग्राह, रूढ़ियों का हो प्रवाह
स्वार्थ के स्तरों में छिपा व्यर्थ का अहंकार
बन्द करो द्वार—
पैदा हुआ नंगा मैं निर्विकार निर्लेप
ऊँच, नीच, वर्ण, जाति, धर्म औ समाजहीन
शुद्ध बुद्ध रागहीन, मायाहीन, छल छोड़
मानव का एक पुत्र, मानव ही बनने को
मानव समानता का लिये पूर्ण सुविचार
खोल दो वे सब द्वार—

*

छः सॉनेट

●

[नरेन्द्र शर्मा]

(१)

नहीं पनपते आज कल्पना के कोमल अँकुर!
शब्द वही पर अर्थ नहीं वह, बदलीं परिभाषा;
आर्त्तनाद करती अभिलाषा, मूक बनी आशा;
तारकचुम्बी सौध-धाम स्वप्नों के क्षणभंगुर!

प्रस्तर थे वाचाल, नहीं अब मुरली में भी सुर!
सड़ा अचल जल और पड़ी मृतप्राय पवनश्वासा;
इन्दु डालता डोर—नहीं लहराती अभिलाषा;
नहीं बेधती दृष्टि भविष्यत्, यद्यपि मिलनातुर!

कवि, बोलो क्यों हुआ आज यह परिवर्तन असमय?
तारोंभरी वही रातें, क्यों खाली-खाली मन?

बैठा काला साँप अमंगल, आसन बना हृदय—
अन्धे बालक-सा क्यों अहि से खेल रहा यौवन ?
जीवन की ज्योत्स्ना पर क्यों श्यामल निशान छाया ?
वस्तुसत्य को छोड़ चूँकि सपनों को अपनाया !

(२)

अग्नि का कर आचमन संकल्प कर, मानव !—
तर अनल के सिन्धु भी बढ़ता चलेगा तू !
तू नहीं वह चीज़ जो जल खाक हो जाए—
नित्य निखरेगा मनुज जितना जलेगा तू !

मिस्र, चीन, सुमेरु, बाबुल - बुलबुले तेरे,
सभ्यता के स्रोत, मनु ! कैसे रुकेगा तू ?
झुका तेरे सामने था वृद्ध विन्ध्याचल—
विघ्न - बाधा देख अब कैसे झुकेगा तू ?

बहुत-सी मंज़िल हुई हैं पार, देखे—
बहुत-से बटमार, फिर उनसे लड़ेगा तू !
चेतना हो मूर्त तुझमें सँवरने आई—
क्या न मिट्टी से कनक - प्रतिमा घड़ेगा तू ?

यहाँ कौन अयुद्ध है, कटिबद्ध हो, मानव !
अब मनुज ही देव तेरा, मनुज ही दानव !

(३)

टुकुर टुकुर नभ में निहारते तारों से ही पूछो तुम—
अखिल भुवन के उपवन में है सर्वोत्तम वह कौन कुसुम ?
मानव उसका नाम, फूल वह खिला प्राण की डालों पर
सुरभित सुरंग पँखुरियाँ जिसकी, हैं मानवप्राणी हम तुम !

किन्तु क्रोड़ में पुष्पश्रेष्ठ के बसा एक लघु कृमि भी है,
जिसने कई बार फुलवारी की फुलवारी डस ली है !
पर यह ऐसा फूल कि फिर फिर धूलि निगल जी उठता है,
सब भूतों ने महामहिम मानव को वह प्रतिभा दी है !

उस प्रतिभा का नाम चेतना, वही सुरभि इस चम्पक की !
सुरभि सिन्धुवत्, किन्तु बुद्धि कणिकावत् अणुवत् सम्यक् भी !
दल पर दल खुलते प्रसून के कहीं सुरभि का अन्त नहीं,
किन्तु एक दिन बुद्धि गहेगी सुरभि-चेतना तह तक की !

पूर्ण मनुज जब जीत प्रकृति आगे को पाँव बढ़ाएगा,
कैसे कह दूँ स्वल्पज्ञान—किस मंज़िल तक मनु जाएगा !

(४)

नतमस्तक हो सूर्य रोकता राह और ऊँचा चढ़ तू!
तिमिराञ्चल छिपा थका पथ, किन्तु और आगे बढ़ तू!
एकाकी है तू, पर कैसा एकाकी मानव प्राणी?
तेरी उर-कम्पन में स्पंदित सदियाँ जानी-अनजानी!

एक बूँद शोणित की तेरे, चिनगारी उस ज्वाला की,
जिस ज्वाला से दीपित मनु की जाति विपुल मणिमाला-सी!
देश-राष्ट्र, भाषाएँ जिनकी अनगिनती तरु-पातों-सी,
हुए एक तेरे तन-मन में, और न सागर सातों भी

विलग उन्हें कर सकते तुझसे—फिर तू कैसा एकाकी?
इससे वंचित कर न सकेगा तुझे भाग्य का लेखा भी!
निरुद्देश्य बहती बयार, पर तुझको उसकी होड़ नहीं!
बँधे पाँव ये खड़े पेड़, पर तेरा उनका जोड़ नहीं!

द्युति दिन की, विद्युत् खग-पाँखों की खोई, आगे बढ़ तू!
उतरे चाँद-सितारे जल में, पर ऊँचा-ऊँचा चढ़ तू!

(५)

अमिय के मणिपात्र-सा यह द्वादशी का इन्दु,
क्या न हिम में ढाल देगा अमिय के दो बिन्दु?
शून्य है मेरा हृदय भी शून्य ज्यों आकाश,
क्या न नभ-सा बनेगा मन ज्योत्स्ना का सिन्धु?

क्यों न जाने शून्य उर में विकल फिर उच्छ्‌वास?
व्योम में ज्यों डोलता यह फाल्गुणी वातास!
अमिय के मणिपात्र-सा है द्वादशी का चाँद,
रिक्त है मधुपात्र उर का, शून्य ज्यों आकाश!

पूर्णता की ओर उन्मुख शुक्लपाखी चाँद,
क्षिप्रपाँखी हृदय ने भी तोड़ डाला बाँध!
शमित बाधा-बाँध पदतल, विन्ध्य ज्यों नतशीश,
और मैं बढ़ चला हूँ गिरि और गह्वर फाँद!

पूर्ण भी हो जायगा यह हृदय खण्डित पात्र,
अमृत-दीपक-से खिलेंगे प्राण, मन औ' गात्र!

(६)

जितने वज्र धँसे उतना ही वक्ष सुदृढ़ सुविशाल बने!
अधिकाधिक सोहे जो शोणित श्रमसीकर से भाल सने!

वह भी कैसा मनुज न उलझा ले जो झंझा केशों में,
सह प्रहार फिर मेरुदंड जिसका न और से और तने!
तेजपुञ्ज की जिह्वाओं-सी लपटें देशों-देशों में
घोषित करतीं, आए जो भी चाहे जल इन क्लेशों में
सजल स्वर्ण बन जाय, काल इतिहास लिखे जिससे अक्षर!
अब न रहेगा मानव बटकर, छिपकर भाषा-वेशों में!
अपलक आज समय, सदियाँ शत मौन साध तकतीं निर्भर—
टकराते इस्पाती तट दो, मानवता बह जाय किधर!
स्मृति में भी गति, भय है उलटी बहे न गंगा की धारा,
रोक प्रगतिरथ, भागीरथ का रुप न जायँ पथ में पत्थर!
रोप रहे पथ में पत्थर जो, बना रहे तुमको कारा—
बनो आज तूफ़ान कि बाधा-बाँध फाँद चल दे धारा!

★

प्यार तुम्हारा

●

[त्रिलोचन]

मुझे जगत जीवन का प्रेमी
बना रहा है प्यार तुम्हारा

मेरी दुर्बलता को हरकर
नई शक्ति नव साहस भरकर
तुमने फिर उत्साह दिलाया
कर्म-क्षेत्र में बढ़ूँ सँभलकर
तब से मैं अविरत बढ़ता हूँ
बल देता है प्यार तुम्हारा

मुझमें जीवन की लय जागी
मैं धरती का हूँ अनुरागी
जड़ीभूत करती थी मुझको
वह सम्पूर्ण निराशा त्यागी
मैं निर्भय संघर्ष निरत हो
बदल रहा संसार तुम्हारा

सुनता हूँ मैं जीवन का स्वर
गाता हूँ मैं जीवन का स्वर
विपुल कण्ठ हर्षाकुल गाते
अमर रहेगा जीवन का स्वर
मैं युग जीवन का अनुयायी
मुझको प्रेरक प्यार तुम्हारा

हैं असंख्य कर-पद सहकारी
अतुलनीय है यह तैयारी
सभी कार्य पल भर में होते
यह सामाजिक विजय हमारी
आज हमारी इच्छाओं से
रचा गया संसार तुम्हारा

शेष नहीं है तम दुखदायी
ज्ञान-ज्योति नव भूपर छायी
आज संगठित बल ने मिलकर
सुन्दर नई सृष्टि उपजायी
सोच रहा हूँ बल देता है
कितना कितना प्यार तुम्हारा

नहीं विश्व से हैं हम बाहर
विश्व हमारे भीतर बाहर
जग की भावी रूपयोजना
हम पर तुम पर सब पर निर्भर
विश्व बदलने का नूतन क्रम,
कार्य, लगन, संस्कार हमारा

हम तुम इसी जगत् के प्राणी
इसी जगत् ने दी है वाणी
इसको नव-निर्मित करने में
हों हम तुम सक्रिय कल्याणी
तन मन में बँधकर रहने में
अब न रहा उपकार हमारा

सूर्य, चन्द्र, घन, पवन गगन में
रहते हैं तल्लीन लगन में
इनसे शोभा, श्री, नव-जीवन
विकसित भूतल पर क्षण-क्षण में
कितने अर्थ-हीन हम होंगे
यदि न सजग संस्कार हमारा

वन, पर्वत पर, सागर-तल पर
व्योम, विजन में महिमा-निर्भर
अपना चरण-चिह्न हम छोड़ें
अजर, अमर, गति-प्रेरक, द्युति-धर
भावी मानव जिससे मानें
हो सशक्त आभार हमारा

लहरों का क्षणकालिक जीवन
किन्तु अमिट है उनका कम्पन
हम भी अपने क्रिया-कम्प से
दें प्रोत्साहन दें नव-जीवन
जिससे आगामी जन सोचें—
यों विकास-इतिहास हमारा

शक्ति प्रकृति की अति विस्तृत है
और अभी तक वह अविजित है
अधिकृत करके सेवा लेना
सामाजिक, उससे समुचित है
यही हमारी मानवता की
उन्नति-क्रम का एक सहारा

★

बादल के चित्र

●

['शील']

बन गया, बन गया बादल में
देखो वह कैसा एक द्वीप।
बन-बन बनते मिटते महीप,
बुझ-बुझ बुझते जलते प्रदीप।

बन गया शैल सुन्दर विशाल
बन गये स्वर्ण मन्दिर सुपास।
बन गये देख लो पल भर में,
सुर-सुन्दरियों के केशपाश।

वह थिरक उठी पग उठा एक,
कर उठा एक, कर कटि पर है।
कंचुकी कटाक्षिणि खोल रही,
दे रही ताल पग-पग पर है।

वह कुछ मतवाले बैठे हैं
प्याले पर प्याला ढाल रहे।
कुछ तो मस्ती में लड़ बैठे,
कुछ कर में ले करवाल रहे।

जा रही ट्रेन आ रही कार,
भिड़ गई कार हो गई चूर।
हो गई सुन्दरी टूक-टूक
राजा कन्दुक से गिरे दूर।

कुछ माँग रही कर फैलाये
अगणित कंगालों की टोली,
जल उठी उधर ही तो देखो
उनके अरमानों की होली।

दुबले पतले शिशु बाँट रहे
आपस में रोटी के टुकड़े,
वे लिये जा रहे, किधर, कहाँ,
प्यादे उस मानव को पकड़े।

वे राजा हैं, वे रानी हैं
उनके ही सम्मुख अनाचार,
मानव मुरगा है बना हुआ,
प्यादे चढ़ते हैं बार बार।

वह देखो एक किनारे पर
नर पड़ा नग्न कंकाल एक।
छन भर में ही क्या हुआ अरे
बन गये एक से नर अनेक।

चल दिया वेग अति मारुत का,
साम्राज्य मिटे, राजे न रहे।
मच गई चतुर्दिक मार-काट,
शोणित सरिता में शीश बहे।

छन छन के ही परिवर्तन में,
काले काले घन गरज पड़े।
कड़की चपला फिर चमक उठी,
झुकि झूमि झूमि घन बरस पड़े।

★

'हम चूर-चूर कर देंगे शोषण की सत्ता'

बाल-सेना का गीत

●

[भारतभूषण अग्रवाल]

हम हैं धरती के लाल, लाल कर देंगे रिपु के शोणित से अपनी माता के अंचल को
हम ले मशाल नव-जीवन की बढ़ते जाते हैं तिमिर मध्य ज्योतित करने वसुधातल को
हम क्रान्ति-पूत, हम क्रान्ति-दूत बनकर आये हैं जीर्ण-जगत के द्वार फूँकने शंखध्वनि
हम हैं नवीन युग की पुकार, वक्षस्थल में भर प्रलय-ज्वार, छा देंगे स्वर से व्योम-अवनि
हम चूर-चूर कर देंगे शोषण की सत्ता

हम हैं जनता की शक्ति, हमारी रग-रग में है रणोल्लास
हम हैं स्वतन्त्रता के प्रहरी, हम हैं समानता के विकास
हम उठे संगठन का बल ले पाने अपने अधिकारों को
हमने पलभर में मिटा दिया ज़ारों को, अत्याचारों को
हम खड़े हुए, गिर पड़ीं ध्वस्त हो पूँजीवादी दीवारें
हमने अपने पौरुष से निर्मित कीं जनता की सरकारें
हम चूर-चूर कर देंगे शोषण की सत्ता

हम उदित हुए लेकर नवीन जीवन का दर्शन, नव प्रकाश
हम जगे हमारी आँखों में देखा शोषण ने सर्वनाश
हम रूढ़ि अन्ध-विश्वासों के गढ़ पर चढ़ गये अदम्य-प्राण
हमने रजनी के पाशों से उन्मुक्त किया नवयुग-विहान
हममें संचरित स्वतन्त्र वायु, हम पले मुक्त-आकाश तले
हममें वह शक्ति कि देख-देख कर ही दुश्मन का दिल दहले
हम क्षुद्र-क्षुद्र मिलकर समुद्र, प्लावित कर देंगे पृथ्वी को
ओ क्रीत-दास नाज़ियो! पराक्रम दिखलाना हमसे सीखो
हम चूर-चूर कर देंगे शोषण की सत्ता

हम शिशु थे जब, पूँजीवादी जन समझ हमें निर्बल, अबोध
आया अपार सेना लेकर कर देने तत्क्षण कण्ठ-रोध
पर हममें वह बल था कि पराजित और चमत्कृत खल भागे
हम तम के बन्धन काट-काटकर अरुण-तरुण जग में जागे।
हम आज शक्ति में हैं अजेय, हममें स्वतन्त्र-युग का प्रकर्ष
हमने देखे हैं वसुधा पर निर्बन्ध प्रगति के बीस वर्ष
हम भंग करेंगे हिटलर का जय-स्वप्न, क्रूर अधिनायकत्व
हम मुक्त करेंगे जगती की जनता को पाने सकल स्वत्व
हम चूर-चूर कर देंगे शोषण की सत्ता

★

कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रति

[रामइकबालसिंह 'राकेश']

मानव-उर के स्तर को
रिक्त, बन्ध अपस्वर को
तुमने कविर्मनीषी !
किया स्वरित, गतिमान
रूप, गन्ध, रस देकर—
चित्र-वर्ण झङ्कार।

ठोक काव्य-मृदङ्ग
निःसृत किया—
विविध ताल, लय-भङ्ग।

नियागरा प्रपात-सा—
दिया मधुरिमा-सलिल-स्रोत,
ध्वनिमय तरङ्ग से ओत-प्रोत।

नीलकण्ठ के रम्य पंख-सा
छाया-अङ्क प्रसार,
रचा शून्य में रंग तूलि ले
नामात्मक संसार।
मांसलता, अनुराग,
जिसमें राग, विराग,
गन्धोर्मिल आनन्द-पराग,
सुर-संगीत विहाग।

जन-मन के उद्गम में
घोर विषाद गगनमें
रूप गढ़ा मानवता का—
कर पाशवता पर जय
हे मृत्युञ्जय !

मधूलिका—ले० अञ्चल, प्रकाशक, साधना मन्दिर, प्रयाग। मूल्य २)

अपराजिता—ले० अञ्चल, प्रकाशक, छात्रहितकारी पुस्तकमाला, दारागंज, प्रयाग। मूल्य २)

किरणवेला—ले० अञ्चल, प्रकाशक, सुखीजीवन-ग्रन्थमाला, दारागंज, प्रयाग। मूल्य १)

'रामेश्वर शुक्ल 'अञ्चल' नवीन हिन्दी काव्य का क्रान्तिदूत है। मैं उसे क्रान्ति का स्रष्टा भी कह सकता हूँ यदि स्रष्टा शब्द से केवल सृजनकर्ता का आशय हो।...

'क्रान्ति उसने की है, छायावाद की मानवीय किन्तु अशरीरी सौन्दर्य कल्पना के स्थान पर अपनी मांसल कृतियों द्वारा।...इस क्रान्तिदूत का सन्देश है तृष्णा, लालसा, प्यास। तृष्णा सौन्दर्य की, लालसा रूप की, प्यास प्रेम की। सौन्दर्य नारी का, रूप व्यक्त, प्रेम विनाशी अथवा जो विनष्ट हो चुका है। पूछा जा सकता है कि क्या यह कोई नया या क्रान्तिकारी सन्देश है?'—नन्ददुलारे वाजपेयी (अपराजिता की भूमिका में)

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने जिस प्रश्न की पाठकों से आशा की है उसका उत्तर वे अपनी भूमिका के पहले वाक्य में ही दे चुके हैं। उसी को उन्होंने हिन्दी काव्य की परम्परा के क्रम-विकास की विशद व्याख्या कर तर्क-संगत साबित करने की कोशिश की है। अर्थात यह दिखाया है कि छायावाद की अशरीरी भावनाओं की स्वाभाविक प्रतिक्रिया के रूप में ही अञ्चल की कविता में स्थूल की तृष्णा और लालसा जागरित हुई है, यह एक नैसर्गिक विकास है और इसी कारण क्रान्तिकारी है।

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी के तर्कों से पाठकों को अवगत करने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि वाजपेयीजी ही हिन्दी के पहले अधिकारी आलोचक हैं जिन्होंने अञ्चल की कविताओं को न केवल सहानुभूति प्रदान की, जब कि उनके ही शब्दों में 'इस विद्रोही के 'गदले गीत' अरुचिकर हो रहे थे,' बल्कि इस तथ्य का अन्वेषण भी किया कि अञ्चल की कविता में क्रान्ति का सन्देश है, और अञ्चल क्रान्ति का अग्रदूत है। 'अपराजिता' के पूर्व 'मधूलिका' प्रकाशित हुई थी, और उसके भूमिका लेखक श्री विनयमोहन शर्मा ने 'अञ्चल' की कविता के क्रान्ति-तत्त्व की ओर कहीं संकेत नहीं किया; उन्होंने केवल इतना ही स्वीकार किया कि 'अञ्चल' की कविता में 'यदि एक ओर यौवन का प्रचण्ड, निर्बन्ध प्रवाह है तो दूसरी ओर है अनुभूति की विचारोत्तेजक आँधी।' लेकिन वाजपेयीजी ने जब अंचल की कविता में क्रान्ति-तत्त्व की अवस्थिति स्वीकार की तो नये आलोचकों, विशेषकर प्रगतिवादी आलोचकों के लिए मार्ग साफ़ हो गया और वे अपनी आलोचनाओं में वाजपेयीजी से भी आगे बढ़ गये, क्योंकि जो कुछ भी हो, वाजपेयीजी ने अपनी व्याख्या में यह स्पष्ट कर दिया था कि 'अंचल' की कविता का क्रान्ति-तत्त्व हिन्दी-कविता में अभिव्यक्त भावनाओं के क्रम-विकास के तर्क से ही निरूपित है, वास्तव में क्रान्ति क्या है, दार्शनिक अथवा समाज-शास्त्रीय दृष्टि से क्रान्ति की भावना क्या है, और क्या 'अंचल' की कविता उन भावनाओं का प्रतिनिधित्व करती है, इन मापदंडों से उन्होंने जाँच नहीं की थी। कदाचित वाजपेयीजी इन कसौटियों पर अंचल की कविता को जाँचना भी नहीं चाहते थे। अतः हिन्दी-कविता के विकास-क्रम के चौखटे के अन्दर रखकर ही उन्होंने अंचल को क्रान्ति का अग्रदूत कहा था। लेकिन वाजपेयीजी ने यदि हिन्दी काव्य-परम्परा द्वारा निरूपित सीमाओं में बाँधकर तृष्णा, लालसा, प्यास के सन्देश को क्रान्तिकारी कहा था, तो नये आलोचक इन सीमाओं का विचार न कर केवल 'क्रान्तिकारी' शब्द से प्रभावित हो गये और वे अंचल की कविता के साथ 'क्रान्ति' शब्द का प्रयोग उन अर्थों में करने लगे जिन अर्थों में उसका प्रयोग समाज-शास्त्र में अथवा आमतौर पर राजनीति में किया जाता है। परन्तु समाज-शास्त्र या राजनीति में क्रान्ति का अर्थ समाज में बहुत व्यापक और बुनियादी परिवर्तनों का सूचक होता है और अंचल की कविता क्या वास्तव में इन परिवर्तनों की आवश्यकता के प्रति सचेत है, यदि है तो कहाँ तक और कैसे है, इस दृष्टि से आलोचकों ने जाँच नहीं की। परिणाम यह हुआ कि यद्यपि अंचल की कविता की प्रशंसा में अन्य किसी प्रतिभावान तरुण कवि की अपेक्षा अधिक लिखा गया है फिर भी 'इस विद्रोही कवि के 'गदले-गीत' अरुचिकर हैं।' और स्वयं अंचल इस बात को जानते हैं। कारण स्पष्ट है कि आलोचकों ने अञ्चल के काव्य के विकास-क्रम को स्पष्ट रूप से समझने की चेष्टा नहीं की और न उनके काव्य की अपेक्षा में क्रान्ति-तत्त्व की जाँच ही की। फलतः पाठकों की स्मृति में 'मधूलिका' और 'अपराजिता' के अञ्चल की अभिव्यक्तियाँ ही प्रबल हो उठती हैं, और 'किरणवेला' या उसके बाद की कविताओं के नये घुमाव दृष्टि से ओझल हो जाते हैं। और जब प्रशंसक आलोचक नयी कविताओं की कुछ पंक्तियों के आधार पर अञ्चल को क्रान्ति का अग्रदूत या क्रान्ति का स्रष्टा कहते हैं, और अञ्चल की काव्य-धारा

की अधिकांश अभिव्यक्तियों का अस्तित्व भी नहीं स्वीकार करते, अतः पाठकों के हृदय में यह बात नहीं उतरती। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने, काव्य-परम्परा की सीमाओं के अन्दर बाँधकर ही सही, अञ्चल के तृष्णा, लालसा और प्यास के आदर्श को सामाजिक दृष्टिकोण से न जाँच कर जो स्वीकृति प्रदान की है और उससे तर्कहीन प्रशंसा की जो परिपाटी चल पड़ी है, उसने अञ्चल की काव्य-प्रतिभा के विकास को गहरा धक्का पहुँचाया, और उन्हें अपने काव्य की कलागत त्रुटियों और दृष्टिकोण की संकीर्णताओं के प्रति बेख़बर कर दिया। इससे हानि अधिक हुई लाभ कम, क्योंकि यदि अञ्चल की कविता के विकास-क्रम को देखा जाय तो यह ज्ञात होता है कि उनमें चेतना का विकास अभी एकांगी ही हुआ है, वे एक दिशा में तो काफ़ी आगे बढ़े हैं, लेकिन दूसरी दिशाओं में वे अपनी पहली जगह पर ही हैं, और इससे पाठकों के हृदय का द्वन्द्व दूर नहीं हो पा रहा, आलोचक जो कहते हैं पाठक उस पर विश्वास नहीं कर पाते। आलोचकों को इस पेचीदा परिस्थिति को समझने की चेष्टा करनी चाहिए, ताकि उनके वक्तव्य ऐसे न हों जो कवि को भी भ्रम में रखें और पाठकों को भी और कवि का विकास ही रोक दें।

वाजपेयीजी का यह कथन सत्य है कि अञ्चल अभी मार्ग में हैं। इस कारण और भी आलोचकों को उन्हें साध्य-प्राप्त कवि के रूप में पेशकर उनके आगे बढ़ते कदमों को रुक जाने की प्रेरणा न देनी चाहिए।

अंचल के तीन कविता-संग्रह अभी तक प्रकाशित हुए हैं, जिनका उल्लेख प्रारम्भ में ही हो चुका है। उनकी सारी कविताएँ पढ़ जाने के बाद तीन प्रश्न उठते हैं—नारी के प्रति अंचल का दृष्टिकोण क्या है? सामाजिक क्रान्ति के प्रति अंचल का दृष्टिकोण क्या है? और उनके काव्य में भावनाओं की गहराई, अभिव्यक्ति की परिष्कृति कितनी है अर्थात् उनमें काव्य-गत सौन्दर्य कैसा है? पहले दो प्रश्न अंचल के विरोधी और समर्थक आलोचकों के कथनों से भी प्रेरित हैं, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन उनकी व्याख्या अंचल के काव्य से ही सम्बन्ध रखती है।

नारी के प्रति अंचल का दृष्टिकोण क्या है? नारी के प्रति इसलिए कि उनकी अधिकांश कविताओं में नारी को लक्ष्य करके ही तृष्णा, लालसा, प्यास का आदर्श निरूपित हुआ है। छायावाद की अशरीरी भावनाओं के प्रति उनकी प्रतिक्रिया नारी के प्रति उनके दृष्टिकोण के रूप में ही सबसे पहले व्यक्त हुई। इस दृष्टिकोण की जाँच श्री नन्ददुलारे वाजपेयी की तरह काव्य-परम्परा के क्रम-विकास की दृष्टि से ही करना त्रुटिपूर्ण है, क्योंकि इस तरह केवल इतना ही साबित किया जा सकता था कि यह दृष्टिकोण एक प्रतिक्रिया है और इसमें नवीनता है। नारी के प्रति काव्य में एक नये दृष्टिकोण की स्थिति को स्वीकृति प्रदान करने के अतिरिक्त वाजपेयीजी की प्रणाली से अधिक प्रकाश नहीं पड सकता था। परन्तु नारी एक सामाजिक प्राणी है, और उसके प्रति कोई भी दृष्टिकोण कतिपय सामाजिक संबन्धों का निर्देश करेगा और ये सामाजिक सम्बन्ध कहाँ तक उचित-अनुचित, सामाजिक विकास में अवरोधक या सहायक हैं, इसकी जाँच किये बिना निश्चित नहीं किया जा सकता कि कोई दृष्टिकोण क्रान्तिकारी है अथवा नहीं। अंचल के पाठक अपने रूढ़ संस्कारों की चेतना से उनके नारी के प्रति दृष्टिकोण की जाँच करते हैं, और उसे अनुचित मानते हैं, जब कि उनके प्रशंसक आलोचक अत्यन्त संकुचित मापदंड का प्रयोग कर इस प्रश्न को टाल देना ही उचित समझते रहे हैं। अतः यह विरोधी परिस्थिति। वाजपेयीजी ने अपनी भूमिका में एक जगह संकेत किया है कि 'यौवन सुलभ सौन्दर्य की लालसा, जहाँ वह सौन्दर्य तक ही सीमित है, भोग नहीं है। यदि उसमें पर्याप्त निस्संगता है तो वह काव्य का आभूषण ही है।' आगे उन्होंने कहा है कि सस्ती अनैतिक उत्तेजना वस्तुवादी साहित्य का दूषण है। इन दो कसौटियों पर उन्होंने अञ्चल की कविता को जाँचने की कोशिश नहीं की, उन्होंने भी इसे टाल दिया है। वैसे भी 'भोग' और 'अनैतिक' की व्याख्या नहीं की है, और इन कसौटियों की सत्यता के बारे में बहस की गुञ्जाइश रह जाती है। अतः नारी के प्रति अञ्चल के दृष्टिकोण को जाँचने में आलोचकों ने जो हिचकिचाहट दिखाई है, उससे अनेक कठिनाइयाँ पैदा हो गई हैं।

'हंस' की एक टिप्पणी में मैंने यह स्वीकार किया था कि अभी तक नारी के प्रति अञ्चल का दृष्टिकोण अपमानजनक रहा है। कई मित्रों ने रोषपूर्ण पत्र लिखे कि शायद मेरा सिर फिर गया है जो मैं प्रतिक्रियावादियों के साथ समझौता कर रहा हूँ, या कम से कम उन्हें अञ्चल की कटु आलोचना करने का प्रोत्साहन दे रहा हूँ। स्वयं अञ्चल को मेरा कथन कटु लगा। लेकिन निष्पक्ष आलोचना का वातावरण यह नहीं है, और इसी दूषित वातावरण ने अञ्चल की प्रगति को बहुत कुछ रोका है। 'अपमानजनक' के स्थान पर यदि 'संकुचित' होता तो कदाचित किसी को आपत्ति न होती। अतः नारी के प्रति अञ्चल के दृष्टिकोण को जाँचना आवश्यक है।

वाजपेयीजी ने भूमिका में लिखा है, 'स्त्री पर्दे की वस्तु या छायात्मक भाव संकेतों की पात्री न रहकर सामाजिक प्राणी के रूप में प्रतिष्ठा पा रही है, यह अञ्चल के काव्य से सुस्पष्ट हो जाता है...' अञ्चल के काव्य की नारी क्या वास्तव में सामाजिक प्राणी है? 'मधूलिका' और 'अपराजिता' की सभी कविताओं में नारी के साथ अञ्चल ने जिस सामाजिक सम्बन्ध की कल्पना की है वह केवल यौन-सम्बन्ध है।

एक पल के ही दरस में जग उठी तृष्णा अधर में
जल रहा परितप्त अंगों में पिपासाकुल पुजारी (अन्तर्गीत-मधूलिका)

'मधूलिका' की अधिकांश कविताओं में उद्दीपन का एक ही वातावरण रहता है, प्रकृति भी निर्बन्ध यौन-सम्बन्ध का विराट आयोजन है :

केलि-कलानत नव लतिकाएँ लिपट लिपट तरु तरु से
रभस-विभासित-आत्म शिथिल-सी विकल हुईं रति-सुख से
[मधु का पापी : मधूलिका]

और इस 'इन्द्रजाल' के कारण निर्बंध पिपासा छिपाये छिपती ही नहीं—*

कौन जलाता रन्ध्र रन्ध्र मे उच्छ्वल रति-गति रस की,
अभी नहीं सन्तोष अभी तो अमित पिपासा बाकी

और इस अनियन्त्रित तृष्णा का परिणाम है कि कवि बलात्कार के लिए भी तत्पर हो जाता है :

आज सोहाग हरूँ किसका लूटूँ किसका यौवन
किस परदेशी को बन्दी कर सफल करूँ यह वेदन [आज तो—मधूलिका]

और मिलन-बेला में तो प्यास बुझती ही नहीं—

अभी बहुत बेहोश-शिथिल होना, सुध-बुध खोना है
अरे अभी तो उस अनन्त आलिङ्गन में सोना है !!
[मेरे भोले साक़ी : मधूलिका]

इस प्रकार मधूलिका में तृष्णा, लालसा और प्यास का आदर्श स्त्री के साथ केवल अनियंत्रित, निर्बंध यौन-संबन्ध स्थापित करने का आदर्श है। कवि के किसी अन्य कार्य-व्यापार में वह सहयोग-असहयोग करती नहीं दीखती। यहाँ तक कि मधूलिका की अन्तिम कविता 'आज मरण की ओर' मे जब कवि संघर्ष या क्रान्ति की ओर बढ़ते 'भूखे-प्यासे' लोगों का चित्र खींचता है तो उस चित्र में भी भूखे पेट को भरने के लिए स्त्री अपने रूप का व्यापार ही करती है, अपना पेट भरने का उसके पास और कोई सामाजिक साधन नहीं है ; स्त्री के ऊपर पुरुष या समाज यदि अत्याचार करता है तो वह भी अनियंत्रित यौन-सम्बन्ध का ही क्रय करके।

'अपराजिता' में नारी के प्रति अंचल का दृष्टिकोण किंचित परिष्कृत रूप में वही है जो 'मधूलिका' में है। प्रेमी और ग्राहक दोनों ही स्त्री के साथ यौन-सम्बन्ध ही स्थापित करते हैं, स्त्री दोनों के लिए केवल योनि-मात्र ही है। प्रेम-मिलन में अथवा अत्याचार की चक्की में, दोनों स्थितियों में पड़कर उसे पुरुष की तृष्णा ही बुझानी पड़ती है। यहाँ तक कि प्रेमी भी उसके साथ अन्य किसी प्रकार का सामाजिक सम्बन्ध नहीं स्थापित करना चाहता। यह दृष्टिकोण संकुचित तो है ही, अपमानजनक भी है ? यदि किसी संभ्रांत, शिक्षित, नये स्वतंत्र विचारों की महिला से पूछा जाय तो वह भी पुरुष के साथ केवल यौन-सम्बंध ही स्थापित न करना चाहेगी, और ऐसा किया जाना उसे अपने नारीत्व का अपमान लगेगा, क्योंकि नारी एक सामाजिक प्राणी है, और पुरुष के साथ उसके सुख-दुःख, उत्थान-पतन और संघर्ष में कन्धे से कन्धा मिलाकर चलना चाहती है। आज यदि नारी परतंत्र है, तो केवल यौन-स्वातंत्र्य देने से उसे स्वतंत्र नहीं किया जा सकता।

'किरणबेला' में भी नारी के प्रति अंचल का दृष्टिकोण मूलतः वही है जो पहले था। इसे उन्होंने स्वयं अपने प्राक्कथन 'मैं—अब तक' में स्वीकार किया है—'जहाँ मैं बहक गया हूँ वहाँ मेरी दुर्बलता है—जीवन के वायवी रोमांस के प्रति अवांछनीय आसक्ति है।' एक प्रतिष्ठित कवि के मुख से निकले ये शब्द महत्व रखते हैं। क्योंकि, कवि अपने प्रशंसक आलोचकों की अपेक्षा अधिक ईमानदारी से अपनी ज़िम्मेदारी को महसूस करने लगा है। उन पाठकों को भी जो अन्य रूढ़ कारणों से अंचल की कविता को अरुचिकर मानते हैं, कवि के इस वक्तव्य पर विचार करना चाहिए। कवि स्वयं अपने पुराने दृष्टिकोण को अनुचित मानने लगा है, और यह साधारण बात नहीं है। अभी कवि उस दृष्टिकोण को पूरी तरह बदल पाया है या नहीं, और हम जानते हैं कि अभी तक वह इसमें सफल नहीं हुआ है, लेकिन वह प्रयत्नशील है, इस बात को भूल जाना कवि के साथ अन्याय करना है।

यह 'वायवी रोमांस' जिसके प्रति अंचल ने संकेत किया है, छायावाद की ही विकृति है। छायावाद में यदि अशरीरी भावनाओं द्वारा आध्यात्मिक आधार देकर प्रेमाभिव्यक्ति की गई थी, और अंचल के काव्य में स्थूल ऐन्द्रियता के रूप में, तो इससे दोनों में कोई मौलिक भेद नहीं हो जाता। छायावाद की अशरीरी भावनाएँ भी असंतोष को व्यक्त करती हैं, अन्यथा सामाजिक प्रतिबंधों को स्वीकार कर भावनाओं में जीवन की वास्तविकता से भागने का उपक्रम न होता। मानसिक विशृङ्खलता इसका परिणाम है। अंचल का असंतोष सामाजिक प्रतिबंधों और

ज़िम्मेदारियों को ठुकरा कर व्यक्त होता है। सामाजिक विशृङ्खलता या अराजकता इसका परिणाम है। वर्तमान सामाजिक असमताओं और प्रतिबंधों के प्रति विद्रोह की शृङ्खला के ये दो छोर हैं, शृङ्खला एकही है। अतएव नारी के प्रति अंचल का अब तक का दृष्टिकोण किसी नये क्रान्तिकारी सन्देश की घोषणा नहीं करता। 'किरणबेला' में इस 'नया रोमांस' की अन्तिम विकृति भी देखने में आती है। नारी यहाँ अब वर्ग-समाज की प्राणी भी है, मज़दूरिन या भिखारिन। और शोषण और दोहन के बीच पली इस नारी के जननी-रूप को कवि घृणा की दृष्टि से देखता है, उसकी बेडौल आकृति उसे और भी भद्दी लगती है, क्योंकि उन्मुक्त रोमांस की कल्पना की नारी सदैव अप्सरा जैसी सुन्दर और यौवन-मदमाती होती थी। इसी कारण गर्भिणी स्त्री के ये चित्र :

पेट में भरा एक दूसरा मांस पिण्ड हड्डियों का निचोड़।

या

उलटा टँगा है अति पीड़क झुकावन
काल का कठोर अत्याचार देखो इसकी कमर में!

नारी की दुर्गति करनेवाले समाज के शोषकों की अंचल ने इस कविता में भत्सर्ना की है, लेकिन नारी के मातृत्व के प्रति घृणा भी दिखाई है। और यह 'नयी रोमांस' की विकृति है जो स्त्री-पुरुष के बीच केवल यौन-सम्बन्ध को ही स्वीकार करता है।

नई कविताओं में नारी के प्रति अंचल का दृष्टिकोण बदला है, यद्यपि पुराना दृष्टिकोण पीछा करता है।

'किरण-बेला' में आकर अंचल की कविता में एक नये दृष्टिकोण की सूचना मिलती है, और यह दृष्टि-कोण प्रगतिवाद का है जिस पर मार्क्सवाद का प्रभाव है। लेकिन जब तक जीवन के प्रति समूचा दृष्टिकोण न बदल जाय तब तक उसमें प्रौढ़ता नहीं आ पाती। अंचल की किरण-बेला की कविताओं से भी यह स्पष्ट है। 'नयी रोमांस' की स्मृतियाँ तो प्रबल हो ही उठती हैं, वर्ग-संघर्ष की चेतना पा जाने पर भी क्रान्ति और जीवन के प्रति कवि का दृष्टिकोण एक रोमांटिक क्रान्तिकारी का ही रहता है। इसी कारण 'सर्वहारा' और 'शोषिता' के प्रति अपनी सहानुभूति व्यक्त करके भी कवि अकेला है व्यग्र है, मगर 'मरण त्यौहार' नहीं आता।

'किरणबेला' के बाद की कविताओं में अंचल अपने दृष्टिकोण को अधिकाधिक व्यापक बनाते जा रहे हैं।

अब हम संक्षेप में अंचल के काव्य के कलागत सौन्दर्य पर विचार करेंगे। भावनाओं की व्यापकता, तीव्रता और गहराई कविता में अपेक्षाकृत अधिक स्थायी सौंदर्य की सृष्टि करती है। 'मधूलिका' और 'अपराजिता' की कविताएँ सीमित दृष्टिकोण के कारण भावनाओं के संकुचित चौखटे में ही समा जाती हैं। अधिकांश कविताएँ शब्दों के परिवर्तन के साथ अपने को दुहराती हैं—प्रारम्भ में प्रकृति द्वारा नियोजित उद्दीपनों का जमघट, उसके उपरान्त कवि के मानस में विरह-वेदना की टीस का उठना और तृष्णा और लालसा का उमड़ पड़ना। यह वस्तु (content) किरणबेला तक की कविताओं में बार-बार सामने आती है, और इसी कारण 'अन्तर्गीतों' की भरमार है। कारण नारी के साथ केवल यौन-संबंध की कल्पना है, और यह यौन-संबंध विशेष उद्दीपनों द्वारा ही व्यक्त और सुलभ होता है। 'किरणबेला' में यदि अंचल की प्रतिभा नये मार्ग पर न मुड़ती तो कदाचित महादेवी वर्मा की ही तरह अपने को बार-बार दुहरा कर शुष्क हो जाती। इस कारण व्यापक दृष्टिकोण का अभाव यदि पहली दो काव्य-पुस्तकों में खटकता है, तो 'किरणबेला' में आकर नये सीमांत नज़र आते हैं, और एकरसता टूटती है। परंतु अभी इन नये सीमांतों की परिधि-रेखाओं को और भी विस्तार देने का आवश्यकता है, अनुभव की गहराई और व्यापकता द्वारा।

कविता का सबसे बड़ा गुण है संक्षेपण द्वारा भावनाओं की अभिव्यक्ति। बिना इसके, कविता के भावात्मक-प्रभाव शिथिल और बिखरे हो जाते हैं। अंचल की कविता में ऐसा परिमार्जन अभी तक दिखाई नहीं पड़ रहा। यही कारण है कि इतनी प्रतिभा का कवि होते हुए भी उनकी कविताएँ किसी कोटि के पाठकों की ज़ुबान पर नहीं चढ़ पातीं, अर्थात उनका संगीत, उनकी शब्द-ध्वनि संक्षिप्त भावात्मक-प्रभावों द्वारा संगठित नहीं होती कि अनायास ही पाठकों के कानों में गूँज उठे और पंक्तियाँ या कविताएँ स्मृति में घर बनालें। अंचल स्वयं इस त्रुटि का अनुभव करने लगे हैं, यह उनके भावी विकास के लिए शुभ लक्षण है। शब्द-योजना और भावाभिव्यक्ति प्रभावपूर्ण और प्रसाद गुणयुक्त होने से ही काव्य का सौंदर्य बढ़ता है, अंचल अब तक इस ओर अधिक सचेष्ट नहीं रहे। परंतु अंचल विकास-पथ पर हैं, अभी उनकी यात्रा का प्रारंभ ही है, अतः प्रारंभिक त्रुटियों का मार्जन उनके विकास को अधिक गति ही प्रदान करेगा।

—शिवदानसिंह चौहान

आपके लिये मेरी सलाह

बाल धोने के नियम

बहनों ! यह है जानने की बात !

टाम्को कोकोनट आईल शेम्पू की एक बोतल खरीद लीजिये (बहुत सस्ती है—आजही ले लीजिये)

बालों को पानी से गीला कर लीजिये।

बालों पर अच्छी तरह शेम्पू लगाइये, गाढ़ी और साफ़ करनेवाली झाग से बालों को को मलिये, साफ़ पानी से धो डालिये, और बालों को सुखा लीजिये।
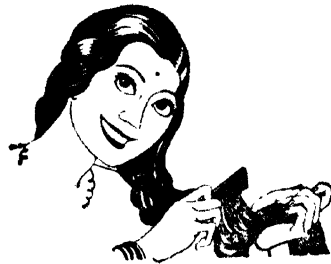
कंघी और ब्रश से बालों को ठीक कर लीजिये, और फिर ज़रा उनकी सुन्दरता देखिये।

टाम्को कोकोनट आईल शेम्पू बालों को मुलायम, मज़बूत और चमकीला बनाये रखता है इसे हमेशा लगाइये। सब ही अच्छी दुकानों में बिकता है।

टाम्को कोकोनट आईल शेम्पू

जवाहर स्कायर, इलाहाबाद

[Approved by the Governments of the U. P., Behar, C. P., Kashmir and Bombay Presidency for use in Colleges, Schools and all other educational institutions]

अन्तर्प्रान्तीय साहित्यिक प्रगति का अग्रदूत

: सम्पादक :

श्रीपतराय : शिवदानसिंह चौहान

सहकारी सम्पादक मण्डल

* उर्दू — मौलाना अब्दुलहक
* मराठी — वि० स० खांडेकर
* गुजराती — रा० वि० पाठक
* उड़िया — कालिन्दीचरण पाणिग्राही
* बँगला — श्रीनन्दगोपाल सेनगुप्त
* पञ्जाबी — प्रो० मोहनसिंह
* राजस्थानी — नरोत्तमदास स्वामी
* कन्नड़ — प्रो० अश्वत्थनारायणराव

विद्वान् श्रीनिवासराव

वार्षिक मूल्य ६)
अर्ध-वार्षिक मूल्य ३)
एक अंक का आठ आना

विदेश में १२ शिलिंग बर्मा के लिए ८)
,, ७ ,, ,, ५)

हंस

वर्ष १२ :: जून, १९४२ :: अंक : ९

टिप्पणियाँ—

भारतीय लेखक और जापान

गत १९, २० मई को दिल्ली में अखिल भारतीय लेखक कान्फ्रेन्स और प्रगतिशील लेखक कान्फ्रेन्स एक साथ हुईं। इन कान्फ्रेन्सों का विस्तृत विवरण हम 'हंस' के अगले अंक में प्रकाशित करेंगे और उसके निर्णयों पर विस्तारपूर्वक अपना मत प्रकट करेंगे।

यहाँ हम केवल इन कान्फ्रेन्सों के बारे में दो-एक आवश्यक बातें कहना जरूरी समझते हैं। इन कान्फ्रेन्सों में भारत की सभी प्रमुख भाषाओं के प्रतिनिधि उपस्थित थे और हिन्दी-उर्दू का प्रतिनिधित्व तो अच्छा-खासा था। भारत के कई सौ लेखकों ने उनमें भाग लिया। परन्तु जिन्होंने भाग लिया, अथवा जो भाग तो नहीं ले सके, बल्कि उनके बारे में सुन-भर लिया है वे इन कान्फ्रेन्सों से पूर्णतः सन्तुष्ट नहीं हैं। हम राजनीतिज्ञों की तरह सत्य को छिपाकर अपने किसी प्रयत्न की अभूतपूर्व सफलता का डंका पीटना अनावश्यक और भ्रामक मानते हैं। विशेषकर ऐसे संकट के समय हमें हर कामयाबी को समस्याओं की जटिलता, गंभीरता और गुरुता की सापेक्षता में तौलना चाहिये, तभी हम दुर्गम कठिनाइयों का मुकाबला कर फासिज्म से साहित्य और संस्कृति की रक्षा कर सकते हैं। हमारे साथी लेखक इन कान्फ्रेन्सों से सन्तुष्ट नहीं हुए, यह एक महत्वपूर्ण बात है, और हमें इस असंतोष के पीछे छिपी भावना को पहचान कर उसका स्वागत करना चाहिये।

विश्व के लेखकों की परम्परा ने हमारे अन्दर यह विश्वास उत्पन्न कर दिया था कि संकट के समय भारतीय लेखक भी अपने लेखन-कार्य की उच्च परंपराओं के प्रति अपना उत्तरदायित्व न भूलेंगे, और फासिज्म के खतरे के विरुद्ध एक स्वर से उठ खड़े होंगे। कुछ साथियों का अनुमान था कि यह बात नहीं है। भारत की समस्या अत्यन्त जटिल है। विश्व की जनता चाहे इस महायुद्ध में फासिज्म की बर्बरता के विरुद्ध लड़ रही हो, चाहे विश्व के कलाकार एक मत से फासिज्म का विरोध कर रहे हों, चाहे इस युद्ध के परिणाम पर विश्व की समस्त जनता का, जिसमें भारतीय जनता भी शामिल है, भविष्य क्यों न निर्भर करता हो, लेकिन जब तक भारत में ब्रिटिश साम्राज्यशाही क़ायम है, और वह दमन की चक्की में देश की राष्ट्रीय शक्तियों को पीसती जाती है, और ऐसे संकट के समय में भी, अपनी साम्राज्यवादी नीति पर आरूढ़ है और भारतीय जनता के इस भाग्य-निर्णयकारी युद्ध में भी उसका स्वतंत्र सहयोग नहीं प्राप्त करना चाहती, जिसके फलस्वरूप प्रत्येक राष्ट्रीय संस्था और व्यक्ति के हृदय में क्षोभ और कटुता का दरिया उमड़ रहा है, ऐसे जटिल वातावरण के बीच भारतीय लेखकों के लिए कदाचित यह संभव न होगा कि वे एकमत से फासिज्म के विरुद्ध घोषणा कर सकें, और किसी कार्य-नीति की रूपरेखा गढ़ सकें। इसके अतिरिक्त वातावरण में एक लहर

इस विचार का जहर भी फैला रही है कि जापान एशिया महाद्वीप का राष्ट्र है, पूर्व का एक देश है, अत: जापान उच्च आकांक्षाओं से प्रेरित होकर ही अर्थात् पाश्चात्य देशों के साम्राज्यवाद का एशिया से प्रभाव नष्ट करने के लिए ही युद्ध में कूदा है, एशिया महाद्वीप को एशियावालों के लिए सुरक्षित करना चाहता है, और भारत से उसका कोई विरोध नहीं है और यदि ब्रिटिश सरकार भारत को स्वतन्त्र कर दे या भारत से कूँच कर जाय तो जापान भारत की स्वतन्त्रता में कोई हस्तक्षेप न करेगा। अत: जापान का विरोध करना हमारा कार्य नहीं है। जापान के पक्ष में पहले से भी अनेक धारणाएँ भारतीय राजनीतिज्ञों, व्यापारियों, प्रोफेसरों और विद्यार्थियों में बनी हुई थीं। हर सभा-सम्मेलन में गांधीजी से लेकर साधारण वक्ता तक राष्ट्रीय गौरव बढ़ाने की बात में बल देने के लिए जापान की चमकती मिसाल गर्व से दिया करते थे। जापान ने यह अन्तर्राष्ट्रीय गौरव कैसे प्राप्त किया, कोरिया, मंचूरिया, चीन और स्वयं अपने देश की जनता को कुचल कर, पीस कर बर्बर शोषण और दोहन से, इसकी जाँच कोई न करता था। बस जापान एक आदर्श था, कला-कौशल और व्यवसाय में परिमित काल में उन्नति करने का एक अभूतपूर्व उदाहरण था, अत: जहाँ रूस की कामयाबियों को स्वीकृति देने के लिए वहाँ की आन्तरिक व्यवस्था के प्रति अपनी दबी घृणा और ट्राट्स्की और उसके साथियों जैसे देश-द्रोहियों के प्रति सहानुभूति प्रकट करना आवश्यक था, वहाँ जापान की आन्तरिक व्यवस्था और उसकी बाह्य रण-नीति का ज़िक्र अनावश्यक था, क्योंकि भारत में जापान के खिलौने जो आते थे! और कपड़ा भी! और उनको बेचनेवाले पूँजीपति भी तो थे ही! अत: इन वस्तुओं का सस्तापन ही आश्चर्य का विषय था, और विद्यार्थियों और मज़दूरों के समक्ष जापानी श्रमजीवियों के राष्ट्र के लिए (या पूँजीपतियों के लिए?) आत्मत्याग (या परवशता?) का श्रेष्ठ आदर्श एक सफल तर्क था! इन सब बातों ने एक अत्यन्त जटिल वातावरण भारत में पैदा कर रखा है, अत: यह कैसे सम्भव है कि लेखक इस वातावरण से प्रभावित न होंगे?

कान्फ्रेन्स के पहले ही हमने इस प्रश्न पर विचार किया, लेकिन हमारा विश्वास अडिग बना रहा कि जहाँ तक फासिज्म का सम्बन्ध है कोई भी लेखक जो वास्तव में अपने लेखन-कार्य के दायित्व को समझता है, इस प्रश्न पर तटस्थ नहीं रह सकता, न ही वह फासिज्म का समर्थन कर सकता है। भारत की राष्ट्रीय समस्या में पेंच है, यह सत्य है, लेकिन लेखक अपने दृष्टिकोण की व्यापकता के कारण राष्ट्रीय प्रश्नों को इतनी संकुचित दृष्टि से नहीं देख सकते कि ऐसे संकट के मौके पर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं में एक विरोध पैदा हो जाय। ऐसी नीति से विश्व की जनता का कल्याण नहीं हो सकता। और जापान के पक्ष में जो वातावरण बना है, उसे बदलने के लिए लेखकों को एक जबर्दस्त फासिस्ट-विरोधी सांस्कृतिक मोर्चा निर्माण करना है और अपनी लेखन-कला की सारी शक्तियों से संगठन और प्रचार द्वारा भारतीय जनता के हृदय में फासिज्म-जापानी फासिज्म के विरुद्ध ज्योति जलाना है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद पर जो अपनी नीति से इस युद्ध में पूर्णरूप से अपनी भूमिका लेने से जन-शक्तियों को रोक रही है, और इस प्रकार फासिज्म की विजय हो रही है, जनता की संयुक्त माँग और आत्मरक्षात्मक कार्य-नीति से दबाव डालकर देश में राष्ट्रीय सरकार प्राप्त करनी है और इस प्रकार भारत और विश्व की आज़ादी की ओर बढ़ना है।

भारतीय लेखकों की कान्फ्रेन्स ने इसी आशय के निर्णय कर यह साबित कर दिया कि वे स्थिति की गम्भीरता से परिचित हैं, सजग हैं और कतिपय वर्ग-स्वार्थों के कारण उनकी दृष्टि मैली नहीं हुई है। वे समस्याओं के आरपार देख सकते हैं। फासिज्म की हकीक़त को वे जानते हैं, और कला और संस्कृति के स्रष्टा होने के नाते उन्हें स्वतन्त्रता, कला और संस्कृति से प्रेम है जो उन्हें ऐसे जटिल वातावरण के बीहड़, कण्टकाकीर्ण पथों के बावजूद निर्भीकतापूर्वक अपने लक्ष तक पहुँचने के लिए आगे बढ़ने को प्रेरित कर रहा है—अर्थात आज़ादी, कला और संस्कृति की रक्षा के लिए वे संकुचित स्वार्थों से परिचालित नहीं हो सकते। अतः दिल्ली कान्फ्रेन्स के निर्णय अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

फिर भी लेखकों को असन्तोष है, और यह असन्तोष स्वाभाविक है। निर्णयों से किसी को असन्तोष नहीं है। निर्णय सर्वसम्मति से हुए, उनसे किसी का विरोध न था, और यह एक अभूतपूर्व घटना थी। लेकिन कान्फ्रेन्स जिस अव्यवस्थित ढंग-से की गई थी, उससे लेखकों में यह भावना उत्पन्न होनी स्वाभाविक थी कि इन निर्णयों पर अमल किया जाएगा अथवा नहीं। अर्थात क्या इस कान्फ्रेन्स ने लेखकों की वह संगठित शक्ति उत्पन्न (generate) की है जो इन निर्णयों को कार्य-रूप में परिणत कर दे? कान्फ्रेन्स के आयोजन से ऐसी शंका उठती थी क्योंकि संगठन की कमज़ोरी स्पष्ट थी। हमें इस असन्तोष का स्वागत करना चाहिए और कान्फ्रेन्स ने जो 'आल इण्डिया स्थायी समिति' नियुक्त की है उसका कर्तव्य है कि शीघ्रातिशीघ्र कान्फ्रेन्स के निर्णयों को हर भाषा के प्रत्येक लेखक तक पहुँचाए, लेखकों का संगठन करे और जो कार्य-क्रम पास हुआ है उसे कार्यान्वित करे।

सर्वत्र से लेखकों के पत्र आ रहे हैं, जिनमें यह माँग की जा रही है कि दिल्ली कान्फ्रेन्स में क्या हुआ, रिपोर्ट भेजिये। इसकी व्यवस्था 'स्थायी समिति' के मन्त्रियों को तुरन्त करना चाहिए, अन्यथा जिस महत्वपूर्ण कार्य के लिए यह कान्फ्रेन्स हुई वह अधूरा ही पड़ा रहेगा, और लेखकों के इस शुभ असन्तोष का कारण भी बना रहेगा।

कान्फ्रेन्स में उपस्थित लेखकों को उसके इन्तज़ाम से भी असंतोष है, और दिल्ली के कुछ पत्रों ने इस ओर इशारा भी किया है। इस संबंध में हम केवल इतना कहना चाहते हैं कि यह कान्फ्रेन्स केवल पन्द्रह-बीस दिनों के अन्दर संगठित की गई थी, अतः इन्तज़ाम में गड़बड़ी होना स्वाभाविक था, यद्यपि अनिवार्य न था। परन्तु कान्फ्रेन्स के निर्णय ही हमारे लिए अधिक महत्व रखते हैं, व्यक्तिगत असुविधाएँ नहीं, और हमें आशा है कि हमारे साथी लेखक इन्तज़ाम की गड़बड़ी के कारण उसके निर्णयों के महत्व को कम करके न तौलेंगे। उन्होंने फासिज़्म और जापानी साम्राज्यवाद के विरुद्ध जो घोषणा की है उसके स्वर मंद न पड़ने देंगे।

गांधीवादी सेंसर

पण्डित जवाहरलाल नेहरू के वक्तव्यों के कई अंशों को पूर्वापर से अलग कर ब्रिटिश सरकार कई बार छाप चुकी है और विदेशों में उनकी लाखों प्रतियाँ बाँटी गई हैं। और इससे यह साबित करने की कोशिश की गई है कि पण्डित जवाहरलाल सरीखे नेता को भी अब ब्रिटिश सरकार के रवैये के प्रति कुछ नहीं कहना है, वे फासिज़्म के विरुद्ध बिना किसी शर्त के लड़ने को तैयार हैं। और इस असत्य-प्रचार की पण्डित नेहरू स्वयं एक वक्तव्य में निंदा कर चुके हैं। यह साम्राज्यवादी सेंसर-प्रचार का एक नमूना है, जो अपने कारनामों के विरुद्ध किये गये प्रतिवादों का सेंसर कर केवल उन्हीं अंशों का प्रचार

करता है जिनसे उसका मनोरथ सिद्ध होता है।

इसके विपरीत गांधीवादी सेंसर-प्रचार की अलग मशीन है जो आज की संकटपूर्ण परिस्थिति में पत्रकारिता की स्वतन्त्र परम्पराएँ नष्ट कर सत्य को छिपा रही है।

गत मास दिल्ली में अखिल भारतीय लेखक कान्फ्रेन्स हुई थी। किसी भी राष्ट्रीय-पत्र ने उसके निर्णयों को प्रकाशित नहीं किया, यद्यपि उन्होंने पंडित जवाहरलाल नेहरू का वह संदेश जरूर छापा था जिसमें उन्होंने उक्त कान्फ्रेन्स का स्वागत करते हुए लिखा था कि देश के नेता उलझन में हैं, अत: देश के विचारकों और लेखकों की इस कान्फ्रेन्स को राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति का ठीक-ठीक अन्दाज लगाकर राष्ट्र के नेताओं का मार्ग-प्रदर्शन करना चाहिए। जिस कान्फ्रेन्स को पंडित नेहरू ने इतना महत्व दिया, और जिसने परिस्थिति का अन्दाज लगाकर देश का मार्ग-प्रदर्शन करने का भरसक प्रयत्न किया, उसके निर्णयों को प्रकाश में आने के पहले ही राष्ट्रीय अथवा गाँधीवादी पत्रों ने एक दम दबा दिया! क्यों? क्योंकि कान्फ्रेन्स का निर्णय उनके सर्वथा अनुकूल न था। और चूँकि यह विद्यार्थियों (नौसिखिये राजनीतिज्ञों) या किसानों (अपढ़ जनता) के निर्णय तो थे नहीं, बल्कि विचारकों के निर्णय थे, जिनमें वर्तमान काल के श्रेष्ठ लेखक शामिल थे, अत: उनका नोटिस लेकर खिल्ली भी न उड़ाई जा सकती थी! यह गांधीवादी सेंसर का एक नमूना है, जो श्रेष्ठतम राष्ट्रीय लेखकों के प्रति इतना असहिष्णु, अनुदार और अवज्ञापूर्ण हो सकता है, जो उनकी स्वतंत्र आवाज का गला घोंट सकता है!

यदि, इसके विपरीत लेखक कान्फ्रेन्स में फूट पड़ गई होती, दो-चार लेखक अपना विरोध प्रकट कर उससे निकल कर बाहर चले जाते, अथवा झगड़ा करते तो निश्चय ही गांधीवादी राष्ट्रीय-पत्रों के मुखपृष्ठ बड़ी-बड़ी हेडलाइनों से भरे होते, (जैसा कि विद्यार्थी कान्फ्रेन्स के बारे में समाचार-पत्रों ने किया) कान्फ्रेन्स के संयोजकों को कम्युनिस्ट कहकर बदनाम किया जाता, और दो-चार प्रतिवादियों को दो सौ करके दिखाया जाता, और कहा जाता कि लेखकों ने संयोजकों की कुचाल नाकामयाब कर दी! अत: गांधीवादी पत्रों ने जिस अहिंसात्मक धैर्य के साथ इस कान्फ्रेन्स के निर्णयों को बिना डकार लिये ही पचा लिया, उसकी वेदना से हमें पूरी सहानुभूति है। वेदना स्वाभाविक है, क्योंकि कान्फ्रेन्स के संयोजकों ने लेखकों को कम्युनिस्ट या गांधीवादी का विभाजन कर निमन्त्रण नहीं भेजे थे, और उपस्थित लेखकों में काफी संख्या गांधीवादियों की थी, फिर भी उनके निर्णय सर्वसम्मति से हुए, अत: सारी कान्फ्रेन्स को कम्युनिस्ट लेखकों की कान्फ्रेन्स कैसे कहा जाता? इससे तो यह स्वीकार कर लेना होता कि देश के अधिकांश लेखक कम्युनिस्ट हैं!

यह प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है, और इस समय गांधीवादी-सेंसर हर प्रकार के फासिस्ट हथकण्डों का प्रयोग कर लेखकों, विद्यार्थियों और किसान-मजदूरों की आवाज का गला घोंट रहा है। साम्राज्यशाही पर सत्ता का मद आरोपित किया जाता है, गांधीवादी सेंसर किस मद के वशीभूत है, जो जापानियों के आने के पूर्व अपने ही देश की सबसे क्रान्तिकारी शक्तियों के साथ अहिंसात्मक-असहयोग कर अपने अस्त्र पैने कर रहा है?

अँग्रेजी और हिन्दी के पत्र क्या वर्ग-स्वार्थों का साथ देंगे या अपनी स्वतन्त्र परम्पराओं को सुरक्षित रखकर कम से कम घटनाओं को तो प्रकाश में आने देंगे?

—शि० सिं० चौ०

★

साहित्य-समस्या—

प्रेमचन्द से १००० क़दम आगे

[कान्तिचन्द्र सौनरेक्सा]

१—'किसी लेखक की रचनाओं को जाँचते वक्त हमें यह प्रश्न पूछते रहना चाहिए कि उसने अपने पूर्ववर्ती लेखकों की कहानी-कला को कहाँ तक समझकर उसमें नैपुण्य प्राप्त कर लिया है। यानी आज का लेखक यदि प्रसाद, प्रेमचन्द, जैनेन्द्र और अज्ञेय की कहानियों का पूरा अध्ययन किये बिना लिखना शुरू करता है, तो निश्चय ही उससे यह आशा न करनी चाहिए कि वह हिन्दी की कहानी को एक क़दम भी आगे ले जा सकेगा।...बिना इस नैपुण्य को प्राप्त किये यदि कोई लेखक लिखेगा, तो वह एक सचेत कलाकार न हो सकेगा।...और कोई भी कला बिना सचेत मानसिक क्रिया के उच्चकोटि की नहीं हो सकती, विशेषकर कहानी-कला।'

× × ×

२—'लौटाई कहानियों को, जिन पर अक्सर मैंने लौटाने का कारण और अधिक अध्ययन कर उन्हें नए सिरे से लिखने का अनुरोध लिख दिया है, मैंने दूसरे पत्रों में ज्यों की त्यों छपते देखा है।'

× × ×

३—'आपने शायद इस प्रश्न पर इस तरह न सोचा हो कि क्या कारण है कि प्रेमचन्द के बाद हिन्दी कथा-साहित्य में जो स्थान खाली हुआ है, वह अभी तक पूरा नहीं हो पाया? शरतचन्द्र चटर्जी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के निधन से ऐसा लगता है जैसे बँगला साहित्य के आकाश में चन्द्र और सूर्य सदैव के लिए अस्त हो गए हों—कम-से-कम कोई ऐसा प्रतिभासम्पन्न लेखक नज़र क्यों नहीं आता, जो उनकी परम्परा को एक पग भी आगे ले जा सकता है? हिन्दी, बँगला और अन्य भाषाओं के कथा-साहित्य में यह ह्रास क्यों नज़र आ रहा है? और यह ह्रास क्या भारतीय कथा-साहित्य की ही अनोखी घटना है या पूँजीवादी संसार के सभी देशों में इसके लक्षण प्रकट हो रहे हैं? यदि आप गत-महायुद्ध के बाद के यूरोपीय साहित्य का इतिहास पढ़ेंगे, तो आपको ज्ञात होगा कि अँग्रेज़ी, फ्रेंच, जर्मन, इटालियन साहित्य में भी संकट छाया हुआ है, एक दो को छोड़कर वहाँ का परम्परागत कथा-साहित्य भी ह्रासोन्मुखी है।'

× × ×

४—'अज्ञेय' का 'शेखर : एक जीवनी' 'गोदान' के बाद का सबसे महत्वपूर्ण उपन्यास है, लेकिन शेखर कैसा चरित्र है ?...शेखर आज के समाज का प्राणी होकर भी...अ-सामाजिक और विक्षिप्त है।...फिर भी शेखर एक शक्तिशाली कलाकार की कृति है, जो अपने कार्य के प्रति सचेत और ईमानदार है।'

× × ×

५—'पूँजीवाद के इस अन्तिम युग में विश्व के कथा-सहित्य के ह्रास की यह ऐसी शृङ्खला है, जो सर्वत्र फैली हुई है। यह ह्रास किस बात का द्योतक है ? इस बात का कि आधुनिक लेखक सामाजिक परिस्थितियों की विषमता से इतना आक्रान्त और संत्रस्त हो गया है कि वह कोई पलायन का मार्ग ढूँढ़ता है।—और पलायन का साहित्य और चाहे जो हो, प्रथम कोटि का साहित्य नहीं हो सकता ..क्योंकि कथा-साहित्य साहित्य का वह अंग है जो वाह्य-वास्तविकता को उसके समस्त संश्लिष्ट और प्रवहमान रूप में उपस्थित कर वास्तविकता पर हमारी पकड़ गहरी बनाता है, ताकि हम अधिक भावात्मक या आत्मिक दृढ़ता और व्यापक चेतना के साथ वास्तविकता से संघर्ष कर सकें और उसे अपने अनुकूल बना सकें।...तो कथा-साहित्य हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की समस्याओं को परस्पर समाज-सम्बन्धों में पड़कर जीवन बिताने के माध्यम से हल करने का एक विशेष प्रकार का कलात्मक विधान है।...उस ओर विश्व के वे कलाकार हैं, जो समाज की आन्तरिक असंगतियों से परिचित हैं, जो यह जानते हैं कि कला और साहित्य का भविष्य तभी सुरक्षित हो सकता है, और आधुनिक जीवन के संघर्ष में वे तभी महत्व-पूर्ण भूमिका ले सकते हैं, जब वे उन शक्तियों के साथ हों जिनमें पूँजीवादी समाज को नष्ट कर समाजवादी समाज का निर्माण करने की क्षमता है और ऐसा तभी सम्भव है जब कि कला और साहित्य के निर्माण को एक सचेत क्रिया बना दिया जाये, अर्थात् जब कला और साहित्य की सृष्टि के पीछे एक जीवन-व्यापी द्वन्द्वमूलक (dialectical) विचार-धारा हो और उनका रूप-विधान सामाजिक-यथार्थवाद के कलात्मक तत्व से निरूपित हो।'

× × ×

६—'इस समय विश्व में एक उथल-पुथल जारी है, महायुद्ध छिड़ा हुआ है, साम्राज्यों की नीवें हिल रही हैं, पुरानी समाज-व्यवस्था का ढाँचा टूट रहा है, मनुष्यों के संस्कार बदल रहे हैं, नए विचार तूफ़ान की तरह छाते जा रहे हैं, चारों ओर संघर्ष जारी है और मनुष्य की समस्याएँ जटिल होती जा रही हैं—समाज की इस विध्वंसग्रस्त और नवसृजनात्मक वास्तविकता का विशद चित्रण, जो एक साथ ही ट्रैजिक और आशावादी हो सकता है, अभी कहाँ हुआ है ? ऐसे विशाल उपन्यासों के कथानक अभी गर्भ में ही क्यों छिपे पड़े हैं ? और फिर व्यक्तियों के जीवन की छोटी-छोटी घटनाएँ हैं, जो आधुनिक समाज की बड़ी समस्याओं से व्यक्त या अव्यक्त रूप में संबंधित हैं, और उनका चित्रण कहानी कर सकती है।'

× × ×

७—'लेकिन प्रगतिवाद के नाम पर अब तक हिन्दी में जो कथा-साहित्य पैदा हुआ है, उसे देखकर घोर निराशा होती है ; क्योंकि प्रगतिवादी लेखक भी कथा-साहित्य

की इन मूल समस्याओं से परिचित नहीं हैं। यही कारण है कि वे अब तक न अपने पूर्ववर्ती कथाकारों की कला को 'मास्टर' कर पाये हैं और न समाज और जीवन के बारे में एक स्वस्थ और सही दृष्टिकोण बना पाए हैं। परिणाम यह है कि उनकी कहानियों या उपन्यासों में एक उपजीवी की मौखिक सहानुभूति की बनावट भरी हुई है। ..प्रगतिवादी कहानियों के पात्र समाज के वे विकृत मानव हैं, जो किसी भी क्रान्तिकारी सिद्धान्त से क्रान्ति के अग्रदूत नहीं बन सकते; जैसे वेश्या, भिखारी, कोई लँगड़ा-लूला, अपंग, पागल विक्षिप्त आदि। कुघड़ता से यह ममता क्यों ?—वर्तमान समाज की पाखंडपूर्ण नैतिकता के बंधन तोड़ने के लिए वे उच्छृङ्खलता की सीमा लाँघ जाते हैं, जब कि प्रगतिवादी साहित्य को वर्तमान नैतिकता का खोखलापन दिखाकर उससे ऊँचे दर्जे की नैतिकता की स्थापना करनी चाहिए।'

× × ×

उपर्युक्त सात उद्धरण मैंने 'हंस'* में प्रकाशित शिवदानसिंह चौहान के भाषण 'कथा-साहित्य की समस्याएँ' से दिये हैं, जो उन्होंने सेण्ट एण्ड्रूज कालेज, गोरखपुर के गल्प-सम्मेलन में सभापति पद से दिया था। शिवदानसिंह को मैं एक श्रेष्ठ समालोचक मानता हूँ। और उनकी बात मैं ध्यान देने योग्य भी समझता हूँ, इसलिए उसकी प्रत्यालोचना करने की अनिवार्यता मुझे महसूस होती है। हिंदी में अभी तक ऐसे समालोचकों की कमी नहीं रही, जो किसी विषय के अध्ययन किये बिना उस पर लिखने या बोलने की अनधिकार चेष्टा करते हैं और मुझे दुःख है कि शिवदान सिंह ने भी यह भाषण देकर ऐसे गैरजिम्मेदार समालोचकों की पंक्ति में खड़े होने के लिए कदम बढ़ाया है। हिंदी कथा-साहित्य का जो चित्र उन्होंने अपने भाषण में व्यक्त किया है, वह सर्वथा एकाङ्गी, अपूर्ण और संकुचित दृष्टिकोण से दूषित है। और उनके अध्ययन की कमी का परिचायक है। शिवदान सिंह विदेशी साहित्य और समालोचना के विद्वान हैं, पर मैं जानता हूँ कि हिंदी कथा-साहित्य का उनका अध्ययन सर्वथा अधूरा है। उन्होंने हिंदी कथा-साहित्य के विकास के इतिहास और उसकी परिस्थितियों को ग़लत समझा है और जो नए रास्ते उन्होंने सुझाये हैं, वे भी ग़लत हैं। उनसे आनेवाले कथाकारों की पौध को लाभ की बजाय हानि होने की अधिक संभावना है।

किसी लेखक की रचनाओं को जाँचते वक्त हमें यह प्रश्न लेखक से तो नहीं, समालोचक से अवश्य पूछते रहने चाहिए कि उसने लेखक के पूर्ववर्ती कलाकारों का कितना और कैसा अध्ययन किया है, जो वह उसकी समालोचना करने का योग्य अधिकारी है—और न सिर्फ यही, बल्कि यह भी कि उसने स्वयं लेखक की रचना-सम्बन्धी परिस्थितियों और उसके व्यक्तिगत वातावरण के विषय में कितनी जानकारी हासिल की है। जब तक कोई समालोचक लेखक के सम्बन्ध में इन दोनों बातों का परिज्ञान नहीं रखता, तब तक वह उसके साथ न्याय नहीं कर सकता और न ही उसकी समालोचना का मूल्य हो सकता है। किसी भी कलाकार से यह आशा करना या उस पर यह नियम लागू करना कि वह लिखने से पूर्व अपने पूर्ववर्ती कलाकारों का 'अध्ययन'

---

* 'हंस' मार्च १९४२ पृष्ठ ५९९-६११।

करे, हास्यास्पद एवं मूर्खतापूर्ण है। इसके दो कारण हैं; आजकल का साहित्य और ज्ञान किसी भाषीय सीमा में बँधा हुआ नहीं है; जीवन भी स्थानीय सीमाओं तक संकुचित नहीं है। अन्तर्देशीय और अन्तर्भाषीय विचारों का आदान-प्रदान आजकल प्रतिक्षण होता रहता है, परस्पर सम्पर्क की सुविधाओं के कारण। एक लेखक है, जो अँग्रेज़ी, उर्दू, हिन्दी, बंगाली आदि कई भाषाओं को जानता है—और अँग्रेज़ी * जानने के कारण तो अब विश्व का कोई भी साहित्य उसकी पहुँच के बाहर नहीं होता—तब क्या यह सम्भव है और आवश्यक है कि वह एक कहानी लिखने से पहले, समस्त विश्व के कला-साहित्य का अध्ययन करे? यदि वह अध्ययन कर भी ले, तो क्या वह अपने अध्ययन को लेकर 'अपनी' कहानी लिखने के योग्य रह जायेगा? यदि वह लिखेगा भी, तो यह निन्यानवे प्रतिशत निश्चय है कि उसकी कहानी में विचारों का गड़बड़-घोटाला होगा, कल्पना की चोरी होगी, शैलियों का भला-बुरा अनुकरण होगा, और भी न जाने कितने दोष होंगे!—क्यों? इसलिए कि उसने 'कहानी' लिखने के लिए उन लेखकों का अध्ययन किया है और तब वह कहानी लिखने के लिए अपने जीवन का अध्ययन नहीं करता। अपनी लायब्रेरी में बैठकर वह विश्व के सभी लेखकों की पुस्तकें पढ़ता है, और वहीं बैठकर फिर एक कहानी भी लिख देता है; कहीं की ईंट, कहीं का रोड़ा, भानमती ने कुनबा जोड़ा। हिन्दी में ऐसे लेखकों की कमी नहीं है; बड़े कहे जानेवालों में 'अज्ञेय' और 'पहाड़ी' इसकी मिसाल हैं। और ऐसे लेखक बहुत दिन जीवित नहीं रहते यह भी सच है। कहानी लेखक के रूप में अज्ञेय या पहाड़ी अपनी कला की महत्ता की अपेक्षा प्रोपैगैंडा के सहारे ही जी रहे हैं। पर मैं यह नहीं कहता कि इन लोगों ने अच्छी कहानियाँ लिखीं ही नहीं; अवश्य लिखी हैं, पर वे अपवाद हैं, और उस अपवाद का कारण क्या है, यह मैं आगे चलकर बतलाऊँगा; पर यहाँ इतना कहना काफ़ी होगा कि दूसरे दर्जे के लेखक अपने परिश्रम के कारण कभी-कभी बहुत अच्छी कहानी लिख जाते हैं; प्रतिभा उनमें असाधारण नहीं होती अन्यथा उनकी अधिकांश कहानियाँ मामूली होने के बजाय एक नम्बर की हों। और यह भी आवश्यक नहीं कि जिसमें कविता, उपन्यास, निबन्ध, मनोविज्ञान लिखने या क्रांति करने की प्रतिभा हो, तो उसमें कहानी लिखने की भी वैसी ही प्रतिभा होगी ही। यदि ऐसा होता, तो आज प्रेमचन्द और कृष्णचन्द्र बड़े भारी कवि होते और पंत बड़े भारी कहानीकार। सर्वतोमुखी प्रतिभाएँ संस्कृति के व्यापक विकास से उत्पन्न होती हैं और विलक्षण प्रतिभा हीरे की तरह व्यापक असभ्यता की चट्टानों में जन्म लेती है। विश्व के साहित्य का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है।

पर मैं यह नहीं कहता कि लेखक को अध्ययन नहीं करना चाहिए, ज़रूर करना चाहिए; किन्तु उसके अध्ययन का तरीक़ा दूसरा होना चाहिए। उसे अपने पूर्ववर्ती और समकालीन (पूर्ववर्ती लेखकों का ही नहीं, समकालीन लेखकों का भी अध्ययन मैं उतना ही आवश्यक समझता हूँ, जितना शिवदान सिंह पूर्ववर्ती का समझते हैं) लेखकों का अध्ययन ऐसे नहीं करना है, जैसे विद्यार्थी लोग टैक्स्ट बुक का अध्ययन करते हैं; या जैसे रिसर्च स्कालर किसी विषय का अध्ययन करते हैं। कोई भी रिसर्च स्कालर अपने

* और मेरा यह विश्वास है कि आज का लगभग प्रत्येक हिन्दी लेखक अँग्रेज़ी जानता है।

विषय में आज तक बड़ा कलाकार होता नहीं सुना गया ; वह विद्वान अवश्य हो जाता है। एक कलाकार को दूसरे कलाकार की कृति का अध्ययन कलाकार की तरह करना चाहिए : यानी वह उससे आनन्द प्राप्त करे, उससे प्रेरणा प्राप्त करे। जो लिखता है, जिसमें प्रतिभा है, उसमें इतनी अक़्ल भी हमें माननी पड़ेगी कि वह किसी रचना के दोष-गुण समझ लेगा और स्वयं अपनी आवश्यकताओं से परिचित होगा ; कम या ज्यादा यह लेखक-विशेष की प्रतिभा की मात्रा पर निर्भर है। और मेरा ख़याल है कि अक्सर ही कलाकार दूसरे कलाकार की कृति के दोष या गुण को अनायास ही और ज्यादा अच्छी तरह भी समझ लेता है। हमें समालोचक और कलाकार के कर्तव्य को एक में मिलाना नहीं चाहिए। जो समालोचक और कलाकार दोनों हो, उसे भी अपनी समालोचना और रचनात्मक शक्तियों को एक बार के लिए अलग कर देना पड़ेगा, अन्यथा वह सफल कलाकार न हो सकेगा।

फिर मैं यह कहता हूँ कि हिन्दी के लेखक का दायरा आज बढ़ा हुआ है : जीवन और साहित्य दोनों में ही। भारतीय जीवन तथा उसकी समस्याओं और विदेशों के जीवन तथा तत्संबंधी समस्याओं में तात्विक विभिन्नताएँ हैं—यों व्यापक रूप में तो समस्त मानवता ही एक है ; पर उस एकता में जो अनेकता तथा विषमता उत्पन्न हो गई है, वही आज की प्रमुख समस्या है सभी की, चाहे वह राजनीतिज्ञ हो, वैज्ञानिक, या कलाकार। दूसरे भाषा के परस्पर आदान-प्रदान के कारण हिंदी के लेखक को विश्व साहित्य की कला के साथ क़दम मिलाकर चलना है। तो एक प्रसाद या एक प्रेमचंद को ही पढ़कर कैसे काम चलेगा ? जीवन की सरिता आज प्रेमचंद और प्रसाद को छोड़कर हज़ारों मील आगे बीहड़ और ऊबड़-खाबड़ पथ में आ भटकी है। वर्तमान महायुद्ध का स्वप्न न प्रेमचंद देख सके थे, न प्रसाद, न जैनेन्द्र और न अज्ञेय। जैनेन्द्र और अज्ञेय की कहानियाँ पढ़ने में समय बरबाद करने से क्या लाभ ? ज़रूरत है कि लेखक स्वयं अपने जीवन की पुस्तक पढ़े, जो उसके सम्मुख प्रतिपल खुली रहती है। अपने जीवन की पुस्तक पढ़ने के अर्थ होते हैं भारतीय जीवन को पढ़ना, उसके व्यक्ति, समाज और शासन के परस्पर संबंधों को समझना। प्रेमचंद को छोड़कर हिंदी के अधिकतर लेखकों की असफलता का कारण यही है कि उन्होंने अपने जीवन को छोड़कर उन व्यक्तियों के जीवन के विषय में लिखना शुरू किया, जिनके बारे में उन्हें कोई अनुभूति नहीं थी, कोई ज्ञान नहीं था, परन्तु जब-जब उन्होंने अपनी प्रतिभा से अपने जीवन का रूप उपस्थित करने में काम लिया, तब-तब उन्होंने प्रेमचंद ही क्या, किसी भी कलाकार से अच्छी कहानियाँ लिखी हैं और ऐसी कहानियों की संख्या कम नहीं है। तो किसी भी लेखक को 'मास्टर' करने के बाद कोई हिंदी-कहानी को आगे नहीं बढ़ा सकता। 'सचेत कलाकार' कलाकार नहीं, समालोचक होता है या कुछ भी नहीं होता। लेखक की मानसिक क्रिया सदैव सचेत होती है, पर अपने पूर्ववर्ती लेखकों की कला के प्रति नहीं, अपनी कला के प्रति भी नहीं, बस अपने उस विषय के प्रति जिसका चित्रण वह कर रहा होता है। यदि वह अपने विषय के प्रति सचेत नहीं है, तो उसकी रचना अवश्य ही उच्चकोटि की नहीं हो सकती।

२

मेरा यह विनम्र दावा है कि कोई भी लेखक प्रेमचंद या दुनिया के सारे कहानी-लेखकों के विचार-कला और अपनी ही किसी अच्छी कहानी को ध्यान में रखकर कहानी के दो वाक्य से आगे नहीं लिख सकता। यदि वह किसी तरह लिख भी लेगा, तो उसकी रचना अवश्य ही दूसरों के विचार-कला से बुरी तरह बोझिल होगी। अज्ञेय की वाक्य-रचना (और विचारों का तो कहना ही क्या) विलायतीपन के बोझ से दबी रहती है और दुरूह तथा नीरस हो उठती है।—फिर किसी भी महान कथाकार ने अपने पूर्ववर्ती कथाकार को 'मास्टर' करके लिखना शुरू नहीं किया। प्रेमचंद ने किसे 'मास्टर' किया था? शरदचन्द्र ने किसे 'मास्टर' किया था? कृष्णचन्द्र ने किसे 'मास्टर' किया था? जो लोग 'मास्टर' करके लिखते हैं, वे उन्हीं के 'स्कूल' के कहलाते हैं, या फिर उनके विरोधी अथवा प्रतिक्रियावादी। उनका अपना कोई मौलिक अस्तित्व साहित्य में नहीं होता।

तो मेरा कहने का मतलब है कि किसी भी लेखक को लिखने के लिए अपने पूर्ववर्ती लेखकों की कहानी-कला में 'नैपुण्य' प्राप्त करने की क़तई जरूरत नहीं है—यह उसके समालोचक का कर्यव्य है। जरूरी यह है कि वह अपने जीवन और तत्संबंधी वातावरण के प्रति जागरूक रहे, अनुभूतिशील रहे और उसका विस्तार तथा गहराई से अध्ययन करे। बस। रही टेकनिक या कारीगरी की बात सो अभ्यास और साधना से प्राप्त होती है; अन्य लेखकों का अध्ययन अवश्य यहाँ सहायक हो सकता है। पर शिवदानसिंह टेकनिक को गौण मानते हैं। मैं टेकनिक को ही सब कुछ नहीं मानता, पर उसे पचास प्रतिशत महत्व अवश्य देता हूँ, क्योंकि यह रचना की कारीगरी ही है, जो उसे ललित-कला के आसन पर बैठाती है; वरना दर्शन-शास्त्र या इतिहास भी कला कहलाते। और मेरी अपनी राय है कि किसी भी कहानी को लिखने की केवल एक ही शैली हो सकती है; जो कलाकार उस 'एक' के जितना समीप पहुँचता है वह उतना ही बड़ा होता है और जो उसे ही पा लेता है, वही महान कलाकार है। कारीगरी की दृष्टि से प्रेमचद टैगोर और शरद से ही नहीं, हिंदी के अनेक कथाकारों से नीचे कलाकार हैं। उनकी कितनी ही कहानियाँ हैं जो दूसरे ढंग से लिखी जाने पर अधिक सुन्दर और पूर्ण बन जातीं। एक कहानी उदाहरण-स्वरूप: प्रेमचद और भगवतीचरण वर्मा ने एक ही कथानक पर एक कहानी लिखी, पर भगवतीचरण की कहानी उनकी कहानी से सौ प्रतिशत श्रेष्ठ रही। उस सुप्रसिद्ध कहानी का नाम है 'प्रायश्चित।'

पर शरद और टैगोर हैं कि उनकी कहानी का एक शब्द भी आप इधर से उधर नहीं हटा सकते! मैंने हिन्दी के कई श्रेष्ठ लेखकों की ऐसी अच्छी कहानियाँ पढ़ी हैं, जिनका कथानक, जिनकी, कल्पना, और जिनके विचार मेरे मन में कभी उदय नहीं हो सकते थे, परन्तु मैंने यह जरूर समझा है कि मैं उन्हीं कहानियों की कला को अधिक सुन्दर बना सकता हूँ।

× × ×

शिवदानसिंह का ख्याल है कि दुनिया की हर कहानी पर उनकी आलोचना ही सर्वमान्य समझी जानी चाहिए (उदाहरण नं २) जिस कहानी को वे अच्छा समझें, वह अच्छी; वरना बुरी। हर लेखक की बहुत-सी ऐसी रचनाएँ होती हैं, जो उसे ही

अच्छी नहीं लगती, पर उसके समालोचकों को बहुत अच्छी लगती है। इसी तरह इसका उल्टा भी होता है। किसी भी रचना पर एक व्यक्ति का मत, चाहे ठीक भी हो, मान्य नहीं हो सकता और न अधिकांश का ही। डिमौक्रैसी का-सा बहुमत साहित्य में नहीं चला करता। किसी भी रचना की कला पर केवल मात्र काल ही अपना मत दे सकता है—पर वह भी तो बदलता रहता है। प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक समाज किसी भी कला को अपनी निजी अनुभावनाओं और आवश्यकताओं के अनुसार ग्रहण करता है। पर वे अनुभावनाएँ या आवश्यकताएँ कलाकार को डिक्टेट नहीं कर सकतीं; उनमें इतनी तीव्रता और सचाई होनी चाहिए कि वे कलाकार में प्रेरणा उत्पन्न करने की क्षमता अपने में रखें। यों अपने मतानुसार समालोचना करने का सबको समान अधिकार है। प्रेमचंद का ही एक उदाहरण मैं यहाँ फिर दूँगा: प्रेमचंद में प्रतिभा थी पर उन्हें प्रतिभा पहिचानने और परखने की योग्यता नहीं थी। उन्होंने भविष्यवाणी की थी कि श्री सत्य-जीवन वर्मा और वीरेन्द्रकुमार ही आगे चलकर महान् कहानीकार होंगे—और जो हुआ, वह सब जानते ही हैं। जैनेन्द्र के विषय में भी उनकी भविष्यवाणी पूरी-पूरी सच नहीं हुई। जनवरी सन् १९३५ ई० में मैंने एक कहानी* 'हंस' में प्रकाशित होने के लिए भेजी थी, पर प्रेमचंद ने उसे लौटा दिया था। मैंने भी उस कहानी को बुरा समझ लिया, और क्या करता—? आखिर प्रेमचंद की ही राय थी। पर तीन-चार बरस बाद मैंने और मेरे कई मित्रों ने उस कहानी को पढ़ा और 'बहुत अच्छी' स्वीकार किया। तो शिवदानसिंह से मेरा यह अनुरोध है कि उनकी लौटाई रचना यदि किसी दूसरे पत्र में ज्यों की त्यों भी छप जाये, तो उन्हें दुःख नहीं होना चाहिए; क्योंकि हो सकता है कि उनकी राय गलत हो। और गलती तो प्रेमचंद से भी हो ही जाती थी।

× × × ×

(उदाहरण नं० ३) प्रेमचंद की मृत्यु से हिंदी कथा-साहित्य में कोई स्थान खाली नहीं हुआ, जिसकी पूर्ति की आवश्यकता हो। इसके विपरीत शिवदानसिंह का कथन उनके अध्ययन की कमी और व्यर्थ के प्रचार की भावना का द्योतक है। न बँगला-साहित्य मे ही टैगोर और शरद् के निधन से 'चन्द्र और सूर्य सदैव के लिए अस्त हो गये' हैं। उनकी परम्परा के ही नहीं, उनसे आज बढ़े हुए भी लेखक बँगला के कथा-साहित्य में हैं: रविबाबू और शरद् की परम्परा के लेखकों में विभूतिभूषण गुप्त, आशालतासिंह, ताराशंकर बनर्जी, सुबोध बसु, बनफूल और मनोज बोस प्रमुख हैं; इन लेखकों ने अच्छी से अच्छी कहानियाँ लिखी हैं। जिन लेखकों ने टैगोर-चटर्जी स्कूल के विरुद्ध विद्रोह किया है और कुछ वैसी कहानियाँ लिखी हैं, जिन्हें आजकल 'प्रगतिशील' कहते हैं, उनमें प्रेमेन्द्र मित्र सर्वश्रेष्ठ हैं और इनके बाद बुद्धदेव बसु और अचिन्त्यकुकार सेन।

पर बस हिन्दी-बँगला तक ही नहीं हो जाती: शिवदानसिंह को सारे विश्व के कथा साहित्य में ह्रास ही ह्रास नजर आता है। इसके उत्तर में विगत् महायुद्ध के बाद के सैकड़ों कहानीकारों, उपन्यासकारों और उनकी श्रेष्ठ कला-कृतियों के नाम गिनाये जा सकते हैं। विलायती लेखकों के नाम मैं नहीं लूँगा, उन्हें तो मेरा विश्वास है शिवदानसिंह ने पढ़ा ही है,

* मेरे कहानी-संग्रह 'चौराहा' की एक कहानी—पन्द्रह तारीख।

पर विगत महायुद्ध के बाद जो कथाकार भारत ने पैदा किये हैं, उनमें प्रेमचन्द (हिन्दी), धूमकेतु और झवेरचन्द मेघाणी (गुजराती), खांडेकर मांडखोलकर (मराठी), कृष्णचन्द्र (उर्दू), और रविबाबू तथा शरद * (बंगला) को सभी जानते हैं। पर इन महान् लेखकों का नाम शायद मेरे दोस्त ने नहीं सुना। उनका ख्याल है कि कथा-साहित्य में इस ह्रास (?) का कारण पूँजीवाद है। कथा-साहित्य में तो नहीं, पर उस समाज में तो अवश्य ही ह्रास है और उसका कारण भी किसी क़दर पूँजीवाद है, जिसका चित्रण उसमें हुआ है। लेकिन ह्रासोन्मुखी समाज का चित्रण करने से कोई साहित्य प्रगतिशील न कहलाकर ह्रासोन्मुखी कहलायेगा, यह तर्क कुछ संगत प्रतीत नहीं होता। हरिभाऊ उपाध्याय और गांधीजी ही अभी तक यह कहा करते थे कि हिंदी में टैगोर नहीं है और उन्हें मैं इसका खासा जवाब दे चुका हूँ; पर शिवदानसिंह ने एक बिल्कुल ही नई आपत्ति उठाई है : हिन्दी में अन्य प्रेमचन्द क्यों नहीं पैदा हुए ? बँगला में और रवीन्द्र और शरद् ने क्यों नहीं जन्म लिया ? इसका उत्तर है कि प्रेमचन्द की अब हिन्दी को जरूरत नहीं, रविबाबू और शरदबाबू की बंगाली भाषा को आवश्यकता नहीं। साहित्य में एक महान् कलाकार केवल एक ही बार पैदा होता है। इंगलैंड ने दूसरा शेक्सपियर, भारतवर्ष ने दूसरा तुलसी और दूसरा कालिदास और दूसरा ग़ालिब नहीं जन्मा। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि नाटक-साहित्य शेक्सपियर और कालिदास पर समाप्त हो गया, कविता की इतिश्री तुलसी और ग़ालिब पर हो गई। नाटक में भवभूति, इब्सेन, स्ट्रिंडबर्ग, शॉ, द्विजेन्द्रलाल राय और गिरीशचन्द्र घोष उत्पन्न हुए, कविता में शैली-कीट्स, रवीन्द्र और पंत ने जन्म लिया। कथा-साहित्य अलिफ़-लैला, पंचतंत्र या ईसप की कहानियों पर खत्म नहीं हुआ। उसमें ह्यूगो, गोर्की, गाल्सवर्दी, फ्रांस, रोम्या रोलाँ, टाल्सटाय, रवीन्द्र, शरद्, प्रेमचन्द, पर्लबक आदि एक से एक बड़े कथाकार को देखा। एकदम आधुनिक लेखकों का नाम मैंने इसलिए नहीं लिया कि उनकी महानता अभी प्रतिष्ठित और सर्वमान्य नहीं है। हिन्दी में अभी तक दूसरे पंत नहीं हुए, पर बच्चन और निराला, अवश्य पैदा हुए। किसी भी साहित्य की कला और उसके इतिहास को एक ही कलाकार में देखना हद दर्जे की भूल है। अँग्रेजी साहित्य का इतिहास केवल शेक्सपियर या शैली का इतिहास नहीं है और न ही हिन्दी का साहित्य केवल सूर-तुलसी का इतिहास है। मेरा विश्वास है कि किसी भी भाषा के साहित्य का इतिहास उसके दूसरे श्रेणी के लेखकों का इतिहास होता है, जैसे किसी भी देश का इतिहास उसके राजा या प्रेसीडैण्ट का आत्म-चरित न होकर उसकी प्रजा, उसकी जनता की सामाजिक अवस्था का इतिहास होता है। फिर भी मैं इस प्रश्न का उत्तर दूँगा कि दूसरा शेक्सपियर, दूसरा कालिदास, दूसरा ग़ालिब, दूसरा टैगोर, दूसरा तुलसी या दूसरा प्रेमचंद क्यों नहीं पैदा हुआ, क्योंकि यह एक ऐसा प्रश्न है जिसे अक़्लमंद आदमी भी पूछ बैठते हैं, और जिस पर आज तक किसी ने ग़ौर भी नहीं किया। इन महान लेखकों की सामाजिक पृष्ठ-भूमि देखने से इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त हो जाता है। क्या शेक्सपियर के पहले अंग्रेजों में कोई बड़ा नाटककार हुआ ? क्या कालिदास के पहले संस्कृत में कोई बड़ा नाटककार था ?

---

* रविबाबू तथा शरदबाबू ने अपना अधिकांश साहित्य विगत महायुद्ध के बाद लिखा है। —लेखक

क्या रवीन्द्र, ग़ालिब और तुलसी के पहले बँगली, उर्दू और हिन्दी में कोई बड़ा कवि था ? इसी तरह हिन्दी में प्रेमचन्द से पहले कोई कहानीकार भी नहीं था। इसका कारण है कि उन युगों में जनता अधिकतर अशिक्षित थी, लेखन-कला की ओर से उदासीन थी और संस्कृति उच्च वर्गों तक ही सीमित थी। इसलिए किसी भी प्रतिभा का उस समय उदय होना विकास-क्रिया (process of evolution) की एक घटना होती थी ; उस एक में ही उस समग्र युग और समाज की प्रतिभा केन्द्रित होकर अपना प्रतिनिधित्व पा जाती थी। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि सर्वतोमुखी और अधिक प्रतिभाएँ संस्कृति-सभ्यता के व्यापक-विकास से उत्पन्न होती हैं और विलक्षण प्रतिभा हीरे की तरह व्यापक असभ्यता की चट्टानों में जन्म लेती है। ज्यों-ज्यों सभ्यता-संस्कृति का न केवल विकास वरन प्रसार होता जाता है, विलक्षण प्रतिभा साधारण हो जाती है, और एक ही ऊँचाई के कितने ही अच्छे कलाकार पैदा हो जाते हैं, यहाँ तक कि उनमें फिर किसी भी एक को ईमानदारी से सर्वश्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता। दूसरे पहले के महान कलाकार केवल एक ही कला के मास्टर होते थे, पर आज ऐसे कलाकार हैं, जो कविता, कहानी, उपन्यास और समालोचना सभी लिखते हैं और समान प्रतिभा से, यों थोड़ा-बहुत अंतर तो विषय की विभिन्नता से उत्पन्न हो ही जाता है। सर्वतोमुखी प्रतिभासम्पन्न टैगोर-शेक्सपियर के युग में पैदा नहीं हो सकते थे। भारत में चित्रकला का एक युग में ऐसा प्रसार और विकास हुआ कि कोई एक चित्रकार सबसे बड़ा नहीं हुआ, वरना उसका नाम हम आज अवश्य सुनते ; हालाँकि एलोरा और अजन्ता की चित्रकला अमर है। और उज्जैन, उदयपुर, इन्दौर आदि में आज भी घर-घर चित्रकारी होती है। लगभग यही बात नृत्यकला और संगीतकला के साथ भी हुई। तो एक ज़माना था जब घर-घर में सभी महान चित्रकार थे, संगीतज्ञ थे। तो ज्यों-ज्यों समाज का विकास होगा एक रवीन्द्र और एक शेक्सपियर कम पैदा होते चले जावेंगे और साम्यवादी समाज में तो इस प्रकार की एकमात्र प्रतिभाओं का कोई अस्तित्व ही न होगा। प्रेमचन्द के बाद हिन्दी कथा-साहित्य को हमें इसी वैज्ञानिक (?) दृष्टिकोण से देखना होगा। हिन्दी की कहानी आज प्रेमचन्द से कम से कम १००० क़दम आगे बढ़ आई है और उसकी कला ने बहुत कुछ पूर्णता प्राप्त कर ली है। प्रेमचन्द सिर्फ प्रेमचन्द थे। उन्होंने लगभग साढ़े तीन सौ कहानियाँ लिखी हैं, जिनमें सिर्फ़ २४ ऐसी हैं, जिन्हें हम एक नम्बर कह सकते हैं और बाकी ३२६ प्रेमचन्दी हैं। आजकल कोई उन जैसी कहानी लिखता है, तो लोग 'प्रेमचन्दी है' कहकर मुँह बिगाड़ते हैं, और उसे एक तरफ फेंक देते हैं। यह एक कटु सत्य है कि किसी भी कहानी को 'प्रेमचन्दी' कहना, उसकी प्रशंसा करना नहीं है। किसी भी महान कलाकार को समय इससे बड़ी ठोकर नहीं लगा सकता। प्रेमचन्द के स्थान की पूर्ति के लिए आज कोई भी एक पहली श्रेणी का कलाकार रखा जा सकता है : पर आज हिन्दी में कम से कम एक दर्जन कथाकार ऐसे हैं, जो प्रेमचन्द से अधिक प्रतिभाशाली हैं, और हिन्दी में कम से कम एक हज़ार कहानियाँ ऐसी हैं जिन्हें प्रेमचन्द नहीं लिख सकते थे। 'थोड़ी सी पीली', (भगवतीप्रसाद वाजपेयी), 'दो बाँके' (भगवतीचरण वर्मा), 'प्रथम मृत्यु' (चन्द्रगुप्त विद्यालंकार), 'दुःख' (यशपाल), 'तलिस्म' (बलराज साहनी) 'बच्चा किसका ?' (विष्णु), 'हत्यारा' (अश्क),

'दूसरा बच्चा' (श्रीमती चन्द्रकिरण सोनरेक्सा), 'मँगते' (श्रीमती सुमित्रा कुमारी सिन्हा), 'पूँजीपति की डायरी' (शिवदानसिंह चौहान), 'ज्वाला परचूनी' (नरेन्द्र शर्मा), 'आँखों देखा' (सुरेन्द्र बालूपुरी), 'कालू' (उपेन्द्रनाथ 'अश्क'), 'प्रेम-कीटाणु' (ब्रजमोहन गुप्त), 'वह किसकी तस्वीर थी' (पहाड़ी), 'मास्टरजी' (जैनेन्द्र), 'चिड़ियाघर' (अज्ञेय), 'तीसरा कौर' (कान्तिचन्द्र सौनरेक्सा) आदि कहानियों के विचार-कला प्रेमचन्द की प्रतिभासम्पन्न लेखनी की क्षमता-सीमा से परे की कला-कृतियाँ हैं और उस परम विकास की प्रतिनिधि हैं, जो प्रेमचन्द के बाद हिन्दी-कहानी ने प्राप्त किया है। उधर उर्दू में भी प्रेमचन्द के बाद अनेक श्रेष्ठ कहानी-लेखक हुए हैं, जिनमें कृष्णचन्द्र, सआदत हसन मन्टो, राजेन्द्रसिंह बेदी, अहमद नदीम कासिमी, अस्मत चग़ताई, अहमद अली, धर्मप्रकाश आनन्द, अख़्तर अन्सारी, अख़्तरहुसन रायपुरी, इम्त्याज़ अली ताज वग़ैरा कहानी-लेखकों ने भी ऐसी कहानियाँ लिखी हैं, जिन्हें प्रेमचन्द कभी लिख सकते थे, इसमें शक है। हिन्दी-उर्दू दोनों में ही उपन्यासकारों की अवश्य ही कमी रही है और इसका कारण बहुत कुछ जनता की रुचि और प्रकाशन की कठिनाइयाँ रही हैं। कहानी पढ़ने में कम समय लगता है; इसलिए कहानी का प्रचार अधिक हुआ। दूसरे मासिक पत्र-पत्रिकाओं की बढ़ती के साथ कहानी की माँग भी बढ़ी और तीसरे-चौथे दर्जे की कहानियों से बाज़ार पटने लगा, परन्तु यह कोई बुरी बात नहीं हुई। मैं इसे ह्रास नहीं मानता। समस्त पाठक समानरूप से शिक्षित नहीं है, इसलिए जिसे आप बहुत अच्छी चीज़ समझते हैं, वह कम पढ़े पाठक की समझ में भी नहीं आयेगी। 'हंस' की कहानियों की अपेक्षा मैंने रेल में तीसरे दर्जे के अधपढ़े मुसाफिरों को 'रसीली कहानियाँ' और 'माया' में ज्यादा आनन्द लेते देखा है। परन्तु यह बात उन देशों में भी पाई जाती है , जहाँ शिक्षा पचास प्रतिशत है। अभी तक साहित्य सुविधा-सम्पन्न एवं उच्च शिक्षित-वर्ग तक सीमित रहा है। साम्यवादी समाज की स्थापना पर वह भले ही जन-जनार्दन का हो, किंतु जन-जनार्दन का साहित्य क्रान्तिकारी कभी नहीं हो सकता ; वह या तो पलायनवादी होता है या फिर धार्मिक एवं उपदेशात्मक। इसका कारण है : क्रान्ति एक सामूहिक क्रिया का नाम है ; क्रान्ति करानेवाले 'दास कैपीटल' अथवा सोशलिस्ट साहित्य के ज्ञाता नहीं होते, उसके ज्ञाता होते हैं क्रान्ति करानेवाले ; क्रान्ति करनेवाले भेड़-चाल (mob psychology) से काम लेते हैं। शिवदान सिंह का कहना है कि पलायन का साहित्य और चाहे जो कुछ हो, प्रथम कोटि का नहीं हो सकता। मेरा ख्याल है कि पलायन का साहित्य अक्सर ही प्रथम कोटि का होता है और चिरजीवी भी, यदि उसमें 'कला' भी उच्चकोटि की हो। साम्यवादी समाज में पलायनवादी साहित्य और कला के अतिरिक्त और कोई साहित्य तथा कला नहीं हो सकती, क्योंकि उस समय हमारे सारे सामाजिक, आर्थिक, और राजनीतिक कष्ट तथा बुराइयाँ मिट जायेंगी। यदि शिवदान-सिंह इस संभाव्य सत्य को नहीं मानते, तो मैं कहूँगा कि साम्यवादी समाज में साहित्य और कला का अस्तित्व ही मिट जायगा। कथा-साहित्य को शिवदानसिंह केवल बाह्य वास्तविकता (external or objective reality) का संश्लिष्ट और प्रवहमान (complex and dynamic) रूप मानते हैं, आत्मिक दृढ़ता या भावात्मकता को वे इस वास्तविकता से

संघर्ष करने का साधन भर मानते हैं ; जब कि मैं समझता हूँ कि किसी भी बाह्य वास्तविकता से संघर्ष करने के लिए आंतरिक वास्तविकता (internal actuality) ही असली जान और शक्ति (soul and motivating force) है, बिना इस शक्ति के कोई भी संघर्ष बेजान और असफल रहेगा। बाह्य और आंतरिक वास्तविकता का सम्बन्ध देह और प्राण का है। किसी भी साहित्य को संघर्षशील एवं जानदार बनाने के लिए जरूरी है कि जीवन की आंतरिक वास्तविकता को गतिशील कला के रूप में उपस्थित किया जाय। शिवदानसिंह का कथा-साहित्य और उसकी परिभाषा 'पूँजीवादी समाज' को नष्ट करके 'समाजवादी समाज' की स्थापना करने के बाद समाप्त हो जाता है। उसके बाद कैसा कथा-साहित्य होना चाहिए, इसकी कोई परिभाषा, कोई रूप उन्होंने निर्मित नहीं किया। कला और साहित्य को वे एक 'सचेत क्रिया' यानी (conscious effort) बनाना चाहते हैं, ठीक है ; पर वास्तव में इसका अर्थ है कोरा प्रचारवादी, कलाहीन साहित्य, जिसके कुछ नमूने 'हंस' में भी अक्सर छपते रहते हैं। अप्रैल के 'हंस' में ही नरेन्द्र शर्मा की कविता 'लाल निशान' और प्रकाशचन्द्र गुप्त का स्कैच 'जेल के फाटक पर' इसके ताजे नमूने हैं। रूसी साहित्य की भी मैंने कुछ ऐसी कविताएँ और गीत पढ़े हैं, जिनमें लेनिन को खुदा बनाया गया है और वे कला के नाम पर सिफर हैं। साम्यवादी साहित्य (?) वीर-पूजा (hero worship) का बड़ा हिमायती मालूम होता है, पर वीर-पूजा सामंत-वर्ग की बपौती है। कला और साहित्य की पृष्ठ-भूमि में 'एक जीवन व्यापी द्वन्द्वमूलक विचारधारा (a dialectical ideology embracing all life) हो और उनका रूप-विधान सामाजिक-यथार्थवाद के कलात्मक तत्व से निरूपित हो', यह मैं मानता हूँ, पर कोई भी 'सचेत' कलाकार, कलाकार की अपेक्षा सचेत अधिक हो जायगा, हो जाता है, और प्रचार एवं उपदेशात्मक (didectic) रूप में लिखने लगता है। अपेक्षित यह है कि समाजवादी विचार-धारा लेखक के अचेतन मस्तिष्क (unconscious mind) तथा उसकी अचेतना में समाहित हो जाये, जहाँ से वह कलात्मक व्यंग के रूप में छन-छन कर आये। कला और प्रचार के बीच की देहरी को देखना और समझना होगा। इस दृष्टि से तो प्रेमचन्द भी सफल कलाकार नहीं थे। वे हमेशा इस देहरी को लाँघ जाते थे।

शिवदानसिंह ने 'शेखर' को 'गोदान' के बाद का सबसे महत्वपूर्ण उपन्यास माना है, इसलिए नहीं कि स्वयं उपन्यास महत्वपूर्ण है, बल्कि इसलिए कि उसका लेखक यानी अज्ञेय एक शक्तिशाली और ईमानदार कलाकार हैं ; क्योंकि 'शेखर आज के समाज का प्राणी होकर भी...असामाजिक और विक्षिप्त है।' 'शेखर' 'गोदान' के बाद का सबसे महत्वपूर्ण उपन्यास है, इसमें बहुत सन्देह नहीं, पर वह उपन्यास कम है और महत्वपूर्ण अधिक और उसका लेखक शक्तिशाली अधिक है, पर ईमानदार बहुत ज्यादा नहीं है। मेरी राय में 'शेखर' एक असाधारण बालक का मनोवैज्ञानिक अध्ययन है, जिसमें अक्सर ही 'शेखर' के मनोविज्ञान की जगह प्रौढ़ अज्ञेय का परिज्ञान बेचारे बालक को ढँक-ढँक लेता है। और क्योंकि शेखर जैसे असाधारण बालक दुनिया में हर जगह और हमेशा जन्म लेते रहते हैं, इसलिए यह उपन्यास महत्वपूर्ण है और चिरजीवी भी हो सकता है। पर

प्रेमचंद के जीवन में भी एक शक्तिशाली और महत्वपूर्ण उपन्यास लिखा गया था। मेरा ख़्याल है कि वह उपन्यास 'गोदान' के बाद साम्यवादी समाज में भी जीयेगा—यह उपन्यास है भगवतीचरण वर्मा का 'चित्रलेखा।' इसके अतिरिक्त समाज की इस विध्वंस-ग्रस्त और नव-सृजनात्मक वास्तविकता का विशद चित्रण, जो एक साथ ही ट्रैजिक और आशावादी हो सकता है, भगवतीचरण वर्मा के आगामी उपन्यास में हुआ है; जिसमें भारतीय जीवन के विगत २५ वर्ष और गांधी-युग के संघर्ष का भी कलात्मक एवं सफल चित्रण हुआ है; पर यह उपन्यास अनेक कठिनाइयों के कारण अभी अप्रकाशित ही है।

अन्त में शिवदानसिंह ने हिन्दी के सभी प्रगतिशील कथाकारों को अज्ञानी ठहराया है कि वे कथा-साहित्य की मूल-समस्याओं से परिचित नहीं हैं और जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण स्वस्थ और सही नहीं है। मेरे ख़्याल से यह लांछन किसी क़दर उनके साथ भारी अन्याय है। दूसरा दोषारोपण यह है कि उन लेखकों की 'कहानियों या उपन्यासों में एक उपजीवी की मौखिक सहानुभूति की बनावट भरी हुई है।' पर मैं यह सदैव मानता रहा हूँ कि आज के प्रगतिशील साहित्य में शोषित-वर्ग के प्रति हमारी केवल मानसिक (मौखिक नहीं) सहानुभूति है और असली प्रोलेतेरियत साहित्य केवल प्रोलेते-रियेत-वर्ग के लेखक की क़लम से लिखा जा सकता है और यह तब तक न होगा, जब तक शोषित-वर्ग शिक्षित नहीं हो जायगा। तो वास्तविक प्रगतिशील साहित्य के सृजन के लिए सबसे पहली आवश्यकता है निम्न-वर्ग की शिक्षा।

शिवदानसिंह का यह कहना ठीक है कि—'प्रगतिवादी कहानियों के पात्र समाज के वे विकृत मानव हैं, जो किसी भी सिद्धान्त से क्रान्ति के अग्रदूत नहीं बन सकते।' पर 'कुघड़ता से यह ममता' इसलिए थी कि समाज की आन्तरिक विकृति वेश्या, भिखारी, पागल, विक्षिप्त आदि के रूप में अपनी समस्त करालता के साथ व्यक्त हो पड़ती है। पाखंडपूर्ण नैतिकता के बन्धन तोड़ने के लिए वे 'यदि' उच्छृङ्खलता की सीमा लाँघ जाते हैं, तो इसमें आश्चर्य कि कौन-सी बात है? यह सच भी है और स्वाभाविक भी, क्योंकि प्रत्येक क्रिया की एक प्रतिक्रिया होती ही है और यदि उस क्रिया का आधार कठोर है, तो उसकी प्रतिक्रिया मौलिक क्रिया की सीमा को लाँघ जाती है: एक ऊँचाई से गेंद पत्थर पर पटकियेगा, तो वह उछलकर उस ऊँचाई को पारकर जाती है। यह स्पष्ट है कि वर्तमान नैतिकता का आधार पूँजीवादी समाज और साम्राज्यवादी शासन है। उसका और क्या खोखलापन हो सकता है? इससे ऊँचे दर्जे की नैतिकता की स्थापना साम्यवादी समाज में ही संभव है या फिर उन कहानियों में जिनमें झूठमूठ साम्यवाद के स्वप्न को सच कर दिखाया जाये; पर ऐसी कहानियाँ न केवल कोरी आदर्शवादी होंगी, बल्कि कुछ-कुछ परियों के देश की-सी भी।

तो यह साफ़ ज़ाहिर है कि हिंदी का कथा-साहित्य वैसा ह्रासोन्मुखी और हीन नहीं है, जैसा कि शिवदानसिंह ने अपने भाषण में चित्रित किया है। प्रेमचंद को पीछे छोड़कर हिंदी कथा-साहित्य आज बहुत आगे बढ़ गया है। उसमें अच्छे से अच्छे प्रति-भाशाली कलाकार हैं। पर इधर कुछ दिनों से जो शिथिलता हमें उस प्रतिभा के विकास

में नजर आ रही है, उसका कारण है प्रकाशकों का शोषण, सम्पादकों का अहंकार, युद्ध के कारण कागज की कमी और सबके ऊपर भारत-रक्षा-विधान। अनेक महान रचनाएँ भारत में हमारे वर्तमान शासन के प्रतिबन्धों के कारण नहीं लिखी जा सकतीं। इस गुलाम देश में इस कारण भी अन्यान्य स्वतंत्र देशों की भाँति महान उपन्यास या कहानियाँ सृजित नहीं होतीं, पर या तो वे गर्भ में ही मर जाती हैं या फिर जन्मते ही मार डाली जाती हैं। रवीन्द्र ने कभी अपने साहित्य में यथार्थरूप में वर्तमान शासन और राजनीति को स्थान नहीं दिया, शरद् ने एक बार देने की कोशिश की, तो उनका उपन्यास 'पाथेर दाबी' जब्त हो गया। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि हमारे अधिकांश दुखों का कारण देशी पूँजीपति न होकर हमारी गुलामी है। और जब तक परतन्त्रता दूर नहीं होती, तब तक केवल पूँजीवाद को साहित्यिक ह्रास का कारण ठहराना भारतीय समाज और परिस्थिति की घोर अज्ञानता प्रकट करता है। केवल रूसी दृष्टिकोण हमारे साहित्य और समाज की समस्याएँ सुलझाने में असमर्थ है अयोग्य है। और शिवदानसिंह हर समस्या को केवल रूसी आँखों से देखने आदी हैं।

अंत में मैं अपनी कथा-साहित्य की परिभाषा यों दूँगा—कथा-साहित्य में जीवन की बाह्य और आंतरिक यथार्थता का सामञ्जस्य और उसकी वास्तविकता की कलात्मक और रोचक अभिव्यक्ति इस प्रकार होनी चाहिए कि वह व्यापक-जीवन के लिए कल्याण-कारी होकर मानव-समाज के उत्तरोत्तर विकास में सहायक हो।

*

उबाल

●

[उपेन्द्रनाथ 'अश्क']

जब दूध उबल-उबलकर कोयलों पर गिरने लगा और 'शां' 'शां' की आवाज़ के साथ एक तीखी-सी गन्ध उठी तो चन्दन ने हड़बड़ा कर पतीली की ओर हाथ बढ़ाया—कोयलों की तपन से पतीली लाल-सुर्ख़ हो रही थी। बेबसी की एक दृष्टि चन्दन ने इधर-उधर डाली—कोई कपड़ा पास न था। उसने चाहा—पानी का छींटा ही दे दे, किन्तु लोटे के पानी में अभी-अभी उसने आटेवाले हाथ धोये थे—दूध उबल रहा था और सड़ी हुई झाग की गन्ध कमरे में फैलने लगी थी और अन्दर कमरे में उसके मालिक और मालकिन धीरे-धीरे बातें कर रहे थे—विवशता के उस क्षण में चन्दन के बढ़े हुए हाथ और बढ़ गये और निमिष-मात्र में, तपती, जलती पतीली खट से फ़र्श पर आ गई। चन्दन की अँगुलियों की पोरें जल गईं। उबलता हुआ दूध उसके हाथों पर गिर गया और जलन के कारण उसके ओठों से अनायास एक 'सी' निकल गई।

पतीली को खट से फ़र्श पर रखते हुए थोड़ा-सा दूध फ़र्श पर भी गिर गया था। उसी आटे के पानी से उसने उसे धो डाला और अँगुलियों की जलन को जैसे झाड़ कर उतारता हुआ, वह स्नान-गृह की ओर भागा।

पानी की धार के नीचे हाथ रखे-रखे उसने सिर को हल्का-सा झटका दिया और मुस्कराया—वास्तव में जब भी उससे कोई मूर्खता बन आती थी, वह इसी प्रकार सिर हिलाकर ओंठों के बायें कोने से मुस्कराया करता था और ओंठ कटे होने के कारण उसके दाँत दिखाई देने लगते थे।

बात यह हुई थी कि दूध को अँगीठी पर रखकर वह अपने मालिक और मालकिन की बातें सुनने लगा था।—यद्यपि दिन काफ़ी चढ़ आया था और चन्दन ने दोपहर के खाने के लिए आटा भी गूँथ लिया था लेकिन वे अभी तक बिस्तर पर ही लेटे बातों में मग्न थे और कुछ ही देर पहले उसके मालिक ने चन्दन को चाय बनाने का आदेश दिया था।

उसने दूध की पतीली को अँगीठी पर रख दिया था और वह उनकी बातें सुनने में निमग्न हो गया था। जब से उसके मालिक की शादी हुई थी, वह सुबह उठने के मामले में सुस्त हो गया था। इससे पहले वह प्रातः उठता, चन्दन को उठाता, मालिश करवाता, व्यायाम करता और प्राय सैर को भी जाता, पर अपनी इस नव-परिणीता पत्नी के आने पर वह उसके साथ दिन चढ़े तक सोया रहता। जब जगता तो वहीं लेटे-लेटे चन्दन को चाय बनाने का आदेश दे देता। और फिर वे दोनों, पति-पत्नी धीरे-धीरे बातें किया करते, मीठी, रसभरी बातें।

चन्दन को इन बातों में रस आने लगा था। वे अन्दर बिस्तर पर लेटे धीरे-धीरे बातें कर रहे होते और वह बाहर बैठा उन्हें सुनने का प्रयास किया करता।

आँच की तेज़ी के कारण दूध पतीली में बल खाता हुआ ऊपर उठ रहा था और चन्दन उस ओर से बेख़बर उनकी बातें सुनने में निमग्न था।

'मैं विवश हो जाता हूँ, तुम्हारे गाल ही ऐसे हैं',...'आपके हाथों का अपराध नहीं क्या ?'...'इतने अच्छे हैं तुम्हारे गाल कि'...'जलने लगे आपकी चपतों से'...'लो मैं इन्हें ठंडा कर देता हूँ।'

और चन्दन को ऐसे लगा जैसे कोई कोमल मृदुल फूल रेशम के नर्म-नर्म फ़र्श पर जा पड़ा हो। कल्पना ही कल्पना में उसने देखा कि उसके मालिक ने अपने ओंठ अपनी पत्नी के गाल से लगा दिये हैं। वहीं बैठे-बैठे उसका शरीर गर्म होने लगा, उसके अंग तन गये और कल्पना ही कल्पना में अपने मालिक का स्थान उसने स्वयं ले लिया।

हाथ धोकर उसने सिर को फिर झटका दिया और ओंठों के बायें कोने से मुस्कराता हुआ वह अन्दर गोदाम में गया। उसने ज़रा-सा सरसों का तेल लेकर अपने हाथों की मैली, स्याह, जलती हुई त्वचा पर उस जगह लगाया, जहाँ जलन हो रही थी। फिर जाकर वह रसोई में बैठ गया और उसने चाय की केतली अंगीठी पर रख दी।

किन्तु हाथ जलाने और अपनी इस मूर्खता पर दो बार सिर हिलाकर मुस्कराने पर भी उसके कान फिर कमरे की ओर लग गये और उसकी कल्पना अपनी समस्त तन्मयता के साथ उसके श्रवण की सहायता करने लगी। और उसकी आँखों के सम्मुख फिर कई चित्र बनने और मिटने लगे।

× × ×

'चन्दन !' उसके मालिक ने चीख़कर आवाज़ दी और फिर कहा—वहीं मर गये क्या ?'

मालिक की आवाज़ सुनकर वह चौंका। जल्द-जल्द चाय और तोस बनाकर, अन्दर ले गया।

उसके मालिक-मालकिन पूर्ववत बिस्तर पर पड़े थे। वे दोनों आलिंगन-बद्ध तो न थे, फिर भी दोनों एक दूसरे से सटे तकिये के सहारे लेटे हुए थे। लिहाफ़ दोनों के सीने तक था और मालिक की बाँह अभी तक मालकिन की गर्दन के नीचे थी।

'इधर रख दो।'

चन्दन ने ट्रे तिपाई पर रख दी।

एक बार देखकर मालिक ने कहा—तुम्हें हो क्या गया है ? दूध का जग कहाँ है ?

'जी, अभी लाया !' और सिर को एक बार झटका देकर ओंठों के बायें कोने से मुस्कराता वह रसोई की ओर भागा।

दूसरे क्षण उसने दूध का बर्तन लाकर रख दिया, पर उसे फिर गालियाँ सुननी पड़ीं, क्योंकि दोबारा देखने पर मालिक को मालूम हुआ कि छलनी भी नहीं है।

चन्दन ने छलनी लाकर रख दी और क्षणभर के लिए वहीं खड़ा रहा। उसकी दबी हुई दृष्टि अपनी मालकिन के चेहरे पर जा पड़ी—सुन्दर, सुगन्धित, सुवासित खुले

बालों की लटें उसके गोरे गलगोथने चेहरे पर बिखरी हुई थीं, ओंठ सूखे होने के बावजूद गीले-गीले थे ; मुस्कराती आँखों में तन्द्रा की बारीक-सी रेखा थी और चेहरे पर हल्की-सी थकन की छाया। उसके मालिक ने बड़े प्यार से कहा—चाय बना दो न जान—

पर 'जान' ने रूठते हुए करवट बदल ली।

'मैं कहता हूँ चाय न पियोगी ?' उसे मनाते हुए मालिक ने कहा।

'मुझे नहीं पीनी चाय।' गाल को मसलते हुए मालकिन ने उत्तर दिया, जिस पर अभी-अभी प्यार की हल्की-सी चपत उसके मालिक ने लगाई थी।

गर्दन के नीचे की बाँह उठी और मालकिन अपने मालिक के आलिंगन में भिंच गई।

'क्या करते हो, शर्म नहीं आती ?'

चन्दन का दिल धक्-धक् करने लगा और उसके मालिक का क़हक़हा कमरे में गूँज उठा।

'उठो बना दो न चाय !' मालिक ने बड़ी नर्मी से बाँह को ढीला छोड़ते हुए कहा—तुम्हारे गाल ही ऐसे प्यारे हैं कि अनायास उन पर चपतें लगाने को जी चाहता है।

तड़प कर मालकिन ने फिर करवट बदल ली।

'चन्दन, तुम बनाओ चाय।'

लगभग काँपते हुए हाथों से चन्दन ने चाय की प्याली बनाई।

प्याली उठाकर अपनी 'जान' को बग़ल में भींचते हुए उसके मालिक ने प्याली उसके ओंठों से लगा दी।

× × ×

यह 'जान' का शब्द था, या उसके मालिक का उसके सामने अपनी पत्नी को आलिंगन में लेना, कि जब दोपहर को काम-काज से निबट कर चन्दन अपनी कोठड़ी में जा लेटा, तो उसकी आँखों में 'जोहरा जान' का चित्र घूम गया और उसने अनायास सरसों के तेल और मिट्टी में सने बे-गिलाफ़ के मैले जीर्ण-शीर्ण तकिये को अपने आलिंगन में भींच लिया।

अचानक उबलकर ऊपर आ जानेवाले दूध की भाँति न जाने जोहरा का यह चित्र किस तरह उसके बचपन की गहरी, दबी, गुफाओं से निकलकर उसके सामने आ गया—वही नाटा-सा क़द, भरा-भरा गदराया शरीर, बड़ी-बड़ी चंचल आँखें, पान की लाली से रंगे ओंठ, भारी कूल्हे, वही छातियों का उभार और वही स्वर्ण-स्मित जिसके स्रोत का पता ही न चलता था कि पहले आँखों में आरम्भ होती है या ओंठों पर।

वह उस समय बहुत छोटा था और अनाथ हो जाने के कारण अपनी मौसी के पास रहा करता था। उसकी यह मौसी एक सेठ के बच्चों की धाय थी। यह सेठ चावड़ी बाज़ार में ग्रामोफ़ोन और दूसरे साज़ों की दुकान करता था। इस दुकान के सामने जोहरा का चौबारा था और सेठ की दुकान के बाजे चाँदी के सिक्कों में परिणत होकर धीरे-धीरे वहाँ पहुँचा करते थे।

चन्दन अपने मौसेरे भाई और सेठजी के बड़े लड़के के साथ कभी-कभी ज़ोहरा के चौबारे पर चला जाता था।

ज़ोहरा सेठजी के लड़के को प्यार किया करती मिठाई आदि देती और इस मिठाई का कुछ जूठा हिस्सा इन दोनों भाइयों को भी मिल जाया करता था। कई बार वह दूसरे बच्चों के साथ चौबारे के बाहर आँगन में खेल रहा होता कि सेठजी आ जाते। ज़ोहरा के पास जा बैठते, उसे आलिंगन में ले लेते या उसके मुलायम ऊरु पर सिर रखकर लेट जाते।

उसकी यह मालकिन भी तो ज़ोहरा से मिलती-जुलती थी उसी जैसा नाटा क़द, उसी जैसे भरे गदराये कूल्हे, बादलों-सी उमड़ती हुई छातियाँ, गोल-गोल रस भरे गाल, बड़ी-बड़ी मुस्कराती आँखें और गीले ओठ—कौन कह सकता है, कि उस एक क्षण में उसे अपने मालिक के आलिंगन में बँधे देखकर ही उसे ज़ोहरा का ध्यान न हो आया था।

कल्पना ही कल्पना में चन्दन ज़ोहरा के चौबारे पर पहुँच कर सेठ बना उसकी जाँघ पर सिर रखे लेट गया और ज़ोहरा प्यार से उसके बालों पर हाथ फेरने लगी।... वह भूल गया कि उसके टखनों तक मैल जमी हुई है, खुश्की के कारण उसकी टाँगों की त्वचा घुटनों तक पपड़ी बन गई है; उसकी नीली निक्कर (जो उसके मालिक ने उसे कभी दी थी) मैल से काली हो गई है; उसकी कमीज़ कई जगह से फटी हुई है; उसके स्याह माथे पर चोट का एक अत्यन्त घिनावना दाग़ है, उसका निचला ओंठ कटा हुआ है, उसके सिर के बाल छोटे-छोटे, खड़े-खड़े और रूखे हैं - वह मग्न लेटा रहा और ज़ोहरा उसके बालों पर हाथ फेरती रही। वहीं उसके ऊरु पर लेटे-लेटे उसने करवट बदली और कहना चाहा, 'ज़ोहरा, कितनी अच्छी हो तुम...' पर उसकी कमर में कोई नोखा-सी चीज़ चुभ गई और तब उसने जाना कि वह नंगे फ़र्श पर लेटा हुआ है और वह चीज़, जिस पर उसका सिर रखा है, ज़ोहरा की जाँघ नहीं बल्कि वही सड़ा-गला मैला तकिया है।

चन्दन ने सिर को झटका दिया, किन्तु वह मुस्कराया नहीं। उठकर, दीवार से पीठ लगाकर बैठ गया। वहीं बैठे-बैठे पिछले कई वर्ष उसकी आँखों के सामने उड़ते हुए-से गुज़र गये।

सेठजी तो अपनी सब जायदाद चावड़ी बाज़ार के 'हुस्न' की भेंट करके अपने नाना के गाँव चले गये थे, जो मध्य पंजाब में कहीं अपनी कुरूपता और अपढ़ता की गोद में सोया पड़ा था। चन्दन की मौसी रियासत अलवर में अपने गाँव चली गई और चन्दन इस अल्प वयस ही में तीन रुपये मासिक पर उन सेठ के एक मित्र के यहाँ नौकर हो गया था...

इसके बाद उसका जीवन उस कम्बल की भाँति था जिसे इधर से रफ़ू किया जाय तो उधर से फट जाए। और उधर से सिया जाय तो इधर से उधड़ जाय।

अपने इस मालिक के यहाँ पहुँच कर उसने सुख की साँस ली थी और उसने यह महसूस किया था कि ऐसा हँसमुख, उदार और खुले स्वभाव का मालिक उसे गत बाहर वर्ष की नौकरी में नहीं मिला। किन्तु उसके मालिक का यही खुलापन उसके लिए

मुसीबत बन गया। उसका मालिक उसके सामने ही अपनी पत्नी से प्यार करने लगता, उस आलिंगन में ले लेता और प्राय: चूम लेता, जैसे चन्दन हाड़-माँस का इन्सान न हो, मिट्टी का लौंदा हो।

चन्दन ने सोचा, इस विवाह से पहले वह कितने सुख-शान्ति से रहता था। अंगों में यह गर्मी-गर्मी-सी, नसों में यह तनाव-तनाव-सा, यह अशान्ति और अनिद्रा-सी उसने पहले कभी न महसूस की थी। वह सोता था तो गत-आगत का होश उसे न रहता, किन्तु जब से उसके इस मालिक ने विवाह किया और उसकी यह नयी मालकिन आई उसकी नींद उड़-सी गई थी। उसे विचित्र प्रकार के सपने आते। रात उसने कासनी को देखा था। कासनी उसके एक पहले मालिक की लड़की थी, कच्ची नाशपातियों-सी उसकी छातियाँ थीं, टखनों से ऊँचा लहँगा और बंडी पहने वह नंगे सिर घूमा करती थी। यही लड़की स्वप्न में उसके साथ आ लेटी थी। कैसे? कहाँ? उसे कुछ याद नहीं! पर वह जाग उठा था। उसका शरीर गर्म था, उसकी नसें तनी हुई थीं और उसे पसीना आ गया था—फिर वह सो न सका।

कुछ भी समझ में न आने से अपनी मूर्खता पर उसने सिर हिलाया, पर वह मुस्कराया नहीं। उसका मालिक दफ़्तर गया हुआ था। मालकिन अन्दर कमरे में गहरी नींद सोई हुई थी। वह उठा और पड़ौसी राय साहिब के नौकर जेठू की कोठड़ी की ओर चल पड़ा, जहाँ दोपहर के समय इर्द-गिर्द के सब नौकरों की महफ़िल जमा करती थी।

× × ×

चैत सुदी पूर्णमासी का चाँद बड़ के पीछे से धीरे-धीरे ऊपर उठ रहा था। नव-वय की कीकरी के पत्ते तरल रजत के परस से चमक उठे थे। चन्दन धीरे-धीरे अपनी कोठड़ी से निकला—सामने कोठी के पोर्च पर फैली हुई बुगन-बेलिया के लाल गुलअनारी फूल चाँदनी में हल्के स्याही मायल दिखाई दे रहे थे। एक ओर गुलमौर का पुराना पेड़ (जिसका तना पारसाल मध्य से काट दिया था) अपनी कुछ-एक शाखाओं के सिरों पर पत्तों और फूलों के गुच्छे लिये मस्ती से झूम रहा था। दूर से ये गुच्छे नन्हें-नन्हें बादलों के टुकड़ों से दिखाई देते थे। ककरौंदे और खट्टे के फूलों की मादक सुगन्ध वायु-मंडल के कण-कण में बस गई थी।—यद्यपि अभी तक वे सब अन्दर कमरे में सोते थे, पर नव ऋतु के आगमन से सर्दी अधिक न रही थी। चन्दन अनमना-सा गोंदनी के एक छोटे-से पेड़ के पास जा खड़ा हुआ। वहीं अपने ध्यान में खड़े-खड़े उसने दो-चार नन्हीं-नन्हीं गोंदनियाँ तोड़कर मुँह में डाल लीं। पूरी तरह पकी न थीं। उसके मुँह का स्वाद बिगड़ गया। क्षण भर तक वह असमंजस की दशा में वहीं खड़ा रहा। फिर वह बरामदे में गया और उसने बड़ी सावधानी से बैठक का दरवाज़ा खोला।

सोने का कमरा बैठक के साथ ही था और बैठक साधारण खुली रहती थी। उसका एक दरवाज़ा वह स्वयं बाहर से बन्द कर लिया करता था और दूसरा मालिक अन्दर से बन्द कर लेते थे। उसने धीरे से दरवाज़ा खोला। मालिक के सोने के कमरे में हल्की रौशनी थी, उसका प्रतिबिम्ब दरवाज़े के शीशों पर पड़ रहा था। ऐसा प्रतीत होता था जैसे किसी ने गदले प्रकाश की कूची दरवाज़े के शीशों पर फेर दी हो। धीरे-

धीरे दरी पर पाँव रखता हुआ चन्दन बढ़ा और जाकर दरवाज़े के साथ पञ्जों के बल खड़ा हो गया।

अन्दर छत में लाल रंग का बल्ब जल रहा था उसके धीमे प्रकाश में वह आँखें फाड़-फाड़कर अन्दर देखने लगा। किन्तु दूसरे ही क्षण वह वापस मुड़ा। उसका शरीर गर्म होने लगा था, अंगों में तनाव आ गया था, कण्ठ और ओंठ सूखने लगे थे और उसकी नसों में जैसे दूध उबलने लगा था।

उसी तरह पञ्जों के बल भगता-सा वह बाहर आया। धीरे से उसने दरवाज़ा लगाया और बाहर चाँदनी में आ खड़ा हुआ। सामने गुलमौर का तना खड़ा था। उसके जी में आया कि अपने युवा वक्ष की एक चोट से उस तने को गिरा दे।

कोठी के सामने लान में फुहारे के गिर्द लाल-पीले फूलों के अगनित पौधे लहरा रहे थे, जिनके चौड़े-चौड़े पत्तों पर पानी की बूँदें फिसल-फिसल पड़ती थीं। ककरौंदे की सुगन्ध और भी तीखी होकर वायु-मण्डल में बस गई थी। चन्दन ने जाकर फुहारे की टूटी घुमा दी...फर्र-फर्र मीठी फुहार उस पर पड़ने लगी।

वह जेटू के यहाँ क्यों गया? वह सोचने लगा—दोपहर के समय इर्द-गिर्द की कोठियों के नौकर जेटू की कोठड़ी में इकट्ठे होते थे। कभी ताश खेलते, कभी चौसर की बाज़ी लगाते, कभी अपने-अपने मालिकों और मालकिनों की नकलें उतारते। कभी जेटू अपने चचा से तवेवाला बाजा माँग लाता; जो उसने एक कबाड़ी की क्लीयरिंग सेल (clearing sale) में खरीदा था। उसकी आवाज़ ऐसे थी जैसे बदहज़मी का रोगी बच्चा रिरिया रहा हो किन्तु इस पर भी सब बड़े मज़े से उस पर 'गोरी तेरे गोरे गाल पै' या 'तोसे लागी नजरिया रे' सुना करते। हाल ही में जेटू चारली का एक नया रिकार्ड ले आया था और दोपहर भर उसकी कोठड़ी में

'तेरी नज़र ने मारा!
एक दो तीन चार पाँच छः सात आठ नौ दस ग्यारह
तेरी नज़र ने मारा!'

होता रहता था—लेकिन चन्दन कभी उधर न गया था, उसके पास समय ही न था। प्रातः ही उसका मालिक उसे जगा दिया करता था। वह उसके मालिश करता, उसके लिए नहाने का पानी तैयार करता, चाय बनाता, उसके दफ्तर चले जाने के बाद खाना तैयार करता, दफ्तर ले जाता, आकर नहाता, खाता और सो जाना—ऐसी गहरी नींद कि प्रायः दिन छिपे तक सोया रहता और कई बार उसके मालिक को दफ्तर से आकर उसे ठोकर मारकर जगाना पड़ता। किन्तु आज अपनी अनिद्रा से हारकर जब वह दोपहर को जेटू की कोठरी में गया तो उसने ऐसी बातें सुनी कि उसकी रही-सही नींद भी हराम हो गई।

फुहार के पहले परस से उसके शरीर में झुरझुरी-सी उठी। वह डरा, कहीं उसे ज्वर तो नहीं हो गया? ऋतु बदल रही है और वह पानी के नीचे खड़ा भीग रहा है। यदि उसे निमोनिया हो गया तो। उसने सिर को एक बार झटका दिया, पर वह मुस्कराया नहीं और फव्वारे को खुला छोड़कर ही अपनी कोठरी में जाकर लेट गया।

× × ×

शीघ्र ही उसकी आँख खुल गई। उसका सिर भारी था। तन जल-सा रहा था और आँखें कुछ कड़ुवी उबली-उबली-सी हो रही थीं—उसने फिर एक स्वप्न देखा था—कच्ची नाशपातियों के गुच्छे उसके इर्द-गिर्द घूम रहे हैं। वह एक सूने वीरान मकान में खड़ा उन्हें पकड़ने का प्रयास कर रहा है, पास ही पानी का एक नल चल रहा है और उसके पास एक बच्चा खड़ा चिल्ला-चिल्लाकर कह रहा है, 'मेरा खिलौना मत तोड़ो,' 'मेरा खिलौना मत तोड़ो' वह सिर उठाकर देखता है। वह बच्चा कासनी बन जाती है और सुनता है उसका आर्त स्वर—'मेरी नाशपातियाँ मत तोड़ो, मेरी नाशपातियाँ...'

चन्दन उन्मादी की भाँति उठा। जेठू की बातें उसके कानों में गूँज उठीं। उसने कुर्ता पहना। एक पुराने मैले मिट्टी के बर्तन में से पुराना-सा बटुआ निकालकर जेब में रखा। कोठड़ी को कुण्डी लगाई और धीरे-धीरे कोठी से बाहर निकल गया।

× × ×

चाँदनी एक रजत वितान की भाँति प्रेड ग्राऊंड पर फैली हुई थी और सड़कों के नीम जैसे इस वितान को थामे खड़े थे, उनके पत्तों से बिजली के बल्ब टिमटिमा उठते थे और दूर से देखने पर ऐसा मालूम होता था, जैसे उनके परे कोई धीमा-सा अलाव जल रहा हो।

चन्दन 'क्वीन मेरी रोड' पर हो लिया। दाईं ओर की कोठी से करौंदे, खट्टे और मौलश्री की मिली-जुली सुगन्धि का एक झोंका आया और सड़क पर पेड़ों के नीचे बिछे प्रकाश और छाया के जाल हिले।

तीस हजारी के चौरस्ते पर वह रुका कि शायद कोई ट्रैम आती हुई मिल जाए, किन्तु शायद ग्यारह कभी के बज चुके थे, सड़क बिलकुल सुनसान थी। एक गन्दगी की गाड़ी दुर्गन्ध फैलाती हुई उसके पास से गुज़र गई। चन्दन का दिमाग़ भन्ना गया। भाग कर वह मिठाई के पुल पर हो लिया। जिस चबूतरे पर सिपाही खड़ा रहता था, वह टूटा हुआ था, शायद किसी मोटर ड्राइवर ने सिपाही की कर्कशता का बदला इस निरीह चबूतरे से लिया था। पुल पर बिलकुल सन्नाटा था। ऊपर चाँद चमक रहा था और पुल के नीचे अँधेरे तथा गहराई में रेल की लाइनें और सामने कुछ दूर लाल-हरे सिगनल चुपचाप टिमटिमा रहे थे। चन्दन पुल की दीवार के साथ सिर लगाये क्षण भर तक चुपचाप विमुग्ध-सा इन नागिनों-सी लाइनों और टिमटिमाते हुए सिगनलों को देखता रहा। फिर वह आगे चल पड़ा।

सड़क बिलकुल सुनसान थी, दोनो ओर की दुकानें बन्द थीं और फुटपाथ पर मैले-कुचैले गर्हित लिहाफ़ लिये कहीं-कहीं दुकानदार सोये हुए थे—मैल से सनी काली धोतियों में उनके गौर अङ्ग पूर्णमासी के चाँद की जगमगाती ज्योत्स्ना में और भी चमक रहे थे। तेलीबाड़ा के सामने सड़क के बाईं ओर फुटपाथ पर एक टूटा हुआ ताँगा पड़ा था और दो-तीन कूड़े की खाली गाड़ियाँ खड़ी थीं। इसके बाद दूर तक सफ़ेद-सी दीवार चली जाती थी, जिसके पीछे कभी किसी रेलगाड़ी के तेज़-तेज़ गुज़रने की आवाज़ आ जाती थी। दायीं ओर दुकानों के बाहर कहीं बासों के गट्ठे पड़े थे, कहीं चारपाइयाँ और कहीं लकड़ी की खाली पेटियाँ। चंदन चुपचाप अपने ध्यान में मग्न कुतबरोड के चौरस्ते पर आ गया।

सदर बाजार बिलकुल बन्द हो गया था। केवल कोने के हलवाई की दुकान खुली थी। चन्दन की भड़की हुई तबीयत यहाँ तक आते-आते लगभग शान्त हो गई थी। उसके मन में केवल उत्सुकता की भावना शेष थी। और इसी के अधीन उसने हलवाई की दुकान से आध सेर गर्म-गर्म दूध पिया।

और जैसे नई उमंग पाकर वह आगे बढ़ा।

दोनों ओर की दुकानें बन्द थीं। बाईं ओर के 'माशा अल्लाह होटल' में, जहाँ संध्या के समय इतनी भीड़ होती है कि एक-एक कुर्सी पर दो-दो व्यक्ति बैठे होते हैं, इस समय निस्तब्धता छाई हुई थी और एक मैले-से बेंच पर होटल का एक नौकर बैठा खाना खा रहा था। दायें-बायें कहीं-कहीं किसी पनवाड़ी या हजाम की दुकान खुली थी। एक हेयर कटिंग सैलून में (जिसके तख़्ते पर दिन को रंगरेज बैठा करता है) इस समय एक श्रमिक, जिसे शायद दिन में अवकाश न मिलता था, बैठा सिर पर उस्तरा फिरवा रहा था।

काठ बाजार के सिरे पर चन्दन क्षण भर के लिए रुका। ताँगों के अड्डे पर एक-दो ताँगेवाले अभी तक घूम रहे थे। ताँगा शेड के ऐन ऊपर चाँद चमक रहा था। धुएँ और गर्द ने चाँदनी के मुख को मैला कर दिया था। वह काठ बाजार में दाखिल हुआ और चकित-सा एक चौबारे की ओर देखने लगा जिसमें गैस की रोशनी के सन्मुख एक 'सुन्दर' वारांगना बैठी थी। चन्दन की भरी हुई उमंग फिर जागी, किन्तु नीचे चौक में अभी तक काफी भीड़ थी। इतने उज्ज्वल प्रकाश तथा इतने लोगों के सामने उसके लिये मामले की बात करना सर्वथा असम्भव था। उसने नीचे की कोठड़ियों की ओर देखा। हरेक कोठड़ी के आगे एक-एक गंदा मैला-सा पर्दा लटक रहा था और उसके बाहर एक-एक लैम्प जिसके सामने एक-एक स्त्री खड़ी या बैठी थी।

कभी-कभी किसी कोठड़ी का दरवाजा बन्द हो जाता और किसी व्यक्ति के पीछे लैम्प उठाये हुए उस कोठड़ी की मालकिन एक मैले गन्दे पर्दे के पीछे चली जाती—पल भर के लिए उभरी हुई उमङ्ग चन्दन को फिर डूबती हुई प्रतीत हुई। और वह जरा आगे बढ़कर (मानो सहारे के लिए) एक कुर्सी पर बैठ गया, जो ऐन चौक में बिछी हुई थी और जिसके पास एक मेज पर रंग-बिरंगी बोतलें रखे एक चम्पी करनेवाला हजाम लड़का खड़ा था।

'चम्पी कराओगे ?'

चन्दन ने अनजाने ही में 'हाँ' कर दी। पास ही एक और ऐसी ही दुकान सजी थी और उसके परे एक लम्बे बरामदे में अपनी-अपनी कोठड़ियों के सामने रूप का व्यापार करनेवाली कई वारांगनाएँ खड़ी अपने-अपने ग्राहकों को बुला रही थीं। खड़े खड़े थक जाने के डर से या अपने वक्ष का उभार दिखाने के लिए उन्होंने छत से रस्सियाँ लटका रखी थीं, जिनके सहारे वे खड़ी हो जाती थीं।

चन्दन के सिर में तेल गिरने से एक लिजलिजी-सी सरसराहट हुई और हजाम लड़का चम्पी करने लगा। चम्पी करने के बाद चन्दन के मस्तक और गर्दन को उसने एक अत्यन्त गन्दे तौलिये से पोंछकर उसके बाल बना दिये।

चन्दन जब वहाँ से उठा तो उसे नाक में सस्ते खुशबूदार तेल की तीखी गंध आ

रही थी और उसकी उमंग फिर जैसे जग उठी थी। चौक छोड़ वह एक गली में हो गया। यहाँ लोग कम थे और रौशनी भी इतनी तेज़ न थी। वह एक बार गली के दूसरे सिरे तक जाकर मुड़ आया। उसे समझ न आती थी कि वह कैसे बातचीत शुरू करे। वह तो उनसे आँखें भी न मिला पाता था। ध्यान मात्र ही से उसका दिल धक-धक करने लग जाता था। उसने सोचा वापस चला जाए। उसे जेठू के साथ आना चाहिए था। और उसने सोचा गली को पार करके वह दूसरे रास्ते से निकल जाएगा। किन्तु इतनी दूर आकर वह जाना भी न चाहता था। उसी समय एक कोठड़ी के आगे कुछ अँधेरे में बैठी हुई एक मोटी थल-थल पल-पल स्त्री ने उसकी मुश्किल आसान कर दी। उसके पास दो छोटी-छोटी लड़कियाँ फ़र्श पर ही दरी बिछाये लेटी हुई थीं—बिल्कुल कासनी ही की वयस की—'आओ आओ, इधर आओ,' प्यार से उसने कहा।

चन्दन बढ़ा।

बड़े धीमे भेद-भरे स्वर में उसने कहा—आओ, सोचते क्या हो? बारह आने...

इशारा उसी कोठड़ी के बाहर बैठी हुई स्त्री की ओर था जो केवल एक काली बनयान और काली साड़ी पहने लोहे की कुर्सी पर बैठी थी, जिसकी बग़लों में बाल तक दिखाई देते थे, और जिसकी छातियाँ ढली हुई ककड़ी की भाँति लटक रही थीं।

चन्दन ने उसके पास धरती पर आधी लेटी और आधी बैठी लड़की की ओर आकांक्षा भरी दृष्टि से देखा, उसके नाक में छोटी-सी नथ भी थी और उसने जेठू से सुना था कि इन लोगों में यह नथ कौमार्य्य का चिन्ह होती है।

समझ कर मोटी स्त्री ने कहा—यह तो अभी बहुत छोटी है, यह सब अभी क्या जाने।

चन्दन के मस्तिष्क में कच्ची नाशपातियाँ घूम गईं, फिर कासनी और फिर कच्ची नाशपातियाँ।

और मोटी स्त्री ने कहा—दो रुपये लगेंगे।

चन्दन चुप रहा। वह कहना चाहता था, 'दो रुपये बहुत हैं।'

तभी मोटी स्त्री ने कहा, 'अच्छा तो डेढ़ सही। अभी तो नथ भी नहीं उतरी।'

चन्दन की नसों में दूध उबलने लगा। उसका शरीर गर्म होने लगा। दूसरे क्षण वह गन्दे मैले पर्दे के अन्दर चला गया और उसके पीछे-पीछे लैम्प और उस लड़की को लिये हुए वह मोटी स्त्री!

× × ×

एक सप्ताह के बाद सिर पर अपना बोरिया-बिस्तर उठाये चन्दन पोर्च में खड़ा था और अन्दर कमरे में उसके मालिक अपनी पत्नी को आदेश दे रहे थे—मैं अभी डाक्टर को भेजता हूँ। सब मकान को डिस-इन्फ़ेक्ट (disinfect) करवा लेना। सब जगह तो जाता रहा है कम्बख़्त!

और चन्दन बेबसी की दशा में खड़ा सोच रहा था, पर लड़की की आयु तो तेरह वर्ष की भी न होगी और उसकी तो अभी नथ भी न उतरी थी।

★

भारतीय समाज-पद्धति : उत्पत्ति और विकास

●

[डा० भूपेन्द्रनाथ दत्त]

[४]

१९३१ की मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट में डा० गुह ने भारतीय नरतत्व के सम्बन्ध में रिसली के मत का खण्डन करके एक वक्तव्य देते हुए लिखा था—उत्तर-पश्चिम हिमालय में विभिन्न मूल जातीय लक्षण मिलते हैं—पठान, लाल काफिर और कालास तथा खोस लोगों में लम्बा सिर, पतली नाक, उज्ज्वल (light) आँख तथा केश और विशालकाय लोग मिलते हैं। ये गोल सिर, पतली नाक, गेहुँए रंग (light) मध्यम (medium) रंग के केश और आँखवाले लोग यहाँ पाये जाते हैं। ये लक्षण खोस, लाल काफिर, उत्तर के पठान, बुरिस और जातियों में मिलते हैं। लम्बा सिर, पतली और टेढ़ी (acquiline) नाक, गुलाबी रंग, लेकिन भूरे रंग की आँख और केशवाले एक और नमूने के लोग बदकसान के लोगों में मिलते हैं। पठानों में भी इस लक्षण के लोग मिलते हैं। लद्दाख और दक्षिण में मंगोलीय लक्षण के लोग मिलते हैं।

खास भारत के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—पंजाब के सिक्ख और मुसलमानों में एक से ही लक्षण मिलते हैं। सिक्खों की तुलना में सिन्धी लोग गोल सिर, अपेक्षाकृत चौड़ी नाक, लम्बाई में अपेक्षाकृत छोटे आदि लक्षण के होते हैं। संयुक्त-प्रान्त के ब्राह्मण तथा पंजाब और उ० प० सीमाप्रान्त के लोगों में सादृश्य है। मध्य-भारत में गोल सिरवाले लोगों की कमी है ; सिर्फ राजपूतों में ही इसके कुछ लक्षण दिखाई पड़ते हैं। इस विषय में गुजरात और मध्य-भारत में कुछ एकता है। कोमोटिन ने लिखा है—गोआ के गौड़-सारस्वत (ब्राह्मण) तथा बंगाल के ब्राह्मणों में शारीरिक लक्षणों की एकता और सादृश्य है। नरतत्व के साथ उनके गौड़ से आये हुए औपनिवेशिक होने की जो परम्परा है, उससे इस बात में एकता दिखाई पड़ती है। फिर डा० गुह ने लिखा है—इसमें सन्देह नहीं है कि महाराष्ट्र की जातियाँ एक ही मूल जाति से निकली हैं। उपर्युक्त सारस्वतों में कुछ पार्थक्य दिखाई पड़ता है। दूसरी तरफ फारसी लोग बड़े तथा चौड़े सिरवाले होते हैं। बंगाल के ब्राह्मणों से कायस्थों का सिर अधिक गोल और नाक अधिक लम्बी और ऊँची होती है। पोद, माहिष्य और नमःशूद्र जातियों का नरतात्विक जातीय आधार (racial basis) एक है। ब्राह्मण से और अत्यन्त निकटस्थ तथा घनिष्ठ सम्बन्ध है। वैद्य और सुवर्ण-वणिक इन दोनों जातियों से भी उनका सम्बन्ध बहुत ही घनिष्ठ है। और बंगाल, तामिलनाड और मध्य-भारत में कोई विशेष सम्पर्क नहीं है (There does not appear to be much relationship between Bengal, Tamilnadu and Central India)। दूसरी ओर गोल सिरवाले

'खो' लोगों (Kho) से बंगाल, गुजरात तथा मैसूर की गोल सिरवाली जातियों में सम्पर्क है। मलाबार के नायर और पठानों में सम्बन्ध है। बंगाल के कायस्थ से गुजरात के नागर ब्राह्मण, इरानी-भाषी ताजिक, गुजरात के काठि और जैन बनियों में सम्पर्क मौजूद है। बंगाल के पोदों का ओड़िया, मालवे ब्राह्मण, राजपूत, औदिच्य चितपावन, देशस्थ ब्राह्मण, मरहठा, इलुभा, तेलुगु और कनाड़ा ब्राह्मणों से सम्पर्क है। लेकिन बंगाल के साथ आसाम की खासी जाति का कोई सम्बन्ध नहीं। डा० गुह ने लिखा है—भारत के बाहर ही मंगोलीय जाति का परिचय मिलता है।

डा० गुह की उपर्युक्त रिपोर्ट में[१६] हम देखते हैं कि स्वर्गीय कार्ल पियर्सन के 'Co-efficient of Racial Likeness' नामक संख्या-गणित-विज्ञान के एक फरमूले (Statistical formula) का प्रयोग उन्होंने भारतीय नरतत्व में किया है। इससे उन्होंने विभिन्न जातियों में सादृश्य या पार्थक्य दिखाया है। लेकिन मि० पियर्सन के इस सूत्र (formula) को नरतत्व के पण्डितों ने सर्वत्र (universally) ग्रहण नहीं किया है। मि० पियर्सन के पद के उत्तराधिकारी अध्यापक आर० फिसर ने इस सम्बन्ध में लिखा है—'It is a test of significance...it dose not calculate a racial difference'[१७] इस सूत्र की उपयोगिता और सार्थकता के सम्बन्ध में अध्यापक फिसर को विशेष सन्देह है। डा० गुह ने एक-एक जाति की समष्टि के सम्बन्ध में लिखा है। एक जाति या लोग समष्टि (समूह) का विश्लेषण करने से विभिन्न शारीरिक लक्षण के लोग मिल सकते हैं। लेकिन इसके सम्बन्ध में उन्होंने कुछ भी नहीं कहा है।

डा० गुह ने कहा है—बंगाल के ब्राह्मण और कायस्थों में घनिष्ट सम्बन्ध है (The Brahmans and Kayasthas are intimately related) लेकिन विभिन्न जातियों के Inter-relations के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—मलाबार के नायर, उत्तर-पश्चिम सीमान्त के पठानों के साथ बंगाली ब्राह्मण और नागर ब्राह्मण, ताजिक, काठि, बनिया-जैन आदि जाति के साथ बंगाली कायस्थों का सम्पर्क (affinities) है। बंगाल के ब्राह्मण तथा कायस्थों में जो अत्यन्त निकट सम्बन्ध दिखाया गया था वह उनके इस मत से स्वतः खण्डित हो जाता है। कारण यह है कि, उन्होंने लिखा है कि बंगाली कायस्थों के साथ गोल सिरवाले गुजराती आदि का सम्पर्क है, और ब्राह्मणों के साथ लम्बे सिर-वाले पठानों का सम्बन्ध है। एक ओर तो वह पोद, माहिष्य आदि को ब्राह्मण-कायस्थों से बिलकुल अलग करते हैं, दूसरी ओर इन्हीं पोदों का मालवे ब्राह्मण, राजपूत आदि से निकट सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। अगर यह बात सच है तो बंगाली ब्राह्मण और पोदों में कितना फर्क है? उन्होने पोद लोगों से औदिच्य चितपावन ब्राह्मणों का सम्पर्क भी

१६—इस Report के विषय में Journal of Physical Anthropology में Prof. Hardliska की समालोचना देखिए।

१७ (क)—Prof R. A. Fisher—'The Co-efficient of Racial Likeness and the future of Craniometry' in 'Journal of Royal Anthropological Institute' Vol. LXII Jan—June 1936. (ख)—Co-efficient of Racial Likeness के सम्बन्ध में 'Biometrika' : 1923. XIV. p. 193—264 पर Morant की समालोचना देखिये।

दिखाया है, लेकिन उन्होंने यह भी लिखा है कि इन चितपावन लोगों की आँख का रंग (वर्ण) सैकड़े चार का भूरा (gray), चार का hazel और बीस का clear light brown और वे महाराष्ट्र की सबसे अधिक गोरे (साफ) रंग (सैकड़े करीब पाँच आदमी गुलाबी rosy-white वर्ण) की जाति हैं। दूसरी ओर वह पोद लोगों को काले या dark brown रंग की आँखवाली जाति बतलाते हैं ! उनका विवरण स्वतः विरोधी है।

महादेश तुल्य हमारे इस विशाल भारत में असंख्य जातियाँ बसती हैं। उनमें से किसी एक जन-समूह के Co-efficient का दूसरे जन-समूह से समानता दिखाई पड़ना सम्भव है। इसमें आश्चर्य की बात नहीं है। लेकिन केवल उसी से ही उनके सम्पर्क का परिचय नहीं प्राप्त होता है; और उसी के बल (आधार) पर (अर्थात Co-efficient के पारस्परिक समानता पर निर्भर करके) इन दोनों में सम्पर्क सूत्र का निर्णय करने का प्रयास किसी भी हालत में वैज्ञानिक नहीं मालूम होता है। शरीर के अन्यान्य लक्षणों में भी मेल होना बिलकुल जरूरी है।

शारीरिक लक्षण का यह साधारण विवरण यहाँ दिया गया। लेकिन इसमें किसी को यह न समझ लेना चाहिए कि इस प्रकार के लक्षणवाले लोग निश्चित स्थान या जाति में ही पाये जाते हैं। पंजाब में भी लम्बा सिर, चौड़ी नाक और गोल सिर, चौड़ी नाकवाले नमूने (type) के आदमी मिलते हैं और दक्षिण भारत में भी इसके विपरीत लक्षण के लोग मिलते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि नरतत्त्व में इस प्रकार के लक्षणवाले नमूनों का स्थान कहाँ है ? पहले लम्बा सिर [१८] पतली नाकवाले जन समूह की बात सामने आती है। इस प्रकार का नमूना (type) अफगानिस्तान, इरान, ककेसस और यूरोप में भी पाया जाता है। इसी नमूने को रिसली ने 'इण्डो-आर्य' और जर्मन पण्डितों ने 'इण्डो-यूरोपीय' कहा है। लेकिन भारत में ये मैलेवर्ण के होते हैं। इस नमूने को अब कोई भी उत्तर-यूरोपीय नहीं कहता। परन्तु हेडन ने इस नमूने को Proto-Nordic (नर्डिक-पूर्व) नामक एक नवीन नाम दिया है [१९]।

लेकिन नरतात्त्विक, जीवतात्त्विक, मेण्डेलीय (Mendelian : J. Mendel 1822-84) सूत्र से भी जब किसी भी ऐतिहासिक तरीके से इस प्रकार के लोगों के साथ नर्डिक लोगों की एकता या अभिन्नता सिद्ध करना असम्भव है तब इसे नर्डिक-पूर्व (Proto-Nordic) जाति कहने को हम एक गड़बड़ मामला होने का सन्देह करते हैं। इस नमूने के लोग भारत में सभी जगह विशेष रूप से विद्यमान नहीं हैं। लेकिन उत्तर-पश्चिम में विशेष रूप से मिलने के कारण इसे विदेश से आये होने का अनुमान करना गलत नहीं होगा। इसी नमूने के लोगों को 'इण्डो-अफगान' कहते हैं।

अफगानिस्तान, पामीर, ईरान में और खासकर तुर्की में आरमनी आदि जातियों

१८—महेनजो-दाड़ो में इस तरह का नमूना (type) अभी तक नहीं मिला है।

१९—इस सम्बन्ध में Eickstedt का 'Rassenkunde und Rassen Geschichteder Uenschheit' नामक पुस्तक के [illegible] पृष्ठ पर वाले पाद टीका (foot-note) देखिए। उन्होंने [illegible] के दक्षिण-पश्चिम कोण में इस कल्पित Proto Nordic जाति का उत्पत्ति स्थल बतलाया है।

में गोल सिर, पतली नाकवाले नमूने के लोग विशेषरूप से पाये जाते हैं। पश्चिम भारत, बंगाल, आसाम में भी उपर्युक्त नमूने के लोग अच्छी संख्या में पाये जाते हैं, यद्यपि अन्तवाले दोनों प्रान्तों में ये अधिक संख्या (बहुमत में) में नहीं हैं। पश्चिम एशिया में यह नमूना अधिकांश भागों में (अर्थात् बहुमत में) होने के कारण इसे 'आरमेनीय की तरह' (Armenoid) कहते हैं[२०]।

लम्बा सिर, मध्यमाकृति (मझोली) नाकवाले नमूने (type) भारत में सबसे अधिक हैं, बलुचिस्तान, ईरान को पार करके भूमध्यसागर के दोनों किनारों की जातियों में यह लक्षण विशेषरूप से विद्यमान है। यूरोप में इसी जाति को 'भूमध्यसागरीय जाति' कहते हैं। भारतवर्ष में द्राविड़-भाषी तथा कथित उच्चवर्ण के लोगों में इस प्रकार के नमूने पाये जाते हैं यह लिखा जा चुका है। द्राविड़ जाति के शरीर का रंग मैला होने पर भी हक्सली, फ्लावर, हैडन आदि ने इसका (द्राविड़ जाति का) सम्पर्क भूमध्यसागरीय जाति से है, ऐसा मत व्यक्त किया है। हाँ भारत की उपर्युक्त जाति भूमध्यसागरीय मूल जाति की किस शाखा के अन्तर्गत है, इसका निर्णय विद्वान अभी तक नहीं कर सके हैं[२१]।

इसके उपरान्त लम्बा सिर, चौड़ी नाकवाले नमूने की बात हमारे सामने आती है। इस जाति के लोग बहुत गिरी हुई हालत में पाये जाते हैं। नरतत्व के पण्डित इन्हें 'आस्ट्रेलीय-पूर्व', 'द्राविड़-पूर्व' कहते हैं। इनके आदिम अधिवासी होने का सन्देह किया जाता है। दक्षिण-पूर्व एशिया में इस जाति के समजातीय लोग मिलते हैं। पूर्वी सुमात्रा सेलिबिस की 'होयाला' जातियाँ इसी सम्पर्क की हैं। यह नमूना (type) उत्तर भारत के ब्राह्मणादि उच्चवर्णों में भी पाया जाता है।

इसके पश्चात् गोल सिर, मध्यमाकृति और चौड़ी नाकवाले नमूने आते हैं। साधारणतः ये दोनों लक्षण पुर्वी एशिया में मिलते हैं। इसीलिए इन्हें 'मंगोलीय' कहा गया है। उत्तर-पूर्व-भारत और हिमालय के ऊपर इस नमूने का प्राचुर्य (आधिक्य) दिखाई पड़ता है। अति प्राचीन महेन-जो-दाड़ो के निदर्शन में भी इस नमूने की नर-करोटि मिली है, यह बात पहले ही लिखी जा चुकी है। सेवेल और डा० गुह ने लिखा है कि उपर्युक्त यह लक्षण 'नागा' करोटि से मिलता-जुलता है। अब अतिशय छोटे क़द, भेड़ के रोयें-सा केश (Wooly), गोल सिर, चौड़ी नाकवाली निग्रो (Negrito) जाति का-सा नमूना हमारे सामने आता है। अन्दमन द्वीप में इस प्रकार के निदर्शन मिलते हैं। किसी-किसी का अनुमान है कि दक्षिण भारत की कादिर जाति में भी इसका निदर्शन मिलता है। इस विषय में काफी मतभेद हैं।

भारतवर्ष के इस विचित्रतापूर्ण जाति संघ के शरीर का वर्ण काले रंग से लेकर

२०—साधारणतः लोग जिसे यहूदी चेहरा (यहूदियों की तरह का) कहते हैं वह यही चेहरा है। प्राचीन यहूदी जाति में इस जाति का रक्त अधिक मात्रा में प्रवेश कर गया था, ऐसा भ्रम होता है। वास्तव में यह चेहरा सेमिटिक जातीय नहीं है।

२१—जर्मन नरतात्विक आइकष्टेडर ने लिखा है—'द्राविड़ीय' नाम भ्रमपूर्ण है: इसकी जगह भूमध्य-सागरीय नाम का प्रचलन होना चाहिए। जनगणना रिपोर्ट (Census Report) में डा० गुह ने इसी नाम का व्यवहार (प्रयोग) किया है।

मलिनश्वेत (dark white) (वर्ण) तक विस्तृत है। इनके केश का रंग साधारणतः काला और 'लहरदार' (wavy) होता है। भारत में ये विभिन्न मूलजातीय (Biotype) जन-समूह अति प्राचीनकाल से एक ही देश में बसकर परस्पर मिल-जुल गई हैं। अब 'जातितत्व' के हिसाब से सभी 'भारतीय' हैं और 'भाषा-तत्व' के हिसाब से 'आर्य-भाषी' या 'द्राविड'-भाषी हैं (हाँ हिमालय पर्वत के लोगों को छोड़कर)। सभ्यता में सभी आर्यी-भूत हैं; धर्म में या तो वैदिक धर्म से निकले ब्राह्मण्यवादी अथवा बौद्ध हैं; नहीं तो सेमिटिक धर्म से निकले हुए मुसलमान या इसाई हैं। लेकिन अति प्राचीन काल से ही राजनीतिक तथा सभ्यता की विभिन्न शक्तियों के सहयोग से एक भारतीय जाति का विकास हुआ है। यह दुनिया की अन्यान्य जातियों से सम्पूर्णरूप से अलग है। कोई-कोई इसको (नाना जातियों के सहयोग से विकसित जाति) Homo Indicus [२२] कहते हैं।

विभिन्न मूलजाति के लक्षण भारत के लोगों में मौजूद रहने पर भी नाना शक्तियों के सहयोग से जिस 'भारतीयता' का विकास हुआ है उससे किसी प्रान्त या भाषा-भाषी को अलग नहीं किया जा सकता है। अखिल भारत एक और अविभाज्य है। इसीलिए इतिहास में भारत को एक ही देश या जाति समझना होगा। यह सच है कि अधिकांश में भारत के विभिन्न प्रान्त अपनी-अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करते हुए, विकसित हुए हैं; तो भी संस्कृति के हिसाब से सभी एकीभूत हो गये हैं। भारतीय संस्कृति की एकता (oneness) का जीता-जागता प्रमाण यह है कि दक्षिण भारत के काले रंग (वर्ण) तथा काश्मीर के गोरे रंग (वर्ण) के ब्राह्मणों का गोत्र एक है अर्थात् अपने को एक ही वंश का कहकर परिचय देते हैं और एक निश्चित समय में एक ही भाषा में एक ही मन्त्र का उच्चारण करके धर्मोपासना किया करते हैं।

भारतवर्ष की सभ्यता का इतिहास वैदिक युग से लिया जाता है, क्योंकि उसी समय से भारतीय इतिहास की धारा निरवच्छिन्न धारावाहिक रूप से चल रही है। इसलिए सामाजिक इतिहास के मूल उद्गम को उसी समय से लेना होगा। लेकिन महादेश (से) तुल्य इस भारतवर्ष का इतिहास एक अत्यन्त विशालकाय वस्तु है। इसके इतिहास की विशालता की तुलना में प्राचीन ग्रीस और रोम का इतिहास (इतिवृत्त) बहुत छोटा मालूम पड़ेगा। प्राचीन ग्रीक कवि होमर (Homer) के काल के बहुत पहले से समग्र यूरोप के इतिहास को एकत्र करने से जो कुछ होता है, समग्र भारत का इतिहास वही स्थान और समय तक विस्तृत है। अतएव इतने विशाल इतिहास की विस्तार-पूर्वक समालोचना यहाँ पर सम्भव नहीं है।

भारतवर्ष का सामाजिक इतिहास किस तरह से विकसित हुआ है और किन-किन सामाजिक शक्तियों ने इसमें कार्य किया है और इसके कारण राष्ट्र किस ओर अग्रसर हुआ है, इन विषयों में खोज करने के लिए हमें भारतवर्ष के इतिहास को कई युगों में (epochs) में विभक्त करना होगा। प्रथमतः वेदों की संहिता, ब्राह्मण, अरण्यक और गृह्यसूत्र आदि के समय को एक युग समझना होगा। इसके बाद वेदोत्तरकाल से मौर्य-

२२—Ujfalvy देखिए।

साम्राज्य के युग तक दूसरा युग है। इसी समय में पहले-पहल अखिल भारतीय जातीयता प्रतिष्ठित हुई थी। इसके बाद पुष्यमित्र के राजकाल से आंध्र राजत्व तक ब्राह्मणवाद की प्रतिक्रिया का युग है। इसे तीसरा युग कहा जा सकता है। इसके बाद कुषाण आधिपत्य का युग कहा जा सकता है। इसी समय बौद्ध प्रधानता का पुनरुद्धार हुआ। यह चौथा युग है। इसके बाद गुप्त-साम्राज्य के समय फिर ब्राह्मण्यवाद का पुनरुत्थान हुआ और दूसरी बार भारतीय जातीयता प्रतिष्ठित हुई। यह पाँचवाँ युग है। इसके बाद भारत में मात्स्य-न्याय का समय आया। इस दशा का अन्त उत्तर में बौद्ध श्रीहर्ष के साम्राज्य और दक्षिण में ब्राह्मण्यवादी पुलकेशी के राजत्व की प्रतिष्ठा के बाद हुआ। परन्तु श्रीहर्ष की मृत्यु के बाद उत्तर भारत ने फिर खंडित रूप धारण कर लिया। दक्षिण में भी नाना भाग्य-विपर्यय दिखाई पड़े। इसी समय से भारत एक जातीयता (nationality) फिर से संगठित करने में असमर्थ रहा है।

श्रीहर्ष की मृत्यु के पश्चात् से तेरहवीं सदी में तुर्की मुसलमानों द्वारा उत्तर भारत पर विजय तक वाले समय को सामाजिक अंधकार युग समझना होगा। यह छठवाँ युग है। इसी समय ब्राह्मण्यवाद और बौद्ध-धर्म के सम्मिलित रूप से आधुनिक प्रचलित हिन्दु-धर्म विकसित हो रहा था। इस विस्तृत अखिल भारतीय मात्स्य-न्याय के युग में बंगाल में बौद्धपाल राजवंश और गुजरात में भिन्नमल्ल के गुर्ज्जर-प्रतिहारों का और दक्षिण में राजेन्द्र चोल का अभ्युदय एक आश्चर्य-जनक राजनीतिक घटना (episode) है। इस अन्धकार युग से राष्ट्र और समाज में 'राजपूत' नामक एक ब्राह्मण्यवादी जाति का अभ्युदय भारत के इतिहास में विशेषतापूर्ण घटना है। इसके बाद मुसलमान शासन-काल को सप्तम युग कहा जा सकता है। इसी समय तैमूर-वंश के अधीन में भारत में फिर 'एक जातीयता' संगठित करने की चेष्टा हुई। लेकिन इस राजत्व को बहुतेरे 'अर्द्ध-जातीय' (Quasi-National) कहते हैं।

प्राचीन रोम या वर्त्तमान यूरोपीय देशों की तरह भारत में एक अखण्ड और धारावाहिक इतिहास का विकास नहीं हुआ था, इसीलिए इतिहास को हमें इस प्रकार बाँटना पड़ा। प्रत्येक जाति के इतिहास को 'कौम'गत बर्बर अवस्था का युग, क्लैसिकल युग (Classical Age), सामन्त-तांत्रिक युग (Feudal Age), बुर्जोआ गणतांत्रिक (Bourgeois Democratic Age) इत्यादि विभिन्न स्तरों में बाँटा जाता है। इस विभाजन क्रिया को भारतीय इतिहास में भी प्रयोग करने से वैदिक युग को बर्बर कौमगत अवस्था का युग; वैदिक युग के बाद रामायण और महाभारत में वर्णन की गई अवस्था को Classical युग; इसके परवर्त्ती युग से मौर्य-साम्राज्य तक एक Serf-empire का युग है[२३]। अब इस 'गुलाम राष्ट्र युग' का पतन कब हुआ और कब सामन्त युग का प्रारम्भ हुआ, यह ऐतिहासिक खोज और विचार की वस्तु है। हमारी धारणा है 'गुप्त साम्राज्य' एक सामन्त-तांत्रिक राष्ट्र था। इस सामन्ततन्त्र का पूर्ण विकास राजपूतों के अभ्युदय के समय हुआ। मुसलमान शासन के प्रथम भाग में यही व्यवस्था चलती रही। बाद में मुगल युग में वह काफी संकुचित हो गई। लेकिन उनकी जमीनों की

२३—H. G. Wells—Outline of the History of the World, देखिये।

व्यवस्था (land tenure system) में सामन्त-तांत्रिक व्यवस्था के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। राष्ट्र में अंगरेजी शासनकाल में भी वही व्यवस्था चल रही है। इसीलिए भारतीय समाज में सामन्त-तांत्रिक युग कब आया और उसका अन्त कहाँ हुआ है, यह बताना कठिन काम है।

राष्ट्र के ये विभिन्न epoch और समाज के विभिन्न युग (age) के संबन्ध में खोज करने के लिए हमारे सामने कोई इतिहास नहीं है। संस्कृत और प्रादेशिक साहित्य से इसका संग्रह (उद्धार) करना होगा। इसीलिए हम प्रथम युग के सम्बन्ध में खोज करने के लिए वैदिक साहित्य से अपनी आलोचना का आरम्भ करेंगे।

★

पं० सम्पतलाल

(शान्तिस्वरूप गौड़)

हाँ, मैं आज उन्हीं पं० सम्पतलाल के विषय में सारी दुनिया से कह रहा हूँ, जो उत्तरी भारत के बीचों-बीच बसी इस छोटी-सी बस्ती में अपनी बन्दर-घुड़की और राम व रावण को क्रमशः राक्षस और देवता कहने-मात्र से ही यहाँ रहनेवाले अधिकतर व्यापारियों के हृदय में एक रौब, एक दबदबा और एक अमिट छाप छोड़ गये हैं। उनके जीवन की कहानी ठीक-ठीक कुछ इसी तरह की है।

उन्होंने लगातार ग्यारह बरस तक देश का कार्य किया और फिर एक दिन उनका मन इससे भी ऊब गया। दो बच्चे, तीसरी पत्नि और चौथे वह स्वयं. सबके भरण-पोषण का सवाल ; क्या उन सबको वह भूखा मार दें ? यही सोचकर, धीरे-धीरे उन्होंने देश-सेवा से हाथ खींच लिया और तब एक छोटी-सी कॉपी-किताबों की दुकान खोल, किसी तरह, मर-पचकर गृहस्थी की गाड़ी को घसीटने लगे। छोटा-सा शहर और उससे भी छोटी उनकी वह दुकान ; गुज़र-काबिल पैसे बड़ी मुश्किल से कमा पाते। बातों को बढ़ा-चढ़ाकर कहना, धीरे-धीरे मुसकराते हुए ग्राहक को सोने के स्थान पर मिट्टी दे देना, अपनी ग़लत राय पर भी पत्थर की लकीर की तरह दृढ़ता-पूर्वक जमे रहना और फिर आकाश-पाताल को अपनी एक ही डग में मापने का विफल प्रयास करना, ये सब बातें उनके जीवन में कुछ आश्चर्य-जनक रीति से घुल-मिल गई थीं। किसी पर कभी उनका विश्वास न जमा। और इस एकाकीपन में, दुरूहता में उनकी शक्ति निहित थी। शायद सरकारी गुप्तचरों ने उनको ठोंक-पीटकर ऐसा कुछ बना दिया था। वह रात-दिन इसी तरह के स्वप्न देखा करते। उनकी यह भी धारणा थी कि गुप्तचर रोज़ इस खोजबीन में रहते हैं कि आज पण्डितजी के पाखाने का रंग कैसा है!

दुर्भाग्य से अगर कोई उनकी ओर मित्रता का हाथ बढ़ा देता तो उसकी बाँह तक उसके शरीर से अलग होकर गिर पड़ती! जिस पर उनका वार हुआ, फिर लोगों ने उसको जीवन-भर सँभलते न देखा। उस पस्ता-कद आदमी के वार को अच्छे-अच्छे तीसमार खाँ तक वहन करने में असमर्थ रहे। यह सब कुछ लोगों ने स्वयं अपनी आँखों से देखा है।

हाँ, तो, मैंने अभी-अभी कहा—क़द में वह बहुत छोटे, उसी के अनुरूप उनकी छोटी-छोटी आँखें, जो किसी भी व्यक्ति की खाल, मांस, हड्डी और मज्जा को भेदकर उसके अन्दर तक की बातों को पढ़ लेने में अभ्यस्त-सी हो गई थीं और इस विषय में उनका अपना भी यही मत था। कछुआ का-सा छोटा शरीर, जो किसी भी तरह के कपड़ों से ढक लेने पर भला ही मालूम होता था। उनका बायाँ हाथ बंगाली, जिसकी करतूतों की एक लम्बी कहानी है; जो शायद द्रौपदी के चीर से भी कई गुना लम्बी और जिसका कहीं आदि और अन्त ही नहीं है। इसी बाएँ हाथ की बदौलत तो उन्होंने ऊँचे-ऊँचे विशाल शरीरवालों को भी अपने सम्मुख नत-मस्तक होने के लिए बाध्य कर दिया था। खद्दर या खुले गले का कोट, लाल रंग की गाँधी-टोपी, ढीला या चूड़ीदार पायजामा और मुण्डे जूते; अक्सर बारह महीने और तीसों दिन, येही चन्द कपड़े उनके शरीर को ढकने को पर्याप्त होते। साँवला उनका रंग, जिस पर उनको खासा अभिमान था और वह भी शायद केवल यही सोचकर कि हिन्दू-धर्म के अनुसार अवतारों का रंग कुछ ऐसा ही होता है।

जैसा कि मैं अभी-अभी कह आया हूँ, जहाँ वह रहते थे, वह बस्ती अवश्य छोटी थी और वहाँ के रहनेवाले भी अर्द्ध-शिक्षित और पैसे से बुरी तरह चिपटे रहनेवाले सही, परन्तु इसके विपरीत पंडितजी एक होनहार और जीवन के स्वरूप को पहचाननेवाले व्यक्ति थे। उनकी महत्वाकांक्षाएँ अधिक थीं। उनमें अदम्य उत्साह, काम करने की प्रवृत्ति कम और नाम पाने की इच्छा अधिक, सामाजिक कुरीतियों के खिलाफ़ जहाद बोलने की हिम्मत और समय पड़ने पर किसी दूसरे के काम आने की अच्छी आदत, किन्हीं अंशों में सबसे अधिक थीं। इसीलिए इस छोटी-सी बस्ती के सामान्य लोगों में रहकर उनका अहंभाव ही पनप पाया था और उनकी अच्छी आदतें सर्वदा के लिए विलीन हो गई थीं। किसी क़दर, बहुत-से लोगों के, पंडितजी, क़ानूनी-सलाहकार थे; लेकिन अक्सर इस प्रकार की उनकी सलाहों का उल्टा ही असर होते देखा गया था। संसार के अनेक महापुरुषों के बहुत-से वचन उनको कंठस्थ थे। जो, उनके पास रहनेवाले व्यक्तियों के लिए एक आश्चर्य का विषय था। संसार-भर की जटिल से जटिल समस्याओं, लगभग सभी घरेलू बातों, स्त्री-पुरुष के विविध प्रकार के सम्बन्धों, खान-पान की तरह-तरह की रचनाओं आदि अनेक विषयों में उनका आश्चर्य-ढंग से दखल था। कभी-कभी संसार की राजनीति के सम्बन्ध में वह, मुसलमानों के पीर की तरह, अनेक भविष्यवाणी भी किया करते। फूल और काँटे को एक ही स्थान पर देखकर बहुत खुश होते। तभी सब फूलों में गुलाब ही अधिक प्यारा लगा। उनको खुश करने के लिए, बस्ती में बहुत-से लोगों ने गुलाब की खेती करा रक्खी थी, जो उनके चले जाने के बाद अब उजड़-सी चुकी है। उनको कभी

किसी ने पीते-खाते न देखा। अपनी बस्ती से बाहर निकलना वह बहुत कम पसंद करते। शायद ही जीवन में उन्होंने अपने ज़िले से निकलकर किसी दूसरे ज़िले में पैर रक्खा हो। उन्होंने अपनी बस्ती को ही, कुएँ के मेंढक की तरह, सारी दुनिया समझा और वहीं टर्-टर् करते उनका सारा जीवन बीता। यही कारण है जो उनका अभाव का घाव कभी न भर पाया। दुश्मन पर वार करने से पहले उसको आगाह कर देना अपना धर्म समझते। जीवन के प्रथम-प्रहर में उन्होंने दुश्मन को एहसान की मार से मारना सीखा, फिर थोड़े दिन बाद ही, उनकी नीति भी बदलते देर न लगी।

दुकान पंडितजी के समय से खुलती। जाड़ों में प्रातः नौ बजे से संध्या के पाँच बजे तक और गर्मियों में प्रात से संध्या तक। कभी-कभी दोपहरी में बन्द हो जाती; तब कभी कोई ख़ास बात अवश्य होती। उनकी दुकान, दुकान कम थी, मगर बैठक अधिक। सुबह से शाम तक गाँवों के दसियों आदमी आते और उनकी समस्याओं का हल पंडितजी बड़ी सरलता से उनको समझा देते। वे उनका यश-गान करते चले जाते और वह स्वयं इसमें अपना गौरव समझते। इसी तरह के आदमियों से उनकी दुकान चलती थी और वह किसी तरह, वास्तव में, अपना जीवन पूरा कर रहे थे। कभी-कभी महीनों उस दुकान में झाड़ू भी न लगती। सड़क पर से उड़कर आनेवाला रेत इस तरह महीनों दुकान में रक्खी कापी और किताबों पर पड़ा-पड़ा आराम करता; और फिर एक दिन वह दुकान आइने की मानिन्द चमक उठती।

बात करते तो उनकी मुद्रा बड़ी गंभीर हो जाती। शरीर का सारा बल मस्तिष्क में आ जाता। बड़े-बड़े गहन विषयों पर वह धारा-प्रवाह बोलते, फिर उपयुक्त और अनुपयुक्त का कुछ भी विचार न रहता। अपने विचारों को वह तो दूसरे के सम्मुख बिखेर देते और वह दूसरा कुछ देर के लिए चकरा-सा जाता। ऐसे समय में उनकी सफलता इसी क्रिया में निहित होती और उनके पास में बैठनेवाले लोगों पर भी इस बात का पूरा-पूरा असर होता। किसी भी बड़े-बड़े योद्धा को, पहुँचे हुए फ़कीर को, संसार प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ को, वह अपने से अधिक समझने में असमर्थ थे। उनका अपना विचार था कि अमुक महान् नेता, तरुण-सम्राट ने तो रुपये के बल पर उस यश को ख़रीदा है, वैसे उनमें कोई ख़ास बात नहीं। अगर उनके पास इतने रुपये का हज़ारवाँ हिस्सा भी होता तो वह उनसे कहीं अधिक ऊँचा उठ सकते थे। गांधीजी उनकी दृष्टि में एक भाग्यशाली व्यक्ति थे। अपने भाग्य के बल से ही वह इतना उच्च आसन प्राप्त करने में समर्थ हो सके हैं। अन्यथा, इससे अधिक उनमें कुछ नहीं। लोग कहते हैं, नेपोलियन के विषय में अपने विचार प्रकट करते समय, एक बार, वह स्वयं में ही खो-से गये थे। संध्या का समय था; पंडितजी अपने तीन-चार मित्रों के संग टहलने के लिए घर से निकल चुके थे, नेपोलियन के विषय में बात छिड़ी हुई थी। चलते-चलते एकाएक वह शहर के चौराहे पर आकर रुक गये और अपनी नाक को पकड़कर कहने लगे—इधर देखो, ऐसी ही उसकी नाक थी, ठीक ऐसी ही उसकी भुजाएँ, मुँह, कान, चेहरा, बदन सब कुछ बिल्कुल ऐसा ही, ठीक ऐसी ही वह पोशाक पहनता था और बिल्कुल इसी तरह क़दम उठाकर, मस्तानी चाल से वह आगे बढ़ा करता था। कहते हैं, इस बात को उन्होंने इतनी ज़ोर-ज़ोर से कहा

था कि बहुत-से चलनेवाले कोई महत्वपूर्ण बात समझकर, खड़े हो, सुनने लगे थे। और वह इतना कहकर आगे बढ़ चले थे। फिर थोड़ी देर बाद, उनको अकेला छोड़ देने के लिए उन्होंने अपने साथियों से अनुरोध भी किया था।

अन्य सभी लोगों के वह दोष ही देखते; गुणों की ओर उनका ध्यान भूलकर भी न जाता। उनकी समझ में, उनके अतिरिक्त और कोई गुणवान हो ही कैसे सकता था। वह समझते थे, संसार की सारी विचित्रताओं का समावेश उनमें स्वयं ही हो गया है। आज की दृष्टि से उनकी शिक्षा अधूरी कह सकते हैं, परन्तु पुराने जमाने की बात को अगर सोचें तो वह पूर्ण पंडित थे। अंग्रेजी-हिन्दी की उन्होंने कई किताबें पढ़ी थीं। गीता का वह नियमित रूप से पाठ किया करते थे। उर्दू, उन्हें पढ़नी आती थी, लिखनी नहीं। वैसे अपने बाल्य-काल में, छोटी-सी अपनी बस्ती में, उर्दू के वह माने हुए शायर रह चुके थे और कभी-कभी भंग की तरंग में अपनी उन ऊट-पटाँग रचनाओं को, साथियों के बीच सुनाया भी करते। जब कभी अपने बच्चों को पढ़ाने बैठते तो उन बच्चों का महीने भर का सब खाया-पिया निकाल लेते। दो घंटे तक बराबर मारते रहते और पढ़ाकर खाक न देते। कांग्रेस में रहकर, खूब धड़ल्ले के साथ उन्होंने स्पीचें झाड़ी थीं—केवल अपनी बस्ती ही में नहीं, बस्ती से बाहर, बहुत से गाँवों में भी; इससे अनेकों नासमझ ग्रामवासी उनके चेले हो गये थे और पण्डितजी की दृष्टि में, इस मही पर वे ही केवल आदमी थे और बाकी सब जानवर!

उनकी अपनी पसंद भी निराली थी। सौ पीछे निन्नानवे आदमी जिस बात को पसन्द करते, वह हमेशा उनकी नापसन्दगी की ही बात ठहरती। एक बार, सौभाग्यवश, गांधीजी शहर में पधारे; स्टेशन पर सभी ने हाथ जोड़कर उनका अभिवादन किया; मगर पण्डितजी ने न तो हाथ ही जोड़े और न मुसकराये ही। बाद में इस बारे में वह अक्सर कहा करते थे कि महात्मा गांधी ने केवल उन्हें ही वहाँ पर एक आदमी समझा और अन्य सबको पूरा-पूरा गदहा। इसीलिए उन्होंने केवल उन्हें ही थपथपाया और बाकी सबको हाँक दिया। सौ-फी-सदी उनका उधार मारा ही मुश्किल से जाता और अगर ऐसा कोई बिरला निकल भी आता तो वह उसके गले में हाथ कभी न डालते, मगर अपना पैसा उसकी मिट्टी से भी वसूल कर लेते। ये उनकी भाषा में उनके 'लटके' कहलाये, जो उनके जीवन की अनेक विशेषताओं में सुगन्ध उत्पन्न करते थे।

निश्चय रूप से पण्डितजी का ज्ञान बहुत थोड़ा था; लेकिन छोटी-सी उस बस्ती में वह अन्धों में काने होने के नाते, वहाँ के लीडर थे। उनकी किसी बात को काटना, उस प्राणी के लिए अपनी मृत्यु को न्यौता देना हो जाता। फिर किसी न किसी तरह की उसकी मृत्यु होकर ही रहती। इन पंक्तियों का लेखक भी, उनके इस संसार में रहते हुए, उन पर क़लम उठाने का दुस्साहस नहीं कर सकता था। जब कभी वह क्रोध में आकर कड़क उठते तो बस्ती के मकानों की ईंटें आपस में रगड़ खा जातीं और बार-बार एक स्वर से 'पं० सम्पतलाल की जै' बोला करती थीं; तब कहीं, बहुत देर में, उनका क्रोध ठंडा हो पाता। गदहों को इन्सान बनाने की गरज़ से, उनके अपने जीवन का मूल्य बहुत अधिक था; लेकिन इसके विपरीत दूसरे अन्य लोगों का मिट्टी के एक कण के बराबर भी नहीं। न जाने

अपने किस जादू के बल से शहर के तमाम बदमाशों को वह अपनी कन्नी उँगली के बल पर नचाया करते। यद्यपि हठ-योग से शायद ही कभी उनका सम्बन्ध रहा हो; पर सुनते हैं, उसकी बहुत-सी क्रियाओं में भी वह पारंगत थे। इस विषय की उनकी अनेक बातें लोगों में अब भी प्रचलित हैं, जिनको सुनकर बहुत से नवयुवक दाँतों तले उँगली दबाते हैं। वैसे उनके चरित्र के विषय में कोई गलत धारणा लोगों में नहीं फैली हुई है।

अपनी याद में, अपने हाथ-पैरों के नाखूनों को उन्होंने कभी भी नहीं कटवाया था। कहते हैं, उनको बड़ा, और, और बड़ा करने के लिए, जिन्दगी-भर वह अनेकों दवाओं का प्रयोग करते रहे थे। और वास्तव में उनके नाखून थे भी बहुत ही लम्बे, जिनमें हमेशा काला-काला मैल भरा रहता था। यह उनका प्रकृति-प्रदत्त हथियार था, जिसको वह बहुत ही सँभालकर रखते थे और गाहे-बगाहे ही किसी दुश्मन पर वार करने के समय व्यवहार में लाते थे। इस बात में शायद शिवाजी और अफ़ज़ल खाँ के द्वन्द्व-युद्ध की कथा ने उन्हें प्रेरणा दी थी और जहाँ तक मैं समझता हूँ, यह कथा भी उनको अपने बाल्य-काल में ही किसी से सुनने को मिल गई होगी; तभी तो, उन्होंने जब से होश सँभाला, नाई या नहन्ने को नाखूनों को हाथ नहीं लगाने दिया।

हाँ तो, अब कैसे कह दूँ कि पण्डितजी की इस विचित्रता के असाधारण कवच के भीतर एक साधारण मानवीय आत्मा भी छिपी थी। समय-समय पर आनेवाले तूफ़ानों ने उनको अनेकों बार डगमगा भी दिया था। फूल-सी, अपनी नन्ही बालिका की मृत्यु पर वह घर में मुँह छिपाकर, महीनों तक, बालकों की नाईं, फूट-फूटकर रोये भी थे। फटी-पुरानी गुदड़ी में लिपटी, किसी भी दीनभिखारिन को देखकर उनका हृदय भी टूक-टूक हो जाता था। फिर जो कुछ उसे वह देते, लोगों की निगाह से बचाकर, छिपाकर! विचित्र और कठोर इस प्राणी को भी शक्तिशाली प्रेम ने कई बार मुँह की खाने के लिए बाध्य कर दिया था। जीवन में अनेकों बार उन्होंने अपनी हार स्वीकार की थी। क्षण-भंगुर समझते हुए भी, उनको जीवन से कितना मोह था, बाप रे, यह कल्पना से भी परे की वस्तु है। परन्तु किसने उनको यह समझा और उन्होंने ही कब किसी को मौक़ा दिया। तभी तो, लोगों के लिए पण्डितजी एक पहेली बनकर ही रह गये।

मैं कह रहा था, यही छोटी-सी बस्ती, उनकी जन्म-भूमि थी, उनकी क्रीड़ा का क्षेत्र भी यही और उनकी मृत्यु का स्थान भी यही। शुक्र के दिन, सन्ध्या के समय, मूलों में उनका जन्म हुआ और ठीक साठ बरस के बाद उसी दिन, उसी समय, मूलों में ही उनका स्वर्गवास भी। उस छोटी-सी बस्ती में उनका एक छोटा-सा घर था और वहीं छोटी-सी किताब-कॉपियों की दुकान। वैसे उनकी पत्नि का नाम छोटी था; परन्तु वह हमेशा उसको छुट्टो या छुटिया कहकर पुकारा करते थे। तवे जैसी काली होने पर भी वह उनके लिए संसार की सभी सुन्दर स्त्रियों से अधिक सुन्दर थी। कहते हैं, उस बस्ती में और उसके आस-पास अपनी इन्हीं विशेषताओं के बल पर पण्डितजी ने एक-छत्र शासन किया था। उस बस्ती का रहनेवाला कोई उनको जादूगर समझता और कोई अक़्ल का पुतला! परन्तु पण्डितजी वास्तव में दोनों में से एक भी न थे। यही बात है जो उनके सन्ध्या समय ही प्राण-पखेरू उड़ जाने पर भी लोगों ने उन्हें रात-भर घर में ही पड़ा

रक्खा। स्वयं उनके पुत्र हरदेवा और बलदेवा को तो उनकी मृत्यु तक में भी शक था। दूसरे दिन, प्रातःकाल ही उनकी चिता में अग्नि दी गई थी। लोगों को भय था, रात्रि के वक्त में कहीं उनसे कोई भूल न हो जाय, जो उनकी जान की लेवा बन बैठे। इसीलिए दूसरे दिन भी उनकी मुट्ठी-भर राख हो जाने पर ही लोगों को विश्वास हो पाया था कि अब वास्तव में पं० सम्पतलाल इस असार संसार में विद्यमान नहीं हैं।

★

और फिर वही टप्-टप्....

●

[मनोहर]

घूरे पर पड़ी हुई किसी सुखाद्य सामग्री के लिए आपस में लड़ते-झगड़ते हुए कौवों ने जब अबाध गति से काँव-काँव करना शुरू कर दिया तो उसने जाना कि सुबह हो गया। और सुबह हो गया तो उसे उठना भी पड़ा।

आँखें मलते-न-मलते वह एकदम सर से पैर तक सिहर-सा उठा। कसकर दोनों हथेलियों से उसने अपनी आँखें दबा लीं मानो जागा क्या, एक भारी गुनाह किया हो। सवेरा हो गया, इसलिए उसने जाना कि साँझ भी होगी और साँझ भी होगी, इसलिए जाना कि फिर सवेरा भी होगा। उसके मन ने मानो कहा—आह! वह थोड़ी देर और क्यों नहीं सोता रहा, सोता रहा, सोता रहा।

उसने सोचा—जिन्दगी है, इसलिए वह जीता भी चला जा रहा है। दुनिया उसे सुखी ही कहेगी। ऐसी कौन-सी चीज़ है जो उसके पास नहीं। समाज से लाइसैन्स लेकर व्यभिचार करने के लिए एक बीवी, डाटने-पटने और कान ऐंठने के लिए एक दर्जन बच्चे और पेट की आग शान्त करने के लिए चाँदी-ताँबे के कुछ चमचमाते टुकड़े सभी कुछ तो उसके पास है। उम्र भी कोई खास अधिक नहीं—इसी पूर्णिमा के दिन अपनी जिन्दगी के पैंतालीस वर्ष खत्म करने के उपलक्ष में बीस ब्राह्मणों को खाना-खिलाकर चिरायु होने का आशीर्वाद उसने प्राप्त किया है। दुबला-पतला है तो क्या हुआ? कर्तव्य का पालन तो उसे करना ही है। जब तक उसके हड्डियों के ढाँचे में कौड़ियों जैसी दो निस्तेज आँखें टिमटिमाती रहेंगी और क्षयग्रस्त कंठ में अंतिम साँसें भी घरर-घरर करती रहेंगी, तब तक वह पति होने के नाते अपनी छः साल की उम्र में विवाहिता पत्नी को और पिता होने के नाते एक दजन बच्चों को पालता-पोसता रहेगा, उनके सारे अभावों की पूर्ति करता रहेगा, उनको जीवित रखने के सम्पूर्ण साधन जुटाता रहेगा।

सांसारिक सुख के इस व्यंग्य के कारण उसकी साँस मानो अपने आप में घुटने लगी। विगत साँझ की एक-एक घटना मुँह बाये उसके सम्मुख खड़ी हो गई। तेरह साल के पुत्र-रत्न बिहारी द्वारा पड़ोस की उस लड़की का सिर फोड़ा जाना, रिसर्च-पूर्ण

गालियों की बौछार करती हुई पड़ोसिन का वह अभिनव नारी-रूप, पत्नी द्वारा अपनी कोख के जाये के बचाव के लिए रची गई वह कलापूर्ण मोर्चेबन्दी सब कुछ उसकी आँखों के सामने सुस्पष्ट हो उठा। उस रौद्ररूपा चामुंडा को शान्त करने के लिए उसने क्षमा माँग ली तो बीवी द्वारा तरह-तरह की भर्त्सनाएँ, बुज़दिली का फतवा और दूध के धुले हुए चाँद से मुखड़ोंवाले बच्चों के दुश्मन होने की उपाधि मिली। समझाने की कोशिश क्या की कि जैसे आग में ईंधन। सर पटक-पटककर तथा चिल्लाकर आठ-आठ आँसू रोने के साथ-साथ मैके जाने की धमकी दी। मन में तो आया कि कह दे.....। पर छिः-छिः वह था विवाह जैसे पवित्र सम्बन्ध में बँधा हुआ पति और वह थी उसकी सहधर्मिणी—उसकी जीवन-संगिनी।

उसकी यह चिन्ता-धारा अधिक देर तक नहीं चल पाई थी कि उसने सुना—'बाबूजी! बाबूजी!! अम्मा!'

'बाबूजी, बाबूजी, अम्मा; बस इतना ही या आगे भी कुछ?' स्वप्न से जागकर जैसे वह बोला।

'बाबूजी! अम्मा के पेट में दर्द हो रहा है और कंचन मुझको पीटता है और सुधा की धोती जल गई!'—दूसरी ओर से जवाब आया।

पर उसने कंचन, सुधा, कुछ भी नहीं सुना। अगर कुछ सुना तो केवल यह कि माँ के पेट में दर्द...। पर सुनकर भी मानो कुछ भी नहीं समझ पाया। सोचा—दर्द? पेट में दर्द? और दूसरे ही क्षण सत्य उसके हाथ लग गया। किन्तु इस सत्य को प्राप्त कर उसे कितनी प्रसन्नता हुई—यह कहना तनिक कठिन है। हाँ, उसे यह जानते देर नहीं लगी कि वह पिता है और अपनी तेरहवीं सन्तान के स्वागत के लिए उसे कुछ आयोजन करना है।

बिना हाथ-मुँह धोये और बिना किसी से कुछ कहे-सुने, अलगनी पर से शरीर पर कुछ कपड़े डाल वह चल दिया। कहाँ? इस 'कहाँ' को वह अच्छी तरह जानता था। आज ही नहीं, आज से पहले भी बारह बार इसी तरह लड़खड़ाते पैरों से अपने कर्तव्य का पालन करने के लिए और अपना पिता नाम सार्थक करने के लिए उसे इस 'कहाँ' तक आना पड़ा है। उसे अपने कर्तव्य का यथेष्ट ज्ञान है। आज कोई नई बात नहीं।

उसके पैर तेज़ी से बढ़ने लगे और साथ-साथ उसके मस्तिष्क में प्रश्नों की गति भी तेज़ हो गई।

क्या यही जीवन है? क्या इसी का नाम कर्तव्य है? विवाह सन्तानोत्पत्ति और उदरपूर्ति क्या इन्हीं में सारा जीवन सीमित है? पेट भरने के लिए मिट-मिटकर, पिस-पिसकर अथवा धोखा-धड़ी, छल-कपट, नोच-खसोट से किसी प्रकार भी कुछ चमकीले-मटमैले सिक्कों का कमाना ही जीवन का लक्ष्य है? क्या इसी में आदमी के सुख और शान्ति का आदर्श छिपा है? क्या इस सबके आगे और कुछ नहीं? बस, क्या इतना ही आदमी को चाहिये? बस क्या इतना ही...

केले के छिलके पर फिसल कर वह गिरा और उठा और फिर चल दिया।

उस केले के खानेवाले सुनागरिक को उसने मन ही मन आशीर्वाद दिया और फिर से उसकी विचार-धारा तेज़ हो गई।

मैं किसके यहाँ चला जा रहा हूँ? उसके यहाँ जो दर्द से छटपटाते एक माँस-पिंड में से एक छोटे-से माँस-पिंड को बाहर खींच लेगी, जो युग-युग से इसी काम को करती आई है और जो युग-युग तक इसी काम को करती रहेगी; जिसने न जाने कितने... और आगे उससे न सोचा गया—उसका मन ग्लानि से भर उठा।

अब विचारधारा ने दूसरी ओर पलटा खाया।

वह माँस का पिंड मेरी संतान कहलायेगा और मैं उसका पिता। मैं तेरह बच्चों का बाप कहलाऊँगा और उसकी माँ तेरह बच्चों की माँ। इतनी सारी आवाज़ों में एक आवाज़ उसकी भी शामिल हो जायगी और फिर उसके भी फटे निकर, पुराने बूट और नई कमीज की फिकर मुझे ही करनी होगी। उफ़, बच्चों को पैदा करने, पालने और बड़ा करने में ही जैसे मेरा कर्तव्य सीमित हो—सारा जीवन बँधा हुआ हो।

वह अन्धा बना चला जा रहा था। पर उसे यह समझने देर नहीं लगी कि उसका निर्दिष्ट स्थान आ गया। उसे याद आया कि वह पिता है और पिता होने के नाते उसने एक मकान की कुन्डी खटखटाई।

भीतर से न तो 'कौन?' का प्रश्न ही हुआ और न 'आई या आया!' जैसा कोई उत्तर ही मिला। क्षणभर पश्चात् दरवाज़ा खुला और उसमें से एक प्रौढ़ा स्त्री मलिन वस्त्रों में लिपटी हुई, आँखों में सुरमा दिये हुए, पान चबाती हुई तथा मुँह से लार-सी टपकाती हुई बाहर निकली। किसी को कुछ कहने-सुनने की आवश्यकता नहीं पड़ी। वह उसके पीछे-पीछे चलने लगी जैसे उसे अपना कार्य पहले से ही पता हो। अन्त में वह उस कमरे में पहुँचा दी गई जहाँ से 'डिसइन्फेक्टैंएट' की गन्ध और किसी स्त्री की क्षीण कराह रह-रहकर आ रही थी।

बच्चों की निगाह से अपने को बचाता हुआ वह एक दम अपने कमरे में गया और धम से आराम कुर्सी पर गिर पड़ा।

पैंतालीस वर्ष की दबी अवस्था में भी वह फूट-फूटकर बच्चों की तरह रोयेगा—ऐसा किसने सोचा था?

इधर संसार एक नये प्राणी को जन्म देने के लिए भविष्य की ओर उन्मुख था, उधर वह अतीत में अपने अस्तित्व को घुला-मिला रहा था।

अतीत में अपने अस्तित्व को खो देना उसके लिए कोई नई बात नहीं थी। जब-जब उसके मन में बेबसी का ज्वार उमड़ता, तब-तब वह भीत शिशु-सा झट से इसी अतीत-स्मृति का अञ्चल पकड़ लेता। संसार के भीषण से भीषण उत्पात इस स्मृति के पीछे अपना-अपना-सा मुँह लेकर छिपने को बाध्य हो जाते। दुनिया में अपने को निर्धन पाते ही वह सूम की थाती के समान उस स्मृति पर धनी होने का गर्व करने लगता।

उसके कोष में अतीत का अर्थ था केवल वारुणी—पीने-पिलानेवाली वारुणी नहीं वरन् हरिणी-सी भोली, चाँदनी-सी उज्ज्वल, उषा-सी सलज्ज और संगमरमर की पुतली जैसी भव्य षोडश वर्षीया वारुणी—एक युवती।

यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि वारुणी से उसका क्या नाता था।

उसके चेहरे की आभा न जाने क्यों प्रतिक्षण बढ़ती जा रही थी। वह वहीं बैठा का बैठा न जाने कहाँ पहुँच गया।

'बाबूजी ! भैया'—बच्चों ने आकर चारों ओर से उसे घेर लिया।

वह निर्निमेष देखता ही रहा। न हिला न डुला। न कुछ सुना ही और न कुछ समझा ही—पत्थर की मूर्ति हो जैसे। बच्चे उसे देखकर स्तब्ध रह गये।

'लड़का हुआ है। चाँदी लिये बिना नहीं हटूँगी !'—भौंहें मटकाती हुई और मुँह से लाल-लाल लार टपकाती हुई दाई बोली।

दाई की बात को मानो उसने कुछ-कुछ समझा। किन्तु इस खबर को सुनकर वह हँसे या रोये—यह फिर भी उसकी समझ में नहीं आया। एकाएक यंत्र की भाँति वह उठा और अचकन की जेब से झटपट एक रुपया निकालकर उसने दाई के हाथ पर रख दिया और फिर शून्य दृष्टि से शून्य की ओर देखने लगा मानो कह रहा हो—जाओ ! जाओ !! अब जाओ !!! मैंने खुशखबरी सुन ली—लड़का हुआ है लड़का—मैंने सब सुन लिया। तुम्हें चाँदी मिल गई। अब तुम जाओ ..जाओ...जाओ।

मन ही मन उसकी उदारता की प्रशंसा करती हुई और अनेक बार ऐसे ही अवसरों की मनोकामना करती हुई दाई अपने घर की ओर चली गई। बच्चे भी चुपचाप वहाँ से खिसक दिये और मानो अपने मन का गुबार निकालने के लिए गली में जाकर 'भैया, भैया' करके शोर मचाने लगे। उसने खून के घूँट पीकर यह सब सुना। उसे ऐसा लगा कि अभी बाहर जाकर बच्चों का मुँह मसोस दे, अरे बेवकूफो ! भैया ने कौन से आसमान पर पहुँचा दिया तुम्हें। वह तो विषधर है जिसको मेरे कानूनन व्यभिचार ने जन्म दिया है और जो अपनी मा के स्तनों को चूस-चूसकर उन पर और भी विकृति की छाप लगा देगा।

विक्षिप्त-सा बाहर दौड़ने को ही था कि सामने दीवाल पर लटकती हुई घड़ी ने टनटन कर दस बजाये और तब उसे याद आया कि पति और पिता होने के अतिरिक्त वह एक क्लार्क भी है, उसे आफिस जाना है, उसे दुनियादार बनकर चार पैसे कमाने हैं, दस आदमियों का पेट भरकर उसे अपना कर्तव्य भी पालन करना है।

अपने नवजात शिशु को देखने की न तो उसने आवश्यकता ही समझी और न कोई उमंग ही उसके मन में उठी। झटपट कपड़े बदलकर वह आफिस की ओर चल दिया। इस समय उसको प्रोप्राइटर की विद्रूप हँसी सुनाई पड़ने लगी। चौड़ी-चौड़ी मेजें, काले-काले टाइपराइटर, सफेद-सफेद कागजों की फाइलें—सभी कुछ उसकी आँखों के सामने नाचने लगा। टप्-टप्, खट-खट का स्वर भी उसके कानों में गूँजने लगा। किन्तु वह चलता गया, चलता गया, चलता गया।

एक झटका और लगा। वह सोचने लगा—मैं पति हूँ, पिता हूँ, क्लार्क हूँ, पर मैं मैं नहीं हूँ। भला, यह भी कोई जीवन है। सुबह हुई वही कौवों की काँव-काँव, वही ठंडा-सा, रूखा-सा चिर-परिचित दैनिक कार्य-क्रम, वही आँखों से सदैव टकरानेवाली ईंट और चूने की ऊँची-ऊँची दीवालें। मैं जानता हूँ—अच्छी तरह जानता हूँ—मुझे

आज क्या करना है, कल क्या करना है, परसों क्या करना है और परसों के बाद आगे भी फिर क्या-क्या करना होगा। उफ, असंख्य कार्बन कॉपीज की तरह ही तो मेरे जीवन के असंख्य दिन हैं।...

वह सोचता गया, सोचता गया और तब तक सोचता गया जब तक वह अपने को भुलाकर पिता और पति होने के नाते कलार्की को छाती से चिमटाकर कुरसी पर जमकर नहीं बैठ गया।

और फिर वही टप्-टप्...।

प्रसादजी के उपन्यास

[गंगाप्रसाद मिश्र]

प्रसादजी की विशेषता उनकी मौलिकता और शैली है। नाटक कविता, कहानी और उपन्यास जो कुछ उन्होंने लिखे हैं सबमें उनकी अपनी एक विशेषता है और वह है उनकी कवित्वमयता एवं दार्शनिकता जो सदैव उनकी रचनाओं में व्यक्त होती रहती है और इस प्रकार उन्हें साधारण रचनाओं से एक भिन्न रूप देती है। प्रसादजी की इस दार्शनिकता, गम्भीर अध्ययन और उनके व्यक्तिगत सौम्य स्वभाव ने अपने समकालीन समालोचकों पर एक ऐसा प्रभाव डाला कि उनकी रचनाओं के साथ वे पूर्णतया न्याय न कर सके और उन्होंने सब धानों को बाइस पसेरी तोला है, अर्थात जितना उच्च स्थान वे उनके नाटकों व कविताओं को देते हैं उतना ही उच्च स्थान वे उनकी कहानियों व उपन्यासों को देने को तैयार हैं, यद्यपि लेखक को साहित्य के इन दोनों अङ्गों में उतनी सफलता प्राप्त नहीं हुई है जितनी प्रथम दो अङ्गों में। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर हमें यह पता चलता है उपन्यास ही वह क्षेत्र है जहाँ प्रसादजी को सबसे अधिक असफलता हुई क्योंकि कहानी के क्षेत्र में एक विशिष्ट प्रकार की भावात्मक, करुणा, शान्ति और अहिंसा के सन्देश को बतानेवाली उनकी अनेकों कहानियाँ ऐसी हैं जो हिन्दी कहानी-साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान रखती हैं। प्रसादजी को अन्य साहित्यिक अङ्गों में जो सफलता प्राप्त हुई है उसने एक ऐसा प्रकाश-वृत्त (halo) उनके आसपास बना दिया है कि लोग उनकी रचनाओं की वास्तविक आलोचना करना, दोषों को बताना उद्दण्डता समझते हैं। उनके उपन्यासों को भी वे बहुत ऊँचा स्थान देने लगे हैं। हिन्दी के एक महान समालोचक का यहाँ तक कहना है कि हिन्दी में उच्चकोटि की कहानियाँ प्रेमचन्द की हैं और उपन्यास प्रसादजी के; यह उसी प्रकार का भ्रम है जैसे स्वर्गीय पण्डित रामचन्द्र शुक्लजी के जायसी ग्रन्थावली की भूमिका लिखने के पश्चात् लोगों पर जायसी की श्रेष्ठता का ऐसा सिक्का जमा कि लोग उनकी तुलना सूर, तुलसी और कबीर से करने

लगे। यहाँ तक कि अब इस प्रकार के प्रश्न उठने लगे हैं कि विरह-वर्णन सूर का अच्छा है अथवा जायसी का या अवधी भाषा पर अधिकार तुलसी का अधिक है अथवा जायसी का।

उपन्यास की सबसे प्रधान वस्तु है उनकी कथावस्तु अथवा कथानक। साहित्य-क्षेत्र में प्रसादजी को उपन्यास लिखने का सबसे कम अभ्यास था और नाटक लिखने का सबसे अधिक। उनके नाटक अधिकतर मौर्य या गुप्तकालीन हैं, जिनमें राज्य की प्राप्ति के लिए बड़े-बड़े पेचीदा षड़यन्त्र चला करते हैं, कोई घटना क्यों होती है, अमुक पात्र एक विशिष्ट कार्य-प्रणाली के अनुसार क्यों कार्य करता है, इसका पता तब तक किंचित मात्र भी नहीं लग सकता जब तक वह षड़यन्त्र पूर्णतया समाप्त न हो जाय। प्रसादजी अपने नाटकों में इस प्रकार के कथानक रखने के कुछ ऐसे अभ्यस्त हो गये थे कि उन्होंने उपन्यासों का कथानक भी वैसा ही पेचीदा रखा है, विशेषतः 'कंकाल' का, क्योंकि 'तितली' में इस बात की उतनी अधिक मात्रा नहीं पाई जाती। कथानक की दृष्टि से उपन्यासों के दो विभाग किये जाते हैं, एक तो वे जिनका कथानक बहुत ही सुलझा हुआ, सुगठित और सुव्यवस्थित होता है, जो (organic type) कहलाते हैं, दूसरे वे जिनके कथानक में कुछ विशृङ्खलता होती है और सब घटनाएँ और पात्र बिलकुल नपे-तुले अथवा निर्धारित विधि से कार्य नहीं करते, इसमें कथानक के प्रवाह में स्वतन्त्रता होती है, इन्हें स्वतन्त्र रूप (loose type) की संज्ञा दी जाती है। यों तो प्रसादजी के उपन्यासों में अधिकतर गुण दूसरी कोटि के हैं, परन्तु उनके कथानकों का पेचीदापन उनकी विशेषता है। बात यह है कि इस प्रकार के उपन्यासों में यह पेचीदापन नहीं रखा जाता क्योंकि यह ऐसी चीज़ है जिसे लेखक बिना पहले से तय किये हुए नहीं लिख सकता।

'कंकाल' में कथानक के यह घुमाव-फिराव बहुत हैं। किशोरी, श्रीचन्द की पत्नी है, पुत्र-लालसा से उसका हृदय लालायित है। साधु-सन्तों की खोज में वह इसके लिए रहती है, परन्तु उसके पति को व्यापार की व्यस्तता के कारण इस सबके लिए समय नहीं। वह पत्नी को लगभग स्वतन्त्र-सा किये हुए है। किशोरी को अपनी इस खोज में बाल-बन्धु निरञ्जन मिल जाता है, एक ख्यातनामा और चमत्कारी साधु के रूप में, वह जिसने किशोरी को अपने हृदय में स्थान दे रखा था। निरञ्जन, वह तेजस्वी साधु अपने उच्च स्थान से गिरता है; किशोरी की पुत्र—विजय—के जन्म से लालसा पूरी होती है। निरञ्जन का दूसरी विधवा रामा से सम्बन्ध हो चुका है जिससे तारा अथवा यमुना जन्म लेती है। एक दूसरा धर्मगुरु इस उपन्यास में और आता है जो किसी हद तक बैक-ग्राउण्ड में नहीं रहता परन्तु यदि देखा जाय तो उपन्यास के कथा-निर्माण में वह भी निरञ्जन से कुछ ही कम सहायक है। एक विधवा नन्दो इस धर्मगुरु से यह प्रार्थना करती है कि वह उसकी लड़की घण्टी को लड़का बना दे। धर्मगुरु सक्रांति के मेले में सरला के पुत्र मंगल को ले भागता है और नन्दो को सौंप देता है और वह लड़की गोविन्दी चौबाइन द्वारा पाल ली जाती है। यहाँ तक देखने पर 'कंकाल' कृष्ण द्वारा गीता में वर्णित वर्णशंकर का एक अच्छा खासा उदाहरण है। हमारे समाज में एक ओर स्त्री है और दूसरी ओर पुरुष, एक ओर लड़का है दूसरी ओर लड़की। उन्हें अधिकार देने

में हमने कितना अन्याय किया है इस ओर प्रसादजी भलीभाँति इंगित करते हैं। क्यों एक स्त्री की कामना होती है कि उसकी पुत्री—पुत्र बन जाय? इसीलिए न कि पुत्र की माता बनकर वह अपने सम्बन्धियों में धन्य कहलायगी, सम्मान की पात्री होगी, और पुत्री की माता रहने पर समाज उसे नोच-नोचकर खायगा। पुत्री की रक्षा करना ही उसकी सामर्थ्य के बाहर होगा और उसे किसी सुयोग्य व्यक्ति को सौंपने का कार्य असम्भव के इतना ही कठिन। स्त्री-पुरुष का यह विभेद हमारे समाज के अन्दर की कितनी हलचलों का कारण है। मंगलदेव चलता है दैवयोग से वेश्या बनी हुई तारा का उद्धार करने, पर उसे एक नरक-कुण्ड से निकालकर गर्भवती करके दूसरे नरक-कुण्ड में डाल देता है और समाज के भय से भाग निकलता है।

'कंकाल' की कथा मुख्यतः निरञ्जन, मंगल, विजय, तारा, किशोरी और घण्टी की कर्म-कथा कही जा सकती है। कंकाल के लगभग सब ही पात्र, सिर्फ एक (तारा) यमुना और दो एक गोस्वामी कृष्णशरण के से पात्रों को छोड़कर, पतन के गर्त में गिरते ही चले जाते हैं। 'कंकाल' का संसार किसी हद तक यथार्थवादी है, परन्तु लेखक ने आदर्श को भी स्थान दिया है, उन दुष्कर्म कथाओं के बीच में सद्विचारों का समावेश करने का भी प्रयत्न किया है। हालाँकि कभी-कभी लेखक द्वारा किया हुआ यह प्रयत्न टाट में मखमल के पैबन्द-सा लगता है, वह उसमें फबता नहीं, ऐसा मालूम होता है जैसे जबर्दस्ती उसे लाकर लगा दिया गया हो। उदाहरणतः गोस्वामी कृष्णशरण द्वारा दिये हुए लम्बे-लम्बे उपदेश कथानक के प्रवाह में न सिर्फ बाधा ही उत्पन्न करते हैं बल्कि वे अनायास ही विचारों का दिग्दर्शन कराने अथवा प्रोपेगण्डा-सा करने के लिए लाये हुए मालूम होते हैं।

गाला की माता की कही हुई जन्म-कथा का भी कथानक के निर्माण में कोई स्थान नहीं मालूम होता। उसकी कल्पना जैसे लेखक ने उपन्यास के कलेवर को बढ़ाने के लिए कर ली है अथवा वह उनकी इतिहास-प्रेम की आदत से मजबूरी के कारण ही उपन्यास में आई है, मंगल को भी इसी भाँति लेखक राज्यवर्धन राज्यवंश का सिद्ध करता है, एक यन्त्र द्वारा। परन्तु उसका इस महान राज्य-कुटुम्ब का वंशावतंश होना, किसी प्रकार कथा में विशेष सहयोग नहीं देता। बीसवीं सदी के उपन्यास में लेखक का यह दिखलाना कि अमुक पात्र एक यन्त्र की उपस्थिति में स्वस्थ्य रहता है और अनुपस्थिति में अस्वस्थ, खटकता है। 'कङ्काल' का कथानक इतना उलझा हुआ है कि पाठक के लिए यह समझना कि कौन किसका बेटा है, कौन किसका बाप और कौन किसकी माँ—मुश्किल हो जाता है। धर्म के ठेकेदार साधु जो अपनी महत्ता का झूठा रोब लोगों पर जमाये हुए हैं समाज से अपने पापों को छिपाने के लिए, अथवा अपना भण्डा फूटने के डर से एक की सन्तान दूसरे के पास किये हुए हैं अथवा अपने बच्चों से सम्बन्ध तोड़े हुए हैं इसके सर्वेसर्वा हैं। प्रसादजी ने इस समान भय का इतना वीभत्स रूप दिखलाया है कि उसके उदाहरण पर उलझाकर चले हैं और बाद में वे उसे सुलझाने में ऐसा व्यस्त हैं कि कथानक की दृष्टि से 'कङ्काल' एक भूलभुलैया की सैर-सा हो जाता है। पात्रों को उपन्यास में लाने में लेखक संयम से काम नहीं लेता। एक के बाद एक वे इस कदर

बढ़ते चले जाते हैं कि उनकी कोई सीमा ही नहीं रहती है, घटनाओं का महत्व भी इस उपन्यास में विशेष नहीं हैं वे पात्रों के लिए जुटाई गई हैं।

कथानक की दृष्टि से 'तितली' अधिक सफल है। उसमें 'कङ्काल' का-सा उलझा हुआ कथानक नहीं है जो इतना रहस्यात्मक हो गया है कि जासूसी उपन्यासों की याद दिलाता है। 'तितली' के मुख्य पात्र हैं तितली और मधुवन। वे भारत के टिपिकल किसान की श्रेणी में आते हैं। जैसा भारतीय किसान का जीवन है उन्हें भी जीवन भर कठिनाई में ही व्यतीत करना होता है। मधुवन एक जमींदार खान्दान से है, अब उसके दिन बिगड़े हुए हैं लेकिन आत्मभिमान उसका फिर भी नहीं जाता। उसके जीवन को दुखमय बनाने का सबसे बड़ा कारण यह भाव ही है। गरीब आदमी को क्या हक़ है कि अपना पूरा कर्तव्य करने पर भी वह किसी के सामने सिर उठाकर चले, उसे इसीलिए ही झुक-कर रहना पड़ेगा कि अमीरों को इसमें सुख मिलता है। गाँव के जमींदार इन्द्रदेव और उनकी (पहले मित्र फिर पत्नी) शैला ग्राम सुधार के पक्ष में हैं, किसानों के साथ उनकी सहानुभूति है पर उनके कारिन्दे ऐसी कूटनीतिवाले हैं और फिर उनके घर का चक्कर भी उन्हें ऐसा व्यस्त रखता है कि वे बेचारे कुछ वास्तविक कार्य नहीं कर पाते।

कथा कहते समय एक बात प्रसादजी में देखने को मिलती है कि वे अधिकतर चित्रण करके अलग हट जाते हैं अपनी ओर से वे कुछ नहीं कहते। कंकाल' में उन्होंने भारत-संघ की स्थापना की है परन्तु बाद में उसे भी अनुपयुक्त बतलाया है, अधिकतर किसी प्रकार का प्रस्ताव अथवा आदर्श रूप अपनी ओर से खड़ा करना शायद वे कला-कार का कर्त्तव्य ही नहीं समझते। मैं इस जगह पर उनसे सहमत नहीं, यह ठीक है कि कलाकार का बेलाग होना अच्छा होता है। उसका कार्य उपदेशक का नहीं है, परन्तु जब देश में जाग्रति उत्पन्न करने की आवश्यकता पग-पग पर अनुभव की जा रही हो तो थोथी कलात्मकता से काम नहीं चलता। इस दोष के कारण औसत दर्जे के पाठक को उनके उपन्यास निरुद्देश्य से मालूम होते हैं।

चरित्र-चित्रण में प्रसादजी काफी कुशल हैं। इसमें भी उनका एक अपना निराला दृष्टिकोण है। आदर्श चित्रण वे बहुत ही कम करते हैं। शायद आदर्श की स्थापना में उन्हें अस्वाभाविकता अधिक मालूम होती है, उनके अधिकतर पात्रों में विचारों का द्वन्द्व चलता रहता है, कमजोरी और निर्बल हृदयता उन्हें घेरे रहती है इसी कारण वे अपने ध्येय की पूर्ति में सफल नहीं होते, मेरी समझ में वे व्यक्तिवादी अधिक हैं। उनके अधिकतर पात्र, याने वे जिनके साथ उनकी सहानुभूति रहती है, और जिन्हें वे विशद रूप से चित्रित करते हैं, देश-हित और समाज-हित की बात नहीं सोचते, उनके हृदय की चार शक्तियों अर्थात मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार में कभी समझौता नहीं हो पाता, फल-स्वरूप वे अपने विचारों को क्रियात्मक रूप नहीं दे पाते। इन पात्रों की अपने आप में व्यस्तता ही इनके पतन का कारण बनी है।

प्रसादजी द्वारा चित्रित चरित्रों में 'कंकाल' के गोस्वामी कृष्णशरण और 'तितली' के रामनाथ आदर्श चरित्र हैं। ऐसे जिन्हें बिल्कुल बेलाग कहा जा सकता है, परन्तु इन दोनों चरित्रों में भी क्रियात्मकता की कमी है। वे उपदेश अच्छा देते हैं, परन्तु

करके बहुत कम दिखलाते हैं, गोस्वामीजी कहते हैं 'मुझे व्यक्तिगत पवित्रता के उद्योग में विश्वास है, मैंने उसी को रखकर तुम्हें (सेवा धर्म की ओर) प्रेरित किया था, मैं यह न स्वीकार करूँगा कि वह भी मुझे न करना चाहिए था, किन्तु, जो कुछ कर चुका वह लौटाया नहीं जा सकता—तो फिर करो जो तुम लोगों की इच्छा।' यह विचार गोस्वामीजी ने उस समय प्रकट किये हैं जब निरंजन और मंगल भारत-संघ की स्थापना करना चाहते थे जिसका उद्देश्य पतितों का उद्धार करना था। व्यक्ति अपनी निजी उन्नति करता रहे यह अच्छा है लेकिन यदि उसकी संचित शक्ति से दूसरों को भला न हुआ तो वह किस मतलब की? फिर भी रामनाथ और गोस्वामीजी के चरित्रों में आधुनिक युग की हिन्दू विचारधारा मिलती है। वे अपने उन जीवों को सहारा देने के पक्ष में हैं जिनका पुरानी रूढ़ियों को माननेवाला समाज बहिष्कार करता है। गोस्वामीजी वर्णव्यवस्था और जाति भेद को भी नहीं मानते। वे मंगल (हिन्दू क्षत्री) और गाला (गुजरा और मुगलानी की सन्तान) के विवाह के आचार्य बनते हैं। गोस्वामीजी के आश्रम में मंगल और वह तारा जिनका सम्बन्ध रह चुका था, इतने दिन साथ रहे, परन्तु वे उन्हें समझ न पाये और उन्होंने मंगल का एक और विवाह करा दिया।

मंगल (कंकाल) और इन्द्रदेव (तितली) में विचारों का साम्य दिखलाई पड़ता है। दोनों ही के विचार ऐसे उच्च हैं जो किसी सर्वश्रेष्ठ और जीवन में कुछ कर दिखलानेवाले मनुष्य के होने चाहिए, परन्तु उनमें सच्ची लगन की कमी है जिससे वे अपने सामने पड़नेवाली मुश्किलों को उखाड़कर नहीं फेंक सकते। मंगल में जो चीज़ समाज-भय है इन्द्रदेव में वही चीज़ दूसरों का ध्यान और लोकलाज बनकर आई है। इन्द्रदेव अनेकों चीज़ों का विरोध नहीं करते और उन्हें चलने देते हैं जिन्हें वे बुरा समझते हैं, इसी कारण कि घर में कलह न हो। समाज-भय का मंगल पर ऐसा आतंक छाया है कि वह उसी के कारण पतन के गड्ढे में गिरता ही चला जाता है। इन दोनों के चरित्रों और उनके अन्तर में स्थित सद्वृत्तियों को देखकर यह समझा जाता है कि वे संसार में कुछ कर दिखलाने योग्य थे परन्तु दैव उनके सम्मुख सदैव ऐसी बाधाएँ उपस्थित करता रहता है कि वे कुछ के कुछ हो जाते हैं। विजय की भी कुछ ऐसी हालत है। वह एक बुद्धिमान लड़का है, परन्तु लाड़-प्यार के कारण बिगड़ गया है, अपनी माता और निरंजन के प्रति उसे घृणा होती है क्योंकि उसे उनके चरित्र पर शंका हो जाती है फिर भी वे दोनों जिस भाँति पूजन और कीर्तन में लगे रहते हैं यह बात विजय के हृदय में सारी सामाजिक रीतियों के विरुद्ध विद्रोह पैदा कर देती है और उसमें नास्तिकता घर करने लगती है, यमुना से वह प्रेम करने लगता है परन्तु यमुना उसे झिड़कती ही रहती है, वह उसके लिए सब कुछ त्याग करती है परन्तु प्रेम का पात्र उसे नहीं जनाती, क्योंकि पुरुषों के प्रेम का अनुभव वह कर चुकी है, यह सब जीवन के कटु अनुभव विजय को अकर्मण्य बना देते हैं। निरञ्जन और किशोरी का चरित्र खूब एक साथ चलता है, निरञ्जन ने साधना से सिद्धि प्राप्त की है परन्तु संसार एक बार फिर उसे आकर्षित करता है, और ऐसा कि वह गिरता ही जाता है, निरञ्जन का चरित्र आधुनिक साधुओं का टिपिकल चरित्र है, इसका और अधिक विकृत रूप 'तितली' के महन्त हैं जो राजो से बलात्कार करना चाहता है, और मधुबन के हाथों मारा

जाता है, मधुवन के विषय में कहा ही जा चुका है कि प्रसादजी ने उसके जीवन द्वारा यह दिखलाया है कि यदि कोई व्यक्ति व्यर्थ की खुशामद नहीं करता और आत्मभिमान का पालन-करते हुए अपना जीवन व्यतीत करना चाहता है तो लोग उसे किस प्रकार सताते हैं। संसार में ऐसे मौके पड़ते हैं कि तुम पर अन्याय होगा पर तुम्हें जबान से उफ़ न निकालनी होगी और यदि उसके विरुद्ध बोलने का साहस करोगे तो जीवन उसी भाँति मिट्टी में मिल जायगा जैसे मधुबन का मिल गया।

'तितली' के अन्य पुरुष-पात्रों में तहसीलदार, श्यामलाल, चौबे इत्यादि हैं, ये सब समाज के शोषक और दुराचारी हैं और किसी सीमा तक उस वर्ग का प्रतिनिधित्व अच्छा करते हैं जिसमें वे हैं।

नारी-चरित्र-चित्रण में प्रसादजी अधिक सिद्धहस्त हैं। अपने स्त्री-पात्र से वे कहलाते हैं—नारी जाति का निर्माण विधाता की एक झुँझलाहट है, उससे संसार भर के पुरुष कुछ लेना चाहते हैं, दूसरी जगह—स्त्री का हृदय प्रेम का रंगमंच है।... केवल उस जली हुई राख को उठा कर अलाउद्दीन के सदृश बिखेर देना ही तो जानते हैं।

तारा और तितली का चरित्र प्रसादजी की बहुत ही सुन्दर सृष्टि है। वे सच्ची भारतीय स्त्रियाँ हैं जो त्याग और बलिदान करना जानती हैं। संसार के बड़े से बड़े कष्ट उन्हें अपने धर्म से विचलित नहीं कर सकते, किसी एक के नाम पर जिससे मिलन की कभी जीवन में सम्भावना नहीं है, वे अपना जीवन व्यतीत कर देती हैं। तारा ने केवल एक बार मंगल से प्रेम किया है और फिर कभी किसी को जीवन में उस रूप में वह नहीं आने देती। पुरुष जाति की कठोरता और धोखेबाज़ी का परिचय उसे अच्छा मिलता है। परन्तु उससे वह यही शिक्षा लेती है कि कभी उनके प्रलोभनों में नहीं पड़नी। परन्तु विजय के लिए त्याग करने में वह फिर भी नहीं चूकती। तितली तारा से शिक्षित और सुसंस्कृत है इसीलिए वह निस्सहाय होने पर उससे अधिक सन्मान-पूर्वक जीवन व्यतीत करती है। वह सच्ची पतिव्रता है। पति पर उसे शक होता है परन्तु किसी दूसरे की ओर कभी आँख उठाकर भी वह नहीं देखती। शैला के चरित्र में प्रसादजी ने भारतीय रमणी के गुणों का स्थापित करने का प्रयत्न किया है, परन्तु उसमें स्वाभाविकता की कमी नहीं है, वह तितली से कहती है—'मैं तुम्हारी तरह का दान देना नहीं सीख सकी। मैं जैसे कुछ और उपकरणों से बनी हूँ।'

स्त्री-जाति पर पुरुष किस प्रकार अत्याचार करता है अक्सर जान-बूझकर और कभी कभी अनजान अवस्था में, फिर भी स्त्रियाँ कितनी सहनशील हैं यही प्रसादजी ने अपने स्त्री पात्रों के चित्रण में दिखलाया है।

प्रसादजी के चरित्र-चित्रण का आन्तरिक सिद्धान्त यह है कि वे यह दिखलाना चाहते हैं कि वे व्यक्ति जिन्हें समाज घृणा की दृष्टि से देखता है उनमें भी बड़ी विशाल हृदयता और उच्चता होती है। और इसके ठीक विरुद्ध वे व्यक्ति जिनके चरणों पर समाज अपनी श्रद्धांजलि चढ़ाता है, महत्ता का आडम्बर रचते हुए घृणित पापों के भागी होते हैं। प्रसादजी की दृष्टि में मनुष्यमात्र कमजोरी का घर है, और उनके अधिकतर चरित्रों की बाह्य रेखा यही होती है।

प्रसादजी की भाषा सदैव साफ-सुथरी हिन्दी रहती है, उसमें उर्दू के व्याकरण द्वारा परिचालित वाक्य कभी नहीं मिलते। परन्तु वे उर्दू के शब्दों का प्रयोग कभी नहीं करते, चाहे संस्कृत के कठिन से कठिन शब्दों का प्रयोग कर लें। फिर भी उपन्यासों में उतनी संस्कृत शब्दावली की भरमार नहीं है जैसी उनके नाटकों अथवा कहानियों में पाई जाती है। इसका कारण शायद यही है कि इन दोनों में वर्त्तमान समाज का ही चित्रण है और उनके पात्र हम लोगों के बीच के जीते-जागते व्यक्ति हैं। कथोपकथन लिखने में भी प्रसादजी ने अपने उपन्यासों में उतनी अस्वाभाविकता नहीं आने दी है जितनी कि उनकी कहानियों में आ जाती है। उदाहरणत: वार्तालाप की स्वाभाविकता इस स्थान में काफी दिखलाई पड़ती है :

उसने (रामजस) युवकों की-सी चपलता से आगे बढ़कर कहा—सरकार हम लोग ठहरे देहाती ; पहलवानी क्या जानें। पर नत्थू से लड़ने को तो मैं तैयार हूँ।

सब लोग चौंक कर रामजस को देखने लगे। दाँव-पेंच बन्द करके रामसिंह ने भी रामजस को देखा, वह हँस पड़ा।

'जाओ, खेत में कुदाल चलाओ लड़के !' रामसिंह ने व्यंग म कहा।

मधुबन से अब न रहा गाया। उसने कहा—पहलवान साहब, खेतों का अन्न खाकर ही तो तुम कुश्ती लड़ते हो।

'पसेरी भर अन्न खाकर कुश्ती नहीं लड़ी जाती भाई। सरकार लोगों के साथ माल चाब कर यह कसाले का काम किया जाता है। दूसरे पूत से हाथ मिलाना, हाड़ से हाड़ लगाना, दिल्लगी नहीं है।

'मैं तो ऐसा ही समझता हूँ।'

'तो फिर आज आ जा न मेरे यार, तू भी यह दिल्लगी देख।'

रामसिंह के इतना कहते ही मधुबन सचमुच कुरता उतार, धोती फेंककर अखाड़े में कूद पड़ा।

अन्तर्द्वन्द्व इस उपन्यास में खूब दिखलाया जाता है। पात्रों के अन्तरतम में कैसी-कैसी भावनाएँ उठती रहती हैं, उनका लेखक बड़ी सूक्ष्मता और सफलता से चित्रण करता है।

वह सोचती थी—ऐसे भगवान भी बाल्यकाल में अपनी माता से अलग कर दिये गये थे। उसका हृदय व्याकुल हो उठा। वह विस्मृत हो गई कि उसे शान्ति की आवश्यकता है। डेढ़ सप्ताह से अपने हृदय के टुकड़े के लिए वह मचल उठी—वह अब कहाँ है ? क्या जीवित है ? उसका पालन कौन करता होगा ? वह जियेगा अवश्य ; ऐसे बिना यत्न के बालक जीते हैं—इसका तो इतना बड़ा प्रमाण मिल गया है। हाँ, और वह नर-रत्न होगा, महान होगा। क्षण भर में माता का हृदय मंगल-कामना से भर उठा।

प्रसादजी के उपन्यासों में एक यह दोष है कि उनके अधिकतर पात्र दार्शनिक होते हैं, विशेषत: 'कंकाल' में। कोई भी व्यक्ति बातचीत करते-करते संसार की तुच्छता और उसका विश्लेषण ऐसी कुशलता से कर देगा जो अच्छे-अच्छे पढ़े-लिखे आदमी के लिए सम्भव न हो। यह उपन्यासकार की कमजोरी है कि वह अपने विचारों को प्रकट

करने को इतना उतावला हो जाय कि उन्हें पात्र-कुपात्र का विचार किये बिना ही किसी से कहला दे। 'तितली' में यह बात उतनी अधिक नहीं है।

प्रकृति-निरीक्षण में प्रसादजी बहुत ही सफल हैं, कवि होने के नाते यह उनका अधिकार ही सा है।

'रजनी के बालों से बिखरे हुए मोती बटोरने के लिए प्राची के प्रांगण में उषा आई और इधर यमुना उपवन में फूल चुनने के लिए पहुँची। प्रभात की फीकी चाँदनी में बचे हुए दो एक नक्षत्र अपने को दक्षिण पवन के झोंकों में विलीन कर देना चाहते हैं। कुन्द के फूल थाले के श्यामल अञ्चल पर कसीदा बनाने लगे थे। गंगा के मुक्त वक्षस्थल पर से घूमती हुई, मन्दिरों के खुलने की, घण्टों की प्रतिध्वनि प्रभात की शांत निस्तब्धता में एक संगीत की झनकार उत्पन्न कर रही थी। अन्धकार और आलोक की सीमा बनी हुई युवती के रूप को अस्त होनेवाला पीला चन्द्रमा और लाली फेंकनेवाली उषा, अभी स्पष्ट न दिखला सकी थी कि वह अपनी डाली, फूलों से भर चुकी और उस कड़ी सर्दी में भी यमुना मालती कुञ्ज की पत्थर की चौकी पर बैठी हुई, दूर से आते हुए शहनाई के मधुर स्वर में अपनी हृदय-तन्त्री मिला रही थी।'

साधारण घरेलू जीवन का चित्रण प्रसादजी ने अच्छा किया है परन्तु ग्रामों के चित्रण में वे उतने सफल नहीं, शायद इसका अनुभव उन्हें उतना अधिक न था। उनकी शैली में जो अवयव हैं वे ऐसे हैं कि सब मिलकर एक बड़ा ही सुन्दर मिश्रण तैयार हुआ है।

प्रसादजी ने जीवन को एक दार्शनिक की भाँति देखा। सबसे पहले तो मनुष्य संसार में कितना शक्तिहीन है यह वे मान लेते हैं, उसमें इतनी सामर्थ्य नहीं कि वह जो कुछ चाहे वही कर डाले। इस सृष्टि के पीछे एक महान शक्ति कार्य किया करती है जो उससे जिस प्रकार चाहती है काम लिया करती है, उसमें उसका कोई वश नहीं चलता। वह होना कुछ और ही चाहता है हो कुछ और ही जाता है। सांसारिक कार्यों को भी वे कुछ महत्व नहीं देते। मनुष्य का देश के प्रति, जाति और समाज के प्रति कुछ कर्तव्य है और उसका उसे पालन करना चाहिये, यह भी वे प्रकट नहीं करते। वे मनुष्य की आत्म-शुद्धि, साधना और शक्ति सचय में विश्वास करते हैं। शायद उनका विचार ऐसा है कि मनुष्य में इतनी सामर्थ्य नहीं कि वह दूसरों की मदद करे। उन्हें उन्नति के पथ पर चलावे, जगत का कल्याण करे, इस सब कार्यों में उसका पैर फिसल जाता है और वह दूसरों की भलाई करना दूर रहा अपनी भलाई करने योग्य भी नहीं रह जाता। समाज की उन्होंने कड़ी आलोचना की है, यद्यपि शब्दों द्वारा नहीं, बल्कि घटनाओं द्वारा। समाज एक ऐसी संस्था हो गई है जिसमें अनेकानेक बुराइयाँ घुस आई हैं फिर भी उसकी सामर्थ्य और शक्ति दिन-प्रति-दिन बढ़ती चली जा रही है और उसका आतंक लोगों पर इतना छा रहा है कि वे उन बुराइयों के विरुद्ध विद्रोह करने का साहस नहीं करते हैं, जो समाज में घुस आई हैं और छिप-छिप कर पाप किया करते हैं। 'कंकाल' और 'तितली' के दृष्टिकोण में काफी बहुत अन्तर है परन्तु 'तितली' में हिन्दुओं को यह शक्ति देते हैं कि वे एक विदेशी महिला को अपने धर्म में मिला लें और एक भ्रान्त परिवार में उसे बहू बनाकर हिला-मिला भी लें। वे आधुनिक जाति-व्यवस्था का भी विरोध करते हैं और मनुष्यमात्र का

हित विश्वबन्धुत्व में देखते हैं। स्त्रियों के प्रति पुरुष जो अन्याय करता है उसके विरुद्ध उन्होंने अपने उपन्यासों में आवाज़ उठाई है।

एक कमी जो मुझे प्रसादजी के इन विचारों में दिखलाई देती है वह यह है कि सारी त्रुटियों के निराकरण का वे कोई उपाय नहीं बतलाते। परिस्थितियों का चित्रण करके वे अलग हट जाते हैं। एक दृष्टिकोणवाले इसे गुण कहेंगे परन्तु हमारे आसपास यदि जितनी चीज़ें हैं उन्हें हम बुरी समझ लें और उनसे नाता तोड़ बैठें तो हम किसी योग्य न रह जायँगे। त्रुटि बतला देना आसान है परन्तु उसे दूर करने का उपाय बतलाना बहुत कठिन कार्य है। कुछ लोग इसे कलाकार का क्षेत्र नहीं मानते परन्तु कला वही है जो मनुष्य को सभ्यता और संस्कृति के मार्ग पर आगे बढ़ने की शक्ति प्रदान करे। प्रसादजी का नियतिवाद भी भारत के इस युग में जब मनुष्य को क्रियात्मकता की शिक्षा देने की आवश्यकता है मनोवांछित नहीं है। समाज में ही रहकर अपने प्रयत्नों से उसे सुधारने की आवश्यकता है परन्तु प्रसादजी गोस्वामी कृष्णशरण के समाज से अलग होकर कुटिया बनाने को आदर्श बतलाते हैं। यह ठीक नहीं है क्योंकि संसार असार और नाशवान हो परन्तु यह कर्मक्षेत्र भी है इसमें मनुष्य अपने और दूसरों के लिए बहुत कुछ कर सकता है।

आधुनिक युग की आवश्यकताओं एवं परिस्थितियों को देखते हुए प्रसादजी के उपन्यास समयानुकूल रचना नहीं कहे जा सकते। उनमें आधुनिक काल की राजनैतिक समस्याओं की ओर दृष्टिपात तक नहीं किया गया जो कि भारतीय व्यक्ति के जीवन को एक नवीन रूप दिये हुए है। प्रेमचन्दजी के उपन्यासों की भाँति उनमें देश के जीवन का उस प्रकार चित्रण नहीं जो उस देश के प्रतिनिधि साहित्य की संज्ञा दी जा सके। दार्शनिकता ने प्रसादजी को जीवन के सच्चे अध्ययन से वंचित कर दिया था और उपन्यास है जीवन-प्रतिबिम्ब, इसी कारण उन्हें उपन्यास लेखन में उतनी सफलता नहीं मिली जितनी मिलनी चाहिए।

प्रसादजी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ नाटककार हैं। आधुनिक युग के श्रेष्ठतम कवियों में उनका स्थान है। कहानी-लेखक की दृष्टि से भी वे एक विशेष प्रकार की कहानियाँ लिखने में काफी सफल हैं और इस नाते हिन्दी साहित्य सदैव उनका आभारी रहेगा, परन्तु उपन्यास लिखने में उनकी अभ्यास की कमी झलकने लगती है। 'कङ्काल' से 'तितली' में वे अधिक सफल हुए। 'ईरावती' (जिसे वे पूरा न कर सके) में उन्होंने फिर ऐतिहासिकता का पल्ला पकड़ा था। आधुनिक युग के चित्रण में उनका मन न जम पाता था क्योंकि उन्हें इसका अनुभव कम था। भारतीय जीवन के भिन्न वर्गों तक उनकी पहुँच न थी, परन्तु उनका ऐतिहासिक अध्ययन बड़ा ही विस्तृत था, यही कारण था कि वे सदैव प्राचीन वातावरण की ओर आकर्षित रहते थे। उनके उपन्यास हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में एक विशेष स्थान रखते हैं, क्योंकि वे अन्तर्द्वन्द्व प्रधान हैं, परन्तु वे इतनी उच्चकोटि के नहीं कि उनकी तुलना हिन्दी के श्रेष्ठ उपन्यासों से की जा सके।

★

देशभक्त—दग़ाबाज

[अनु०—राजनाथ पांडेय]

सन १८०८ ई० के आस-पास की बात है। स्पेन देश के उत्तरी-पश्चिमी भाग में 'गलीशिया' प्रान्त के 'पद्रोन' नामक कस्बे में गर्शिया नाम का एक बूढ़ा अत्तार रहा करता था। वह मेंढक, साँप, बरसाती पानी और इसी तरह की न जाने कितनी चीजें भाग्य बतानेवाले लोगों के हाथ बेचने के लिए अपनी दूकान में रखता। जड़ी-बूटी, अर्क, तेजाब आदि से लेकर शेर के दाँत, साही के काँटे और सुखाई हुई बीरबहूटी तक सैकड़ों-हज़ारों अजूबी चीजों से उसकी दूकान का कोना-कोना पटा रहता। गर्शिया को मनुष्य-जाति से बहुत प्रेम न था इसी कारण वह सदा अविवाहित रहा। उसके पूर्वजों में से किसी एक ने किसी समय एक बड़े भयंकर साँड को 'बुल-फाइट' (बुल = साँड़, फ़ाइट = युद्ध) में एक ही घूसे की मार से धराशायी कर दिया था।* यह बात लोग उस अत्तार के सम्बन्ध में बातें करते समय कहा करते।

जाड़े का मौसिम बीत रहा था फिर भी उस वर्ष की ठंढक कम होती नहीं जान पड़ती थी। कुहरे और घने बादलों से ढँककर आकाश रात में बड़ा भयावना लगने लगता। ऐसे ही समय की एक लोमहर्षण रात की यह घटना है। उस रात 'पद्रोन' के बाज़ार की सभी दूकानें चिराग़ लगते-लगते बन्द हो चुकी थीं। चारों ओर घना अँधेरा अपना साम्राज्य स्थापित किये हुए था। लगभग दस बजे शान्त परिछाईं का एक समूह उस इमारत के सामने जिसमें आज पद्रोन का प्रधान अस्पताल स्थापित है धीरे-धीरे आकर सिमटने लगा। थोड़ी देर बाद आकाश और पृथ्वी की उस रात की कठोरता को भी पराजित करनेवाला वह परिछाईंवाला काला दल गर्शिया अत्तार की दूकान के सामने आकर स्थिर हो गया। गर्शिया की दूकान सात बजे ही बन्द हो चुकी थी और एक-एक खिड़की की सिटकिनी भीतर से उसने स्वयं अपने हाथ से चढ़ाई थी।

'बोलो अब क्या किया जाय?' उन परछाइयों में से एक ने पूछा।

'किसी ने हमें देखा तो है नहीं।' एक दूसरी परिछाईं ने कहा।

'बस अब दरवाजा तोड़ डालना चाहिये।' एक औरत बोल उठी।

'इसके बाद उन सबको मार डाला जाय।' एक दूसरी ने कहा।

'काट डालो बेइमानों को!' एक साथ दस-पन्द्रह आदमी ललकार उठे।

'अगर कहीं मैं इन सबों को अपने घर के अन्दर पा जाता तो कम से कम तीन को तो कुएँ में ही डालकर मार डालता।' फिर किसी ने कहा।

---

* स्पेन देश में किसी समय 'बुल-फाइट' का जिसमें भयानक साँड़ से मनुष्य की लड़ाई हुआ करती थी, बहुत रिवाज था।

'कल शाम को इन कमबख्तों में से एक हमारे घर में घुस आया था। मेरी स्त्री ने उसे भुलावा देकर बैठाया और पीछे से कुल्हाड़ी मारकर उसका सिर काट डाला।'

'पर इस बेहया अत्तार को देखो कि जो फौज हमारी मातृभूमि पर चढ़ाई करके हमारी इज्जत और आजादी लेने के लिए यहाँ डेरा डाले हुए है उसी के अफ़सरों को अपने घर में बुलाकर यह दावत खिला रहा है!'

'सचमुच बड़े आश्चर्य की बात है कि यही गर्शिया अभी एक महीना पहले गाँव का सबसे मशहूर राजभक्त और देशभक्त बना हुआ था। यह किसे मालूम था कि यह इतनी जल्दी गिरगिट की तरह रंग बदल देगा?'

'अरे भाई! यह वक्त की खूबी है। उसने जब यह देखा कि आस-पास के शहरों में फरासीसी फौज पहुँच गई तो वह दुश्मनों की तरफ मिल गया। अभी परसों तक वह 'फरडिनेंड' बादशाह* की फोटो बेचने के लिए अपनी दूकान में रखता था। अब आज सुबह से नेपोलियन की फोटो बेचने लगा है।'

'और एक ही दिन में इसने उन सबों से ऐसी गहरी दोस्ती कर ली कि फरासीसी गारद के सब अफ़सर ऐसी रात में उसके घर आकर दावत खा रहे हैं!'

'अच्छा तो हम लोग भी बच्चू को अभी मजा चखा देंगे! फरासीसी अफ़सरों के सामने इस दग़ाबाज को ही पहले मारा जायगा।'

'अभी ज़रा और सब्र करो। रात अधिक नहीं गई है। थोड़ा समय और बीत जाने दो।' पादरी ने कहा।

'तब तक खूब शराब पीकर वे सब मदहोश भी हो चुके रहेंगे और उनमें से एक को भी जीता वापस नहीं जाने दिया जायगा।' एक बुढ़िया ने कहा।

× × ×

जिस समय ऊपर वर्णन की हुई यह बातचीत अत्तार की दूकान के फाटक के सामने चल रही थी, उस समय गर्शिया और उसके बीस मेहमान घर के भीतर तरह-तरह की रंगरलियाँ कर रहे थे।

गर्शिया पैंतालीस की उम्र पार कर चुका था। वह लम्बा, सूखा हुआ, बदसूरत-सा बेहूदा आदमी था। उसके चेहरे पर हर वक्त साढ़े तीन ही बजा रहता। उसकी आँखें निस्तेज धँसी हुई थीं। आँखों के चारों ओर के गढ़े को देखकर ऐसा लगता जैसे वह चारों ओर निर्जन पहाड़ों के बीच घिरी हुई वह झील हो जो उसमें पैठनेवालों को सदा निराशा, अन्धकार और मृत्यु ही देती है, क्योंकि वह झील उसमें जो कुछ आया सबको अपने गर्भ में धर लेती है और उसकी गहराई की कभी कोई मनुष्य थाह नहीं लगा पाता!

उसने दावत में भोजन की असंख्य स्वाद-पूर्ण सामग्री परोसी थी। शराब की बोतलें सैकड़ों की संख्या में सजाकर रखी हुई थीं। फरासीसी रँगीले जवान मस्त होकर गप्पें ठोंक रहे थे। वे खाते, पीते, सिगरेट का धुआँ उड़ाते थे, और गाते भी जाते थे। उनमें से कोई नेपोलियन की गुप्त प्रेमिकाओं के संबंध में डींग मार रहा था, तो कोई

---

* फरडिनेंड स्पेन के 'अरागान' प्रान्त का राजा था। सन् १४६९ में उसने 'कैसील' की राजकुमारी 'इसाबेला' से विवाह किया था जिसके परिणाम-स्वरूप स्पेन एक राष्ट्र बन सका।

सोलहवें लुई * के क़त्ल की कहानी सुना रहा था। गर्शिया भी उन्हीं के रंग में घुल-मिल रहा था। नेपोलियन की प्रशंसा करते-करते वह ऐसा उत्तेजित हो जाता था कि फरासीसी सिपाही ताली पीट-पीटकर 'शाबाश ! शाबाश !!' ललकार उठते।

एक से एक बढ़कर क़ीमती शराब की बोतलें मेहमानों को पिलाने के लिए खोल-खोलकर स्वयं उनके साथ प्याले के बाद प्याले समाप्त कर चुकने के बाद गर्शिया सुरूर की उमंग में डूब कर बोला—

'दोस्तो ! मैं स्पेन के शाहंशाह के दिल की कसम खाकर कहता हूँ कि हमारे अभागे देश-भाई जो आप लोगों से जंग का मोर्चा ले रहे हैं वह बिल्कुल मूर्खता-पूर्ण और बेमानी है। वे नहीं समझ पाते कि क्रान्ति की ज्योति के अग्रदूत आप लोग स्पेन में किसी स्वार्थ से नहीं आ रहे हैं। सदियों से बेवकूफी के कीचड़ में पड़े हुए स्पेन देश को दुनिया की प्रगति का नया प्रकाश देने के लिए ही आप यहाँ आ रहे हैं ! हमारे अन्ध-विश्वासों को मिटाने, पुराने ढकोसलों को दूर करने और धार्मिक कलह का नाश करने के लिए हमारे देश में आपका आगमन हो रहा है। जिससे आप लोगों द्वारा प्रचार किये जानेवाले सच्चे ज्ञान को जिसका कभी कोई विरोध हो ही नहीं सकता, प्राप्त करके, ईश्वर में विश्वास रखना तथा स्वर्ग-नरक की कल्पना करके धोखा खाना ऐसी-ऐसी जो बातें हैं उन्हें त्यागकर हम अपने जीवन को वास्तव में ऊँचा उठा सकें। पर मूर्खों की समझ में यह सब बातें जल्दी नहीं आतीं। मैं इस भेद को अच्छी तरह समझता हूँ इसीलिए अपने मूर्ख देशवासियों की तरह आप लोगों से घृणा न करके आपका स्वागत करता हूँ। मेरे नगर के मेरे पड़ोसी मुझसे बुरा मानते हैं तो माना करें। भला आज कौन यह नहीं मानेगा कि नेपोलियन एक पैगम्बर है ? कौन इस बात को काट सकेगा कि सम्राट नेपोलियन संसार का सच्चा उद्धारकर्ता और सुधारक है ? तो फिर सम्राट् नेपोलियन ज़िन्दाबाद ! फरासीसी क्रान्ति ज़िन्दाबाद !!

'शाबाश ! शाबाश !! गर्शिया ज़िन्दाबाद !!!' गर्शिया के चुप होकर बैठते ही वे बीसों फरासीसी अफसर एक साथ ही आवेश में आकर बोल उठे। फिर वे सब बोतलें खोलने, उँडेलने, प्याला भरने और उसे खाली करने में लग गये। वे नशे में आकर तरह-तरह की गालियाँ स्पेनवासियों को सुनाने लगे। उनकी गालियाँ सुनकर क्षण भर के लिए गर्शिया की गरदन नीचे झुकी और उसकी आँखें मिच गईं। उसके माथे पर की खिंची झुर्रियों से जान पड़ा जैसे आँखें भीतर ही भीतर उन अथाह झीलों में सदा के लिए डूब गई हों। थोड़ी देर बाद सहसा उसकी गरदन फिर ऊपर उठी और बड़ी संजीदगी के साथ उसने अपना खाली प्याला शराब से भरकर धीरे से होंठ के पास पहुँचाया और उसे एक ही साँस में खाली करके बोला—

'मेरे कुल के पुरनियों में भी एक ऐसा ही बेवकूफ था जिसने एक ही दिन में इटली में एक सौ फरासीसी को तलवार के घाट उतारा था। वह फरासीसियों का वैसा

* सोलहवाँ लुई फ्रांस का शाहंशाह था जिसे फरासीसी राज्य-क्रान्ति में प्रजा ने जनवरी १७९३ ई० में क़त्ल किया था।

प्रेमी नहीं था जैसा मैं हूँ। 'मूरों'* के मुकाबिले में कई लड़ाइयों में उसने असाधारण वीरता दिखलाई थी। उसे राज की ओर से 'नाइट' की उपाधि मिली थी। हमारे एक दूसरे पुरखे ने 'पेविया'† की उस मशहूर लड़ाई में जिसमें फ्रान्स के बादशाह को हम स्पेनवालों ने पकड़कर कैद किया था, बड़ी शूरता दिखलाई थी। फ्रान्स के उस बन्दी बादशाह की तलवार उस दिन से लगभग तीन सौ साल तक मैड्रिड में ही रखी रही जिसे अब कोई एक महीना हुए तुम्हारा वह नानबाई का बेटा 'मुईत' जिसके अधीन तुम सब सैनिक हो मैड्रिड से पैरिस वापस ले गया है!'

इतना कहते-कहते अत्तार कुछ झिझक कर रुक गया क्योंकि उसे जान पड़ा जैसे उन फरासीसियों में से कोई अत्तार का जवाब देना चाह रहा हो। अत्तार ने झट खड़ा होकर अपने रंग-ढंग के रोब से उन्हें अवाक् कर दिया और शराब का प्याला अपनी काँपती हुई उँगलियों से उठाकर बादल की ठनक जैसी आवाज में कहा

'ऐ मेरे मेहमानो! तुम्हारी खुशहाली की कामना में मैं यह प्याला पीता हूँ। मेरा वह पुरखा जिसका मैंने ज़िक्र किया है नरक में अपनी करनी का फल भोगे। वह मनुष्य नहीं पशु था। मेरे लिए तो जैसे शाहंशाह नेपोलियन वैसे ही शाहंशाह फ्रांसिस और वैसे ही उनके प्यारे फरासीसी सैनिक। वे सबके सब मस्त और दीर्घजीवी रहें!'

अत्तार के मुँह से ये शब्द सुनकर वे सब विदेशी सिपाही निहाल होकर एक साथ ही गरज उठे 'दीर्घजीवी हों वे सब!' और यह कहकर सबने अपने-अपने प्याले एक साँस में खाली कर डाले।

उसी समय सड़क में अत्तार के फाटक पर उन्हें शोरगुल सुनाई पड़ा।

'हैं हैं! यह क्या सुन रहे हैं हम?' फरासीसियों ने अत्तार से पूछा। तब अत्तार ने सिर्फ मुसकरा दिया। फिर छन भर बाद वह बोला — वे मुझे मारने के लिए आ रहे हैं!

'कौन?'

'मेरे इस कस्बे के पड़ोसी।'

'क्यों? किस लिए?'

'इसलिए कि मैं फ्रांस का समर्थक हूँ। पिछली कई रातों से वे मेरे घर की घेर-घार कर रहे हैं। पर वे मेरा क्या कुछ बना-बिगाड़ सकते हैं? बस, हमें इससे कोई मतलब नहीं। हमें अपनी मस्ती का सुरूर नहीं तोड़ना है।'

'बिलकुल ठीक। हमें अपनी मौज में कमी नहीं करनी है। वे सब कर क्या लेंगे? हम तो यहाँ हैं ही।'

फिर तो प्यालों से प्यालों को कौन कहे बोतलों से बोतलें टकराने लगीं और नशे में पागल फरासीसी सैनिक 'फर्डिनेंड मुर्दाबाद!' 'नेपोलियन जिन्दाबाद!' के नारे

---

* नवीं सदी में स्पेन में फैलकर शासन करनेवाले मुसलमान विजेता। ग्रनादा उनकी राजधानी थी। 'ग्रनादा' को रानी इसाबेला ने सन् १४९२ में मूरों से छीन लिया था।

† पेविया में सन् १५२५ ई० में स्पेन के बादशाह चार्ल्स और फ्रान्स के बादशाह फ्रान्सिस के बीच युद्ध हुआ था जिसमें फ्रान्स का बादशाह पराजित होकर कैद हुआ था। स्पेनवाले उसे मैड्रिड (स्पेन की राजधानी) कैद करके ले गये थे।

लगाने लगे। गर्शिया समझता था कि उसके मेहमान इतना खा-पीकर ठंढे हो चलेंगे पर उनका शोरगुल अभी बढ़ता ही जा रहा था। तब अत्तार ने मुर्दादिल होकर धीरे से पुकारा—सलीडोनियो !

ये शब्द अत्तार के मुँह से निकलते ही दूर के कमरे के कोने में बैठा ऊँघता हुआ एक देखने में बहुत गरीब दुर्बल नौजवान लड़खड़ाता हुआ दरवाजे के पास आया पर अन्दर आने की उसकी हिम्मत नहीं हुई।

'सलीडोनियो ! कुछ लिखना है। कागज़ और कलमदान ले आओ !' अत्तार ने गम्भीरता के साथ कहा।

सलीडोनियो थोड़ी ही देर बाद कागज वगैरह लेकर सामने आ खड़ा हुआ।

'बैठ जाओ ! कागज में दो खाने खींच डालो। दाहिनी ओर के खाने में 'नाम' और बाईं ओर 'जमा' लिखो।'

सलीडोनियो ने कुछ घबराते हुए कहा—मालिक ! दरवाजे पर एक भीड़ जुटी हुई है। वे लोग चिल्ला-चिल्लाकर, मारेंगे-मारेंगे बक रहे हैं। वे दरवाज़े को तोड़ने की फिकर कर रहे हैं।'

'चुप रहो सलीडोनियो ! फिकर मत करो। बकने दो उन्हें।'

अत्तार की बातें सुनकर फरासीसी अफसर मुसकराये। जैसा मालिक ने कहा था वैसा लिखने के लिए सलीडोनियो ने स्याही में डुबोकर लिखने के लिए कलम को ऊपर उठाया। तब गर्शिया ने अपने मेहमानों को सम्बोधित करके कहा—दोस्तो ! मैं चाहता हूँ कि इस दावत को केवल एक टोस्ट द्वारा सफल बनाने में आप मेरे सहायक हों। टेबुल की 'सीट' (=बैठका) के क्रम से मैं आरम्भ करता हूँ। साथ ही यह भी बताये जायँ कि 'पिरेनीज़'* पार करने के दिन से अब तक आप लोगों ने अलग-अलग कितने स्पेनियों को अपनी तलवार से मौत के घाट उतारा है ! सबसे पहले कप्तान आप ही आरम्भ कीजिये—'

'क्या खूब ! अच्छा खयाल है !' फरासीसियों में से कई ने कहा। फिर कप्तान ने कहा—मैंने यही कोई दस-बारह को मारा होगा। अत्तार ने बड़े तपाक से अपने मुनीम से कहा—दाहिनी ओर के खाने में ११ दर्ज करो ! मुनीम ने दर्ज कर लिया। तब गर्शिया ने कप्तान के बगलवाले अफसर से पूछा—और आपने मिस्टर जूलियन ?

'छः !'

अत्तार बारी-बारी से पूछने लगा और इसी प्रकार एक ने बीस, एक और ने आठ किसी और ने चौदह बतलाया। किसी-किसी ने यह भी कहा कि हम नहीं जानते। अत्तार की आज्ञा के अनुसार उसका मुनीम दाहिनी ओर के खाने में इन संख्याओं को लिखता गया। जब वह लिख चुका तो अत्तार ने फरासीसी अफसरों के सरदार से पूछा—कप्तान ! अब यह तो बतलाओ कि अगर यह लड़ाई कम से कम तीन बरस चली तो आप कितने और स्पेनियों को मारेंगे ?

'यह कैसे कहा जाय ?' कप्तान ने कहा।

* 'पिरेनीज़' फ्रांस और स्पेन की दक्खिनी सीमा का पर्वत।

'एक अन्दाज से ही सही।'

'यही ११ और समझ लो।' कप्तान ने उत्तर दिया।

'बाईं ओर ११ दर्ज करो!' गर्शिया ने अपने मुनीम से कहा और इस नये प्रकार के जमा-खर्च का कुछ भी मतलब न समझने के कारण उसने डरते हुए इसको सुना और बाईं ओर के खाने में ११ लिख दिया। अत्तार ने यही प्रश्न पहलेवाले क्रम से उन फरासीसी सैनिकों से पूछना आरम्भ किया और उनमें से किसी ने १५, किसी ने २०, किसी ने एक सौ और किसी-किसी ने एक हजार तक मदिरा की उमंग में कह डाला। अत्तार ने कहा—सलीडोनियो! इन सब के लिए दस-दस दर्ज कर दो और दोनों के खानों का जोड़ लगाओ।

एक मिनट तक पूर्ण मौनता रही। सलीडोनियो ने हिसाब पूरा किया। तब उसने अत्तार की आज्ञा से जोर से पढ़ा—'नाम' २८५. 'जमा' २००!'

'२८५ मृतक और २०० मौत का परवाना पाये! कुल ४८५. अत्तार ने एक विचित्र भयानक मुद्रा के साथ ये शब्द कहे। उसके इन शब्दों का फरासीसी सैनिकों पर कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि फरासीसी अफसर भय और अचम्भे से एक दूसरे के मुँह की ओर देखने लगे। उधर अत्तार इस हिसाब को पूरा कर एक दूसरा ही हिसाब लगा राहा था। थोड़ी देर बाद वह बोला—मैंने गिन डाला। अब तक हम लोग कुल १०५ बोतलें खाली कर चुके हैं! २१ आदमी के बीच १०५ बोतलें! फी आदमी पाँच बोतल! वाह वाह! वाह वाह!!

उसी समय दरवाजे की किवाड़ें चरचरा उठीं। बेचारा भयभीत मुनीम काँपता हुआ बोला—स्वामी, वे लोग भीतर घुस रहे हैं!

'क्या वक्त है?' अत्तार ने अविचलित भाव से पूछा।

'अभी ११ बजे हैं।' मुनीम ने कहा।

'कुछ परवाह नहीं। आवें वे लोग अन्दर। अब वक्त भी आ गया है! इस कमरे में मृत्यु का प्रवेश होने दो!'

अत्तार की यह बात सुनकर फरासीसी अफसर आपस में फुस-फुसाकर कहने लगे 'कौन सा वक्त आ गया है?' फिर वे कुर्सी पर से उठकर खड़े होने का प्रयास करने लगे। पर शराब के नशे में ऐसे चूर हो रहे थे कि बार-बार कोशिश करने पर भी कुर्सी उनसे छूट नहीं पाती थी। तब उनमें से एक ने वैसे ही बैठे-बैठे झुनमुनाते हुए कहा—फिर आने ही दो उनको। हम लोग अच्छी तरह उनका स्वागत करेंगे!

उधर सदर दरवाजे की किवाड़ों के फटकर गिरते ही निचली मंजिल में दूकान की शीशियों और बोतलों के गिरकर टूटने की आवाज आने लगी और थोड़ी ही देर बाद भोजन करने के जिस बड़े कमरे में ये लोग थे वहाँ तक यह ललकार कि 'फरासीसियों का स्वागत करनेवालों का नाश हो!' सुनाई पड़ने लगी। गर्शिया यह ललकार सुनते ही उठकर खड़ा हुआ। उसने सामने के टेबुल को सहारे के लिए कसकर पकड़ा जिससे वह फिर कुर्सी पर न गिर जाये। चेहरे पर खुशी का भाव दिखाते हुए उसने छन भर अपने दायें-बायें देखा और अपने होठों पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद की मुसकान का दर्शन दिया। मृत्यु के फन्दे में पड़कर कंपन होते हुए भी विजय के उल्लास के कारण उसके

रूखे मुख-मंडल पर दिव्य सौंदर्य की प्रभा छिटक रही थी। वीणा के विहाग-राग के तारों की मिट-मिटकर भी न मरनेवाली गति की भाँति कभी-कभी टूट जाते हुए किन्तु गंभीर स्वर में वह बोला—

'फ्रांस के रहनेवाले हमारे आज के मेहमानो! सोचो तो सही। अगर तुम में से एक को या सबको अपने २०५ देशवासियों की हत्या किये हुए और फिर २०० देश-भाइयों को मारने के लिए तैयार हुए शत्रुओं को मौत के घाट उतार कर मातृ-भूमि का बदला चुकाने का मौका मिल जाय तो क्या तुम अपनी मातृ-भूमि की इस सेवा में अपना प्राण देकर भी यह काम करने में झिझकोगे? क्या इस अवसर पर मृत्यु का आलिंगन करने में तुम क्षण भर भी विलम्ब करोगे?'

'इसका क्या मतलब?' फरासीसी सरदारों में से कई ने गर्शिया से पूछा। उसी समय सेल्लीडानियो ने कहा—स्वामी! बदमाश लोग घर में घुस आये हैं!

'आ जाने दो सबको भीतर! दर्वाजा खोल दो! वे लोग भी आकर देख लें कि 'पेविया' के वीरों के खानदान का मेरा ऐसा बुजदिल भी किस बहादुरी से प्राण तजता है!' गर्शिया ने अपनी शक्ति भर गरज कर कहा। उसके इन शब्दों से फ्रांस के उन बीसों सैनिकों के हृदय में कंपन होने लगा। उन्हें अब विश्वास हो गया कि जिस मृत्यु का गर्शिया ने थोड़ी देर पहले जिक्र किया था वह इन बलवाइयों के रूप में कमरे में आना ही चाहती है! वे अपनी तलवार उठाकर उठ खड़े होने के लिए शक्ति भर उद्योग करने लगे पर उठना तो दूर था तलवार की मूँठ तक उनसे उठ नहीं रही थी। जान पड़ता था जैसे किसी अज्ञात आकर्षण-शक्ति ने टेबुल के लकड़ी के पल्ले से तलवार की मूँट के लोहे को जोड़ दिया हो! इसी समय लाठी, छुरा, कटार, गँड़ासा, पिस्तौल आदि लिये हुए लगभग पचास आदमी 'मार! मार!!' के नारे लगाते कमरे की तरफ बढ़ आये। उनमें से सबसे आगे जो औरत थी चिल्लाकर बोली—बस इनमें से एक को भी जिन्दा नहीं छोड़ा जाय!

'खबरदार!' गर्शिया ने झपट कर कहा और अपने चारों ओर के लोगों की ओर घूरकर देखा। इस समय उसकी दृष्टि में एक ऐसा भयपूर्ण अजनबीपन और रोब था जिसके कारण सबके सब लोग सन्न हो गये। जो लोग भीतर घुस आये थे उन्होंने यह कल्पना नहीं की थी कि जिन पर वे हमला करने जा रहे हैं वे ऐसे शिथिल और हतबुद्धि दिखाई देंगे। इस दशा का कारण न समझ सकने से वे स्वयं भी हतबुद्धि हो रहे थे। तब गर्शिया ने उनको सम्बोधन कर फँसती हुई आवाज में इस प्रकार कहना आरम्भ किया:

'मेरे प्यारे देशवासियो! आपको अपनी कटार चमकाने की कुछ जरूरत नहीं है। मातृ-भूमि के लिए जो आप सब लोग मिलकर करने आये हुए हैं वह मैंने अकेले ही कर डाला है। मैंने फरासीसियों से सहानुभूति दिखाने का केवल स्वांग बना रखा था। पर मैंने जो किया है उसे तुम सब लोग देख लो। मातृभूमि पर आक्रमण करनेवाले फरासीसियों के एक-दो नहीं इन बीस-बीस अफसरों को मैंने मिनटों में पार लगा दिया है। अब तुम लोग क्या हाथ लगाते हो इन नाचीजों पर! इन सबको विष-पान करा दिया गया है।'

अत्तार की यह बात समाप्त होते ही क्षणभर के लिए मृत्यु के उस शान्त तथा

भयंकर दृश्य को देखकर वे सब के सब थर्रा उठे। फिर तत्काल उनके हृदय में गर्शिया के प्रति श्रद्धा के भाव उमड़ उठे। एक स्वर से वे चिल्ला उठे—वाह रे बहादुर गर्शिया माई के लाल!!' गर्शिया ने अपने मुनीम से कहा—सेलीडोनियो! दूकान की अफ़ीम सब बिक गई है। कल सबेरे ही 'करूना' × से मँगाने के लिए एक आदमी भेजना!' बेचारे के यही अन्तिम शब्द थे। बात पूरी होते-होते उसके पैर झुक गये और धप् से वह ज़मीन पर गिर पड़ा। तब उसके देश-भाइयों को एकाएक यह ज्ञात हुआ कि उन फ़रासीसी अफ़सरों को विश्वास के साथ ज़हर पिलाने में स्वयं गर्शिया को भी ज़हर पी लेना पड़ा था और उन्हीं के साथ-साथ वह भी अपने जीवन की अन्तिम घड़ी बिता रहा था।

ज़मीन पर गिरते ही उस भीड़ में जो स्त्रियाँ थीं गर्शिया के पास दौड़ गईं और उन्होंने उसकी झुकी हुई गरदन को अपनी गोदी में भर लिया और पुरुष समीप के टेबिलों पर की तमाम मोमबत्तियों को उठाकर उसके बुझते हुए मुखमण्डल को प्रकाशित करने लगे! उन बीस अभागे अफ़सरों में से कुछ जो मौत की फाँस में फँसे अपनी अन्तिम साँस छटपटा कर छोड़ चुके थे टेबुल पर पसरे हुए अपने हाथ में तलवार की मूँठ जकड़े सिर झुकाये शान्त पड़े थे। बाक़ी रह-रहकर भद् से कुर्सी पर से ज़मीन पर गिरते जाते थे। ऐसी प्रत्येक 'धप्' की आवाज़ पर गर्शिया के प्राण-रहित होते हुए चेहरे पर मुसकान की एक रेखा दौड़ जाती थी। फिर कुछ ही क्षण बाद उस देश-भक्त की पवित्र आत्मा अपने देशवासियों को शोकाकुल छोड़ स्वर्ग को सिधार गई।

[एक स्पेनिश कहानी का रूपान्तर]

★

× करूना एक नगर का नाम है।

हमारे आलोचक

●

[अंचल]

आलोचना रहस्य और उलझन की सृष्टि न करके यथार्थ को जन्म देती है। मानवता कला और साहित्य की ऊँची, और हो सके तो सर्वकालीन और सर्वदेशीय मान्यताओं के दृढ़ पहलू की वह जीवित प्रतीक कही जा सकती है। अतीत की घिसी और जर्जरित परिष्कृतियों को ठुकराकर वह नूतन और प्रगति की प्राण-प्रतिष्ठा करती है। किसी भी प्रगतिशील साहित्य की आलोचना के इतिहास को देखकर यह बात समझी जा सकती है कि वह साहित्य की भाँति ही मानवीय संस्कार पर जोर देती है और केवल छायात्मक सौन्दर्य निर्देशों पर अपनी सारी शक्ति नहीं केन्द्रित कर देती। जीवन और जागृति के विशाल क्षितिज उसके सम्मुख खुलते हैं और सबके जीवित रहने और सुखपूर्वक जीवित रहने का मूलतन्त्र साहित्य के भीतर से मिलने की उसकी माँग होती है। इसलिए कोई भी कलाकार चाहे वह कितने अतुलनीय ढंग से अवास्तविकता को जन्म देता हो कभी आलोचना द्वारा अपने गलत ढंग पर आगे बढ़ने के लिए उत्साहित नहीं किया जाता। इसलिए आज भी आलोचना का मनुष्य के सामाजिक सांस्कृतिक (संकीर्ण अर्थ में minority culture नहीं) एवं बौद्धिक विकास और परिष्कार और साहित्य के उस उद्देश्य की पूर्ति की माँग में एक ऊँचा और गम्भीर 'रोल' है। परन्तु छायावादी कविता के उन्नयन के साथ-साथ एक छायावादी आलोचना की लाइन हमारे यहाँ बनी जो एक हलचल पूर्ण घटना होते हुए भी एक पैराडाक्स, अनबूझ और दुरूह बनी रही। सृष्टि की प्रेरणा देते हुए भी उसने मानवीय उत्क्रान्ति पर जोर नहीं दिया। उसे सामने से हटाये रखा। वैज्ञानिक होने के नाते भावनावाद की अतिशयता का उसने खुलकर विरोध नहीं किया। कारण उन आलोचकों का अस्तित्व ही भावनावादी शब्दों, वाक्यजालों और वर्णनों में सुरक्षित था। मानवता से जो एक सामूहिक बोध का संकेत होता है उससे वह बचती रही और इसीलिए छायावादी कविता की भाँति वह मानववादिनी नहीं हो पाई। यह मानते हुए भी कि जीवन भावनाओं से पृथक् नहीं है वह संपूर्ण में भावना और केवल भावना नहीं है। फिर वह भावना जो वाणी में शक्ति, तीव्रता और लक्ष्य की प्रखरता नहीं देती—जो अतीत के साथ लिपटी रहकर भी वर्तमान विश्व की अटूट और अखंड विषमताओं के युद्ध को जीतने की आस्था नहीं उत्पन्न करती, बेमानी है—जीवन से भगाव है।

तो आलोचना से प्रत्येक प्रगतिशील साहित्य यह माँग करता है कि वह नये-नये मान दे और जीवन की समस्याओं के प्रति (यहाँ आध्यात्मिक समस्याओं से मतलब नहीं क्योंकि वह जीवन की समस्यायें नहीं जीवन में निषेध का प्रचार है) नित नई सुलझन से युक्त दृष्टिकोण उपस्थित करे, इन्हीं कसौटियों पर साहित्य को कसे और नवीन प्रतिभा

को भविष्य की अपरिमित संभावनाओं के स्रोत की ओर उन्मुख करे। विपरीत उससे जो आलोचना साहित्य और कला आन्दोलनों में आते हुए संघर्ष को तीव्र और तिरस्कार-भेदी दृष्टि से देखती है और जीवन की प्रत्येक राह को साहित्य के लिए खुली नहीं मानती वह ग़लत है और जीवन के प्रति उसकी सारी समीपता कठमुल्लापन की ही परिचायक है। वह बेमानी है। इसलिए जागरूक जीवन और प्रगतिशील साहित्य की भाँति आलोचना का भी एक मिशन और विज़न होता है। साथ ही वह मौलिकता में भी एक स्टैण्डर्ड की रक्षा करती है। शेक्सपियर के एक आलोचक ने लिखा है। 'He is more original than his originals' आलोचना भी शायद अपने में मौलिकता का यही मापदण्ड रखती है।

यदि हम थीम की बात जाने दें तो भी प्रवाहवान साहित्य में व्यक्तीकरण के ढंग और स्वरूप बदलते रहते हैं। भारतेन्दु-कालीन कविता से द्विवेदी-कालीन कविता तक हम यह परिवर्तन स्पष्ट देख लेते हैं। द्विवेदी-काल से आगे बढ़ने पर छायावादी युग तक आते-आते तो काफी बड़ा परिवर्तन हो जाता है—रेखाओं, रंगों और परिणति तीनों में और उसके आगे बढ़कर जब कविता यथार्थ की ओर उन्मुख हुई तो कला के मान और अभिव्यंजना शैली दोनों बदलीं। और आज जब व्यक्तिवाद और अहंवाद के दायरे से निकलकर हिन्दी कविता बहिर्ज्योति के प्रकाश और कर्मण्यता की कठोर दुनिया में आ गई है (भट्टजी की रिफ्यूजी या रामविलास की कुछ कविताओं तक) और कविता में जीवन की अनिश्चितता, अस्थिरता और अव्यवस्था, असंगति, कशमकश का सच्चा खाका खिंचने लगा है—उस जीवन के चटकीले रंगों में जिसे पूँजीवाद के रक्त-स्नात पंजों में जकड़ा हुआ आज का जन-साधारण जी रहा है, उस समय अलङ्कारों के पाण्डित्य, finer graces के शृङ्गार और अन्य छायावादी मानों पर उसे कैसे कसा जा सकता है। इससे इतर छायावादी आलोचना शैली जो छायावादी कविता की भाँति अपनी मौत आप ही मर रही है कैसे उस कविता को परख सकेगी जो रहस्यवाद और जीवन से मुखमोड़ की प्रवृत्ति को ठुकराकर जाति और व्यक्ति और समाज के मूलगत जीवन को देखने का यत्न कर रही है और मनुष्यता की कल्याणकारी भावनाओं की प्रतिष्ठा करती है? इसलिए जो आलोचक लारेन्स के एक पात्र बर्किन की तरह आलोचना में केवल home instinct (जो उसी के शब्दों में एक कायरता की प्रवृत्ति है) लेकर कविता की आलोचना करते हैं वे ग़लत हैं।

गुण-दोष ही आलोचना का अन्त नहीं है। जो आलोचना गुण-दोष-विवेचन से आगे बढ़कर रचयिता के मानस का विश्लेषण नहीं करती (केवल फ्रायडियन नहीं) वह लगभग निःस्सार है। कविता मानस में इच्छा के उदय की प्रतिक्रिया होती है और उस इच्छा की पूर्ति का जो स्वरूप कवि सामने रखता है वह प्रकारान्तर से बलप्रद—स्फूर्तिवादी है या नकारात्मक और ठंढा करनेवाला यह एक जरूरी समीक्षा है। यह हिन्दी के सारसमृद्ध कवियों का दुर्भाग्य ही है कि उनमें आलोचक अब भी 'रिस्ट' में घुसने की चेष्टा नहीं करते—प्रायः कम ही करते हैं—दो-तीन को छोड़कर। वे अपनी लफ्फाजी और ऊहापोह में ही तन्मय हो जाते हैं। नाम लेना यहाँ अभीष्ट नहीं है। परन्तु इसे हिन्दी कविता का दुर्भाग्य तो कहा ही जायगा। बारम्बार जिस आलोचना से पाठक रचना के

आगे रचयिता के मानस की गठन, उसके कनविक्शन्स की गहराई और दृढ़ता का अन्दाज़ न लगा सके—उसकी मानसिक शक्ति और तेज की माप न कर सके वह क्या अर्थ रखती है ? जो आलोचना बुनियादी तत्वों की पकड़ में जितनी प्रौढ़ एवं पुष्ट होगी उतनी ही वह कवि, पाठक दोनों के लिए हितकारी होगी।

आलोचना में नये मूल्यांकन की माँग आज नई नहीं है। कविता में समय-समय पर जो नये-नये प्रवाह और धाराएँ आती हैं वे नई-नई चेतनाएँ और जीवन एवं जगत के प्रति एक तीखी सप्रश्नता और तत्वनिष्ठा लाती हैं। मानव अस्तित्व में संघर्ष का प्रश्न जिनमे व्यक्त होता है—ज्ञान की उन्हीं क्रियाओं को लेकर आज हमारी चिन्त-धाराएँ चल रही हैं। जब मनुष्य का प्रकृति के साथ संघर्ष था, उस समय भी काव्य सर्वसाधारण के जीवन के साथ विजड़ित था। उस समय के नृत्य और काव्यगीतों में उसका स्पष्ट स्वर सुन पड़ता है। मानव और प्रकृति के उस आदिकाल के संघर्ष के जो प्रतिबिंब विश्व-काव्य में पड़े वे आज भी धुँधले नहीं पड़े। आधुनिक वाणिज्य-युग के पहले तक कविता और जनता का यह सम्पर्क बना रहा। परन्तु बाद में कविता की अवनति होती गई। ऐसी दशा में आलोचक का क्या यह कर्तव्य नहीं हो जाता कि वह कविता के पुनर्जीवन की समस्या साहित्य में उत्पन्न करे ? यन्त्र-युग में कवि और पाठकों का योग न रहने से जो कवियों की छन्द-शैली सूक्ष्म से सूक्ष्म और जटिल से जटिल तक होती गई उससे त्राण दिलावे ? आज सभी भाषाओं में काव्य की ऐसी ही गति क्या नहीं है ? छन्द की सहज सचेतनता चली जाने से जो गद्यकविता की ओर अत्यधिक झुकाव हो चला है वह क्या साधारण पाठक को कविता से और दूर नहीं खींच ले जाता ? तो क्या आलोचक का यह कर्तव्य नहीं है कि जनसाधारण की अवज्ञा के प्रति अभिमानी और स्वभाव से अहंवादी कवि की इस प्रतिक्रिया को नूतन ऊर्जवसित रूप देने पर विवश करे ? जिन थोड़े से शब्दों से घिरी आज की कविता चल रही है और वर्तमान जीवन से ऊब कर मुरदा विद्रोही स्वर में जैसे उत्पीड़न और शोषण के प्रति रोष और कभी-कभी उसके शिकारों के प्रति सहानुभूति के गीत गाये जा रहे हैं उनमें कब कहाँ से क्रान्ति के उपादानों का संगठन होगा यह तो आलोचक को ही बताना पड़ेगा। यह सब क्या हिन्दी में हो रहा है ?

हमारे आलोचकों ने हमारा उपकार कम अपकार ही अधिक किया है। पूँजीवाद ने जहाँ एक ओर हमारे राजनैतिक जीवन को विकृत कर दिया है वहाँ साहित्य में भी हमें ईमानदारी और सचाई से वंचित कर दिया है। यह सत्य है कि कवि एकदम अनुभूति और भावना में नहीं बहता। आज वह नारी की आसक्ति के गीत गाता है—तो कल सरमायादारी के ख़िलाफ़ विद्रोह का झंडा भी खड़ा कर सकता है—करता है। परन्तु हमारी आलोचना में केवल कला और साहित्य के—कविता में केवल उसी अंग विशेष का 'नोटिस' लिया जाता है जिसमें कुलपतिशाही के गीत गाये जाते हैं। मानव सम्बन्धों को नए सिरे पर क़ायम करनेवाली जो कविता आ रही है उसे कब देखा जाता है ? समाजवादी निर्माण-कार्य के उन्माद की जो रचनात्मक ग्रहणशीलता है वह कविता में आ गई, पर आलोचना में अभी कहाँ आई।

यही नहीं इतने वैचारिक और सैद्धान्तिक मुग़ालतों की सृष्टि की जाती है

कि वस्तु और आत्मगत शक्तियों की ओर दृष्टि ही नहीं जाती। आलोचना के लिए कविता का ऐतिहासिक पहलू लेना तो दूर रहा उसे सामाजिक उन्नति का मानवीय तरीका और सामाजिक संघर्षों या आशाओं और उनकी पूर्ति और असफलताओं के इजहार एवं सामाजिक प्रयोगों के नये उपायों के—जन जागृति के सर्वजनीन प्रयत्नों के गायन का अवलोकन भी नहीं मानती। यहीं पर इतिहास का दृष्टिकोण खो जाता है। मार्क्स-वाद का विद्यार्थी यहाँ भी एक नया शिक्षक और रहनुमा साबित होता है। कविता आखिर जीवन की गति का चित्र उसकी प्रगति का आकलन और विजय का मधुर या कटु जैसा भी हो उभार ही तो है।

★

नोबल पुरस्कारविजेता : एफ० द० सिलानपा

●

[जगन्नाथप्रसाद मिश्र]

फिनलैण्ड के लिए इस समय संकटकाल है। भाग्यविपर्य्यय के कारण इस समय वह धुरी-राष्ट्रों के साथ सम्मिलित होकर सोवियत रूस के विरुद्ध संग्राम कर रहा है। राजनीतिक दृष्टि से उसका भविष्य अनिश्चित है। किन्तु भाग्यविपर्य्यय के इस युग में भी उसके लिए गर्व करने के कई ऐसे विषय हैं जिनमें साहित्य का स्थान सर्वप्रथम है। शक्ति, समृद्धि एवं प्रभुता में एक साधारण देश होने पर भी उसने एक ऐसे साहित्य-शिल्पी को उत्पन्न किया है जिसके कारण उसका गौरव स्वदेश की सीमा का अतिक्रमण करके विदेशों में फैल गया। एफ० द० सिलानपा इसी कोटि के लेखक हैं। इन्होंने अपने देश के साहित्य को एक विशेष स्वरूप ही प्रदान नहीं किया है बल्कि उसके भविष्य को और भी गौरवो-ज्ज्वल बनाने के लिए मार्ग निर्देश भी किया है। इनकी कृतियों के फलस्वरूप जिस प्रकार फिनलैण्ड का साहित्य गौरवान्वित हुआ है उसी प्रकार विश्वसाहित्य का भाण्डार भी समृद्ध हुआ है। आप अपने देश के ही नहीं बल्कि वर्तमान युग के एक श्रेष्ठ साहित्यिक हैं।

सिलानपा का जन्म सन् १८८८ ई० में फिनलैण्ड के पश्चिम भाग में हुआ था। इनके पूर्वज कृषिकार्य द्वारा जीविका निर्वाह करते थे। इनका बाल्यजीवन कृषकों के साथ व्यतीत हुआ। बाल्यकाल में प्रकृति के सुरम्य दृश्यों के बीच बाधा-बन्धनहीन जीवन व्यतीत करने और बालसुलभ क्रीड़ा-कौतुक में निरत रहने की सुमधुर स्मृतियों का आभास आपकी रचनाओं में स्थान-स्थान पर मिलता है। छात्र-जीवन में आप मेधावी थे। सन्

१९०८ में मैट्रिक परीक्षा पास करने के बाद आपने 'Imperial Alexandar University' में पाँच साल तक प्रकृति-विज्ञान का अध्ययन किया। अध्ययन करते समय आप तत्कालीन कलाकारों के घनिष्ठ सम्पर्क में आये जिससे आपकी प्रतिभा का यथेष्ट विकास हुआ। विश्वविद्यालय की शिक्षा समाप्त किये बिना ही आप अपने एकान्त एवं शान्त वातावरण-युक्त ग्राम में लौट आये और स्थायी रूप में वहाँ रहने लगे। सन १९१९ में इन्होंने एक ग्रामीण तरुणी के साथ विवाह किया और इसी वर्ष आपका सर्वप्रथम उपन्यास प्रकाशित हुआ। अपने ग्राम में रहते हुए आपने साहित्य-साधना में अपने जीवन को संलग्न करने का निश्चय किया।

फिनलैण्ड का भौगोलिक अवस्थान इस रूप में है कि वहाँ प्रकृति ने अपना अनन्त ऐश्वर्य बिखेरसा दिया है। देश का अधिकांश भाग तुषाराच्छन्न रहता है। इस शुभ्र हिमाच्छन्न भाग पर जिस समय अस्ताचलगामी सूर्य की अन्तिम किरणें पड़ती हैं उस समय सम्पूर्ण दृश्यपट एक अपूर्व रक्त-राग से रञ्जित हो उठता है और स्वभावत: ही नित्य का यह सुन्दर मनोरम दृश्य यहाँ के निवासियों के मन को कल्पना प्रवण बना देता है। आधुनिक सभ्यता का चाकचिक्य, कोलाहल एवं आडम्बरपूर्ण जीवन वहाँ प्रवेश नहीं कर पाया है। फिर भी यहाँ शिक्षा का अभाव नहीं है। नारवे, स्वीडन और रूस के सजीव साहित्य ने फिनलैण्ड के निवासियों को अनुप्राणित किया है, साहित्य के प्रति उनके मन में अभिरुचि एवं रसबोध जाग्रत किया है और शान्त एवं स्वच्छन्द जीवन ने उन्हें साहित्य-सृष्टि का सुयोग प्रदान किया है। सहज, सरल, आडम्बर विहीन जीवन, मनुष्य के साथ मनुष्य का सहज, स्वाभाविक सम्पर्क और सबसे बढ़कर धरतीमाता के साथ मनुष्य के गभीर सम्बन्ध ने इस साहित्य के लिए उपादान जुटाये हैं और उसे परिपुष्ट किया है। यही कारण है कि एक ओर अपने देश-वासियों का कृषि-जीवन और प्राकृतिक सौन्दर्य और दूसरी ओर हनुहमसन, मेटरलिंक और स्ट्रिन्डबर्ग आदि ख्यातनामा साहित्यिकों की रचनाओं ने आपकी कल्पना-शक्ति को सक्रिय बनाया है और आपकी साहित्य-साधना को विशेष रूप में प्रभावित किया है।

साहित्यिक जीवन का आरम्भ आपने गल्प-रचना से किया। आपकी कहानियों का संग्रह 'Children of Mankind in the March of Life' नाम से सन १९१७ में प्रकाशित हुआ। इस संग्रह की अधिकांश कहानियों का सम्बन्ध समाज की निम्नतम श्रेणी के मनुष्यों से है। मनुष्य के भाव, विचार एवं अनुभूतियों के मूल में जो शाश्वत मानव विद्यमान रहता है उसी का परिचय इन कहानियों में मिलता है। बीच-बीच में ऐसा लगता है मानो लेखक किसी कल्पना-राज्य में विचरण कर रहा हो और वहाँ आत्मा की विचित्र लीलाओं को देखकर उसका मन उल्लसित हो उठा हो; और कभी उल्लास के बदले एक अव्यक्त वेदना से उसका मन विषादाच्छन्न हो गया हो। फिनलैण्ड के कहानी-साहित्य में सिलानपा ने ही सर्व-प्रथम आधुनिकता का इस रूप में समावेश किया है और यही कारण है कि आधुनिक दृष्टिसम्पन्न सहृदय पाठकों के लिए इन कहानियों में एक सहज आकर्षण है।

इसके बाद सिलानपा का पहला उपन्यास 'Life and Sun' प्रकाशित हुआ;

इस उपन्यास में ग्रीष्मकाल में एक तरुण दो तरुणियों के अनुभवों का चित्रण किया गया है। ग्रीष्मकाल में प्रकृति में जो एक अपूर्व अभिनव आनन्द एवं उल्लास का समावेश हो जाता है और उसके कारण शरीर एवं मन में जो स्फूर्ति, रसोच्छ्वास एवं हिल्लोल का अनुभव होता है उसी का सजीव वर्णन लेखक ने संवेदनशील हृदय के साथ किया है। यहाँ लेखक ने कविजनोचित अद्भुत कल्पना से काम लिया है और ऐसा मालूम होता है मानों समस्त पृथ्वी उसके सामने एक स्पन्दनशील अनुभूति के रूप में उपस्थित हो। लेखक ने मानव जीवन का अध्ययन एक ओर जहाँ उसके उच्चतम स्वर से किया है वहाँ दूसरी ओर उसके निम्नतम स्वर से भी और इस अध्ययन में उसकी गम्भीर अन्तर्दृष्टि एवं अनवद्य प्रकाशभंगी का परिचय मिलता है।

इसी समय महायुद्ध के दुःखान्त अनुभव और इसके साथ-साथ फिनलैण्ड की स्वाधीनता ने सिलानपा के मन में नये भावों को जन्म दिया जिनके आधार पर उनका 'Pious Misery' नामक उपन्यास प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास के प्रकाशित होने के बाद से ही आपकी गणना फिनलैण्ड के सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक के रूप में होने लगी। इसमें फिनलैण्ड के समाज-जीवन का निर्लिप्त एवं निरपेक्ष भाव से चित्र-चित्रण हुआ है। अब तक की आपकी रचनाओं में गीति-काव्य एवं वैयक्तिक जीवन का जो एक गम्भीर स्पर्श पाया जाता था और जिसके कारण निरपेक्ष भाव से सत्य के प्रकाश में एवं विचारशक्ति के विकास में बाधा पड़ती थी, उससे यह उपन्यास सर्वथा मुक्त है। इसमें लेखक ने जीवन की नाट्य-लीलाओं को एक तटस्थ दर्शक की भाँति देखा है। 'Pious Misery' उपन्यास का नायक ग्राम के निम्न श्रेणी के अधिवासियों का प्रतिनिधि स्वरूप है। वह व्यक्ति न होकर प्रतीक है। मन्द बुद्धि एवं अलस अकर्मण्य प्रकृति का होने पर भी घटनाचक्र में पड़कर उसे विप्लव में भाग लेना पड़ता है जो उसकी मानसिक क्षमता से सर्वथा परे है। सहज प्रकृति के विरुद्ध घटनाचक्र में पड़कर मनुष्य को अवश भाव से जो कार्य करना पड़ता है उसमें जीवन की कितनी बड़ी ट्रैजिडी होती है उसी का चित्रण लेखक ने गम्भीर अन्तर्दृष्टि एवं अपूर्व कौशल के साथ किया है। इस प्रकार का भाग्य विताड़ित असहाय मनुष्य स्वभावतः ही हमारे हृदय में सहानुभूति का उद्रेक करता है। घटना स्रोत में पड़कर तथा परिस्थितियों द्वारा पराजित मनुष्य का जीवन जो दुःखान्त बन जाता है उसके प्रति एक महान् एवं उदार भाव लेखक के एक अन्य गल्प-संग्रह 'My Dear Fatherland' में मिलता है, यहाँ लेखक मानव-जीवन को दुःख-कष्ट-पूर्ण एवं असफल रूप में देखकर दुखवादी एवं निराशावादी नहीं बन जाता। समस्त दुःख-कष्ट के बीच भी उस जीवन के किसी कोने में सान्त्वना छिपी हुई मिलती है। सान्त्वना के इस आतिथ्य ने ही उसके साहित्य को सूर्य के प्रकाश के समान एक निर्मल प्राणवन्त आलोक से आलोकित एवं सजीव बना दिया है।

सिलानपा की साहित्य-साधना अबाध रूप में नहीं चल सकी। आर्थिक चिन्ता और सांसारिक झंझटों के कारण वे एकान्तभाव से साहित्य-सृष्टि में अपने को संलग्न नहीं कर पाते थे। फिर भी सारी अशान्ति और झंझटों के बीच वे निरुत्साह नहीं हुए। विघ्न-बाधाओं ने उनके जीवन को और भी उदार एवं मननशील बना दिया। इसी समय

उनका एक उपन्यास 'Hitlu and Ragnar' प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में उनके नूतन मनोभाव का परिचय मिलता है। उपन्यास की नायिका एक ग्रामीण बालिका है। शहर के एक युवक के साथ उसका साहचर्य होता है जिसके परिणामस्वरूप उसे आत्महत्या करनी पड़ती है। विराट विश्व की पृष्ठभूमि में सहज स्वाभाविक रूप में उक्त बालिका की करुण जीवन-कहानी हृदयस्पर्शी रूप में अङ्कित की गई है।

इसके बाद की दशाब्दि में सिलानपा की जो रचनाएँ प्रकाशित हुईं, वे बिलकुल नये ढंग की थीं। 'Proteges of the Angels' सम्पूर्ण अभिनव रचना है। इसमें निष्पाप मानवशिशु के कतिपय सुकुमार चित्र अंकित किये गये हैं जो बड़े ही मर्मस्पर्शी हैं। 'From the level of the Earth' उपन्यास १९२४ में प्रकाशित हुआ था। इसमें ग्राम के कितने ही दृश्यों का संकलन किया गया है। इसके बाद 'Confession' (१९२८) 'Thanks for the moments, Lord' (१९३०) और 'Fifteenth' (१९३६) ग्रन्थ प्रकाशित हुए। इनमें लेखक की दार्शनिक चिन्तना तथा नैतिक एवं बौद्धिक विवेचना का परिचय मिलता है। 'Fifteenth' के पढ़ने से मालूम पड़ता है कि लेखक ने जीवन को केवल कवि की दृष्टि से ही नहीं देखा है, बल्कि एक विचारक एवं सत्यान्वेषी के रूप में। लेखक ने अपने जीवन की घटनाओं पर तीक्ष्ण दृष्टि रखते हुए जाग्रत बुद्धि से उनका विश्लेषण किया है और ऐसे रहस्यों का आविष्कार किया है जिनसे उसके मन में विस्मय की सृष्टि हुई है।

सिलानपा की जिस पुस्तक ने यूरोप में सबसे बढ़कर हलचल पैदा कर दी थी उसका नाम है Silja; इसमें एक पिता और पुत्री की जीवन कहानी विवृत हुई है। एक प्राचीन कृषक परिवार का सुन्दर चित्र मर्मस्पर्शी रूप में अंकित हुआ है। सिलानपा ने स्वयं लिखा है कि 'सिलजा' के रूप में मैंने एक फिनिश तरुणी का चित्राङ्कन किया है जो विशुद्ध एवं सुन्दर मानवता के प्रतिनिधि स्वरूप है। आधुनिक युग की हलचल एवं अशान्त वातावरण में उक्त प्राचीन कृषक परिवार की जीवन-यात्रा विशृङ्खल हो गयी है। किन्तु फिर भी अनिवार्य ध्वंस के पूर्व यह परिवार एक आध्यात्मिक आलोक से उसी प्रकार उद्भासित हो उठा है जिस प्रकार निर्वाण के पूर्व दीपशिखा प्रोज्ज्वल प्रकाश से प्रोद्भासित हो उठती है। फिनलैण्ड के जातीय जीवन में उसके राष्ट्रीय आन्दोलन एवं समाज विवर्त्तन में जो कुछ सुन्दर, महत एवं श्रेष्ठ है, जो शाश्वत एवं चिरन्तन है उसी के मूर्त्त प्रतीक के रूप में उक्त तरुणी का चित्र चित्रित किया गया है। घटनास्थल पश्चिम फिनलैण्ड का एक गाँव है जिसमें आधुनिक सभ्यता के चिह्न मात्र अभी प्रकट होने लगे हैं। इसी रंगमञ्च पर लेखक ने सिलजा की प्रेम एवं मृत्यु की आलोक छाया के रूप में अनिवर्चनीय सृष्टि की है। अर्धस्वप्न किशोरावस्था को पारकर सिलजा जीवन के वसन्त यौवन में प्रवेश करती है। तरुण प्रेम, जो सिलानपा की दृष्टि में जीवन का सुन्दरतम पुष्प है, विकसित एवं चरितार्थ होने के पूर्व ही मृत्यु की कराल छाया से आच्छन्न हो जाता है। यह उपन्यास लेखक की महत सृजनशक्ति का निदर्शन स्वरूप है और सभी दृष्टियों से उसकी कला का श्रेष्ठत्व प्रतिपादित करता है। 'A man's road' उपन्यास में दृढ़तर आधार पर जीवन का चित्रण किया गया है। इसका प्रधान चरित्र

एक तरुण किसान है जो अपने यौवन के प्रेम का परित्याग करके एक धनी किन्तु रुग्णा स्त्री का पाणिग्रहण करता है। इस स्त्री की मृत्यु के बाद उसका जीवन लम्पटता में व्यतीत होता है और तब तक उसका उत्थान नहीं होता जब तक कि वह एक ऐसी स्त्री को अपनी जीवन-सङ्गिनी नहीं बनाता जो उसके जीवन पर अपना आधिपत्य स्थापित करने में समर्थ होती है। इस उपन्यास में मुक्त एवं स्वच्छन्द प्रेम एवं यौनप्रवृत्ति का जैसा निदर्शन हुआ है उसमें डी० एच० लारेन्स के उपन्यासों का कुछ-कुछ आभास मिलता है।

सिलानपा मनुष्य को विश्व से पृथक् रूप में नहीं देख सकते। उनका विश्वास है कि इस विराट विश्व में मनुष्य का स्थान तुच्छ होने पर भी उपेक्षणीय नहीं है। मनुष्य केवल अन्ध निष्ठुर प्रकृति के हाथ की कठपुतली ही नहीं है। उसके जीवन का अवसान केवल हास्य-रुदन एवं आशा-आकांक्षाओं को लेकर ही नहीं हो जाता। इसी प्रश्न का उत्तर सिलानपा ने विविधरूप में देने का प्रयास किया है। और यह उत्तर उन्हें मिला है प्रकृति से तथा अपने जीवन के विश्लेषण में।

सिलानपा के साहित्य में एक ओर जहाँ गीत कविता का रसमाधुर्य पाया जाता है वहाँ दूसरी ओर मानव जीवन का सूक्ष्म बौद्धिक विश्लेषण भी बड़ी खूबी के साथ प्रदर्शित हुआ है। प्रकृति की पृष्ठभूमि पर मानव जीवन का सर्वाङ्गपूर्ण सजीव चित्र-चित्रण करने में आधुनिक यूरोप के बहुत कम लेखक उनकी बराबरी कर सकते हैं। उन्होंने पाठकों की दृष्टि के सामने रहस्य लोक में प्रच्छन्न मनुष्य के एक स्वरूप को रखा है जो सम्पूर्ण अभिनव है और एक नूतन दृष्टि लेकर ही इस स्वरूप का अवलोकन किया जा सकता है। प्रकृति एवं मनुष्य को उन्होंने एक अखण्ड सत्ता के रूप में देखा है और शाश्वत जीवन चिर प्रवहमान जीवन के एक अंश रूप में मानव जीवन के श्रम को दिखलाया है।

सिलानपा ने विश्व के बाह्य रूप को उदार दृष्टि से देखा है। परिस्थितियों के फेर में पड़ कर घटनाओं के घात-प्रतिघातों के बीच मनुष्य का जीवन विक्षिप्त एवं असहाय बन जाता है इस बात को उन्होंने स्वीकार किया है अवश्य, किन्तु साथ ही मनुष्य की मनन-शक्ति की महत्ता भी स्वीकार की है। मनुष्य की यह मनन-शक्ति ही उसे एक ऐसी अध्यात्म शक्ति प्रदान करती है जिसकी बदौलत वह साहस-पूर्वक सब प्रकार की सांसारिक आपदाओं का सामना करता है और उन पर विजय प्राप्त करता है। मनुष्य की जययात्रा में यह मनन-शक्ति ही उसका एकमात्र सम्बल है। उसकी विजय अवश्यम्भावी है। घोर नैराश्य के बीच भी आशावादिता के इसी प्रोज्ज्वल प्रकाश से सिलानपा का समस्त साहित्य आलोकित एवं अनुप्राणित हो रहा है। यही उस साहित्य के प्राणरस का मूल-तत्व है।

सिलानपा निस्सन्देह एक श्रेष्ठ साहित्यिक हैं। विश्व के सुधी समाज ने सन् १९३९ में साहित्य के लिए नोबल पुरस्कार द्वारा उन्हें पुरस्कृत करके केवल उनका ही सम्मान नहीं किया है बल्कि अपनी गौरववृद्धि भी की है। उनके साहित्य ने विश्व-साहित्य को विचित्र सम्पद् से समृद्ध किया है।

देवियाँ किधर ?

●

[दौलतराम गुप्त]

[अनु० शमशेरबहादुरसिंह]

[हम श्री दौलतराम गुप्त के दृष्टिकोण से सर्वथा असहमत हैं। केवल विचार-स्वातंत्र्य के नाते ही इस लेख को प्रकाशित कर रहे हैं, यद्यपि हमारा विश्वास है कि नारी-जाति के प्रति ऐसा रूढ़, संकुचित दृष्टिकोण विक्षिप्तावस्था की सीमाएँ उल्लंघन कर जाता है और समस्या के हल में कदापि सहायक नहीं होता। —सं०]

औरत ईश्वर की कारीगरी का सबसे बढ़िया नमूना ; तमाम दुनिया की सबसे कोमल चीज़ ; शिष्टता और प्रेम की मूर्ति : शोभा, सुन्दरता का केन्द्र व महाशक्ति का अंश है। हिमालय पर पड़ी हुई बर्फ़ की तरह ठंडी भी, और बड़वानल के समान तेज़ भी, लक्ष्मी और सरस्वती का सौम्य रूप भी है और महिषासुरमर्दनी दुर्गा तथा महाकाली का उग्र आकार भी है। माँ, बहन और पत्नी इन तीन रूपों से इस भीषणता और स्वार्थान्धतायुक्त संसार को सुख और आनन्दमय बनानेवाली व जीवन-संघर्ष में शान्ति प्रदान करनेवाली देवी के लिए मनु महाराज ने कहा है :

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलः क्रिया॥

वह कौन सिर है जो पद्मनी, अहल्याबाई और लक्ष्मी के चरणों में नहीं झुकता ? वह कौन-सा दिल है जिसमें सीता, सावित्री, गान्धारी की याद, उनके लिए श्रद्धा, नहीं ? हिन्दू जाति को और आर्यावर्त को हमेशा अपनी माताओं पर गर्व× रहा है और रहेगा। दुनियाभर का कोई देश, कोई राष्ट्र, कोई सभ्यता, ऐसा उदाहरण प्रस्तुत नहीं कर सकती जो हिन्दू जाति के इस गौरव की तुलना कर सके। पति के शव पर मर मिटनेवाली देवियों के आत्म-बलिदान से प्रभावित होकर फ़ारसी भाषा के एक विदेशी कवि ने अपनी श्रद्धांजलि इन शब्दों में पेश की है :

चूँ ज़ने-हिन्दी कसे दर आशिक़ी दीवाना नेस्त,
सोख़्तन बर शम्मा-मुर्दा कारे-हर परवाना नेस्त !*

सिर्फ़ हिन्दू नहीं, दुनियाभर की जातियों के लोग भारतीय नारी के चरणों में सिर रख देना अपने लिए गौरवपूर्ण समझेंगे। क्योंकि भारतीय नारी प्रेम का स्रोत, प्रेम-मूर्ति, करुणा की देवी, और आत्म-समर्पण की प्रतिमा है। भारत की माताएँ अपने स्नेह, औदार्य, परकार्य-तत्परता, और सुघराई से घर को स्वर्ग से भी उत्तम बना देती हैं। जीवन से सतीत्व को अपेक्षित रखती हुई वे शिष्टता, विनम्रता, पवित्रता की मुँह बोलती तस्वीरें हैं। एक मुस्लिम कवि 'सागर' ने हिन्दू नारी का चित्र इस प्रकार प्रस्तुत किया है:—

× लेखक ने 'गौरव' शब्द लिखा है, जो यहाँ ग़लत प्रयोग है। अतः उसे 'गर्व' कर दिया गया —अनु०

* अर्थात् प्रेम में भारतीय नारी के समान और कोई विक्षिप्तावस्था को प्राप्त नहीं होता। मुर्दा जली हुई शमा पर जल जाना हर परवाने का काम नहीं—अनुवादक

सुबह को जमना किनारे मौज-सी१ पैदा हुई
मौज की गोदी से हिन्दू स्त्री पैदा हुई
हाथ में सारी का आंचल, ज़ुल्फ़२ लहराई हुई
लब प३३ हल्का-सा तबस्सुम४ आँख शर्माई हुई
कृष्ण की बंसी में फिर इक लहर-सी पैदा हुई
लहर ने इक गीत गाया, गीत की पूजा हुई
मौज की गोदी से हिन्दू स्त्री पैदा हुई
स्त्री के सत्-पत से जिन्दगी पैदा हुई
शान्ती पैदा हुई
ताज़गी पैदा हुई
सुबह को जमना किनारे मौज-सी पैदा हुई

स्वयं हिन्दू जिस दृष्टि से मातृ-शक्ति का सन्मान करते हैं उसका उदाहरण भी मिलना मुश्किल ही नहीं असम्भव भी है। हिन्दुओं के अतिरिक्त किसी भी सभ्य जाति ने उसको आज तक ईश्वर-रूप में नहीं देखा, किसी ने कल्पना तक नहीं की। आज भी किसी आपत्ति के आ जाने पर चण्डी-पाठ और महामृत्युञ्जय का जप करवाना उचित समझा जाता है। आजकल एक लहर चल रही है कि भारत का स्त्री-समाज अपने अधिकार लेगा। शिक्षित होकर पुरुष-समाज से कंधे से कंधा मिलाकर चलेगा। देवियाँ पुरुषों की परतन्त्रता से मुक्ति पाएँगी, इत्यादि।

शौक से! अगर अधिकार रौंदे गये हैं, तो उन्हें हासिल करना आवश्यक है। अर्द्धाङ्गिनी तो हम मानते ही हैं। इससे बढ़कर भी कोई समता, बराबरी और है तो हमें उसके देने से भी इनकार नहीं। दासी हमने बनाया ही नहीं; अगर बनाया तो पहले दासता से मुक्ति आवश्यक है, बाद में दूसरी बातें। चूँकि मेरे लेख का विषय इस पर तर्क उठाना नहीं है, इसलिए मैं इनकी आलोचना न करता हुआ केवल यह कह देना चाहता हूँ, और पूरी ज़िम्मेदारी के साथ, कि पुरुष-समाज उन परवानों पर तो सब कुछ निछावर कर देने को तैयार है जो हिन्दू संस्कृति व हिन्दोस्तानी सभ्यता की शमा पर जलते हैं। हमारे अन्दर शक्ति या साहस नहीं कि हम उनके अधिकार हथियाने का विचार तक भी करें। बल्कि उनकी पूजा करते हैं। हम उनके अधिकार लेने की नीयत करना तो दूर रहा, बल्कि हम समझते हैं कि हमारे अधिकारों की श्रेष्ठतम संरक्षक ही वे देवियाँ हैं। लेकिन उन तितलियों के—जो पत्ती-पत्ती और फूल-फूल पर फुदकती फिरती हैं—अधिकार न किसी समाज ने बनाये ही हैं और न हथियाये ही हैं। जो तितलियाँ बनकर और फटफटाती हुई जलकर हिन्दू व हिन्दोस्तानी सभ्यता व संस्कृति के उपहास का कारण बनती हैं, जो अपनी चादर के नीचे हिन्दू संस्कृति की रक्षा नहीं करती बल्कि साड़ी के आँचल से जलती हुई सभ्यता को दबा देती हैं, उनके अधिकार हमने तो नहीं लिये बल्कि हमें भय है कि वे हमारे यानी पुरुष-समाज के अधिकारों को भी अपनी पाश्चात्य रहन-सहन व पफ़-पाउडर व लिप-स्टिक के लिए नीलाम न कर दें। आज पराधीनता-पाश से विपद्-ग्रस्त भारतीय पुरुष-समाज के आगे यह एक भयानक प्रश्न खड़ा हो गया है कि बीसवीं शताब्दी के

---

१ लहर-सी, २ केश, लट। ३ होंठों पर, ४ मुस्कान।

उच्छृङ्खल स्त्री-समाज से पहले निबट ले या पराधीनता दूर करने की चेष्टा करे।

होटल, सिनेमा, पार्क, रेस्टोरां—जहाँ देखो, जिधर आँख उठाओ लड़कियाँ और विवाहिता देवियाँ पाउडर लिप-स्टिक और नेल-पेंट से अलंकृत व मिस—पश्चिमी मिस की वेष-भूषा बनाये, पचास-साठ व सौ-सवा सौ रुपये का एक बटुआ हाथ में लिये, तथा सर के एक नाजुक झटके से बार-बार सिर से साड़ी खिसकातीं, खिलखिलाकर हँसतीं, व मादकता तथा चंचलता से सौन्दर्य का प्रदर्शन करती दिखाई देती हैं। हमें किसी के आचरण पर सन्देह करने या शक करने का हक़ नहीं। लेकिन यह पूछने का हक़ जरूर है कि आखिर यह फैशन और सौन्दर्य का नग्न-प्रदर्शन करना नहीं तो और क्या है? हिन्दू व हिन्दोस्तानी संस्कृति का मजाक उड़ाना नहीं तो और क्या है? पति-भक्ति की जगह फैशन-पूजा और पति-प्रेम की जगह इस प्रदर्शन (नुमायश) से प्रेम क्यों?

नवयुवकों को ब्रह्मचर्य पालन करने का उपदेश व चंचल मन को वश में करने का उपदेश देनेवाला हिन्दू-समाज आज विचार कर रहा है कि इस उपदेश का फल कुछ न होगा। जलती हुई आग के सामने घी का एक कनस्तर (Tin) इस खयाल से रख दिया जाय कि पिघलेगा नहीं, तो यह एक भारी भ्रम है। एक ओर पाश्चात्य सभ्यता से मारी हुई और फैशन की तितलियाँ बनती हुई देवियों को अगर हम नहीं रोक सकते, तो एक नौजवान को यह कहते हुए सुनने के लिए हमें तैयार रहना चाहिये, कि—

> ना मेह * को बुलाओ, मेरा ईमान सँभाले
> फिर देख लिया उसने मोहब्बत की नज़र से!

पाश्चात्य सभ्यता पर हिन्दू संस्कृति को बलिदान कर देनेवाली बीसवीं सदी की हिन्दुस्तानी औरत पति की पूजा करनेवाली है या नहीं, लेकिन फ़ैशन की पुजारिन अवश्य है। उसका यह विश्वास है कि प्रकृति ने नारी को रूपवान बनाया है। वह समझती है कि उसका जिस्म और जिस्म का हरेक रंग सजावट और शृङ्गार के लिए हैं, और प्रकृति ने उसे चित्र-समान बनाकर अपने कलाकार होने का प्रमाण दिया है। वह सदैव पश्चिम के वैज्ञानिकों के प्रति आभारी है जिन्होंने उसके शृङ्गार के नये-नये उपकरण प्रस्तुत कर दिये। बारीक रेशमी क्रेप की साड़ी, ऊँची एड़ी का बूट या सैंडल, कलाई पर रिस्ट-वाच, चेहरे पर क्रीम या पाउडर, ओंठों पर लाली, आँखों पर अनावश्यक सुन्दर चश्मा, हाथ में एक निरर्थक बटुआ—इन वस्तुओं को प्राप्त तथा इन्हें प्रयोग करने के लिए, पति की पूँजी, देश की मर्यादा, धर्म व संस्कृति, सब कुछ तबाह किया जा सके तो सौदा सस्ता है, महँगा नहीं। वह अपने सौन्दर्य तथा शृङ्गार को अपने पति के प्रसन्न करने या मकान की चहार-दीवारी के अन्दर रखने की वस्तु नहीं समझती बल्कि सर्वसाधारण की दृष्टि में लाकर प्रदर्शन करने तथा दर्शकों से वाह-वाह की प्रशंसा प्राप्त करने की चीज समझती है। ऐसा करने के लिए उसे अगर सीता, सावित्री, तारामती, दमयन्ती, पद्मनी व लक्ष्मीबाई के महान कार्यों पर पानी फेरना पड़े तो वह तैयार है। वह अपनी सरलता और लज्जा को सभ्यता के विरुद्ध समझकर बुरी तरह ठुकरा रही है। ऊँची शिक्षा पाने के साथ-साथ वह पूर्वीय महिला बनने को तैयार नहीं बल्कि पश्चमी मिस बनने को उसका हृदय ललचाता

* धर्मोपदेशक।

है। मनोरञ्जन राग-रंग क्लब, सिनेमा, उपन्यास आदि में वह अपने दिल का बहलाव ढूँढ़ती है।

धर्म, मर्यादा तथा संस्कृति का विचार छोड़कर अगर हम आर्थिक दृष्टि से भी देखें तो देवियों का आधुनिक चलन देश का सर्वनाश कर रहा है। लाखों रुपये का शृङ्गार का सामान विदेशों से हर साल हिन्दुस्तान आता है; और निर्धन भारत के लाखों रुपये अनावश्यक सामान के लिए नष्ट हो जाते हैं। सन् १९२१ के स्वदेशी आन्दोलन के दिनों एक अँग्रेजी समाचार-पत्र ने लिखा था कि 'स्वदेशी लहर भले ही चले लेकिन जब तक भारतीय नारी का अस्तित्व क़ायम है, इंग्लैंड को संकट का आभास नहीं होना चाहिये।'

हम स्त्रियों की स्वतन्त्रता और अनावश्यक रीति-रिवाजों को छोड़ने तथा नारी-शिक्षा के कदापि विरोधी नहीं। यह लेख उन फ़ैशन की पुजारिन और पाश्चात्य रहन-सहन की उपासक देवियों के लिए लिखा गया है जो ऐसे वस्त्र पहनती हैं जिनमें स्त्रियोचित लज्जा आड़ नहीं ले सकती। यह उस निर्लज्जता के विरोध में है जो भारतीय सभ्यता को पश्चिमी अनुपयोगी संस्कृति की बाढ़ में बहा ले जाती है। और अब अवस्था यह है कि स्वयं पश्चिमवाले स्त्रियों की बढ़ती हुई उच्छृङ्खल स्वतंत्रता से तंग आ चुके हैं। जिस सभ्यता को हमारी देवियाँ अपनाना चाहती हैं, उस सभ्यता और संस्कृति के वातावरण में पलनेवाले स्वयं उसके संस्कार और शुद्धि के उपाय सोच रहे हैं। ब्रिटिश सरकार ने एक विज्ञप्ति (Warning to Girls, Fore warned is Fore armed)[1] निकालकर स्त्रियों को सचेत किया कि—

१—किसी भी अपरिचित व्यक्ति से वह पुरुष हो या स्त्री, गली-कूचों में दुकानों पर, स्टेशनों पर, रेलगाड़ी में, देहात के एकान्त पथ पर अथवा आमोद-प्रमोद के स्थानों पर कभी मत बोलो, बात मत करो।

२—पहरे पर जो पुलिस कर्मचारी हो या रेलवे-कर्मचारी हो या डाकिया हो—इनके सिवाय किसी से रास्ता मत पूछो।

३—सड़क पर या गली में कभी अकेले मत घूमो, और जब कोई अनजान पुरुष तुमसे बात करने के लिए लपके तो शीघ्र से शीघ्र पुलिस के सिपाही को पुकारो।

४—कोई अपरिचित तुमसे मान-पत्र, अभिनन्दन-पत्र स्वीकार करने की प्रार्थना करे तो कभी, उसके फंदे में मत फँसो, और न किसी के घर रेस्तोराँ या मनोविनोद के स्थानों पर ही जाओ।

इत्यादि, इत्यादि।

हमारी माताओं और बहनों को इस प्रश्न पर स्वयं विचार करना चाहिये कि पुरुष-समाज के कन्धे से कन्धा लगाने व अपने अधिकार मनवाने का जो ढंग हमने अपना रखा है, वह उचित भी है या नहीं? अधिकार लेते-लेते अगर हमारी कार्य-प्रणाली देश की मर्यादा और संस्कृति पर घोर आक्रमण कर रही है तो अधिकार प्राप्त करके हमारे देश

---

१ 'लड़कियों को चेतावनी'—पहले ही चेत जाने में अपनी पूर्वरक्षा है। विज्ञप्ति का पूर्ण उद्धरण इसी पुस्तक में पृ० १८८ पर देखिये।

व समाज की क्या गति होगी, वह भारतीय नारियों का पवित्र इतिहास क्या कहेगा, वह आत्मिक, शारीरिक और नैतिक अवस्था, कहाँ जाकर अपना सर छिपायेगी ? उन्हें यानी स्त्री-समाज का यह भी निश्चय कर लेना चाहिये कि कहीं वे पश्चिमी सभ्यता के बहाव में पड़कर अपनी मान-मर्यादा और देश का धन तो नष्ट नहीं कर रही हैं। वे उस पवित्र भारतीय नारी-चरित्र पर कलंक तो नहीं लगा रही हैं जो सहस्रों वर्ष से शुद्ध और निष्कलंक चला आ रहा है। देश के नेताओं तथा नये विचार के पुरुष-समाज का भी इस ओर ध्यान देना चाहिये कि आधुनिक स्त्री-समाज की उच्छृङ्खलता का बहुत-सा कारण वे घराने और वे माँ-बाप भी हैं जो अत्यधिक पश्चिमी रंग में रँगे हुए और औचित्य की सीमा से अधिक स्वतन्त्रता-प्रिय हैं। उनके शरीर तो खद्दर से ढके हैं, लेकिन उनकी देवियों पर पश्चिम का ऐसा रंग चढ़ा है कि मानो उन्होंने ही यह मैदान निकाला। दूसरे, पश्चिमी शिक्षा स्त्रियों को अनुपयोगी और उच्छृङ्खल बना रही है। अंग्रेजी शिक्षा ही स्त्रियों की अनुचित स्वतन्त्रता का कारण बन रही है। भारत की आध्यात्मिक सम्पत्ति अमूल्य है, और अंग्रेजी शिक्षा स्त्री-समाज की आत्मिक, शारीरिक और नैतिक उन्नति नहीं करती, बल्कि अपनी संस्कृति और नीति से घृणा उत्पन्न करती है। आधुनिक शिक्षा घरेलू काम-काज से पूर्ण परिचय, बच्चों का लालन-पालन सिखलाकर देवियों को आदर्श माता बनने से रोकती है। यह देखा गया है कि पति-पत्नी की अनबन, घरेलू झगड़, घरेलू खर्च का अनुचित परिमाण में बढ़ना उन्हीं परिवारों में विशेष है जो पश्चिम की अन्धाधुन्ध नकल करके पश्चिमी शिक्षा के अधिक प्रेमी बनते हैं। वही बेटियाँ माँ-बाप तथा परिवार पर धब्बा आने देती हैं, जिनके माता-पिता पर अँग्रेजियत का भूत सवार रहता है।

देश और राष्ट्र को इस भारी संकट से जो दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है, बचना चाहिये। मैं देश के लीडरों से, जिन्हें भारतीय सभ्यता से प्रेम है, समाचार-पत्रों के उन सम्पादकों से निवेदन करूँगा जो स्वतन्त्रता के नाम पर आवाज उठाते हैं, कि वे राष्ट्र को इस संकट से सचेत कर दें और इसे दूर करने का समुचित उपाय सोचें।

★

'वासवदत्ता'

●

[भगवतशरण उपाध्याय]

वासवदत्ता—लेखक श्री सोहनलाल द्विवेदी, प्रकाशक-इण्डियन-प्रेस, इलाहाबाद। मूल्य २)

'बहुत शोर सुनते थे पहलू में दिल का, जो चीरा तो इक क़तरए खूँ न निकला।'

'वासवदत्ता' पर नजर पड़ते ही कुछ बिजली-सी दौड़ गई। अतीत अन्तर में घुमड़-घुमड़ उठने लगा—भास की 'स्वप्नवासवदत्ता' और 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' स्मृति-पटल पर उठे, सुबन्धु की 'वासवदत्ता' एक बार कौंध गई, 'मेघदूत' की उज्जयिनीवाली 'उदयनकथा कोविदग्रामवृद्धान' धीरे-धीरे हृदय में हिलने लगी, गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' और सोमदेव के 'कथा सरित्सागर' के लावाणक नामक तृतीय लम्बक की दोनों तरङ्गों की बाढ़-सी आ गई। हर्ष की 'प्रियदर्शिका' और 'रत्नावली' बरबस अपनी ओर खींचने लगीं। 'वासवदत्ता' मैंने उठा ली। उसे खोला, जहाँ-तहाँ नजर दौड़ाई। वह भास और सुबन्धु की वासवदत्ता न थी, कालिदास की उदयनकथा की नायिका भी न थी और न था वह गुणाढ्य और सोमदेव अथवा हर्ष द्वारा ही प्रसाधिता चण्डप्रद्योत महासेन की दुहिता! यह थी 'वासवदत्ता' पं० सोहनलालजी द्विवेदी की अपनी, निराली (आत्मजा!)। पढ़ चला मैं। वासवदत्ता वेश्या के साथ यह तो बुद्ध टपक पड़े!

मैं पढ़ चला। एक अजीब कुतूहल घर कर चला था। बहुरूपिए अमात्रिक पर लम्बे डग भरता चल पड़ा। एक साँस में—

'आज से बहुत दिन पहले की कहता हूँ बात—'

से लेकर

'हो गई मौन, कह पाई कुछ बात नहीं!'

तक पढ़ गया। और अन्त में यदि कवि की वासवदत्ता की हृदय-स्थिति के शब्दों से अपनी मानसिक-स्थिति का कुछ परिचय दे सकूँ तो मैं भी—

हो गया मौन, कह पाई कुछ बात नहीं!

एक बार विचार उठा—भला बुद्ध से वासवदत्ता का क्या सम्बन्ध? 'बुद्ध-चरित' और 'सौन्दरनन्द' के कुछ कथानक धीरे-धीरे मन में उठे, 'महावंश' और 'दिव्यावदान' के कुछ चरित भी याद आये फिर भी बुद्ध और वासवदत्ता के सम्बन्ध की पहेली न सुलझा सका। कथा-भाग अपरिचित न था परन्तु उसमें कुछ अजीब ऐतिहासिक प्राण स्पन्दित होते जाते पड़े। फिर पढ़ा—

'स्वर्णयुग का खिला था मधुर प्रभात भारत के प्राची में;'

इसे फिर पढ़ा—भारत के प्राची में—कुछ सहारा मिला, शायद जावा या बाली का जिक्र हो। 'भारत के प्राची में'—भारत के बाहर के पूर्व के किसी देश का सहज निर्देश होता है। फिर एक बार 'वासवदत्ता' पढ़ गया। अशोक के गुरु श्रेष्ठिपुत्र-गन्धिपुत्र उपगुप्त शिष्य

का दीर्घ शरीर धीरे-धीरे इन लाइनों द्वारा विकृत आकार में उठ खड़ा हुआ। शायद बुद्ध की आत्मा ने भूत होकर उपगुप्त का कलेवर छीन लिया था। फिर यह भारत का प्राची कैसा? क्या यह कथा मथुरा की नहीं पाटलिपुत्र की है? परन्तु कवि ने कथा प्रसङ्ग में पाटलिपुत्र का नाम तो लिया नहीं—सम्भव है बहुत पश्चिम में बैठकर लिख रहा हो और उसे मथुरा पूरबिया-सी लगती हो। कुतूहलवश लौटा। शायद 'पल्लव' की भूमिका-सी कुछ लम्बी सो मिल जाय—समाधान हो।

समर्पण पर नज़र गई—'भगवान', 'ईश्वर स्वरूप' 'ज्ञात होकर भी अपनी महत्ता के कारण अज्ञात' 'महामहिम महामना महर्षि, मदनमोहन मालवीयजी के तपोपूत पादपद्मों में ..ये सांस्कृतिक रचनाएँ, जो उन्हीं के स्नेहांचल में प्यार-दुलार पाकर इतनी बड़ी हुई हैं ..काशी विश्वविद्यालय की रजत जयन्ती के ऐतिहासिक अवसर पर' समर्पित हुई हैं स्वयं कैसे अनैतिहासिक हो सकती हैं? 'भगवान' सरीखे महामना के ज्ञानबोधी के नीचे जनित होनेवाली यह 'प्रतिपदा' सचमुच ही नगण्य है। और वह भी काशी विश्वविद्यालय की रजत जयन्ती के ऐतिहासिक अवसर पर यह सर्वथा अनैतिहासिक मुहर। 'प्यार-दुलार' में बढ़े हुए बालक सदा बालक ही रह जाते हैं अथवा अधिकतर निकम्मे!

पृष्ठ उलट दिया, श्रीमैथिलीशरण गुप्त की 'शुभ.शंसा' मिली। पढ़ा—'स्वच्छन्दतापूर्वक जिस प्रौढ़ि की ओर वे अग्रसर हो रहे हैं—' नज़र रुक गई। मन कुछ गुनने लगा—गुप्तजी ने कह तो दिया परन्तु आगे बढ़कर वे स्वयं अनर्थ कर बैठे। उन्होंने चारणों का बाना ले लिया। वासवदत्ता का पाठ सुनकर वे बहुत प्रभावित हुए और उन्हें स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ की 'अभिसार' नाम की रचना का स्मरण हो आया। उस रचना का स्मरण शायद बहुतों को आया। रवीन्द्र के उच्छिष्ट ज्ञान से कितने ही कवि-उदर भरे हैं। स्वयं गुप्तजी के 'साकेत' पर रवीन्द्र की 'काव्येर उपेक्षिता' की छाप है परन्तु उन्होंने सत्य का गला न घोंटा। द्विवेदीजी यदि चाहते तो रवीन्द्र में ही उस कथा का वास्तविक नायक उपगुप्त तिष्य मिल जाता, परन्तु भला मौलिकता की साख कैसे रहती? वे रवीन्द्र से भी ऊँचे कैसे उठते? 'स्वच्छन्दतापूर्वक' वे बढ़ते चले गये। उन्होंने न जाना, आगे खन्दक है! अलेक्जेण्डर पोप ने क्या कहा था—जहाँ फ़रिश्ते रेंगते हुए काँपते हैं वहाँ बुद्धिमान छलांग मारते हैं!

पृष्ठ फिर पलटा। 'आमुख' में प्रविष्ट हुआ। कवि ने बहुत बड़ी प्रतिज्ञा की है, कालिदास की चुनौती पुराणमित्येव न साधु सर्वं—से कहीं बढ़कर, भवभूति के 'मालती माधव' के आठवें श्लोक से कहीं अधिक आत्मविश्वास के साथ।—'भैरवी में जहाँ इस युग की गति-विधि एवं प्रगति का चित्रण है, वासवदत्ता में वहाँ युग-युग की भारतीय संस्कृति के अंकित करने का प्रयत्न है।' कवि ने इस प्रतिज्ञा के साथ जिस ऐतिहासिक रूप को हमारे सामने रखा है वह ग़लत और झूठा है। अगर इस प्रकार के और भी ऐतिहासिक सत्य कवि के गर्भ में उचक रहे हों तो वह ऐतिहासिक की सलाह माने, उन्हें वह कसकर दबा दे। भ्रूणहत्या का वह दोषी न होगा। टालस्टाय का भी नाम कवि ने लिया है। मैं भी उसे कुछ नाम दूँगा—तुर्गनेव, दास्तॉएवस्की, गोर्की और श्लोकाफ और अभी-अभी का शोलेम ऐश, या कवि की अपनी रुझान का—पुश्किन अथवा उससे भी

निकट का बाइरन। ये नाम हैं जिनसे कवि सीखे। पर उनमें से एक भी ऐसा नहीं जो इतिहास का गला घोटता हो अथवा उसका बिना मनन किये उसकी घटनाएँ मौलिक बनाता हो।

आमुख के नीचे एक टिप्पणी है जिसे देख मैं इस पुस्तिका के अन्त की ओर झुका—'संदर्भ' पढ़ने। गजब हो गया—कवि के ज्ञान का परिचय मिल गया (भला किस इतिहास की छाया इस 'वासवदत्ता' वाले संदर्भ पर पड़ी है ?)। द्विवेदीजी ने ऐतिहासिक की लेखनी छीन ली है 'आज से २००० वर्ष पूर्व गौतम बुद्ध के समय में वासवदत्ता नाम्नी वेश्या अपने रूप-यौवन से पाटलिपुत्र को उन्मत्त कर रही थी।' अच्छा होता यदि इस वाक्य को लिखने के पूर्व उन्होंने अपनी लेखनी तोड़ दी होती। इस वाक्य का एक-एक शब्द गलत है। जो राष्ट्रीय कवि होने का दावा करे उसे कम से कम अपना इतिहास तो मांज लेना चाहिए। आठवें दर्जे के लड़के को इससे कहीं सही इतिहास का ज्ञान है। कौन नहीं जानता कि बुद्ध ईसा से करीब पाँच सौ वर्ष पूर्व हुए थे ? ऐतिहासिकों को ठोकर लगाकर कवि ने अपनी स्वच्छन्द मौलिकता को बेलगाम छोड़ दिया। आज से २००० वर्ष पूर्व ईसवीं सदी का आरम्भ होता है। उसके लगभग ५०० वर्ष पूर्व बुद्ध निर्वाण प्राप्त कर चुके थे और उनके लगभग २१० वर्ष बाद २७४ ई० पूर्व में होनेवाले अशोक के देशव्यापी शिलालेख खुद चुके थे और स्तम्भ खड़े हो चुके थे। ग्रीक और यवन देशों में अशोक के मिशनरी पहुँच चुके थे, बौद्ध-धर्म सर्वत्र व्याप्त हो चुका था। लगभग १८५ वर्ष पूर्व ग्रीक-राज मिनेण्डर बौद्ध हो चुका था और पुष्यमित्र शुंग पाटलिपुत्र से जलन्धर तक के बौद्ध विहारों को अग्नि की लपटों को समर्पित कर चुका था ! इसके बाद कवि के बुद्ध जनमते हैं ! वासवदत्ता की कविवर्णित कहानी स्वयं इस समय से लगभग २६० वर्ष पूर्व अशोक के गुरु उपगुप्त तिष्य के सम्बन्ध में घट चुकी थी !

यह तो हुई बुद्ध के २००० ई० पूर्व होने की बात, अब जरा पाटलिपुत्र के जन्म का रहस्य सुनिये। कवि ने उसे अपने जादू से समय से बहुत पूर्व ही उत्पन्न कर दिया। उसे इतना भी ज्ञान नहीं कि पाटलिपुत्र बुद्ध की मृत्यु के बाद बसा। बुद्ध बिम्बिसार के समकालीन थे और उसके बेटे अजातशत्रु के शासन के आठवें वर्ष में उनका निर्वाण हुआ। वैशाली के वज्जियों के आक्रमणों से ऊब कर स्वयं उनकी विजय के लिए गंगा और शोण के संगम-कोण में अजातशत्रु ने अपने स्कन्धावार खड़े किये और उसकी मृत्यु के बाद उसके पुत्र राजा उदय ने पाटलिपुत्र का दुर्ग निर्माण कर वहीं अपनी राजधानी राजगृह से हटाकर बनाई। कवि के इतिहास में बुद्ध के समय में ही 'वासवदत्ता नाम्नी वेश्या अपने रूप-यौवन से पाटलिपुत्र को उन्मत्त करने लगी थी।' यह हमारे राष्ट्रीय कवि का ऐतिहासिक ज्ञान ! ऐसी ऐतिहासिकता से हमारे बच्चे जितने ही दूर रहें उतना ही अच्छा। आश्चर्य तो यह है कि यह ऐतिहासिक गवेषणा का नया दृष्टिकोण प्रयाग विश्वविद्यालय के भारत प्रसिद्ध इतिहास-विभाग के आधे दर्जन महापण्डितों की नाक के नीचे स्वयं इण्डियन प्रेस ने छापा है। और सुना है कि शिक्षा-प्रचार के अध्यक्ष पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी ने (जो स्वयं इतिहास के क्रमबद्ध भाग बालकों के लिए गढ़ चुके हैं) इस 'वासवदत्ता' नामक कविता की 'पैरोडी' की है। क्या उसमें इन अशुद्धियों का निर्देश है ? प्रसिद्ध इतिहासकार

सर देसाई की पैरोड़ी करनेवाले प्रहसक की काक-दृष्टि से द्विवेदीजी के ये स्थल बचर हें हों यह क्या सम्भव है ? अथवा चिराग़ तले रोशनी न पहुँच सकी ?

वास्तव में बात यह है कि अपनी मौलिकता की धुन में द्विवेदी जी को शायद पता नहीं चला कि जहाँ उनकी मेधा ब्रह्मास्वादन के लिए झुकी वहाँ घास थी और वहाँ मुँह मारने का वही फल हुआ जो चरने का हुआ करता है। अनुश्रुतियों को ठुकराना कुछ हँसीखेल नहीं है। यदि उपगुप्त की कथा कवि ने सुधारी न होती तो वह प्रसव से पूर्व ही पाटलिपुत्र का जन्म देकर अनर्थ न कर बैठता और न बुद्ध को ही २००० वर्ष पूर्व रखता। और चाहे उसका ज्ञान जैसा भी रहा हो, उसकी क़लई इस बुरी तरह न खुलती। उसने यह भी न सोचा कि बुद्ध के साथ इस वेश्यावाली आख्यायिका का सम्बन्ध करना कितना ओछा होगा। किस क़दर अपने आदर्शों से वह गिर जाएगा। वह शायद समझता हो कि इस कथानक से बुद्ध की महिमा बढ़ जाएगी। परन्तु इस सम्बन्ध में बस इतना ही कह देना काफी होगा कि किसी गढ़े आख्यान में कवि के ईश्वर स्वरूप गांधी और मालवीय का वेश्या-सम्बन्ध से जिस औसत से गौरव बढ़ेगा उसी औसत से बुद्ध का भी इस कृति से बढ़ा है।

अब कुछ अन्य कविताओं की ऐतिहासिकता पर भी थोड़ा विचार करें। 'कुणाल' वाली कथा अशोक के समय की है। द्विवेदी जी कहते हैं—

> बीते कुछ वर्ष,
> इतने ही में दूर पश्चिम में
> शत्रुओं ने किया आक्रमण था राज्य में,
> भारी उपद्रव था खड़ा हुआ ऐसा
> थी जिससे आशंका,—
> कहीं यही चिनगारी बनकर
> न बने महाज्वाल
> लील जाय सारा साम्राज्य बड़वाग्नि में।

हिन्दुकुश से हैदराबाद राज्य के मास्की तक एकच्छत्र सम्राट के गौरव पर आक्रमण करने की बात द्विवेदीजी का उर्वर मस्तिष्क ही सोच सकता था। इतिहास कहता है कि मध्य एशिया से यूरोप तक के राजा अशोक की शक्ति का लोहा मानते थे, परन्तु हिन्दी के इस राष्ट्रीय कवि ने एक आक्रमण गढ़ लिया। शायद उसने समझा हो कि इससे भारतीय राष्ट्रीय गौरव की कुछ श्रीवृद्धि हो जाय! और यह आक्रमण भी साधारण न था। शायद संभव था कि यह—

> लील जाय सारा साम्राज्य बड़वाग्नि में।

सचमुच ही स्वरक्षा का कार्य कुछ ऐसा कठिन है कि कविजी अशोक के मंत्रिमंडल की एक असाधारण बैठक भी करा देते हैं! और फल-स्वरूप तक्षशिला की ओर कुणाल भेजा जाता है। द्विवेदीजी को शायद पता नहीं कि मौर्यों का विशाल साम्राज्य पाँच केन्द्रों से शासित होता था—पाटलिपुत्र से स्वयं सम्राट द्वारा; उत्तरी प्रांतों का भाग तक्षशिला, दक्षिणी प्रान्तों का इसिल, पश्चिमी प्रान्तों का सुवर्णगिरि और पूर्वी प्रान्तों

का तोसली के कुमारों द्वारा। उक्त नगर उन-उन प्रान्तों की राजधानी थे। द्विवेदीजी को जानना चाहिए कि तक्षशिला का शासक स्वयं कुणाल था। उसे पाटलिपुत्र से भेजे जाने की आवश्यकता न थी! मजाक तो यह कि कुछ पंक्तियों के बाद कवि कुणाल को पाटलिपुत्र लौटा लाता है। फिर दूत कुणाल की आँख निकालने के लिए राजाज्ञा लेकर कहीं जाता है। कहाँ जाता है सो तो शायद कवि को भी पता नहीं। शायद तक्षशिला को! यह दण्डाज्ञा 'सेनाधिप' के पास जाती है बल्कि उससे भी बढ़कर 'नायक सरदार' को। यह 'नायक सरदार' कौन था? क्या मौर्य शासन-प्रणाली में उसका भी कोई नियत पद था? या यह आधुनिक नायब तहसीलदार का कोई पुराना जोड़ीदार तो नहीं था? जरा लेखनी उठाने के पूर्व महाकवि ने कौटिल्य का 'अर्थ-शास्त्र' ही देख लिया होता। परन्तु उसे देखने के लिए कवि के पास समय कहाँ था? वह स्वयं कहता है—'शीघ्रता के कारण प्रूफ़ का संशोधन सुचारु रूप से नहीं हो पाया।' इसी कारण तो ढेर की ढेर गलतियाँ भरी पड़ी हैं। पर कवि क्या करे जल्दी थी। यदि जल्दी न करता तो हिन्दू विश्वविद्यालय की रजतजयन्ती पर उसका ऐतिहासिक ज्ञान चमत्कार कैसे पैदा करता? प्रो० पुणताम्बेकर और डा० अलतेकर की खोजों पर वह अपनी पेबन्द कैसे टाँक सकता? और फिर उस 'महामहिम भगवान मालवीय' का साधुवाद उसे कैसे मिलता? और यह भी तो भूलनेवाली बात नहीं कि उसका वह 'युगावतार गाँधी' भी वहीं था जिसके सम्बन्ध में वह अन्यत्र कहता है—

हे कोटिचरण, हे कोटिबाहु।
हे कोटिरूप, हे कोटिनाम।
तुम एक मूर्ति, प्रतिमूर्ति कोटि
हे कोटिमूर्ति, तुमको प्रणाम।

भाग्यवश कालिदास और भवभूति को ऐसी जल्दी न थी। उनके सामने न तो हिन्दू विश्वविद्यालय था और न थे गाँधी-मालवीय-से प्रश्रयपोषक। वे तो अपने चरितनायक राम तक को यह कहकर ललकार सकते थे, निष्ठुर व्यंग कर सकते थे—वाच्यस्त्वया-मद्वचनात्स राजा। विष्णु पुराण का कवि समुद्रगुप्त के द्विग्विजय के बाद उसे संसार की स्वतन्त्रता कुचलनेवाला कहता है और अन्त में इस बात पर सन्तोष करता है कि जैसे रघुवंश के राघवों की कथा सन्दिग्ध हो गई है समुद्रगुप्त की भी एक दिन भूल जाएगी। और इस पर टीकाकार व्यंग करता हुआ ऐश्वर्य को धिक्कारता है।

अब जरा फिर ऐतिह्य पर आइये। द्विवेदीजी को जानना चाहिए कि प्रत्येक प्रान्तीय कुमार शासक के साथ एक मन्त्रिपरिषद् थी जो सम्राट् की मन्त्रिपरिषद् की भाँति उससे भी शक्तिपूर्ण थी। दूत को उस मन्त्रिपरिषद् के पास जाना चाहिए था। राज्य की शक्ति वास्तव में इस मन्त्रिमण्डल में थी और स्वयं अपनी इच्छा से अशोक अपना राज्य भी किसी को नहीं दे सकता था। कवि का वर्णन कि उसने तिष्यरक्षिता को हुमायूँ की भाँति राज्य सौंप दिया निरर्थक है। राजा से भी कुछ अधिकार मन्त्रिपरिषद् के अधिक थे। स्वयं अशोक के सम्बन्ध की एक कथा 'दिव्यावदान' (पृ० ४३०–३१) में वर्णित है। उसने कुक्कुटाराम विहार को धन देना चाहा। मन्त्रिमण्डल ने उसका विरोध

किया और कुणाल-पुत्र संप्रति (जो युवराज था) से कहकर वह दान रोक दिया। अशोक ने पूछा—राजा कौन है? मन्त्रिप्रवर राधगुप्त ने कहा—देव (आप)। इस पर आँसू भरे हुए (साश्रुदुर्दिनयन-वदनोऽमात्यानुवाच) राजा बोला—क्यों झूठ बोलते हो? राजा अशोक को बिना परिषद् की आज्ञा के आधा सेब तक देने का अधिकार न था। कहाँ तो वह आदर्श कहाँ वर्तमान कवि का जिसमें अशोक जिसे चाहता है राज्य लुटा देता है।

और यह 'महासभा मण्डप' क्या बला है? कौंसिल-हाल को तब 'सभा', 'सद' अथवा 'संसद' कहते थे। शायद हिन्दू-विश्वविद्यालय की जल्दी में हिन्दू महासभा का कवि को ध्यान हो आया और उसका 'स्वर गूँज उठा महासभा-मण्डप में'। तिथि व्यतिक्रमों (anachronisms) से तो पुस्तक भरी है। इस कथा सम्बन्धी संदर्भ में कवि लिखता है: (तिष्यरक्षिता) 'छल से तक्षशिला के क्षत्रप के पास राजाज्ञा भेजती है कि वह कुल-कलंक कुणाल की दोनों आँखें निकाल कर राज्य से निर्वासित कर दे।' यह खूब! तक्षशिला का क्षत्रप तो स्वयं कुणाल था! और यह 'क्षत्रप' शब्द क्या बला है? 'क्षत्रप' तो ईरानी सम्राटों के प्रान्तीय शासकों का पद विशेष था जो अशोक के लगभग दो सौ वर्षों बाद भारत में शकों और कुषाणों द्वारा प्रचलित हुआ। फिर कुछ ही आगे चलकर अन्धे कुणाल को राज्य देकर अशोक वन को चला जाता है। अव्वल तो अशोक के वन जाने की बात कल्पना मात्र है। फिर यदि धृतराष्ट्र गद्दी पर न बैठ सके तो अन्धा कुणाल कैसे बैठा? फिर इतिहास के अनुसार कुणाल तो गद्दी पर बैठा ही नहीं, उसके पुत्र संप्रति ने अशोक के कर से शासन-रज्जु ली।

अन्त में 'महाभिनिष्क्रमण' नाम्नी कविता में एक लाइन है—

> चले आर्यपुत्र त्याग पाटलि-प्रासाद को।

ऐतिहासिक के लिए इस लाइन को समझना जरा टेढ़ी खीर है। अब तक इतिहासकारों का यही विचार रहा है कि गौतम ने महाभिनिष्क्रमण कपिलवस्तु से किया था। वहीं उसने संसार छोड़ा, पिता, स्त्री, पुत्र, राज्य वगैरह। पाटलिपुत्र तब अभी जन्मा भी न था। परन्तु इस लाइन में वह पाटलिपुत्र में महाभिनिष्क्रमण करता है। यह एक नई सूझ है, नई खोज है। सारे बौद्ध-साहित्य को कवि ने गलत साबित कर दिया। अथवा 'पाटलि-प्रासाद' का अर्थ कुछ और है?

× × ×

अब जरा भावों पर एक नजर डालें। कवि की भाषा में ओज और प्रवाह है इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। इसी कारण इस अनर्थ से बचने की भी विशेष जरूरत है। उदाहरणार्थ कुछ स्थल नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

वासवदत्ता में कवि कहता है—

> थे न हम परतंत्र किसी बंधन में,
> आये थे मुगल भी न इस देश में

क्या मुगलों से ही हमारा पारतंत्र्य प्रारंभ हुआ? आर्यों के आगमन से बहुत

पूर्व भारत भारतीयों का था। पर ये भारतीय कौन हैं? आर्यों ने जब द्रविड़ों की सत्ता उठा दी तब भारत परतंत्र न हुआ? अथवा उनके बाद अनेकों विजेताओं ने भारत विजय न की? छठी सदी ई० पू० में पंजाब और सिंध का प्रांत ईरानियों का था, फिर ई० पू० दूसरी और पहली सदियों में ग्रीक और शकों ने भारत पर राज्य किया। कुषाणों और हूणों ने भी भारत विजय की, फिर अनेक बाहरी जातियों ने और तब कहीं पठानों और मुग़लों ने।

एक अन्य स्थल पर कवि वासवदत्ता की लज्जा का वर्णन करता है—

> उन्नत कुचकलशी को अंचल से ढकती-सी
> लज्जा से छुई-मुई बनती सिकुड़ती-सी

यह अंचल कैसा? क्या साड़ी का अंचल तो नहीं? सारे भारतीय तक्षणकला में स्त्रियों के वस्त्रों में उपरार्ध के लिए सिवा 'स्तनांशुक' के अंचल तो लेखक के देखने में न आया। यह अंचल एक बार बत्तीसवें पृष्ठ पर भी आया है। ख़ैर अब ज़रा इतनी लज्जावाली की पहली वाणी तो सुनिये—

> 'अतिथि देव!
> यौवन यह अर्पित पद-पद्म में है,
> इसको स्वीकार करो,
> यह न तिरस्कार करो,
> यौवन यह, रूप यह, जिसे प्राप्त करने को
> यती यत्न करते, तपी तपते पंचाग्नि नित्य,
> बड़े-बड़े चक्रवर्ति मुकुट विसर्जित कर
> चाहते अधर का दान, चाहते मुकुट का दान।
> तप्त उर शीतल करो गाढ परिरंभण दे।

द्विवेदीजी शायद समझते हैं कि वेश्या का कोई गौरव नहीं, उसकी कोई dignity नहीं। मेरा दावा है कि यदि आज वासवदत्ता को इस चित्रण के उत्तर में कुछ कहना होता तो धूल चाट लेते। मैं नहीं समझता कि प्रथम मिलन में कोई पतिता वेश्या भी ऐसा प्रस्ताव कर सकती है। फिर—

> गौतम यह देखकर,
> माया सब लेखकर,
> चकित-से, विस्मित-से, भ्रमित-से, अवाक-से,

(भला 'माया' लख लेने पर भी बुद्ध की यह अवस्था क्यों हो जाती है?)

> लगे देखने सभी लीला वासवदत्ता की,
> रूप की,
> यौवन की,
> यौवन के आग्रह की,
> प्राणों के कम्पन की,
> सिहरन की।
> शान्त हो बोले साधु

(क्या 'यौवन के आग्रह' ने साधु को अशान्त कर दिया था ?)

> 'देवी क्या कहती हो ?
> सावधान हो के • ज़रा सोचो तो
> कहती क्या ?
> कि : : फिर !
> आज मैं अतिथि नहीं बनूँगा इस गृह में ।'

यह तो खूब रही। क्या यह वही बुद्ध थे जो लालसाओं को चुनौती देकर उनकी विजय करते थे, वही जो गया के महाकान्तार में जब अँगुलिमाल डाकू के संकल्प की खबर मिली, प्रहरियों के मना करने पर भी उससे मिले थे ? और फिर जिसे उन्होंने दीक्षित किया था ?

'उर्वशी' में नायिका अर्जुन के प्रस्ताव न मानने पर उसे एकदम ललकार उठती है जिससे 'डायलाग' का रूप बिगड़ गया है (देखो पृ० १९)। अर्जुन को 'शुभ' कहकर सम्बोधित करना कुछ अजीब है। 'शुभा' जरूर स्त्रियों के लिए आता है परन्तु 'शुभ' पुरुषों के लिए शायद कभी नहीं। ऐसे ही 'सरदार चूड़ावत' में पृष्ठ २४ पर जब चूड़ावत की अतृप्त वासना में कवि बहुत कुछ कहता है वह शायद—'सोये थे न एक सङ्ग'—की स्पष्ट प्रकटेच्छा दबा सकता था। एक बात और। जब सरदार का घोड़ा चलता चलता अड़ जाता था तब कवि कहता है—

> बढ़ता था, अश्व भी न,
> स्वामी का मुख देख, रुख देख।

'रुख' देखे तो ठीक, पर 'मुख देख' कैसे ? एक Personal कहानी पढ़ी थी उसके लेखक ने लिखा था—'लज्जा से मेरे कपोल लाल हो गये।' यह भी कुछ वैसा ही है। सरदार रण में 'लक्ष-लक्ष नरमुण्डों से' भूमि पाटता है, 'कोटि मुण्डमाल रणचण्डी के चरणों में' अर्पित करता है। याद रखना चाहिए कि सारे हिन्दुस्तान की आबादी उस समय सोलह करोड़ थी और राजाओं की कुल संख्या दो लाख से अधिक नहीं ठहराई जा सकती। कुन्ती जब रात्रि में कर्ण से मिलने जाती है तो अभिसार का रूप-सा खड़ा हो जाता है। कुन्ती एक स्थल पर कहती है—

> चख न सकी पुत्र तेरे जन्म हर्ष को।

भला जन्म-हर्ष 'चखा' कैसे जाता है ? ऐसे ही एक शब्द 'आर्य-पुत्र' का कवि अपने वर्णनों में अनेक बार प्रयोग करता है। क्या ये 'आर्य-पुत्र' कवि के हैं ? 'आर्य-पुत्र' शब्द का अर्थ तो रूढ़ि-सा हो गया है 'ससुर के बेटे' के अर्थ में। यदि पत्नी के स्थान पर प्रेयसी भी इसका प्रयोग करती तो किसी क़दर क्षम्य था। कवि किस नाते करता है ? कुन्ती अपना 'स्रवित स्तन्य पय' कर्ण को दिखाती है। क्या यह एक शाब्दिक सत्य है ? और कुन्ती का यह कहना कि 'मा का निःस्वार्थ स्नेह तुझको पुकारता है' कितना झूठा है ? यह एक प्रासंगिक सत्य और साथ ही ऐतिहासिक सत्य भी है कि कुन्ती का अनुनय स्वार्थपर था। फिर—

> 'कर्ण, बंधु तू अर्जुन का, युधिष्ठिर का, भीम का, नकुल का,
> त्योंही सहदेव का सहोदर है,'

बंधु तो ठीक पर कर्ण 'सहदेव का सहोदर' कैसे है ? कर्ण तो कुन्ती के उदर का

और सहदेव माद्री के उदर का था। फिर वे 'सहोदर' क्योंकर हुए ? क्या अनुप्रास के लिए 'सहोदर' शब्द का प्रयोग हुआ है ? एक उक्ति और अजीब है—'कर्ण तेरे वंशज थे।' यह कैसे ? कर्ण क्या अपने भाइयों का पिता था ? वंशज तो अधः संज्ञा है।

गाली देने में अशोक उर्वशी से बढ़ गया है। एक बानगी लीजिये—

'पुत्रघातिनी ! व्यालिनी ! कुचक्रधारिणी !
पापिनी ! पिशाचिनी ! कहाँ है कुलनाशिनी !'

ये उद्गार उस तिष्यरक्षिता के प्रति हैं जो—

भय से विकंपिता,
पदतल समर्पिता
चेतनाहीन, मूर्छित-सी, धरणी में पड़ी दीन,
कठिन अनुताप-सी,
घोर पश्चाताप-सी,
जीवित अभिशाप-सी,
हत्या के पाप-सी ;

फिर—'घोर पश्चाताप-सी' होने पर भी—

ठुकरा दिया गहन चरण से अशोक ने,

फिर बोला—

'छिन्न करो, धड़ से शिर,
अभी इस पापिनी का,
घोर पुत्रघातिनी का।'
अंग-अंग भेदो, छेदो शर से सभी शरीर

... ...

फिर 'तीक्ष्णधार तलवार' लिये जल्लादों से सम्राट कहता है—

'क्यों रुके हो ?
चलाओ खड्ग,
शिर को कन्धों के सम्बन्ध से करो छिन्न,
भिन्न-भिन्न अंग प्रत्यंग करो।'

यह चित्र उस अशोक का है जिसने देश-विदेश में पशुओं तक के लिए चिकित्सालय खोले और संसार में शान्ति के संवाद भेजे। जिसने दिग्विजय छोड़ धर्म-विजय किया। 'वासवदत्ता' के पहले ही पृष्ठ पर द्विवेदीजी लिखते हैं—'अपनी थी संस्कृति अछूत'—यह 'अछूत' क्या 'अछूती' के अर्थ में है ? कहीं पाठक इसे 'हरिजन' का अर्थ न समझ बैठें ! एक स्थल पर आता है (पृ० ३)—यह न तिरस्कार करो'—'यह' शायद 'इसका' प्रतिनिधि है। 'फफोलों पर, छालों पर, घाव पर, पीप पर' (पृ० ६)—फफोले और छाले क्या दो चीजें हैं ? Tantology की भरमार है ! रवीन्द्र में यह वीभत्स रूप नहीं मिलता। उर्वशी ने अर्जुन को (पृ० १३) अपने 'पद-रज-पराग से' 'गौरवित' कैसे किया ? क्या लात मारी ? उर्वशी अपने हाथों को स्वयं 'पाणि-पल्लव' (पृ० १६) कहती है। क्या देव सभा में इन्द्र के साथ सदा रहकर भी उसने शिष्टाचार की इतनी-सी तमीज न सीखी ? 'तपोमयी' (पृ० १८) तो ठीक पर यह 'तपोत्याग' (पृ० २३) कैसा प्रयोग ? उर्वशी अर्जुन को एक स्थल पर गाली देती है—'छली ! भीरु ! कायर ! पुरुष ! नृशंस !' क्या

'पुरुष' भी कोई कुवाच्य है? या पुरुष होना ही एक अभाग्य है? 'कानन अरण्य बीच' (पृ० ३०) में क्या इन दोनों शब्दों के अर्थ भिन्न हैं? कर्ण के पूछने पर कि तुम कौन हो? कुन्ती उत्तर देती है—'कुन्ती देवी!' यह राजमाता के कथन की dignity खूब है। शायद केवल 'कुन्ती' से काम न बनता। इसी 'कर्ण और कुन्ती' में एक हास्यास्पद भूल है। पृ० ३० पर वर्णन है—

'गहन अन्धकार, जिसका न आरपार', और फिर (पृ० ३१)—'घोर गहन कानन में, वन में, निशीथ में'—घोर बन, आधी रात में जब गहन अन्धकार है, वहाँ—'छाया एक डोलती है'—फिर—'छाया एक और...आती है और पास'—यह समझ में नहीं आया कि कर्ण और कुन्ती दोनों बिल्ली की औलाद हैं या उल्लू की? उन्हें इतने अँधेरे में भी दीखता है और वह भी साधारण चीज़ नहीं बल्कि छाया! एक बात और। यह छाया पड़ी कैसे? छाया तो प्रकाश के कारण पड़ती है बिना उसके यह सम्भव कैसे है? फिर महाभारतवाली कथा में तो कर्ण से नदी के तट पर कुन्ती मिलती है। यहाँ स्नान का प्रसंग नहीं दिखाया गया तब कुन्ती ने जाना कैसे कि आधी रात में कर्ण घने जंगल में जाएगा? कर्ण वहाँ गया ही क्यों? द्विवेदीजी शायद यह समझते हैं कि कवि स्वच्छन्द है उससे ये सब बातें नहीं पूछी जा सकतीं। इस प्रकार के स्थलों की 'वासवदत्ता' में भरमार है कहाँ तक उनकी तालिका दी जाय?

× × ×

विस्तार भय से यहाँ भाषा, छन्द और विरामादि पर विचार नहीं करता, शायद फिर कभी करूँ। इतना और मैं अवश्य कह देना चाहता हूँ कि राष्ट्रीय कवि होने का दावा इससे न निभेगा। इससे काम नहीं चलने का। जब कवि समर्थ शक्तियों की उपासना में काव्य लिखता है तब वह गुलामी की जंज़ीर गढ़ता है, ऐसी शक्तियाँ चाहे देश के नेता ही क्यों न हों। 'भैरवी' में गांधी की स्तुति थी, इसमें मालवीय की है, फिर शायद जवाहरलाल की होगी और शायद तब उस लट्ठमार की जो जवाहरलाल तक को चुप कर सकता है; पर इससे काम न चलेगा। ऊपर मैंने 'भैरवी' से 'हे कोटिचरण' आदि का उद्धरण दिया है। यह मानसिक गुलामी का रूप है जो शारीरिक गुलामी से कहीं बुरी है। स्वतन्त्र वह है जो परतंत्रता की spirit से भागे। ऋग्वेद का 'पुरुष-सूक्त' अपने भगवान को केवल 'सहस्रशीर्षा' कहता है, परन्तु द्विवेदीजी अपने गांधी-ब्रह्म को 'कोटिचरण' कहते हैं। इससे असत्य का रूप खड़ा होता है, नेता बिगाड़े जाते हैं। द्विवेदी ने 'भैरवी' में अनिर्वचनीय पर अनिवार्य असत्य की घोषणा की है—

> हैं अस्त्र-शस्त्र लुण्ठित-कुण्ठित,
> सेनाएँ करतीं गृह-प्रयाण!

क्या यह खरा झूठ नहीं है?

द्विवेदीजी 'वासवदत्ता' के 'आमुख' में कहते हैं—'भैरवी के साथ मेरी रचनाओं का एक युग समाप्त होता है। वासवदत्ता में मेरी कविता का नवीन युगारंभ है।' यदि 'वासवदत्ता' एक नए युग का आरम्भ करती है तो यह नवीन प्रयास सर्वथा असफल है। जी चाहता है कह दूँ—प्रथमे ग्रासे.... ★

छः कविताएँ

मानव की राह यह

●

['अंचल']

नील गगन में चाँद तैरता
नाच रही हैं मस्त हवा में डालें
झरने की करधनी बज रही छाया म्लान दूर पर्वत पर
ताराओं से धरा कहानी कहती
जो अपलक निःशब्द अचंचल सुनते
अपने सजल उदास दृगों में ले अप्रिय अवसाद
जीवन के अनसुने सैकड़ों राग
उतर रहे हैं नीरवता तन्द्रा की गहराई में
बढ़ता जाता रजनी का सन्नाटा
तुम भी उतर रही हो धीरे-धीरे
मेरे दिल पर
जैसे शबनम फूलों की अलसाईख पंड़ियों पर
जैसे कोई चंचल चिड़िया कुम्हलाती टहनी पर
तुम मेरी जीवन भर की पहचानी
मेरी भूख प्यास की वाणी अब बेगानी।

जो सामने दूर तक चला गया
यह सुनील पर्वत का फेनिल और तरंगित पथ
उसमें पड़ा बिछा-सा धुली चाँदनी का अंबार
पर मेरे अम्बर पर फैला यह वीराना अन्धकार
जो जले हृदय की घुटी राख से उठता
इस दुर्निवार अन्धकार में
आई तुम जिन्दगी की चाह-सी
खुशियों के मद भरे मीठे इरादे-सी
ठीक जैसे जब थीं कुमारी तुम
तितलियों-सा आँचल उड़ाती नाचती थीं जब

बरसे झमाझम ज्यों सावन का मेह
ठीक वैसे आई हो
लायी हो नदी का रम्य कल्लोल
यौवन की वह सुवास
पूरित जो उर्वर परमाणुओं से मुँह तक
जागृत कठोर सपने में इस दीन के
जिसमें समस्त रजनी की नींद घुल गई
आशा के झोंकों से अधीर मेरी श्वासों में
जाग उठी प्रबल पुकार कैसी
भूल गया आज जैसे जीवन के बन्धनों को
छवि की दीवारों को।

× ×

शेष हुआ जीवन का कोमल प्रथम चरण
शेष हुई सपनों के महलों की वह लड़ी
माँग जिसकी था रवि सोने से भरता
और निशा काजल लगाती नित्य
अलकों का मोह जाल फैला दिशि-दिशि में।
ज्योत्स्ना विमुग्ध नक्षत्रों से दिवस वे शेष हुए।
दिन में न जागती है प्राणों की झङ्कार
बीत जाता दिन मज़दूरी में
किन्तु तम पारावार-चाँदनी की व्योम धार
आधी रात की अखण्ड शून्यता
होता उच्छ्वसित जब श्यामा धरती का प्यार
चलती है नयनों में नीरवता की घात
जब चेतना पर गिरता है निद्रा का शान्त पट
तब मैं जागता-डूब अपने ही तेज़ रुधिर की धारा में
अपने फटे मैले बिस्तर पर लोटता
नियतिबद्ध पदाक्रान्त पशु-सा ज्यों असहाय
रोम-रोम बनता है जीवित स्फुलिङ्ग
होते आत्मा पर अविराम आघात।

× ×

सहसा उधर तुम
डूबे काले दरिया में एक किरनकनी-सी
समय के शोर को थामनेवाली देवी-सी
रक्त और माँस वाली—देह सहित स्वप्न में जो

मेरे मौत के-से अन्धकार को निखारती
सोई वासना की शमशीर-सी
पानी का तरङ्गाकुल लेकर प्रमाद नया
मेरी गन्दगी की जड़ता को लाँघती
मौनता के उभरे स्वरों में रस बिन्दु ले
और बेताब कितनी
फूँकने को जैसे मेरे मानस का अन्धकार
दुर्दिन की द्रवीभूत परछाईं-सी
देते आलोक दान।
कील-सी गड़ी मेरे मन की उदासी को
छुरी-सी पीरवानी दिल की तबाही को
पाप-पुण्य की अधूरी रात भरी खोह को
उजड़ी-सी खोह को
जैसे आत्मा की दिव्य आँखों से निहारती
किन्तु मुझे धोखा है—पहले से अधिक डरावना
यह तो प्रकाश नहीं—उज्ज्वल पथ ज्योति नहीं
केवल है उजली स्याही का एक स्तूप
समझा जिसे था उर अमृत सींचती-सी
ताप शाप खींचती-सी
सम्मुख दिया न जो
स्वप्न में युगों की वही धरोहर उलीचती-सी
तृष्णा है एक यह अर्ध स्वप्न अर्ध अस्तित्व
पूरी जो न होगी इस जीवन में किसी दिन
मरने के बाद फिर आशा क्या ?
अतीत के गीतों के संचय कुरेद कर
डूब गया काले बादलों में खुला चाँद भी
शिथिल पड़े हैं शैल बध्रुओं के मंजीर
बजते थे रह-रह जो दूर झोंपड़ियों में
रजनी के घोर सुनसान में।

होगा कुछ घड़ियों में प्रभात
लेकर जो आवेगा
जीवन की कटुता का हाहाकार कोलाहल
किन्तु नवीनता से शून्य आनेवाले दिन की
भूमिका है कितनी कठोर यह
ऊसर में धूप से जलाता है अधिक ज्यों बालू का ताप।

× ×

लो तुम लगी होने असमय तम में लय
कुछ कहते ही रह गये नमित दृग
जीवन में जैसे ठीक वैसे आज रात में
बाट आवाहन की देखता ही रह गया
अपने ही मन की उथल-पुथल से घिरा
बोल भी न पाया मैं
टेक भी न पाया अभिमानी ऊँचा मस्तक यह
पाकर वह ठौर जहाँ नत होते रहते
मेरे प्रण मेरे दर्प
मेरी ऊँची ग्रीवा के गर्वशाली जयगान
व्योम-चुम्बी अरमान
खोजता हूँ जीवन के समर में दिन में
यही वक्ष-स्थल मैं
करूँ मैं पलायन जहाँ ले जयव्रती प्राण
खोकर अहं जहाँ
क्षण भर को ही सही
कर दूँ विसर्जित ये वेदना के संघात
आत्म-शक्ति के तरंगवाही क्षुब्ध झंझावात
उच्च्य आकांक्षा से जो, नीचे प्रार्थना से झुके
जीवन की मूर्ति पा
बहती स्फूर्ति पा
स्नेह झंकार से
मृदु मुस्कान से
घने पल्लवों से घिरे नेत्रों से।

मानव की चाह यह मानव की राह यह
एक क्षण को ही सही यौवन की थाह यह
अंग-अंग में रमी उमंग की पुकार यह
जिससे शिरा-शिरा में नवीन रक्त
निर्मित हो जागृत हो अरुण शिखा-सा
आगत भविष्य की होती चले पूर्णाहुति *

★

---

* आल इण्डिया रेडिओ, दिल्ली के सौजन्य से ।

जीवन की राह पर*

●

[मंगलामोहन]

हॉस्टल का एक रूम,
विशृङ्खल, अस्त-व्यस्त—
अपने निवासी की चित्तवृत्तियों की भाँति।
एप्रिल का प्रथम चरण—
ग्रीष्म अवतरित हुआ,
तपने लगी है मही।
विगत परीक्षा हुई,
टूट रहा स्वप्न-लोक,
अस्तंगत हो रहा है—
कल्पना के झूले पर झूलता हुआ जीवन,
विद्यालय का जीवन—
विश्व की विरूपता से,
जग के संघर्षों से,
वर्ग ह्रासोन्मुखता से,
ऊबी, घबरायी, पलायमान—
मध्यवर्गी युवक की चिन्ता-धाराओं का,
एक यह शरण जो,
विद्यालय का जीवन।

× × ×

गिरती अवस्था के—
विधुर के जीवन-सी,
सुनसान दोपहरी,
कमरे के एक कोने, छोटे से टेबुल पर—
रक्खा 'स्टोव' एक, बोतलें दो-चार,
एक 'लिप्टन' का खुला हुआ पैकेट,
औ' प्याले भी तीन-चार,
गन्दे, उच्छिष्ट-भरे।
एक ओर चमड़े के तीन बड़े सूटकेस—
कोई खुला, कोई बन्द—
जिनके समीप पड़ा,
एक अम्बार-सा—
दो दिन के व्यवहृत, अधमैले-से कपड़ों का।
वहीं पास, आदमी की पहुँच तक दीवार—
आच्छादित सुन्दर सुनहले-से कागज़ से,
जिसके सिरे पर लगे—
भाँति-भाँति 'ब्रैकेट्स' पर,
टँगे हुए—
कोट, पैन्ट्स, टाइयाँ विचित्र-चित्र।
एक अन्य कोने मे,
छोटी-सी एक मेज़,
मेज़पोश जिस पर पड़ा है एक सुन्दर-सा;—
कापियाँ-किताबें,
कुछ खुली अधखुली पड़ीं—
फाउण्टेनपेन-स्याही का 'पॉट' उलटा है पड़ा,
धीरे-धीरे सुवमान,
बिजली के 'लैम्प' के तार पर चू-चू कर,
भिगा रहा कॉपी का एक कोर,
रँग रहा मेज़पोश।

× × ×

कमरे के बीचो-बीच,
खिड़की के सामने ही—
जिस पर कि नीला-सा पर्दा शोभायमान—
ऊँचे से पलंग पर,
दूध-सी धुली हुई चादर की शैया पर,
तीन तकियों के बल—।
('हैपी-ड्रीम', 'शुभ रात्रि',
'प्लीज़, फ़ारगेट मी नॉट',
जिन पर शूचीकृत हैं)
सोया है युवक वह,
दिवा-सपनों में मग्न।

---

* 'युग-सन्धि' नामक महाकाव्य का एक अंश, जिसे मैंने जेल में लिखना शुरू किया था।—ले०।

सिरहाने स्टूल पर—
रक्खे हुए, बिजली के पंखे की—
तेज, लहराती वायु,
लम्बे-लम्बे बालों से क्रीड़ा करती हुई-सी,
पार-दृश्य, पतले से—
रेशम-परिधान को—
गौर-वर्ण देह पर झल-मल झलकते औ',
छल-छल छलकते से—
कुर्ते-पाजामे को—
अस्त-व्यस्त कर रही,
पल-पल झकझोर कर।

× × ×

मध्य-वित्त युवक वह,
छोटी-सी एक टुटपुँजिया जमींदारी का—
भावी उत्तराधिकारी,
यद्यपि अनवगत है—
पूँजीवादी दुनिया की आर्थिक-प्रक्रिया से,
पण्य की रति से,
भूमि-स्वामियों की ह्रास-नाश-उन्मुखता से ;
फिर भी उसे ज्ञात है इतना तो निश्चय ही,
गाँव पर रह सकना,
नहीं मात्र दुष्कर है,
प्रत्युत असम्भव है ;
जहाँ नहीं बिजली है—
(गर्मियों में पंखे बिना दम घुट जायगा)—
जहाँ नहीं सिनेमा है,
एक शब्द में कहें तो—
जहाँ नहीं जीवन है।

× × ×

स्वप्न आ रहे हैं उसे।
आई० सी० एस० की परीक्षा पास करके वह,
अपने ही जिले का कलक्टर नियुक्त है।
शहर से दूर,
एक सज्जित-से बँगले में,
वर्दी-चपरास-साफे आदि से 'टिप-टाप,'
बेहरों औ' नौकरों से सेवित, विराजमान।

तितली-सी सजी-धजी,
अपने अस्तित्व के प्रयोजन से अनभिज्ञ,
वर्ग-संस्कृति की मारी,
'हेडॉनिस्ट' नारी से,—
जो कि उसकी धर्म-विहित पत्नी कहलाती है—
बातें किये जा रहा है।
'रानी!'—
और कितनी यांत्रिकता है,
नारी को दासी औ' विलास-वस्तु—
मात्र बना रखने को
साम्राज्यवादी इस तथाकथित रोमांचक—
मादक संबोधन में!—
'कहो, आज तो मनोरथ सफल हुआ?
कहा था न, एक साल में ही—
जब बी० ए० कर लूँगा तब,
सुख के सिंहासन पर तुमको बैठाऊँगा?'
और तभी आनंद-विभोर-सी,
एक बाँके भ्रू-विलास में सहस्र-रति भर,
धन-जीवी-जग की—
'व्यर्थ-अस्ति' नारी वह,
रक्तिम कपोल लिये
नत-नयन हो गई,
विनत-प्राण हो गई
तब स्वप्न-मग्न युवक—
जिसकी मुरादें,
(भली बीवी, भली रोजी)
कल्पना में मानो बर आईं—
बढ़ा उसे चूम लेने।

× × ×

तभी भिड़े द्वार पर—
'बाबूजी, बाबूजी!'—
हाथ मारा किसीने।
नींद खुल गई,
आवाज पहचानी,
पर फिर भी वह पड़ा रहा,
आँखें मूँदे, निस्पन्द!

आह ! वह सुखद स्वप्न !
और यह खड़ा मैं,
वास्तविक जीवन की राह पर,
व्याकुल मन, निश्चल-तन !
फिर कुछ संयुक्त-स्वर—
'बाबूजी ! बाबूजी !'
'कौन है, जिसे न इतनी-सी भी तमीज़ है—
कि 'एक्ज़ामिनेशन' की—
थकी-माँदी, आज इस पहली दोपहरी में,
दो पल के लिए भी—
पलक मारने न दिया ?'
'रद्दीवाला, हजूर !'
'सिगरेटवाला हजूर !'
'फोटोग्राफर हजूर !'
और भी एकाधिक स्वर,
एक ही में गूँजकर,
अस्पष्ट हो उठे।

अपव्ययी भावी ज़मींदार—
(याकि भावी कलक्टर ?)—
कुछ सहमा,
अस्त-व्यस्त हुआ,
क्रोध से भर उठा—
'परसों से पहले यहाँ मुँह न दिखाना कोई !
अक्ल भी नहीं है इन्हें,
आज ही, अभी-अभी तो इम्तहान बीते हैं !
नया भी नहीं हूँ,
आठ साल से यहाँ हूँ,
गोया अंतिम परीक्षा बीतते ही भाग जाऊँगा !'
और फिर भीतर से चटखनी चढ़ाकर,
पुनर्वार, सोने की चेष्टा में रत हुआ।
किन्तु फिर न लौटे वे दिवा-स्वप्न प्रिय-प्रिय,
आग्रह कर आँखों में नाचती ही रह गई,
अनजानी जीवन की राह की अँधियारी !

★

नारी से

●

(केदारनाथ अग्रवाल)

चोली चीर उतारो नारी !
जाओ-जाओ युग पर वारी !!

लज्जा के परिधान न भाते,
खुली देह को एक न पाते !
कहना मानो - कहना मानो,
अंग-अंग अपने पहचानो !
चोली चीर उतारो नारी !
जाओ-जाओ युग पर वारी !!

कन्दुक-क्रीड़ा का युग बीता ;
चुम्बन का रस अब है रीता ;
आँखों की छल-धारें छूटीं ;
आलिङ्गन की बाहें टूटीं !
चोली चीर उतारो नारी !
जाओ-जाओ युग पर वारी !!

देखो, देखो, सूर्य निकलता,
कैसा सरल प्रकाश पिघलता ;
अपनी नंगी देह तपाओ,
अङ्गों की चिर पीर मिटाओ !
चोली चीर उतारो नारी !
जाओ-जाओ युग पर वारी !!

छाती खोलो, दृढ़ बन जाओ ;
जाँघें खोलो, पौरुष लाओ ;
आओ, मर्दों के संग आओ ;
सामूहिक जन-जीवन पाओ !
चोली चीर उतारो नारी !
जाओ-जाओ युग पर वारी !!

★

उन्मुक्त !

[नेमिचन्द्र]

हो गया आज उन्मुक्त विहग पल में अबन्ध
छुट गये वासना के नाते सब मोह अन्ध,
खुल गये पलक में ममता के सब नागपाश
कारा-तम के वासी ने देखा उषा-हास
उड़ चला गगन में अपने आतुर पंख खोल
भर गइ मुक्ति वह मन में कुछ मस्ती अमोल
उद्दाम वेग से उड़ा चला मानो अशान्त—
हो नभ की सीमा ही छू लेने को नितान्त
उड़ जाएगा मानो अगजग के आर-पार
उसके अन्तर में आया है वह रक्त-ज्वार
है आज न उसके प्राणों को कोई विराम
वह छोड़ चला रुकने के सारे सरंजाम
उसके आगे क्या ठहरेगा कोई विरोध ?
हो गया उसे अपनी क्षमता का पूर्ण बोध
चिर दिन से बन्दी आकुल-सा कोई प्रवाह
पा जाय अचानक ही अपनी अवरुद्ध राह
उसके आगे तब ठहर सका है कौन कूल ?
जब हो पड़ती है प्राणों की गंगा अकूल !
वह आज चीर देगा अम्बर का उर अनन्त
युग युग की जड़ता का कर देगा आज अन्त
वैषम्य शृङ्खलाएँ अब होंगी चूर-चूर
उग रहीं स्वर्ण रेखाएँ समता की सुदूर
वह आज मिटा देगा जीवन से वृथा दम्भ
होगा उस पल में ही नवयुग समारम्भ
धीरे-धीरे कलियों के खुलने के समान
उस गहन वेदना का रहस्य वह गया जान
है काँप रहा जिससे संसृति का वक्षदेश
है कंठ रुँधा-सा, पलकें अविचल निर्निमेष ।
उस चिर असीम के आगे निज सीमित कुरूप—
अपने मन का पहचान गया है वह स्वरूप
लगता है कितना ओछा अपना क्षुद्र प्यार
कितना दुर्बल है बौना अपना अहंकार
पर आज धुल गया है सारा वह छद्मवेश
पहचान गया है वह अपनी लघुता अशेष
वे घोर अपावन छलना के पल गये बीत
वह आज विसर्जित है प्रभुचरणों में पुनीत
ममता के बन्धन, बन्धन की ममता समस्त
अब टूट चुकी, उसका पथ फैला है प्रशस्त

✦

बुर्जुआ

[रमण]

महल के पाप के पुतले—
महल के शाप के पुतले—
किसी की झोंपड़ी जलती ;
सुलगती आग के पुतले !
खुदी गद्दार के पुतले, किसी मक्कार के पुतले—
रहम से दूर नालायक़-किसी सरकार के पुतले !!
कौन कहता ?
—ये हैं आराम के पुतले !
झूठ ; ये हैं—
हराम के पुतले ! बैठना हाथ रखे हाथ पर—
नाकाम के पुतले !!
खेलते हैं ये कुत्तों के बच्चों से—

नफ़रत इन्हें है मज़दूर के बच्चों से—वे मज़दूर!
खाली बदन, अभाव में पैसों के
ज़िन्दगी बिता देते हैं, बथान में भैंसों के!
कंकाल से! एक मुट्ठी हड्डियों में—
जिनके प्राण—ढूँढ़ते हैं;
सितमगरों की आँखों में त्राण!
गर्मी में—चिलचिलाती धूप—दोपहरियों में,
कड़कड़ाती सर्दियों में—जो,
हड्डियाँ हिला देती हैं, घोर वर्षात में—
खड़े होकर अन्न पैदा करते हैं!
अन्न! अपने लिए?
नहीं! उनके लिए—जो,
सूर्य की प्रथम किरण से मुरझा जाते हैं!
खस की टट्टियों में छिप जाते हैं!!
बिजली का पंखा साँय-साँय करता जाता है—
लोहे का बनकर भी पसीना पीता जाता है!!
बच्चे जिनके, लालइमली—
धारीवाल के रोयेंदार
स्वीटरों में, लिपटकर
किनकारियाँ भरते हैं जाड़ों में
जहाँ उनके लाल, रात काटते हैं,
आग जला खलिहान या खेत के फाड़ों में!
चूसकर रक्त भी जिन्हें संतोष नहीं—
लूटकर स्मत् उनकी बहू बेटियों की—
सोचते तक नहीं उनकी रोटियों की!
ये अधम, समाज के कीड़े—पूँजीपति!
दाम लगाते हैं—बेरहम उनकी बोटियों की!!
बुजुआवों के लड़के—
आवारे और शोहदे!
मन बहलाते हैं—
तीतर लड़ाकर!
कबूतर उड़ाकर!
बटेरें बझाकर!
पतंगें खिलाकर!!
बेज़ुबान जानवर पर—
फंदे बनाकर—
बाजे बजाकर—
मसालें दिखाकर—
घेर सजाकर—
डेरे गिराकर—
गोली चलाकर!
कभी कभी—
दाने बिछाकर—
बंसी लगाकर!!
दिन काटते हैं—
दावतों में—होटलों में!
रात! पतित बुजुआ ओथलों में!! अमृत पाते हैं—
जार्ज पंचम के बोतलों में!!!
गालियाँ देते हैं—
दगाबाज हैं ए Communists
बागी हैं Anarchists
डाकू हैं Revolutionists
नीच हैं Terrorists—!
ये कठोर कुचाली Capitalists.
दिल काला!
मिज़ाज—दिखाने को आला!
ग़रीबों के दुश्मने-जान—
एक नम्बर बेईमान!
ये हैं अभागे—
हरामी खान्दान!!

★

गीत

●

[गोविन्दवल्लभ]

स्वर्ण के पंख खोले
कनक के पंख खोले

चला सान्ध्य-खग
शून्य का पान्थ
अरुण दृग श्रान्त
खोजता कहीं मग
क्षितिज के पार
दिवस के दीप को ले!
स्वर्ण के पंख खोले!

उतरती रजनि
डूबती अवनि
तिमिर के गहन में
डूबती ज्यों कि
सिन्धु में तरणि
देखते बुद्बुदों-से
नखत के नयन भोले!

श्रमिक-जन क्लान्त
लौटते श्रान्त
लौटती नीड़ को
विहग की पाँत
अश्रु औ' हास
नींद की गाँठ
में बाँधने आ रही
रात की बात हौले!
स्वप्न के पंख खोले!

★

नीरक्षीर

अधूरा चित्र——ले० श्री 'पहाड़ी', प्रकाशक—नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ। पृ० सं० २५९ मूल्य २।)

अधूरा चित्र हिन्दी के प्रसिद्ध तरुण कहानीकार श्री 'पहाड़ी' की बारह मौलिक कहानियों का संग्रह है। 'अधूरा चित्र' नामक अन्तिम कहानी पर इस संग्रह का नामकरण हुआ है।

प्रायः सभी कहानियों में मानव-मन की सूक्ष्मतम शक्तियों का कलात्मक विश्लेषण किया गया है। दो-एक कहानियों के पात्रों को छोड़कर, लेखक ने धार्मिक और सामाजिक जर्जरता की भित्ति पर टिके हुए मध्यवर्गीय समाज से ही अपने पात्रों को चुनकर उनके जीवन का खोखलापन और रूढ़ियों के भार से आक्रान्त उनकी अवचेतना (Subconciousness) की विविध दशाओं का करुण चित्रण किया है। इस समाज के बौद्धिक स्तर की कमजोरियों की नस लेखक ने खूब पहिचान ली है। निकट-भविष्य में अपनी ही असमर्थता के कारण ढहनेवाली इस जीवन की रूढ़ि-जर्जर भित्ति के विभिन्न पहलुओं के दिग्दर्शन के साथ ही आनेवाली नव-सामाजिक चेतनाओं और व्यवस्थाओं की उपयुक्तता का आभास भी हमें इन कहानियों में मिला।

प्रेम : उसका आकर्षण-विकर्षण तथा उसकी तह में छिपी हुई जीवन की कमजोरियाँ और सबलताएँ; जीवन-मृत्यु : बौद्धिक और दार्शनिक कसौटी पर समाज की व्यावहारिक संगतियाँ बिठाते हुए उसकी व्याख्या, उसके विषय में प्राचीनकाल से चली आती हुई असमर्थ स्वीकृतियों से प्रसूत समस्याएँ तथा उनके सुलझाव के लिए विभिन्न दृष्टिकोणों की भूमि प्रस्तुत करने में लेखक को अपूर्व सफलता मिली है।

मनोवैज्ञानिक कहानियाँ लिखने में श्री 'पहाड़ी' ने प्रशंसनीय कार्य किया है। जीवन और समाज के अन्तस में वक्राकार धारण कर बहनेवाली चेतना का निःसंग होकर पर्यवेक्षण करने की अभी हिन्दी में बहुत ज़रूरत है। खासकर कथा-साहित्य में तो पुरानी लकीरें अपनी प्राचीन सीमा को और गहरी बनाये हुए हैं। इनको मिटाकर उसे और व्यापक बनाने की अपेक्षा है। इस दिशा में श्री 'पहाड़ी' अच्छा प्रयत्न कर रहे हैं और उनसे हमें बहुत आशाएँ हैं।

कुछ लोग कह सकते हैं कि 'अधूरा चित्र' संग्रह के अधिकतर पात्र कुछ whimsical से हैं, अतएव उनमें जीवन की पूर्ण चेतना और समाज की व्यवस्थित भावनाओं का अभाव है। पर उन्हें देखना चाहिए कि आज के जीवन में कितना असन्तोष और समाज में कितना वैषम्य उपस्थित है। यह अवस्था यदि क्षणिक न होकर मस्तिष्क में देर तक टिकी रहे तो मस्तिष्क और हृदय के क्रिया व्यापार इसे दूर करने के लिए नव-नव भावनाओं की तलाश में चञ्चल हो उठेंगे। सजग और ईमानदार आदमी की एक ऐसी भी अवस्था, चाहे यह थोड़ी ही देर के लिए क्यों न हो, होती है। ऐसे व्यक्ति की ठीक दशा जाननेवाला साधारण व्यक्ति भी उन समस्याओं की ओर से जागरुक हो उठेगा। समाज के लिए इस प्रकार की चेतना भी आवश्यक है। लेखक ने बड़ी सूक्ष्म बुद्धि के साथ मानव की इन अवस्थाओं को पाठकों के सामने Sincerely उपस्थित किया है। हिन्दी में इस प्रकार की दशाओं को व्यंजित करनेवाली स्वस्थ रचनाएँ अभी कम हैं।

ये कहानियाँ मनोवैज्ञानिक हैं। लेखक ने इसे अपनी भूमिका में स्वीकार भी किया है। पर उसे, ऐसा लगता है कि, कहीं-कहीं पाठकों को इस बात के स्मरण दिलाने की आवश्यकता आ पड़ी है इसीलिए मनोविज्ञान, विज्ञान, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक आदि शब्दों की भरमार कहानी में मिलती है। साहित्य में इसे 'स्वशब्दवाच्यार्थ' का दोष माना जाता है। यह ठीक है कि हिन्दी का साधारण पाठक अभी उतना ऊँच नहीं उठ पाया है फिर भी उसकी बुद्धि पर भरोसा रखा जा सकता है, रखना चाहिए। हमारे खयाल से लेखक की रचना स्वयं बोलेगी। उसे स्मरण दिलाने की आवश्यकता नहीं।

हिन्दी-साहित्य में इस सुन्दर कहानी-संग्रह का स्वागत करते हुए हम यह आशा करेंगे कि श्री पहाड़ी अपनी इस नई राह पर चलकर और भी मजी हुई चीजें कथा-साहित्य को प्रदान करेंगे।

—वीरेन्द्रप्रताप सिंह

● ● ●

पिंजरापोल—ले० श्री हरिशंकर शर्मा, प्रकाशक शंकर सदन आगरा, पृष्ठ-संख्या १८६, मूल्य १॥)

पंडित हरिशंकर शर्मा हिन्दी के चोटी के हास्य-रस के लेखकों में गिने जाते हैं। कुछ दिन पूर्व आपकी पुस्तक 'चिड़ियाघर' की काफी धूम थी। 'पिंजरापोल' में भी शर्माजी ने चिड़ियाघरवाली ही शैली और टेकनीक का अनुसरण किया है। इसमें छोटी बड़ी २८ फुटकर रचनाएँ हैं जिनमें कुछ कहानी, कुछ निबन्ध, तथा कुछ काव्य और पैरोडी की कोटि में रखी जा सकती हैं।

हास्य-रस रचनाओं के सम्बन्ध में बहुधा लोगों की यह धारणा रहती है कि जो किसी न किसी रूप में पाठक को हँसने के लिए विवश कर दे वही हास्य-रस की रचना है। इसी मनोवृत्ति के कारण हिन्दी में हास्य-रस के नाम पर ऐसी अश्लील और घृणोत्पादक रचनाओं का आदर होता रहा है (और अब भी होता है) जिन्हें सभ्य और शिष्ट व्यक्ति सुनना तक पसन्द नहीं कर सकते। इस ढंग की रचनाओं की तुलना भाँड़ों के खेल-तमाशों ही से की जा सकती है। हर्ष की बात है कि हरिशंकरजी में यह बात कहीं भी नहीं आई है। उनकी सभी रचनाएँ व्यंग्य (Satire) की कोटि में रखी जा सकती हैं। वे निरुद्देश्य नहीं; सोद्देश्य हैं। आज हमारे समाज में बुराइयाँ इतनी अधिक मात्रा में घुस आई है और हम सब उनके इतने आदी हो गये हैं कि हमारा ध्यान उनकी ओर बहुत कम जा पाता है और उनके सम्बन्ध में उपदेश और भाषण सुनना तक लोग पसन्द नहीं करते। आर्यसमाज के प्रभाव में इतनी कमी इसीलिए आ गयी है। लेकिन व्यंग्य एक ऐसा साधन है जिससे समाज की कमजोर जगहों पर प्रभावपूर्ण प्रहार किया जा सकता है। शर्माजी ने इसी साधन को अपनाया है। ये रचनाएँ ऐसी हैं जिनके द्वारा कुनैन की गोली चीनी में लपेट कर खिलायी गई है। हमें उनको निगलते ही बनता है और वह भी हँस-हँसकर। और हम केवल हँसकर ही नहीं रह जाते, हमें उनको लेकर उलझना-सुलझना भी पड़ता है। इसी में लेखक की सफलता है।

लेकिन व्यंग्य को प्रभावपूर्ण होने के लिए उसका हास्य से परिपूर्ण होना आवश्यक है। वह हास्य भी अत्यन्त सरल और स्वाभाविक हो तथा उसके उपादान हमारे साधारण जीवन से लिए गये हों। दुख है कि शर्माजी की रचनाओं में यह गुण पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलता। उनका सबसे बड़ा दोष है उनकी भाषा की क्लिष्टता और उसका अनुप्रास-पूर्ण होना। शब्दों के प्रयोग से ही हास्य नहीं उत्पन्न किया जा सकता। उदाहरण के लिए—'गर्दभगान महाकाव्य' नामक रचना में हँसाने के लिए विचित्र शब्दों का प्रयोग किया गया है और व्यर्थ ही अनुप्रासों की छटा दिखायी गई है। इससे हँसी उतनी नहीं आती जितना पाठक का जी ऊबता और लेखक के प्रति चिढ़ उत्पन्न होती है। साधारण पढ़ा-लिखा आदमी शायद ही इन रचनाओं को समझ सके। कुछ रचनाएँ तो ऐसी हैं जिन्हें पढ़कर बिलकुल ही हँसी नहीं आती। अन्तिम दो रचनाएँ ऐसी ही हैं। इसी तरह इनमें हास्य के उपादान साधारण जीवन से नहीं लिये गये हैं। यदि लेखक महोदय साधारण जीवन से चरित्र लेकर उनकी बेवकूफियों या कमजोरियों का चित्रण करते हुए हास्य उत्पन्न करते तो वह अधिक स्वाभाविक और प्रभावपूर्ण हुआ होता। लेखक की शैली भी बहुत पुरानी और बँगला के पुराने हास्य-रस के लेखकों विशेषकर बंकिम बाबू की नकल मालूम पड़ती है। बंकिम बाबू के 'लोक रहस्य' नामक पुस्तक की बहुत-सी रचनाएँ पिंजरापोल की कई रचनाओं से टक्कर खाती हैं।

फिर भी हरिशंकरजी से अभी हिन्दी को बहुत कुछ आशा है। हिन्दी-साहित्य का यह अंग अभी बिलकुल अपूर्ण और अन्य साहित्यों से पिछड़ा हुआ है। दूर जाने की जरूरत नहीं, पड़ोसी उर्दू-साहित्य में ही हास्य-रस की एक से एक श्रेष्ठ और सुन्दर रचनाएँ प्रकाशित होती रहती हैं। परन्तु खेद की बात है कि हमारे लेखक उस ओर दृष्टिपात भी नहीं करते।

हमारा प्रधान उपनिवेश—ले० सेठ गोविन्ददास, प्रकाशक सरस्वती पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद। पृष्ठ-संख्या १०७, मूल्य १॥)

सेठ गोविन्ददास को सन् १९३८ में जंजीबार के लौंग के व्यापार के सम्बन्ध में जंजीबार जाना पड़ा था और उसी समय उन्होंने पूर्वी और दक्खिनी अफरीका की भी यात्रा की। प्रस्तुत पुस्तक में सेठजी की उसी यात्रा का वर्णन है।

पुस्तक का नाम पढ़ते ही दो बातें हमारे ध्यान में आती हैं। पहली बात तो यह कि सेठजी किसी ऐसे भूभाग के सम्बन्ध में जिसे वे भारत का प्रधान उपनिवेश बनाना चाहते हैं, बातें करेंगे और इसके लिए कारण उपस्थित करेंगे और दूसरी बात यह कि सेठजी इस सिद्धान्त में विश्वास करते हैं कि जिस तरह यूरोपीय देशों ने अमेरिका, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, पूर्वीद्वीप-समूह, न्यूजीलैंड आदि में वहाँ के मूल निवासियों का शोषण करके, उनकी नस्ल को खतम करके, तथा आपस में ही घोर संघर्ष और प्रतियोगिता द्वारा अपने उपनिवेश कायम किये उसी तरह भारत को भी कहीं न कहीं अवश्य करना चाहिये। लेकिन पुस्तक पढ़ने पर मालूम होता है कि यह तो सेठजी का भ्रमण वृत्तान्त है। पता नहीं सेठजी ने इस पुस्तक का ऐसा भ्रामक नाम क्यों रखा। वे आसानी से, 'मेरी पूर्वी और दक्खिनी अफ्रीका की यात्रा' या ऐसा ही कोई नाम रख सकते थे। केवल भूमिका में एक जगह उन्होंने लिखा है, "हिन्दुस्तानियों के लिए यदि कोई भी देश उनका प्रधान उपनिवेश बन सकता है तो पूर्वी अफ्रीका। और इसके कारण है यह देश भारत से बहुत नजदीक है, काफी जमीन यहाँ बसने और आबाद होने के लिए पड़ी हुई है तथा यहाँ की आबोहवा भारतीयों के अनुकूल है।" इसमें पूँजीवादी भावना का रंग मिला है।

अपने भ्रमण के सिलसिले में अफ्रीका के अनेक स्थानों में सेठजी ने भारतीयों की सभाओं में भाषण भी किये थे जिनका थोड़ा बहुत जिक्र आपने किया है। उन तमाम भाषणों से यही मालूम होता है कि गोरों के विरुद्ध सेठजी केवल इसीलिए हैं कि उन्होंने स्वयं उन जगहों में अपने उपनिवेश बसा लिये हैं, और भारतीयों तथा अन्य गैर-गोरों के साथ दुर्व्यवहार करते हैं। इस संकीर्ण राष्ट्रीयता से ऊपर उठकर सेठजी ने कहीं भी इस बात का प्रचार करने की कोशिश नहीं की कि आखिर यह प्रतियोगिता, होड़ और धींगाधींगी किसलिए है और गोरों की जगह भारतीय ही वहाँ के स्वामी होते तो वे भी वहाँ के मूल निवासियों या गैर भारतीयों के साथ कुछ इसी ढंग का व्यवहार नहीं करते? मतलब यह कि सेठजी ने पूँजीवादी और साम्राज्यवादी ऐनकों के भीतर से ही पूर्वी और दक्खिनी अफ्रीका के प्रश्नों को देखा है इनसे ऊपर उठकर वृहत्त मानवता की दृष्टि से नहीं।

अस्तु, पुस्तक के विषय में इसके अतिरिक्त हमें और कुछ नहीं कहना है कि सेठजी ने बड़े आराम से यह यात्रा की, सब जगह उनका खूब स्वागत हुआ, सभाओं में भाषण करने के भी उन्हें काफी अवसर हाथ आये और वहाँ के सुन्दर प्राकृतिक दृश्यों का भी उन्होंने काफी आनन्द लिया। पुस्तक में इन सब बातों का आपने बड़ी ही सुन्दर, सरल भाषा तथा कवित्वपूर्ण शैली में वर्णन किया है। पाठक को पुस्तक पढ़कर पूर्वी और दक्खिनी अफ्रीका के विषय में काफी दिलचस्पी पैदा हो जाती है वह केवल इतना ही नहीं जान पाता है कि यदि उसके पास सेठजी जितना रुपया न हो और वह उन जगहों की यात्रा करना चाहे, तो वह क्या करेगा, कैसे यात्रा करेगा। श्री राहुल सांकृत्यायन, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक और डाक्टर सत्यनारायण के भ्रमण-वृत्तान्तों से कम से कम यह बात तो मालूम हो जाती है।

—शम्भूनाथसिंह।

सूचना

'हंस' के एक सदाशय ग्राहक महानुभाव ने पाँच महिलाओं के लिए हंस का चन्दा भेजा है। जो महिलाएँ स्वयं पत्र लेने में असमर्थ हैं कृपया इस विषय में व्यवस्थापक को लिखें।

फासिस्ट-विरोध सांस्कृतिक मोर्चा सीरीज़

प्रगतिशील लेखक संघ, यू० पी० की प्रकाशन योजना

भारत पर जापानी फासिज़्म के सम्भाव्य आक्रमण ने भारतीय बुद्धिजीवियों, लेखकों और कलाकारों के सम्मुख गम्भीर परिस्थिति उत्पन्न कर दी है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के दमन और शोषण के बावजूद दशाब्दियों के संघर्ष के पश्चात भारत के राष्ट्रीय जीवन में जो चेतना जगी थी, और जिस चेतना को फैलाने के लिए राष्ट्र के कलाकार और लेखक मानसिक स्वतन्त्रता पर होनेवाले साम्राज्यशाही के आये दिन के प्रहारों के वार झेलकर नयी और क्रान्तिकारी अभिव्यक्तियों से—उपन्यास, कहानी, नाटक, कविता, चित्र और नृत्य द्वारा—कला और संस्कृति की एक विकासोन्मुख रूपरेखा गढ़ रहे थे, फासिज़्म के आक्रमण की एक प्रकार से निश्चित सम्भावना ने, गत कई पीढ़ियों की उस संचित कामयाबी और विरासत को खतरे में डाल दिया है। रक्त की धार से सींची जीवनदायिनी परम्पराओं को फासिज़्म का अन्धकार निगलने के लिए आगे बढ़ रहा है। इतना ही क्यों हमारी समस्त राष्ट्रीय चेतना, आज़ादी की पताका फहरानेवाली जन-संस्थाएँ, अर्थात हमारा राष्ट्रीय अस्तित्व खतरे में है।

और ऐसे संकट के मौके पर भी ब्रिटिश साम्राज्यवाद अपने रवैये को नहीं बदल रहा है। भारत को राष्ट्रीय सरकार प्रदान करने में द्विधा में पड़कर वह जितना विलम्ब कर रहा है, भारत की जनता का भविष्य उतना ही अनिश्चित होता जाता है।

अन्य लोगों की अपेक्षा लेखक और कलाकार—राष्ट्र की मानसिक संस्कृति के स्रष्टा—इस खतरे के प्रति अधिक तीव्र संवेदना के साथ सजग हो उठे हैं। फासिज़्म के विरुद्ध एक ज़बर्दस्त सांस्कृति मोर्चा ही इस खतरे के प्रति समूचे राष्ट्र को सजग कर सकता है। अतः प्रगतिशील लेखक संघ यू० पी० ने 'फासिस्ट-विरोधी सांस्कृतिक मोर्चा सीरीज़' नाम से एक पैम्फलेट सीरीज़ प्रकाशित करने का आयोजन किया है। इस सीरीज़ में युद्ध से सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्नों पर हर पहलू से विचार होगा, और जर्मनी, इटली, जापान के फासिज़्म के बारे में तथा रूस, चीन के बारे में जनता को सच्ची जानकारी प्रदान की जाएगी, तथा हमारी राष्ट्रीय समस्याओं, संस्कृति और राष्ट्रीय जीवन की रक्षा के प्रश्नों पर विचार होगा। हिन्दी और उर्दू के प्रमुख विचारकों और लेखकों द्वारा लिखित निम्न पैम्फलेट इस सीरीज़ में प्रकाशित होंगे। कुछ पैम्फलेट प्रेस में हैं और शीघ्र पाठकों को प्राप्त हो सकेंगे। पृष्ठ-संख्या ३२ से ६४ तक होगी और मूल्य ≡) से ।≈) के बीच।

(१) जापानी साम्राज्यवाद का नग्न-रूप— प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त

(२) जापानी साम्राज्यवाद से हम क्यों लड़ें ?— सज्जाद ज़हीर

(३) वर्तमान युद्ध— डा० जेड अहमद
(४) क्या यह जनता का युद्ध है ?— डा० अशरफ
(५) युद्ध-काल में जनता की कला— शिवदानसिंह चौहान
(६) फासिज़्म-विरोधी युद्ध और भारत की आज़ादी— डा० अब्दुल अलीम
(७) सोवियत जनता का युद्ध और विश्व जनता की आज़ादी— गोपाल हाल्दार
(८) जन-युद्ध लड़ने का साम्राज्यवादी तरीक़ा— रमेशचन्द्र सिनहा
(९-१०) जापानी ! विजय हमारी है (एकांकी नाटकों के संग्रह)
(१०-११) हम विजय के गान गाते (जापान और फासिज़्म-विरोधी आज़ादी के गीतों के संग्रह)
(१३) फासिज़्म और साहित्य, कला, संस्कृति— अमृतराय
(१४) भारत की एकता का नया आधार— महमूदुज्ज़फ़र
(१५) भारत और विश्व— 'पहाड़ी'
(१६) सोवियत रूस में प्रजातंत्र— डा० बूलचन्द
(१७) सोवियत रूस की लाल फौज— महापंडित राहुल सांकृत्यायन
(१८) जापानियों की रहन-सहन— प्रो० राजनाथ पाण्डेय
(१९) समाजवाद और संस्कृति— अली सरदार जाफ़री
(२०) जर्मन फासिज़्म और आज़ादी— हीरेन मुकर्जी
(२१) इटली में फासिज़्म— सिब्ते हसन
(२२) रूस का गृह-युद्ध और पूँजीवादी राष्ट्रों का हस्तक्षेप— सुरेन्द्र बालुपुरी
(२३) स्पेन के संयुक्त मोर्चे से सबक़— डा० रामविलास शर्मा
(२४) चीन की एकता और राष्ट्रीय आज़ादी की लड़ाई— श्रीमती डा० रशीद जहाँ
(२५) फासिस्ट राष्ट्रों में नारी-जाति की दुर्दशा— श्रीमती हाजरा बेगम
(२६) जापानी बौद्ध हैं तो क्या ?— भदन्त आनंद कौसल्यायन

आशा है कि हिन्दी-उर्दू भाषी जनता इन पैम्फलेटों का अधिक से अधिक उपयोग करेगी और राष्ट्र के विचारकों, लेखकों और कलाकारों को मानव-संस्कृति की रक्षा के लिए फासिस्ट-विरोधी सांस्कृतिक मोर्चा निर्माण करने में उत्साह-पूर्वक सहयोग देगी। पाठक और एजेन्ट इन पैम्फलेटों के लिए सरस्वती प्रेस, बनारस के पते पर पत्र-व्यवहार करें।

शिवदानसिंह चौहान—
मंत्री, प्रगतिशील लेखक संघ, यू० पी०

*